GL 954.4792
TRI

126717
LBSNAA

राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी
Academy of Administration
मसूरी
MUSSOORIE
पुस्तकालय
LIBRARY

अवाप्ति संख्या
Accession No. JD 1265
वर्ग संख्या
Class No. San 954.4792
पुस्तक संख्या
Book No. शिवाजी

क्षत्रपतिचरितं महाकाव्यम्

डॉ० उमाशंकर शर्मा त्रिपाठी

कृति : **क्षत्रपतिचरितं महाकाव्यम्**

कृतो : श्री उमाशङ्कर शर्मा त्रिपाठी

व्याख्याकार : श्री गोविन्द नरहरि वैजापुरकर
एम० ए० आचार्य (न्याय-वेदान्त-साहित्य)
साहित्यविभागाध्यक्ष : स्याद्वाद महाविद्यालय
सम्पादक : 'सूर्योदय:'

चूर्णिकाकार : श्री महेशदत्त शुक्ल
साहित्याचार्य

प्रकाशक : श्री मिहिरमणि त्रिपाठी
६८ अध्यापक निवास
काशीविद्यापीठ, वाराणसी

मुद्रक : श्री विश्वम्भरनाथ द्विवेदी
आनन्दकानन प्रेस
सी-कै० ३६/२० दुण्ढिराज, वाराणसी

प्रकाशन तिथि : शिवजयन्ती (वैशाख शुक्ला द्वितीया) २०३१ वि०

© सर्वाधिकार लेखक के अधीन हैं

भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय-संस्कृतविभाग दिल्ली द्वारा
प्राप्त आर्थिक साहाय्य से प्रकाशित

निर्धारित मूल्य	बत्तीस रुपये	३२)
प्रथम संस्करण	१	११०० प्रतियाँ

क्षत्रपति शिवाजी

जाह्नवी जाह्नवी येयं हिन्दवो हिन्दवोऽथवा ।
भारतं भारतं वाद्य तत्र हेतुः शिवोदयः ॥ १९-५२ ॥

समर्पणम्

सौभाग्यं भारतानां सुकृतमुपचितं सिद्धये तापितानां,
दीनानां कल्पवल्ली विहितपथजुषामिष्टपाथेयतृप्तिः ।
दुर्दर्शा कालरात्रिः सहठजनकुलद्वेषिणां दानवानां,
धन्या काऽपीन्दिरेयं जयतु विजयिनी लोककल्याणधात्री ।।

शक्ति एवं विवेक की प्रतिष्ठा, लोक-अभ्युदय की आधारशिला, गौरव सम्भर अतीत एवं शुभाशासम्वलित भविष्य की स्पृहणीय प्रतिभा, भारतगणतन्त्र की प्रधान मन्त्री, स्नेहमयी माननीया--

श्रीमती इन्दिरा गांधी

के

समर्थ-वरव

करकमलों में सादर

—उमाशंकर शर्मा त्रिपाठी

अनुक्रम

		पृष्ठाङ्क
आमुख		क—ख
कृतिसंस्तव		ग—ण
प्रथम सर्ग		१–२९
	कविकृत आत्मनिवेदन—आदिकवि, व्यास, कालिदास की प्रशंसा—काव्यस्वरूप आदि ।	
द्वितीय सर्ग		३०–८२
	हिमाद्रि तथा अन्य भारतीय प्रान्तों का संक्षिप्त सांस्कृतिक वर्णन, भारतीय शौर्य एवं माहात्म्य का आकलन—शिवजन्म	
तृतीय सर्ग		८३–१२०
	क्षत्रपति शिवाजी का बाल्यकाल तथा यौवन—प्रारम्भिक विजय ।	
चतुर्थ सर्ग		१२१–१७२
	स्वातन्त्र्य-लक्ष्मीका अपने गरिमापूर्ण अतीत एवं अभिशप्त वर्तमान का वर्णन—क्षत्रपति का स्वतन्त्रता देवी के सम्मुख आत्म-बलिदान की प्रतिज्ञा तथा तबतक भारत में ही रहकर प्रतीक्षा करने के लिए देवी से प्रार्थना ।	
पञ्चम सर्ग		१७३–१९९
	नवोदित क्षत्रपति के विनाश के लिए बीजापुर में मन्त्रणा—अफजलखान का सैनिक अभियान ।	
षष्ठ सर्ग		२००–२३१
	षड्ऋतुवर्णन ।	
सप्तम सर्ग		२३२–२६२
	अफजलखान के दूत कृष्णाजि भास्कर का क्षत्रपति के यहाँ आगमन तथा सन्देश-कथन ।	
अष्टम सर्ग		२६३–२८६
	क्षत्रपति के दूत गोपीनाथ का अफजलखान के पास पहुँचना । क्षत्रपति तथा अफजलखान का मिलन—अफजलखान का वध ।	
नवम सर्ग		२८७–३१२
	बाजीप्रभु देशपाण्डे का शौर्य ।	

दशम सर्ग ३१३–३४३
शायिस्ताखान मुगल सेनापति का पराभव

एकादश सर्ग ३४४–३७६
क्षत्रपति की गुरुभक्ति-समर्थ गुरु रामदास।

द्वादश सर्ग ३७७–४२४
आमेरनरेश जयसिंह और क्षत्रपति, क्षत्रपति का सन्धि-प्रस्ताव तथा जयसिंह के अनुरोध पर आगरा के लिए प्रस्थान।

त्रयोदश सर्ग ४२५–४९६
रात्रि में क्षत्रपति के सैनिकों का नगर-भ्रमण—वेशभूमि-हारादि।

चतुर्दश सर्ग ४९७–५४१
क्षत्रपति को मुगल दरबार में यथोचित सम्मान न मिलना—क्षत्रपति कैद में—मिठाई के टोकरों में छिपकर क्षत्रपति की कैद से मुक्ति।

पञ्चदश सर्ग ५४२–५७५
क्षत्रपति प्रच्छन्न वेष में दक्षिण की ओर।

षोडश सर्ग ५७४–५९७
कोण्डना-विजय—तानाजि मालसुरे।

सप्तदश सर्ग ५९८–६३५
बादशाह के पास जजिया के विरुद्ध क्षत्रपति का निवेदन।

अष्टादश सर्ग ६३६–६७०
राज्याभिषेक।

एकोनविंश सर्ग ६७१–६९५
संक्षेप में क्षत्रपति की शासनपद्धति का वर्णन।

आमुख

क्षत्रपतिचरितम् के सम्बन्ध में मुझे विशेष कुछ भी नहीं कहना है। एतद्विषयक बहुत सी बातें तो प्रकारान्तर से इस काव्य में तथा इसके हिन्दी अनुवाद में आ ही गयी हैं। हाँ यह अवश्य है कि अध्ययन-काल में या इसके कुछ पूर्व ही रह-रहकर भविष्य में कुछ लिखने के लिए मन में सकल्प सा उठता था। मैं समझता हूँ उन्हीं भावनाओं ने क्षत्रपति के लिए अपेक्षित भूमि का निर्माण किया और अन्ततः मुझे इस दुष्कर कार्य के लिए सन्नद्ध किया। आज जब यह काव्य छप चुका है, मैं आनृण्य सा अनुभव करता हूँ, लगता है मैं एक महान् दायित्व से मुक्त हो गया। यद्यपि परिमार्जन, परिवर्तन, परिवर्धन का क्रम चलता रहा है तथा चलता ही रहेगा फिर भी सामान्यतः यह काव्य १९६३ तक पूर्ण हो चुका था। यह जैसा भी है, सुधी पाठकों के समक्ष है। अपनी संस्कृतविषयक आस्था के लिए मैं अपने कुल की अक्षुण्ण परम्परा तथा विशेषतः पूज्या पितामही एवं पूज्य पितृचरणों का कृतज्ञ हूँ कि बचपन से ही मुझमें संस्कृत के प्रति अटूट श्रद्धा का बीज-वपन किया गया। अंग्रेजी साहित्य के एम० ए० के विद्यार्थियों को अनेक वर्षों से आलोचना का इतिहास पढ़ाते हुए मैंने सदैव अनुभव किया है कि साहित्यके अध्येता तथा निर्माता के लिए एकाधिक साहित्य का यथार्थ ज्ञान अति आवश्यक है। इस महाकाव्य में भी चेष्टापूर्वक मैंने अनपेक्षित को प्रायः छोड़ने का ही प्रयत्न किया है। हाँ यह अवश्य है कि कुछ स्थलों से ऐसा लगाव सा हो जाता है, रागात्मक सम्बन्ध सा हो जाता है कि उन्हें, भले ही वे अपेक्षित न हों, छोड़ते नहीं बनता।

मैं निर्मिति की प्रक्रिया में पड़ना नहीं चाहता। प्रत्येक लेखक अपनी ओर से कुछ उत्कृष्टतर, अभिनव ही देना चाहता है और एतदर्थ वह कुछ उठा नहीं रखता। फिर भी जब तक सहृदय जनों का परितोष न हो जाय, रचना का महत्त्व ही क्या है! इतना अवश्य है कि क्षत्रपतिचरितम् के निर्माण में मैंने आदिकवि, कृष्णद्वैपायन व्यास तथा कालिदास को ही अपना आदर्श बनाया है। मुझे बृहत्त्रयी के महाकवि विशेष आकृष्ट न कर सके। मुझे उनमें कृत्रिमता की गन्ध आती है तथा वे कविकर्म को पाण्डित्यापरपर्यायी मानते हैं। सम्भवतः यही कारण है कि माघ में **यां यां प्रियः पश्यति** ज्ञातराक्षौ जैसे श्लोकों की संख्या अत्यल्प है। पुनश्च अकाण्डप्रथन तो इतना है कि दो-तीन सर्ग केवल राजसूय यज्ञ के विधि-सम्पादनादि में ही विनियोजित हो जाते हैं। न तो माघकालीन भारत में, न आज ही राजसूय यज्ञ जनसामान्य का विषय है। मैं उन पुण्यश्लोक महाकवियों पर किसी प्रकार भी आक्षेप करना नहीं चाहता। प्रायः कलाकार को लोकरुचि का सम्मान करना ही पड़ता है। वे अति यशस्वी कवि हैं। हो सकता है कि जो कुछ मैंने कहा है वह मेरे कुसंस्कार का ही दोष हो। वस्तुतः मेरे विचार से हृदयस्पर्शी, भावप्रवण होना काव्य का प्रथम आन्तरिक धर्म है। 'क्षत्रपति' में त्रुटियों की कमी नहीं, स्वयं मैं उन अनेकविध दोषों को भली भाँति जानता हूँ जिनका मैं सहज ही मार्जन कर सकता था। किन्तु जैसा कि मैंने निवेदन किया है कुछ स्खलनों के प्रति ममत्व सा हो गया है, चाहकर भी उन्हें दूर नहीं कर पाता; उनके साथ अनेक ऐसी गुत्थियाँ उलझी हुई हैं कि सब कुछ नये सिरे से आरम्भ करना होगा। मुद्राराक्षस की कृपा तो है ही। उदाहरणार्थ, छठे सर्ग का औचित्य मैं समझ न पाया; यद्यपि

सहज बनाने के लिए मैंने एक प्रकल्पना का सहारा लिया है फिर भी यमक से कौन सी भावसिद्धि हो रही है, मैं कह नहीं सकता। मैं समझता हूँ कि उपजाति में लिखे प्रति ऋतु के आरम्भिक श्लोक काव्यदृष्ट्या कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

एक बात और, मैंने महाराष्ट्र, काश्मीर आदि अनदेखे स्थलों के वर्णन में प्रकृति का अंकन अति सामान्य, सतही ढंग से किया है। कारण स्पष्ट है, मुझे सत्य का अपलाप अभीष्ट न था। मैंने बहुधा चाहा कि एक बार स्वयं उन स्थलों को देख लूँ किन्तु यह भिक्षु मनोरथ ही सिद्ध हुआ। मैंने चाहा था कि एक सर्ग में क्षत्रपति की दक्षिण यात्रा (हैदराबाद में स्वागत, श्रीशैल क्षेत्र, कृष्णा, कर्नाटक आदि) का भावात्मक वर्णन करूँ। एतदर्थ मन्दाक्रान्ता वृत्त चुना था किन्तु सात-आठ श्लोकों के बाद ऐसा लगा कि प्रकृति या तत्तत्-स्थानीय वर्णन के लिए उन स्थलों को स्वयं देखना अति आवश्यक है। फलतः मैंने उस सर्ग को पूर्ण करने का विचार त्याग दिया और आज भी रह-रहकर मेरा मन इस अपूर्णता के लिए अशान्त हो उठता है किन्तु मैं विवश था।

अनेक बातें कहनी थीं, पर फिर कभी। बिना पितृचरणों की कृपा के मेरे लिए यह गुरुतर कार्य अति दुष्कर था। जो कुछ इस काव्य में पठनीय होगा वह केवल पितृचरणों का प्रसाद है; अनेकविध दोषों के लिए मैं स्वयं उत्तरदायी हूँ। इस कृति को इस रूप में प्रस्तुत करते हुए सामान्यतः मैं पूरे समाज का आभारी हूँ किन्तु मेरे सुहृद पं० सुधाकर पाण्डेय (मन्त्री, नागरीप्रचारणी सभा काशी तथा संसद्-सदस्य) के उद्योग एवं तत्परता के बिना यह प्रकाशन कथमपि सम्भव न था। मैं उनका अतिशय आभारी हूँ। भारत सरकार के अनुदान ने इस प्रकाशन को सरलतर बना दिया, एतदर्थ हम उसके प्रति अति कृतज्ञ हैं। मेरे मित्र पं० गोविन्द नरहरि वैजापुरकर, सम्पादक 'सूर्योदय', ने स्नेहपूर्वक 'क्षत्रपति' का हिन्दी रूपान्तरण किया एतदर्थ सुधी पाठकों को उनका कृतज्ञ होना चाहिए। इसी प्रकार मेरे अकारण बन्धु पं० महेशदत्त शुक्ल साहित्याचार्य ने स्थान-स्थान पर चूर्णिका (संस्कृत टिप्पणी) द्वारा ऐतिहासिक उद्धरणों को स्पष्ट किया है: इन दोनों महानुभावों के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन अथवा धन्यवाद-प्रकाशन द्वारा मैं इनका कोपभाजन होना नहीं चाहता। पं० बाबूलाल मिश्र, (प्राध्यापक दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) तथा पं० लीलाधर पन्त, (प्राध्यापक संस्कृत, काशी विद्यापीठ) ने समय-समय पर अपने परामर्श द्वारा मुझे उपकृत किया। मैं इन बन्धुओं का शतशः आभारी हूँ। आनन्दकानन प्रेस के सञ्चालक पं० विश्वम्भर नाथ द्विवेदी की सदाशयता एवं स्नेह का ही सम्बल पाकर यह महाकाव्य इतने अल्प समय में प्रकाशित हो सका। उन्हें धन्यवादार्ह करके मैं उनकी आत्मीयता को अपमानित नहीं करना चाहता। संस्कृत वाङ्मय के प्रति उनका सहज अनुराग उन्हें मौके-बे-मौके घसीटता ही रहता है और वे हैं कि ऐसे कामों में फिर भी अदम्य उत्साह से लगे ही रहते हैं। और यद्यपि मुझे असहज लग रहा है, मैं अपने प्रिय मित्र डा० केशवप्रसाद सिंह (अध्यक्ष हिन्दी विभाग, काशी विद्यापीठ) को स्मरण करके उन्हें क्षुब्ध नहीं करना चाहता। आर्थिक तथा अन्य व्यवस्थामूलक संकटों में उन्हीं के अयाचित सम्बल ने मुझे आश्वस्त किया।

शतबार अपनी विविध त्रुटियों के लिए सहृदय पाठकों से क्षमाप्रार्थी—

उमाशंकर शर्मा

कृतिसंस्तव

क्षत्रपतिचरितम् राष्ट्रकाव्य है। राष्ट्र की गतिविधि, सम्बोध, परम्परा, समस्यायें, सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिवेष आदि इस महाकाव्य की आत्मा के सहज धर्म हैं। सुदीर्घकाल के पश्चात् संस्कृत काव्यों की परम्परा में एक बार फिर गौरवसम्भर अतीत झिलमिला रहा है। यह प्रथम अवसर है कि महाकवि कालिदास के पश्चात् हम फिर वृहत्तर भारत के उदात्त स्वरूप की झाँकी संस्कृत महाकाव्यों में पाते हैं। राष्ट्रचेतना की जो परम्परा वेदों द्वारा प्रतिष्ठित हुयी थी, जिसे आदिकवि ने अपने काव्य का विषय बनाया था तथा जिसे कृष्णद्वैपायन मुनि ने 'महाभारत' के सर्वध्वंसी युद्ध में भी अक्षुण्ण, अप्रतिहत रखा था, जिसके अन्तर्नाद से समस्त पौराणिक वाङ्मय उल्लसित है, जो महाकवि कालिदास, अश्वघोष, भवभूति आदि की अन्तःप्रेरणा का अमृतस्रोत है, जिसकी उपेक्षा ही राष्ट्र का घोर संकट है तथा जिसका आलोक ही राष्ट्र-स्वातन्त्र्य है, वही चेतना इस महाकाव्य में सर्वत्र आलोकित हो रही है।

अखिलभारतीय सत्ता के रूप में भारतीय राजतन्त्र के विघटन ने भारतीय वाङ्मय को अतिशय प्रभावित किया। महाकवि कालिदास के परवर्ती कवियों में हमें उक्तिवैचित्र्य शब्दशय्या, वाक्यविन्यास आदि के चमत्कारी स्वरूप का तो व्यापक दर्शन मिलता है किन्तु सांस्कृतिक एवं सामाजिक उत्कर्ष पर आधारित राष्ट्रचेतना का दर्शन नहीं होता। रघुवंश के दिलीप चक्रवर्ती सम्राट् हैं किन्तु वे समाज के, प्रजावर्ग के सामान्य व्यक्ति से भी आत्मीयता के गुण से बँधे हैं। रथ द्वारा आश्रम की ओर जाते हुए वे गोपवृद्धों से मार्ग में पड़नेवाले वृक्षों, लताओं का नाम गुण आदि भी पूछ लेते हैं। (रघुवंश १/४५)। विश्वजित् यज्ञ करनेवाले महाराज रघु स्वयं मृण्मय पात्र तथा कुशासन को अपने दैनिक व्यवहार में ला रहे हैं (रघुवंश ५/१५)। किन्तु 'शिशुपालवध के श्रीकृष्ण या अन्य पात्रों को इस प्रकार के किसी आचरण की आवश्यकता नहीं है। सब कुछ होते हुए भी वे सभी पात्र सामन्ती वातावरण के मोहरे प्रतीत होते हैं। परवर्तियों की दृष्टि में जीवन्त जाग्रत् दैनन्दिन जीवन का कोई महत्त्व न था, वे प्रेरणा के लिए पुस्तकीय ज्ञान पर निर्भर रहते थे। आञ्चलिक राजसत्ता के प्रसार ने साहित्य निर्माताओं को भी अपने ढंग से विनियोजित किया। मिथ्या प्रशंसा, मुखस्तुति, अतिशयोक्ति आदि ने आभिजात्य वर्ग को विशेष आकृष्ट किया। केवल काव्य ही नहीं, नाटक-चम्पू आदि गद्यसाहित्य के क्षेत्र में भी शृंगारात्मक, सामन्तीय चाटुकारिता-पूर्ण रचनाओं का बोलबाला हो गया। अनुकृतिमूलक अतएव निम्नस्तरीय कृतियाँ प्रकाश में आयीं। प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्य में यद्यपि जीवन की गतिशीलता थी तथापि वहाँ भी सांस्कृतिक एवं सामाजिक अस्त-व्यस्तता की कमी न थी। कहने के लिए तो अधिकांश रचनाओं के नायक दिव्य प्रकृतियाँ ही होती थीं, राम तथा कृष्ण ही नेतृरूप में गृहीत होते थे किन्तु संज्ञा के अतिरिक्त वे केवल एक सामन्ती, विलासी, उच्छृंखल प्रकृति का ही प्रतिनिधित्व करते थे। मुस्लिम सत्ता के दिल्ली में स्थापित होने के साथ ही साथ देशी भाषाओं के लिए भूमिका उपलब्ध हुई। यद्यपि गद्य के लिए अपेक्षित भूमि का अभाव था फिर

भी काव्य की विधाओं में रचनायें आने लगीं किन्तु जैसा कि बहुधा होता है, इन रचनाओं में भी मुख्यतः दो प्रवृत्तियाँ थीं : या तो धार्मिक उपाख्यान कथा आदि का उपक्रम होता था या फिर सामन्ती साज-बाज में कोई अतिरञ्जनापूर्ण, वीर शृंगार-मिश्रित-रचना ही श्लाघनीय होती थी। सब कुछ मिलाकर इन रचनाओं का प्रभाव-क्षेत्र बड़ा संकुचित, संकीर्ण एवं असंतुलित होता था। साधु-सन्तों के भक्तिपरक सत्साहित्य को छोड़कर सब कुछ बड़ा ही विलासपूर्ण, असम्बद्ध एवं अजीर्ण-सम्भर था।

यह अच्छा ही हुआ कि संस्कृत साहित्य ने मौलिक कृतियों के स्थान पर अब व्याख्यात्मक साहित्य का सर्जन आरम्भ किया। इसकी उपादेयता भी थी। हिन्दू राजसत्ता के ध्वंस के साथ ही इस प्रकार का प्रयोग अधिकाधिक व्यापक होता गया। काव्य, नाटक आदि भी लिखे जाते थे किन्तु उनमें वह प्रभावोत्पादक पृष्ठभूमि न थी, कोई महनीय उदात्त उद्देश्य भी न था। प्रायः अनुकृतिमूलक या छायात्मक रचनाएँ होती रहीं। मञ्चों के अभाव में नाटक भी लिखे गये किन्तु वे दृश्य न होकर श्रव्य थे। संस्कृत का हनुमन्नाटक कुछ ऐसी ही रचना है। हाँ यह मानना होगा कि निर्वेदमूलक रचनाओं में एक ऐसी कड़ी मिलती है जो हृदय को झंकृत कर देती है। किन्तु काव्यजगत् का सांस्कृतिक या सामाजिक परिवेश तो अत्यन्त ही विलासमय एवं अनाकर्षक था। अब संस्कृत में अर्थ-प्राधान्य रचनाओं के स्थान पर शब्दशय्या, कलात्मक विधान आदि की विशेषता दृष्टिगोचर होती है। व्याख्यात्मक साहित्य की अनुकृति देशी भाषाओं में घड़ल्ले के साथ हुई। कह सकते हैं कि गद्य के स्वाभाविक विकास में देशी भाषाओं ने उन्हीं व्याख्यामूलक ग्रन्थों के अनुवाद, अनुकरण द्वारा प्रारम्भिक प्रयोग किया। बाङ्ला, मराठी, हिन्दी आदि भाषाओं में इस प्रकार का साहित्य मिलेगा जो सामान्य ढंग से साहित्यदर्पण या चन्द्रालोक आदि का अनुकरण मात्र है। किन्तु इनके माध्यम से संस्कृत के लक्षणग्रन्थों या वेदान्तमूलक रहस्यों का ज्ञान सर्वसुलभ हो गया तथा उसी ढंग पर अन्य अनेकविध रचनायें होने लगीं।

संस्कृत साहित्य यद्यपि सीमित होकर पण्डितों, जिज्ञासुओं तथा कतिपय रजवाड़ों की सभाओं तक ही सीमित रह गया तथापि अन्य भाषाओं के प्रेरणास्पद स्रोत के रूप में अनुशीलन अबाध रहा। सौभाग्यवश जिनके हाथों में यह निधि समर्पित थी उन्होंने इसे कर्तव्य बुद्धया दैनन्दिन कृत्य के रूप में स्वीकार किया। धार्मिक भाषा होने के कारण भी जनता में संस्कृत के प्रति श्रद्धा, प्रतिष्ठा की भावना थी। फलतः राज्य से उपेक्षित होने पर भी यह जीवित रही। ऐकान्तिक साधक इसकी सिद्धि करते रहे। भारत में छापाकलों के आगमन के साथ ही विभिन्न प्रकार की संस्कृत रचनाएँ दृष्टिगोचर होने लगीं। स्तोत्र, राजप्रशंसा, काव्य, नाटक आदि रूपों में प्रकीर्ण रचनायें मिलने लगीं। मुख्यतः इनका स्रोत अनुकृतिमूलक था। १८५७ के जन-विद्रोह के पश्चात् कालेजों, स्कूलों आदि में संस्कृत का पठन-पाठन व्यापक ढंग से प्रवलित हुआ। संस्कृत साहित्य के प्रति पाश्चात्य दृष्टिकोण भी बड़ा सहानुभूतिपूर्ण था। इङ्गलैण्ड, जर्मनी, फ्रांस आदि देशों के विद्वानों ने भी संस्कृत की महत्ता को मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया। फलतः भारतीय विद्वान् भी उस ओर आकृष्ट हुए। संस्कृत के इस (Renaissance) पुनर्जागरण में एक विचित्र स्थिति यह रही कि जहाँ दक्षिण भारत में विद्वत्ता के लिए संस्कृतज्ञान को अनिवार्य स्थान मिला वहीं उत्तरभारत में संस्कृत को यह

स्थान न प्राप्त हो सका। श्रद्धा रखते हुए भी समाज ने उसे पण्डितों की धरोहर के रूप में ही स्वीकार किया। जनभाषा न रहने के कारण भी संस्कृत की रचनाओं को एक सामाजिक संकीर्णता में ही अवरुद्ध रहना पड़ा। महाकवि जयदेव ने गीतगोविन्द काव्य के द्वारा जिस परम्परा का निर्माण करके जनसामान्य तक पहुँचाना चाहा था वह चल न सकी। महाकवि जयदेव के परवर्तियों से गीतगोविन्द जैसी रचना सम्भव न हो सकी। सौभाग्य है कि आज संस्कृत साहित्य में गीतों की रचना हो रही है। आधुनिक संस्कृत साहित्य में बीसों महाकाव्यों का परिगणन किया जा सकता है। वे अत्यन्त ही उत्कृष्ट कोटि के भी हैं। किन्तु बहुधा उन काव्यों के प्रणेताओं ने स्वान्तःसुखाय पर विशेष बल दिया, फलस्वरूप रचनायें भी एकांगी हो गयीं। दूसरी ओर उन रचनाकारों ने वाल्मीकि, व्यास, कालिदास के स्थान पर 'माघ तथा नैषध' को ही अपना आदर्श माना। फलतः इन रचनाओं में पाण्डित्य-प्रदर्शन की कामना सर्वोपरि है; वे मात्र विस्मित करना चाहती हैं। हृदय स्पर्श करनेवाली भावभूमि से उनका विरल सम्बन्ध रहता है।

और एक प्रश्न रह जाता है—संस्कृत में काव्य-प्रणयन किस लिये? आदिकवि, व्यास, कालिदास, भारवि आदि के रहते हुए अब साधारण रचनाओं की क्या आवश्यकता है। बात ठीक है किन्तु यह क्यों भूला जाय कि प्रत्येक अभिनव काव्यपंक्ति अपना विशेष प्रयोजन रखती है। पूर्ववर्तियों ने अपने समय तक के उपलब्ध ज्ञान का आलोडन करके अपना काव्य-कौशल उपस्थित किया। आज का युग भी आज के कवि से आत्मनिरूपण की जिज्ञासा करता है। भारत की अन्यान्य भाषाओं के रहते हुए भी संस्कृत भारत की सर्वश्रेष्ठ सांस्कृतिक एवं धार्मिक भाषा है तथा संस्कृत का यह सहज अधिकार एवं कर्तव्य है कि वह आत्मानुभूति को अपने ढंग से व्यक्त करे। और आज तो संस्कृत का प्रचार-प्रसार बढ़ रहा है, फिर संस्कृत में काव्य-रचना क्यों न हो। ठीक है, व्यास-वाल्मीकि होना असम्भव है, कालिदास सर्वदा उत्पन्न नहीं होते, किन्तु केवल चन्द्रमा ही आकाश की शोभा नहीं है, दूरस्थ तारकगण भी अपने ढंग से उस अनन्त को सुशोभित ही करते हैं। उचित सन्निवेश, अभिव्यक्ति का दूसरा नाम ही सौन्दर्य है। और दायित्व बोध, दायित्वभारकिसी प्रकार भी अतीत पर नहीं लादा जा सकता। प्रत्येक क्षण अपनी उपलब्धि, अपनी प्रतिक्रिया चाहता है। भला भास्वर अतीत के नाम पर वर्तमान का अपलाप किस प्रकार किया जा सकता है? मुझे तो कभी-कभी ऐसा लगता है कि मध्ययुगीन साहित्यिक कुण्ठा ही भारत को गुलाम बनाने में विशेष सहायक हुई। यदि साहित्यकारों ने दायित्वबोध का निर्वाह किया होता तथा अपने को समष्टि का अविभाज्य अंग मानकर अभिव्यक्ति का अनुशीलन किया होता तो सम्भवतः देश आत्म-चेतना-विरहित होकर शत्रु-पदाक्रान्त न होता। अतः स्पष्ट है कि साहित्य दायित्व-अभिव्यक्ति का स्वस्थ माध्यम है; इसका अपलाप नहीं किया जा सकता।

मुझे क्षमा किया जाय यदि मैं कहूँ कि 'क्षत्रपतिचरितम्' तथा उसके कवि से मेरा अति निकट का सम्बन्ध है। मैंने इस काव्य का, जब यह 'सूर्योदय' में छप रहा था (१९६४-६९), आरम्भ से ही अनुशीलन किया है। वस्तुतः इसी कारण मैं कवि के निकट सम्पर्क में आया। मैं आलोचक होने की स्पर्द्धा नहीं करता, साथ ही मैं साहित्य का मर्मज्ञ भी नहीं किन्तु संस्कृत साहित्य के अध्येता के रूप में मैं अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर रहा

हूँ। अनेक स्थलों पर मैंने स्वयं कवि से ही अपनी शङ्काओं के निवारण का भी सुयोग प्राप्त किया।

क्षत्रपति महाराज शिवाजी इस महाकाव्य के वर्ण्य विषय हैं। वे ही इसके नेता हैं। भारतीय इतिहास में एक हजार वर्षों के बाद ऐसा संयोग आया कि सामान्य स्थिति के एक युवक ने देश की आवश्यकता को समझा, आत्मस्थिति का अनुशीलन किया तथा स्वलक्ष्य-प्राप्ति के लिए सम्पूर्ण उत्साह से कार्यक्षेत्र में कूद पड़ा। देश ने समय समय पर वीरों को उत्पन्न किया था, उनकी कमी न थी किन्तु आत्मस्थिति का अनुशीलन, लक्ष्य का स्पष्ट ज्ञान आदि न रखने से वे विशेष सफल न हुए। यह प्रथम अवसर था जब दासता-उन्मूलन के प्रति आक्रोश ने जनविद्रोह का स्वरूप धारण किया। पाश्चात्त्य इतिहासकारों ने क्षत्रपति को लुटेरा तक कहा है। उनके विचार से क्षत्रपति का स्वतन्त्रता के लिए प्रयास करना गर्हित आचरण था। उन्होंने सबल केन्द्रिय सत्ता का अकारण ही विरोध किया था। पता नहीं, इस देश में बलात् घुसनेवाले विदेशियों को वे अंग्रेज इतिहासकार क्या कहते हैं। दुर्भाग्यवश राष्ट्रिय चरित्रों के ऊपर कीचड़ उछालना इन पाश्चात्त्य इतिहासकारों का पूर्वाग्रह रहा हैं। भारत में भी उनके चेलों की कमी नहीं। किन्तु ये तथ्य को झुठला नहीं सकते। 'जोन आफ आर्क' के विरुद्ध भी अंग्रेज इतिहासकारों ने ४०० वर्षों तक चरित्र-हत्या का प्रयास चलाया था किन्तु जब फ्रांसीसी जनता ने १९वीं शती के आरम्भ में उसे 'फ्रांस की राष्ट्रिय देवी' (Natinoal Goddess of France) की परमोच्च उपाधि से समादृत किया तब से अंग्रेजों का वह अभियान समाप्त हुआ। जब भी क्रान्तियाँ होती हैं, प्रतिक्रियावादी इंगलिश इतिहासकार उनके विरोध में कमर कसकर खड़ा हो जाता है। भारतीय स्वातन्त्र्य का इतिहास इसका ज्वलन्त उदाहरण है। अतः क्षत्रपति को एक राष्ट्रिय जननेता के रूप में पाकर ही कवि ने उन्हें काव्य-विषय बनाया। भारतीय जनता की दृष्टि में क्षत्रपति शिवाजी एक देशभक्त, स्वातन्त्र्य-सेनानी, स्वराज्य संस्थापक, उदारचेता, निर्भयमना, न्यायशील व्यक्ति के रूप में विख्यात हैं। कवि ने चेष्टापूर्वक इन्हीं गुणों में प्रतिष्ठित क्षत्रपति का आलेखन किया है। क्षत्रपति का जीवन साहित्य अनन्त है, बीसों महाकाव्यों के लिए अपेक्षित सामग्री उनके जीवन की घटनाओं से प्राप्त हो सकती है। अस्तु, कथानक के चयन में विशेष-अवधान-पूर्वक प्रयत्न किया गया है : इस महाकाव्य में मुख्यतः दो ही घटनाओं का वर्णन है : सर्ग पाँच से सर्ग नव तक अफजल खान का अभियान और उसकी समाप्ति का वर्णन है। इसी प्रकार सर्ग बारह से सर्ग पन्द्रह तक क्षत्रपति का आगरा-गमन, नजरकैद तथा वहाँ से कौशलपूर्वक निकलकर अपने राज्य में वापस जाना वर्णित है।

संक्षेपतः प्रथम सर्ग आत्मनिवेदन है। कवि ने अनेक प्रकार से अपने असामर्थ्य, अक्षमता, अनुपयुक्तता तथा यशःप्रार्थिता का विनम्र निवेदन किया है। हमें बरबस महाकवि कालिदास के रघुवंश की स्मृति आती है जहाँ कवि ने "मन्दः कवियशः प्रार्थी" आदि के द्वारा आत्म-निवेदन किया है। क्षत्रपति के कवि भी उसी सरणि का अवलम्बन करते हुए अपनी सीमाओं का विश्लेषण करते हैं :

पूर्वसूरिभरे धाम्नि कौतुकारोपितस्य मे।
गच्छतो दुर्गतिं वीक्ष्य हसिष्यन्ति न के बुधाः॥ (१.६)

विक्रमन्ते न यत्राप्ता मर्यादाभङ्गभीरवः।
अस्वरूपविदा तत्र मया संल्लप्स्यते पदम् ॥ (१.९)

कवि की मान्यता है कि सांस्कृतिक चेतना के बिना स्वतन्त्रता के प्रति संस्कारात्मक श्रद्धा उत्पन्न ही नहीं हो सकती; उनकी घोषणा है कि भारतीय में अपनी सांस्कृतिक उपलब्धियों का गर्व होना चाहिए। इस दिशा में संस्कृत भाषा तथा गङ्गा का महत्त्व सर्वोपरि आता है।

अनधीत्य सुरब्राह्मीमनिषेव्य सुरापगाम्।
इह जन्मजुषा नूनं वञ्चितैवार्यमेदिनी ॥ (१.४७)

काव्यधाम अमर है। कविजगत् के प्रशंसक होते हुए भी कवि ने आदिकवि को पद्धति-प्रवर्तक के रूप में नमस्कार किया है। आदिकवि स्वयम्भू ब्रह्मा हैं उनकी रामायण-कथा-सृष्टि आर्यदृष्टि की ही दूसरी संज्ञा है। उनकी काव्यपरीक्षा में उत्तीर्ण होकर मानव भी ईश्वर हो जाता है।

वाल्मीकेर्भारती भाति स्वच्छन्दविधिवर्तिनी।
यत्परीक्षितवीर्योऽसौ नरोऽपौरुषेश्वरतां गतः ॥ (१.५७)

महर्षि व्यास एवं महाकवि कालिदास के प्रति कवि की महती श्रद्धा है। 'व्यासाद्या चतुराननात्' कहकर कवि ने व्यासजी का अभिनन्दन किया है। कालिदास तो आदिकवि के साहित्यिक वंशधर हैं। कालिदास की सरस्वती सर्वत्र अप्रतिहतगति है। कवि के ही शब्दों में:—

पात्रकालवयोदेशबाधमुल्लङ्घ्य सस्मितम्।
यौवनश्रीः स्वतन्त्रेव कालिदाससरस्वती ॥ (१.७५)

कवि को परम विश्वास है कि माँ सरस्वती को इस सामान्य रचना से भी सहज आनन्द मिलेगा। हर्ष के आवेग में वे इस काव्य के दोषों को क्षमा कर देंगी। मातृहृदय कहीं अपनी सन्तान के प्रति दोषबुद्धि रखता है!

पीयूषस्तन्यनिष्यन्दि सहजाह्लादनिर्भरम्।
किमपत्येषु वात्सल्यं सूक्तिबन्धमपेक्षते ॥ (१.९०)

कवि मानते हैं कि सुन्दर काव्यरचना में कोई भी उन्हें पराजित कर सकता है किन्तु क्षत्रपति की शुभाशंसा में उन्हें भी दो-तीन फूल चढ़ाने का अधिकार तो प्राप्त है। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि सरस्वती की अनन्य उपासना में वे किसी को गुरु मानने को तैयार नहीं।

द्वितीय सर्ग भारत भूमि का वर्णन है। एक प्रकार से यह भारत का संक्षिप्त सांस्कृतिक भूगोल है। हिमाद्रि से आरम्भ करके काश्मीर, पञ्चनद, सप्तसिन्धु, राजस्थान, उत्तरप्रदेश, बिहार, आसाम, नेफा, बंगाल, उड़ीसा, मद्रास, केरल, महाराष्ट्र आदि प्रान्तों का बड़ा ही मनोहारी वर्णन मिलता है। प्रतीत होता है शब्दचित्रों के माध्यम से सम्बद्ध घटना ही मूर्तिमती हो उठती है। कवि ने सचेष्ट होकर घटनाओं का वर्णन किया है। भारतीय इतिहास के मार्मिक स्थल, १८५७ का विद्रोह, रानी लक्ष्मीबाई, तात्या टोपे, आधुनिक राष्ट्रिय संघर्ष के जननेता भगवान् तिलक, महात्मा गान्धी, पं० नेहरू, महामना पं० मालवीय आदि देशभक्त अतीत

के उज्ज्वल नक्षत्र तथा वर्तमान की विभूतियाँ सबका सुविचारित मनोहर समन्वय हैं। द्वितीय सर्ग के अन्त में ही चरित्रनायक का जन्म आदि वर्णित है।

आदर्शयाथार्थ्यविदात्मनन्दिनी सा देवमायेव चरित्रदेवता।
तं रत्नसूनुं सुषुवे प्रजाभरं यत्तेजसाऽद्यापि वयं वयं युगे॥(२.१७८)

तृतीय सर्ग में क्षत्रपति के प्रारम्भिक विजयों का उल्लेख हैं। उनकी मातृभक्ति, अनुजीवियों पर स्नेह, संकल्प एवं साहस तथा शत्रुपक्ष के छिद्र का यथार्थ ज्ञान आदि का सुस्पष्ट वर्णन है। क्षत्रपति की परधर्मविषयक उदारता तथा नारियों के प्रति सम्मान आदि का हृदयग्राही चित्रण है। पालकी में लायी गयी शत्रुवधू को देखकर क्षत्रपति कहते हैं—

प्रसीद वत्से पुरतो मयि स्थिते न देहलीशोऽपि तवाप्रिये प्रभुः।
पितुर्गृहं प्राप्य दुहितृवत्सलं कथं विषादैः परितप्यसेऽधुना॥ (३.१२१)

क्षत्रपति किसी भी मूल्यपर अपने आदर्शों की वलि नहीं दे सकते। आदर्श विहान होकर वे पार्थिव वैभव को व्यर्थ समझते हैं!

जिजीविषामो व्यसनक्षता अपि स्वयं यमादर्शमणिं निरीक्षितुम्।
तमेव सञ्चूर्ण्य मदोन्मदा इव सपत्नसामान्यवृका वयं न किम्॥ (३.१२७)

चतुर्थ सर्ग अत्यन्त ही उदात्त भावभूमि पर आधारित है। समुद्र के किनारे भग्न देवालय में सोये क्षत्रपति ने ब्राह्मवेला में एक श्वेतवसना महिला को देखा। जिज्ञासा करने पर उस स्त्री ने अपने को स्वतन्त्रता की अधिष्ठात्री देवी कहा तथा उसी के मुख से भारत का गौरवमय अतीत तथा दुःखपूर्ण वर्तमान (क्षत्रपति के समय तक) वर्णित हैं। वैदर्भी वृत्ति में सहज भाव से वर्णित यह कथानक भारतीय संस्कृत साहित्य में अनूठा है। रघुवंश के यशस्वी कवि ने सोलहवें सर्ग में अर्धनिद्रित कुश के सम्मुख अयोध्या की अधिष्ठात्री देवी को उपस्थित किया है तथा उनके ही मुख से अयोध्या की दुर्दशा का वर्णन भी कराया है। फिर भी इस एक सर्ग में भारतवर्ष की आत्मा ही झंकृत हो उठी है। स्वतन्त्रता देवी ने जिज्ञासु क्षत्रपति से व्यंग्यपूर्वक पूछा है कि भारतीय होकर भी जगते हुए नींद क्यों खराब कर रहे हो—

मा भैरवेवर्त्मनि साधुचारे मनोरथं दुर्ललितं बधान।
न भारतानामधुना स्वदेशे सुषुप्तिवर्जं परमस्ति पन्थाः॥ (४.१८)

राणाप्रताप के संबन्ध में स्वातन्त्र्य-लक्ष्मी की उक्ति अति स्पृहणीय है—

पर्णाशनो रौद्रगुहानिकेतो वनार्हवासा विपदध्वगोऽपि।
दास्यार्जितैश्वर्यकलङ्कशान्तान् वाप्यान्वयो द्रष्टुमपीहते किम्॥ (४.१३७)

दम्भ परायण आडम्बरी शास्त्र व्यवसायियों के लिए वे कहती हैं।

जनेषु शास्त्रोदितवर्त्मसिद्धा रहस्यधिक्षिप्य हठात्तदेव।
अश्नन्ति विश्वास्य विरूढदम्भा इमे बुधम्मन्यवृकाः स्वदेशम्॥ (४.८४)

और भी—अधिकारियों, शक्तिसम्पन्न समाज के कर्णधारों की चापलूसी करते हुए नरीह अकिञ्चन सामान्य जन को वे किस प्रकार प्रतारित करते हैं :

विध्यस्तवेलंङ्घितसाधुमार्गान् प्रभून्श्रयन्तो व्यसनौकसोऽपि।
श्रमोद्यमान् स्प्रष्टुमपि क्रुधान्धा वणिग्धियः शास्त्रमुदाहरन्ति॥ (४.८५)

चतुर्थ सर्ग राष्ट्रबोध का, सांस्कृतिक प्रबोधन का प्रभावपूर्ण उद्योग है। अकर्मण्य राजाओं, उच्छृंखल राज्यसत्ता तथा कातर न्यायबुद्धि के प्रति उत्कट उपालम्भ है।

पाँचवाँ सर्ग बीजापुर राज्य में क्षत्रपति के विरुद्ध उन्हें निर्मूल करने के लिए मन्त्रणा पर आधारित है। आरम्भ में ही प्रातःवर्णन का उपक्रम करके मन्त्रिपरिषद् की चेष्टा का वर्णन है, अन्त में शिवाजी महाराज को निर्मूल करने का भार सेनापति अफजल खान अपने ऊपर लेते हैं तथा सैनिक अभियान में शिवाजी के क्षेत्र को तहस नहस करते हुए प्रतापगढ़ किले के पास पहुँचते हैं। बीजापुर-सेना की विध्वंसलीला के सम्बन्ध में उक्ति है :

पशुधनमुदरे वसूनि कोषे युवतिजनान् रुदतो मदाक्ततल्पे।
प्रतिपदयुवकांश्च खड्गतर्षे शठरिपुसैन्यभटाः प्रसह्य निन्युः॥ (५.७८)

छठा सर्ग ऋतुवर्णन करता है किन्तु स्वाभाविकता लाने के लिए प्रयत्न किया गया है। अन्तिम चरण में यमक का सन्निवेश करते हुए सम्पूर्ण सर्ग द्रुतविलम्बित छन्द में वर्णित है। नट-नटिनियों के वेष में क्षत्रपति के गुप्तचर बीजापुर की सेना में पहुँचते हैं तथा सेनापति की आज्ञा से षड्ऋतु का कार्यक्रम प्रदर्शित करके शत्रु की गतिविधि की पूर्ण जानकारी प्राप्त करके वे चले जाते हैं। ऋतुवर्णन परम्परात्मक होता हुआ भी अत्यन्त हृदयग्राही है। ऋतुवर्णन का आरम्भ उपजाति से होता है। वसन्त-वर्णन में उक्ति है :

समाकुलस्त्रुट्यति गात्रबन्धो वासोऽसपातं मुहुरातनोति।
भ्रान्तेव न स्वास्थ्यमुपैति दृष्टिर्वसन्तवाताहतसुन्दरीणाम्॥ (६.१७)

वसन्त के प्रादुर्भाव में,

चलरसालरसालसमञ्जरीरुचिरता चिरतापहराऽधुना।
सककुभाः ककुभा रुजिरेजिताः ससरले सरले कुसुमाकरे॥ (६.२२)

हिममास का अपना अलग ही औचित्य है :

किञ्चित्तुषाराक्तनिशान्तवातैर्हेमन्तदूतैरिव बोधितापि।
आलिङ्गनोद्दामभुजान्तरस्थं त्यक्तुं प्रियं नोत्सहते नवोढा॥ (६.७१)

सप्तम सर्ग में बीजापुर के सैनिक अभियान से उत्पन्न स्थिति पर विचार प्रस्तुत है। सेनापति अफजल खान के दूत कृष्णाजी क्षत्रपति के दरबार में उपस्थित होते हैं तथा सन्धि का प्रस्ताव करते हैं। सन्धि अथवा युद्ध दोनों ही भयावह हैं। अफजल खान का स्वभाव बड़ा ही क्रूर है वह लक्ष्यसिद्धि के लिए किसी भी सीमा का अतिक्रमण कर सकता है। सेनापति के सम्बन्ध में कृष्णाजी कहते हैं :

प्रापुः पुनर्नैव तटं प्रविष्टा व्यपेतयाथार्थ्यगिरस्तटस्थाः।
गाम्भीर्यमद्यापि बलार्णवस्य नास्याभिधातुं भुवने शरीरी॥ (७.३२)

अष्टम सर्ग की अवतारणा अफजल खान के वध के लिए है। क्षत्रपति को अपने गुप्तचरों तथा कृष्णाजि के संकेतों से स्पष्ट हो गया है कि सेनापति कपट द्वारा शिवाजी को

समास करना चाहते हैं। क्षत्रपति ने भी "शठेऽथवा शाठ्यमकृत्रिमाग्रहः" के सिद्धान्तानुसार उसी मार्ग का अनुसरण किया है। अतः—

अजस्रकौटिल्यफलं खलोऽधुना वृकः स्वजाले लभतां पतन्नतः।
स्वशाठ्यसंक्षोभितशाठ्यशासिताः स्वयंशठा एव दिशन्तु सत्पथम्॥ (८.८)

क्योंकि—

पुमानुपायाप्रवणः शठोद्यमं विदन्नपिच्छद्मपथेऽवसीदति।
पुनर्नवीकर्तुमतन्द्रिलः कथं सहेत पूर्वस्खलितं जनोऽथवा॥ (८.९)

नवम सर्ग में वाजीप्रभु देशपाण्डे की शौर्यगाथा वर्णित है। किस प्रकार थोड़े से सैनिकों द्वारा गजपुर की घाटी का मार्ग रोककर उन्होंने महान् शत्रुबल को रोक दिया तथा क्षत्रपति को निरापद दुर्ग में पहुँचने का मार्ग प्रशस्त कर दिया। ओजस्वी वृत्त में सेनापति का युद्धोद्योग वर्णित है—वाजी प्रभु का उद्बोधन सुनें :—

सहस्रशस्तपन्ति दूषितव्रता शुभाङ्गनाः
सहस्रशश्शपन्ति देशषण्डतां हतप्रियाः।
मनुप्रसूतयो दिनेशनन्दना हृता न का
विदेहजाः क्षपाचरंगतः क्व रामविक्रमः॥ (९.५०)

बड़ा भयंकर द्वन्द्व युद्ध है। सेनापति वाजीप्रभु को देखिये—

हरन् हरन् द्विषच्छिरः स्मरन् स्मरन् नृपस्थितिं
क्षरन् क्षरन् क्षताङ्गनिस्सरत्पयोदशोणितम्।
भ्रमन् भ्रमञ्ज्भूपतिर्हसन् हसन् द्विषोऽस्थिरान्
पतन् पतन्नपीष्टये प्रतीपगानपातयत्॥ (९.६४)

दशम सर्ग प्रथम बार दिल्ली का सफल प्रतिरोध करता है। उत्कृष्ट सैन्य-सञ्चालक, शायिस्ता खान एक बड़ी मुगल सेना के साथ शिवाजी के किलों को हस्तगत करता आ रहा है। आये दिन प्रजाकुल को विपत्ति का शिकार होना पड़ता है। अन्ततः क्षत्रपति ने साहस का आश्रय लेकर चुने हुए सैनिकों के साथ रात में सेनापति के शिविर पर आक्रमण कर दिया। फिर तो शत्रु को लेने के देने पड़ गये। भागते हुए शायिस्ता खान की दो अंगुलियाँ भी कट गयीं, पूरा शिविर अस्त-व्यस्त हो गया। उसी भगदड़ में बहुत से वीर? प्राण बचाने के लिए विभिन्न उपायों द्वारा शिविर छोड़कर भाग खड़े हुए। साधु के वेष में एक भागते हुए सैनिक के सम्बन्ध में उक्ति है—

सितभूतिवपुर्जटाभरार्तः शितशूलो मृगराजकृत्तिवासाः।
सजवं बहिरस्पृहः प्रतस्थे धृतरुद्राक्षगलोऽपरस्तपस्वी॥ (१०.७२)

ग्यारहवाँ सर्ग महाराष्ट्र में बहुप्रचलित एक किंवदन्ती पर आधारित है। इस सर्ग में क्षत्रपति अपने गुरु समर्थ महाराज की उदरशूल-निवृत्ति के लिए शेरनी का दूध लाने के लिए रात्रिकाल में वन में प्रवेश करते हैं। जैसा कि श्री देशमुख जीने पन्द्रह वर्ष पूर्व यू० जी० सी० चेयरमैन के रूप में लिखा था, इस सर्ग पर रघुवंश द्वितीय सर्ग की छाया प्रति-

भासित होती है। कथानक में एकरूपता होने के कारण यह सम्भाव्य भी है किन्तु यथार्थतः विचारने पर दोनों सर्वथा अपने ढंग से स्थिति का आकलन करते हैं। मार्ग में क्षत्रपति को रोकता हुआ कोई जटाधर कहता है—

गुरुव्रतोऽसि व्रतिनां वर त्वया परोपकाराय निवेद्यते वपुः।
अलीकलीलाकलुषे धरातले प्रकृष्टपुण्यप्रभवा भवादृशाः॥ (११.४८)

उनका कथन है कि—

विधौ निषेधे गहनस्य कर्मणः प्रमाणमाद्यैरिह शास्त्रमीशितम्।
अथापवादे सदसद्विवेकिनः प्रवृत्तिरन्तःकरणप्रतिष्ठिता॥ (११.५०)

किन्तु क्षत्रपति भी अपनी धुन के पक्के हैं प्रतिवाद करते हुए उनकी उक्ति है :

असम्भवं नाम हतोद्यमेऽखिलं क्रियारभाणां न किमप्यसम्भवम्।
हिनस्त्यचेष्टस्य गतिं यदेव तत् क्रियाधिरूढे तनुते नवोदयम्॥ (१.९८)

और अन्ततः वे अपने उद्देश्य में सफलमनोरथ होते हैं।

बारहवाँ सर्ग आमेरनरेश मिर्जा राजा जयसिंह तथा क्षत्रपति में संघर्षों से भरा है। राजा जयसिंह ने क्षत्रपति को सन्धि के लिए विवश कर दिया है। महाराज की मन्त्रिपरिषद् में भी अनेक मत हैं किन्तु श्रीमन्त पेशवा ने सन्धि का औचित्य प्रतिपादित किया है तथा जयसिंह के कहने से क्षत्रपति मुगल दरबार जाने के लिए तत्पर हो जाते हैं। मिर्जा राजा जयसिंह के सम्बन्ध में कवि की उक्ति है :

आकैलासमुपाम्भोधि क्व नारातिकुलाङ्गनाः।
यौवनाग्निज्वलत्क्षेत्रमसिञ्चन्नेत्रवर्षणैः॥ (१२.११)

दिल्ली के साथ सन्धि को निष्फल तथा आत्मघाती बताते हुए मराठा सेनापति का कथन है :

आर्याभिधाग्रहत्यागो देवश्रुतिनिषूदनम्।
म्लेच्छवर्णाभिरक्तिश्च दिल्लीसख्याद्यपङ्क्तयः॥ (१२.७६)

यही नहीं, यथार्थतः तो—

आत्मश्रेयःप्रतिष्ठायै जीवनं जीवनं मतम्।
अथवा किन्न जीवन्ति पशवः पक्षिणोऽधमाः॥ (१२.८७)

तेरहवाँ सर्ग हास-परिहास के लिए समर्पित है। रात्रि में शिवमहाराज के अनुचर आगरा नगर का भ्रमण कर रहे हैं। अनेक दृश्यों को देखा है, वेशभूमि भी अपनी सजधज के साथ दृष्टिगोचर हुई है :

एकं वयो लसति यौवनमेव यस्मिन्नेकं व्रतं मदिरवारवधूविलासः।
एकं फलं विषमपुष्पशरानुतोषो वेशस्तथामरधरा द्वयमेव सर्गे॥(१३.२५)

किसी मानिनी नायिका को मनाते हुए कोई भक्त विनय पूर्वक कह रहे हैं।—

ज्योत्स्ना स्वरूपमिव पश्यति दीर्घिकासु सम्मन्त्रयन्निव शनैरनिलोऽभ्युपैति।
कोलाहलः स्वपिति पौरपथे विपन्नः कान्ते! स्मरस्थितिरियं किमुपेक्षणीया॥(१३.६८)

चतुर्दश सर्ग में क्षत्रपति शत्रुनगरी में कैद हो जाते हैं। बादशाह की कूटनीति फलवती हुई है तथा क्षत्रपति अपने ही महल में कैद हो जाते हैं। फिर भी वे मानसिक सन्तुलन बनाये रखते हैं तथा उपाय द्वारा मिठाई के टोकरों में छिपकर आगरा से बाहर निकल जाते हैं। कुमार रामसिंह को इस अप्रत्याशित विडम्बना के लिए फटकारते हुए वे कहते हैं :

अये त्वया त्वज्जनकेन वा परैरदृष्टपूर्वा न ममार्यसम्पदः।
वदेदृशीमर्हति किं मम स्थितिर्विडम्बनां त्वन्नरपालदर्शिताम् ॥ (१४.२१)

आत्म-भर्त्सना करते हुए ये निद्रा को उपालम्भ देते हुए कहते हैं—

मनोज्ञतल्पे परिरक्षितेऽधुना महार्हभोगे सुकृतानुशंसिनि।
निरस्तबाधे समयेऽपि साग्रहे दरिद्रनिद्रे ! किमुपेक्षसे जनम् ॥ (१४.८६)

पञ्चदश सर्ग में कौशलपूर्वक कारामुक्त क्षत्रपति का दक्षिणगमन वर्णित है। प्रच्छन्नवेष में साथियों के साथ तीर्थों में घूमते मथुरा, वाराणसी आदि से गुजरते हुए क्षत्रपति अन्त में दक्षिण, अपने राज्य में पहुँचते हैं। वनश्री तथा तीर्थों का बड़ा ही मनोग्राही वर्णन है।—

पुष्पैः स्खलद्भिर्विहगैः सरावैर्मन्दं पतद्भिर्गिरिनिर्झरैश्च।
सिद्धप्रचारैः समवेतसत्त्वैराकर्षतीवाध्वजनान् वनश्रीः ॥ (१५.७)

मेघमाला से ढँके वर्षाकाल में भी वे रात्रि में यात्रा करते हैं। उक्ति है—

क्षणं नवाम्भोधररुद्धरन्ध्रं वियद्गवाक्षे चपलेङ्गितेन।
तेनुर्दराकुञ्चिततारकाक्ष्यः स्वर्योषितो विभ्रमवीक्षितानि ॥ (१५.७२)

सोलहवें सर्ग में कोण्डना दुर्ग का विजय वर्णित है। माता जीजाबाई के आग्रह पर क्षत्रपति के अनन्यमित्र बाल्यबन्धु तानाजि मालसुरे ने कोण्डना-विजय किया। मुगल-दुर्गपाल उदयभानु से भिड़ना सरल न था किन्तु वीर तानाजि ने अर्धरात्रि में पाँच सौ सैनिकों के साथ भयंकर युद्ध में किले पर अधिकार किया। उदयभानु तथा तानाजि दोनों ही वीरगति को प्राप्त हुए। उदयभानु तथा तानाजि की उक्ति-प्रत्युक्ति बड़ी समर्थ हैं। उदयभानु अपनी वीरता के लिए विख्यात है—

योषितामसिभृताञ्च निस्सहं सन्ततस्फुरदरालदर्शिनी।
यस्य निर्गलति सम्मुखं हठान्मानकीर्तिरनुपायविह्वला ॥ (१६.५६)

तानाजि को फटकारते हुए उदयभानु की उक्ति है—

विस्तृतेऽपि शठ ! सङ्गराङ्गणे श्लाघ्यमृत्युमपहाय कातरः।
सारमेय ! शयनालसोरसि दंशनैः स्वचरितं विकत्थसे ॥ (१६.६०)

तानाजि का प्रत्युत्तर है—

अन्यगैव किमु धर्मकल्पना त्वं जितत्रिगुणवृत्तिरेव वा।
जिह्मभृत्य नहि वाचि केवलं किन्तु तिष्ठति विधौ सदर्थता ॥ (१६.३३)

सप्तदश सर्ग का आधार क्षत्रपति द्वारा बादशाह अवरंगजेब के पास जजिया के विरुद्ध भेजा गया स्मृतिपत्र है। इस सर्ग में आग्रहपूर्वक बादशाह से निवेदन किया गया है कि वे हिन्दू प्रजा पर जजिया न लगायें तथा धर्मपूर्वक प्रजापालन करते हुए अपने पूर्वजों की उज्ज्वल कीर्ति का अनुगमन करें। वे अपने ही हाथों अपने राज्य का विध्वंस न करें। पूरा सर्ग द्वयर्थक श्लोकों, व्यंग्योक्तियों तथा उदात्त कल्पनाओं से भरा हुआ है। अस्तु, दुराग्रह-मुक्त होने की प्रार्थना करते हुए बादशाह के प्रति उक्ति है—

त्रिलोकभर्तुः कतमःपरोऽपरः क्व वास्य सत्ताविरहो रहस्यपि।
अनन्तमार्गं हि विडम्बना न किं विभौ वर्तेकाध्वदुराग्रहस्तव। (१७.५५)

बाबर, हुमायूँ, अकबर आदि की प्रशंसा करते हुए उक्ति है—

अनाप्तकैशोरपदोऽपि लीलया घनाधिकम्पामचलाञ्चलामये।
उवाह यः शेषनिभः सुखस्थिरामकब्बरोऽसौ यशसाजयद्दिवम्॥ (१७.६६)

अठारहवें सर्ग में क्षत्रपति का राज्याभिषेक वर्णित है। राज्याभिषेक की आवश्यकता, उपादेयता आदि का विस्तृत विवेचन करते हुए राज्याभिषेक का वर्णन किया गया है। जनता में ही ऐसे तत्त्वों की कमी न थी जो क्षत्रपति को एक सेनापति मात्र मानते थे तथा बिना अभिषेक के उन्हें राजा मानने को तैयार न थे। कवि का कथन है—

अशाणसंस्कारपरिष्कृतेऽपि तस्मिन् मणौ दीपितसर्ववर्णे।
परम्परा रत्नविदां न मेने स्वराज्यलक्ष्मीस्तनचुम्बिपुण्यम्॥ (१८.७)

अस्तु, वाराणसी से पण्डितमूर्धन्य विश्वेश्वर पण्डित ने घोषणा की कि—

बिभर्तुं सामान्यविधौ स्वरागं परम्परा प्राकृतबोधभूमिः।
यस्मात् स्वयं सा लभते स्वरूपं तस्याः प्रमाणं किमपेक्षते सः॥ (८.१४)

युगान्तमेघस्तनितानुभावां यद्धुङ्कृतिं नागवरा निशम्य।
सवेपथुस्तब्धदृशः पतन्ति ससंशया तस्य मृगेन्द्रता किम्॥(१८.१५)

और कहा कि—

स्वातन्त्र्यरक्षाव्रतजीवितेन रत्नप्रसूर्नूनमनेन धात्री।
आचारदेहो रिपुकर्शितोऽपि श्रेयांसि सूते पुनरार्यधर्मः॥(१८.३०)

और क्षत्रपति का अभिषेक होता है। शुभाशंसा है—

जयत्वशेषाभ्युदयाय लोको वसुन्धरैषा च निरस्तबाधा।
धर्मो जयत्वात्मविवेकवर्त्मा लक्ष्मीधुरं क्षत्रपतिर्बिभर्ति॥ (१८.११३)

उन्नीसवाँ अन्तिम सर्ग है। अनुष्टुप् छन्दों में संक्षेपतः क्षत्रपति की राज्यपद्धति का वर्णन है। क्षत्रपति अनासक्त बुद्धि से कर्तव्य-पालन करते हैं—

दण्डयन्नपि निर्वैरो मानयन्नपि निस्स्पृहः।
स्वस्थो विनिर्जितोऽप्याजौ नोन्मनाव जयन्नपि॥ (१९.१०)

और सचमुच यदि—

जाह्नवी जाह्नवी येयं हिन्दवो हिन्दवोऽथवा ।
भारतं भारतं वाऽद्य तत्र हेतुः शिवोदयः ॥ (१९.५२)

संक्षेपतः इसी क्रम से इस महाकाव्य का पल्लवन हुआ है। समन्वय इस कृति को मुख्य धारा है। आज के National integration राष्ट्रिय एकता के युग में इसका स्वर विशेष उपयोगी है। उपक्रम में ही उक्ति है—

वर्ण-धर्म-वचो-वृत्तिभेदवत्यपि यद्धृताः ।
शैलादासिन्धु देशेऽस्मिन्नेकभावा हि देहिनः ॥ (१.३९)

इसी प्रकार उपसंहार में भी हम इसी भावना को फलवती पाते हैं।

विभिन्नधर्मवर्त्मानो विभिन्नाजीववर्तिनः ।
विभिन्नाचारवन्तोऽपि नोद्वेगाय परस्परम् ॥ (१९.८३)

स्वातन्त्र्यबोध ही इस महाकाव्य का जीवन्त प्राण है। प्रत्येक स्थल इस उदात्त भाव से भरा हुआ है। देशसीमा के सम्बन्ध में जनमानस को स्पर्श करती हुयी स्वाभाविक उक्ति है कि—

यावत्तनौ भारतभूमिजन्मनामेकोऽपि कीलालकणोऽवशिष्यते ।
आसिन्धु शैलात् प्रकृतिः प्रणन्दतु सोम्मि स्थिरा तावदपेतसंशया ॥ (२.३३)

एक तथ्य अतिशय सुस्पष्ट है, इस काव्य में ऐतिहासिकता का अपलाप नहीं किया गया है। प्रायः भारतीय कवियों में इतिहास की अवहेलना झलकती है। शंकरदिग्विजय आदि काव्य इसके प्रमाण हैं, फलतः अरुचि उत्पन्न होती है। इसी प्रकार अतिशयोक्ति पूर्ण कल्पनाओं से प्रायः विरत रहने की चेष्टा की गयी है। यह विरुदावली नहीं है अपितु एक राष्ट्रनिर्माता की यथार्थ मीमांसा है। क्षत्रपति ने राज्य निर्माण से अधिक यशस्वी कार्य यह किया कि जनमानस में स्वराज्य की भावना अंकुरित कर दोया फलतः उनका राज्य प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में स्थापित था। पार्थिव राज्य तो उस भावना का दूसरा स्वरूप था। कवि की उक्ति है कि—

न केवलं बले वाचि भूम्नि वा तदवस्थितिः ।
प्रातिष्ठतार्यराष्ट्रस्तु प्रत्यात्म प्रतिमानसम् ॥ (१९.३७)

कवि की दृष्टि में गुलामों की कोई जाति नहीं होती, उनका वर्ण-भ्रम मिथ्या है।[1] शास्त्र-व्यवसायियों का यह मोह ही है कि श्रम द्वारा आजीविका प्राप्त करनेवाली जनता को शूद्र कहकर उनका अपमान करते हैं।[2] जब देश तथा इसके आदर्शों की मर्यादा का विदेशियों द्वारा ध्वंस हो रहा था तो इन्हीं शूद्रनामधारी भारतीयों ने अपने हृदय के रक्त से मातृभूमि के कलंक को धोना चाहा था।[3] वस्तुतः गुलामों का न तो परलोक होता है न तो इहलोक।[4] धर्म तो लोकाभ्युदय का मूल होता है। वह समयापेक्षित, विवेक-प्रतिष्ठित विधान का सम्मान करता है। भारतीय संस्कृति ने अपनी उदारता एवं महाप्राणता के द्वारा शक, खस, हूण आदि अनेक बर्बर विदेशीय जातियों को आत्मधर्म में समाविष्ट कर लिया।[5]

१. १८-१८। २. ४-८५। ३. ४-८६। ४. १८-३४। ५. ४-१५९।

अस्तु, धर्म को विवेक का आदर करना चाहिए अन्यथा हमारे दम्भपूर्ण दुराग्रह का फल यह होगा कि अनन्तकाल तक एक काले धब्बे के रूप में इतिहास हमें याद करेगा तथा भविष्य की सन्तान हमारी हँसी उड़ायेगी।[६]

क्षत्रपतिचरितम् में महाकाव्य के आन्तरिक लक्षण पर विशेष बल दिया गया है। हो सकता है कि 'सर्गबन्धो महाकाव्यम्' वाला लक्षण पूरा-पूरा घटित न हो किन्तु वाल्मीकि, कालिदास आदि द्वारा समादृत काव्यलक्षण, आन्तरिक धर्म सर्वथा अनुपालित है। 'को न्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्' की जिज्ञासा द्वारा आदिकवि ने जिस पौरुषमय आदर्शचरित को चाहा है तथा 'शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां' के द्वारा कालिदास ने जिस 'इक्ष्वाकूणामन्वय' का वर्णन किया है, इस क्षत्रपति में भी उसी भावना का प्रणयन किया गया है। हो सकता है, सायं प्रातः, जलकेलि, पुष्पावचयन आदि के वर्णनों में कवि कृतकृत्य न हुए हों किन्तु क्षत्रपति के पौरुषमय चरित्र का आकलन करने में उन्हें असफलता नहीं मिली है। क्षत्रपति के रूप में वाल्मीकि कालिदास की ही परम्परा यशस्वी हुई है। वैदर्भीवृत्ति में सहज भाव से निस्सृत सरस्वती की यह भावधारा सहृदयों का अवश्य ही मनोरंजन करेगी।

मैंने प्रथम ही निवेदन किया है कि मैं आलोचक नहीं हूँ। शर्माजी का मुझ पर स्नेह रहता है तथा इस प्रकार मैं उनका आत्मीय हूँ, यही कारण है कि मैं इतना लिखने में तत्पर हो सका। वस्तुतः इस महाकाव्य के गुण-दोषों का विवेचन तो सुधी, साहित्य मर्मज्ञ, सहृदय पाठकों का काम है। हाँ इतना अवश्य है कि दीर्घ काल के पश्चात् संस्कृत साहित्य में इतनी मनोहर कृति सुलभ हो सकी। इसको पढ़कर मैं आनन्दनिमग्न हो उठता हूँ— यह मेरी अपनी अनुभूति है। सौभाग्य की बात है कि आधुनिक भारतीय विवेक आज अपने अतीत की कड़ियों को सुलझा रहा है, अपने राष्ट्रपुरुषों को पहचानने का प्रयत्न कर रहा है तथा इस प्रकार उनके यथार्थ आकलन के लिए सचेष्ट है। क्षत्रपतिचरितम् अपनी ज्वलन्त प्रभा से इस पथ का प्रकाशस्तम्भ होगा तथा अपेक्षित प्रेरणा का स्रोत होगा।

क्षत्रपतिचरितम् के कवि श्री उमाशंकर शर्मा, काशी विद्यापीठ वाराणसी में अंग्रेजी के व्याख्याता हैं। देवरिया जिले में कुशीनगर से बीस मिल उत्तर सिंगहा ग्राम इनका जन्म-स्थान है। संस्कृत के मूर्धन्य विद्वान् पं० रामनरेशमणि त्रिपाठी इनके पिता थे। इन्होंने पितृचरणों से ही संस्कृत-ज्ञान प्राप्त किया। संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी तीनों ही साहित्यों का अध्ययन शर्मा जी का स्वाध्याय है।

प्रताप मित्र शास्त्री

६. १८-३७।

क्षत्रपतिचरित-महाकाव्यम्

अन्वय-भाषानुवाद-सहितम्

अथ प्रथमः सर्गः

श्रेयसामेकभू - र्ज्योति - रमृतालोक - नन्दिनी ।
वाचां जयतु सा देवी यस्यां विश्वं प्रसूयते ॥ १ ॥

श्रेयसाम् एकभूः ज्योतिः अमृतालोकनन्दिनी सा वाचां देवी जयतु, यस्यां विश्वं प्रसूयते ॥ १ ॥

जो परम कल्याण की प्रसवस्थली हैं, प्रकाशस्वरूपा हैं, अमृत, अविनश्वर आलोक से ओत-प्रोत हैं तथा यह सम्पूर्ण विश्व जिनके द्वारा स्वरूप-ज्ञान प्राप्त करता है, उन सरस्वती देवी की जय हो ।

[जीवधारियों में मनुष्य श्रेष्ठ माना गया है, किन्तु इस श्रेष्ठता का रहस्य मनुष्य का वही विवेक है जो उसे सामान्य पशु-जगत् से पृथक् करता है। इसी विवेक को धर्म, ज्ञान, विद्या, बुद्धि आदि अनेक संज्ञाओं से व्यक्त किया जाता है। वस्तुतः यह दृश्यमान जगत् ज्ञान द्वारा ही हमें ज्ञात होता है। हमारी सम्पूर्ण उपलब्धियों का आधार, मूलस्रोत विवेक ही है। विवेक की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती हैं। ये प्रकाशमयी, अविनश्वर, अमृत तथा आनन्दस्वरूपा हैं। सम्पूर्ण श्रेय की ये ही प्रसवस्थली हैं। भविष्य में प्राप्त होनेवाला ज्ञान भी इन्हीं में अवस्थित है। अतएव ज्ञान अनन्त, सत्य और ब्रह्मस्वरूप है] ॥ १ ॥

अन्तःस्थिता विजयतां भावना सा शरीरिणाम् ।
यदुन्मेषप्रसारो हि विश्वमित्यभिधीयते ॥ २ ॥

शरीरिणाम् अन्तःस्थिता सा भावना विजयताम्, यदुन्मेषप्रसारः हि विश्वम् इति अभिधीयते ॥ २ ॥

मनुष्यों के हृदय में प्रतिष्ठित कल्पनाशील प्रवृत्ति, कल्याणमयी भावना की जय हो। उस भावनात्मक कौतूहल का प्रसार ही 'विज्ञात संसार' है। वस्तुतः तन्मात्र ही संसार 'विश्व'पद से सूचित होता है। यह अज्ञात विश्व यदि कुछ अंशों में मनुष्य को ज्ञात हो सका है तो उसका श्रेय मनुष्य के कौतूहल, जिज्ञासा तथा रहस्योद्भेदन के अपराजित संकल्प को ही है। अनादि काल से मनुष्य इसी

अज्ञान को ध्वस्त करने के लिए संघर्षरत है। भीतर तथा बाहर, प्रत्येक पदार्थ अपने दुर्भेद्य रहस्य के साथ मनुष्य के समक्ष एक प्रश्न-चिह्न बनकर उपस्थित है। वह क्रमशः रहस्योद्घाटन द्वारा अपने ज्ञान को बढ़ाता आगे बढ़ रहा है ॥ २ ॥

सत्प्रयत्नपथोद्योगे यः पतन्नपि निस्सहम्।
स्वस्थतामेति बाधेऽपि विस्रम्भः श्रेयसेऽस्तु सः ॥ ३ ॥

सत्प्रयत्नपथोद्योगे निस्सहं पतन् अपि, बाधे अपि यः स्वस्थतान् एति, सः विस्रम्भः श्रेयसे अस्तु ॥ ३ ॥

मानवता के उस दृढ़, अप्रतिहत, अपराजित विश्वास की जय हो, वह हमारे कल्याण का मार्ग प्रशस्त करे। वह विश्वास जो प्रतिपद, कदम-कदम पर विघ्नों, आपत्तियों से प्रताडित हो गिरता-पड़ता भी अभ्युदयपरक प्रयत्न में लगा रहता है तथा श्रम एवं संघर्ष से निढाल होकर भी, संकटों एवं बाधाओं में भी आत्मस्थिति से सम्पन्न होता है। उस विश्वास तथा तदनुकूल कर्तव्य द्वारा ही मनुष्यजाति यहाँतक प्रगति कर चुकी है ॥ ३ ॥

नैराश्यमाशया भासा तमो मोहं प्रबोधनैः।
ये भियो घ्नन्ति शौर्येण त एव विषया गिराम् ॥ ४ ॥

ये आशया नैराश्यं भासा तमः प्रबोधनैः मोहं (च) शौर्येण भियः घ्नन्ति, ते एव गिरां विषयाः ॥ ४ ॥

जो व्यक्ति निराशा को आशा से, अन्धकार को प्रकाश से, अज्ञान को विवेक से तथा मानवता के कल्याणार्थ भय को पराक्रम से भगा देते हैं, वस्तुतः वे सभी काव्य के विषय हैं। [वाणी उन्हींका स्तवन करती हैं, क्योंकि उनके सत्प्रयासों से ही समाज जीवित-जागृत रहता है और उन्हींमें उसका स्वर्णिम भविष्य सुरक्षित है। वाणी का विषय क्या हो, काव्य किसकी प्रतिष्ठा करे, यों कहें कि भावक (पाठक) समाज को क्या अभीष्ट है? यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसे पूर्ववर्तियों ने बिना विशेष 'ननु-नच' के सामान्य ढंग से मान लिया था कि सद्गुणों, मानवीय उत्कृष्ट भावों, लोककल्याण-सम्भर प्रयत्नों को ही काव्य में वर्ण्यविषयक प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए। ईश्वर में इन गुणों की पराकाष्ठा को आरोपित कर, कविकर्म-कुशल आदिम मनीषियों ने ईश्वर या सद्गुण-सम्पन्न अवतारों, अतिमानवीय विभूतियों को काव्य का विषय बनाया। आधुनिक युग इस सम्बन्ध में अत्यधिक उदार है। कुछ भी यदि पठनीय है, मानवीय भावनाओं पर आधृत है तथा सर्वथा इस समाज से असम्बद्ध नहीं है तो वह रचना का विषय हो सकता है। दूब की एक पत्ती पर भी रचना हो सकती है, अब 'आदर्श' के स्थान पर 'यथार्थ' ने बहुत कुछ अधिकार जमा रखा है, और उचित भी है कि साहित्यिक इस प्रकार समाज को ही विषय के रूप में प्रतिष्ठित करें ॥ ४ ॥

यदपाङ्ग - तरङ्गान्तर्वर्ति विश्वं निमज्जति[1] ।
साऽपि किं प्रतिभा भाग्यं मादृशस्यापि जन्मिनः ॥ ५ ॥

यदपाङ्गतरङ्गान्तर्वर्ति विश्वं निमज्जति सा प्रतिभा अपि मादृशस्य जन्मिनः अपि भाग्यं किम् ? ॥ ५ ॥

जिसकी दृष्टि के चपल तरङ्गों में प्रतिक्षण अभिनव विश्व उन्मिषित, तरंगित और निमज्जित होता रहता है, क्या वह प्रतिभा हम जैसे सामान्य प्राणी के भाग्य में संभव है ? [प्रतिभा-विहीन रचना अनुकृति और निकृष्टतम अनुकृति होती है । निर्मिति की कल्पना बिना प्रतिभा के सम्भव ही नहीं] । ॥ ५ ॥

पूर्वसूरिभरे धाम्नि कौतुकारोपितस्य मे ।
गच्छतो दुर्गतिं वीक्ष्य हसिष्यन्ति न के बुधाः ॥ ६ ॥

पूर्वसूरिभरे धाम्नि कौतुकारोपितस्य गच्छतः मे दुर्गतिं वीक्ष्य के बुधाः न हसिष्यन्ति ? ॥ ६ ॥

बहुसंख्यक प्राचीन महाकवियों की भीड़ से भरे वीणापाणि के भव्य मन्दिर में, कौतूहलवश प्रवेश करने की धृष्टता करनेवाले मुझ अनाड़ी को गिरते-फिसलते (दुर्गति में) देख निश्चय ही विद्वज्जन मेरी चपलता पर हँसेंगे ॥ ६ ॥

मच्चापलमिदं नूनं पूर्वेषामेव कीर्तये ।
नदानामुपजीव्यानामिव स्रोतो विनिर्मितम् ॥ ७ ॥

नूनम् इदं मच्चापलं पूर्वेषां कीर्तये एव, विनिर्मितं स्रोतः उपजीव्यानाम् नदानाम् इव ॥७॥

निश्चय ही मेरी यह चपलता भी पूर्वपुरुषों, महाकबियों का यश ही प्रकाशित करेगी । नहरों का जाल जिस नदी से निकाला जाता है, जिसके जल पर अपनी स्थिति बनाये रहता है, उसी नदी का गुण-गान करता है । इसी प्रकार यदि मेरी इस रचना में कुछ पठनीय हो, तो यह केवल पूर्वमहाकवियों का गुणानुवाद ही होगा ॥ ७ ॥

मनोरथेन रभसं नीयमानस्य मे गिरः ।
उन्मदिष्णोरिवाप्तेषु जनिष्यन्ति हठस्मितम् ॥ ८ ॥

मनोरथेन रभसं नीयमानस्य मे गिरः उन्मदिष्णोः इव आप्तेषु हठस्मितं जनिष्यन्ति ॥ ८ ॥

मनोरथ (मनरूपो रथ) की उड़ान भरनेवाले मेरे समान व्यक्ति की रचना मनीषियों, विद्वानों को वैसी ही प्रतीत होगी, जैसे किसी मद्यप की अटपटी

---

१. 'विजृम्भते' इति पाठान्तरम् ।

वाणी विवेकशीलों को। निश्चय ही उनके मुँह पर हठात् मन्द-मधुर मुस्कान खिल उठेगी ॥ ८ ॥

विक्रमन्ते न यत्राप्ताः मर्यादाभङ्गभीरवः।
अस्वरूपविदा तत्र मया संल्लप्स्यते पदम् ॥ ९ ॥

मर्यादाभङ्गभीरवः आप्ताः यत्र न विक्रमन्ते, अस्वरूपविदा मया तत्र पदं संल्लप्स्यते ॥ ९ ॥

आत्मसम्मान, प्रतिष्ठा गँवा देने के भय से विद्वज्जन भी जिस कठिन मार्ग पर चलने में हिचकिचाते हैं, साहस नहीं करते, भला उस मार्ग पर मेरे समान आत्मविवेकशून्य प्राणी पैर बढ़ाने की धृष्टता करे, यह कैसे सम्भव है ? ॥ ९ ॥

परुषोऽपि पिको नाम लभतां कलसत्क्रियाम्[1]।
लक्ष्मीवन्तो न के लोके पूर्वजाराधितश्रियः ॥१०॥

परुषः पिकः अपि नाम कलसत्क्रियां लभताम्। पूर्वजाराधितश्रियः के लोके लक्ष्मीवन्तः न (भवन्ति) ? ॥ १० ॥

कोयल की कूक यदि रूखी हो, अप्रिय हो तो भी प्रशंसित होती है, लोक-सम्मान प्राप्त करती है; क्योंकि वह कोयल की ध्वनि है और कोयल अपने मादक स्वर के लिए सुख्यात है। सचमुच बाप-दादों की कमाई पर निठल्ला भी अनायास करोड़पति कहलाने लगता है ॥ १० ॥

अथवा काव्यमाधुर्यभोग-निस्सहचेतसाम्।
मदम्लविरसारम्भाः जनयन्तु पुना रुचिम् ॥११॥

अथवा काव्यमाधुर्यभोग-निस्सहचेतसां मदम्लविरसारम्भाः पुनः रुचिं जनयन्तु ॥ ११ ॥

अथवा—काव्य-माधुरी का निरन्तर आस्वादन करने से जिन सहृदयों का मन ऊब गया है, उनमें काव्यानन्द के प्रति पुनः अनुराग जाग्रत् करने को दिशा में मेरी यह रचना अम्ल, (खटाई) का काम करे। [प्रायः खटाई, चटनी आदि खा लेने पर स्वाद में रुचि बढ़ती और अरुचि मिट जाती है जिससे मिठाई अधिक मीठी लगने लगती है।] ॥ ११ ॥

सदोषमपि किं वाऽर्कपवनाम्भोदसज्जनाः।
पात्रमात्मगुणैः सन्तो नानुगृह्णन्ति सर्वदा ॥१२॥

वा सन्तः अर्कपवनाम्भोदसज्जनाः आत्मगुणैः सर्वदा सदोषम् अपि पात्रं न अनुगृह्णन्ति किम् ? ॥ १२ ॥

१. 'कलसत्कृतिम्' इति पाठान्तरम्।

अथवा—यह भी क्यों ? सूर्य, पवन, मेघ तथा सज्जन बिना किसी भेद-भाव के पात्र-कुपात्र सभी पर समान रूप से कृपालु रहते हैं। उनका सहज स्वभाव ही है कि वे कुपात्र का भी तिरस्कार नहीं करते। अतः रचना सदोष होने पर भी मैं सज्जनों की सहजसिद्ध कृपादृष्टि से वञ्चित न रहूँगा ॥ १२ ॥

मरुकल्पेऽपि यत् स्निग्धं दृश्यतेऽत्र दृगुत्सवः ।
तद्वागर्थ - विदम्भोजपदाराधन - सत्क्रिया ॥ १३ ॥

मरुकल्पे अपि अत्र यत् स्निग्धं दृगुत्सवः दृश्यते, तत् वागर्थविदम्भोजपदाराधन-सत्क्रिया (अस्ति) ॥ १३ ॥

मरुभूमि के समान नीरस, उजाड़ इस काव्य में भी यदि कहीं-कही नेत्रोत्सव-पूर्ण मरूद्यान (नखलिस्तान) भी दिखाई पड़ जाते हैं, तो वह शब्द-अर्थ के परम चिन्तक, भावप्रवण विद्वज्जनों के चरणकमलों की सेवा का ही अनुग्रह है ॥ १३ ॥

स्वधर्मस्थः किमादित्यो विनियोगमपेक्षते ।
शिवोऽपि किं ममारम्भानुषङ्गस्खलनाविलम् ॥ १४ ॥

स्वधर्मस्थः आदित्यः विनियोगम् अपेक्षते किम् ? शिवः अपि मम आरम्भानुषङ्गस्खलना-विलम्, (अपेक्षते) किम् ॥ १४ ॥

गगन-मार्ग पर चलते हुए सूर्य को क्या विनियोग की अपेक्षा रहती है ? (यदि सन्ध्योपासना करनेवाले सूर्य का 'विनियोग' न करें, तो क्या उससे सूर्य की अनन्त गति में बाधा पड़ जायगी) ? इसी प्रकार स्वभावतः नीरस रचना करनेवाले मेरे प्रमाद-दोष से 'शिव' (आनन्द या क्षत्रपति शिवराज) को क्या लेना-देना है ? अर्थात् यह महाकाव्य भले ही अग्राह्य हो, शिव-स्वरूप को कथमपि धूमिल नहीं कर सकता ॥ १४ ॥

दोषाकरोऽपि[1] तदयं शिवविग्रह[2]संस्तवः ।
कृशानुबन्धमन्दोऽपि[3] मुदेऽस्तु सरसोरसाम् ॥ १५ ॥

तत् अयं दोषाकरः अपि कृशानुबन्धमन्दः अपि शिवविग्रहसंस्तवः सरसोरसां मुदे अस्तु ॥ १५ ॥

---

१. दोषाकरः—दोषाणाम् आकरः। पक्षे: दोषा = रात्रिः तस्याः करः = कर्ता चन्द्रमाः; अर्थात् सदोष पुरुष या चन्द्रमा।

२. विग्रहः = शरीर या युद्ध।

३. कृशानुबन्धमन्दोऽपि—कृशः अनुबन्धः, तेन मन्दः। पक्षे: कृशानुः = अग्निः तस्य बन्धः तेन मन्दः। अल्पसंख्यक सर्गों के कारण छोटा, या भाल में अग्नि की स्थिति के कारण अस्वाभाविक।

शिवाजी महाराज के स्वातन्त्र्य-युद्ध की परिचायिका छोटी तथा सदोष भी यह रचना सहृदयोंको आनन्दित करे। चन्द्रपक्ष में : भगवान् शिव के शरीर से परिचय रखनेवाला—ललाट पर अवस्थित, अतएव ललाटस्थ अग्नि-ज्वाला, तृतीय नेत्र के ताप से व्यथित भी दोषाकर (निशाकर) यह चन्द्रमा सज्जनों को आनन्दित करे ॥ १५ ॥

शिवः पात्रं वचो ब्राह्मी प्रस्तावो मातृभूत्सवः ।
सर्वमेतत् परं दैवात् सूत्रधारोऽहमीदृशः ॥ १६ ॥

शिवः पात्रं ब्राह्मी वचः मातृभूत्सवः प्रस्तावः, एतत् सर्वम् (युक्तम्)। परं दैवात् अहम् ईदृशः सूत्रधारः ॥ १६ ॥

इस रचना में क्षत्रपति शिवाजी महाराज नायक हैं; देववाणी संस्कृत माध्यम है; मातृभूमि का अभ्युदय ही वर्ण्य-विषय (कथा-वस्तु) है। सब कुछ अत्यन्त उचित है, श्लाघ्य है। किन्तु दैव का विधान देखें कि मुझ जैसे सामान्य जन को—अनुपयुक्त व्यक्ति को इस आयोजन का सूत्रधार बनाया ॥ १६ ॥

नवलाम्बरसङ्क्लृप्तः ताम्रचूडगतिः पथि ।
आत्मानं सर्वदृक्पात्रं भिक्षुः प्रायोऽनुमन्यते ॥ १७ ॥

नवलाम्बरसङ्क्लृप्तः पथि ताम्रचूडगतिः भिक्षुः प्रायः आत्मानं सर्वदृक्पात्रम् अनुमन्यते ॥ १७ ॥

नया वस्त्र पहनकर गर्व के कारण रास्ते में मुर्ग की तरह अकड़कर चलता हुआ भिक्षुक प्रायः सोचता है कि सभी लोग उसे ही देख रहे हैं। [नयी रचना करनेवाले भी प्रायः ऐसी ही कल्पना किया करते हैं] ॥ १७ ॥

तरत् पृष्ठे तरङ्गाणां लब्धरोधः पुनर्यथा ।
अब्धिमानं तृणं वेत्ति तथाऽहमपि तत्त्ववित् ॥ १८ ॥

तरङ्गाणां पृष्ठे तरत् पुनः लब्धरोधः तृणं यथा अब्धिमानं वेत्ति, अहम् अपि तथा तत्त्ववित् ॥ १८ ॥

तरङ्गों के बीच इधर-उधर भटकता भाग्यवश कहीं किनारा पानेवाला तिनका समुद्र की गहराई, फैलाव आदि के बारे में जितना जानता है (वस्तुतः कुछ भी नहीं जानता), मैं भी तत्त्वतः उतना ही महाज्ञानी हूँ। साहित्य-समुद्र की गम्भीरता, फैलाव आदि के बारे में मेरा ज्ञान कुछ भी नहीं है ॥ १८ ॥

अनाक्षिप्तापि वैरस्यविद्धैरपि महात्मभिः ।
मन्दायते न मच्चिष्ठा स्वस्खलिते मनागपि ॥ १९ ॥

वैरस्यविद्धैः अपि महात्मभिः अनाक्षिप्ता अपि मन्निष्ठा स्वस्खलिते मनाक् अपि न मन्दायते ॥ १९ ॥

मेरी काव्यगत नीरसता से व्यथित होकर भी सज्जनों ने अपनी स्वाभाविक सज्जनता के कारण मुझमें कृपापूर्वक दोषबुद्धि नहीं रखा, आक्षेप नहीं किया, यह उनकी महत्ता है। किन्तु मैं भलीभाँति जानता हुँ कि मैं गलती करने में बेजोड़ हूँ ॥ १९ ॥

दुर्वृत्तानर्थभूयिष्ठ - वैरस्य - कलुषोद्यमैः ।
वल्गन्ति कवितारामे कवयः कपयोऽथवा ॥ २० ॥

कवितारामे दुर्वृत्तानर्थभूयिष्ठवैरस्यकलुषोद्यमैः कवयः अथवा कपयः वल्गन्ति ॥ २० ॥

जिस तरह आमके बाग में बन्दरों का झुण्ड डालियाँ तोड़, कच्चे-कच्चे फल गिरा, पत्तों-बौरों को विनष्ट कर, तथा 'खों-खों' करके मन में क्षोभ भर देता है उसी तरह कविता की अमराई में पहुँचकर 'कवि'-नामधारी जन्तु भी छन्द, अर्थ, रस आदि के अनुचित प्रयोगों द्वारा उस काव्य-उपवन की दयनीय दुर्दशा कर डालते हैं ॥ २० ॥

अनुत्साह - ममार्गज्ञ - मनारम्भ - जडस्थितिम् ।
न जनं वृणुते काऽपि कविता कामिनी कृषिः ॥ २१ ॥

का अपि कविता कामिनी कृषिः (च) अनुत्साहम् अमार्गज्ञम् अनारम्भजडस्थितिम् जनं न वृणुते ॥ २१ ॥

अनुत्साही, विधिज्ञानशून्य एवं आलस्यादि के कारण कुण्ठा-कदर्थित व्यक्ति को कविता, कामिनी एवं कृषि कभी भी नहीं चाहतीं। [यदि कोई व्यक्ति उत्साह-रहित है, स्फुरण नहीं होता, काव्यशास्त्र के मार्ग आदि से शून्य है तथा कुण्ठा के कारण आरम्भ ही नहीं करता, तो उसे कविता स्पर्श भी नहीं करने देगी, वह अवाञ्छित व्यक्ति है। पौरुषहीन, कामशास्त्रीय पद्धतिज्ञान शून्य एवं प्रवृत्तिहीनता से कारण कुण्ठित व्यक्ति को सकामा कामिनी दूर से ही त्याग देती हैं। इसी प्रकार उत्साहरहित, क्षेत्रादि-व्यवहारशून्य तथा आलस्य-जर्जर व्यक्ति कृषि के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है । अथवा—कविता अनुत्साही को, कामिनी कामशास्त्रीय पद्धतिशून्य व्यक्ति को तथा कृषि कुण्ठा के कारण आरम्भ न करनेवाले जड को निश्चय ही नहीं पसन्द करती। इस तरह इस पद्य के विविध भाव सहृदय जनों के इच्छाधीन हैं] ॥ २१ ॥

मज्जतोऽगाधतीर्थेऽस्मिन् शिवप्रणयेऽपटोरपि ।
धीवराणां प्रसादाय क्वेमे मम पदोद्यमाः ॥ २२ ॥

अस्मिन् शिवपुण्ये अगाधतीर्थे[1] मज्जतः अपटोः अपि मम इमे पदोद्यमाः[2] धीवराणां[3] प्रसादाय कल्प ? ॥ २२ ॥

जिस प्रकार गहरे पानी में पैर फटकारते हुए नवसिखुवा तैराक के तैरने पर भी प्रवीण मल्लाह को कुछ भी विस्मय नहीं होता, उसी प्रकार मेरे समान नवसिखुवा, अभ्यासहीन व्यक्ति के पदविन्यास आदि में विवेकधुरीणों को तनिक भी आनन्द न मिलेगा। व्यास, वाल्मीकि तथा कालिदास की काव्यकला के पारखी को मेरे पदोद्यमों में वैचित्र्य या स्वारस्य कहाँ मिलेगा ? ॥ २२ ॥

ज्यतिर्धाम्नि सरस्वत्याः सहस्रकृतिनन्दिनि ।
सतां क्षणविनोदाय मादृशोऽपि स्खलद्गिरः ॥ २३ ॥

सहस्रकृतिनन्दिनि सरस्वत्याः ज्योतिर्धाम्नि मादृशः अपि स्खलद्गिरः सतां क्षणविनोदाय भवेयुः ॥ २३ ॥

शत-शत महाकवियों से मुखरित सरस्वती के प्रभा-मण्डित मन्दिर में मुझ जैसा अनगढ़ रचनावाला अनाड़ी सज्जनों का क्षणभर विनोद ही कर देगा। [उत्कृष्ट, विवेक-निर्भर जीवन में भी विनोदपूर्ण क्षण का महत्त्व होता है। उससे क्षणभर के लिए मस्तिष्क से बोझ-सा उतर जाता है और व्यक्ति सहज हो उठता है। मेरी यह अनगढ़ रचना इतना भी कर दे तो सार्थक हो जायगी] ॥ २३ ॥

अहस्करोऽपि सविता रुद्ध्यते कलुषाम्बुदैः ।
सम्भृतस्नेहदीपेन तरत्येव सुधीः कुहूम् ॥ २४ ॥

अहस्करः अपि सविता कलुषाम्बुदैः रुद्ध्यते, सम्भृतस्नेहदीपेन सुधीः कुहूं तरति एव ॥ २४ ॥

यदि सज्जनों के उदार स्नेह से मेरा यह नगण्य प्रयास संवर्धित हो जाय, तो वह इसे भी उपयोगी बना देगा। कलुषमयी काली मेघमाला से प्रकाशमूर्ति सूर्य भी ढँक जाता हैं। किन्तु स्नेहपूर्ण (तेल से भरे) दीपक के सहारे सुधीजन अमा का अन्धकार भी पार कर जाते हैं। [जहाँ दोष-भावना अच्छी वस्तु को भी सदोष बना देती हैं, वहीं स्निग्धभाव सर्वत्र अच्छा ही देखा करता है] ॥ २४ ॥

विविधाश्रयभेदेन दृश्यमानमनेकधा ।
कृच्छ्राद्विज्ञायते वस्तु विषय्यस्पृष्टमात्मवत् ॥ २५ ॥

विविधाश्रयभेदेन अनेकधा दृश्यमानं वस्तु विषय्यस्पृष्टम् आत्मवत् कृच्छ्रात् विज्ञायते ॥२५॥

१. तीर्थ = शास्त्र, जलाशय ।
२. पदोद्यम = पदरचना या पैर फटकारना, जल में पैरों को फटकारते हुए तैरना ।
३. धीवर = मल्लाह, विवेकी ।

प्रायः विविध आश्रयों के भेद से एक ही वस्तु विभिन्न रूपों में दिखाई देती है। सूर्य का प्रकाश विविध उपाधि-भेदों से अनेकविध परिलक्षित होता है। इससे वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाता। हम उसकी उपाधियों को ही वह वस्तु मान लेते हैं। फलतः वस्तु के शुद्धस्वरूप का ज्ञान उसी प्रकार कठिन हो जाता है, जिस प्रकार नानाविध गुण-प्रपञ्चों में अनेक रूपों से प्रतिभासित होनेवाले आत्मस्वरूप का यथार्थज्ञान। आत्मा को तो विषय-निरपेक्ष मानकर ही देखना होगा। अतः इस रचना को आश्रय-भेद के कारण कदर्थित न किया जाय, यह भाव है ॥ २५ ॥

अमला नित्यकल्याणी देशकालातिवर्तिनी।
नित्यस्वच्छप्रसादात्मा निरातङ्कमनोहरा ॥ २६ ॥
स्पर्शक्षमा नवरसा विदग्धहृदयामृता।
मनोऽभिषेकरुचिरा स्पृहणीयकलाकृतिः ॥ २७ ॥
अनिम्नगाऽपि सहसं वाहिनीशतसङ्गमा।
ऋजुवर्त्मा निरवधिः शिवचारित्र्यनन्दिनी ॥ २८ ॥
नवला स्वर्धुनी सेयं ब्राह्मी निष्पङ्कभास्वरा।
किं मम स्पर्शमात्रेण विक्रियामेव यास्यति ॥ २९ ॥

अमला नित्यकल्याणी देशकालातिवर्तिनी नित्यस्वच्छप्रसादात्मा निरातङ्कमनोहरा; स्पर्शक्षमा नवरसा विदग्धहृदयामृता मनोऽभिषेकरुचिरा स्पृहणीयकलाकृतिः; अनिम्नगा अपि सहसं वाहिनीशतसङ्गमा ऋजुवर्त्मा निरवधिः शिवचारित्र्यनन्दिनी; नवला स्वर्धुनी सा इयं निष्पङ्कभास्वरा ब्राह्मी मम स्पर्शमात्रेण किं विक्रियाम् एव यास्यति ? ॥ २६–२९ ॥

['कलापक' अर्थात् एकक्रियान्वयी अग्रिम चार श्लोकों में प्रस्तुत रचना को 'नवला स्वर्धुनी' (नवीन देवनदी) के रूपक से प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक पद द्वारा इस 'नवला स्वर्धुनी' का न केवल अद्वितीय गुण, और चमत्कार वर्णित है, अपितु 'व्यतिरेक' द्वारा प्राचीना स्वर्धुनी से इसे अधिक यशस्विनी भी सिद्ध किया गया है।]

यह रचना निर्मल है (गङ्गाजी दूषित भी होती हैं, आजकल तो यह दूषण और अधिक बढ़ गया है)। नित्य कल्याणमयी है (गङ्गाजी तो बाढ़ आदि से अकल्याण और अनिष्ट भी करती हैं)। देश, काल, पात्र की अनुवर्तिनी नहीं, अपितु अतिशायिनी है (गंगा देश, काल, पात्रादि सीमावर्तिनी हैं)। नित्य प्रसन्न-चेता है (गंगा निष्ठुर, जलप्लावन तथा नक्र आदि के कारण भयंकर प्रतीत होती हैं)। यह आतंकरहित होने के कारण मनोहर है (गंगा तूफान आदि के कारण भयंकर, आतंकपूर्ण प्रतीत होती हैं)। यह सर्वत्र स्पर्शक्षम है, नवरसों या नवीन रस से पूर्ण है (गंगा का सर्वत्र स्पर्श नहीं किया जा सकता, प्रपातों से

हिमालय में गिरती-पड़ती गंगाजी दुष्स्पृश्या होती हैं; उनमें एक ही रस होता है)। यह सहृदय जनों के लिए अमृत है (गंगाजी सर्वजन-भोग्या हैं)। यह हृदय को नहला देती है (गंगा शरीर को अभिषिक्त करती हैं)। यह मनोहर कलानिर्मिति हैं (गंगा नैसर्गिक हैं)। इसमें शत-शत वाहिनी (सेना) का संगम है, फिर भी यह अनिम्नगा, उदात्तशीला है (गंगा में शत-शत वाहिनियाँ या नदी-नाले मिलते हैं, किन्तु वह निम्नगा, अधोगामिनी हैं)। यह ऋजुमार्ग, सरल पद्योंवाली है (गंगा टेढ़ा-मेढ़ा मार्ग अपनाती हैं, वक्रगति हैं)। यह निरवधि है (गंगा की सीमा है)। यह कल्याणसम्भर चारित्र्य एवं शील से युक्त है (गंगाजी में अकल्याण, डूबना आदि भी सम्भावित है)। ऐसी नवला स्वर्धुनी देवनदी, जो निष्कलुष तथा प्रभा-मण्डित है, क्या मेरे द्वारा वर्णित होने मात्र से अपवित्र हो जायेंगे ? [भाव यह कि छत्रपति शिवाजी महाराज का चरित्र पुण्यमय है, कथा पावनी है। मेरी अपात्रता, अक्षमता या अज्ञता उसे कभी विकृत नहीं कर सकती ॥ २६-२९ ॥

शैलपुत्री विजयते कल्पनेव मनोहरा।
यदपाङ्गक्षतस्यापि स्थाणोः शिरसि पल्लवम् ॥ ३० ॥

कल्पना इव मनोहरा शैलपुत्री विजयते, यदपाङ्गक्षतस्य स्थाणोः अपि शिरसि पल्लवम् (शोभते) ॥ ३० ॥

कल्पना की तरह मनोहरा हिम-तनया पार्वती की जय हो, जिनके कटाक्ष से विद्ध होने पर (कट जाने पर) भी ठूंठ (शिव) के सिर पर पल्लव सुशोभित होते हैं। [शैलकन्या के कटाक्ष की ही यह विशेषता है कि ठूंठ भी रसाप्लावित हो जाता है तथा उसके सिर पर पैर का अग्रभाग (पल्लव) सुशोभित होता है। 'पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन' यह उक्ति चरितार्थ हो रही है। यहाँ लोकोत्तर सौन्दर्यवती पार्वतीजी की उपमा 'कल्पना' से दी गयी हैं। पार्थिव की अपार्थिव से उपमा भी सौष्ठव की नवीन भूमि का स्पर्श कर रही ः०

यदिङ्गितस्वभावादौ सृष्टिरेवाऽऽत्मवेदिनी।
विलसत्यात्मबन्धेषु वाणी जयतु सेश्वरी ॥ ३१ ॥

सा ईश्वरी वाणी जयतु, यदिङ्गितस्वभावादौ आत्मवेदिनी सृष्टिः एव आत्मबन्धेषु विलसति ॥ ३१ ॥

[ज्ञान-विस्तार में, लब्ध ज्ञान की सुरक्षा तथा उसकी चरितार्थता में तथा प्राप्यमाण ज्ञान की आराधना में वाणी एक अद्भुत माध्यम है। इसीलिए अर्थ-भूयिष्ट वाणी से रहित होने के कारण मनुष्येतर प्राणी 'अवर' कहलाते हैं। अतः ज्ञान में वाणी की भूमिका की शुभाशंसा कर रहे हैं :] वाणी, वाग्देवी की जय हो ! इस वाणी द्वारा ही अपने गुण, स्वभाव आदि का निरूपण प्राप्तकर सृष्टि सार्थकता और उपयोगिता से समृद्ध हो जाती है ॥ ३१ ॥

समुत्कर्षमिवाऽऽधातुं नियमाचारवर्तिनी ।
संस्कृता संस्कृतं सैव स्वरूपमविदद् ध्रुवम् ॥ ३२ ॥

समुत्कर्षम् आधातुम् इव नियमाचारवर्तिनी सा एव संस्कृता (सती) ध्रुवं संस्कृतं स्वरूपम् अविदत् ॥ ३२ ॥

मानो अत्यधिक उत्कर्ष पाने की इच्छा से नियम, आचार-आदर्शवाली वही वाणी, संस्कार द्वारा अपने स्थिर संस्कृत स्वरूप में अवस्थित हुई। [संस्कृत प्राकृत आदि का विवाद अतिप्राचीन है। गवेषणाएँ हुई, पुस्तकें लिखी गयीं, फिर भी विवादास्पद ही है कि मूलभाषा संस्कृत है या प्राकृत। इतना तो सर्वविदित है कि वैदिक-भाषा के उत्तरवर्ती काल में संस्कृत ही प्रचारित हुई। यह (संस्कृत) बहुत कुछ तत्कालीन वैदिक तथा लोकभाषाओं एवं प्रक्षिप्त शब्द-वाक्यादि को दृष्टि में रखते हुए नियमादि द्वारा संवलित थी। शिष्टजनों ने इसी भाषा को अपनाया। सम्भवतः विकृति रोकने के लिए ही यह प्रयत्न हुआ हो] ॥ ३२ ॥

च्युतसंस्कारमलिना विकृताकृतयो गिरः ।
आर्याणामेव सर्वत्र दृश्यन्ते जातयो यथा ॥ ३३ ॥

च्युतसंस्कारमलिनाः आर्याणाम् एव विकृताकृतयः गिरः जातयः यथा सर्वत्र दृश्यन्ते ॥ ३३ ॥

विश्व के विभिन्न भागों में कभी आर्य-वाणी ही प्रतिष्ठित थी, किन्तु समयोचित अपेक्षित संस्कार न पाने के कारण सदोष बनी वही आर्य-वाणी विकृत एवं अनगढ़-सी अनेक रूपों में प्रस्फुटित हुई, जैसे कि एक ही आर्यजाति संस्कार-विहीन हो उपजातियों के रूप में अन्य भू-भागों में विकसित हुई। [आधुनिक यूरोप तथा एशिया के निवासी तथा उनकी अधिकांश भाषाएँ (Indo-European Family) आर्य-जाति एवं आर्य-वाणी के ही अवान्तर स्वरूप हैं ॥३३॥

विभिन्नवर्षज तानां लोकानामुदयोत्सवा ।
प्रभेव सवितुः सैका बहुरूपेव भासते ॥ ३४ ॥

विभिन्नवर्षजातानां लोकानाम् उदयोत्सवा सा एका एव सवितुः प्रभा इव बहुरूपा भासते ॥ ३४ ॥

जिस प्रकार विभिन्न द्वीप-द्वीपान्तरों में उत्पन्न समाज को अभ्युदय-पथ पर उत्साहित करती हुई एक ही सूर्य-प्रभा अनेक रूपों (देशभेद से प्रभावभेद, जैसे टण्ड्रा में शैत्याधिक्य तथा विषुवत् क्षेत्र में उष्णशीलता आदि) में प्रभासित होती है, उसी प्रकार आर्यभाषा भी देश-कालादि भेदों से विभिन्न स्वरूपवाली हो गयी। [आज तो लैटिन, यूनानी एवं वैदिक-भाषाओं, संस्कृत आदि का

तुलनात्मक अध्ययन हो रहा है। फल भी सम्मुख आ रहे हैं। विद्वानों की धारणा दृढ़तर होती जा रही है कि एक ही भाषा, सम्पर्क टूट जाने तथा जातियों के मिश्रण के कारण अनेक रूपों में विभक्त हो गयी है] ॥ ३४ ॥

इन्द्रियाणामिवोद्वेगे व्यवहारेऽसदात्मनाम् ।
ररक्षाऽऽत्मव्रतं वाणी सती शीलमिवौरसम् ॥ ३५ ॥

असदात्मनां व्यवहारे इन्द्रियाणाम् उद्वेगे इव, सती औरसं शीलम् इव वाणी आत्मव्रतं ररक्ष ॥ ३५ ॥

जिस प्रकार असत् आचरणवाले प्राणियों के व्यवहार से क्षुब्ध, सती स्त्री मन के उद्वेग एवं चञ्चलता को संयत करती हुई अपने सहज शील की रक्षा करती है, उसी तरह संस्कारभ्रष्ट जनों से उद्विग्न होते हुए भी संस्कृत ने आत्म-चारित्र्य को सुरक्षित रखा है ॥ ३५ ॥

अकिञ्चनाऽपि वसुधा मुग्धलोकाऽपि सुप्रभा ।
यदियं जन्मभूर्लोके देववाचरतदाशिषः ॥ ३६ ॥

इयं जन्मभूः लोके यत् अकिञ्चना अपि वसुधा (च) मुग्धलोका अपि सुप्रभा (गीयते), तत् देववाचः आशिषः ॥ ३६ ॥

यह मातृभूमि दरिद्र होने पर भी वसुधा, वसुन्धरा (धनसम्पन्न) कहलाती है तथा बहुसंख्यक भारतीय समाज के निरक्षर होने पर भी सुप्रभा (प्रकाशमयी) कहलाती है, तो वह केवल देववाणी की कृपा का फल है ॥ ३६ ॥

लुठितानर्थिनः प्लुष्टान् विस्मृतौ पतितानपि ।
उद्धर्तुमनुगृह्णाति प्रभूरस्मान् सुतानिव ॥ ३७ ॥

(इयम्) लुठितान् विस्मृतौ पतितान् अपि अर्थिनः अस्मान् प्रभूः सुतान् इव उद्धर्तुम् अनुगृह्णाति ॥ ३७ ॥

यद्यपि हम समय के धक्के से गिर पड़े, लुट गये थे, हमें विस्मृति के गर्त में धकेल देने का कुचक्र रचा गया, फिर भी यह वाणी माता के समान अपनी कृपा से हमें अनुगृहीत ही करती रही है ॥ ३७ ॥

आहरन्त्याऽऽपगां वाणीं नूनमार्यभुवा कृता ।
सह वह्निमुखैर्देवैः मरुशून्याऽमरावती ॥ ३८ ॥

वह्निमुखैर्देवैः सह आपगां वाणीम् (च) आहरन्त्या आर्यभुवा अमरावती नूनं मरुशून्या कृता ॥ ३८ ॥

हम देवलोक को आदर्श-लोक मानते हैं; किन्तु हमने कुछ दिव्य वस्तुओं को आत्मसात् कर लिया है, वे हमारी अपनी निधियाँ हैं। देवनदी, देववाणी तथा देवगण हमारे दैनन्दिन जीवन के अनिवार्य अङ्ग हैं। देवनदी ही देवताओं के विकास की संस्कृति है। देववाणी ही व्यवहार का माध्यम है तथा देवगण ही वहाँके उपभोक्ता हैं। आर्यभूमि ने इन तीन दिव्य उपकरणों को देवलोक से हठपूर्वक लेकर सचमुच अमरावती को निर्जन मरुभूमि बना दिया ॥ ३८ ॥

वर्ण - धर्म - वचो - वृत्तिभेदवत्यपि यद्धृताः ।
शैलादासिन्धु देशेऽस्मिन्नेकभावा हि देहिनः ॥ ३९ ॥

शैलात् आसिन्धु वर्णधर्मवचोवृत्तिभेदवति अपि अस्मिन् देशे यद्धृताः प्राणिनः एकभावाः हि ॥ ३९ ॥

हिमालय से लेकर कन्याकुमारी (समुद्र) तक इस महादेश में वर्ण, धर्म, भाषा, जीविका आदि कृत्रिम भेदों के रहते हुए भी संस्कृत-भाषा (तज्जन्य संस्कृति एवं आचार) के कारण ही सम्पूर्ण भारतीय जनता एकभावना में जुड़ी हुई है ॥ ३९ ॥

विश्वमार्यं हि कृण्वन्तो यया सिद्धात्मबोधया ।
दिग्वधू - श्रुतिसौभाग्यमातेनुर्ब्राह्मणाः पुरा ॥ ४० ॥

हि सिद्धात्मबोधया यया विश्वम् आर्यं कृण्वन्तः ब्राह्मणाः पुरा दिग्वधूश्रुतिसौभाग्यम् आतेनुः ॥ ४० ॥

आत्मबोधमयी इस देववाणी द्वारा संपूर्ण विश्वको आर्यत्व की दीक्षा देने के सङ्कल्पवाले ब्राह्मणों ने पूर्वकाल में दिक्-सुन्दरियों को वेदोद्घोष द्वारा श्रुति-सर्वस्व प्रदानकर सौभाग्य-मण्डित कर दिया। [अब अनुसन्धानों से यह सिद्ध-प्राय है कि कभी एशिया तथा यूरोपने भारतीय ज्ञान द्वारा आत्मसंस्कार प्राप्त किया था। मिस्र की प्राचीन सभ्यता भारतीय संस्कृति की ही देन है] ॥ ४० ॥

इमामभ्यस्यतो वाणीं वर्णिनो लब्धवर्णता ।
ब्रह्मयज्ञान् श्रिया सार्धं स्वयंसिद्धिरिवार्चति ॥ ४१ ॥

इमां वाणीम् अभ्यस्यतः ब्रह्मयज्ञान् वर्णिनः लब्धवर्णता श्रिया सार्धं सिद्धिः इव स्वयम् अर्चति ॥ ४१ ॥

इस वेदवाणी का स्वाध्याय, अभ्यास, अनुशीलन करनेवाले ब्रह्मचारियों, ब्रह्मयज्ञ की दीक्षावाले विद्यार्थियों को स्वरूपबोध या ज्ञानसम्पन्नता वैभव एवं प्रतिष्ठा के साथ स्वयंसिद्धि के समान स्वयं वरण करती थी ॥ ४१ ॥

लुठन्तः सम्पदो यस्याः प्रसादसुमनोहराः ।
के नाहम्पूर्विकाघोषैर्वल्गन्त्यद्य बुधाभिधाः ॥ ४२ ॥

यस्याः प्रसादसुमनोहराः सम्पदः लुठन्तः के बुधाभिधाः अहंपूर्विकाघोषैः अद्य न वल्गन्ति ॥ ४२ ॥

संसार में कौन ऐसा है, जो इस देववाणी की मनोहर आनन्दमयी अक्षय सम्पत्ति को अनेक उपायों द्वारा (रूपान्तरण, समास, व्यास, भाष्य, छायानुवाद, अर्थाहरण आदि) लूटकर अपने को विद्वान् कहलाने की दम्भपूर्ण आत्मश्लाघा नहीं करता ? ॥ ४२ ॥

विस्मयो यद् बुधम्मन्याः तत्पदार्थोपजीविनः ।
न त्रपन्ते क्षिपन्तस्तां ब्रह्मविद्यां मृतामिति ॥ ४३ ॥

(अयम्) विस्मयः यत् तत्पदार्थोपजीविनः बुधम्मन्याः तां ब्रह्मविद्यां मृताम् इति क्षिपन्तः न त्रपन्ते ॥ ४३ ॥

आश्चर्य है कि स्वयं को विद्वान् कहने का दम्भ रखनेवाले वे पाखण्डी जन्तु इसी देववाणी की चरणरज की महिमा से पलते और उसीके सहारे जीते हुए भी इसे 'मृतभाषा' कहने की धृष्टता करते लज्जित नहीं होते ॥ ४३ ॥

सुकुमारपदन्यासा[1] सुवर्णभरिताम्बरा[2] ।
सुरलक्ष्मीरिवेष्टार्था[3] देववाणी यशस्विनी ॥ ४४ ॥

सुकुमारपदन्यासा सुवर्णभरिताम्बरा यशस्विनी देववाणी सुरलक्ष्मीः इव इष्टार्था (अस्ति) ॥ ४४ ॥

कोमल-कान्त-पदावली से युक्त सुन्दर वर्ण-ध्वनि-विन्यासवाली, अभीष्ट तात्पर्यवती देवभाषा संस्कृत इन्द्र की लक्ष्मी के समान यशस्विनी है । इन्द्र की लक्ष्मी भी सुकोमल, लालित्यपूर्ण गतिवाली तथा अक्षय सुवर्ण-निधि से युक्त होकर अभीष्ट अर्थसिद्धि प्रदान करती हैं ॥ ४४ ॥

विलोभिविभवा रम्या सद्गुणोत्कर्षशालिनी ।
अनेकसर्गसञ्जुष्टा मायेव परमेश्वरी ॥ ४५ ॥

१. सुकुमारपदन्यासा = लालित्यपूर्ण पदरचनावाली, या अतिकोमल लालित्यपूर्ण गतिवाली ।

२. सुवर्णभरिताम्बरा = उत्तम वर्णध्वनि से मुग्ध करनेवाली, या सुवर्ण (सोने) से भरे आकाश या वस्त्रोंवाली ।

३. इष्टार्था = अभीष्ट तात्पर्यबोध करानेवाली, अथवा अभिलषित धन प्रदान करनेवाली ।

विलोभिविभवा रम्या सद्गुणोत्कर्षशालिनी परमेश्वरी माया इव (इयम्) अनेक-सर्गपङ्क्तिभृता (अस्ति) ॥ ४५ ॥

यह रचना परमेश्वर की माया के समान उत्कर्ष-भूयिष्ठ है। जिस तरह परमेश्वर की लीला (माया) अनन्त वैभव से पूर्ण, मनोहर, गुणत्रय के संवर्धन में तत्पर तथा सृष्टि-विस्तारवाली है, उसी तरह यह रचना भी मनोहर, सम्पत्ति-शील, सुन्दर, प्रसाद-माधुर्यादि गुणों से युक्त तथा अनेक सर्गों से सर्वथा सम्पन्न है ॥ ४५ ॥

पदे पदविदः साङ्ख्यान् विकृतौ छान्दसान् गतौ ।
कविता-नर्तकी धत्ते रसज्ञान् सरसे हृदि ॥ ४६ ॥

कविता-नर्तकी पदविदः पदे, साङ्ख्यान् विकृतौ, छान्दसान् गतौ (च) रसज्ञान् सरसे हृदि धत्ते ॥ ४६ ॥

[काव्यास्वादन के लिए सहृदयता अनिवार्य-स्थिति है। विना सहृदयता के कोई भावुक कहला ही नहीं सकता। यह भावुकता, सहृदयता विना औदार्य एवं शालीनता के दुर्लभ होती है। विद्वत्ता या शास्त्रविशेष में प्रागल्भ्य प्रायः रसास्वादन में अरुचि ही रखते हैं। अतएव उक्ति है कि] कविता नर्तकी के समान है। वह वेषभूषा, विन्यास, पद, लय ताल आदि के प्रति साधु-बुद्धि रहती हुई भी इन सबको रसप्रवाह में आप्लावित कर सबपर अपनी छाप छोड़ देती है। इस प्रकार यह पदवेत्ताओं—वैयाकरणों को अपने पैर में, सांख्याचार्यों को विकारों के परिगणन में, छन्दःशास्त्र के विद्वानों को गति में नियन्त्रित कर रसास्वादक, सहृदय रसभोक्ता को अपने सरस हृदय में स्थान देती है ॥ ४६ ॥

अनधीत्य सुरब्राह्मीमनिषेव्य सुरापगाम् ।
इह जन्मजुषा नूनं वञ्चितैवाऽऽर्यमेदिनी ॥ ४७ ॥

इह जन्मजुषा सुरब्राह्मीम् अनधीत्य सुरापगाम् अनिषेव्य नूनम् आर्यमेदिनी वञ्चिता एव ॥ ४७ ॥

भारतवर्ष के सन्दर्भ में सुरब्राह्मी (संस्कृत) और सुरापगा (गङ्गा) दोनों विभूतियों का अव्याहत सम्बन्ध है। वस्तुतः गंगा हमारी सांस्कृतिक धारा है, गति है, हमारी उपलब्धियों की साक्षिणा है तो सुरब्राह्मी, देवभाषा संस्कृत हमारा 'स्वरूप' ही है। हम संस्कृत में जीवित है, गिरे हैं, फिसले हैं, फिर भी उठ हैं, अटल रहे हैं। इन दोनों के विना तो भारतीयता की उपलब्धि अपूर्ण ही कहलायेगी। अतएव इस महादेश में उत्पन्न होकर भी यदि संस्कृत नहीं पढ़ी और गंगा का सेवन नहीं किया, तो कहना होगा कि सचमुच इस आर्यभूमि को धोखा ही दिया ॥ ४७ ॥

हठारब्धेषु शास्त्रेषु प्रसूनमृदुलाशुगा ।
हृदि दत्तपदा काऽपि लक्ष्यसिद्धी रसात्मनाम् ॥ ४८ ॥

हठारब्धेषु शास्त्रेषु प्रसूनमृदुलाशुगा रसात्मनां का अपि लक्ष्यसिद्धिः हृदि दत्तपदा (भवति) ॥ ४८ ॥

हठपूर्वक प्रवर्तित, कठिन-कर्कश शास्त्रों के बीच कुसुम-कोमल, रसमूर्ति कवियों की अनिर्वचनीय लक्ष्यसिद्धिरूप कवि-वाणी बाण के समान तत्क्षण हृदय में घर कर लेती है। [विधि-निषेधभरे, विवादोन्मुख अन्य शास्त्रोंकी अपेक्षा काव्य तत्काल हृदय को आकृष्ट कर आत्म-प्रतिष्ठा स्थापित कर लेता है। यदि हृदय को वश में करना ही शास्त्रादि का भी प्रयोजन हो तो कहना पड़ेगा कि वह मात्र काव्य-व्यापार का अपना क्षेत्र है। शास्त्रादि तो उस दिशा में यों ही बाल-चेष्टा करते हैं] ॥ ४८ ॥

वाग्विशेषे कवीन्द्राणामाकृतिर्मुकुरे यथा ।
संस्तुतिर्देशकालादेः स्वयंव्यक्तेव भासते ॥ ४९ ॥

कवीद्राणां वाग्विशेषे देशकालादेः संस्तुतिः मुकुरे आकृतिः यथा स्वयंव्यक्ता इव भासते ॥ ४९ ॥

जिस तरह स्वच्छ तलवाले दर्पण में समग्र आकृति प्रतिफलित हो उठती है उसी तरह महाकवियों की रचना में देश-कालादि का परिचय सहज ही आत्म-स्थिति को स्वयं व्यक्त-सा करने लगता है। [काव्य देशकालादि-विरहित या निरपेक्ष नहीं होता। हठात् देश कालादि से मुक्ति का अभिलाषी इस प्रयास में कभी सफल नहीं हो सकता। स्वान्तःसुखाय किया जानेवाला काव्य-प्रणयन भी इसकी उपेक्षा नहीं करता] ॥ ४९ ॥

परम्परामनालोच्य शास्त्रबन्धमुपेक्ष्य च ।
वशगेवेङ्गिताचारा कविता कामिनी क्वचित् ॥ ५० ॥

परम्पराम् अनालोच्य शास्त्रबन्धम् च उपेक्ष्य इङ्गिताचारा कविता कामिनी इव क्वचित् वशगा ॥ ५० ॥

यों काव्य-धर्म उस युवती सुन्दरी के समान है, जो परम्पराओं की उपेक्षा करना नहीं जानती। किन्तु कभी-कभी किसी कवि को यह सौभाग्य भी प्राप्त हो जाता है कि उसकी कविता नवकामिनी की तरह परम्परा की चिन्ता छोड़ शास्त्रीय बन्धनों की उपेक्षा करती हुई कवि के इङ्गित का अनुसरण कर उसका सस्नेह अनुगमन करती है। [सामान्यतः काव्य परम्पराग्रही होता है। काव्यधर्म प्रायः पूर्व-मान्यताओं की उपेक्षा नहीं करता। काव्यशास्त्रीय नियम, प्रथात्मक रूढ़ियाँ आदि का अधिकार नवीन रचना को भी प्रभावित करता ही है] ॥ ५० ॥

के न लोके पुरोगानां सूक्तसद्वृत्तवर्तिनः ।
वर्त्मबाधामनाराध्य काव्यतीर्थमुपासते ॥ ५१ ॥

पुरोगानां सूक्तसद्वृत्तवर्तिनः लोके वर्त्मबाधाम् अनाराध्य के काव्यतीर्थं न उपासते ॥ ५१ ॥

ऐसा कौन उत्साही है, जो पूर्वजों की सदुक्तियों, कथानकों एवं अन्यान्य विशेषताओं का समाश्रय लेकर कवि-कर्म की कठिन बाधाओं को झेले बिना काव्यतीर्थ का सेवन नहीं करता। परवर्ती कवियों के लिए पूर्ववर्ती महाकवियों की काव्यसिद्धि अभ्यास-अनुशीलन के लिए सुलभ रहती हैं। यदि प्रतिभामूलक उत्कर्ष न हो, तब भी पूर्ववर्तियों का अनुशीलन करते हुए अनेक उत्साही व्यक्ति 'कवि'पद के भागी बन जाते हैं। भले ही वे वाल्मीकि, कालिदास, तुलसी न बन सकें, कवि तो बन ही जाते हैं। पूर्ववर्तियों के अनुशीलन से उनका पथ सामान्यतः निरापद रहता है ॥ ५१ ॥

प्रतिभासिद्धवचसो रसज्ञा हृदयस्पृशः ।
प्रायेण विरला लोके पदार्थस्थितिवेदिनः ॥ ५२ ॥

प्रतिभासिद्धवचसः रसज्ञाः हृदयस्पृशः पदार्थस्थितिवेदिनः प्रायेण लोके विरलाः (एव) भवन्ति ॥ ५२ ॥

इस संसार में विरले ही प्रतिभावान्, सिद्धसारस्वत, रसमर्मज्ञ एवं हृदय-स्पर्शी कवि, हैं जो शब्द एवं अर्थ की उचित स्थिति का निर्वाह करते हैं। [समाज में अभ्यास, अनुशीलन आदि के बल पर भले ही कविवृत्तिवाले रचनाकारों की संख्या बढ़ जाय, सच्चे कलाकार तो इने-गिने ही होते हैं। ध्वनिकार आनन्दवर्धन के अनुसार तो किसी भी भाग्यशाली देश में "एकः द्वौः त्रयो वा महाकवयः" हुआ करते हैं ॥ ५२ ॥

रुन्धन्नेहसं यान्तं पदबन्धेन कौतुकी ।
भावचित्रकरः कोऽपि कविर्वेधा नवोदितः ॥ ५३ ॥

यान्तम् अनेहसं पदबन्धेन रुन्धन् कौतुकी कः अपि भावचित्रकरः कविः नवोदितः वेधाः (भवति) ॥ ५३ ॥

गतिमान् काल को भी कौतुकवश पैरों में बेड़ियाँ पहनाकर नियन्त्रित करता हुआ भावचित्र उपस्थित करनेवाला कवि अभिनव ब्रह्मदेव ही है। अन्तर यही कि ब्रह्मदेव की रचना स्थूलचित्रमयी होकर वह काल का नियमन नहीं कर पाती। [कहा गया है कि ब्रह्मा की सभा में कालप्रभाव अवरुद्ध रहा करता है। अपनी सुन्दरी कन्या रेवती के निमित्त अनुरूप वर की प्राप्ति के विषय में पितामह से परामर्श करने राजा रेवत सतयुग के अन्तिम प्रहर में पहुँचे। ब्रह्म-सभा समाप्त

हुई, जिज्ञासा करने पर पितामह ने मुस्कराकर कहा कि सत्ययुग, त्रेतायुग बीत चुके और अब द्वापर का अन्तिम चरण चल रहा है। अपनी कन्या बलरामजी से ब्याह कर मुक्ति पा लो। इसी प्रकार महाकवि की रचना, सत्काव्य भी काल-जित् होता है। 'माघे मेघे गतं वयः' अब भी अनेक पण्डितों के मुख से सुना जाता है ॥ ५३ ॥

अनातपमपध्वान्त - मासेचन - मनुत्तमम् ।
अन्तर्हर्ष - मुदारार्चिः - काव्यधामामृतायते ॥ ५४ ॥

अनातपम् अपध्वान्तम् अनुत्तमम् आसेचनम् अन्तर्हर्षम् उदारार्चिः काव्यधाम अमृतायते ॥ ५४ ॥

काव्यप्रभा सर्वथा अलौकिक, दिव्य होती है। वह सामान्य सूर्यप्रभा से विशिष्टतर है। उसमें उष्णता नहीं, तिमिर का लेश नहीं। वह सुदर्शन है, आँखों को शीतल और आनन्दमयी है। उसकी कान्ति उदार है। इसके विपरीत सूर्यप्रभा तीव्र आतपपूर्ण है। उसमें अन्धकार का अत्यन्ताभाव नहीं होता। वह दृष्टि को शीतलता नहीं देती। उसकी कान्ति तीक्ष्ण होती है तथा उष्णता से चित्त विकल हो उठता है। इस प्रकार की काव्यप्रभा अथवा काव्य-प्रासाद अमर है। ('अनातप' आदि विशेषण 'प्रासाद'-राजभवन-पक्ष में भी सार्थक हैं) ॥ ५४ ॥

के न काव्यकरा लोके लब्धपद्धतयोऽधुना ।
यस्मात्तु पद्धतिर्जाता सोऽसौ प्राचेतसः कविः ॥ ५५ ॥

अधुना लब्धपद्धतयः लोके के काव्यकराः न, यस्मात् तु पद्धतिः जाता सः असौ प्राचेतसः कविः (अस्ति) ॥ ५५ ॥

कविधर्म की शिक्षा पाकर और पूर्ववर्तियों के पदचिह्नों का अनुसरण कर आज कोई भी व्यक्ति काव्य-रचना में प्रवृत्त हो सकता है। किन्तु जिनसे सर्व-प्रथम कविधर्म अवतरित हुआ, वे प्राचेतस आदिकवि वाल्मीकि ही वस्तुतः कवि हैं। (वाल्मीकि 'प्रचेता' के पुत्र कहे गये हैं) ॥ ५५ ॥

यन्निसर्गानुतापोत्थ-करुणा जाह्नवी स्वयम् ।
सूर्यसूति[1] मुखेनैव संबिभर्ति सरस्वतीम्[2] ॥ ५६ ॥

यन्निसर्गानुतापोत्थकरुणाजाह्नवी स्वयं सूर्यसूतिमुखेन एव सरस्वतीम् संबिभर्ति ॥ ५६ ॥

---

१. सूर्यसूतिः = सूर्यपुत्री यमुना या सूर्यवंश।
२. सरस्वती = इस नामवाली नदी, जो अब लुप्त है; वाग्देवी।

ये आदिकवि वाल्मीकि वे ही हैं, दुस्सह अनुताप के कारण जिनकी सहज करुणा-मन्दाकिनी का प्रवाह सूर्यकुल भगवान् राम के माध्यम से वाग्देवी सरस्वती को समृद्ध कर रहा है। अथवा—करुणामयी जाह्नवी 'सूर्यभूमि'=सूर्य-पुत्री यमुना के साथ सरस्वती की सङ्गति (सङ्गम–तीर्थराज प्रयाग) करती है। [आदिकवि के बारे में प्रसिद्धि है कि क्रौञ्च पक्षी के जोड़े से एक को व्याध द्वारा शरविद्ध हो मरते देख, करुणा-विगलित ऋषि के मुँह से सहसा निकल पड़ा : "मा निषाद, प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः"। मुनि को स्वयं कौतूहल हुआ कि इसमें छन्द, लय आदि समन्वित हैं। देवताओं ने ऋषि का अभिनन्दन करते हुए उन्हें 'आदिकवि' कहा है] ॥ ५६ ॥

वाल्मीकेर्भारती भाति स्वच्छन्दविधिवर्तिनी ।
यत्परीक्षितवीर्योऽसौ नरोऽपीश्वरतां गतः ॥ ५७ ॥

स्वच्छन्दविधिवर्तिनी वाल्मीकेः भारती भाति, यत्परीक्षितवीर्यः असौ नरः अपि ईश्वरतां गतः ॥ ५७ ॥

स्वतन्त्र, स्वच्छन्द स्वभाववाली आदिकवि की सरस्वती देववाणी की जय हो, जिसकी कसौटी पर खरा उतरने के कारण, जिसकी परीक्षा में ससम्मान उत्तीर्ण होकर, मनुष्य-पुत्र (दशरथ-सुत राम) भी ईश्वर हो गया। राम को अवतारत्व, ईश्वरत्व की प्राप्ति वाल्मीकि मुनि के काव्य का फल है ॥ ५७ ॥

मनोज्ञा दिव्यसर्गेव[1] प्राचेतस-स्वयम्भुवः ।
रामायण-कथासृष्टि - र्दृष्टिरेवाऽऽर्यचेतसाम् ॥ ५८ ॥

प्राचेतसस्वयम्भुवः दिव्यसर्गा इव मनोज्ञा रामायण-कथासृष्टिः आर्यचेतसां दृष्टिः एव ॥ ५८ ॥

वाल्मीकिरूपी ब्रह्मा की मनोरम दिव्य-सर्गमयी रामायण-कथा आर्य-हृदयों की दृष्टि ही है। रामायण भारतीय मूल्यों की अवतारणा तथा प्रतिष्ठा करता है ॥ ५८ ॥

रामावमान-ललिता[2] मैथिलीशरणो[3]ज्जवला ।
समाराधित-मर्यादा समुल्लङ्घित-वारिधिः ॥ ५९ ॥

१. सर्ग = सृष्टि या अध्याय।
२. रामावमान०: रामा + अवमान, ताड़का, सूर्पणखा आदि का अपमान।
३. मैथिलीशरण—मैथिली + शरण, मैथिलीश + रण।

मेघनादो[1]त्कटस्फारा सूर्यांशु-धवलाम्बरा[2] ।
ससुरा[3] पूतचारित्र्या सखरा[4] कोमलद्युतिः ॥ ६० ॥

(इयं रामायण-कथा) रामावमाननलिता मैथिलीशरणोज्ज्वला सभाराधितमर्यादा समुलङ्घितवारिधिः मेघनादोत्कटस्फारा सूर्यांशुधवलाम्बरा ससुरा पूतचारित्र्या सखरा कोमलद्युतिः (अस्ति) ॥ ५९-६० ॥

[यहाँ विरोधाभास द्वारा रामायण का वर्णन है ।] यह रामकथा रामाऽवमान के कारण ललित, मैथिलीश के रण द्वारा उज्ज्वल है । मर्यादा की प्रतिष्ठा है, किन्तु मर्यादा की मूर्ति समुद्र को लाँघनेवाली है । यह मेघनाद से पूर्ण है, किन्तु सूर्यप्रभा से प्रकाशित है । पवित्र चारित्र्य ही इसका वर्ण्य है, फिर भी सुरान्वित है । कोमल द्युतिवाली है, किन्तु तीक्ष्ण भी है ॥ ५९-६० ॥

प्रसन्ना जीवनाह्लादै - रवतारमनोहरैः ।
कथा रामायणी नूनं मुक्तरोधाः सरस्वती ॥ ६१ ॥

अवतारमनोहरैः नूनं मुक्तरोधाः जीवनाह्लादैः प्रसन्ना रामायणी कथा सरस्वती (अस्ति) ॥ ६१ ॥

यह रामायण-कथा सरस्वती (नदी) के समान है । जीवन के आह्लाद से पूर्ण है । अवतारों (या घाटों के कारण मनोहर तथा मुक्तरोध निस्सीम है । अथवा—रामायण-कथा स्वयं सरस्वती वाग्देवता के समान है । जीवन के आह्लाद से समृद्ध है, अवतारों के (ईश्वर की विभूतियों के) कारण मनोहर तथा मुक्त-रोध है, अनन्त-निस्सीम है ॥ ६१ ॥

आपदम्भोधितरणी सम्पदुत्कर्षशालिनी ।
इहामुत्र पुनानेयं कापि विद्या द्वयातिगा ॥ ६२ ॥

आपदम्भोधितरणी सम्पदुत्कर्षशालिनी इह अमुत्र (च) पुनाना इयं का अपि द्वयातिगा विद्या ॥ ६२ ॥

यह रामकथा विपत्ति-सागर से पार जाने के लिए नौका के समान है, सम्पत्ति के उत्कर्ष से पूर्ण है, इहलोक एवं परलोक को पवित्र करनेवाली बेजोड़ (अनिर्वचनीय) अध्यात्म-विद्या है ॥ ६२ ॥

---

१. मेघनाद—मेघ-ध्वनि या रावणपुत्र ।

२. सूर्यांशुधवला०—सूर्य-कुल, या सूर्यकिरण से प्रकाशित ।

३. ससुरा—देवताओं या मद्य के सहित ।

४. सखरा—तीक्ष्णतायुक्त या खर=राक्षस से युक्त । दूसरा अर्थ विरोध का परिहारक है ।

सुपदाम्भोज - लालित्या सुवृत्त - स्तनकोरका ।
नटीवा-ऽऽदिकवेर्ब्राह्मी रामाभिनयनन्दिनी ॥ ६३ ॥

सुपदाम्भोजलालित्या सुवृत्तस्तनकोरका आदिकवेः ब्राह्मी नटी इव रामाभिनय-नन्दिनी (अस्ति) ॥ ६३ ॥

आदिकवि की यह सरस्वती (वाणी) किसी नटी (अभिनेत्री) के समान है । नटी : सुन्दर कमलचरणवाली होती है, सुन्दर-गोल कुच-कोरकों से युक्त और रमणीय अभिनय द्वारा आनन्दित करती हैं । सरस्वती : सुन्दर शब्दार्थमय पदोंसे युक्त है, शब्दराशि कमल के सौन्दर्य को मात करती है, स्तन-कोरकों के समान सुन्दर वृत्तों, (छन्दों) से स्पृहणीय है । भगवान् राम के गुणगान, चरित्र-सङ्की-र्तन से सबको आनन्दित करती है ॥ ६३ ॥

गौरवाद्रेः परोत्सेध आदर्शो भारतश्रियः ।
कर्मणाञ्च पराकाष्ठा मर्त्यो यत्रामृतायते ॥ ६४ ॥

(इयं) गौरवाद्रेः परोत्सेधः भारतश्रियः आदर्शः च कर्मणां पराकाष्ठा, यत्र मर्त्यः अमृतायते ॥ ६४ ॥

रामायण गौरव-गिरि का उच्चतम शिखर है, भारत-लक्ष्मी का आदर्श दर्पण है (दर्पण में आत्म-विम्ब देखकर व्यक्ति अपने स्खलन या दोष को सँवारने की चेष्टा करता है) । कर्म की पराकाष्ठा है, कर्तव्य की परमावधि है, क्योंकि कर्म, कर्तव्य द्वारा इस कथा में मरणधर्मा मनुष्य भी अमृत हो गया है । [राम को ईश्वर होने के लिए कर्तव्य का आश्रय लेना पड़ा, यह भाव है] ॥ ६४ ॥

मानवा मानवा याभ्यां भारतीयाः विशेषतः ।
तौ ज्ञानपारदृश्वानौ व्यास-प्राचेतसौ स्तुमः ॥ ६५ ॥

याभ्यां मानवाः मानवाः विशेषतः भारतीयाः, ज्ञान-पारदृश्वानौ तौ व्यास-प्राचेतसौ (वयं) स्तुमः ॥ ६५ ॥

जिनके कारण मानव 'मानव' है विशेषतः 'भारतीय' है, अनन्त ज्ञान के पारङ्गत उन दोनों महात्मा व्यास तथा वाल्मीकि को हम प्रणाम करते हैं । [व्यास और वाल्मीकि ने केवल कथा का निरूपण ही नहीं किया, जीवन के प्रत्येक संवेदनशील क्षण को उसके सन्दर्भ में देख उसका अत्यन्त उत्कृष्ट, स्वस्थ विवेचन किया है । रामायण एवं महाभारत जीवन्त महाकाव्य हैं तथा सम्पूर्ण मानवजाति ही उनका वर्ण्य-विषय है] ॥ ६५ ॥

चतुर्वर्ण - सदाचारा चतुराश्रम - वर्तिनी ।
चतुर्वर्ग - फला सृष्टि - र्व्यासाद्वा चतुराननात् ॥ ६६ ॥

चतुर्वर्णसदाचारा चतुराश्रमवर्तिनी चतुर्वर्गफला सृष्टिः व्यासात् चतुराननात् वा (प्रभवति) ॥ ६६ ॥

चारों वर्णों के उपयुक्त प्रशस्त आचरणवाली, चारों आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास) के अनुरूप चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष) के फल से सम्पन्न सृष्टि, या तो चार मुखोंवाले ब्रह्मा से सम्भव है अथवा व्यासमुनि से ही) ॥ ६६ ॥

नमो व्यासाय मुनये यज्जयाराधितश्रियः ।
अप्यनार्यजिताः कामं नार्या निर्जितचेतसः ॥ ६७ ॥

मुनये व्यासाय नमः, यज्जयाराधितश्रियः कामं अनार्यजिताः अपि आर्याः निर्जित-चेतसः न ॥ ६७ ॥

मुनीन्द्र व्यास को प्रणाम है, जिनके 'जय' (महाभारत) से गौरवान्वित मानवजाति, अनार्यों से पराजित होने पर भी भग्नहृदय, निराश न हो पायी ॥६७॥

ज्ञानार्णवतलस्तीर्ण - स्वयं विद्योतित - प्रभान् ।
ऋते दाशसुतासूनो - र्मणीन् को ग्रहणे प्रभुः ॥ ६८ ॥

ज्ञानार्णवतलस्तीर्णस्वयंविद्योतितप्रभान् मणीन् ग्रहणे दाशसुतासूनोः ऋते कः प्रभुः (अस्ति) ॥ ६८ ॥

ज्ञानमय समुद्र की तलहटी में बिखरे, अपनी प्रभा से चमकते मणि-समूहों को ग्रहण करने में धीवर-कन्या-पुत्र के (गोताखोर) के सिवा दूसरा कौन समर्थ हो सकता है ? [व्यासजी की माता सत्यवती धीवर-कन्या थीं । अगाध समुद्र में मल्लाह ही गोता लगा सकता है] ॥ ६८ ॥

भारतार्यच्छि - दुद्दाम - संवर्त - तुमुलाम्बुधौ ।
यमेकशेषमापन्ना शेषासनमिव श्रुतिः ॥ ६९ ॥

भारतार्यच्छिदुद्दामसंवर्ततुमुलाम्बुधौ यम् एकशेषम् शेषासनम् इव श्रुतिः आपन्ना ॥६९॥

भारतीय आर्यों के संहार में प्रज्वलित अग्नि के समान भीषण युद्ध-सागर में, असहाय श्रुति (वेद) आत्मरक्षा के लिए, शेषासन (शेषनाग को अपना आसन बनानेवाले) विष्णु के समान, एकमात्र आश्रय व्यासजी को पाकर उन्हींकी शरणागत हुई । [व्यासजी ने सौकर्य एवं सुरक्षा के लिए वेद का

विभाग कर तथा उन्हें अपने शिष्यों को पढ़ाकर प्रचार-प्रसार की दृष्टि से उन्हीं-को सौंप दिया ।। ६९ ।।

ध्वनता जयमार्याणा - मतिसीम - मनाहतम् ।
कर्णपूरमिव न्यस्तं व्यासेना-ऽऽशाङ्गनाजने ।। ७० ।।

आर्याणाम् अतिसीमम् अनाहतं जयं ध्वनता व्यासेन आशाङ्गनाजने कर्णपूरम् इव न्यस्तम् ।। ७० ।।

आर्य-जाति की असीम जय-गाथा के अमोघ उद्घोष द्वारा व्यासजी ने दिग्वधूजनों के कानों की शोभा के लिए मानो कर्णपूर का (कान में पहनने का आभूषण-विशेष) विधान हो कर दिया । किंवा, व्यासजी के गौरवपूर्ण जयगान ने आकाश को भर दिया ।। ७० ।।

निशम्याऽद्यापि को नाम नरो दिव्यार्यगौरवम् ।
नेक्षते मरुदुद्धृत - जयकेतु - हृताम्बरम् ।। ७१ ।।

अद्य कः नाम नरः दिव्यार्यगौरवं निशम्य अपि मरुदुद्धृतजयकेतुहृताम्बरं न ईक्षते ।। ७१ ।।

आज भी आर्य-जाति के अतीत गौरव की गौरव-गाथा सुनकर कौन व्यक्ति, पवनान्दोलित आर्य-विजयपताका से प्रकम्पित आकाशमार्ग को (भावना-निमग्न हो) नहीं देखता ? [महाभारत एवं पुराणों का अनुशीलन बरबस भारत के अतीत वैभव से हृदय को संवलित कर देता है ।। ७१ ।।

प्राचेतसौरसा काऽपि श्रुतसर्वाङ्गमण्डना ।
कविता कालिदासाङ्के सौभाग्यफलमश्नुते ।। ७२ ।।

श्रुतसर्वाङ्गमण्डना का अपि प्राचेतसौरसा कविता कालिदासाङ्के सौभाग्यफलम् अश्नुते ।। ७२ ।।

आदिकवि की सर्वगुण-सम्पन्ना अद्वितीय सुन्दरी कन्या ही कविता का स्वरूप धारणकर कालिदास के हृदय में आसीन होकर सौभाग्यफल का उपभोग करती है । [इस श्लोक द्वारा कवि ने स्पष्ट किया है कि महाकवि कालिदास आदि-कवि के साहित्यिक एवं सांस्कृतिक-वंशधर हैं ! काव्यक्षेत्र में महाकवि कालिदास प्रधानतः आदिकवि से ही प्रभावित हैं ।। ७२ ।।

संयोगे विप्रयोगे वा वने राज्ये दिवि क्षितौ ।
कविता कालिदासाय पौरवाय शकुन्तला ।। ७३ ।।

संयोगे विप्रयोगे, बने राज्ये, दिवि क्षितौ व , कालिदासाय कविता, पौरवाय शकुन्तला (च अस्ति) ॥ ७३ ॥

संयोग या वियोग में, वन या राज्य में, आकाश या पृथिवी पर, सर्वत्र दुष्यन्त के लिए शकुन्तला की तरह कविता कालिदास की वशवर्तिनी है। [कालिदास रससिद्ध कवि हैं। जीवन का प्रत्येक क्षेत्र, सम्पूर्ण जीवन ही उनके काव्य का विषय है। परस्पर विरोधी स्थितियों, मनोभावों तथा सहजानुभूतियों के चित्रण में वे अनुपम हैं। कविता उनकी वशवर्तिनी है तथा प्रत्येक स्थिति को सहजभाव से ग्रहण करती है] ॥ ७३ ॥

मेघदूत - प्रबुद्धो यः प्रसादित - शकुन्तलः ।
कुमारसम्भवेनेष्टं रघुवंश - मवर्धयत् ॥ ७४ ॥

मेघदूतप्रबुद्धः प्रसादितशकुन्तलः यः कुमारसम्भवेन इष्टं रघुवंशम् अवर्धयत् ॥ ७४ ॥

इस श्लोक में महाकवि की प्रधान कृतियों का परिगणन किया गया है : मेघ के सन्देश से (मेघदूत) उत्कण्ठित होकर, शकुन्तला (अभिज्ञान शाकुन्तल) को सर्वथा प्रसन्न कर उसके फलस्वरूप पुत्र-जन्म (कुमारसम्भव) द्वारा उस महाकवि ने रघुकुल (रघुवंश) का संवर्धन किया ॥ ७४ ॥

पात्र-काल-वयो - देश-बाधमुल्लङ्घ्य सस्मितम् ।
यौवनश्रीः स्वतन्त्रेव कालिदास - सरस्वती ॥ ७५ ॥

सस्मितं पात्रकालवयोदेशबाधं उल्लङ्घ्य स्वतन्त्रा यौवनश्रीः इव कालिदाससरस्वती (विहरति) ॥ ७५ ॥

जिस प्रकार स्वच्छन्द-यौवना या स्वतन्त्र-स्वभावा लक्ष्मी, पात्र, काल, वय, स्थान आदि बाधाओं की उपेक्षा कर निर्भय विलास करती हैं, उसी प्रकार परम्परामूलक एवं शास्त्र-समर्थित मर्यादाओं को तोड़कर महाकवि कालिदास की सरस्वती स्वतन्त्र विहार करती हैं ॥ ७५ ॥

हसतः पार्थिवान् यस्य पृथुकीर्ति - रपार्थिवा ।
मलिनाशामुखे धत्ते कौमुदीच्छुरितं महः ॥ ७६ ॥

पार्थिवान् हसतः यस्य अपार्थिवा पृथुकीर्तिः मलिनाशामुखे कौमुदीच्छुरितं महः धत्ते ॥ ७६ ॥

राजाओं की क्षण-स्थायी सत्ता पर हँसते हुए जिस कालिदास की अमर-कीर्ति, दिग्वधूजनों (दिशाओं) के मलिन मुख पर चाँदनी का मनोहर प्रकाश फैला देती है ॥ ७६ ॥

तीर्थे क्षेत्रेऽनुकूलेऽपि भावयन्तो महेश्वरम् ।
के नाऽऽर्याभिधाः लोके कृतज्ञाः शिवभूभृतः ॥ ७७ ॥

अनुकूले अपि तीर्थे क्षेत्रे महेश्वरं भावयन्तः लोके के आर्याभिधाः शिवभूभृतः कृतज्ञाः न (वर्तन्ते) ॥ ७७ ॥

आज तीर्थों, मन्दिरों, पुण्यक्षेत्रो में निर्भय हो अपने ढङ्ग से ईश्वर की अर्चा-पूजा करनेवाले कौन आर्यधर्मावलम्बी छत्रपति शिवाजी महाराज का कृतज्ञ नहीं है ? [छत्रपतिने ही अपने पराक्रम एवं शौर्य से तीर्थस्थानों, देवभूमियों को सुदृढ एवं निरापद कर दिया है] ॥ ७७ ॥

दिष्ट्या दास्यार्गलां भित्त्वा स्वातन्त्र्यरसिका वयम् ।
विद्मः सङ्कल्पितप्राणं महाराष्ट्रमहोद्यमम् ॥ ७८ ॥

दिष्ट्या दास्यार्गलां भित्त्वा स्वातन्त्र्यरसिकाः वयं सङ्कल्पितप्राणं महाराष्ट्रमहोद्यमं विद्मः ॥ ७८ ॥

सौभाग्य से आज हम दासता की शृंखलाएँ तोड़ चुके और स्वाधीनता का उपभोग कर रहे हैं । हमने इस स्वतन्त्रता के लिए अपने अनन्त बलिदान दिये हैं, शताब्दियों तक संघर्ष किया है । अतः प्राणों की बाजी लगा देनेवाले महाराष्ट्र के महान् उद्योग को, प्रयत्न को हम अनुभव कर सकते हैं ॥ ७८ ॥

प्रकृतेः परभुक्तायाः वारवध्वा इव ध्रुवम् ।
कुलशीलार्जवोत्साहो हतदैव - विडम्बना ॥ ७९ ॥

परभुक्तायाः वारवध्वाः इव प्रकृतेः कुलशीलार्जवोत्साहः ध्रुवं हतदैवविडम्बना ॥ ७९ ॥

जिस प्रकार चाँदी के कुछ ठीकरों पर अपना शरीर बेचनेवाली वेश्या का अपने उच्चकुल, लज्जा, शील एवं सदाचार आदि का ढिंढोरा पीटना दुर्दैवकृत विडम्बना है, उसी प्रकार दासता-शृंखलाओं में जकड़ी उद्धत विजेता द्वारा भुक्त प्रजा का भी कुल, शील, सम्मान आदि का गर्व करना निष्फल है ॥ ७९ ॥

उद्यमाराधिता नित्यं शीलिताऽनलसव्रतैः ।
स्वतन्त्रता सुविद्येव वर्धिष्णुरमृतायते ॥ ८० ॥

उद्यमाराधिता अनलसव्रतैः नित्यं शीलिता सुविद्या इव वर्धिष्णुः स्वतन्त्रता अमृतायते ॥ ८० ॥

जब आलस्यहीन होकर प्रयत्नपूर्वक उद्यम द्वारा नित्य चेष्टा की जाती है, तब सुविद्या के समान स्वतन्त्रता फलती-फूलती तथा अमृतोपम होकर नित्य

अक्षय फल देती है। [संवर्धन तथा संरक्षण ही स्वतन्त्रता की स्थिति को सुदृढ बनाते हैं। संवर्धन का अर्थ ही होता है कि वह अधिकाधिक जनोपयोगी हो। वैसे ही उसकी रक्षा में सतत जागरूक जाति ही उसे ठीक से रख सकती है] ॥ ८० ॥

येन शस्त्रभृता शास्त्रं शुद्धान्तमिव रक्षता।
वाष्पकण्ठी कृतज्ञाऽसौ कृता वागपि नन्दिनी ॥ ८१ ॥

येन शस्त्रभृता शुद्धान्तम् इव शास्त्रं रक्षता असौ नन्दिनी वाक् अपि कृतज्ञा (सती) वाष्पकण्ठी कृता ॥ ८१ ॥

जिस छत्रपति ने शस्त्र ग्रहणकर अन्तःपुर की मर्यादा के समान शास्त्रों की रक्षा की। उस लोकनायक के पौरुष एवं पराक्रम से स्वतन्त्र होकर सरस्वती कृतज्ञतावश रो पड़ीं। [राजा ने जनवाणी को स्वतन्त्रता तथा सम्मान दिया।] ॥ ८१ ॥

तं तदेषोऽनभ्यस्ताध्वा[1] भूभृतं[2] चपलस्थितिः।
स्वपरिमाणबन्धेषु[3] नियन्तुं यतते जनः ॥ ८२ ॥

तत् तं भूभृतम् अनभ्यस्ताध्वा चपलस्थितिः एषः जनः स्वपरिमाणबन्धेषु नियन्तुं यतते ॥२८॥

[यहाँ छत्रपति महाराज को श्लिष्ट 'भूभृत्' शब्द से सम्बोधित किया गया है। अतः राजा तथा पर्वत दो अर्थ निकलते हैं।]

(राजपक्ष में) उस पृथ्वीपति को चञ्चलप्रकृतिवाला, साहित्य मार्ग की दुरूहता के अभ्यास से रहित यह व्यक्ति (कवि) अपने पद, वाक्य, छन्द आदि के सीमित बन्धनों में बाँधने की चेष्टा, धृष्टता कर रहा है। पर्वत पक्ष में—उस उत्तुंग शैलराज को पर्वतीय मार्ग के अभ्यास से रहित चञ्चल स्वभाववाला यह व्यक्ति अपने छोटे पैरों की तुच्छगति में सीमित करने की धृष्टता कर रहा है। [भूभृत् धैर्य की सीमा है, अलंघ्य है, कवि चपल है पर्वतीय पथ पर चलने का अभ्यास नहीं है।] ॥ ८२ ॥

मृण्मयेऽपि प्रतिष्ठाप्य महेशं भुवनौकसम्।
आत्मतोषं समभ्यर्च्य किं जनो नैति तन्मनाः ॥ ८३ ॥

---

१. अनभ्यस्ताध्वा = मार्गकी कठिनाइयों से अपरिचित अभ्यासरहित, साहित्यिक मार्ग से असम्पृक्त।

२. भूभृत् = पृथ्वीपति, पर्वत।

३. स्वपरिमाणबन्धेषु = अपने पद, वाक्य, छन्द के बन्धन में, अथवा अपने पैरों की सीमित गति में।

भुवनौकसं महेशं मृण्मये अपि प्रतिष्ठाप्य समभ्यर्च्य तन्मनाः जनः आत्मतोषं न एति किम् ॥ ८३ ॥

[श्लोक ८२ का उत्तर प्रस्तुत कर रहे हैं :] त्रिभुवन के कण-कण में व्याप्त, विराट् शंकर को भी मिट्टी से गढ़कर (पार्थिव पूजन द्वारा) यथाशक्ति अर्चा कर, क्या पूजा करनेवाला आत्मतोष प्राप्त नहीं करता ? [यद्यपि छत्रपति महान् हैं, किन्तु अपने ढंग से मैं भी आत्मतोष का अधिकारी हूँ] ॥ ८३ ॥

न पिको केवलं हेतुः वसन्तौत्सुक्यवर्धने ।
शीर्णपत्रप्रसूनोऽपि द्रुमः शैत्यकदर्थितः ॥ ८४ ॥

वसन्तौत्सुक्यनर्धने केवलं पिकः न हेतुः, शैत्यकदर्थितः शीर्णपत्रप्रसूनः द्रुमः अपि (हेतुः) ॥ ८४ ॥

वसन्त के आगमन की उत्कण्ठा वढ़ाने में केवल कोयल की मीठी तान ही कारण नहीं । शीत से ठिठुरा हुआ, फूल-पत्तों से हीन वृक्ष भी अपनी दुर्दशा में भी एक कारण ही है । [सुकवि यदि वर्णन कर सकते हैं तो कुकवि भी वञ्चित नहीं हो सकता] ॥ ८४ ॥

पराभूतोऽपि भणितौ वचोबन्धयशोजुषि ।
जनोऽयं भारतीभक्तौ दीक्षां नापेक्षते परात् ॥ ८५ ॥

वचोबन्धयशोजुषि भणितौ पराभूतः अपि अयं जनः भारतीभक्तौ परात् दीक्षां न अपेक्षते ॥ ८५ ॥

यह सर्वथा सत्य है कि सरस पद-विन्यास की कीर्तिवाली कविता करने में मैं असमर्थ हूँ । किन्तु सरस्वती की सेवा के विषय में मैं किसी अन्य से उपदेश नहीं चाहता । [मैं सरस्वती का सेवक हूँ यह निर्विवाद है, रचना भले ही अच्छी न हो] ॥ ८५ ॥

रघुवंशयशोगान - सुधासत्कृतवल्लकी ।
बद्धकक्ष्येव वाणीयं शिवानुष्ठितकीर्तने ॥ ८६ ॥

रघुवंशयशोगान—सुधासत्कृतवल्लकी 'इयं वाणी शिवानुष्ठितकीर्तने बद्धकक्ष्या इव ॥ ८६ ॥

रघुवंश के कीर्तिगान रूप अमृत (रामायण, रघुवंश आदि) से सम्मानित वीणावाली यह वाणी, सरस्वती, महाराज शिवाजीके यशस्वी उद्योगों, पराक्रमों के सङ्कीर्तन के लिए बद्धपरिकर हैं ॥ ८६ ॥

ब्राह्मी कल्पलतालम्बि दृष्टमेतत् फलं चिरात् ।
कषायमपि नाप्तानामनायुष्यरसायनम् ॥ ८७ ॥

चिरात् ब्राह्मीकल्पताम्बि दृष्टम् एतत् फलं कषायम् अपि आप्तानाम् अनायुष्य-रसायनं न ॥ ८७ ॥

सरस्वतीरूपी कल्पलता में सुदीर्घकाल के पश्चात् यह फल (क्षत्रपति-चरितम्) दिखायी पड़ा है। कसैला भले हो, (हो सकता है, इसमें माधुर्य की कमी हो) सज्जनों के लिए यह रसायन (रस का अयन) अस्वास्थ्यकर न होगा, स्वास्थ्य एवं आयुवर्धक ही होगा ॥ ८७ ॥

विधास्यति कृती कोऽपि शिवार्हां समये स्रजम् ।
द्वित्राः सुमनसस्तावन्नमस्यायामिमा मम ॥ ८८ ॥

कः अपि कृती समये शिवार्हां स्रजं विधास्यति, तावत् इमाः मम द्वित्राः सुमनसः नमस्यायाम् ॥ ८८ ॥

कभी अनुकूल समय आयेगा और तब कोई महान् कलाकार क्षत्रपति महाराज के यशोऽनुरूप काव्यमाला तैयार करेगा। तबतक मैं अपने इन दो-चार पुष्पों से आत्मनिवेदन, प्रणाम करता हूँ ॥ ८८ ॥

काव्यानन्दसमाधिस्थं मत्परुषोक्तिचञ्चलम् ।
ध्रुवं गूढस्मितैरम्बा हंसं विस्मापयिष्यति ॥ ८९ ॥

काव्यानन्दसमाधिस्थं मत्परुषोक्तिचञ्चलम् हंसं गूढस्मितैः अम्बा ध्रुवं विस्मापयिष्यति ॥८९॥

काव्यानन्द की समाधि में लीन, किन्तु मेरी परुष उक्ति (अनुचित पद-अर्थ आदि) से सहसा चञ्चल (उद्विग्न) अपने वाहन हंस को, माँ सरस्वती अपने रहस्यमय मन्द मुस्कान से सचमुच विस्मय में डाल देंगी। [हंस (विद्वान्) भले ही इस काव्यरचना के दोषों से उद्विग्न हों, माँ सरस्वती को इस अटपटी रचना से भी आनन्द ही होगा] ॥ ८९ ॥

पीयूषस्तन्यनिष्यन्दि सहजाह्लादनिर्भरम् ।
किमपत्येषु वात्सल्यं सूक्तिबन्धमपेक्षते ॥ ९० ॥

पीयूषस्तन्यनिष्यन्दि सहजाह्लादनिर्भरम् वात्सल्यम् अपत्येषु सूक्तिबन्धम् अपेक्षते किम् ॥ ९० ॥

नैसर्गिक आनन्द से परिपूर्ण, अमृतमय दुग्धधार की वर्षा करनेवाला, माँ का वात्सल्य प्रेम तो अपनी सन्तान के लिए यों ही सदा सुलभ है। माता वात्सल्य

के लिए बच्चे से मधुरवाणी की अपेक्षा नहीं करती। [तोतली अस्फुट वाणी से तो वात्सल्य यों ही और अधिक उतावला हो उठता है] ॥ ९० ॥

परिस्खलत्पदन्यासा तदेषा मुग्धविभ्रमा।
भारतीस्निग्धवात्सल्यमाधुर्यं स्वदतां कृतिः ॥ ९१ ॥

तत् परिस्खलत्पदन्यासा मुग्धविभ्रमा एषा कृतिः भारतीस्निग्धवात्सल्यमाधुर्यं स्वदताम् ॥ ९१ ॥

जैसे डगमग चलता हुआ शिशु अपनी शैशवोचित चेष्टा से माता को मुग्ध कर देता है तथा स्निग्ध वात्सल्य रस का पान करता है, वैसे ही यह काव्य-रचना अपने सदोषपदों एवं विवेकहीन अनुभावों से पूरित होकर भी, माँ सरस्वती के उदार वात्सल्य का आस्वादन करे। [यहाँ 'कृति' (रचना) को शिशुबालिका के समान अध्याहृत किया गया है] ॥ ९१ ॥

ब्रह्माणं याऽतिशेते नियमपरवशं सर्वतन्त्रस्वतन्त्रा।
आनन्दस्यन्दसर्गा निकृतिकृतिघने द्वन्द्वजुष्टे भवेऽपि ॥
प्रोद्यद्भावानुबन्धोल्लसित - नवरसाम्भोधि-लावण्यलक्ष्मीः।
ज्ञानाधिष्ठानभूमिः शिवमशिवहरा भारती सा वृणोतु ॥ ९२ ॥

सर्वतन्त्रस्वतन्त्रा या नियमपरवशं ब्रह्माणम् अतिशेते; निकृतिकृतिघने द्वन्द्वजुष्टे भवे अपि आनन्दस्यन्दसर्गा, प्रोद्यद्भावानुबन्धोल्लसित-नवरसाम्भोधिलावण्यलक्ष्मीः ज्ञानाधिष्ठानभूमिः अशिवहरा सा भारती शिवम् वृणोतु ॥ ९२ ॥

जो स्वयं सर्वथा सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, नियमनिरपेक्ष होने के कारण, नियम-निबद्ध ब्रह्माजी का भी अतिक्रमण करती हैं, ब्रह्माजी द्वारा विरचित इस सुख-दुःख रूप द्वन्द्वात्मक अनर्थभूयिष्ठ जगत् के स्थान पर, जिनकी सृष्टि केवल आनन्दमयी है, जो समुदित भावानुभावों से उल्लसित, उद्वेलित नव रस वाले समुद्र से मन्थन द्वारा प्राप्त सौन्दर्यलक्ष्मी हैं, ज्ञान की अधिष्ठात्री, अशिव, अमंगल का शमन करने वाली वह वाग्देवता, सरस्वती, शिव, कल्याण (छत्रपति) का वरण करें ॥ ९२ ॥

इति श्रीत्रिपाठ्युपाह्वेन उमाशङ्करशर्मणा विरचिते
छत्रपतिचरित-महाकाव्ये प्रथमः सर्गः।

अथ द्वितीयः सर्गः

शैलेश्वरो यस्य शिरः समुन्नतं गाम्भीर्यमम्भोधिरनन्तरत्नभूः ।
दाक्षिण्यपुण्योपचितैव सन्ततिस्तत् कीर्त्यते देशवरेषु भारतम् ॥ १ ॥

शैलेश्वरः यस्य समुन्नतं शिरः अनन्तरत्नभूः अम्भोधिः गाम्भीर्यम्, दाक्षिण्यपुण्योपचिता एव सन्ततिः तत् देशवरेषु 'भारतम्' कीर्त्यते ॥ १ ॥

शैलराज हिमवान् ही जिसके समुन्नत शिर हैं, अनन्त रत्नों का उत्पत्ति-स्थान समुद्र जिसकी गम्भीरता है, औदार्य के पुण्य परिपाक से ही जिसकी सन्तति का पालन-पोषण हुआ है, महान् देशों की पंक्तियों के बीच वह 'भारत' नाम से पुकारा जाता है ॥ १ ॥

मुक्त्वा दिवं यत्र सरिद्दिवौकसामात्मावतारैः भगवानपि स्वयम् ।
आदर्शसिद्धयै विबुधाश्च सन्ततं सम्बन्धमेव प्रथयन्ति सङ्गताः ॥ २ ॥

यत्र दिवं मुक्त्वा दिवौकसां सरित्, स्वयम् आत्मावतारैः भगवान् अपि, बिबुधाः च आदर्शसिद्धयै सङ्गताः सन्ततं सम्बन्धम् एव प्रथयन्ति ॥ २ ॥

आदर्श की सिद्धि के लिए देवनदी गङ्गा स्वर्ग को त्याग पृथ्वी पर उतर आयीं, स्वयं भगवान् वैकुण्ठ-सुखत्याग इस धराधाम पर अवतरित हुए; देवता-गण यहाँ जन्म प्राप्त करते हैं । इस प्रकार सदैव ये दिव्य-विभूतियाँ अपना सम्बन्ध इस भारतभूमि से बनाये रखती हैं ॥ २ ॥

बध्नाति याऽसौ सपरिच्छदां भुवं रागैः प्रवृत्तिर्हृदये वपुष्मताम् ।
सैवेह पुंसामनुचिन्त्य पात्रतां मुक्त्यै निवृत्तिः परमेति गीयते ॥ ३ ॥

या असौ प्रवृत्तिः वपुष्मतां हृदये रागैः सपरिच्छदां भुवं बध्नाति सा एव इह पुंसाम् पात्रताम् अनुचिन्त्य मुक्त्यै परमा निवृत्तिः इति गीयते ॥ ३ ॥

जीवधारियों के हृदय में प्रतिष्ठित वह 'प्रवृत्ति', जो साङ्गोपाङ्ग सम्पूर्ण पृथ्वी को अपने राग से सम्बद्ध कर लेती है, इस भारत-भूमि में प्राणियों की पात्रता परखकर उनकी मुक्ति के लिए उत्कृष्ट 'निवृत्ति' बन जाती है । प्रवृत्ति तथा निवृत्ति, राग एवं अनासक्ति द्वारा जीव को बाँधने या मुक्त करने में क्रमशः उपादान हैं ॥ ३ ॥

वर्णेषु धर्मेषु वचस्स्वनेकधा भिन्नाः स्वभावानुगुणोपलब्धयः ।
देशे जना ओषधयो यथा वने नित्यैक्यभावाः सुखदुःखयोरपि ॥ ४ ॥

वर्णेषु धर्मेषु वचस्सु अनेकधा भिन्नाः स्वभावानुगुणोपलब्धयः जनाः देशे वने ओषधयः यथा सुखदुःखयोः अपि नित्यैक्यभावाः ॥ ४ ॥

वर्ण, धर्म, भाषा और वेष-भूषा आदि में पृथक् प्रतीत होते हुए भी स्वभावानुरूप उपलब्धिवाले इस देश के निवासी, वन में ओषधियों के समान, सुख-दुःख में सदा एकता-सूत्र में बँधे रहते हैं ॥ ४ ॥

येनात्मबुद्धेन सडिण्डिमध्वनि हेतुं निरूप्याभ्युदयेऽथ दुर्गतौ ।
वीतत्रितापे सरलैरपि क्रमैर्ब्राह्मे पदे जन्मजुषोऽपि रोपिताः ॥ ५ ॥

आत्मबुद्धेन येन सडिण्डिमध्वनि अभ्युदये अथ दुर्गतौ हेतुं निरूप्य सरलैः अपि क्रमैः जन्मजुषः अपि वीतत्रितापे ब्राह्मे पदे रोपिताः ॥ ५ ॥

जिस आत्मज्ञानी महादेश, भारत ने डिण्डिमघोषपूर्वक सुख-दुःख या द्वन्द्वमूलक प्रत्येक स्थिति का यथार्थ निरूपण कर, जन्म-मृत्यु के वन्धन में पड़े प्राणियों को भी सरल उपायों से जीवन्मुक्त ब्रह्मपद में प्रतिष्ठित कर दिया ॥ ५ ॥

हिमवद्-वर्णनम्

अम्भोजसूतेः परमा चमत्कृती रूपं विराजो विजितानुमावधेः ।
द्यावापृथिव्योर्विधिसेतुरुज्ज्वलः स्वात्माद्वितीयो हिमवान् नगेश्वरः ॥ ६ ॥

अम्भोजसूतेः परमा चमत्कृतिः, विजितानुमावधेः विराजः रूपं, द्यावापृथिव्योः उज्ज्वलः विधिसेतुः, स्वात्माद्वितीयः नगेश्वरः हिमवान् ॥ ६ ॥

पर्वतराज हिमालय भारत की अनुपम विभूति हैं । यह सृष्टिकर्ता ब्रह्मा का उत्कृष्टतम चमत्कार है, अनुमानादि प्रमाणों से अननुमेय, अज्ञेय विराट् सत्ता का स्वरूप है, पृथ्वी और आकाश को जोड़नेवाला ब्रह्म-निर्मित दिव्य सेतु (पुल) है, अतुलनीय होने के कारण अद्वितीय है ॥ ६ ॥

भ्रूक्षेपमात्रेण विलङ्घितान्तकान् संख्येष्वसङ्ख्येयभटान् नियोजयन् ।
दाक्षिण्यधाम्नोत्तरदम्भदर्पभित् सीमाभुवो धातृकृतोऽधिरक्षिता ॥ ७ ॥

भ्रूक्षेपमात्रेण विलङ्घितान्तकान् असङ्ख्येयभटान् सङ्ख्येषु नियोजयन् दाक्षिण्यधाम्ना उत्तरदम्भदर्पभित् (अयं) सीमाभुवः धातृकृतः अधिरक्षिता ॥ ७ ॥

अपने भ्रूभङ्गमात्र से, काल को भी तृण समझनेवाले अगणित सैनिकों को युद्ध में भेजनेवाला, अपने औदार्य की कान्ति से उत्तर दिशा का दम्भपूर्ण दर्प चूर्ण करनेवाला यह हिमालय स्वयं ब्रह्मा द्वारा नियुक्त, सीमान्त-प्रदेश का सतत जागरूक प्रहरी है ॥ ७ ॥

आकर्ण्य यस्याशनिघोषहुङ्कृतिं कण्ठीरवस्येव विपाटिताम्बराम् ।
स्तब्धा वृका रक्ततृषोऽपि दक्षिणां नैवोत्सहन्ते मनसापि वीक्षितुम् ॥ ८ ॥

कण्ठीरवस्य इव यस्य विपाटिताम्बराम् अशनिघोषहुङ्कृतिम् आकर्ण्य रक्ततृषः अपि स्तब्धा वृकाः दक्षिणाम् मनसा अपि वीक्षितुं न उत्सहन्ते एव ॥ ८ ॥

सिंह की दहाड़ के समान आकाश को दहला देनेवाले जिस हिमालय की वज्रनिर्घोष-सी हुङ्कार सुन रक्तपिपासु भेड़िये भी भय से जडवत् अवसन्न होकर मन में भी दक्षिण-दिशा की ओर देखने का उत्साह नहीं रखते। हिमालय की अजेयता एवं दुर्भेद्यता के ही कारण दक्षिणवर्ती प्रदेश पर उत्तर के पिशाचों की कुदृष्टि उत्साहहीन हो जाती है ॥ ८ ॥

घोराहिफेन - व्यसनातुरोरसामङ्गीकृतश्वापदवर्त्मनामिह ।
पृष्ठे सदार्यव्रतलेखलक्ष्मभिः शस्त्राभिघातैरनुरञ्जिता क्षितिः ॥ ९ ॥

इव घोराहिफेनव्यसनातुरोरसाम् अङ्गीकृतश्वापदवर्त्मनां पृष्ठे सदार्यव्रतलेखलक्ष्मभिः शस्त्राभिघातैः क्षितिः अनुरञ्जिता ॥ ९ ॥

भयंकर अहिफेन (अफीम) के व्यसन से आतुरचित्त, पशुप्राय जीवन-पद्धतिवाले प्राणियों की पीठ पर आर्यपद्धति की मर्यादा के अभिलेख के समान शस्त्र-प्रहारों से पृथिवी (हिमालय की पार्श्ववर्ती भूमि) रक्तरञ्जित हो गयी ॥ ९ ॥

सङ्ख्यावलेपादपथप्रतिष्ठितानौदीच्यजातान् शलभानिव द्विषः ।
दीप्तार्यवह्निः परितः समालिहन् क्षुत्क्षामकालव्रतपारणां व्यधात् ॥ १० ॥

सङ्ख्यावलेपात् अपथप्रतिष्ठितान् औदीच्यजातान् द्विषः शलभान् इव परितः समालिहन् दीप्तार्यवह्निः क्षुत्क्षामकालव्रतपारणाम् व्यधात् ॥ १० ॥

संख्या के बल से उन्मत्त, कुमार्गगामी उत्तरीय शत्रुओं को पतिंगों के समान दग्ध करती आर्यों की जाज्वल्यमान अग्नि-ज्वाला ने मानो भूख से दुर्बल काल के लिए व्रतान्तपारणा (व्रतोपवास के बाद अन्न-ग्रहण) का ही प्रबन्ध कर दिया ॥ १० ॥

उष्णोत्पतच्छोणितवर्षणैर्हठाच्छैत्यं हिमाच्छादितपर्वणामपि ।
न्यक्कृत्य यत्रार्यभटाः व्यमण्डयन् स्निग्धाङ्गरागैर्नवभारतश्रियम् ॥ ११ ॥

हठात् उष्णोत्पतच्छोणितवर्षणैः हिमाच्छादितपर्वणाम् अपि शैत्यम् न्यक्कृत्य यत्र आर्य-भटाः स्निग्धाङ्गरागैः नवभारतश्रियं व्यमण्डयन् ॥ ११ ॥

वर्फ से ढँकी पर्वत-चोटियों पर भी गर्म-गर्म रक्त की वर्षा से शीत का प्रभाव दूर करते हुए भारतीय युवकों ने नवभारत की राजलक्ष्मी को मनोहर अंगराग से विभूषित कर दिया ।। ११ ।।

यो नाकिवन्द्यामपि तेजसा महीं विस्मापयत्येव विविक्तसम्पदा ।
तस्यानुषङ्गप्रभवाऽपि सच्छटा कं वैजयन्तं न करोति निष्प्रभम् ।। १२ ।।

यः विविक्तसम्पदा तेजसा नाकिवन्द्याम् अपि महीं विस्मापयति एव, तस्य अनुषङ्ग-प्रभवा अपि सच्छटा कं वैजयन्तं निष्प्रभं न करोति ।। १२ ।।

जो हिमालय अपनी पवित्र ऐकान्तिक वैभव की महिमा से देवताओं को वन्दनीय स्वर्गभूमि को भी विस्मय-विमूढ कर देता है उसके साथ सहज उत्पन्न प्राकृतिक रमणीयता किस वैजयन्त (इन्द्र-प्रासाद) को प्रभाहीन नहीं बनाती! [हिमालय की प्राकृतिक शोभा के सम्मुख इन्द्र का राजमहल भी व्यर्थ है।] ।।१२।।

अस्यैव नीलान्धगुहासु निश्चलं मुक्ताग्रहा जीवितमुक्तबन्धनाः ।
तद्विश्वचैतन्यमिव व्यलोकयन् कृत्स्नस्य पारे तमसः परं महः ।। १३ ।।

अस्य एव नीलान्धगुहासु निश्चलं मुक्ताग्रहाः जीवितमुक्तबन्धनाः कृत्स्नस्य तमसः पारे विश्वचैतन्यम् इव तत् परं महः व्यलोकयन् ।। १३ ।।

इसी हिमालय की नीले अन्धकार से पूर्ण एकान्त गुफाओं में आग्रह से शून्य जीवन्मुक्त साधकों ने भ्रमात्मक अन्धकार के आवरण से मुक्त, विश्वचेतना को ही उत्कृष्ट विभास्वर प्रकाश के रूप में देखा ।। १३ ।।

छायासु पत्युर्धरणीभृतामिह स्रोतस्वतीसैकतभूतिसम्पदा ।
विश्वात्मकं विश्वजनीनमादिमाः प्राकाशयन् ज्ञानमहार्कमण्डलम् ।। १४ ।।

इह धरणीभृतां पत्युः छायासु आदिमाः स्रोतस्वतीसैकतभूतिसम्पदा विश्वात्मकं विश्व-जनीनं ज्ञानसवितृमण्डलं प्राकाशयन् ।। १४ ।।

यहाँ इस पर्वतराज हिमालय की शान्त छाया में नदी के किनारे बिखरी हुई बालुकाराशि की महिमा से प्राचीन ऋषियों ने अशेषजन-कल्याणकारी विश्वात्मा, ज्ञानमय सूर्यमण्डल को प्रकाशित किया ।। १४ ।।

निस्स्यन्दमानं निरवग्रहस्यदं पृथ्वीभृतो यस्य सरिच्छिराशतैः ।
स्नेहामृतं प्राणभरैरनारतं संवर्धयत्यार्यजनौकसं भुवम् ।। १५ ।।

यस्य पृथ्वीभृतः प्राणभरैः सरिच्छिराशतैः निरवग्रहस्यदं निस्स्यन्दमानं स्नेहामृतम् अनारतम् आर्यजनौकसं भुवं संवर्धयति ।। १५ ।।

इस नगराज हिमालय से निकली अविच्छिन्न-प्रवाहमयी, शिराओं (नाडियों) के समान प्राणों को परिपुष्ट करनेवाली सैकड़ों नदियाँ निरन्तर अपने अमृत-जल से आर्यों की निवासस्थली इस भरत-भूमि का संवर्धन करती हैं ।।१५।।

वारान्निधेर्जन्मभुवः समुत्थिताः सन्दर्शितोत्कण्ठितभाववृत्तयः ।
यस्येङ्गितज्ञा इव देवमातृकां[1] संज्ञां पृथिव्यै प्रथयन्ति वारिदाः ॥ १६ ॥

जन्मभुवः वारांनिधेः समुत्थिताः सन्दर्शितोत्कण्ठितभाववृत्तयः वारिदाः यस्य इङ्गितज्ञाः इव पृथिव्यै देवमातृकां संज्ञां प्रथयन्ति ॥ १६ ॥

[सूर्य के ताप द्वारा भाप के रूप में परिवर्तित जल ही बादल का रूप ग्रहण करता है तथा हिमालय से टकराकर वह मानसून भारत में वृष्टि करता है । इस प्रकार जल का समूह ही मेघों का जन्मदाता है ।] जन्म देनेवाले समुद्र के जल से ऊपर उठे हुए, उत्कण्ठित भावना से पूर्ण बादल जिस हिमालय के संकेत पर भारतभूमि को जलाप्लावित करके उसकी देवमातृका संज्ञा को चरितार्थ करते हैं ॥ १६ ॥

यावत् स्वदेशः स्मरति द्वयं सदा शैलाधिपं हैमवतीञ्च वाहिनीम् ।
पङ्केऽयमेषः पतितोऽपि दुस्तरे बीजं यथोदेष्यति साहसाङ्कुरैः ॥ १७ ॥

यावत् स्वदेशः शैलाधिपं हैमवतीं वाहिनीं च द्वयं सदा स्मरति, अयम् एषः दुस्तरे पङ्के पतितः अपि बीजं यथा साहसाङ्कुरैः उदेष्यति ॥ १७ ॥

जब तक यह भारतदेश शैलाधिपति हिमालय तथा उससे निस्सृत होनेवाली गङ्गा को स्मरण करता रहेगा तबतक इसके नष्ट होने का भय नहीं रहेगा । यह दुस्तर पङ्क में, पराभव में डूबकर भी साहसमय अङ्कुरों से शोभित बीज के समान बाहर निकल आयेगा ॥ १७ ॥

स्रोतोनदीनिर्झररम्यजीवनैः सञ्जीवयन्तो भुवनं प्रतिक्षणम् ।
प्रख्यापयन्तीह धराधराभिधां[2] शैलोत्तमा नूनमिमे धृतव्रताः ॥ १८ ॥

प्रतिक्षणं स्रोतोनदीनिर्झररम्यजीवनैः भुवनं सञ्जीवयन्तः धृतव्रताः इमे शैलोत्तमाः इह धराधराभिधां नूनं प्रख्यापयन्ति ॥ १८ ॥

धाराओं, नदियों, झरनों आदि के मनोरम जल से (जीवन से) पृथ्वी को अहर्निश अनुप्राणित करते हुए सचमुच व्रतशील (कर्तव्यनिष्ठ) ये पर्वत अपने धराधर नाम की सार्थकता को उद्घोषित करते हैं ॥ १८ ॥

फेनच्छटैर्या हसितैः पयोम्रुचां सारक्षयग्लानिमपास्य सोत्सुकम् ।
गङ्गा प्रतिक्षेत्रमदेवमातृकं प्रख्यापयत्येव भगीरथोद्यमम् ॥ १९ ॥

---

१. देवमातृका—वर्षा के जल पर निर्भर रहनेवाली ।

२. धराधर—पृथिवी को धारण करनेवाला, उसकी आवश्यकता को पूरा करते हुए उसका पालन करनेवाला ।

पयोमुचां सारक्षयग्लानिं फेनच्छटैः हसितैः सोत्सुकम् अपास्य या गङ्गा भगीरथोद्यमं प्रतिक्षेत्रम् अदेवमातृकं प्रख्यापयति एव ॥ १९ ॥

जल बरसा देने के बाद अन्तस्सारहित निष्प्रभ बादलों की ग्लानि को अपने फेन जैसी उज्ज्वल हँसी से उत्सुकतापूर्वक दूरकर गङ्गा प्रत्येक क्षेत्र को अपने जल से सींचकर (अदेवमातृक बनाकर) राजा भगीरथ के महान् उद्योग (गङ्गा को पृथ्वी पर लाने के महान् सङ्कल्प) को प्रख्यापित करती हैं ॥ १९ ॥

हित्वा सुरेन्द्रस्पृहणीयवैभवं कामान् सुखाराधितभोगजीवितान् ।
के नैव तत्त्वैकदृशो यतीश्वरा अस्याः श्रयन्ते सिकताभराञ्चलम् ॥ २० ॥

सुरेन्द्रस्पृहणीयवैभवं सुखाराधितभोगजीवितान् कामान् हित्वा तत्त्वैकदृशः के यतीश्वराः अस्याः सिकताभराञ्चलम् एव न श्रयन्ते ॥ २० ॥

देवराज इन्द्र को भी लुब्ध करनेवाले वैभव एवं सुखमय जीवनसे भरी कामनाओं को त्यागकर, तत्त्वज्ञान की सिद्धि के लिए अनेक यतीश्वर इस गङ्गा के बालूभरे तटाञ्चल का आश्रय लेते हैं ॥ २० ॥

अभ्यासभूमिर्भुवनेष्वियं धरा ख्याता यथाऽध्यात्मविवेकसम्पदः ।
सौन्दर्यलक्ष्म्याः मुखसन्निभस्तथा काश्मीरभागः किल कथ्यते बुधैः ॥ २१ ॥

भुवनेषु इयं धरा अध्यात्मविवेकसम्पदः यथा अभ्यासभूमिः ख्याता, काश्मीरभागः बुधैः तथा सौन्दर्यलक्ष्म्याः मुखसन्निभः किल कथ्यते ॥ २१ ॥

जिस प्रकार इस भूमण्डल में भारत को अध्यात्मज्ञान की सम्पत्ति का अभ्यास-स्थल (साधनाभूमि) कहा जाता है, उसी प्रकार विवेकशील जन काश्मीर को सुन्दरता की देवी (सौन्दर्यलक्ष्मी) का मुख मानते हैं ॥ २१ ॥

नूनं निसर्गोज्ज्वलसर्गमिच्छता निर्मथ्य लावण्यपयोधिमद्भुतम् ।
काश्मीरनामापरकौतुकम्भवे सारं यथा निर्मितमब्जजन्मना ॥ २२ ॥

निसर्गोज्ज्वलसर्गम् इच्छता अब्जजन्मना नूनम् अद्भुतं लावण्यपयोधिं निर्मथ्य काश्मीर-नामापरकौतुकं सारं यथा भवे निर्मितम् ॥ २२ ॥

निस्सन्देह उत्कृष्टतम निर्माण की अभिलाषा से सौन्दर्य के अप्रतिम समुद्र को मथकर पद्मसम्भव सृष्टिकर्ता ने उसके सार से काश्मीर-नामक, संसार का नित्य-नवीन कौतुक ही निर्मित किया ॥ २२ ॥

अभ्रंलिहश्रेणिनिभाच्छकुन्तकै रक्षाव्रतैर्निश्चलभूधरैरियम् ।
संसेविता नित्यमुपत्यकाजिरे काश्मीरलक्ष्मी रमते शरीरिणी ॥ २३ ॥

अभ्रंलिहश्रेणिनिभाच्छकुन्तकैः रक्षाव्रतैः निश्चलभूधरैः उपत्यकाजिरे नित्यं संसेविता इयं शरीरिणी काश्मीरलक्ष्मीः रमते ॥ २३ ॥

[काश्मीर की घाटी (श्रीनगर आदि) चारों ओर ऊँचे उठे हुए पहाड़ों से घिरी है। प्रतीत होता है, जैसे किसी क्रीड़ाभूमि को रक्षकों ने घेर रखा हो।] गगनचुम्बी स्वच्छ पर्वतशृङ्ग नुकीले उठे भाले हैं, पर्वत ही दायित्वपूर्ण रक्षक हैं, वे काश्मीरघाटीरूपी क्रीडाभूमि को चारों ओर से घेरकर रक्षा कर रहे हैं तथा उसी क्रीडाभूमि में मूर्तिमती सौन्दर्य की देवी ही मानो खेल रही है ॥ २३ ॥

नौकेलयः स्निग्धमुखोत्पलश्रियः प्रायः प्रसूनावचये नवाङ्गनाः ।
सीदन्ति यत्राननबिम्बलुण्ठिताः मोघीकृतादर्शतलेषु वारिषु ॥ २४ ॥

नौकेलयः स्निग्धमुखोत्पलश्रियः नवाङ्गनाः प्रायः प्रसूनावचये यत्र मोघीकृतादर्शतलेषु वारिषु आननबिम्बलुण्ठिताः सीदन्ति ॥ २४ ॥

झील में नाव पर विहार करती हुई मनोज्ञ कमलसदृश मुखकान्तिवाली नवयुवतियाँ खिले हुए कमलों को तोड़ने के प्रयास में निर्मल शीशे को लज्जित करनेवाले स्वच्छ जल में अपने मुख की परछाईं से ठगी जाकर परेशान हो जाती हैं। [दर्पण जैसे स्वच्छ झील के पानी में फूल तोड़ने के लिए झुकने पर वे अपने कमलमुख के प्रतिबिम्ब को ही कमल समझकर हाथ बढ़ाती हैं और उन्हें धोखा हो जाता है।] ॥ २४ ॥

यत्राम्बु लीलामुकुरो जगच्छ्रियः पृथ्वीतलं दुर्लभपार्थिवासनम् ।
पुष्पोत्करामोदसखः समीरणो न स्मर्तुमप्युत्सहतेऽमरद्रुमम् ॥ २५ ॥

यत्र अम्बु जगच्छ्रियः लीलामुकुरः, पृथ्वीतलं दुर्लभपार्थिवासनम्, पुष्पोत्करामोदसखः समीरणः अमरद्रुमं स्मर्तुम् अपि न उत्सहते ॥ २५ ॥

जहाँ जलाशयों का स्वच्छ जल सौन्दर्यलक्ष्मी का लीलादर्पण है, हरियाली की मखमली से भरी पृथ्वी दुर्लभ राजसिंहासन है, उस काश्मीर में फूलों की सुगन्ध में डूबा पवन कल्पवृक्ष को भी नहीं स्मरण नहीं करता ॥ २५ ॥

प्रायो बुधाः मानसभित्तिकल्पितं चित्रं निरूप्याऽपि शचीशवेश्मनः ।
अत्रावनिं वीक्ष्य निसर्गनन्दिनीं लज्जन्ति पूर्वाग्रहसंस्मृतावपि ॥ २६ ॥

बुधाः प्रायः मानसभित्तिकल्पितं शचीशवेश्मनः चित्रं निरूप्य अपि, अत्र निसर्गनन्दिनीम् अवनिं वीक्ष्य पूर्वाग्रहसंस्मृतौ अपि लज्जन्ति ॥ २६ ॥

बहुधा देवलोक की पार्थिव कल्पना करनेवाले विद्वज्जन शचीपति इन्द्र के भवन को अपनी मानसभित्ति पर चित्रित करते हैं, किन्तु यहाँ की सहज रमणीय स्वभावसुन्दर पृथिवी को देखकर उन्हें अपने पूर्वाग्रह (इन्द्रभवन के काल्पनिक चित्र) की स्मृति से भी लज्जा लगती है। काश्मीर की भूमि इन्द्रप्रासाद को कल्पना से भी सुन्दर है ॥ २६ ॥

रम्ये चरन्तः पशवोऽचलाश्चले स्निग्धस्वराः गोपसुताः सदार्जवाः ।
स्रोतः प्रसन्नाम्बु मनोहरं वपुः राज्ञां श्रियस्त्वद्विपदोऽपि किं समाः ॥ २७ ॥

रम्ये अचलाश्चले चरन्तः पशवः, स्निग्धस्वराः सदार्जवाः गोपसुताः, स्रोतः प्रसन्नाम्बु, राज्ञां श्रियः त्वद्विपदः अपि समाः किम् ॥ २७ ॥

पर्वतों की सुरम्य तलहटी में पशु चर रहे हैं, सरलस्वभाव चरवाहों की कण्ठध्वनि बड़ी स्निग्ध है, तालाबों में निर्मल जल है, शरीर मनोहर है। काश्मीर की धरती, राजाओं का महान् वैभव भी तुम्हारी असुविधा के सामने तुच्छ है। राजवैभव को लात मारकर भी गुणग्राही व्यक्ति तुम्हारी असुविधाओं को उससे अच्छा ही समझेगा ॥ २७ ॥

फुल्लद्द्रुमश्रेणितटोभयान्तरा गूढस्फुटावर्तनवक्रिमच्छविः ।
कान्तेव पद्याऽपि धृतिप्रधर्षिणी प्रोल्लासयत्येव मनोरथोत्सवम् ॥ २८ ॥

फुल्लद्रुमश्रेणितटोभयान्तरा गूढस्फुटावर्तनवक्रिमच्छविः पद्या अपि धृतिप्रधर्षिणी कान्ता इव मनोरथोत्सवं प्रोल्लासयति एव ॥ २८ ॥

जिस प्रकार फूलों से लदे पेड़ों के बीच, इधर-उधर भ्रमण के कारण अङ्ग-विक्षेपादि से गूढ या स्फुट (यों ही या जान-बूझकर) बाँकी विभ्रमवाली कान्ता सुन्दरी, नायक के धैर्य को विवश करती हुई भी उसके अभिलाष को प्रोत्साहित ही करती है उसी प्रकार पुष्पित पार्श्ववर्ती वृक्षों के बीच गूढ़ या स्फुट ढंग से अपनी टेढ़ी गति को (घुमाव को) सूचित करती हुई सड़क पथिक के धैर्य को क्षुब्ध करती हुई भी उसकी आगे बढ़ने की इच्छा को बढ़ाती ही रहती है ॥ २८ ॥

काव्यं मधुस्यन्दि वियोगनिर्भरं कीनाशदन्तागतबन्धुसङ्गतिः ।
सञ्जीवतैवात्मयशो रहश्श्रुतं काश्मीरपुण्यावनिदर्शनं यथा ॥ २९ ॥

वियोगनिर्भरं मधुस्यन्दि काव्यं कीनाशदन्तागतबन्धुसङ्गतिः, सञ्जीवता एव रहः श्रुतम् आत्मयशः (च) काश्मीरपुण्यावनिदर्शनं यथा ॥ २९ ॥

विप्रलम्भनिर्भर मधुवर्षी काव्य का अनुशीलन, यमराज की दन्तपंक्ति के बीच से बचकर आये आत्मीय जन से भेंट, अपने ही कान से सर्वथा अपरिचित रहकर दूसरों के मुँह से आत्मयश का श्रवण, ये जिस प्रकार चित्त को आनन्द-विभोर कर देते हैं, उसी प्रकार काश्मीर की सुषमामयी पृथ्वी का दर्शन भी मन को हर्ष-निर्भर कर देता है ॥ २९ ॥

अप्यन्तरायाब्दघटाप्लवाकुलां बद्धानुभावाममरावनेरपि ।
लोकोऽधिकां स्तौतु भुवं स्वजन्मनो याथार्थ्यबुद्धेः परमत्र निर्वृतिः ॥ ३० ॥

लोकः अमरावनेः अपि अधिकाम् अन्तरायाब्दघटाप्लवाकुलाम् अपि बद्धानुभावां स्वजन्मनः भुवं स्तौतु परं याथार्थ्यबुद्धेः अत्र निर्वृतिः ॥ ३० ॥

यों तो, अनन्त विघ्न-बाधाओं की मेघमाला की भयंकर वृष्टि से अस्तव्यस्त भी अपनी जन्मभूमि को रागात्मक सम्बन्ध के कारण मानवसमाज अमरावती से भी उत्कृष्टतर मानता है तथा उसकी शुभाशंसा करता है। किन्तु यथार्थतः तटस्थ वुद्धि से विचार करने पर काश्मीर ही सर्वोत्कृष्ट ज्ञात होता है ॥ ३० ॥

वासस्त्वचोऽन्धः शफरी जलं सुरा वित्तं वृकैर्णक्षशिवोर्णसङ्ग्रहः ।
गेहं हिमं वीतवनस्पतिः क्षितिष्टण्ड्रा[1] तथापि ध्रुववासिनां प्रिया ॥ ३१ ॥

वासः त्वचः, अन्धः शफरी, जलं सुरा, वित्तं वृकैर्णक्षशिवोर्णसङ्ग्रहः, गेहं हिमं, क्षितिः वीतवनस्पतिः, तथापि ध्रुववासिनां टण्ड्रा प्रिया (अस्ति) ॥ ३१ ॥

जहाँ चमड़ा ही वस्त्र है, मछली ही खाद्यान्न है, शराब ही जल है तथा सम्पत्ति के नाम पर भेड़ियों, रीछों, मृगों एवं सियारों का ऊन है, बर्फ ही घर है और पृथिवी वनस्पतिरहित है उस टण्ड्रा को भी ध्रुवनिवासी (एस्किमो) अत्यन्त श्लाघनीय मानकर प्रशंसा करते हैं ॥ ३१ ॥

विस्मापयन् कोऽपि धियं सुमेधसां छिन्नोत्तमाङ्गोऽपि सुखेन जीवतु ।
स्वप्नेऽपि किं प्राणितुमार्यभूरियं काश्मीरवर्जं क्षमते मनस्विनी ॥ ३२ ॥

सुमेधसां धियं विस्मापयन् कः अपि छिन्नोत्तमाङ्गः अपि सुखेन जीवतु, (परं) मनस्विनी इयम् आर्यभूः स्वप्ने अपि काश्मीरवर्जं प्राणितुं क्षमते किम् ॥ ३२ ॥

सिर को कटाकर भी बुद्धिमानों के विवेक को विस्मित करता हुआ कोई सुखपूर्वक भले जीवित रहे किन्तु काश्मीरविहीन होकर स्वप्न में भी यह आर्यभूमि किस प्रकार जीवित रह सकती है ॥ ३२ ॥

यावत्तनौ भारतभूमिजन्मनामेकोऽपि कीलालकणोऽवशिष्यते ।
आसिन्धु शैलात् प्रकृतिः प्रणन्दतु सीम्नि स्थिरा तावदपेतसंशया ॥ ३३ ॥

यावत् भारतभूमिजन्मनां तनौ एकः अपि कीलालकणः अवशिष्यते तावत् शैलात् आसिन्धु अपेतसंशया सीम्नि स्थिरा प्रकृतिः प्रणन्दतु ॥ ३३ ॥

भारतभूमि में उत्पन्न हुए प्राणियों के शरीर में जबतक एक बूँद भी रक्त शेष रहेगा तब तक हिमालय से लेकर समुद्र तक अपनी सीमाओं में निस्संशय होकर इस देश की प्रकृति (प्रजा) आनन्दित रहेगी। तात्पर्य यह कि काश्मीर तथा किसी भी सीमान्त की सुरक्षा प्रत्येक भारतीय का अनिवार्य कर्तव्य है। काश्मीर केवल काश्मीर ही नहीं, वह सीमान्त प्रदेश है, शत्रु की कुदृष्टि से उसकी सुरक्षा राष्ट्रीय दायित्व है ॥ ३३ ॥

---

१. टण्ड्रा—ध्रुवप्रदेशीयो भूभागः, विरहितवनस्पतिः सर्वदा हिमाच्छादितः षाण्मासिकमहोरात्रं बिभ्रत् मत्स्याशः। तत्रत्याः निवासिनः (एस्किमो) हिममये गृहे कृतवसतयो वृक-ऋक्ष-एण-गोमायुपशूनामूर्णसङ्ग्रहेणाजीविकां वहन्ति, श्ववाहितं चक्रविहीनं शकटं (स्लेज) सुखमितस्ततः सर्पति। 'सील'मत्स्यमृगया तेषामन्यतमो व्यापारः।

सच्चक्षुषः प्रागृषयो जगद्धिताः यस्यां जगुर्ब्रह्मविवेकविस्तरम् ।
सच्छन्दसामेकधरार्यसम्पदां सा सप्तसिन्धुर्महसामियं स्थली ॥ ३४ ॥

यस्यां सच्चक्षुषः जगद्धिताः प्रागृषयः ब्रह्मविवेकविस्तरं जगुः, सच्छन्दसाम् आर्यसम्पदाम् एकधरा महसां स्थली सा इयं सप्तसिन्धुः (अस्ति) ॥ ३४ ॥

जगन्मङ्गल की भावना से पूर्ण, सत्-दृष्टि-सम्पन्न पूर्व ऋषियों ने जिस स्थान पर ब्रह्मज्ञान के विस्तार का आयोजन किया, शुद्ध छन्दस्वती आर्यसम्पत्ति (वेद) की आदिभूमि, यह प्रभापूर्ण शुभस्थली ही सप्तसिन्धु प्रदेश है ॥ ३४ ॥

सा भूरियं ताः सरितोऽनघा इमाः यस्यां मरुन्नर्तितवीचिबालिकाः ।
आशुश्रुवुर्विस्मयपूरितश्रुतिम् विज्ञानसारामृतां सरस्वतीम् ॥ ३५ ॥

इयं सा भूः, इमाः ताः अनघाः सरितः, यस्यां मरुन्नर्तितवीचिबालिकाः विस्मयपूरित-श्रुतिं विज्ञानसाराम् अमृतां सरस्वतीम् आशुश्रुवुः ॥ ३५ ॥

यही वह भूमि है, वे ही ये निष्पाप सरिताएँ हैं जहाँ पवनान्दोलित जल-लहरी-रूपी बालिकाओं ने विस्मय से कर्णरन्ध्रों को भर देने वाली (विस्मयपूरित वेदसंहिता वाली) विज्ञानतत्त्वमयी अमृतस्वरूपा सरस्वती का दिगन्त उद्घोष सुना ॥ ३५ ॥

यक्षोपमाः पार्थिवभोगवृत्तयो रागस्वभावाश्रयिणोऽपि सुव्रताः ।
गान्धारलोका न विदन्ति जीवने तापत्रयं यत्र मनोरथाङ्कुशम् ॥ ३६ ॥

यक्षोपमाः पार्थिवभोगवृत्तयः रागस्वभावाश्रयिणः अपि सुव्रताः गान्धारलोकाः यत्र मनोरथाङ्कुशं तापत्रयं जीवने न विदन्ति ॥ ३६ ॥

जहाँ राजवैभव से पूर्ण, यक्षों के समान स्वस्थ एवं शक्तिशाली, स्वभाव से रागमयी वृत्ति अपनाते हुए भी आत्मव्रती गान्धार-देशवासी मनोरथ के बाधक तीनों तापों (आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिदैहिक) को जीवन में स्थान नहीं देते हैं ॥ ३६ ॥

संलिह्य खर्जूरमदोन्मदान् क्षणाद्यः पारसीकान् यवनाशुशुक्षणिः[1] ।
वाह्लीकशौर्याभिभवोल्लसच्छिखो यत्रासिवर्षैः प्रशशाम निष्प्रभः ॥ ३७ ॥

यः यवनाशुशुक्षणिः खर्जूरमदोन्मदान् पारसीकान् क्षणात् संलिह्य वाह्लीकशौर्याभि-भवोल्लसच्छिखः यत्र असिवर्षैः निष्प्रभः प्रशशाम ॥ ३७ ॥

खर्जूरासव के पान से उन्मत्त पारसीकों को जिस यूनानी प्रदीप्त अग्निज्वाला ने क्षण भर में चाट लिया तथा वाह्लीकों के शौर्य की पराजय से जिसकी लपटें

१. अलक्षेन्द्रः (सिकन्दर) महतीं यवनचमूमादाय विजयमानो मित्र-मेसोपोटानियादि-देशान् मदोद्धतान् पारसीकान् विजित्य तद्राजधानीं भस्मसात् कृत्वा वाह्लीकशक्तिं निर्मथ्य भारते सहठं प्रतिरुद्धः परावृत्तः ।

और अधिक प्रचण्ड हो गयीं, वही जिस स्थान (पाञ्चाल देश) में तलवारों की वृष्टि से बुझकर निष्प्रभ हो गया ॥ ३७ ॥

क्रीडास्थली विश्रुतपौरुषोरसां दैवानुबन्धानवरुद्धकौशला ।
यत्रानुषङ्गास्थिरतामपि श्रियः पाञ्चालभूमिः शकलीकरोत्यहो ॥ ३८ ॥

विश्रुतपौरुषोरसां क्रीडास्थली, दैवानुबन्धानवरुद्धकौशला पाञ्चालभूमिः यत्र श्रियः अनुषङ्गास्थिरताम् अपि अहो शकलीकरोति ॥ ३८ ॥

उत्तम पौरुषमय प्राणियों का क्रीडाक्षेत्र यह पाञ्चाल-प्रदेश है जिसकी कुशलता दैव के विधान को भी पराजित कर देती है। यहाँ लक्ष्मी की स्वाभाविक चञ्चलता को भी टुकड़े-टुकड़े करके समाप्त कर दिया जाता है ॥ ३८ ॥

यं दृप्तपञ्चास्यमरालकेसरं युद्धाङ्गनारागघनव्रणच्छविम् ।
वीक्ष्यैव मूर्च्छद्दृशमप्यनुद्यमे श्रद्धामलक्षेन्द्रमनोऽप्यकल्पयत् ॥ ३९ ॥

अरालकेसरं दृप्तपञ्चास्यं युद्धाङ्गनारागघनव्रणच्छविं मूर्च्छद्दृशम् अपि यं वीक्ष्य एव अलक्षेन्द्रमनः अपि अनुद्यमे श्रद्धाम् अकल्पयत् ॥ ३९ ॥

युद्धलक्ष्मी के प्रगाढ प्रेम के फलस्वरूप अनेक व्रणों (गहरे घाव या दन्त-नख-क्षतादि) से सुशोभित, टेढ़ी भौंहोंवाले, कुपित जिस पाञ्चाल-सिंह को मूर्च्छित होते हुए भी देखकर विस्मय से सिकन्दर के हृदय की कामना अनुद्यम (युद्धविराम) में श्रद्धा करने लगी। [अलेक्जेण्डर ने पञ्चनद प्रदेश में भयंकर प्रतिरोध से आतङ्कित होकर विश्वविजय का स्वप्न बीच में ही त्याग दिया।] ॥ ३९ ॥

शौर्याधिरूढं परिणामनिःस्पृहं जैत्रोऽपि रोद्धुं न शशाक वीक्ष्य यम् ।
तं पर्वतं पर्वतमेव[1] स स्थिरैःमैत्रीघनश्लेषगुणैरुपाचरत् ॥ ४० ॥

शौर्याधिरूढं परिणामनिःस्पृहं यं वीक्ष्य जैत्रः अपि रोद्धुं न शशाक पर्वतम् एव तं पर्वतं सः स्थिरैः मैत्रीघनश्लेषगुणैः उपाचरत् ॥ ४० ॥

जय-पराजय की भावना से सर्वथा मुक्त, शौर्यपूर्ण युद्ध में डटे हुए जिस मूर्तिमान् पर्वत जैसे राजा पर्वतक को रोकने में विजेता शत्रु भी समर्थ न हो सका और उन्हें मित्रता के सुदृढ़ सूत्रों से सदा के लिए बाँध लिया ॥ ४० ॥

भोगैः रमा रागिमनोभिरङ्गनाः स्वर्णैर्धरित्री नियतिः सदाग्रहैः ।
सम्प्रीणयन्ति स्वयमुत्सुकोरसो दैनन्दिनं पञ्चनदस्य पौरुषम् ॥ ४१ ॥

---

१. वीतौजसं गान्धारराजं समरे पराजित्य भारतं जिगीषुः पुरः प्रचलितः ससैन्यो यवनराजोऽलक्षेन्द्रः पर्वतक(पोरस, पुरु)नाम्ना भूभुजा युद्धरसिकेन युद्धे सहठमवरुद्धः, स्वसैन्ये भयातङ्कनिर्भरनैराश्यञ्च पर्यालोच्य सन्धिं कृत्वा तं मैत्रीगुणेन समादृत्य परावर्तने मतिं चक्रे ।

रमा भोगैः, अङ्गनाः रागिमनोभिः, धरित्री स्वर्णैः, नियतिः सदाग्रहैः, उत्सुकोरुहः स्वयं पञ्चनदस्य पौरुषं दैनन्दिनं सम्प्रीणयन्ति ॥ ४१ ॥

लक्ष्मी विविध भोगों की सुव्यवस्था से, सुन्दरियाँ गाढ अनुराग से, धरती सोने से तथा अदृष्ट अभिमत विधान से, उत्सुक हृदय द्वारा सर्वदा पञ्चनद के पुरुषार्थ की संवर्धना किया करते हैं ॥ ४१ ॥

हित्वाऽवमर्षात्[1] परधर्मपद्धतिं क्षोणीशलक्ष्मीकरयौतुकामपि ।
यस्यां स्वधर्मस्थविराः स्तनन्धयाः कुड्योदरानन्तनिशं सिषेविरे ॥ ४२ ॥

क्षोणीशलक्ष्मीकरयौतुकाम् अपि परधर्मपद्धतिम् अवमर्षात् हित्वा यस्यां स्वधर्मस्थविराः स्तनन्धयाः कुड्योदरानन्तनिशं सिषेविरे ॥ ४२ ॥

जिस पञ्चनद प्रदेश में प्रौढ धर्मबुद्धिवाले दूध पीते बालकों ने भी दहेज के रूप में प्राप्य वैभवपूर्ण राजलक्ष्मी के साथ ही परधर्म ग्रहण करने के प्रस्ताव को क्रोधपूर्वक ठुकराकर स्वधर्म पर दृढ रहते हुए दीवाल के भीतर चुने जाकर सदा के लिए अनन्त निद्रा में सो जाने को ही श्रेयस्कर समझा ॥ ४२ ॥

सन्दृष्टशास्त्रावधयोऽपि यत्र ते दृप्तान्धकारान्तरिते सदध्वनि ।
ईशानकल्पा निशितासिपाणयो दोषावसानं गुरवः[2] समानयन् ॥ ४३ ॥

सन्दृष्टशास्त्रावधयः अपि यत्र दृप्तान्धकारान्तरिते सदध्वनि ईशानकल्पाः निशितासिपाणयः ते गुरवः दोषावसानं समानयन् ॥ ४३ ॥

घोर अन्धकार से सन्मार्ग के आच्छादित होने पर भी शास्त्रों में विधिवत् पारङ्गत भी भगवान् शंकर के समान तेजस्वी गुरुओं ने जहाँ हाथ में तीखी तलवार लेकर अन्धकारपूर्ण रात्रि (दोषों) का अन्त ही कर दिया ॥ ४३ ॥

दुश्शासनेन व्यसनायिता अपि पाञ्चालजाताः कति नाऽऽधिवैक्लबम् ।
धर्मानुषङ्गैरभयोद्यमैर्जहुर्गोविन्दसिंहेऽवति सत्पथं गुरौ ॥ ४४ ॥

गोविन्दसिंहे गुरौ सत्पथम् अवति, दुश्शासनेन व्यसनायिताः अपि कति पाञ्चालजाताः धर्मानुषङ्गैः अभयोद्यमैः आधिवैक्लवं न जहुः ॥ ४४ ॥

सद्धर्म-पथ की रक्षाके लिए श्री गुरुगोविन्दजी के सङ्कल्पपूर्वक उद्यत होने

---

१. खालसापन्थप्रवर्तकस्य दशमगुरोः गुरुगोविन्दसिंहस्य द्वौ बालकौ अनाशकैशोरौ गृहीतौ मुगलसेनापतिना तथा च बहुप्रकारं धर्मपरिवर्तनाय राजकन्यापरिणयपार्थिववैभवादिभिः प्रलोभ्य प्रार्थितौ, किन्तु सक्रोधमधिक्षिप्तैः दिल्लीपतिनियुक्तैः सेनाधिकारिभिः जीवन्तावेव तत्कालविनिर्मितभित्तिगर्भसमाधिस्थौ कृतौ ।

२. सिक्खगुरवः स्वधर्मगुप्तये कारंकारमपि शमदमहिंसादिप्रयोगान् निहन्तुमासुरीं दिल्लीपतिप्रवृत्तिं युद्धोद्योगेन सैन्यसङ्कलनेन पुरुषार्थशिक्षया च हिन्दुजातिमानसे नवोत्साहं निपूर्य खालसापन्थावतारणां विदधुः ।

पर, शासन के अत्याचारों से घोर संकट में पड़े हुए असंख्य पाञ्चालनिवासियों ने धर्मवृत्ति की स्वाभाविक चेतना एवं निर्भय उद्योग द्वारा अपनी विकल मनोव्यथा को नष्ट कर दिया ॥ ४४ ॥

वत्सेन[1] जुष्टाष्टवसन्तवायुना राज्यं सुताञ्चानभिनन्द्य विद्विषः ।
प्राणान् विमुच्यापि सहेलमुत्सुकान् मुक्तो न धर्मो गुरुपुण्यसूतिना ॥ ४५ ॥

जुष्टाष्टवसन्तवायुना गुरुपुण्यसूतिना वत्सेन विद्विषः सुता राज्यं च अनभिनन्द्य सहेलम् उत्सुकान् प्राणान् विमुच्य अपि धर्मः न मुक्तः ॥ ४५ ॥

जीवन में कुल आठ वसन्त-वैभवों से सेवित, गुरु के औरस, पुण्यप्रसूत बालक ने शत्रु द्वारा प्रस्तुत राज्य एवं उसकी राजकन्या दोनों को अस्वीकार करते हुए, अनायास प्राणों का बलिदान कर दिया, पर स्वधर्म नहीं छोड़ा ॥ ४५ ॥

गन्तुर्मनोग्लानिमुपैष्यतः स्पृहां कुण्ठानुभावं पुरतो धृतस्थितेः ।
संवर्धयन्ती सततं प्रतीक्षते मायेव याऽनूह्यमनोरथा पुरी ॥ ४६ ॥

गन्तुः मनोग्लानिम्, उपैष्यतः स्पृहां, धृतस्थितेः पुरतः कुण्ठानुभावं संवर्धयन्ती माया इव अनूह्यमनोरथा या पुरी सततं प्रतीक्षते ॥ ४६ ॥

[अब दिल्ली का वर्णन किया जा रहा है :] दिल्ली वह मायापुरी है, जो अपने पास से दूर जानेवाले के मन में ग्लानि, आनेवाले के हृदय में अभिलाषा तथा रहनेवाले के हृदय में कुण्ठा बढ़ाती हुई निरन्तर प्रतीक्षा करती रहती है। इसके मनोगत भावों को समझ पाना सर्वथा असम्भव है ॥ ४६ ॥

दिल्लीयमारब्धकुतूहलाऽपि कं स्तोकप्रसादैर्न करोति विक्लवम् ।
प्रायेण बद्धाञ्जलिनाऽपि सेविता तावेव बध्नाति करावसूयया ॥ ४७ ॥

आरब्धकुतूहला अपि इयं दिल्ली स्तोकप्रसादैः कं विक्लवं न करोति, प्रायेण बद्धाञ्जलिना सेविता अपि तौ एव करौ असूयया बध्नाति ॥ ४७ ॥

यह दिल्ली अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए व्यक्ति को उत्कण्ठा-विवश बनाकर भी अत्यल्प कृपा द्वारा कब उसे दुखी नहीं बनाती ? प्रायः हाथ जोड़कर सर्वतोभावेन सेवा करनेवाले के उन्हीं दोनों हाथों में असूयापूर्वक (डाह से) हथकड़ी डाल देती है ॥ ४७ ॥

भूपानपेताचरणान् व्रतस्थिता या कुञ्चितापाङ्गविलासविह्वलान् ।
हेमासनात् पांसुपथेऽविलम्बितं निक्षिप्य न स्मर्तुमपि प्रवर्तते ॥ ४८ ॥

कुञ्चितापाङ्गविलासविह्वलान् अपेताचरणान् भूपान् व्रतस्थिता या हेमासनात् अविलम्बितं पांसुपथे निक्षिप्य स्मर्तुम् अपि न प्रवर्तते ॥ ४८ ॥

---

१. जोरावरसिंहः तनयो गुरुगोविन्दसिंहस्य सिक्खगुरोः अष्टवर्षीयोऽपि सदर्पं तिरस्कृत्य सरहिन्दशासकस्य दुहितृप्रदानकल्पां प्रार्थनां सयौतुकां सुखं धर्माय प्राणान् तत्याज ।

अपनी मर्यादा में अवस्थित इस दिल्ली ने अपने सम्मोहक कटाक्ष-पाश से उन्मत्त, अतएव अनाचारी राजाओं को स्वर्णसिंहासन से उतारकर तुरन्त धूल में फेंक दिया और उन्हें स्मरण करने तक का कष्ट न किया ॥ ४८ ॥

दौर्भाग्यसञ्जातघनाश्रुदुर्दिनं सौभाग्यसूर्यप्रभयाऽपनीय या ।
अन्योन्यबाधेऽप्यनुभाववर्त्मनि मुक्तेव रेमेऽक्षतयौवना नटी । ४९ ॥

दौर्भाग्यसञ्जातघनाश्रुदुर्दिनं या सौभाग्यसूर्यप्रभया अपनीय अन्योन्यबाधे अपि अनुभाववर्त्मनि अक्षतयौवना नटी इव मुक्ता रेमे ॥ ४९ ॥

इस दिल्ली ने दुर्भाग्यजन्य अति अश्रुप्रवाह से दुर्दिन के समान शोकपूर्ण स्थिति को सौभाग्य सूर्य की उज्ज्वल प्रभा से अविलम्ब दूर कर नित्ययौवनवती नटी (अभिनेत्री) के समान तटस्थ भाव से परस्पर विरोधी अनुभावों का प्रदर्शन किया ॥ ४९ ॥

यावत्स्तने केशरकुङ्कुमद्रवो गाढत्वमाकल्पति यौवनोष्मभिः ।
तावन्निषिक्तं रुधिरैश्चलाञ्चलं यस्या वितेनेऽभिनयप्रगल्भताम् ॥ ५० ॥

यौवनोष्मभिः यावत् केशरकुङ्कुमद्रवः स्तने गाढत्वम् आकल्पति तावत् रुधिरैः निषिक्तं चलाञ्चलं यस्याः अभिनयप्रगल्भतां वितेने ॥ ५० ॥

जब तक केसर-कुङ्कुम-विनिर्मित लेपद्रव स्तनों पर प्रयुक्त होकर शरीर के यौवन के ताप से गाढ़ हो तब तक रक्त से सहसा भींग उठे आँचल ने उस दिल्ली नामवाली अभिनेत्री के अभिनय-कौशल की उत्कृष्टता को उद्घोषित कर दिया ॥५०॥

विद्रोहलक्ष्म्याः[1] रभसोत्सुको हठात् सीमन्तदेशे हतसूनुशोणितैः ।
सिन्दूरचूर्णैरिव देहलीश्वरः सौभाग्यमेवालिखदद्भुताक्षरैः ॥ ५१ ॥

रभसोत्सुकः देहलीश्वरः हतसूनुशोणितैः अद्भुताक्षरैः इव सिन्दूरचूर्णैः हठात् विद्रोहलक्ष्म्याः सीमन्तदेशे सौभाग्यम् एव अलिखत् ॥ ५१ ॥

यहीं दिल्लीपति ने उत्कण्ठा की तीव्रता में मारे गये अपने पुत्रों के खून से विद्रोहलक्ष्मी की माँग में सिन्दूरचूर्ण भरकर विचित्र अक्षरों में मानो सौभाग्यकथा ही लिपिबद्ध कर दी ॥ ५१ ॥

स्वातन्त्र्यरक्षाक्रतुकीर्तितच्छटा या राजपुत्रैः प्रथिता प्रजावती ।
सेयं मरौ शर्करिलेऽपि सोत्सुकं सूते सदा केवलमुज्ज्वलं यशः ॥ ५२ ॥

१. दिल्लीपतिः मुगलवंशधरो बहादुरशाहनामान्तिमो नरपतिः राष्ट्रविद्रोहे (१८५७ ई०) आंग्लसैनिकैः निहतानात्मसूनूनवलोक्य सोत्साहमुक्तवान् "इत्थमेव चगताईसन्ततिः गृहीतपूताचारा पित्रोरभिमुखं समायाति ।" शान्ते विद्रोहे हृतराज्यो बहादुरशाहो निर्वासितो ब्रह्मदेशे दूरं पञ्चत्वमाप ।

स्वातन्त्र्यरक्षाक्रतुकीर्तितच्छटा या राजपुत्रैः प्रजावती प्रथिता सा इयं शर्करिले अपि मरौ सोत्सुकं सदा केवलम् उज्ज्वलं यशः सूते ॥ ५२ ॥

[कवि वीरभूमि राजस्थान की प्रशंसा करता हुआ कहता है :] स्वातन्त्र्य-रक्षा के महान् यज्ञ में जिसकी कीर्ति सर्वत्र विख्यात है, जो राजपुत्रों से सन्तानवती है (राजपुत्र ही जहाँ निवास करते हैं), वही यह राजस्थान की यशस्विनी वसुमती बालूभरे मरुस्थल में भी केवल उज्ज्वल यश ही उत्पन्न करती है [मरुभूमि में प्रायः कुछ पैदा नहीं होता, निस्तत्त्व बालुकाराशि रहती है। किन्तु इस भूमि की विशेषता यह है कि यहाँ केवल उत्कृष्ट यश ही पैदा होता है।] ॥ ५२ ॥

यावद्वरस्पर्शनवोदितोद्भवं मातुं ललज्जे पुलकोद्गमस्तनौ ।
तावद् व्यधात् स्वेदजडाङ्गुलिः करो वध्वाः प्रियं नद्धतनुत्रवक्षसम् ॥ ५३ ॥

तनौ पुलकोद्गमः यावत् वरस्पर्शनवोदितोद्भवं मातुं ललज्जे तावत् वध्वाः स्वेद-जडाङ्गुलिः करः प्रियं नद्धतनुत्रवक्षसं व्यधात् ॥ ५३ ॥

जबतक वर के प्रथम स्पर्श से उत्पन्न नूतन हर्षोद्रेक को मापने के लिए शरीर में उत्पन्न रोमांच लज्जा से मुक्ति पाये तबतक सात्त्विक भाव से उत्पन्न स्वेद से जड अंगुलियों वाले नववधू के हाथ ने अपने प्रियतम के वक्षःस्थल पर कवच बाँध दिया [तात्पर्य यह कि राजपूताने की वीरवधू समय की पुकार को पहचानती है, देशसेवा के लिए वह महान् से महान् बलिदान कर सकती है।] ॥ ५३ ॥

स्वस्यामुरो लग्नमुरश्छदेन या लाक्षारसार्द्राङ्घ्रितलाङ्कितच्छवि ।
सन्नह्य सौभाग्यसमर्पितासवः कुर्वन्ति युद्धैकरसान् प्रियाः प्रियान् ॥ ५४ ॥

स्वस्यां लग्नं लाक्षारसार्द्राङ्घ्रितलाङ्कितच्छवि उरः याः प्रियाः उरश्छदेन सन्नह्य सौभाग्यसमर्पितासवः प्रियान् युद्धैकरसान् कुर्वन्ति ॥ ५४ ॥

इस राजस्थान में आलते से रँगे अपने चरणतल के सन्निवेश से विशेष सुशोभित, अपने में आसक्त पतिहृदय को दृढकवच से बाँधकर सौभाग्य के लिए प्राणों को समर्पित करनेवाली पतिप्राणा युवतियाँ अपने प्रियतमोंको वीररसाप्लावित कर देती हैं ॥ ५४ ॥

नाकौकसामप्सरसामपांसुला या यौवनश्रीरनिमेषलोचनैः ।
आराध्यसौभाग्यमिवाभिनन्दितुं बध्नाति येषामसिषु स्थिरं मनः ॥ ५५ ॥

नाकौकसाम् अप्सरसाम् अपांसुला या यौवनश्रीः अनिमेषलोचनैः आराध्यसौभाग्यम् इव अभिनन्दितुं येषाम् असिषु स्थिरं मनः बध्नाति ॥ ५५ ॥

स्वर्ग-निवासिनी अप्सराओं की निष्कलङ्क यौवन-सम्पत्ति, अपने सौभाग्य के मनोरथ फल के समान जिन वीरों को पाने के लिए, अपलक दृष्टिसे उनकी तलवारों में अपना मन अच्छी तरह बाँध देती है [युद्ध में वीरगति पानेवाले उन वीरों के साहचर्य में अपने यौवन को धन्य करने के लिए अप्सराएँ प्रोषितभर्तृका के समान प्रतीक्षा करती हैं।] ॥ ५५ ॥

निश्शेषजीवातुबिभीषिकामपि विस्मापयन्तो महिषासनस्थितिम् ।
पञ्चास्यजाता द्विरदानिवार्भका यस्यां क्षमन्ते बलिनोऽपि न द्विषः ॥५६॥

निश्शेषजीवातुबिभीषिकां महिषासनस्थितिम् अपि विस्मापयन्तः यस्यां पञ्चास्यजाता अर्भकाः बलिनः अपि द्विषः द्विरदान् इव न क्षमन्ते ॥ ५६ ॥

सम्पूर्ण जीवधारियों के लिए भयङ्कर महिषवाहन यमराज की स्थिति को भी अपने शौर्य से विस्मित करते हुए जिस धरती के राजपूत बालक प्रबल शत्रु से भी इस प्रकार भिड़ जाते हैं, जिस प्रकार सिंहशिशु प्रबल बली गजराज से टक्कर लेता है ॥ ५६ ॥

ज्येष्ठोऽपि नर्मस्पृहयालवे मुदा पित्रे स्वरक्तां श्रियमस्पृहं जहत् ।
गाङ्गेयसत्कीर्तिपदं निषेवते चण्डः[1] प्रचण्डौजसि लब्धसत्क्रियः ॥ ५७ ॥

प्रचण्डौजसि लब्धसत्क्रियः ज्येष्ठः अपि चण्डः नर्मस्पृहयालवे पित्रे मुदा स्वरक्तां श्रियम् अस्पृहं जहत् गाङ्गेयसत्कीर्तिपदं निषेवते ॥ ५७ ॥

परिहास में भी पिता की स्पृहा सत्य करने के लिए युवराज चण्ड अपने में अनुरक्त लक्ष्मी (राज्य तथा होने वाली वधू) को प्रसन्नतापूर्वक त्यागते हुए गङ्गा-नन्दन भीष्म की कीर्ति को धारण कर रहे हैं। अपने उग्र विक्रम के लिए चण्ड यशस्वी हो गये हैं [इतिहास के पृष्ठों में लिखा है : राजकुमार चण्ड के लिए आये विवाह-प्रस्ताव एव नैवेद्य को स्वीकार करते हुए राणा ने परिहास में अपनी सफेद दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए कहा था 'कि मैंने तो समझा कि इस सफेद दाढ़ी के लिए आप विवाह-प्रस्ताव लाये हैं।' राजकुमार चण्ड वहाँ उपस्थित न थे। वृत्तान्त सुनकर उन्होंने कहा कि 'अब वह राजकन्या मेरे लिए माता के समान है, मैं उससे विवाह कैसे कर सकता हूँ?' अन्त में पिता ने कहा कि 'विवाह न करने पर राज्य के अधिकार से च्युत हो जाना पड़ेगा।' युवराज चण्ड ने इसे सहर्ष स्वीकार किया और अन्ततः बूढ़े राणा को ही विवाह करना पड़ा]॥ ५७॥

सौन्दर्यशीलेन मनस्वितेजसा कीर्तिं भुजिष्यामिव सम्बिभर्ति या ।
सत्पुष्करा[2] पुष्करजन्मनोऽपि सा तीर्थस्थली सैकतभूतिभास्वरा ॥ ५८ ॥

या मनस्वितेजसा सौन्दर्यशीलेन कीर्तिं भुजिष्याम् इव सम्बिभर्ति सा पुष्करजन्मनः अपि सैकतभूतिभास्वरा सत्पुष्करा तीर्थस्थली ॥ ५८ ॥

जिसके सौन्दर्य एवं वन्दनीय तेज के कारण कीर्ति सेविका-सी सेवा करती है,

---

१. चण्डः—भीष्म इवापरः कलावपि युवराजश्चण्डः नर्मगर्भाम् पितुः गिरं याथार्थ्येन गृह्णन् बहु निबोधितोऽपि राज्यं भाविनीं प्रियतमाञ्च पित्रर्थमत्यजत् ।

२. पुष्करक्षेत्रम् तपःस्थली ब्रह्मणः । पुरा पद्मयोनिना परःशताः क्रतवस्तत्र समनुष्ठिताः । अतिशयपुण्यप्रदं यशोऽस्य गीयते पुराणेषु ।

वह कमलसम्भव ब्रह्माजी का तपःस्थल अपनी उज्ज्वल वालुकाराशि से विमण्डित पुष्कर क्षेत्र इसी राजस्थान की विभूति है ॥ ५८ ॥

यं साक्ष्यमाकल्प्य चरित्रदेवता सौभाग्यसाफल्यमवाप पद्मिनी[1] ।
तस्मै हुताशाय निवेद्य स्वं वपुः शीलव्रतानां धुरि सा महीयते ॥ ५९ ॥

चरित्रदेवता पद्मिनी यं साक्ष्यम् आकल्प्य सौभाग्यसाफल्यम् अवाप तस्मै हुताशाय तद् वपुः निवेद्य सा शीलव्रतानां धुरि महीयते ॥ ५९ ॥

जिसे साक्षी बनाकर सच्चरित्र रानी पद्मिनी ने अपना सौभाग्यफल पाया उसी अग्नि देवता में अपना शरीर हवन कर वे शीलवती देवियों में प्रथम स्थान अलंकृत करती हैं ॥ ५९ ॥

बालाङ्कुराञ्चर्वितुमुद्यतस्पृहः खिल्जीमहीपो[2] निरवग्रहो यथा ।
दुर्गे कुलस्त्रीजनशीलसत्प्रथं तप्तं रजः केवलमाप यत्कृते ॥ ६० ॥

बालाङ्कुरान् चर्वितुम् उद्यतस्पृहः निरवग्रहः यथा खिल्जीमहीपः यत्कृते कुलस्त्रीजनशील-सत्प्रथं केवलं तप्तं रजः दुर्गे आप ॥ ६० ॥

नये अंकुरों को (नवयुवतियों को) चबाने की अतृप्त इच्छा वाले, बिना छान-पगहा वाले वृषभ के समान दिल्ली के खिलजी बादशाह अलाउद्दीन ने जिसके लिए महान् जनसंहार करने के बाद चित्तौर गढ़ में प्रवेश कर सती भारतीय ललनाओं के शीलरक्षण के अन्तिम यशस्वी मार्ग के रूप में केवल गर्म-गर्म राख का स्तूप हो पाया ॥ ६० ॥

एकौरसापत्यमपि स्वयं प्रसूः[3] कृच्छ्रान्निरुद्ध्याश्रुनिपूरिताक्षिणी ।
प्राकल्पयच्छत्रुहुताशहव्यतां गोप्तुं धराधीशशिशुं निराश्रयम् ॥ ६१ ॥

निराश्रयं धराधीशशिशुं गोप्तुम् अश्रुनिपूरिताक्षिणी कृच्छ्रात् निरुद्ध्य प्रसूः एकौरसा-पत्यम् अपि स्वयं शत्रुहुताशहव्यतां प्राकल्पयत् ॥ ६१ ॥

---

१. पद्मिनी, शीलव्रतानां धुरि कीर्तनीया पराकाष्ठा सौन्दर्यस्य, चित्तौरराजवधूः स्वशीलगुप्तये सान्तःपुरराजपरिवारकुलाङ्गनाजना अग्निकुण्डे पपात ।

२. अलाउद्दीन-खिल्जी, दिल्लीपतिः श्रुतपद्मिनीसौन्दर्यकीर्तिः तामुपलब्धुं महता बलेन चित्तौरदुर्गं निरुद्ध्य समरे शूरानपि परिमितसङ्ख्यान् राजपुत्रान् निहत्य विहितदुर्गाधिकारोऽपि पद्मिनीं नाप । किन्तु तद्दग्धसौन्दर्यभस्मैव दुर्गोदरे स ददर्श । व्रतवती पद्मिनी तु सपरिवारा 'जौहर'विधिना वह्निकुण्डे निक्षिप्यात्मानं शीलं ररक्ष । राजस्थाने भारते च सतीशिरोमणि-रिव पूज्यते पद्मिनी ।

३. प्रसूः—धात्री पन्ना, उदयसिंहस्य रक्षिका । चित्तौरपतिं सहठं निहत्य बनवीरो राज्याधिकारिणं शिशुमुदयसिंहं हत्वा निर्बाधं राज्यमाप्तुं राजभवनं प्रविश्य धात्रीं पन्ना-मुदयसिंहायापृच्छत् । सा तु राजकुमाररक्षणाय निजपुत्रं तद्वयसं दर्शितवती । बनवीरः तमेव राजकुमारं मत्वा निहत्य बहिर्जगाम । पन्ना तु बालकं राजपुत्रं महता सङ्कटेन समवर्धयत् ।

इसी राजस्थान में आँसू से छलछलाती आँखों को बरसने से किसी प्रकार कठिनता से रोककर निराश्रय बालक राजकुमार को शत्रु से बचाने के लिए माता (पन्ना) ने अपने एक मात्र औरस पुत्र को शत्रु की क्रोधाग्नि का ग्रास बना दिया ॥ ६१ ॥

दुर्धर्षदृप्तारिमहानिशीथिनीतामिस्रदिग्धेऽपि कुदैववर्त्मनि ।
हल्दीयघाटी[1]स्मृतिदीप्ततारकाः के नार्यदेश्याः स्वपथेऽस्तसंशयाः ॥ ६२ ॥

दुर्धर्षदृप्तारिमहानिशीथिनीतामिस्रदिग्धे अपि कुदैववर्त्मनि हल्दीयघाटीस्मृतिदीप्ततारकाः के आर्यदेश्याः स्वपथे अस्तसंशयाः न (सन्ति) ॥ ६२ ॥

दुर्धर्ष शत्रुरूपी रात्रि के घोर अन्धकार से आवृत दुर्दैवबाधित बीहड़ रास्ते में भी, राष्ट्रसंकट के अवसर पर कौन भारतीय हल्दीघाटी की पवित्र स्मृति से चमत्कृत अपनी निर्बाध तीव्र दृष्टि से आत्मपथ में (सम्पादनीय विधान में) संशयरहित नहीं हो जाता [हल्दीघाटी की स्मृति ध्रुवतारक के समान संकट में पथबोध कराती है।] ॥ ६२ ॥

हित्वा वयस्यान् यमुनां वनावनिं विस्मृत्य पुण्यां मथुरामपि क्षणात् ।
रेमे क्व सौराष्ट्रतटादृते मनो देवस्य विष्णोरपि बन्धनच्छिदः ॥ ६३ ॥

वयस्यान् यमुनां वनावनिं हित्वा, पुण्यां मथुराम् अपि क्षणात् विस्मृत्य, बन्धनच्छिदः देवस्य विष्णोः अपि मनः सौराष्ट्रतटात् ऋते क्व रेमे ॥ ६३ ॥

[कवि गुजरात का वर्णन करता है :] मित्रों को, यमुना को, वृन्दावन को, पवित्र मथुरा को भी क्षण भरमें छोड़ अशेष बन्धनोंको काटनेवाले भगवान् कृष्ण का भी मन सौराष्ट्र-तटके अतिरिक्त और कहाँ बँध सका ? ॥ ६३ ॥

निर्बन्धमायादयितस्य विस्मितः पाथोधिनाथोऽरचयद्यथेहितम् ।
प्रीतस्तथाद्यापि समुद्यमोरसां धामोदयानन्यसखोऽस्ति देहिनाम् ॥ ६४ ॥

पाथोधिनाथः विस्मितः (सन्) निर्बन्धमायादयितस्य ईहितं यथा अरचयत्, तथा अद्य अपि समुद्यमोरसां देहिनां प्रीतः (सः) धामोदयानन्यसखः अस्ति ॥ ६४ ॥

विस्मित समुद्र ने जिस प्रकार सर्वतन्त्रस्वतन्त्र मायापतिके अनुकूल व्यवस्था की वैसे ही आज भी उद्यम से पूर्ण हृदय वाले मनुष्यों के अभ्युदय में योगदान करने के लिए समुद्र सदैव तत्पर है ॥ ६४ ॥

अन्यत्र देशेऽपि मनोज्ञपेशला यद् गुर्जरीति स्तवनैः प्रशस्यते ।
कश्चेतनो लाटवधूजनस्थिरं चेतो नियोक्तुं क्षमतेऽपरे पथि ॥ ६५ ॥

१. हल्दीघाटी—दिल्लीपतेरकबरस्य महतीं चमूमत्रैव राणाप्रतापनायका राजपूतसेना प्रतिरुरोध। सर्वलोकभैरवे तस्मिन् समरे चतुर्दशसाहस्री निहता राजपूतबलस्य, दिल्लीपतेरपि षट्पञ्चाशत्सहस्रसैनिकाः प्राणान् तत्यजुः। पराजितो राणावशिष्टैः सैनिकैः सह दूरं निर्गतः।

यत् अन्यत्र अपि देशे मनोज्ञपेशला गुर्जरी इति स्तवनैः प्रशस्यते (तत्) लाटवधू-जनस्थिरं चेतः कः चेतनः अपरे पथि नियोक्तुं क्षमते ॥ ६५ ॥

इस देश के गुजरात से इतर भागों में भी मोहक-सौन्दर्यपूर्ण युवतियों को 'गुजरी' नाम द्वारा प्रशंसित किया जाता है। इस दशा में लाटदेशवासिनी युवतियों में आसक्त मन को कौन बुद्धिमान दूर हटाने में समर्थ हो सकता है ! ॥ ६५ ॥

विद्यावलेपो विदुषाम्मनस्विनां केषामनन्याश्रयपूरितोरसि ।
माघाय[1] काव्याब्धिसुधायशोभृते नार्धासनं निर्वचनं प्रयच्छति ॥ ६६ ॥

केषां मनस्विनां विदुषां विद्यावलेपः काव्याब्धिसुधायशोभृते माघाय अनन्याश्रयपूरितोरसि अर्धासनं निर्वचनं न प्रयच्छति ॥ ६६ ॥

हृदय पर पूरी तरह छाया किस मनस्वी विद्वान् का विद्याभिमान काव्य-पयोधि के अमृतयश को धारण करनेवाले माघ कवि के लिए चुपचाप अपना आधा आसन अर्पित नहीं कर देता ॥ ६६ ॥

छायापथे काव्यकलाऽमृतद्युतेर्माघस्य लब्ध्वोदयमस्तविक्रियम् ।
नापेक्षिताश्चेत् सरुचोऽपि तारिकाः को दीपमुद्योजयतेऽहरागमे ॥ ६७ ॥

काव्यकलामृतद्युतेः माघस्य अस्तविक्रियम् उदयं छायापथे लब्ध्वा सरुचः अपि तारिकाः न अपेक्षिताः चेत्–अहरागमे दीपं कः उद्योजयते ॥ ६७ ॥

हृदयाकाश में काव्यकला-सुधाकर महाकवि माघ को निर्बाध उदित देख यदि अन्य प्रकाशपूर्ण तारिकाओं की अपेक्षा नहीं रहती तो आश्चर्य ही क्या है ! भला, सूर्योदय हो जाने पर कौन व्यक्ति दीप जलाने की इच्छा करता है ? ॥ ६७ ॥

निष्ठा स्वदेशे वचसि स्वगौरवे प्रोत्साहरागस्तिमिरावभेदने ।
प्राचामृषीणां सहजोपलब्धयः श्रीमद्दयानन्द[2]निरूपितेऽध्वनि ॥ ६८ ॥

स्वदेशे वचसि स्वगौरवे (च) निष्ठा, तिमिरावभेदने प्रोत्साहरागः, प्राचाम् ऋषीणां सहजोपलब्धयः श्रीमद्दयानन्दनिरूपिते अध्वनि (सन्ति) ॥ ६८ ॥

अपने देश में, अपनी मातृभाषा में (हिन्दी में), अपने गौरव में दृढश्रद्धा, अज्ञान-अन्धकार को मिटाने में उत्साह, प्राचीन ऋषियों की ये सारी महती उपलब्धियाँ स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा निरूपित आर्यमार्ग में सुलभ हो जाती हैं ॥ ६८ ॥

---

१. माघः कविमूर्धन्यः शिशुपालवधमहाकाव्यस्य प्रणेता। प्रायः पण्डितानां समाजे 'माघे सन्ति त्रयो गुणाः' इति सूक्तिः श्रूयते।

२. स्वामिदयानन्दसरस्वती, प्रवर्तयिताऽऽर्यसमाजस्य । अनेन महात्मना पाखण्ड-प्रथा निन्दिता, वेदाभिमतव्यवहारः प्रतिष्ठापितः, तिमिरमुन्मूलितम्, समाजे प्रचलिताऽस्पृश्यता खण्डिता, स्वदेशीया हिन्दीभाषा आर्यधर्मश्च सुप्रचारितौ।

विज्ञाय मूलं विनिपातवर्त्मनामेकामविद्यामपरो यथा विधिः ।
सज्ज्योतिरार्षं श्रुतकल्पितं पुनः प्रज्वाल्य योऽनार्यतमिस्रहा बभौ ॥ ६९ ॥

विनिपातवर्त्मनां मूलम् एकाम् अविद्यां विज्ञाय, अपरः विधिः यथा श्रुतकल्पितम् आर्षं सज्ज्योतिः यः पुनः प्रज्वाल्य अनार्यतमिस्रहा बभौ ॥ ६९ ॥

अनेक प्रकार के अध.पतनों का मूल अविद्या को ही जानकर, दूसरे सृष्टिकर्ता ब्रह्मा की तरह, जो दयानन्द सरस्वती वेदसम्मत, ऋषि-अनुभूत ज्ञानज्योति को पुनः जलाकर पाखण्ड-तिमिर को नष्ट कर सफलमनोरथ हुए ॥ ६९ ॥

अम्भोधिवेलामिव दम्भपद्धतिं संरुध्य सत्यार्थमहीधरेण यः ।
मोहावलेपोद्भवभेदजर्जरां जातिं ध्रुवाध्यापयदार्यसंस्कृतिम् ॥ ७० ॥

यः सत्यार्थमहीधरेण अम्भोधिवेलाम् इव दम्भपद्धतिं निरुध्य मोहावलेपोद्भवभेदजर्जरां जातिं ध्रुवाः आर्यसंस्कृतिम् अध्यापयत् ॥ ७० ॥

(उन्होंने) समुद्र की लहरों के समान दम्भ-पद्धति को, पाखण्ड को सत्य-अर्थमय (सत्यार्थ-प्रकाश नामक ग्रन्थ) पर्वत से रोककर मोहमूलक गर्व से छिन्न-भिन्न आर्यजाति को पुनः आर्यसंस्कृति का महान् उपदेश सुनाया ॥ ७० ॥

स्नेहं धनुः सत्यमिषुं स्वलक्ष्यदं सत्याग्रहं वर्म विधाय संयुगे ।
शत्रूनहिंसाक्षतभिन्नचेतसो गान्धी[1] कृशोऽपीष्टपथेऽनयत् कृती ॥ ७१ ॥

संयुगे स्नेहं धनुः सत्यं स्वलक्ष्यदम् इषुम् सत्याग्रहं वर्म विधाय, कृशः अपि कृती गान्धी अहिंसाक्षतभिन्नचेतसः शत्रून् इष्टपथे अनयत् ॥ ७१ ॥

महान् कुशल महात्मा गांधी ने स्नेह को धनुष, सत्य को बाण तथा सत्याग्रह को कवच बनाकर युद्ध में अहिंसा के प्रहार से विदीर्णहृदय शत्रुओं को शुभ पथ में प्रतिष्ठित कर दिया ॥ ७१ ॥

नग्नोऽपि योऽपाकरणाय नग्नतां देशश्रियः प्रायतताऽत्मवेदिता ।
लोकं जहौ यो य पास्तविक्रियो लोकः सुखं जीवतु जन्मधामनि ॥ ७२ ॥

नग्नः अपि यः आत्मवेदिता देशश्रियः नग्नताम् अपाकरणाय प्रायतत यः लोकं जहौ यत् अपास्तविक्रियः लोकः जन्मधामनि सुखं जीवतु ॥ ७२ ॥

आत्मवेत्ता वे महात्मा स्वयं नग्न रहकर भी देशलक्ष्मी की नग्नता को ढँकने के लिये सतत प्रयत्नशील रहे। दुर्भावनारहित होकर लोग सुखपूर्वक जन्मभूमि में जीवनयापन करें—एतदर्थ उन्होंने अपने प्राणों तक की परवाह नहीं की ॥ ७२ ॥

---

१. महात्मा गान्धी—'बापू' इति ख्यातो राष्ट्रोद्धारको राष्ट्रपिता, यस्य सततप्रयत्न-समाराधिता सिद्धिरिव प्राप्ता स्वतन्त्रता भारतेन १९४७तमे ईशवीये वर्षे ।

साम्राज्यपाला अपि यस्य भाषितं भूत्यै निबद्धाञ्जलयः सिषेविरे ।
संसेवमानः श्वपचानसौ प्रभुं तेषां ददर्शोरसि ताडितोरसाम् ॥ ७३ ॥

यस्य भाषितं साम्राज्यपालाः अपि निबद्धाञ्जलयः भूत्यै सिषेविरे, श्वपचान् संसेवमानः असौ ताडितोरसां तेषाम् उरसि प्रभुं ददर्श ॥ ७३ ॥

जिनके मुख से निकली वाणी को बड़े-बड़े साम्राज्यों के शासक भी हाथ जोड़कर आत्मकल्याण के लिये ग्रहण करते थे उसी महात्मा ने अन्त्यजों की सेवा करते हुए उनके प्रताडित हृदयों में भगवान् के दर्शन किये [पौराणिक गाथा है कि विष्णु के हृदय पर भृगु ने चरणप्रहार किया था। सचमुच ईश्वर ही प्रताडित होकर भी सहन करते हैं। अतः सदा से प्रताडित हरिजन भी मूक भाव से इसे सहन करने के कारण महात्मा जी के लिए विष्णुरूप ही थे।] ॥ ७३ ॥

द्रष्टुं क्षमोऽन्धोऽपि यदद्य दृश्यते पङ्गुश्च विस्मापयति स्वविक्रमैः ।
उत्थाय वा स्वत्वमुपैति लुण्ठितस्तन्निश्चितं राष्ट्रपितुस्तपःफलम् ॥ ७४ ॥

अद्य यत् अन्धः अपि द्रष्टुं क्षमः दृश्यते, स्वविक्रमैः पङ्गुः च विस्मापयति, वा लुण्ठितः उत्थाय स्वत्वम् उपैति, निश्चितं तत् राष्ट्रपितुः तपःफलम् ॥ ७४ ॥

आज यदि अन्धा भी (जो उन्नति के प्रकाश से वञ्चित था) देख सकता है, यदि पंगु भी (जिसका मार्ग अवरुद्ध कर दिया गया था) अपनी तीव्र गति से दर्शकों को विस्मित कर देता है, यदि लुटा और प्रताडित भी उठकर अपना प्राप्य पा जाता है, तो निस्सन्देह यह राष्ट्रपिता गान्धीजी की तपःसाधना का ही फल है ॥ ७४ ॥

शक्तोऽपि योऽतिक्रमितुं शिलोच्चयान्[1] कुम्भोद्भवाघ्र्यानतनीलकन्धरः ।
प्रख्यापयन् भारतशिष्यगौरवं विन्ध्याद्रिरस्याः सबलोऽधिरक्षिता ॥७५॥

शिलोच्चयान् अतिक्रमितुं शक्तः अपि कुम्भोद्भवाघ्र्यानतनीलकन्धरः भारतशिष्यगौरवं प्रख्यापयन् यः विन्ध्याद्रिः अस्याः सबलः अधिरक्षिता (अस्ति) ॥ ७५ ॥

[अब कवि विन्ध्यप्रदेश का वर्णन करता है :] अपनी ऊँचाई से किसी भी उन्नत पर्वत के अतिक्रमण में सर्वथा समर्थ होने पर भी जो आज भी कुम्भोद्भव (अगस्त्य ऋषि) की प्रणति में अपने नीले कन्धे झुकाकर खड़ा है, मानो भारतीय

---

१. अगस्त्यमुनिशिष्यो विन्ध्याद्रिः। महोच्छ्रायं विन्ध्यगिरिमुल्लङ्घितुमक्षमे लोके स्वयं दक्षिणां दिशं जिगमिषुर्महर्षिः समागतः। गिरिस्तु विनयाच्चरणयोर्पपात। गुरुस्तु तं तस्यामेवावस्थायां स्थातुमुक्त्वा प्रतस्थे। इदानीमपि विनतो विन्ध्याद्रिः तं प्रतीक्षमाणस्तथैव तिष्ठति।

शिष्यों की आज्ञाकारिता के महत्त्व का गुणगान ही कर रहा है, वही शक्तिमान् विन्ध्यगिरि इस विन्ध्यप्रदेश का रक्षक है ॥ ७५ ॥

अद्रेः पतन्ती हृदयस्थलादधो विक्षोभयन्ती हठसिञ्चनैर्द्रुमान् ।
विभ्रामयन्ती द्विरदान् स्वदौजसा का नर्मदेवास्ति परापि नर्मदा ॥ ७६ ॥

अद्रेः हृदयस्थलात् अधः पतन्ती, हठसिञ्चनैः द्रुमान् विक्षोभयन्ती, स्वदौजसा द्विरदान् विभ्रामयन्ती नर्मदा इव परा अपि का नर्मदा अस्ति ॥ ७६ ॥

जो ऊँचे पर्वत के हृदय से सहसा नीचे गिर जाती है, तट के वृक्षों को बरबस अपने छींटों से भिगोती रहती है, हाथियों को भी अपने धक्के से (प्रवाह के वेग से) घुमाती रहती है, उस नर्मदा के समान दूसरी कौन 'नर्मदा' (परिहास करने वाली) है ? [नर्मदा उस युवती के समान है जो दायें-बायें पड़ने वालों को अनायास ही एक धक्का दे देती है। तटस्थों को भी उसकी छींटाकशी का शिकार होना पड़ता है।] ॥ ७६ ॥

चित्रैः स्वतन्त्रैर्मृगयाविहारिभिर्नृत्यज्जटैर्जुष्टगणैर्वनेचरैः ।
सङ्कृष्टचापैरभिनीयतेच्छविर्वन्यस्वरूपस्य पिनाकधन्विनः ॥ ७७ ॥

चित्रैः स्वतन्त्रैः मृगयाविहारिभिः नृत्यज्जटैः जुष्टगणैः सङ्कृष्टचापैः वनेचरैः वन्यस्वरूपस्य पिनाकधन्विनः छविः अभिनीयते ॥ ७७ ॥

विचित्र वेषभूषा वाले, स्वतन्त्र, आखेटप्रिय, धनुष चढ़ाये वनवासी जब अपने साथियों के साथ वेग से जटाएँ हिला-हिलाकर नृत्य करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है मानो किरातवेषधारी भगवान् पिनाकपाणि शंकर ही अपने गणों के सहित ताण्डव कर रहे हों ॥ ७७ ॥

पूर्वे यदास्वादफलेन सोमपाः[1] ख्याता लभन्ते श्रुतविश्रुतार्हणाम् ।
सोमोद्भवां[2] तत्कुलकीर्तिनन्दिनीं दृष्ट्वैव संरोहति तत्पदं मनः ॥ ७८ ॥

यदास्वादफलेन सोमपाः (इति) ख्याताः पूर्वे श्रुतविश्रुतार्हणां लभन्ते तत्कुलकीर्तिनन्दिनीं सोमोद्भवां दृष्ट्वा एव मनः तत्पदं संरोहति ॥ ७८ ॥

जिसका आस्वादन करने से पूर्वज 'सोमपा' (देवता) कहलाये तथा उन्हें इसी कारण वेदविहित गौरव प्राप्त है उनसे उत्पन्न, उस कुल की कीर्ति-कन्या (सोमोद्भवा) नर्मदा को देखने मात्र से ही लगता है, मानो सोमरस का पान किया गया हो [मन हर्षविह्वल हो जाता है] ॥ ७८ ॥

---

१. सोमपान करने वाले, देवता ।

२. सोमोद्भवा—सोम से उत्पन्न या नर्मदा । नर्मदा का नाम सोमोद्भवा है । सोम, एक तरह की लता जिसका रस मादक होता है ।

कूलद्रुमे पक्षतिलीनचञ्चवः श्यामान्तयामानिललब्धचेतनाः ।
कूजन्त एनां स्तवनैर्मनोहरैरुद्बोधयन्तीव शकुन्तशावकाः ॥ ७९ ॥

कूलद्रुमे पक्षतिलीनचञ्चवः श्यामान्तयामानिललब्धचेतनाः मनोहरैः स्तवनैः कूजन्तः शकुन्तशावकाः एनाम् उद्बोधयन्ति इव ॥ ७९ ॥

किनारे के पेड़ों पर अपने पंखों में चोंच डाले और रात्रि के अन्तिम प्रहर वाले ब्राह्मवेला के पवन से जगने वाले पक्षिशावकों का कूजता हुआ समूह मानो इस नर्मदा को मनोहर स्तुति से जगा रहा है ॥ ७९ ॥

उन्मज्जदुन्मत्तपुलिन्दकामिनीकेशस्खलत्पुष्पकलापगुम्फिता ।
मन्दानिलोल्लासितवीचिकम्पिता राजीवराजी रमतेऽमितच्छविः ॥ ८० ॥

उन्मज्जदुन्मत्तपुलिन्दकामिनीकेशस्खलत्पुष्पकलापगुम्फिता मन्दानिलोल्लासितवीचिकम्पिता अमितच्छविः राजीवराजिः रमते ॥ ८० ॥

नदी में स्नान करती मदमाती भील सुन्दरियों के शिथिल केशपाशों से पतित पुष्पमालाओं से गुम्फित और मन्द पवन के झोंके से उठती तरंगों से कुछ-कुछ कम्पमान, अत्यन्त शोभाशाली कमलों की पंक्ति आनन्द से झूम रही है ॥ ८० ॥

शक्ता त्रपापूरतमिस्रगह्वरे दिल्लीपतिं पातितुमाहवोद्धतम् ।
दुर्गावती[1] वीरवधूर्धरातले गौडेश्वरी केन न वन्द्यतेऽनघा ॥ ८१ ॥

आहवोद्धतं दिल्लीपतिं त्रपापूरतमिस्रगह्वरे पातितुं शक्ता अनघा गौडेश्वरी वीरवधूः दुर्गावती धरातले केन न वन्द्यते ॥ ८१ ॥

युद्धोन्मद दिल्लीपति (अकबर) को लज्जा से भरे अन्धकार के गह्वर में फेंक देने में समर्थ गोंडवाने की रानी वीरपत्नी निष्पाप दुर्गावती की इस धरातल पर कौन वन्दना नहीं करता ॥ ८१ ॥

विन्ध्येश्वरीस्निग्धदृगब्जलालितं दिल्लीशिरश्शूलमनाथबान्धवम् ।
बुन्देलसूनुं शिवराममारुतिं श्रीछत्रसालं न विदन्ति केऽवनौ ॥ ८२ ॥

विन्ध्येश्वरीस्निग्धदृगब्जलालितं दिल्लीशिरश्शूलम् अनाथबान्धवं शिवराममारुतिं बुन्देलसूनुं श्रीछत्रसालम् अवनौ के न विदन्ति ॥ ८२ ॥

---

१. दुर्गावती राज्ञो गोंडवानाराज्यस्य । राज्यविस्तारकांक्षिणो दिल्लीपतेरकबरस्य कुदृष्टिः गोंडवानाराज्ये पपात । तत्पुत्रं मुरादबख्शसंज्ञं प्रथमदिवसयुद्धे पराजित्य सा दुर्गरक्षणे तत्परा बभूव । द्वितीयेऽह्नि विभिद्योत्कोचैः मन्त्रिणः पुनर्मुगलसेनाऽरुणद्दुर्गम् ।
सुविक्रमा दुर्गावती युद्ध्यमाना निहता पपात ।

२. छत्रसालः—सततं युद्धमानो बहुसङ्कटपतितोऽपि न निजोद्यमविरतोऽभवत् । फलतश्चान्ते बुन्देलखण्डे स्वराज्य संस्थापयामास ।

विन्ध्येश्वरी के कृपापूर्ण कमलनेत्र से पालित, अनाथबन्धु, दिल्लीपति (अवरंगजेब) के सिर के भयंकर शूल, शिवराजरूपी राम के लिए वायुसुत हनुमान् के समान सहायक वीर बुन्देला महाराज छत्रसाल को इस पृथ्वी पर कौन नहीं जानता ? ॥ ८२ ॥

यो वेत्रवत्या जलमुज्ज्वलच्छवि शौर्यानुरागारुणमङ्कयन् मुहुः ।
स्नाताजिलक्ष्मीच्युतमण्डनद्रवैराश्वासयत् तामनु रञ्जयन्निव ॥ ८३ ॥

यः वेत्रवत्याः उज्ज्वलच्छवि जलं मुहुः शौर्यानुरागारुणम् अङ्कयन् स्नाताजिलक्ष्मीच्युतमण्डनद्रवैः ताम् (वेत्रवतीम्) अनुरञ्जयन् इव आश्वासयत् ॥ ८३ ॥

जिस छत्रसाल ने बेतवा नदी के उज्ज्वल-कान्ति जल को अपने शौर्य के अनुराग से रक्त बनाते हुए मानो नहाकर उठी समरलक्ष्मी के गिरे मण्डनद्रवों (रक्तधार) से ही उसे अनुरंजित कर आश्वस्त कर दिया [ज्ञातव्य है कि झाँसी तथा बुन्देलखण्ड में वेत्रवती (बेतवा) नदी बहती है ।] ॥ ८३ ॥

देव्यो विमुच्य स्तनकुङ्कुमद्रवं धृत्वा करालायसवर्म दुर्वहम् ।
यत्राहितानाजिमुखे जिघांसवः स्वातन्त्र्ययागोत्तमहव्यतां गताः ॥ ८४ ॥

यत्र आजिमुखे अहितान् जिघांसवः देव्यः स्तनकुङ्कुमद्रवं विमुच्य दुर्वहं करालायसवर्म धृत्वा स्वातन्त्र्ययागोत्तमहव्यतां गताः ॥ ८४ ॥

यहाँ वीराङ्गनाओं ने स्तन को सुशोभित करनेवाला अङ्गराग त्याग अपने वक्षों पर भारी लोहे का कवच धारण कर युद्धभूमि में शत्रु को विनष्ट करने के लिए स्वतन्त्रता संग्राम (१८५७ के राष्ट्रीय विद्रोह) के यज्ञ में अपना उत्तम बलिदान कर दिया ॥ ८४ ॥

वृत्तावशेषाऽपि शरीरिणीव सा दन्तग्रहाश्वस्तखलीनसैन्धवा ।
लक्ष्मी[1]र्लिखन्ती स्वयशोऽसिधारया चित्ते भवानीमवतारयत्यहो ॥ ८५ ॥

अहो ! वृत्तावशेषा अपि शरीरिणी इव दन्तग्रहाश्वस्तखलीनसैन्धवा असिधारया स्वयशः लिखन्ती सा लक्ष्मीः चित्ते भवानीम् अवतारयति ॥ ८५ ॥

यद्यपि रानी लक्ष्मीबाई आज नहीं हैं, फिर भी लगता है मानो दाँत से लगाम पकड़े घोड़े को युद्धक्षेत्र में सँभालती वे प्रत्यक्ष उपस्थित हैं । अपनी तलवार की धार से अपनी शौर्यगाथा लिखनेवाली वे झाँसी की राजदेवता चित्त में बरबस दुर्गा भवानी की स्मृति भर देती हैं ॥ ८५ ॥

---

१. झाँसीराज्यशासिका लक्ष्मीबाई अनुपमेयविक्रमवती दुर्गेव पूज्यते समुत्साहसम्पदा, युद्धकौशलेन, सैन्यसंव्यूहनप्रतिभया, निस्स्वार्थदेशसेवया स्वातन्त्र्याध्वरे समुज्ज्वलात्मबलिदानेन च । १८५७ विद्रोहे युद्धयमाना सा वीराङ्गना वीरगतिं लेभे ।

अद्यापि पुष्पोत्करवैभवे मधौ चूताङ्कुरास्वादरसोन्मदा प्रियम् ।
साकूतमुद्घोषितयौवनज्वरं तारं कलैराक्षिपतीव कोकिला ॥ ८६ ॥

अद्य अपि पुष्पोत्करवैभवे मधौ चूताङ्कुरास्वादरसोन्मदा कोकिला साकूतम् उद्घोषित-यौवनज्वरं प्रियं कलैः तारम् आक्षिपति इव ॥ ८६ ॥

आज भी पुष्पोल्लास से पूर्ण मधुमास में झाँसी के अञ्चलों में, आम्रकुञ्जों की सद्यःजात पत्तियों का रस पीकर उन्मत्त कोयल संकेतपूर्वक अपना यौवनज्वर विज्ञापित करनेवाले प्रिय कोकिल को अपनी 'कुहू' ध्वनि से मानो ताना मार रही है [कोयल मानो कहती है कि पुरुषों में यौवन कहाँ से आ गया, यदि था तो १८५७ के स्वातन्त्र्य विद्रोह में वह क्यों नहीं भभक पड़ा ?] ॥ ८६ ॥

अत्रैव खड्गैकसखोऽपि निर्भयं व्रीडाविपन्नेऽरिबले यथाऽऽर्जुनिः ।
तात्या[1] रिपूणां शपथीकृतस्थितिं व्यूहं विभिद्यालिखदात्मविक्रमम् ॥ ८७ ॥

अत्र एव आर्जुनिः यथा खड्गैकसखः अपि तात्या व्रीडाविपन्ने अरिबले रिपूणां शपथी-कृतस्थितिं व्यूहं निर्भयं विभिद्य आत्मविक्रमम् अलिखत् ॥ ८७ ॥

यहीं (विन्ध्यमेखला में) अकेले केवल तलवार को सङ्गिनी बनाकर अभिमन्यु के समान शौर्य से शत्रुओं को लज्जा के गर्त में डुबोते हुए वीर तात्या टोपे ने शत्रुओं द्वारा शपथपूर्वक दृढ निश्चय से रचे सैन्य-व्यूहन की जो दुर्भेद्यता अपनी तलबार से छिन्न-भिन्न कर दी वह मानो आत्मविक्रम का परिचय ही लिख दिया ॥ ८७ ॥

क्षेत्रेषु सिक्तेषु नवाङ्कुरच्छविः प्रत्यग्रवैदूर्यनवांशुकाम्बरा ।
संवर्धते यत्र सदुद्यमात्मनामाशेव हर्षेण सहोत्तमा कृषिः ॥ ८८ ॥

यत्र सिक्तेषु क्षेत्रेषु सदुद्यमात्मनां प्रत्यग्रवैदूर्यनवांशुकाम्बरा नवाङ्कुरच्छविः उत्तमा कृषिः आशा इव हर्षेण सह संवर्धते ॥ ८८ ॥

[अब कवि उत्तर-प्रदेश का वर्णन करता है :] यह वही उत्तर-प्रदेश है, जहाँ चारों ओर सींचे खेतों में वैदूर्य की नयी साड़ी में लिपटी नवांकुरों की हरी शोभा से भरपूर, उद्यमशील कर्मठ किसानों के बढ़ते हुए हर्ष के साथ, उनकी शुभाशा के समान उत्तम खेती बढ़ रही है ॥ ८८ ॥

सद्योऽभिषेकस्फुटगौरिमश्रिया नक्षत्रपुष्पाञ्चितनैशकुन्तलैः ।
प्राणान् समुत्कण्ठयतीव निस्सहाञ्ज्योत्स्ना नभःकुट्टिमपीठनन्दिनी ॥ ८९ ॥

---

१. तात्याटोपे, १८५७ विद्रोहस्याप्रतिमो मराठासेनानीः । सर्वथा निहतप्रायेषु सैनिकेषु पलायिते विनष्टे च स्वपक्षे स्वशौर्यनिर्भरः तात्या द्विवर्षं रिपुसेनापतीन् प्रतिपदं पराजित्य सर्वथा सन्नद्धानपि निबद्धोऽन्ते ।

सद्योऽभिषेकस्फुटगौरिमश्रिया नक्षत्रपुष्पाञ्चितनैशकुन्तलैः नभःकुट्टिमपीठनन्दिनी ज्योत्स्ना निस्सहान् प्राणान् समुत्कण्ठयति इव ॥ ८९ ॥

रात्रि में निर्मल आकाश में छिटकी चाँदनी हृदय को बहा ले जाती है। तुरत स्नान के कारण विकसित गौर कान्ति की शोभा से, तारकपुष्पों से अलंकृत काले केशपाश से सजी, आकाश के सुचिक्कण आँगन में शुभासन पर बैठी मनोहर चाँदनी निस्सहाय प्राणों में मानो एक विचित्र अनिर्वचनीय उत्कण्ठा भर देती है ॥ ८९ ॥

सप्तच्छदाऽऽमोदवता निशात्यये किञ्चित्तुषारोदितशैत्यवर्तिना ।
शीतागमस्निग्धकथामिवावनिर्यत्राभिधातुं पवनेन सेव्यते ॥ ९० ॥

यत्र निशात्यये सप्तच्छदाऽऽमोदवता किञ्चित्तुषारोदितशैत्यवर्तिना पवनेन शीतागम-स्निग्धकथाम् अभिधातुम् इव अवनिः सेव्यते ॥ ९० ॥

जहाँ की धरती पर शरद् ऋतु के अवसान में कुछ रात शेष रहने पर ब्राह्म-वेला में तुषार के कारण बढ़ती ठण्ढक वाला, सप्तपर्ण (छितवन) की मादक गन्ध से मिश्रित पवन आने वाले शीत ऋतु की मधुर चर्चा करता बहता रहता है ॥ ९० ॥

ग्रीष्मे व्रजन्त्यां निशि सम्भृतश्रमस्वेदाङ्कुरोद्भिन्नमुखेन्दुमण्डला ।
अन्धोऽपदेशादिव गीतनन्दिनी चक्रोदरे चूर्णयतेऽङ्गनाऽलसम् ॥ ९१ ॥

ग्रीष्मे व्रजन्त्यां निशि सम्भृतश्रमस्वेदाङ्कुरोद्भिन्नमुखेन्दुमण्डला गीतनन्दिनी अङ्गना अन्धोऽपदेशात् अलसम् इव चक्रोदरे चूर्णयते ॥ ९१ ॥

बीती हुई ग्रीष्म-रजनी के अन्तिम प्रहर में, परिश्रम के कारण उत्पन्न स्वेद-कण से युक्त मुखमण्डल वाली, गीत गाती हुई गृहिणी जाँत में अन्न के बहाने मानो आलस्य ही पीस देती है [प्रदेश के ग्रामीण अञ्चलों में प्रायः रात के अन्तिम प्रहर में जाँत में गेहूँ आदि पीसती, साथ ही कुछ गीत गुनगुनाती कृषक वधुएँ वातावरण को संगीत से भर देती हैं।] ॥ ९१ ॥

एकं यमालम्ब्य समुज्झितक्लमो विस्मृत्य वेदस्मृतिपद्धतीरपि ।
इष्टेषु लोको रमते यदद्य तद् रामाश्रयं तं तुलसीमुपास्महे ॥ ९२ ॥

यम् एकम् आलम्ब्य समुज्झितक्लमः वेदस्मृतिपद्धतीः अपि विस्मृत्य लोकः यत् अद्य इष्टेषु रमते तत् रामाश्रयं तं तुलसीम् उपास्महे ॥ ९२ ॥

---

१. गोस्वामितुलसीदासः—स्वनामधन्यो राममक्तोऽयम्महात्मा महान् सारस्वततीर्थः। रामचरितमानसाभिधस्य अवधीभाषायां रामायणकथाकाव्यस्य कविरयम्। आदिकवेरनन्तरमय-मेको कविः यस्य रचना प्रतिजनं प्रतिकण्ठं स्फुटति भारते निरन्तरम्। विश्ववाङ्मयमौलिमणि-रयम्महाकविः।

चित्त की विकलता छोड़कर, वेद-शास्त्रों के क्लिष्ट विधानों से मुक्त होकर भी जिस एक मात्र अवलम्ब का आश्रय ग्रहण कर भारतीय समाज आज अपने अभीष्ट परितोष को प्राप्त करता है, श्रीराम के अनन्य भक्त उन गोस्वामी तुलसीदास को नमस्कार है ॥ ९२ ॥

रत्नावली[1] नन्दतु सा मनस्विनी मोहासवं तच्च निपीतसंशयम् ।
यद्योगमालम्ब्य सरस्वती स्वयं गोस्वामिरागेऽलभतात्मनिर्वृतिम् ॥ ९३ ॥

सा मनस्विनी रत्नावली नन्दतु, निपीतसंशयं तत् मोहासवं च (नन्दतु), यद्योगम् आलम्ब्य स्वयं सरस्वती गोस्वामिरागे आत्मनिर्वृतिम् अलभत ॥ ९३ ॥

उस देवी रत्नावली की जय हो, संशयविहीन गोस्वामी जी का वह महामोह भी स्तुत्य है जिसके विचित्र योग पर सरस्वती ने स्वयं गोस्वामी जी के अनुराग में आत्माभिलषित आध्यात्मिक आनन्द प्राप्त किया ॥ ९३ ॥

क्षुद्रोदरं देहभृतां स्वशासने धिक्तान्न ये भर्तुमपीश्वरा नृपाः ।
व्याप्यापि लोकान् यदनन्तमेव तद् व्याप्नोति चित्तं तुलसीं विहाय कः ॥९४॥

ये नृपाः स्वशासने देहभृतां क्षुद्रोदरम् अपि भर्तुं न ईश्वराः तान् धिक् । लोकान् व्याप्य अपि यत् अनन्तम् एव तत् चित्तं तुलसीं विहाय कः व्याप्नोति ॥ ९४ ॥

उन राजाओं को धिक्कार है जो अपने शासन में जनता के क्षुद्र पेट को भरने में भी समर्थ नहीं हो पाते । जो चित्त सम्पूर्ण लोकों को व्याप्त करके भी कभी पूरा नहीं होता उस चित्त को भी अनायास भर देने वाला, परिपूर्ण बना देने वाला तुलसीदास को छोड़कर दूसरा कौन है ! [गोस्वामीजी ने अपनी रामकथा से चञ्चल चित्त को भी निष्काम बना दिया, उनका काव्यामृत पान करने के बाद कोई कामना शेष नहीं रह जाती ।] ॥ ९४ ॥

अंसे स्थिरं लाङ्गलदण्डमावहन्नुष्णीषशीर्षो वृषवर्त्मपद्धतिः ।
पृथ्वीं नवोद्योगमखस्थलीं प्रगे यः सानुगृह्णाति हलीव हालिकः ॥ ९५ ॥

यत्र प्रगे अंसे लाङ्गलदण्डं स्थिरम् आवहन् उष्णीषशीर्षः वृषवर्त्मपद्धतिः हालिकः हली इव नवोद्योगमखस्थलीं पृथ्वीम् अनुगृह्णाति ॥ ९५ ॥

प्रातःकाल कन्धे पर दृढ़तापूर्वक हल लिये, सर पर पगड़ी बाँधे, बैलों के पीछे चलता हुआ (धर्ममार्ग का अनुसरण करता हुआ) हलवाहा नवीन मंगलमय आयोजनों की यज्ञस्थली (नये शौर्यपूर्ण प्रयोग की यज्ञवेदी) पृथ्वी को हलधारी बलराम जी के समान कल्याणमयी बनाने जा रहा है ॥ ९५ ॥

१. रत्नावली—प्रिया गोस्वामिनः । स्वस्यामनुरागातिशयं विचिन्त्य भर्तुः एकदा निशीथे तद्वियोगमसहमानमत एव नदीमुत्तीर्य श्वशुरपुरमागतं प्रियमुपदिदेश सा विनश्वरपार्थिव-रूपासक्तित्यागाय । तदनन्तरमेव वैराग्यभरे पथि चित्तं बबन्ध महात्मा ।

पीताम्बराः सर्षपपुष्पवैभवे पूर्वं वसन्तादपि कर्षकात्मजाः ।
पान्थाननायासनिसर्गपिच्छिलैर्गीतैः समेऽपि स्खलयन्ति वर्त्मनि ॥ ९६ ॥

वसन्तात् अपि पूर्वं सर्षपपुष्पवैभवे पीताम्बराः कर्षकात्मजाः अनायासनिसर्गपिच्छिलैः गीतैः पान्थान् समे अपि वर्त्मनि स्खलयन्ति ॥ ९६ ॥

जहाँ वसन्तमास के आगमन के पहले ही फूले हुए पीले सरसोंवाले वैभव में पीले वस्त्रोंवाली किसानों की बालिकायें स्वभावतः स्निग्ध सरस गीतों की ध्वनि-माधुरी से समतल मार्ग पर भी पथिकों को बरबस फिसल जाने को बाध्य कर देती हैं ॥ ९६ ॥

बद्धाङ्घ्रयो लम्बिकबन्धपङ्क्तयो मार्गोभयप्रान्तरुहेषु शाखिषु ।
स्वातन्त्र्यसिद्ध्यै कृतनिश्चयात्मनां भीमं वितेनुर्हठयोगमद्भुतम् ॥ ९७ ॥

मार्गोभयप्रान्तरुहेषु शाखिषु स्वातन्त्र्यसिद्ध्यै कृतनिश्चयात्मनां बद्धाङ्घ्रयः लम्बिक-बन्धपङ्क्तयः अद्भुतं भीमं हठयोगं वितेनुः ॥ ९७ ॥

सड़क के दोनों ओर उगे हुए पेड़ों पर बँधे हुए पैरों वाली नीचे लटकी हुई शिरविहीन लाशों ने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए सङ्कल्पित प्राणोंवाले व्यक्तियों के भयंकर हठयोग का प्रदर्शन किया [१८५७ के सैनिक विद्रोह को दबाकर अंग्रेजों ने जनरल नील की देखरेख में हजारों निरपराध लोगों को बनारस-इलाहाबाद-सड़क के दोनों तरफ के पेड़ों पर शिर कटवा कर उल्टे टँगवा दिया था] ॥ ५७ ॥

कृत्तस्तनैश्छिन्नशिरोभिरीदृशं क्रूरारिहिंसाकटुकोपकाङ्क्षितैः ।
भोगावमोहोत्थितपूर्वजैनसो दास्यस्य लोकः प्रतियत्नमाचरत् ॥ ९८ ॥

क्रूरारिहिंसाकटुकोपकाङ्क्षितैः कृतस्तनैः छिन्नशिरोभिः भोगावमोहोत्थितपूर्वजैनसः दास्यस्य लोकः ईदृशं प्रतियत्नम् आचरत् ॥ ९८ ॥

क्रूर शत्रु के विषम क्रोध के फलस्वरूप अपनी महिलाओं के स्तन तथा पुरुषों के सिर कटवा कर, भारतीय समाज ने पूर्वजों द्वारा स्वार्थ एवं भोग के मोह में किये राष्ट्रघातरूपी पाप से उत्पन्न दासता के प्रतिरोध में अपना कुछ योगदान दिया [इन घटनाओं की पुनरावृत्ति कहीं-कहीं १९४२ के आन्दोलन में भी हुई ।] ॥ ९८ ॥

स्वातन्त्र्यवाताञ्चितवीचिविभ्रमा नित्यं नवोत्साहभराऽपि किं न्वियम् ।
विस्मर्तुमद्य क्षमते तमद्भुतं शौर्याभियोगं स्वजनेषु गोमती ॥९९॥

स्वातन्त्र्यवाताञ्चितवीचिविभ्रमा नित्यं नवोत्साहभरा अपि इयं गोमती स्वजनेषु तम् अद्भुतं शौर्याभियोगम् अद्य विस्मर्तुम् क्षमते किं नु ॥ ९९ ॥

आज स्वतन्त्रता के वातावरण में पवनान्दोलित लहरों की शोभावाली, नवीन-उत्साह-सम्पन्न यह गोमती भला किस प्रकार अपने लोगों में उस समय (१८५७) उमड़े हुए शौर्यपूर्ण विक्रम को विस्मृत कर सकती है ! ॥ ९९ ॥

स्वातन्त्र्यविद्रोहपरेष्टिदीक्षिताः सन्तर्प्य कण्ठक्षतजैर्धरातृषम् ।
तैरेव देशार्जितदास्यकच्चरं संश्चक्रुरम्भः सरितोऽपि नाकिनाम् ॥१००॥

स्वातन्त्र्यविद्रोहपरेष्टिदीक्षिताः कण्ठक्षतजैः धरातृषं तैः एव नाकिनां सरितः अपि देशार्जितदास्यकच्चरम् अम्भः संश्चक्रुः ॥ १०० ॥

१८५७ के स्वतन्त्र्य-विद्रोह के महायज्ञ में दीक्षित भारतीय वीरों ने अपने गले के खून से भारत भूमि की प्यास बुझाकर, उसी खून की धार से, देवनदी गङ्गा जी के उस जल को भी परिशुद्ध कर दिया जो देश द्वारा उपार्जित गुलामी के कचरे से गँदला हो गया था [ज्ञातव्य है कि १८५७ के महान् विद्रोह में बाबू कुवरसिंह का अद्वितीय योगदान रहा। उस वीरकेसरी ने शाहाबाद वाराणसी जौनपुर गाजीपुर के मध्यवर्ती अञ्चलों में गङ्गा तथा गोमती के कछारों में विदेशियों को दीर्घकाल तक पराजय का भागी बनाया था।] ॥ १०० ॥

सञ्जीवनं दैन्यनिरस्तचेतसामाशा विधीनां वसतिर्निरोकसाम् ।
यो भारतीयोरसि रक्षितो निधिर्जातस्तटेऽस्याः स मणिर्जवाहरः ॥१०१॥

यः दैन्यनिरस्तचेतसां सञ्जीवनं, विधीनाम् आशा, निरोकसाम् वसतिः, भारतीयोरसि रक्षितः निधिः, सः मणिः जवाहरः अस्याः (देवसरितः) तटे जातः ॥ १०१ ॥

गरीबों से कराहते हुए हृदय के लिए सञ्जीवन, महान् प्रयत्नों के लिए आशा, आश्रयहीन प्राणियों के लिए आश्रय तथा भारतीय मानस के सुरक्षित निधि वे मणिकल्प पं० जवाहरलाल नेहरू[1] इसी देवनदी गङ्गा के तट पर उत्पन्न हुए थे ॥१०१॥

कारासु बद्धेन चरित्रभूतिना तप्त्वा तपो येन विमुक्तसाध्वसम् ।
सर्वत्र दास्यार्गलयन्त्रितोरसो जुष्टाः क्षितौ के न शरीरिणो हठात् ॥१०२॥

कारासु बद्धेन चरित्रभूतिना येन विमुक्तसाध्वसं तपः तप्त्वा क्षितौ सर्वत्र दास्यार्गलयन्त्रितोरसः के शरीरिणः, हठात् न जुष्टाः ॥ १०२ ॥

जेल के सीकचों में बन्द रहकर अपूर्व चारित्रिक सम्पत्तिवाले उस महान् त्यागी ने प्रत्येक दुःख को निर्भयतापूर्वक सहकर इस पृथ्वी पर चारो ओर दासता के बन्धन में पड़े हुए किस देश या समाज के लिए दृढ़तापूर्वक अपना योगदान नहीं किया ? ॥ १०२ ॥

एकोऽपि विस्रम्भ इवाचलो युगे यूनां शिशूनां जरसामयाचितः ।
गोप्ता स्वदेशाभ्युदयाध्वरोद्यमं रक्षोऽन्तरायात् परिपाति सन्ततम् ॥१०३॥

यूनां शिशूनां जरसाम् (च) अयाचितः एकः अपि युगे विस्रम्भ इव अचलः गोप्ता रक्षोऽन्तरायात् स्वदेशाभ्युदयाध्वरोद्यमं सन्ततं परिपाति ॥ १०३ ॥

१. पण्डित जवाहरलाल नेहरूः—युवकहृदयसम्राडिति ख्यातो निर्माताऽऽधुनिकभारतस्य, स्वातन्त्र्यसेनानीः प्रथमः प्रधानमन्त्री स्वतन्त्रभारतदेशस्य ।

इस शंकालु युग में भी बच्चों-युवकों-बूढों का एकमात्र अचल विश्वासभाजन वह राष्ट्रप्रहरी देशरक्षक, स्वदेश की उन्नति के यज्ञानुष्ठान की राक्षसरूपी विघ्न-बाधाओं से सदा तत्परतापूर्वक रक्षा करता है ॥ १०३ ॥

कल्पद्रु मे भैक्ष्यकरेऽपि देहिनां वन्द्याङ्घ्रिपांसावपि लोकसेविनि ।
विद्यागुरौ चापि वयोवटुप्रथे के मालवीये[1] नहि शिष्यतामिताः ॥१०४॥

भैक्ष्यकरे अपि देहिनां कल्पद्रुमे, वन्द्याङ्घ्रिपांसौ अपि लोकसेविनि, विद्यागुरौ अपि वयोवटुप्रथे मालवीये के शिष्यतां नहि इताः ॥ १०४ ॥

लोक के लिए कल्पद्रुम होते हुए भी महान् भिक्षुक, वन्दनीय चरणधूलिवाले होकर भी समाज के सेवक, विद्या के एकमात्र स्थल होकर भी जीवनपर्यन्त शिष्यरूप में रहनेवाले महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय की किसने शिष्यता स्वीकार नहीं की ॥ १०४ ॥

विद्याद्वयानन्तमहीरुहं कृती संस्थालवाले सुरसिन्धुरोधसि ।
संवर्धयन् स्नेहसुधारसैरसौ पात्रत्वमापूरयतीह सत्फलैः ॥१०५॥

असौ कृती सुरसिन्धुरोधसि संस्थालवाले विद्याद्वयानन्तमहीरुहं स्नेहसुधारसैः संवर्धयन् इह पात्रत्वं सत्फलैः आपूरयति ॥ १०५ ॥

भागीरथी के पावन तट पर संस्थारूपी बाग में वे कर्तव्यशील विविध शाखा-पल्लवोंवाली अभेदमूलक विद्या के विशाल वृक्ष को रोपित कर स्नेहधार से सींचते हुए उसे पाल-पोसकर बड़ा बनाकर, उसके सुन्दर फल से पात्रों की (विद्यार्थियों की) प्रतिष्ठा करते हैं [विद्यादान द्वारा छात्रों को पूर्णता प्रदान करते हैं ।] ॥ १०५ ॥

पाथोदखण्डैः क्षणनिर्मितच्छदैर्जुष्टा रसालालससौरभावनिः ।
शीर्षं समारोहति रश्मिमालिनि सुप्तां स्मृतिं जीवयतीव निस्स्वनम् ॥१०६॥

पाथोदखण्डैः क्षणनिर्मितच्छ दैर्जुष्टा रसालालसौरभावनिः रश्मिमालिनि शीर्षं समारोहति सुप्तां स्मृतिं निस्स्वनं जीवयति इव ॥ १०६ ॥

दोपहरी में रश्मिमाली सूर्य शिर के ऊपर आसमान में तपने लगते है। जब आकाश में तैरते हुए बादलों के टुकड़े क्षण भर के लिए छाया उत्पन्न कर धूप-छाँह की आँखमिचौनी खेलते रहते हैं तब आम्रकुञ्जों के आलस्य-मन्थर सुगन्ध से भरी पृथ्वी निश्शब्द, पुरानी स्मृतियों को कुरेद कर उज्जीवित सी कर देती है ॥ १०६ ॥

१. महामनाः पं० मदनमोहनमालवीयः—महान् शिक्षाशास्त्री, शिक्षकः स्वातन्त्र्यसंघर्ष-नेता वरिष्ठो विदुषाम् । अनेन हिन्दुसमाजविनिपातपरिखिन्नेन सर्वापदाम्मूलमविद्यां परिज्ञाय तन्निवारणाय काश्यां गङ्गातटे काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालयः स्थापितः । अद्वितीयोऽयं देशे विश्वविद्यालयानाम् ।

दुर्वार्यमुद्यन्नृपखेचरैरपि सान्द्रं तमो यद् ववृधे निरन्तरम् ।
एकेन निर्धूय तदद्य सेव्यते पृथ्वी प्रजातन्त्रनवेनतेजसा ॥१०७॥

उद्यन्नृपखेचरैः अपि दुर्वार्यं सान्द्रं यत् तमः निरन्तरं ववृधे तत् अद्य एकेन प्रजातन्त्रनवेनतेजसा निर्धूय पृथ्वी सेव्यते ॥ १०७ ॥

टिमटिमाते हुए अनेक नृपरूपी तारागणों के रहते जो दुर्वार्य अन्धकार पहले निरन्तर बढ़ता रहा उसी को प्रजातन्त्र के एक नवीन सूर्य का प्रकाश नष्ट कर पृथ्वी की सेवा कर रहा है ॥ १०७ ॥

जित्वा मरुं दग्धकृषीवलस्पृहं वन्ध्याऽपि भूरर्बुदशैलमेखला ।
उत्कृष्टसस्याङ्कुरगर्भगौरवैरानन्द्यते यत्र नवाब्जसृतिभिः ॥१०८॥

यत्र दग्धकृषीवलस्पृहं मरुं जित्वा उत्कृष्टसस्याङ्कुरगर्भगौरवैः नवाब्जसूतिभिः वन्ध्या अपि अर्बुदशैलमेखला भूः आनन्द्यते ॥ १०८ ॥

जहाँ किसानों के मनोरथ को जला देनेवाली मरुभूमि को जीतकर अर्बुदगिरि की मेखला में फैली बालू से भरी वन्ध्या धरती को नवीन सृष्टिकर्ताओं (इञ्जीनियरों) ने उत्तम जाति के अनाजों के हरे-भरे अंकुरों की शोभा से हर्षित कर दिया है [पहले जो धरती बालू से भरी थी, जहाँ कुछ भी उत्पन्न नहीं होता था वहाँ आज सिंचाई के साधनों द्वारा उत्तम खेती होती है ।] १०८ ॥

नूनं भविष्यद् गुरुशिष्यमानसे शब्दा दुरध्वाऽपपथादयो हठात् ।
नेष्यन्ति कोशस्थितयः कुतूहलं देशे नवोद्योगनवीकृताध्वनि ॥१०९॥

भविष्यद्गुरुशिष्यमानसे कोशस्थितयः दुरध्वाऽपपथादयः शब्दाः नूनं नवोद्योगनवीकृताध्वनि देशे हठात् कुतूहलं नेष्यन्ति ॥ १०९ ॥

नित्य बढ़ते हुए उद्योगों के जाल को सँभालने, ढोने के लिए अनेक सड़कों के निर्माण हो जाने के कारण आज प्रचलित अनेक शब्द जैसे 'दुरध्वा' (बुरा रास्ता) 'अपपथ' (पथहीन) आदि भविष्य में केवल कोशों में ही मिलेगें । भारत भूमि पर नित्य नवपथ-निर्माण के कारण कहीं भी उनका अस्तित्व न होगा । सचमुच तब उस भविष्यत्कालीन भारत में गुरुजनों तथा छात्रों के मन में इन शब्दों (दुरध्वा, अपपथ आदि) से बड़ा कौतूहल होगा । उन्हें कोश देखना होगा ॥ १०९ ॥

या स्वप्नलक्ष्मीरिव कौतुकं दृशां सौन्दर्यविद्युत् स्फटिके प्रतिष्ठिता ।
शिल्पाधिपत्यं वितनोति निर्मितौ[1] ताजस्वरूपाभिनवा क्षणे क्षणे ॥११०॥

दृशां कौतुकं स्फटिके प्रतिष्ठिता या क्षणे क्षणे अभिनवा ताजस्वरूपा सौन्दर्यविद्युत् स्वप्नलक्ष्मीः इव निर्मितौ शिल्पाधिपत्यं वितनोति ॥ ११० ॥

१. ताजमहलम्—आगरानगरे दिल्लीपतिना शाहजहाँभिधेन मृतायाः प्रियतमायाः स्मृतौ निर्मितं सुषमायतनं सौधम् ।

जो स्वप्नलक्ष्मी के समान दृष्टि का कौतूहल है, जो निर्माण में मानवीय कला के शिल्पविधान का आधिपत्य प्रतिष्ठित करता है उस प्रतिक्षण अभिनव प्रतीत होनेवाले ताजमहल के रूपसौन्दर्य की बिजली ही संगमर्मर में उभार दी गयी है ॥ ११० ॥

नूनं विलोक्य प्रतिवर्त्म चीवरं लोलाञ्चलाः पुष्पपुराङ्गनाः पुरा ।
भिक्षून् पुनाना मदिराक्षिदीक्षया देशं विहाराह्वयतां समादिशन् ॥१११॥

नूनं पुरा प्रतिवर्त्म चीवरं विलोक्य लोलाञ्चलाः पुष्पपुराङ्गनाः मदिराक्षिदीक्षया भिक्षून् पुनानाः देशं विहाराह्वयतां समादिशन् ॥ १११ ॥

सचमुच पूर्वकाल में प्रत्येक मार्ग पर चीवरधारी भिक्षुओं को देखकर पाटलिपुत्र की चञ्चल आँचलोंवाली युवतियों ने उन्हें उन्मद नयनों की दीक्षा से पवित्र बनाकर इस प्रदेश को ही 'विहार' नाम दे दिया ॥ १११ ॥

यस्यार्यशौर्यं विषमोत्तरापथे मौर्यस्य[1] मुक्ताजिकथेषु राजसु ।
स्वप्नेऽपि मुग्धारिवधूजनाधरे व्यापारयामास रदक्षतच्छविम् ॥११२॥

विषमोत्तरापथे यस्य मौर्यस्य आर्यशौर्यं राजसु मुक्ताजिकथेषु मुग्धारिवधूजनाधरे स्वप्ने अपि रदक्षतच्छविं व्यापारयामास ॥ ११२ ॥

जिस चन्द्रगुप्त मौर्य के आर्य विक्रम ने अशान्त उत्तरापथ में राजाओं के युद्ध-कथा से विरत हो जाने पर, (उसके मनोहर रूप के कारण) मुग्ध शत्रु-कामिनियों के अधरों पर स्वप्न में भी रदक्षत की शोभा अंकित कर दी [चन्द्रगुप्त के उदात्त रूप पर मुग्ध रिपु-सुन्दरियाँ स्वप्न में उसी को मानो पाकर अपने अधरोष्ठों पर दन्त-क्षत कर देती थीं ।] ॥ ११२ ॥

निश्शेषसौभाग्ययशस्कलानिधौ देवेन्द्रलक्ष्मीरभिसारिकेव सा ।
रेमे सतीवाग्निसखे[2] वशंवदा मुक्त्वा स्वभावास्थिरतामपि क्षणात् ॥११३॥

अभिसारिका इवसा देवेन्द्रलक्ष्मीः स्वभावास्थिरताम् अपि क्षणात् मुक्त्वा निश्शेष-सौभाग्ययशस्कलानिधौ अग्निसखे वशंवदा सती इव रेमे ॥ ११३ ॥

निश्शेष सौभाग्य-यश के चन्द्रमा अग्निमित्र में इन्द्र की प्रसिद्ध राजलक्ष्मी अभिसारिका के समान वशवर्तिनी बनकर अपनी स्वाभाविक चञ्चलता को त्यागकर सदा सती की भाँति समर्पितहृदया बनी रही ॥ ११३ ॥

---

१. चन्द्रगुप्तमौर्यः—कौटिल्यशिष्योऽयं मौर्यसाम्राज्यसंस्थापकः । उत्तरापथं विजित्य ग्रीकबलं निहत्य सेनापतेरयं सिल्यूकसस्य तनयामुपयेमे ।

२. अग्निमित्रः—शुङ्गवंशोद्भवः पुष्यमित्रपुत्रः, पितरि हयमेधयज्ञयजमाने यज्ञीयाश्व-रक्षाकर्मणि नियुक्तोऽयं निखिलमुत्तरापथं जयन्नरपतीन् बभ्राम ।

विद्यापतेः[1] काव्यपदार्थदीपिका वन्द्या न किन्ता मिथिलामृगीदृशः ।
लोकैकलक्ष्योऽपि शशाक नावितुं या वीक्ष्य चेतः पुरुषोत्तमोऽप्यसौ ॥११४॥

विद्यापतेः काव्यपदार्थदीपिकाः ताः मिथिलामृगीदृशः किं न वन्द्याः याः वीक्ष्य लोकैकलक्ष्यः अपि असौ पुरुषोत्तमः अपि चेतः अवितुं न शशाक ॥ ११४ ॥

विद्यापति ठाकुर के काव्यपद के अर्थ को स्पष्ट करनेवाली टीकास्वरूप मिथिला की उन हरिणाक्षियों की प्रशंसा क्यों न की जाय जिन्हें देखकर निखिल विश्व के लक्ष्य, पुरुषों में उत्तम भगवान् भी अपने मन को न रोक सके ॥ ११४ ॥

कारालये राष्ट्रपतेः पदेऽपि वा ग्रामीणलोके विदुषां सभासु वा ।
स्निग्धार्जवः सार्वजनीनजीवनो राजेन्द्रबाबू[2]र्जनको यथात्मवान् ॥११५॥

कारालये राष्ट्रपतेः पदे अपि वा, ग्रामीणलोके विदुषां सभासु वा स्निग्धार्जवः सार्वजनीनजीवनः राजेन्द्रबाबूः जनकः यथा आत्मवान् । ११५ ॥

जेल में अथवा राष्ट्रपतिभवन में, गाँववालों के बीच या विद्वानों की सभा में, सदा स्पृहणीय सरलता की मूर्ति, सम्पूर्ण जीवलोक की कल्याणकामना करनेवाले राष्ट्रपति राजेन्द्रबाबू जनक (विदेहराज) के समान आत्मस्थित थे ॥ ११५ ॥

वेणुर्यथाराधितवाद्यसङ्गतौ चेतस्समाधिं तनुते मधुस्वनः ।
श्यामेव सौन्दर्यविभूतिदर्शने वङ्गावनिः किन्न तथैति गौरवम् ॥११६॥

आराधितवाद्य सङ्गतौ मधुस्वनः वेणुः यथा चेतस्समाधिं तनुते, सौन्दर्यविभूतिदर्शने श्यामा इव वङ्गावनि, तथा गौरवं न एति किम् ॥ ११६ ॥

जिस प्रकार अनेक वाद्ययन्त्रों के समूह में वेणु अपनी स्वरमाधुरी से चित्त को समाधि-निमग्न कर देता है वैसे ही सौन्दर्यविभूति के दर्शन में क्या यह वंग-भूमि श्यामा (किशोरी) के समान उसी चेतस्समाधि उत्पन्न करनेवाले यश का गौरव नहीं प्राप्त करती ? ॥ ११६ ॥

माधुर्यपूरैः सहजं वचो दृशौ स्नेहद्रवैरङ्गमनूह्यमार्दवैः ।
निर्माय वङ्गप्रकृतिं मनोभवः प्रस्तौति लोकस्थितये नवो विधिः ॥११७॥

नवः विधिः मनोभवः माधुर्यपूरैः सहजं वचः, स्नेहद्रवैः दृशौ, अनूह्यमार्दवैः अङ्गम्, निर्माय वङ्गप्रकृतिं लोकस्थितये प्रस्तौति ॥ ११७ ॥

---

१. विद्यापतिः मैथिलमहाकविः । शृङ्गाररसपेशलाऽस्य मणितिः । कीर्तिलता-पुरुष-परीक्षादयोऽस्य ग्रन्थाः ।

२. बाबूराजेन्द्रप्रसादः—प्रथमो राष्ट्रपतीनां स्वतन्त्रे भारते । अतिवाहितं वयोऽनेन नेतृभिस्सह कारागारे । महात्मनः शिष्यतामङ्गीकृत्य विमुक्तसर्वकामनः दलितजनदुःखनिवारणाय कृतबहुविधप्रयत्नः स्वातन्त्र्यसंघर्षसेनानी सरलस्वभावोऽयं सर्वजनप्रियोऽभवत् ।

माधुर्यराशि से सहज वाणी को, स्नेहद्रव से आँखों को, अतर्क्य मृदुता से अंगों को निर्मित करके नवीन सृष्टिकर्ता कामदेव ही मानो लोकस्थिति को सम्पन्न, स्वस्थ बनाने के लिए वंगप्रकृति को प्रस्तुत कर रहे हैं ॥ ११७ ॥

पुष्पर्द्धिमासोऽनुचरो यथा स्वयं पाथोजपुष्पैरलिगुञ्जनारवैः ।
यत्राङ्गनानां नयनेङ्गिताशयो वापीं तडागञ्च बिभर्ति नित्यशः ॥११८॥

यत्र अङ्गनानां नयनेङ्गिताशयः पुष्पर्द्धिमासः अनुचरः यथा स्वयं अलिगुञ्जनारवैः पाथोजपुष्पैः वापीं तडागं च नित्यशः बिभर्ति ॥ ११८ ॥

जिस वंगभूमि में पुष्पसम्पत्तिशाली वसन्त स्वयम् अनुचर के समान युवतियों के नयन-सकेत के अनुरूप भ्रमरगुञ्जन से पूर्ण कमलपुष्पों द्वारा बावली-पोखरी को सदा सजाये रहता है ॥ ११८ ॥

देवापगायै किल पाथसां निधिं माधुर्यपूरं वचसे निसर्गजम् ।
चेतोऽनुरागाय वपुर्नवं श्रिये वङ्गावनिर्भाग्यमिवानुविन्दति ॥११९॥

वङ्गावनिः पाथसां निधिं किल देवापगायै, निसर्गजं माधुर्यपूरं वचसे, चेतः अनुरागाय, नवं वपुः श्रिये, भाग्यम् इव अनुविन्दति ॥ ११९ ॥

वंगभूमि देवनदी के लिए समुद्र की प्राप्ति को, वाणी के लिए माधुर्य को, स्नेह के लिए हृदय को तथा सुकान्ति के लिए नवीन शरीर को अपने भाग्य का सहज विधान मानती है [वंगदेश में उपर्युक्त पात्रों को तथाकथित गुणों का संयोग सहज प्राप्त है।] ॥ ११९ ॥

हृत्वापि भस्मीकृतचित्तजन्मनश्चेतोऽपि यद्वाक् सरलेति गीयते ।
स्वस्थोऽपि कस्तं जयदेव[1]माश्रयन् नालोक्यते शून्यमिवाश्रुनिर्भरः ॥१२०॥

भस्मीकृतचित्तजन्मनः चेतः अपि हृत्वा यद्वाक् सरला इति गीयते तं जयदेवं स्वस्थः अपि कः आश्रयन् अश्रुनिर्भरः शून्यम् इव न आलोक्यते ॥ १२० ॥

जिनकी काव्य-भणिति चित्तजन्मा कामदेव को भस्म करने वाले भगवान् शङ्कर का भी मन हर लेती है उस जयदेव का आश्रय ग्रहण करने वाला स्वस्थ भी, विवेकी भी, कौन व्यक्ति बावले के समान खोया अश्रुपूरित लोचनों वाला नहीं हो जाता ॥ १२० ॥

यस्योपदिष्टा व्रतिनो निरन्तरं निर्धूततापत्रयसाधनाजुषः ।
तन्वन्ति कल्याणपरम्परां भवे सेवामृतस्यन्दिकरैर्गतस्पृहम् ॥१२१॥

यस्य उपदिष्टाः निर्धूततापत्रयसाधनाजुषः व्रतिनः निरन्तरं भवे सेवामृतस्यन्दिकरैः गतस्पृहं कल्याणपरम्परां तन्वन्ति ॥ १२१ ॥

---

१. जयदेवः गीतगोविन्दकविः । काव्यमस्य वैष्णवेषु साहित्यरसिकेषु सहृदयेषु च प्राणानन्यताम् भजति । ललितकोमलकान्तपदार्थसमायोजने मसृणमणिर्नो न कोऽपि जयदेवसमः ।

जिनके उपदेश से अनुप्राणित होकर त्रिविध दुःखों को नष्ट करनेवाली साधना में प्रतिष्ठित निरन्तर, सेवामयी सुधा की वर्षा करने वाले हाथों से अगणित महात्मा निस्स्पृह भाव से संसार में कल्याण परम्परा का विस्तार करते हैं ॥ १२१ ॥

कस्तन्न वेलूरमठाम्बुजासनदीक्षागुरुं सेवितदक्षिणेश्वरम् ।
श्रीरामकृष्णं[1] धुरि मुक्तिसम्पदां देशे विजानाति मनुष्यनामभाक् ॥१२२॥

सेवितदक्षिणेश्वरं वेलूरमठाम्बुजासनदीक्षागुरुं मुक्तिसम्पदां धुरि तं श्रीरामकृष्णं कः मनुष्यनामभाक् देशे न विजानाति ॥ १२२ ॥

बेलूरमठ के सृष्टिकर्ता (स्वामी विवेकानन्द) के दीक्षागुरु, दक्षिणेश्वर के उपासक, विमुक्तात्माओं में सर्वश्रेष्ठ उन श्री रामकृष्ण परमहंस को मनुष्य कहलाने वाला कौन इस देश में नहीं जानता ॥ १२२ ॥

यस्मिन् स्खलत्पद्मपदे रजोऽध्वनि मुक्तिः स्वसाफल्यमवाप जन्मनः ।
यस्यावमोहेन तमोऽपि मानसे लेभे प्रतिष्ठां न दुरात्मनामपि ॥१२३॥

रजोऽध्वनि स्खलत्पद्मपदे यस्मिन् मुक्तिः जन्मनः स्वसाफल्यम् अवाप । यस्य अवमोहेन दुरात्मनाम् अपि मानसे तमः अपि प्रतिष्ठां न लेभे ॥ १२३ ॥

धूलभरे रास्ते में जिनके चरणकमल के फिसल जाने से (कृष्ण-प्रेम में उन्मत्त हो जाने के कारण) मुक्ति को मानो अपने जीवन का वरदान मिल जाता था । जिनके उन्माद (प्रभुप्रेम की विह्वलता) के कारण दुष्ट-स्वभाव वाले प्राणी भी सत्त्वगुण में प्रतिष्ठित हो जाते थे ॥ १२३ ॥

सोऽसौ नवद्वीपभुवं स्वजन्मना पुण्याकराणां धुरि मण्डयन् प्रभुः ।
गौराकृतिः[2] कृष्णमनाः सुधाकरस्तेनेऽवनौ जङ्गमतीर्थसक्रियाम् ॥१२४॥

असौ सः गौराकृतिः कृष्णमनाः सुधाकरः प्रभुः जन्मना नवद्वीपभुवं पुण्याकराणां धुरि मण्डयन् अवनौ जङ्गमतीर्थसत्क्रियां तेने ॥ १२४ ॥

उस परम भागवत महाप्रभु चैतन्यदेव ने नवद्वीप में जन्म लेकर उसे पुण्य-स्थलों में सर्वश्रेष्ठ बना दिया । गौर वर्ण वाले वे गौराङ्ग कृष्णमना (कृष्णमय, काले हृदय वाले) थे, उनकी कान्ति पीयूष-वर्षिणी थी. वे पृथ्वीतल पर चलते-फिरते पुण्यतीर्थ थे ॥ १२४ ॥

---

१. श्रीरामकृष्णपरमहंसः—विवेकानन्ददीक्षागुरुः देवीभक्तः । रामकृष्णमिसनाख्या सर्वजीवहितकारिणी संस्था देशे विदेशे च दुःखितान् सेवमानाऽस्यैव सर्वभूतसौहार्दं व्यनक्ति ।

२. गौराङ्गमहाप्रभुः—भगवतो वासुदेवस्य अंशावतारः । विपन्ने वङ्गदेशे कृष्णप्रेम-रसायनं विकिरन् परितः प्रेमभक्त्या सजातं कृष्णाभिमुखमकरोत् ।

ब्राह्मीं कवेर्लङ्घितकालतेजसो दृष्टिं महर्षेः सदसद्विवेकिनीम्।
स्वस्मिन्निधायार्यजनोदितं महो गामाश्रयद्विश्वकविः स्वजन्मना ॥१२५॥

लङ्घितकालतेजसः कवेः ब्राह्मीं महर्षेः सदसद्विवेकिनीं दृष्टिम् आर्यजनोदितं महः (च) स्वस्मिन् निधाय विश्वकविः स्वजन्मना गाम् आश्रयत् ॥ १२५ ॥

कालशक्ति को पराजित कर देने वाली कवि की वाणी तथा सत् एवं असत् की विवेकिनी ऋषि की दृष्टि और आर्यजनोचित तेज को आत्मस्थ करके विश्वकवि ने इस धराधाम को अपने जन्म से धन्य किया ॥ १२५ ॥

यत्रावनिः सिद्धिसखीव नन्दिनी चेतः स्वयं गौरवभाजि शासनम्।
ज्ञानेन विद्वानमृतं समश्नुते तत्राश्रमे शान्तिनिकेतने गुरोः[1] ॥१२६॥

यत्र अवनिः सिद्धिसखी इव नन्दिनी, स्वयं चेतः गौरवभाजि शासनम् तत्र गुरोः शान्तिनिकेतने आश्रमे विद्वान् ज्ञानेन अमृतं समश्नुते ॥ १२६ ॥

जिस शान्ति निकेतन (रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा स्थापित विश्वविद्यालय) में पृथ्वी आत्मसिद्धि में सखी के समान उपकारिणी है, गौरव में प्रतिष्ठित (गौरव की निष्ठा वाला) अपना हृदय ही अनुशासन है, वहाँ ज्ञानोपलब्धि द्वारा विद्वान् अमृत तत्त्व का भागी हो जाता है ॥ १२६ ॥

आत्मोपमां द्रष्टुमिवोत्सुकापगा[2] भ्रान्त्वाऽप्यनन्यैव दिशां चतुर्मुखे।
सापत्न्यदर्पा हरतीव सागरे यैकाधिपत्यं सरितोऽपि नाकिनाम् ॥१२७॥

उत्सुका इव आत्मोपमां द्रष्टुं दिशां चतुर्मुखे भ्रान्त्वा अपि अनन्या एव या आपगा सागरे नाकिनां सरितः अपि एकाधिपत्यं सापत्न्यदर्पा हरति इव ॥ १२७ ॥

अपनी समता (अपने समान किसी अन्य को) देखने के लिए उत्कण्ठित नदी चारों दिशाओं में घूमकर भी अनन्या (अकेली, निरुपम) ही रही। सापत्न्य-दर्प में उमड़ती हुई वह देवताओं की नदी गङ्गा जी के समुद्रविषयक एकाधिपत्य को सहठ छीन रही है [ब्रह्मपुत्र नदी चारों दिशाओं में बहती हुई वंगसमुद्र में गिरती है, गङ्गा भी वंगसमुद्र में ही मिलती हैं, समुद्र नदी-पति है अतएव सापत्न्य जन्य ईर्ष्या से ब्रह्मपुत्र नदी गङ्गा जी से स्पर्द्धा रखती है।] ॥ १२७ ॥

स्वच्छन्दतारुण्यसखा नगोरसि लोलोत्तरल्लोहितकच्छवर्धिताः।
सोल्लासमौदीच्यभुजङ्गकौशिका आतिथ्यभाजां धुरि यत्र मौनपाः[4] ॥१२८॥

---

१. विश्वकविः रवीन्द्रनाथठाकुरः निर्बाधदृष्टिः विश्वजनीनचेताः महाकविः, गीताञ्जलिं पुरस्कृत्य नोबुलप्राइज-अभिधेन पारितोषिकेन ठाकुरमहोदस्य सम्मानः कृतो विश्वावाङ्मय परिषदा।

२. शान्तिनिकेतनम्—विश्वकविसंस्थापितं विद्यासंस्थानम्।

३. ब्रह्मपुत्रनदः पर्वताञ्चले लोहिताभिधयाऽपि बुध्यते।

४. मौनपा—पर्वतीयजातिः नेफाप्रान्ते।

यत्र नगोरसि लोलोत्तरल्लोहितकच्छवर्धिताः स्वच्छन्दतारुण्य-सखाः सोल्लासम् औदीच्यभुजङ्गकौशिकाः मौनपाः आतिथ्यभाजाम् धुरि (स्थिताः) ॥ १२८ ॥

पहाड़ से मैदान में उतरते हुए चपल लोहितनद (ब्रह्मपुत्रनद) के कछार में संवर्धित गिरिहृदय में अवस्थित, उत्तर दिशा के सर्पों को वश में करने के लिए समर्थ अपने स्वच्छन्द नवयौवन को मित्र मानने वाली, परम अतिथिप्रेमी मौनपा जाति जहाँ निवास करती है ॥ १२८ ॥

वैषम्यमङ्केऽपि निधाय मेदिनी यत्रामराढ्या वसुधेति गीयते ।
एणीदृशां यौवनविभ्रमासवे छायेव संसर्पति शैशवच्छविः ॥१२९॥

यत्र वैषम्यम् अङ्के निधाय अपि अमराढ्या मेदिनी वसुधा इति गीयते, एणीदृशां यौवनविभ्रमासवे शैशवच्छविः छाया इव संसर्पति ॥ १२९ ॥

जहाँ पृथ्वी विषमता से भरी (ऊबड़ खाबड़) होकर भी अक्षय सम्पत्ति-शालिनी वसुधा (सम्पत्ति धारण करने वाली) कही जाती है उस नेफा (अरुणाचल) की हरिणाक्षी युवतियों के यौवनविभ्रम के उन्माद में शिशु की सरलता झाँकती रहती है ॥ १२९ ॥

बाला सखीशिक्षितकैतवारुचिः कान्तं शनैरास्यसुधांशुजीवितम् ।
तं शिक्षितुं प्रार्थयते परं विधिं धत्ते प्रियां येन सदोरसि प्रियः ॥१३०॥

सखीशिक्षितकैतवारुचिः बाला आस्यसुधांशुजीवितं कान्तं शनैः तं परं विधिं शिक्षितुं प्रार्थयते येन प्रियः प्रियां सदा उरसि धत्ते ॥ १३० ॥

उस अरुणाचल में सखी द्वारा उपदिष्ट विदग्धता, कुटिलता में अरुचि रखती हुई सद्यःयौवना अपने चन्द्रमुख के चातक प्रियतम को ही उस महामन्त्र को बतलाने के लिए प्रार्थना करती है जिससे प्रियतम प्रिया को सदा हृदय से लगाये रहते हैं ॥ १३० ॥

यः कामरूपो विविधाग्रहोरसां तत्त्वैषिणां सिद्धिरहस्यपुण्यभूः ।
छद्मोच्चलत्कौशलकूटवर्तिनां शास्ताऽपि सङ्गोद्भवदोषनिःस्पृहः ॥१३१॥

विविधाग्रहोरसां तत्त्वैषिणां सिद्धिरहस्यपुण्यभूः, छद्मोच्चलत्कौशलकूटवर्तिनां शास्ता अपि यः कामरूपः सङ्गोद्भवदोषनिस्स्पृहः (अस्ति) ॥ १३१ ॥

जो कामरूप अनेक प्रकार के आग्रह वाले तत्त्वचिन्तकों के लिए सिद्धि के अनन्त रहस्यों का पुण्यस्थल है। किन्तु छल-प्रपञ्च से पूर्ण मायाजाल वालों का नियमन, नियन्त्रण करता हुआ भी उनके संगतिजन्य दोष (छल, पाषण्ड आदि) से सर्वदा दूर रहता है ॥ १३१ ॥

देवेन शातक्रतवीप्रथाभृता कल्पद्रुजुष्टोपवनेन सादरम् ।
आराधितस्यापि शरण्यतां गतो यो राजते शाक्यमुनेर्मोत्तमः ॥१३२॥

शातक्रतवीप्रथाभृता कल्पद्रुजुष्टोपवनेन देवेन सादरम् आराधितस्य अपि शाक्यमुनेः शरण्यतां गतः यः द्रुमोत्तमः राजते ॥ १३२ ॥

कल्पद्रुम से युक्त नन्दनवन वाले, शतक्रतु की उपाधि धारण करनेवाले देवराज इन्द्र द्वारा पूजित शाक्यमुनि गौतम को भी जिसने अपनी छाया में शरण दिया और वृक्षों में प्रथम सम्मान प्राप्त किया [गौतम ने गया में वटवृक्ष की छाया में कठोर तपस्या द्वारा ज्ञान (बुद्धत्व) प्राप्त किया, इसीलिए वटवृक्ष को 'बोधिद्रुम' कहा जाता है ।] ॥ १२२ ॥

निर्धूतमारस्य जगद्दयाभृतो बोधिद्रुमस्तस्य मुनेरपि व्यथाम् ।
छायातलोन्माथितविग्रहां हरन् निर्वाणपद्यां निरमाज्जगत्यपि ॥१३३॥

निर्धूतमारस्य जगद्दयाभृतः तस्य मुनेः अपि छायातलोन्माथितविग्रहां व्यथां हरन् बोधिद्रुमः जगति अपि निर्वाणपद्यां निरमात् ॥ १३३ ॥

काम को पराजित कर देने वाले अतिशय दयालु उस शाक्यमुनि की मानसिक पीड़ा को अपनी छाया में ही निष्प्राण बनाकर (मिटाकर) पृथिवीतल पर निर्वाणपथ को संसार के दुखी प्राणियों के लिए प्रशस्त करने में उस बोधिद्रुम ने योगदान किया ॥ १३३ ॥

सर्वर्तुपुष्पप्रसवैर्घनच्छदैर्निर्धूतदेवोपवनैरिव द्रुमैः ।
नागैर्हृतैरावतकान्तिभिश्च गां यः खारवेलो[1] विदधेऽधिकां दिवः ॥१३४॥

सर्वर्तुपुष्पप्रसवैः धनच्छदैः निर्धूतदेवोपवनैः इव द्रुमैः हृतैरावतकान्तिभिः नागैः च यः खारवेलः गां दिवः अधिकाम् विदधे ॥ १३४ ॥

घने पत्तों वाले, सभी ऋतुओं में फूल देने वाले अतः नन्दनवन को लज्जित करने वाले वृक्षों से तथा गजराज ऐरावत की कान्ति को अपनी शोभा से मन्द करने वाले यूथपों से राजा खारवेल ने पृथ्वी को स्वर्ग से भी अधिक सौभाग्यवती बना दिया ॥ १३४ ॥

यस्यैव लालित्यकलोत्सवाः प्रजा आलोच्य गन्धर्वकुलस्थिरं यशः ।
स्वर्सुन्दरीशुष्यदरक्तिमाधरे मोघं बबन्धोत्तमसंश्रयस्थितिम् ॥१३५॥

यस्य लालित्यकलोत्सवाः प्रजाः आलोच्य गन्धर्वकुलस्थिरं यशः स्वर्सुन्दरीशुष्यदरक्तिमाधरे उत्तमसंश्रयस्थितिं मोघं बबन्ध ॥ १३५ ॥

ललित कलाओं के उत्कर्ष में आनन्दित जिसकी प्रजा को देखकर नृत्य, गीत आदि में विख्यात गन्धर्व-कुल की कीर्ति ने अपनी मानरक्षा के लिए विकलता एवं निराशा से विवर्ण होते हुए देव-अप्सराओं के अधर में व्यर्थ ही आशा को बाँधा ।

---

१. खारवेलः—कलिङ्गनरपतिः शत्रुविनाशकर्मणि गजसैन्यरक्षणे च विश्रुतः । अनेन समरे पराजिताः दक्षिणापथराजलोकाः ।

[गन्धर्वों को आशा थी कि देवसुन्दरियों का नृत्य एवं सौन्दर्य उनके यश की सुरक्षा कर सकेगा, पर वे स्वयं खारवेल की प्रजा को देखकर उत्साहहीन हो गयीं।] ॥ १३५ ॥

अन्योन्यलज्जानपि पाण्ड्ययावनान् निर्जित्य योऽचालयदेकवर्त्मनि।
श्रद्धाजुषो भोजकराष्ट्रका न के तस्याङ्घ्रिसायुज्यमवापुरश्रमम् ॥१३६॥

अन्योन्यलज्जान् अपि पाण्ड्ययावनान् निर्जित्य यः एकवर्त्मनि अचालयत्, श्रद्धाजुषः के भोजकराष्ट्रकाः अश्रमं तस्य अङ्घ्रिसायुज्यम् अवापुः ॥ १३६ ॥

परस्पर लज्जित (ये परस्पर स्पर्द्धा रखते थे) पाण्ड्यों एवं यूनानियों को जीतकर उस खारवेल ने एक ही मार्ग पर दोनों को चलाया। भोजकराष्ट्रों में कौन राजा सहज ही विना युद्ध किये उसके चरणों में नहीं गिर पड़ा ॥ १३६ ॥

भग्नावशेषाऽपि सचक्षुषो मुदे कोणार्क[1]सौन्दर्यकृतिर्न कस्य सा।
तेनेऽश्मरेखैव चतुर्मुखेष्वपि यस्या द्युतिं विश्वसृजस्त्रपारुणाम् ॥१३७॥

भग्नावशेषा अपि सा कोणार्कसौन्दर्यकृतिः कस्य सचक्षुषः मुदे न (अस्ति) यस्याः अश्मरेखा एव विश्वसृजः चतुर्मुखेषु अपि त्रपारुणां द्युतिं तेने ॥ १३७ ॥

कोणार्क के सूर्य-मन्दिर की खण्डित भी सौन्दर्य-कृति किस आँखवाले को कौतूहल-निमग्न नहीं कर देती ? पत्थरों पर उभारी हुई रेखाओं ने विश्वनिर्माता ब्रह्मा के चारों मुखों की कान्ति को लज्जा से लाल कर दिया [ब्रह्माजी की कला उस सौन्दर्य-निर्माण के सामने फीकी पड़ गयी।] ॥ १३७ ॥

पाषाणभित्तावपि तूलिकाङ्कितै रालेख्यचित्रैः रमणीयतावधिः।
कालादजन्ता[2]स्मृतिमण्डनेव सा चित्रीकरोत्येव न कं कलाविदम् ॥१३८॥

पाषाणभित्तौ अपि कालात् एव तूलिकाङ्कितैः आलेख्यचित्रैः रमणीयतावधिः स्मृति-मण्डना इव सा अजन्ता कं कलाविदम् न चित्रीकरोति ॥ १३८ ॥

पत्थर की दीवारों पर भी तूलिका-निर्मित, रमणीयता की पराकाष्ठा के समान आलेख्य चित्रों के द्वारा स्मृति पर सदैव छायी हुई अजन्ता किस कलापारखी को चित्रलिखित सा जड नहीं बना देती ? ॥ १३८ ॥

ध्वंसोऽपि यद्भित्तिकलाममानवीं वीक्ष्यैव कौतूहलविस्मृतोद्यमः।
कालोद्भवत्काननगर्भनिद्रितां वक्तीव तद्द्वारसमुद्र[3]संस्तुतिम् ॥१३९॥

---

१. कोणार्कः—समुद्रतटे कलिङ्गे स्थानविशेषः। इह सूर्यमन्दिरे कलातिशय्यं दृश्यते।

२. अजन्ता—पाषाणभित्तौ चित्रालेखनमत्र। भावनिरूपणेऽजन्ताकलाकारः सर्वथा मूर्धन्यः।

३. द्वारसमुद्रम्—दक्षिण राज्येषु प्राचीनं नगरम्—इदानीं द्रुमलतासंभृते वनोद्देशे ध्वंसावशेषमात्रम् दृश्यते।

अमानवीं यद्भित्तिकलां वीक्ष्य एव कौतूहलविस्मृतोद्यमः ध्वंसः अपि कालोद्भवत्कानन-गर्भनिद्रितां तद्द्वारसमुद्रसंस्तुतिं वक्ति इव ॥ १३९ ॥

जिसकी अमर्त्य भित्तिकला को देखकर ध्वंस भी विस्मय-विमुग्ध हो अपना सहज उद्यम भूल गया (विनाश विस्मित हो विनाश न कर सका)। आज भी युगों से उगे हुए झाड़-झंखाड़ों के बीच चिरनिद्रित द्वारसमुद्र की उस भित्तिकला का मानो परिचय ही ध्वंस दे रहा है ॥ १३९ ॥

सौन्दर्यमेवैकविभुः शिवः स्वराट् कल्याणधर्माऽस्तविभेदकेवलः ।
यन्मृग्यते शास्त्रपथेऽप्यलक्षणः सोऽसौ स्वयं प्राणिति शिल्पनिर्मितौ ॥१४०॥

एकविभुः शिवः स्वराट् कल्याणधर्मा अस्तविभेदकेवलः सौन्दर्यम् एव यत् अलक्षणः अपि शास्त्रपथे मृग्यते सः असौ शिल्पनिर्मितौ स्वयं प्राणिति ॥ १४० ॥

सौन्दर्य, भेदप्रपञ्च से विरहित, केवलात्मक, एकमात्र श्रेयान् शिव आत्मरत परमतत्त्व है। जिस अलक्षणलक्षितव्य तत्त्व को शास्त्रमार्गों द्वारा ढूढ़ा जाता है वही शिव शिल्पनिर्मिति में, सौन्दर्य में उपस्थित रहता है ॥ १४० ॥

श्रेयःप्रसूतिः श्रमनिर्जितालसा हेतुः परा या घटयोनि[1]गौरवे ।
गोदावरी[2]गोत्रगुणाढ्यगीतिका दिग्दक्षिणैषा रमते सुदक्षिणा ॥१४१॥

या श्रेयःप्रसूतिः श्रमनिर्जितालसा घटयोनिगौरवे परा हेतुः (सा) गोदावरीगोत्रगुणा-ढ्यगीतिका एषा सुदक्षिणा दक्षिणा दिक् रमते ॥ १४१ ॥

श्रेय की प्रसवस्थली, श्रम से आलस्य को जीतनेवाली, घटयोनि अगस्त्य मुनि के उत्कर्ष में हेतुभूत, गोदावरी के गुणों की गायिका, अत्यन्त उदारहृदया यह दक्षिण दिशा है ॥ १४१ ॥

सूरोऽपि यस्यां त्यजति स्वतिग्मतां सस्याभिलाषं जलदोऽनुबिभ्रते ।
झञ्झाविमुक्तो मलयाद्रिसौरभो वायुर्विधत्ते नवपौरुषस्पृहाम् ॥१४२॥

यस्यां सूरः अपि स्वतिग्मतां त्यजति, जलदः सस्याभिलाषम् अनुबिभ्रते, झञ्झाविमुक्तः मलयाद्रिसौरभः वायुः (च) नवपौरुषस्पृहां धत्ते ॥ १४२ ॥

इस दक्षिणा भूमि में सूर्य भी अपनी प्रखरता को त्याग देता, मृदु सहनीय बना देता है, मेघ कृषि की अभिलाषा को पूर्ण करता है तथा आँधी-तूफान से रहित, मलयाद्रि की सुगन्ध से पूरित पवन हृदय में पुरुषार्थ की स्पृहा भरता है ॥ १४२ ॥

---

१. घटयोनिः—अगस्त्योमुनिः । उत्तरभारतात्प्रथमोऽयं महात्मा विन्ध्यमेखलामुल्ल-ङ्घ्य दक्षिणस्यां दिशि धर्मसन्देशं विस्तारयामास ।

२. गोदावरी—नदी दक्षिणे भारते ।

पूर्वाऽपराम्भोधिविघट्टनोत्थिते संवादसङ्ख्ये चलवीचिभैरवे ।
अन्योन्यबोधाय परीक्षितस्थितिर्या गीयते[1] मध्यमभूर्मनस्विनी ॥१४३॥

पूर्वापराम्भोधिविघट्टनोत्थिते चलवीचिभैरवे संवादसंख्ये अन्योन्यबोधाय परीक्षितस्थितिः या मनस्विनी 'मध्यमभूः' गीयते ॥ १४३ ॥

दक्षिण प्रायद्वीप समुद्र में दूर तक चला गया है, ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व तथा पश्चिम (वंगसमुद्र तथा अरबसागर) के बीच उठी हुयी, भयंकर लहरों से विषम पारस्परिक दुर्भावपूर्ण संघर्ष को निपटाने के लिए तटस्थ स्थिति के कारण दोनों को अलग-अलग कर देने के फलस्वरूप, यह मध्यम भूमि की प्रतिष्ठा प्राप्त कर रही है [मध्यस्थ होकर दोनों को संघर्ष-विरत कर दिया ।] ॥ १४३ ॥

पाथोधिफेनोल्लसितोर्मिचुम्बितास्तालीवनामोदनिषेवितोरसः ।
श्रीखण्डगन्धाः घनमानदस्यवो गायन्ति यस्याः स्तवमम्बरेऽनिलाः ॥१४४॥

पाथोधिफेनोल्लसितोर्मिचुम्बिताः तालीवनामोदनिषेवितोरसः श्रीखण्डगन्धाः घनमान-दस्यवः अनिलाः यस्याः स्तवम् अम्बरे गायन्ति ॥ १४४ ॥

समुद्र की फेनिल लहरों से चुम्बित, तालवन की गन्ध से उन्मदहृदयवाले चन्दनगन्धपूर्ण, कठिन मान के दस्यु (कठिन मान को बरबस लूट लेनेवाले) पवन जिस पृथिवी की कीर्ति को आकाश में बहते हुए गाते रहते हैं ॥ १४४ ॥

भागीरथीवन्दितपादपङ्कजो रत्नाकरो लोलतरङ्गपाणिभिः ।
सम्मोदतेऽनारतपाद्यसत्क्रियो यस्यार्चनेऽयं मलयः स भूधरः ॥१४५॥

भागीरथीवन्दितपादपङ्कजः रत्नाकरः यस्य अर्चने लोलतरङ्गपाणिभिः अनारतपाद्य-सत्क्रियः सम्मोदते, सः अयं मलयः भूधरः ॥ १४५ ॥

भागीरथी गङ्गा द्वारा पूजित चरणकमलवाला रत्नाकर समुद्र अपने तरङ्गों के समान हाथों से अर्घ्य-पाद्य द्वारा जिसकी उपासना में नित्य अनुरक्त रहता है यही वह मंलय पर्वत है [देवनदी से पूजित समुद्र स्वयं मलयाद्रि का चरण धोता है ।] ॥ १४५ ॥

गङ्गातरङ्गाञ्चितभूधराग्रजकुञ्जान्तरालेङ्गितकेलिकौतुकि ।
चेतश्चिरं किन्नरसुभ्रुवामपि स्वप्नायते विस्मृतपूर्वसंस्तवम् ॥१४६॥

गङ्गातरङ्गाञ्चितभूधराग्रजकुञ्जान्तरालेङ्गितकेलिकौतुकि किन्नरसुभ्रुवाम् अपि चेतः चिरं विस्मृतपूर्वसंस्तव स्वप्नायते ॥ १४६ ॥

गङ्गा जी की तरङ्गों से सम्पृक्त पर्वतराज हिमालय के कुञ्जों के अन्तराल में केलिरहस्य का कौतुकवाला किन्नर सुन्दरियों का हृदय भी यहाँ इस दक्षिण प्रदेश

१. कन्याकुमारी—श्रूयते पुराणेषु यत् काऽपि द्विजकन्यका शिवं वररूपेण लब्धुं तपन्ती बाणासुरेण हृता तदविचारप्रतिष्ठं पापोद्यमं ज्ञात्वा च तं भस्मसात् विधाय प्रतीक्षमाणा आस्ते ।

में पुराने परिचय को भूलकर दीर्घ काल तक स्वप्नलोक में खो जाता है [किन्नर कामिनियाँ इस दक्षिणाभूमि में आकर केलिकुञ्जोंवाले नगराज हिमालय को भी भूल जाती हैं।] ॥ १४६ ॥

आशीविषाऽऽवासकरालसङ्गति र्वन्ध्यप्रसूनो विफलश्च शाखिनाम्।
यद्रोहति स्पर्शजडोऽपि चन्दनो गौरीशमौलिं मलये स्थितिर्हि तत् ॥१४७॥

आशीविषावासकरालसङ्गतिः वन्ध्यप्रसूनः शाखिनां विफलश्च स्पर्शजडः अपि चन्दनः यत् गौरीशमौलिं रोहति तत् हि मलये स्थितिः ॥ १४७ ॥

जो चन्दन सर्पों के निवास के कारण भयंकर सङ्गतिवाला है, जो वृक्षों में पुष्प-फलरहित होने के कारण वन्ध्य है, फिर भी वही गौरीपति भगवान् शंकर के सिर (ललाट) पर सुशोभित होता है तो वास्तव में मलय पर्वत पर उत्पन्न होने के कारण ही उसकी यह स्थिति है ॥ १४७ ॥

यस्यालवालम्महितार्यगौरवं सत्पद्धतिः स्वादु फलं विचिन्वताम्।
तापापनोदे प्रथितो द्व्यातिगै रामेश्वरोऽयं सुरपादपः क्षितौ ॥१४८॥

महितार्यगौरवं यस्य आलवालं सत्पद्धतिः विचिन्वतां स्वादुफलं, तापापनोदे द्व्यातिगैः प्रथितः अयं रामेश्वरः क्षितौ सुरपादपः [अस्ति] ॥ १४८ ॥

रामेश्वर तीर्थ इस पृथ्वी पर कल्पवृक्ष है। आर्यों का महान् गौरव ही इसका थाला (आलवाल) है, सन्मार्ग की स्थापना ही जिज्ञासुओं के लिए इसका स्वादिष्ठ मधुर फल है, ज्ञानवानों के मत से इसकी छाया त्रिताप से (तीनों प्रकार के दुःखों से) रक्षा करती है ॥ १४८ ॥

चित्सम्भवा दीप्तिरमर्त्ययज्वनां तस्मिन् शिवे प्रार्थितसिद्धिनन्दिनी।
प्रत्यूहबाणाशनिरार्यसत्क्रिया लोके सवित्रीयमवन्ध्यतेजसाम् ॥१४९॥

अमर्त्ययज्वनां चित्सम्भवा दीप्तिः तस्मिन् शिवे प्रार्थितसिद्धिनन्दिनी प्रत्यूहबाणाशनिः आर्यसत्क्रिया या इयं लोके अवन्ध्यतेजसां सवित्री ॥ १४९ ॥

अमृतकल्प यज्ञकर्ताओं के चित्तत्त्व से उत्पन्न प्रकाशपुञ्ज, जो शिवतत्त्व की प्राप्ति को ही आत्मसिद्धि का लक्ष्य मानती है, जो विघ्नरूपी बाणासुर के लिये वज्र के समान है, आर्यों की प्रतिष्ठा है, वही कुमारी (कुमारी तीर्थभूमि) अमोघ तेज की प्रसवस्थली है ॥ १४९ ॥

रत्नाकरं पूर्णशशी यदांशुभिस्ताम्राभरागैः सविता महोदधिम्।
संव्याप्य यस्यारतनुतोऽक्षिकौतुकं सायं मधुव्योम्नि निरम्बुदे मिथः ॥१५०॥

सायं निरम्बुदे मधुव्योम्नि यदा पूर्णशशी अंशुभिः रत्नाकरं, सविता ताम्राभरागैः महोदधिं (च) संव्याप्य यस्याः अक्षिकौतुकं तनुतः ॥ १५० ॥

सन्ध्या समय जब आकाश मेघविहीन, स्वच्छ रहता है तब इस कुमारी क्षेत्र की अवर्णनीय शोभा होती है। एक ओर पूर्ण चन्द्रमा अपनी स्वच्छ किरणों से रत्नाकर को भर देता है दूसरी ओर महोदधि को डूबते हुए सूर्य की रक्तवर्ण किरणें आरक्त कर देती हैं ऐसा लगता है मानो दोनों सूर्य तथा चन्द्रमा, कुमारी तीर्थ का मनोरञ्जन कर रहे हों ॥ १५० ॥

पीतांशुरिन्दुः प्रविशन्महोदधौ रत्नाकराद्बालरविर्व्रजन् बहिः ।
कन्ये मिथो हाटकपद्मगाश्मभिः संव्याप्नुतो दृष्टिमिवोर्मिसंहतिम् ॥१५१॥

कन्ये पीतांशुः इन्दुः महोदधौ प्रविशन्, बालरविः रत्नाकरात् बहिः व्रजन् (यस्याः) ऊर्मिसंहतिम् इव दृष्टिं हाटकपद्मगाश्मभिः मिथः संव्याप्नुतः ॥ १५१ ॥

प्रातःकाल एक ओर से महोदधि में घुसता हुआ पीली कान्तिवाला चन्द्रमा, दूसरी ओर रत्नाकर से उठता हुआ बालसूर्य, दोनों पीली तथा लाल रंगवाली मणियों में कुमारी देवी की लहरों जैसी आँखों को अपनी शोभा से भर देते हैं ॥१५१॥

पद्मस्थिता स्निग्धकिरीटमण्डिता चित्राम्बरा साक्षकरा स्मितच्छविः ।
कन्येव सौम्यायतपद्मलोचनैः सेयं[1] तमीशानवरं प्रतीक्षते ॥१५२॥

पद्मस्थिता स्निग्धकिरीटमण्डिता चित्राम्बरा साक्षकरा स्मितच्छविः सौम्यायतपद्मलोचनैः कन्या इव सा इयं तम् ईशानवरं प्रतीक्षते ॥ १५२ ॥

[कुमारी देवी के विग्रह का वर्णन है।] कमलपुष्प पर बैठी हुई, मोहक किरीट से विभूषित, रंगीन वस्त्रों में सजी हुयी, हाथ में अक्षमाला धारण किये, मन्द-मन्द मुस्कानवाली, कुमारी देवी कन्या के समान स्निग्ध, कमल जैसी बड़ी-बड़ी आँखों से उस शङ्कर की वररूप में प्रतीक्षा कर रही हैं ॥ १५२ ॥

गेहं सुभिक्षं सुषमाञ्चिता धरा वासो मनोज्ञं स्वजनेषु सङ्गतिः ।
प्रेयान् प्रवासाद् हृदयं स्रवन्मधु मन्येऽभिलाषापरनाम पोंगलम्[2] ॥१५३॥

गेहं सुभिक्षं, धरा सुषमाञ्चिता, वासः मनोज्ञम्, स्वजनेषु सङ्गतिः, प्रेयान् प्रवासात्, हृदयं स्रवन्मधु, पोङ्गलम् अभिलाषापरनाम मन्ये ॥ १५३ ॥

घर नये अन्न से भरपूर हैं, पृथ्वी उत्कृष्ट शोभा से पूर्ण है, रुचिपूर्ण नवीन परिधान है, आत्मीय जनों का समागम है, प्रियतम परदेश से प्रवास के बाद घर आये हैं, हृदय प्रेम-विगलित है। सचमुच पोंगलोत्सव अभिलाषा-प्राप्ति का ही दूसरा नाम है ॥ १५३ ॥

१. कन्याकुमारी मन्दिरे कुमारीदेवीप्रतिमामेव मनसि निरूप्य कृतैषा रचना ।

२. पोंगलं नाम तामिलनाडादिषु प्रदेशेषु मूर्धन्यमुत्सवानाम् । सर्वे गृहसदस्याः प्रवासाद् गृहमागच्छन्ति, नवान्नावसरेऽस्मिन् हर्षवृष्टिरिव सर्वत्रानुभूयते ।

दुर्धर्षकूटावलिभित्तिकल्पिते दुर्गप्रबन्धे प्रतिसानुवर्तिनि ।
सह्याचलः काननराजिराजितः स्वातन्त्र्यगाथामिव यत्र रक्षति ॥१५४॥

यत्र दुर्धर्षकूटावलिभित्तिकल्पिते प्रतिसानुवर्तिनि दुर्गप्रबन्धे काननराजिराजितः सह्याचलः स्वातन्त्र्यगाथाम् इव रक्षति ॥ १५४ ॥

अनेक दुर्धर्ष-पर्वत-श्रेणियों को दीवाल के रूप में व्यवहृत करता हुआ प्रतिशिखर पर दुर्गों का विधान रचकर, बीहड़ जंगलों से घिरा हुआ जहाँ पर सह्य गिरि मानो स्वातन्त्र्य-गाथा की सतत रक्षा कर रहा है [सह्याद्रि के अनन्त दुष्प्रवेश्य कूट एवं शिखर तथा चारों ओर फैला दुर्गम वन उसे और अधिक दुर्भेद्य तथा सुरक्षित बना देते हैं ।] ॥ १५४ ॥

शीलं स्वभावेऽपगतावगुण्ठनं यत्र स्थिरं नन्दति मण्डिताकृति ।
तस्या महाराष्ट्रभुवो वधूजनः पार्श्वस्थितिं भर्तुरुपैति नानुगाम् ॥१५५॥

यत्र अपगतावगुण्ठनं मण्डिताकृति स्थिरं शीलं स्वभावे नन्दति तस्याः महाराष्ट्रभुवः वधूजनः भर्तुः पार्श्वस्थितिम् उपैति, अनुगां न (उपैति) ॥ १५५ ॥

जहाँ घूँघट को महत्त्वहीन मानकर स्वभावस्थित अक्षय शील शरीर की शोभा विकसित करता है उस महाराष्ट्र की धरती पर कुलाङ्गनायें पति के पीछे नहीं अपितु बगल में स्थान ग्रहण करती हैं ॥ १५५ ॥

आर्यप्रसूतिव्यसनाकुलेव सा स्वाधीनताऽनाप्तपदस्थितिर्ध्रुवा ।
प्रत्यैक्षत स्वोदयमङ्गलार्यति भस्मच्छदा वह्निशिखेव सोत्सुकम् ॥१५६॥

ध्रुवा अनाप्तपदस्थितिः आर्यप्रसूतिव्यसनाकुला इव भस्मच्छदा वह्निशिखा इव सोत्सुकं सा स्वाधीनता स्वोदयमङ्गलार्यति प्रत्यैक्षत ॥ १५६ ॥

आर्य सन्तानों की विपत्ति से मानो विकल, पैर रखने के लिए भी स्थानहीन स्वतन्त्रता अपने अभ्युदय के मङ्गलमय भविष्य को, भस्म में दबी अग्निशिखा के समान उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा कर रही थी ॥ १५६ ॥

गङ्गासरय्वोरपि पावनस्थली त्रातुं न यामक्षमतास्तविक्रमा ।
तामेव कृष्णाऽऽर्यवसुन्धराद्युतिं स्वाधीनतामात्मतटेऽन्वपालयत् ॥१५७॥

अस्तविक्रमा गङ्गासरय्वोः पावनस्थली अपि यां त्रातुं न अक्षमत ताम् एव आर्यवसुन्धराद्युतिं स्वाधीनतां कृष्णा आत्मतटे अन्वपालयत् ॥ १५७ ॥

गङ्गा और सरयू की पवित्र धरती भी जिसे त्राण देने में समर्थ न हो सकी, आर्यभूमि की प्रभा, उसी स्वतन्त्रता को कृष्णा ने अपने तट पर निर्भय कर दिया । [उत्तरभारत अपनी महिमा से विमण्डित होता हुआ भी गुलामी की जञ्जीर न तोड़ सका जब कि कृष्णा नदी (महाराष्ट्र की नदी) ने अपने तट पर सर्वदा के लिए उसे तोड़ कर फेंक दिया ।] ॥ १५७ ॥

निर्मुक्तबन्धे यदुदारदर्शने ज्योतिस्तदेकं निरुपाधि भासते।
वन्दामहे जङ्गमतीर्थमद्वयं तं श्रीतुकाराम[1]मलक्ष्यलक्षणम् ॥१५८॥

निर्मुक्तबन्धे यदुदारदर्शने तत् एकं निरुपाधि ज्योतिः भासते, अद्वयम् अलक्ष्यलक्षणं जङ्गमतीर्थं तं श्रीतुकारामं वन्दामहे ॥ १५८ ॥

जिनकी मुक्त उदार दृष्टि में वही निरुपाधि भेदशून्य सत् ज्योति प्रकाशमान होती है उस मायाविमुक्त अभेदबुद्धिवाले, चलते-फिरते तीर्थ श्री तुकाराम महाराज की वन्दना करता हूँ। उस वीतराग महात्मा को स्थूल लक्षणों से जान लेना असम्भव था ॥ १५८ ॥

मोहोन्मदैश्वर्यरुषं तृणं यथा यः कल्पयन् निर्भयसत्यमण्डनः[2]।
सेहे महाराष्ट्रवियोगमप्यहो! नूनं विषेहे नहि सत्यविक्रियाम् ॥१५९॥

अहो, निर्भयसत्यमण्डनः यः मोहोन्मदैश्वर्यरुषं तृणं यथा कल्पयन् महाराष्ट्रवियोगम् अपि सेहे, सत्यविक्रियां नूनं न हि विषेहे ॥ १५९ ॥

निर्भय सत्य का पक्ष प्रतिष्ठित करनेवाले जिस न्यायमूर्ति विद्वान् ने मोहोन्माद से पूर्ण सत्ता के क्रोध को तृणवत् समझते हुए सत्य का उद्घोष किया, भले ही उन्हें सदा-सदा के लिए जन्मभूमि महाराष्ट्र का असह्य वियोग सहना पड़ा किन्तु वे सत्य की विक्रिया (अपलाप) नहीं सह सकते थे ॥ १५९ ॥

तन्न्यायपाथोनिधिमन्दराचलं सत्यावतारं सदुदारसम्पदम्।
श्रीराममङ्गीकृतरामपद्धतिं संस्मृत्य लोको व्यसनेऽपि जीवति ॥१६०॥

न्यायपाथोनिधिमन्दराचलं सत्यावतारं सदुदारसम्पदम् अङ्गीकृतरामपद्धतिं तं श्रीरामं संस्मृत्य व्यसने अपि लोकः जीवति ॥ १६० ॥

न्यायरूपी समुद्र के मन्दराचल, सत्य के अवतार, सत्य को ही अपनी उदार सम्पत्ति माननेवाले, भगवान् राम के सत्यपथ के पुजारी उन महाराज रामशास्त्री की स्मृति का सम्बल पाकर मानव समाज गहन विपत्ति में भी जीवन बिता लेता है [श्री रामशास्त्री का नाम-स्मरण लोगों को सत्य के लिये महान् से महान् त्याग करने की प्रेरणा देता है।] ॥ १६० ॥

१. सन्तुकारामम्हाराजः—भक्तिप्रचारे महाभागवताः श्रीतुकाराम-एकनाथ-समर्थरामदासादयः लोकविश्रुताः आसन्। महाराष्ट्रेषु प्रतिगृहं श्रद्धया पठ्यते श्रीतुकाराम-महाराजविरचिता अभङ्गपदावली, उद्बोधकः जनजीवनस्य जातोऽयं महात्मा षोडशतमशताब्दाः मध्यभागे।

२. श्रीरामशास्त्री, न्यायाधीशः पेशवाराज्ये। पितृव्यस्थानीयेन राघोबाभिधेन षड्यन्त्रकारिणा निहते नारायणरावपेशवामहाराजे श्रीरामशास्त्रिणा न्यायमूर्तिना न्यायासनात् राघोबा जातिहत्या-विश्वासहत्या(न्यासहत्या)राजहत्यात्मकेन हत्यात्रैविध्यापराधेन निन्दितः। श्रीरामशास्त्रिणः पापमयं तद्राज्यं परित्यज्य वाराणसीमागतवन्तः।

निर्वीर्यसारामपि वीक्ष्य देहलीं वैदेशिकाश्चारदृशोऽपि नैगमाः ।
यन्नार्यभूमिं सहसा न्यपातयन् श्रीपेशवापौरुषशङ्कयैव तत् ॥१६१॥

निर्वीर्यसारां देहलीं वीक्ष्य अपि चारदृशः अपि वैदेशिकाः नैगमाः यत् आर्यभूमिं सहसा न न्यपातयन् तत् श्रीपेशवापौरुषशङ्कया एव ॥ १६१ ॥

मुगलों की शक्ति को निर्बल, नपुंसक जानकर भी, गुप्तचरों द्वारा प्रत्येक गति-विधि को पूर्णतः जानकर भी, यदि विदेशी व्यापारियों ने सहसा भारत भूमि को हड़प लेने की उत्सुकता न दिखायी तो इसमें उनकी कृपा नहीं अपि तु श्रीमन्तपेशवा की शक्ति का भय ही कारण था [ज्ञातव्य है अवरंगजेब की मृत्यु (१७०७) के साथ मुगलशक्ति का अनिवार्य अधःपतन आरम्भ हो गया। अंग्रेजों की प्रगति में, भारत पर अधिकार करने में, यदि १०० वर्ष का विलम्ब हुआ तो वह केवल पेशवा तथा उनके अधीनस्थ राज्यों–होल्कर, भोंसले, गायकवाड़ एवं सिन्धिया के कारण। वस्तुतः दिल्ली एक शक्ति के रूप में नादिरशाह (१७३९) के आक्रमण के पूर्व ही समाप्त हो गयी थी।]॥ १६१ ॥

दिल्लीपतेस्तां चतुरब्धिवर्तिनीं सत्तां खुरे यस्य तुरङ्गमक्रमः ।
मग्नां विधायासिलतामनोरथे व्रीडातुषारौघमिव न्यपातयत् ॥१६२॥

यस्य तुरङ्गमक्रमः दिल्लीपतेः ताम् चतुरब्धिवर्तिनीं सत्तां खुरे मग्नां विधाय (तस्य) असिलतामनोरथे व्रीडातुषारौघम् इव न्यपातयत् ॥ १६२ ॥

श्रीमन्त पेशवा के घोड़े ने दिल्लीपति की चारों समुद्रों तक फैली हुई राज्य-सत्ता को अपने खुर में निमग्न करके उसकी युद्धेच्छा को लज्जा के हिमगर्त में डुबो दिया [दिल्ली मे मराठे घुड़सवारों को रोकने की कुछ भी शक्ति न रही। दिल्ली के पौरुष को काठ मार गया।]॥ १६२॥

नीलोत्पलाभाम्भसि यामुनेऽस्पृहा येषाम्महाराष्ट्रजुषां वनायुजाः ।
लब्ध्वारिशुद्धान्ततडागसंस्तवं स्त्रीमात्रसर्गं जगदेव मेनिरे[1] ॥१६३॥

यामुने नीलोत्पलाभाम्भसि अस्पृहाः महाराष्ट्रजुषां येषां वनायुजाः अरिशुद्धान्ततडाग-संस्तवं लब्ध्वा जगत् एव स्त्रीमात्रसर्गं मेनिरे ॥ १६३ ॥

नीलकमल की कान्तिवाले यमुना के जल से ऊबकर, शत्रु के अन्तःपुर की बावलियों के जल से प्यास बुझाते हुए मराठों के घोड़ों को ऐसा प्रतीत हुआ मानो

१. भुवं विमुच्य (१७०७ ई०) परलोकपान्थऽवरङ्गजीवे दिल्लीपतौ मुगलसाम्राज्यं राजवंशजातानामनेकविधव्यसनदुराचारनिर्वीर्यतादिकलङ्कपूरं निमग्नमघोगर्तगह्वरे नाशकत् स्वप्रतिष्ठां त्रातुम्। रुहेलासामन्तेन शाहआलमद्वितीयः मोगलशासकः विरहितनेत्रः सहठं कृतः। तत्प्रार्थनामङ्गीकृत्य रुहेलसैन्यं पराजित्य पुनः पेशवानुगतैः प्रतिष्ठापितो देहलीशः नृपासने।

संसार में केवल स्त्रियों की ही सृष्टि हुई है [अन्तःपुर में चारों ओर स्त्रियां ही स्त्रियाँ थीं।] ॥ १६३ ॥

पीत्वाऽब्धिकूलेऽमरवाहिनीपयो यद्दोर्बलोद्योगपताकिनीसखाः ।
संबिभ्रतो गैरिककेतुमश्रमं प्रैक्षन्त तां सिन्धुनदच्छविं हयाः ॥१६४॥

यद्दोर्बलोद्योगपताकिनीसखाः हयाः अब्धिकूले अमरवाहिनीपयः पीत्वा गैरिककेतुम् अश्रमं बिभ्रतः तां सिन्धुनदच्छविं प्रैक्षन्त ॥ १६४ ॥

श्रीमन्त पेशवा की सेना के घोड़ों ने समुद्र के किनारे (वंगसागर) भागीरथी गङ्गा के जल से अपनी प्यास बुझाकर शक्तिशाली और साहसी सैनिकों के साथ गेरुए ध्वज को सहज ही सम्मानपूर्वक धारण करते हुए उस सिन्धुनद की शोभा का दर्शन किया ॥ १६४ ॥

तामन्वयोत्कर्षभुवं निरीक्ष्य ते सिन्धुस्थलीं तत्क्षणमेव सैन्धवाः ।
अव्यक्तसम्बन्धमिव व्यजिज्ञपन् पर्यश्रुनेत्रैर्मृदुहेषितैर्मुहुः ॥१६५॥

ताम् अन्वयोत्कर्षभुवं सिन्धुस्थलीं निरीक्ष्य तत्क्षणम् एव ते सैन्धवाः पर्यश्रुनेत्रैः मुहुः मृदुहेषितैः अव्यक्तसम्बन्धम् इव व्यजिज्ञपन् ॥ १६५ ॥

उन घोड़ों ने अपनी उत्पत्ति एवं कीर्ति की पुण्यभूमि सिन्धुतटीय प्रदेश को देखकर मानो उस अव्यक्त आत्मीय सम्बन्ध को सजल नेत्रों तथा मृदु हिनहिनाहटों से प्रकाशित सा कर दिया [सैन्धव, सिन्धु प्रदेश में उत्पन्न होनेवाला घोड़ा, सिन्धु भूमि से सम्बन्ध को स्पष्टतः प्रकट कर रहा है।] ॥ १६५ ॥

यस्योदयन्मेघगभीरगर्जने स्वान्तःप्रतिष्ठे वचसीव निस्सहम् ।
दास्योपतापः सहसा व्रजन्निव स्वातन्त्र्यबीजाङ्कुरितां व्यधाद्भुवम् ॥१६६॥

यस्य स्वान्तःप्रतिष्ठे वचसि इव उदयन्मेघगभीरगर्जने दास्योपतापः सहसा निस्सहं व्रजन् इव भुवं स्वातन्त्र्यबीजाङ्कुरिताम् व्यधात् ॥ १६६ ॥

उदित हो रहे मेघमण्डल के गर्जन के समान जिसकी अन्तःकरण से निकली हुई अमोघ वाणी को सुनकर सहसा भागने की चेष्टा करते हुए परतन्त्रता के दुःख ने मानो पृथ्वी को स्वतन्त्रता के बीजों से अंकुरित कर दिया ॥ १६६ ॥

यो रोचमानो हृदि देशवासिनां कारागृहे वा निगडे भयावहे ।
शैलो यथा युक्तमना ध्रुवस्थितिस्तेनेऽहितानां हृदयेऽपि विस्मयम् ॥१६७॥

देशे, भयावहे निगडे तपन् वा देशवासिनां हृदि रोचमानः यः ध्रुवस्थितिः युक्तमनाः शैलः यथा अहितानां हृदये अपि विस्मयं तेने ॥ १६७ ॥

देशवासियों के हृदय में सदैव प्रेरणा के स्रोत बने हुए जिस मनस्वी ने देश में (समाज में) या जेल में देश की दुर्दशा से सन्तप्त होते हुए भी अपने सङ्कल्प में

शैलराज की दृढ निष्ठा से शत्रुओं के हृदय को भी महान् विस्मय से भर दिया [शत्रु भयंकर पीडा देकर भी उन्हें लक्ष्यभ्रष्ट नहीं कर सकता था।] ॥ १६७ ॥

तं बालगङ्गाधरमेव[1] भूतले को लोकमान्यं न जनोऽवगच्छति ।
यद्भारती तारकमन्त्रसन्निभा दुःखत्रयान्मोक्तुमनुज्झितक्रमा ॥१६८॥

बालगङ्गाधरम् एव तं लोकमान्यं भूतले कः जनः न अवगच्छति, तारकमन्त्रसन्निभा यद्भारती दुःखत्रयात् मोक्तुम् अनुज्झितक्रमा (अस्ति) ॥ १६८ ॥

उस लोकमान्य बालङ्गाधर तिलक को इस पृथिवी पर कौन नहीं जानता, जिनकी तेजस्वी वाणी तारक मन्त्र के समान लोक को त्रिविध तापों से मुक्ति दिलाने के लिए सदैव तत्पर रहती है ॥ १६८ ॥

तान् देशकालावधिमुक्तबन्धनान् मोघं ग्रहीतुं यतते मम स्पृहा ।
वाग्देवतेयं स्थिरमानसाऽपि किं स्तोतुं महाराष्ट्रनभोमणीन् प्रभुः ॥१६९॥

देशकालावधिमुक्तबन्धनान् तान् ग्रहीतुं मम स्पृहा मोघं यतते, स्थिरमानसा अपि इयं वाग्देवता महाराष्ट्रनभोमणीन् स्तोतुं प्रभुः किम् ॥ १६९ ॥

देश-काल की परिधि से सर्वथा उन्मुक्त उन मनस्वियों को अपनी सीमा में बाँधने के लिए मेरी अभिलाषा निष्फल चेष्टा कर रही है। सर्वथा स्वस्थचित्त अवधानपूर्ण होकर स्वयं वाग्देवी सरस्वती भी महाराष्ट्र के सूर्यसदृश तेजस्वी महापुरुषों के यशोवर्णन में क्या कभी समर्थ हो सकती हैं ! ॥ १६९ ॥

मालोजिनाम्ना[2] प्रथितो जनश्रुतौ जातः पुरा पौरुषदैवतो भुवि ।
शस्त्रप्रतिष्ठोऽपि सदात्मपद्धतिर्योऽवेक्षितोऽहेतुकृपादृशा श्रिया ॥१७०॥

जनश्रुतौ मालोजिनाम्ना प्रथितः पौरुषदैवतः पुरा भुवि जातः। शस्त्रप्रतिष्ठः अपि सदात्मपद्धतिः यः अहेतुकृपादृशा श्रिया अवेक्षितः ॥ १७० ॥

जनश्रुति है कि पूर्वसमय में मालोजि नामक एक पुरुषार्थी सज्जन उत्पन्न हुए। शस्त्रविद्या में अतिप्रसिद्ध होने पर भी वे सत्त्ववृत्ति का आचरण करते थे। उनपर लक्ष्मी ने अहैतुकी कृपा कर दी ॥ १७० ॥

---

१. लोकमान्यबालगङ्गाधरतिलकः—"जीविताधिकारो नः स्वातन्त्र्यं नाम" भगवतः तिलकस्य मुखादेव निस्सरन्ती ब्राह्मी भूतलं संव्याप्य देवानपि विस्मापयामास। स्वातन्त्र्याध्वरार्पितानामनन्यो गणेशोत्सव-स्वदेशीप्रचारको गीतारहस्यकृती विदुषामुदाहृतिः विद्रोहचेताः भगवान् तिलकः।

२. मालोजिः पूर्वजः शिवराजस्य, पौरुषविश्रुतः सह्याचलोपत्यकां शून्यजनामसंस्तुतसस्यां हिंस्रजन्तुनिर्भरामपि निरापदं जनसङ्कुलां सस्यश्यामलां स्वपौरुषेण विधाय लब्धलक्ष्मीवरः मनोरथं समप्रीणयत्।

कान्तारगर्भामचलोत्करविलामव्याहतोद्योगनिवारितापदम् ।
धात्रीं विधायाशु बहुप्रजामसौ सन्धामिव स्वीकृतवान् प्रजापतेः ॥१७१॥

अचलोत्करविलां कान्तारगर्भाम् अव्याहतोद्योगनिवारितापदं धात्रीम् आशु बहुप्रजां विधाय असौ प्रजापतेः सन्धाम् इव स्वीकृतवान् ॥ १७१ ॥

जंगलों, झाड़-झंखाड़ों तथा पत्थरों से भरी हुई पृथिवी को, अपने उत्साहपूर्ण अथक परिश्रम से बाधारहित तथा कृषियोग्य बनाकर उस पुरुषार्थी ने निर्जनता को जनसंकुल बना दिया तथा इस प्रकार पृथिवी पर मानो प्रजापति ब्रह्मा जी के आदर्श (निर्माण) का ही पालन किया। कृषि की प्रतिष्ठा होने से अधिकाधिक लोग आकृष्ट हुए, सूना अंचल आबादी से भर गया ॥ १७१ ॥

न्यस्तं पदं सह्यगिरावपि स्थिरं लोकोद्यमैः सस्यनवाङ्कुरप्रभैः ।
हिंस्राऽऽकुला निर्जनकानना अवनिर्भूयो बभारावसथार्जवश्रियम् ॥१७२॥

सस्यनवाङ्कुरप्रभैः लोकोद्यमैः सह्यगिरौ अपि स्थिरं पदं न्यस्तम्, हिंस्राकुला निर्जनकानना अवनिः भूयः आवसथार्जवश्रियं बभार ॥ १७२ ॥

जनता के महान् परिश्रम ने प्रकृति को पराजित कर दिया। समाज के श्रमपूर्ण संघर्ष के फलस्वरूप अनाज के हरे-भरे खेतों की हरियाली से सह्याद्रि पर्वत की पार्श्वभूमि ढक गयी। जंगली हिंसक जानवरों से आक्रान्त वनान्तभूमि में निर्जनता के स्थान पर जनता की चहल-पहल का चमत्कार दिखाई देने लगा ॥ १७२ ॥

वत्सापदः क्रौर्यरमा वृकाधमा जिह्मे स्वभावं विनिवेश्य सत्वरम् ।
निर्बाधवासं तदधीनमण्डलं प्रोद्घोषयन्तः परितः पलायिताः ॥१७३॥

वत्सापदः क्रौर्यरमाः वृकाधमाः सत्वरं जिह्मे स्वभावं विनिवेश्य, तदधीनमण्डलं निर्बाधवासं प्रोद्घोषयन्तः परितः पलायिताः ॥ १७३ ॥

छोटे बच्चों और बछड़ों को उठा ले जानेवाले, क्रूरकर्मा, नृशंस भेड़ियों ने तुरन्त अपनी दुष्टता को कुटिल, परवञ्चक, धूर्तों के स्वभाव में स्थापित कर दिया तथा उस भूखण्ड को निर्बाध, निरापद उद्घोषित करते हुए वहाँ से अन्यत्र भाग गये ॥ १७३ ॥

तज्जातमष्टाब्दकमुत्सवं दृशामालक्ष्य सा याधवराजकामना ।
प्रत्यश्रृणोत् पारिषदेषु कल्पितुं तेनैव सौभाग्यवतीं निजौरसाम् ॥१७४॥

दृशाम् उत्सवम् अष्टाब्दकं तज्जातम् आलक्ष्य सा याधवराजकामना तेन एव निजौरसां सौभाग्यवतीं कल्पितुं पारिषदेषु प्रत्यश्रृणोत् ॥ १७४ ॥

मालोजि के अत्यन्त मनोहर आठ वर्ष के पुत्र को देखकर याधवराज नामक एक सामन्त ने सभासदों के बीच प्रतिज्ञा की कि वे अपनी पुत्री का विवाह उसी बालक से करेंगे ॥ १७४ ॥

दृष्टावकालोत्थितविद्युतः परं दन्दह्यमानाः समवेक्ष्य कातरः ।
नर्मानुरूपोदितमात्मनिश्चयं प्रख्याप्य भर्ता गृहिणीमपूपुजत् ॥१७५॥

परं दन्दह्यमानाः अकालोत्थितविद्युतः दृष्टौ (भार्यायाः) समवेक्ष्य कातरः भर्ता आत्मनिश्चयं नर्मानुरूपोदितं प्रख्याप्य गृहिणीम् अपूपुजत् ॥ १७५ ॥

किन्तु घर पर जब याधवराज ने इस सम्बन्ध में गृहिणी की आँखों में असमय में ही भस्म कर देनेवाली बिजली को कौंधते देखा तो कातर भाव से अविलम्ब अपनी प्रतिज्ञा को हास-परिहास में कही गयी उक्ति बतलाकर बड़ी कठिनता से गृहिणी के कोप का उपशमन किया। वस्तुतः याधवराज की पत्नी मालोजी को अपनी स्थिति के समकक्ष मानना नहीं चाहती थी ॥ १७५ ॥

तुष्टोऽपि यः स्वोद्यमकृष्टवैभवो भित्त्वा भविष्यत्स्वजनस्य संशयम् ।
तस्यौरसामेव नयन् स्नुषापदे जग्रन्थ सत्येन गिरं प्रतिश्रुताम् ॥१७६॥

तुष्टः अपि स्वोद्यमकृष्टवैभवः यः भविष्यत्स्वजनस्य संशयं भित्त्वा तस्य औरसाम् एव स्नुषापदे नयन् सत्येन प्रतिश्रुतां गिरं जग्रन्थ ॥ १७६ ॥

यद्यपि मालोजी अपने श्रम एवं उद्योग से अर्जित स्थिति से सर्वथा सन्तुष्ट थे तथापि वे होनेवाले सम्बन्धी याधवजो को भ्रष्टप्रतिज्ञ नहीं करना चाहते थे अतः उन्होंने उनके अनेकविध संशयों को दूर कर उनकी कन्या को ही अपनी पुत्रवधू बनाया तथा इस प्रकार सत्य से की गयी प्रतिज्ञा को सम्बद्ध कर दिया ॥ १७६ ॥

आराधितोदारशिवावतारणा सा भोसलेवंशयशःपलाशिनी ।
अव्यक्तमूलापि ततान गौरवं भूभृत्कुलालङ्कृतपात्रपद्धतिः ॥१७७॥

आराधितोदारशिवावतारणा भोसलेवंशयशःपलाशिनी अव्यक्तमूला अपि भूभृत्कुलालङ्कृतपात्रपद्धतिः सा गौरवं ततान ॥ १७७ ॥

उदारता से विभूषित शिवराज को जन्म देनेवाली, भोसला-कुल की कीर्तिवाहिनी (नदी) वह कुलवधू (जीजीबाई) यद्यपि सामान्य वातावरण से ही आरम्भ में सम्बद्ध थी पर आगे चलकर उसकी गरिमा का ऐसा विस्तार हुआ कि वह राजकुल की जन्मदात्री के सम्मान से प्रख्यात हुई ॥ १७७ ॥

आदर्शयाथार्थ्यविदात्मनन्दिनी सा देवमायेव चरित्रदेवता ।
तं रत्नसूनुं सुषुवे प्रजाभरं यत्तेजसाऽद्यापि वयं वयं युगे ॥१७८॥

आदर्शयाथार्थ्यविदात्मनन्दिनी देवमाया इव सा चरित्रदेवता प्रजाभरं तं रत्नसूनुं सुषुवे यत्तेजसा अद्य अपि वयं युगे वयम् (एव) ॥ १७८ ॥

आदर्श एवं याथार्थ्य के महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध को जाननेवाली आत्मज्ञानवती उस देवमाया के समान महीयसी चरित्रलक्ष्मी ने उस प्रजापालक पुत्ररत्न को जन्म दिया जिसके पराक्रम तथा तेज से आज भी हम हम हैं [यदि क्षत्रपति न उत्पन्न

हुए होते तो हममें से अधिकांश के लिए अस्तित्व का ही संकट उपस्थित हो गया होता।] ॥ १७८ ॥

वंशप्रकर्षेण परम्पराभृता श्रेयांसि विन्दन्ति न के शरीरिणः ।
लोके परं सा जनिरुच्यते जनिर्वंशो ययाविष्कुरुते स्थिरं यशः ॥१७९॥

परम्पराभृता वंशप्रकर्षेण के शरीरिणः श्रेयांसि न विन्दन्ति, परं लोके सा जनिः (एव) जनिः उच्यते यया वंशः स्थिरं यशः आविष्कुरुते ॥ १७९ ॥

परम्परा का पोषण करनेवाले सम्भ्रान्त कुल में जन्मग्रहण मात्र से श्रेय को कौन नहीं प्राप्त करता ! किन्तु संसार में उसी जन्म को उत्कृष्ट जन्म कहा जाता है जिससे कुल की कीर्ति बढ़ती है ॥ १७९ ॥

कर्मोपदिष्टेन पथैश्वरं महो लोके प्रतिष्ठाप्य जितामृताम्भसाम् ।
पूर्वं गतानां पुरुषार्थकीर्तनं दोलायमानं तमनन्दयत् शिशुम् ॥१८०॥

लोके कर्मोपदिष्टेन पथा ऐश्वरं महः प्रतिष्ठाप्य पूर्वं गतानां जितामृताम्भसां पुरुषार्थ-कीर्तनं तं दोलायमानं शिशुम् अनन्दयत् ॥ १८० ॥

पालने में झूलता हुआ शिशु उन पूर्वजों का पौरुषमय आह्लादक चरित्र सुना करता था जो कभी इस पृथिवी पर जीवित रहते हुए कर्मानुसार प्राप्त मार्ग का आश्रय लेकर देवताओं के यश को, उनके ऐश्वर्यपूर्ण तेज को प्रतिष्ठित करते थे ॥ १८० ॥

स्वच्छन्दशैलाञ्चलनिर्जनोरसि स्निग्धानिलापादितसख्यगौरवः ।
बालो गुणैश्चन्दनपादपो यथा गन्धोत्करैः पार्श्ववतोऽप्यरञ्जयत् ॥१८१॥

स्वच्छन्दशैलाञ्चलनिर्जनोरसि स्निग्धानिलापादितसख्यगौरवः बालः चन्दनपादपः यथा गन्धोत्करैः गुणैः पार्श्ववतः अपि अरञ्जयत् ॥ १८१ ॥

जिस प्रकार पर्वताञ्चल के अन्तराल में अनुरागी सहायक पवन के द्वारा चन्दन का वृक्ष अपनी गन्ध बिखेरता है तथा पार्श्ववर्ती वृक्षों में भी आत्मगुण का आरोपण कर देता है वैसे ही निर्जन पर्वताञ्चल में स्वच्छन्द गति से अनन्यतम मित्रों का परिवार बनाकर बालक शिवराज ने पार्श्ववर्तियों को अपने गुणों से वशीभूत कर लिया ॥ १८१ ॥

सा दुस्तरारातिकरालशर्वरी गर्भाऽऽवृतानन्तनृपोडुसंहतिः ।
नाशङ्कताशङ्कमनाः स्फुरत्प्रभामादित्यदूतीमिव वासवीश्रियम् ॥१८२॥

गर्भाऽऽवृतानन्तनृपोडुसंहतिः सा दुस्तरारातिकरालशर्वरी अशङ्कमनाः (सती) स्फुरत्प्रभाम् आदित्यदूतीम् इव वासवीश्रियं न अशङ्कत ॥ १८२ ॥

अपने गर्भ में अनन्त (असंख्य, आकाश) नक्षत्ररूपी राजाओं के समूह को पचा लेनेवाली उस दुस्तर शत्रुरूपी भयङ्कर काली रात ने (मुगल साम्राज्य ने) निर्भय होने के कारण, किञ्चित् शुक्लिमा (सफेदी) धारण करती हुयी सूर्य की दूती के समान पूर्व दिशा की शोभा को आशङ्का से नहीं देखा [काली रात कब सशङ्क होती है कि सबेरा होगा और उसके अन्धकार को प्रकाश नष्ट कर देगा !]॥ १८२॥

अव्याहतज्योतिरमोघविक्रमो वृत्रोदरेऽन्तर्विशते यथाऽशनिः ।
मार्गं मघोने प्रददावसौ तथा लोकोदयायारितमोऽन्तकोऽभवत् ॥१८३॥

वृत्रोदरे अन्तर्विशते मघोने अव्याहतज्योतिः अमोघविक्रमः अशनिः यथा मार्गं प्रददौ तथा असौ (शिवः) लोकोदयाय अरितमोऽन्तकः अभवत् ॥ १८३ ॥

जिस प्रकार सुदुर्दर्श ज्योति से पूर्ण, अमोघ शक्तिशाली वज्र ने वृत्रासुर के पेट में घुसनेवाले इन्द्र का मार्ग प्रशस्त किया उसी प्रकार शिव वीर ने देश के कल्याणार्थ शत्रुरूपी अन्धकार का विनाश किया॥ १८३ ॥

अग्नेर्निवाते प्रहितो यथा कणो जीवन्निवाङ्कागतपर्णवर्त्मना ।
वातैरनन्तैः क्रमशो निषेवितो दिल्लीमहारण्यमपि व्यतापयत् ॥१८४॥

निवाते प्रहितः अग्नेः कणः यथा अङ्कागतपर्णवर्त्मना जीवन् अनन्तैः वातैः क्रमशः निषेवितः (सः शिवराजः) दिल्लीमहारण्यम् अपि व्यतापयत् ॥ १८४ ॥

जिस प्रकार वातरहित स्थान पर फेका हुआ अग्निकण किसी प्रकार आसपास के सूखे पत्तों को आत्मसात् कर धीरे-धीरे हवा की अनुकूलता पाकर जोर पकड़ता हुआ भयङ्कर वन को जलाने के लिए दुर्धर्ष दवाग्नि हो जाता है वैसे ही सुदूर पर्वतीय अञ्चल में किसी प्रकार आत्मस्थिति की रक्षा करते हुए अनुकूल अवसर का सहयोग पाकर शक्तिसञ्चय करते हुए शिवराज ने दिल्ली को भी भयङ्कर सन्ताप दिया॥ १८४ ॥

सम्भ्रमेऽपि यमाशङ्क्य गह्वरान्तर्हितं तमः ।
चलदित्ययशो धत्ते तं नुमस्तिमिरान्तकम् ॥१८५॥

यं सम्भ्रमे अपि आशङ्क्य गह्वरान्तर्हितं तमः चलत् इति अयशः धत्ते तं तिमिरान्तकं नुमः ॥ १८५ ॥

उस अन्धकार-विनाशक सूर्य को प्रणाम है जिनकी यों ही आशङ्का करने से घोर गुफा के पेट में रहनेवाले अन्धकार के लिए भी कह दिया गया कि 'अन्धकार भगोड़ा है' [तात्पर्य यह कि अन्धकार वस्तुतः न तो आता है, न भागता है। प्रकाश की स्थिति में उसका अभाव तथा प्रकाश के नहीं रहने पर उसका सद्भाव प्रतीत होता है। इसीलिये समाज में 'तमश्चलति' (अँधेरा भागता है) ऐसी उक्ति है।]॥ १८५ ॥

गाम्भीर्येऽम्भोधिकल्पो हिमगिरिरुदितो योऽपरो मानमाने
गङ्गाम्भःस्वच्छधारः प्रवहति सततं सिद्धये यद्विवेकः।
यस्यर्तूनां समाजः श्रयति तरुलतासस्यसौभाग्यलक्ष्मीम्
पुण्यात्तत्र प्रसूतिर्विधिविधिरचिते भारते भारतेऽत्र ॥१८६॥

यः गाम्भीर्ये अम्भोधिकल्पः, मानमाने उदितः अपरः हिमगिरिः, यद्विवेकः सिद्धये सततं गङ्गाम्भःस्वच्छधारः प्रवहति, ऋतूनां समाजः यस्य तरुलतासस्यसौभाग्यलक्ष्मीं श्रयति, विधिविधिरचिते भारते तत्र भारते अत्र पुण्यात् प्रसूतिः ॥ १८६ ॥

जो गाम्भीर्य में समुद्र के समान है, प्रतिष्ठा की उच्चता में जिसे दूसरा हिमालय ही कहा जाता है, गङ्गा की स्वच्छ धारा के समान जिसका विवेक सतत-कल्याण-प्राप्ति के लिए गतिशील रहता है, ऋतुओं का समूह जिसकी तरुलता-सम्पत्ति एवं अन्नादि को नित्य संवर्धित करता रहता है, ब्रह्मा द्वारा मनोयोगपूर्वक रचित इस प्रभापूर्ण भारत देश में बिना पुण्य किये जन्म प्राप्त करना असम्भव है ॥ १८६ ॥

इति श्रीत्रिपाठ्युपाह्वेन उमाशङ्करशर्मणा विरचिते
क्षत्रपतिचरित-महाकाव्ये द्वितीयः सर्गः।

अथ तृतीयः सर्गः

विविक्तभूः सिद्धिपथेऽनुगच्छतामशङ्कितारातिसमीरणार्गलः ।
प्रजाद्विजानां शरणं गतिः सतां प्रसन्नतोयोल्लसितापगाजनिः ॥ १ ॥
अनर्थसार्थोन्मथनाय भैरवो ध्रुवप्रतिष्ठाऽभ्युदयप्रभावताम् ।
कुलद्रुमाराधनसम्भृतच्छविर्निसर्गगोप्ता जनमङ्गलश्रियः ॥ २ ॥
समाधिरव्याहतधामबिभ्रतां पदं त्रिवर्गस्य महीभृतां गुरुः ।
उदाहृतिः शस्त्रभृतां भुवो मणिर्दिवानिशं मानसहंससेवितः ॥ ३ ॥
वपुर्धरः पौरुषमेव साहसी मनोरथस्तापितदेशसंस्कृतेः ।
अवातरन्नूनमसौ जगन्मुदे शिवः क्षमावान् हिमवानिवापरः ॥ ४ ॥

सिद्धिपथे अनुगच्छतां विविक्तभूः, अशङ्कितारातिसमीरणार्गलः, प्रजाद्विजानां शरणं सतां गतिः प्रसन्नतोयोल्लसितापगाजनिः ॥ १ ॥

अनर्थसार्थोन्मथनाय भैरवः अभ्युदयप्रभावतां ध्रुवप्रतिष्ठा, कुलद्रुमाराधनसम्भृतच्छविः जनमङ्गलश्रियः निसर्गगोप्ता ॥ २ ॥

अव्याहतधामबिभ्रतां समाधिः, त्रिवर्गस्य पदं, महीभृतां गुरुः, शस्त्रभृताम् उदाहृतिः, भुवः मणिः दिवानिशं मानसहंससेवितः ॥ ३ ॥

पौरुषम् एव साहसी वपुर्धरः, तापितदेशसंस्कृतेः मनोरथः, क्षमावान् असौ शिवः नूनं जगन्मुदे अपरः हिमवान् इव अवातरत् ॥ ४ ॥

[चारों श्लोक परस्पर समन्वित हैं। क्षत्रपति को हिमवान के रूपक द्वारा प्रस्तुत किया गया है। फलतः विशेषण पद दोनों पक्षों में प्रयुक्त होंगे।] पृथ्वी पर क्षत्रपति का अवतार मानो उत्कृष्टतर दूसरे हिमवान् के ही रूप में हुआ है। वे सिद्धिमार्ग के साधकों, पथिकों के लिए पवित्र पीठ के समान, निर्द्वन्द्व शत्रुरूपी आँधी के लिए अमोघ अवरोध, प्रजाकुल के शरण, सज्जनों की गति, प्रसन्नसलिला नदियों के उद्गमस्थल, अनर्थमूलक प्रपञ्च के विनाशार्थ भैरव, अभ्युदयवालों की प्रतिष्ठा, स्वजनों के स्नेह एवं निष्ठा से सुशोभित, लोक-कल्याण के अनन्य रक्षक, उत्कृष्ट तेजस्वी जनों के लिए समाधि, त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) के पोषक, राजाओं के राजा, शस्त्रधारियों में प्रमाण, पृथिवी के मणि, मानस के विवेक की प्रतिष्ठा, पुरुषार्थ के मूर्तिमान् स्वरूप और पराधीन भारतीय संस्कृति के मनोरथ थे। देश को स्वास्थ्य एवं प्रसन्नता प्रदान करने के लिए वे अपर तेजस्वी हिमवान् के रूप में ही अवतीर्ण हुए ॥ १-४ ॥

सुदुर्व्यवस्थापरिदूषितावनौ तदोग्रसेनोदितदारुणोद्यमैः ।
असाधुचारप्लवमेव यन्त्रितुं शिवस्वरूपं वसुदेवजोऽश्रयत् ॥ ५

तदा उग्रसेनोदितदारुणोद्यमैः सुदुर्व्यवस्थापरिदूषितावनौ असाधुचारप्लवम् एव यन्त्रितुं वसुदेवजः शिवस्वरूपम् अश्रयत् ॥ ५ ॥

घोर दुर्व्यवस्था से आक्रान्त पृथिवी पर, दुर्दमनीय सेना के भयंकर अत्याचारों से (उग्रसेन-पुत्र कंस के अन्याय से) उत्पन्न दुराचार की बाढ़ रोकने के लिए ही मानो बालक शिवाजी के रूप में वसुदेवनन्दन कृष्णजी ने अवतार लिया [भगवान् स्वयं ही गीता में कहते हैं : परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥] ॥ ५ ॥

स्थितेऽपि दूरं जनके यथाक्रमं विवेद वेद्यं नयनोत्सवः शिशुः ।
अपत्यमेकाऽपि महीयसी प्रसूर्बिभर्ति शास्त्रोदितसम्पदा ध्रुवम् ॥ ६ ॥

जनके दूरं स्थिते अपि नयनोत्सवः शिशुः यथाक्रमं वेद्यं विवेद । एका अपि महीयसी प्रसूः शास्त्रोदितसम्पदा ध्रुवम् अपत्यं बिभर्ति ॥ ६ ॥

पिता (शाहजी भोंसले) के घर से दूर रहने पर भी उस नयनाभिराम शिशु की उचित शिक्षा-दीक्षा हुई। अकेली भी मनस्विनी माता अपनी सन्तान में यथानुकूल शील, विवेक, विद्या आदि सद्गुणों को भर देती है [ज्ञातव्य है कि चरितनायक शिवनेरी दुर्ग में उत्पन्न हुए थे जागीर आदि की देखरेख में पिता शाहजी को बहुधा बाहर ही रहना पड़ता। अतएव बालक ने अधिकतर माता जीजीबाई की देखरेख में ही शिक्षा प्राप्त की।] ॥ ६ ॥

शिशोश्चरित्रं प्रकृतिं मनो वपुः प्रसूर्विनिर्माति पयस्सुधाद्रवैः ।
गुरुस्तु तस्मिन्नुपदेशवारिणा तदुप्तमेवोपकरोति वर्धितुम् ॥ ७ ॥

प्रसूः पयस्सुधाद्रवैः शिशोः चरित्रं प्रकृतिं मनः वपुः विनिर्माति । गुरुः तु उपदेशवारिणा तस्मिन् तत् उप्तम् एव वर्धितुम् उपकरोति ॥ ७ ॥

जन्म देनेवाली माता ही अपने दुग्धामृत से शिशु का संवर्धन करती है। बालक में चारित्र्य, सद्गुणों की प्रतिष्ठा, स्वभाव, मन, स्वास्थ्य आदि का निर्माण वही करती है। इस प्रकार बच्चे में इन भावों का बीजारोपण माता ही करती है। गुरु की शिक्षा इन बीजों के संवर्धन में, पल्लवित-पुष्पित करने में जल (सिञ्चन) का काम करती है ॥ ७ ॥

यथा पृथाऽपालयदार्यगौरवा सुताननल्पे व्यसनेऽपि मानिनी ।
यथा सुपर्णं विनता यशस्विनी शिवं तथा तज्जननी व्रतस्थिरा ॥ ८ ॥

अनल्पे अपि व्यसने आर्यगौरवा मानिनी पृथा यथा सुतान् अपालयत्, यशस्विनी विनता यथा सुपर्णम् (अपालयत्), व्रतस्थिरा तज्जननी तथा शिवम् (अपालयत्) ॥ ८ ॥

आर्या पृथा (कुन्ती देवी) ने जिस प्रकार घोर संकट और विपत्ति में भी अपने पुत्रों (पाण्डवों) का पालन किया तथा जिस प्रकार यशस्विनी विनता ने

पक्षिराज गरुड का संवर्धन किया, उसी प्रकार आत्मनिष्ठासम्पन्न माता जीजाबाई ने बालक शिवाजी का पालन-पोषण, अनुशिक्षण आदि किया ॥ ८ ॥

विवेद मातुः स्तननिस्सृतामृतैः सहाखिलं वेद्यमसौ यतोऽर्भकः ।
यथार्थतः सा प्रथमो गृहे गुरुर्गुरुर्द्वितीयः प्रकृतिर्गृहाद्बहिः ॥ ९ ॥

असौ अर्भकः यतः मातुः स्तननिस्सृतामृतैः सह अखिलं वेद्यं विवेद (अतः) सा यथार्थतः गृहे प्रथमः गुरुः, गृहात् बहिः प्रकृतिः द्वितीयः गुरुः ॥ ९ ॥

बालक ने माँ के अमृतमय दूध के साथ ही आवश्यक अनेकविध ज्ञान भी प्राप्त कर लिया। वस्तुतः उस कौटुम्बिक वातावरण में माता ही प्रथम गुरु हुई। इसी प्रकार घर से बाहर प्रकृति दूसरी गुरु बनी। बच्चे ने माता के द्वारा तथा प्रकृति के सान्निध्य एवं साहचर्य में अपेक्षित बुद्धि-बल प्राप्त किया ॥ ९ ॥

पदात्पदं तां जननीमनुव्रजन् व्रजे गवां देवगृहे तटेऽर्भकः ।
चरित्रनिष्ठामनुषङ्गनन्दिनीमुवाह सङ्कल्पधियश्च मानिनाम् ॥ १० ॥

तां जननीं पदात् पदम् अनुसरन् गवां व्रजे, देवगृहे, तटे, अर्भकः अनुषङ्गनन्दिनीं चरित्रनिष्ठां मानिनां सङ्कल्पधियंधियं च उवाह ॥ १० ॥

माँ के पीछे-पीछे चलनेवाले उस बालक ने गोशाला, मन्दिर, नदीतट आदि को देखा। यही नहीं, माँ की देखरेख में सहज स्वाभाविक रूप में विकसित होती हुई चारित्रिक निष्ठा एवं महापुरुषों की संकल्प-बुद्धि को भी उसने आत्मप्रतिष्ठित कर लिया ॥ १० ॥

दशास्यहन्तुर्विजयैर्बलाद्धृतः सुविस्मितो वायुसुतस्य विक्रमैः ।
विदेहजायाः करुणानिवेदितैः कथासु पर्यश्रुरभूत् कदा न सः ॥ ११ ॥

दशास्यहन्तुः विजयैः बलात् हृतः, वायुसुतस्य विक्रमैः सुविस्मितः, विदेहजायाः करुणा-निवेदितैः सः कथासु कदा पर्यश्रुः न अभूत् ॥ ११ ॥

दशानन रावण का वध करनेवाले भगवान् राम की विजयगाथा उस बालक के मन पर अमिट रेख बन गयी। वायुपुत्र हनुमान् के शौर्यवर्णन से वह चमत्कृत हो उठा। विदेहकन्या भगवती सीता के करुणाविगलित शोकोद्गारों को सुनकर उसकी आँखों से आँसू ढुलक पड़े ॥ ११ ॥

उदारवृत्तश्रवणैर्महात्मनां स भारतानां युधि भारताश्रयः ।
अतीतसद्रत्ननिधीनिवाम्बुधीनमन्यतैतिह्यपुराणविस्तरान् ॥ १२ ॥

भारताश्रयः सः महात्मनां भारतानां युधि उदारवृत्तश्रवणैः अतीतसद्रत्ननिधीन् ऐतिह्य-पुराणविस्तरान् अम्बुधीन् इव अमन्यत ॥ १२ ॥

देश के भावी आश्रयस्थल बालक शिवाजी ने महाभारत युद्ध के आर्य वीरों की उदार यशस्वी गाथा सुनी। उसे यह विश्वास हो गया कि पुराण और प्राचीन

भारतीय इतिहास आदि भारतीय संस्कृति के रत्नाकर हैं जिनमें अनेकविध श्रेष्ट रत्नों का भाण्डार संगृहीत है ॥ १२ ॥

न शुक्तये मौक्तिकलब्धये परं धृतः क्रमस्तेन नतेन सादरम् ।
स्तोऽपि कामं पदपङ्क्तिबन्धने मनोरथार्थी नवमार्गमाश्रयत् ॥ १३ ॥

शुक्तये न, परं मौक्तिकलब्धये नतेन तेन सादरं क्रमः धृतः । पदपङ्क्तिबन्धने कामं रतः अपि मनोरथार्थी नवमार्गम् आश्रयत् ॥ १३ ॥

विनयशील बालक शिवाजी सारग्राही थे। वे सीपियों के लिए नहीं अपितु मोतियों के लिए प्रयत्नशील रहते थे। पदपंक्तिबन्धन (शब्द, वाक्य आदि या पैर बढ़ाने) में रुचि रखते हुए भी वे बहुधा नवीन प्रयोग, नवीन मार्ग के लिए आग्रह रखते थे। बचपन से ही वे अपनी धुन के पक्के थे। लकीर का फकीर होना उन्हें पसन्द न था। वे बहुधा 'कुछ नया' करने के लिए उत्सुक रहते थे ॥ १३ ॥

स कौण्ड[1]देवादनुभूतिपेशलामपांसुलामाहितलोकसम्पदम् ।
त्रिवर्गसारोपचितात्मविग्रहां सरस्वतीं प्रीतिमिवाश्रयद्धृदि ॥ १४ ॥

सः कौण्डदेवात् अनुभूतिपेशलाम् अपांसुलाम् आहितलोकसम्पदम् त्रिवर्गसारोपचितात्मविग्रहाम् सरस्वतीं प्रीतिम् इव हृदि अश्रयत् ॥ १४ ॥

श्री कौण्डदेव के द्वारा शिवाजी की शिक्षा-दीक्षा हुई। कोण्डदेव की शिक्षा-पद्धति अनुभव पर आधारित, सुबोध, लोकमंगल की भावना से पूर्ण तथा व्यावहारिक थी। बालक ने धर्म, अर्थ और काम—त्रिवर्ग से पूर्ण सरस्वती को प्रीति के समान हृदय में धारण किया ॥ १४ ॥

अविश्रुतोऽप्यात्मसदुद्यमश्रुतो दधौ धृतिं नावमिवास्थिरोदधौ ।
अहेतुवैरव्यसनाग्रहात्मनां मनांसि भेत्तुं स कुमारविक्रमः ॥ १५ ॥

अविश्रुतः अपि आत्मसदुद्यमश्रुतः धृतिम् अस्थिरोदधौ नावम् इव दधौ, अहेतुवैरव्यसनाग्रहात्मनां मनांसि भेत्तुं सः कुमारविक्रमः (आसीत्) ॥ १५ ॥

नवयुवक शिवाजी यद्यपि सर्वत्र विख्यात नहीं हुए थे तथापि अपने मंगलमय अध्यवसाय के लिए प्रसिद्ध हो चुके थे। देश की चंचल राजनीतिक परिस्थिति क्षुब्ध समुद्र के समान थी। उन्होंने अपने धैर्य को नाव के समान सँभाला। अकारण शत्रुता-पूर्ण दुर्विचार रखनेवाले दुष्टों के दमन के लिए वे पराक्रमी कार्तिकेय के समान थे ॥ १५ ॥

श्रमोऽश्रयत्तन्नवयौवनं वपुः सदर्थसिद्धौ विललास विक्रमः ।
तुतोष चेतो विरहे जनापदां हितेषु साफल्यमवाप जन्मिता ॥ १६ ॥

१. दादाजी कोण्डदेवः— प्रबन्धकः शिवनेरीदुर्गस्य, तद्वर्तिभुवश्च । शिवशिक्षकोऽयं बहुमतः भोंसलेकुले ।

श्रमः तन्नवयौवनं वपुः अश्रयत्, विक्रमः सदर्थसिद्धौ विललास, चेतः जनापदां विरहे तुतोष, जन्मिता हितेषु साफल्यम् अवाप ॥ १६ ॥

श्रम ने नवयुवक शिवाजी के शरीर को स्वस्थ एवं शक्तिशाली बनाया। वे उच्च उद्देश्य की उपलब्धि में ही आत्मशक्ति का प्रयोग, उपयोग करते थे। समाज की दुर्दशा को समाप्त करने में उनके हृदय को सन्तोष मिलता था। कल्याणमय कार्यों को करते हुए वे जीवन को सफल मानते थे ॥ १६ ॥

शशाक न द्रष्टुमसौ जनव्यथामचिन्तयत्तत्प्रशमं समाहितः।
विधिश्च निर्बन्धमनोरथोऽन्वगादुवाह सिद्धिं विधिरिष्टसत्फलाम् ॥ १७ ॥

असौ जनव्यथां द्रष्टुं न शशाक, समाहितः तत्प्रशमं व्यचिन्तयत्, निर्बन्धमनोरथः च विधिम् अन्वगात्, विधिः इष्टसत्फलां सिद्धिम् उवाह ॥ १७ ॥

प्रजा के कष्टों को वे देख नहीं सकते थे अतः मनोयोगपूर्वक उसके निवारण की चिन्ता करते थे। उनका मनोरथ आत्मसिद्धि के अनुकूल कार्य का अनुगमन करता था तथा उनका कार्यकलाप उन्हें निश्चित अभीष्ट फल प्रदान करता था। प्रजा के कष्ट-निवारण के लिए चिन्तन, चिन्तन से संकल्प, संकल्प से अनुकूल कार्यान्वयन, अनुकूल कार्य द्वारा प्रजाकष्टनिवारणरूप अभीष्ट-फलप्राप्ति—इस प्रकार आरम्भ से ही नवयुवक शिवराज सुविचारित ढंग से कार्य करने के पक्षपाती थे ॥ १७ ॥

सदा सहायाः सहजापदोऽभितो बलं विपन्ना रिपुकम्पिता प्रजा।
तितीर्षुरुग्रां प्रतिकूलवाहिनीं यदि क्षमोऽसौ दृढनिश्चयो हि तत् ॥ १८ ॥

अभितः सहजापदः सदा सहायाः, रिपुकम्पिता विपन्ना प्रजा बलं, यदि उग्रां प्रतिकूलवाहिनीं तितीर्षुः असौ क्षमः तत् हि दृढनिश्चयः ॥ १८ ॥

सर्वथा प्रतिकूल परिस्थितियों में नवयुवक छत्रपति ने अपने पथ का निर्माण किया। सहायक के नाम पर उनके चारों ओर फैली हुई अनेकविध विपत्तियों का जाल था। शत्रु द्वारा अनेक प्रकार से उत्पीड़ित विपन्न प्रजा ही उनकी शक्ति थी। फिर भी प्रतिकूलगामिनी भयंकर रिपुसेना (या नदी) को पार करने में यदि वे समर्थ हो सके तो इसका प्रधान श्रेय उनकी अचल संकल्प निष्ठा को ही है ॥ १८ ॥

प्रजाशनानां विलयाय विद्विषां नवोदयायाशु च लोकसम्पदाम्।
स वाजिनं वाजिनमेव जीवने निजाश्रयं सञ्चकमे गतव्यथः ॥ १९ ॥

प्रजाशनानां विद्विषां विलयाय, लोकसम्पदां च आशु नवोदयाय, गतव्यथः सः वाजिनं वा अजिनम् एव जीवने निजाश्रयं सञ्चकमे ॥ १९ ॥

इस वीरकेशरी के सम्मुख दो ही कठिन समस्याएँ थीं, प्रजाजनों का संहार करनेवाले शत्रुओं का विनाश तथा समाज का अविलम्ब अभ्युदय। इन दोनों महान् उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उन्होंने घोड़े को या मृगचर्म को निर्विकार भाव से अपना

अवलम्ब माना। या तो सैन्यसंग्रह द्वारा शत्रु का प्रतिरोध करने के लिए संघर्ष या असमर्थ होने की दशा में तपस्विजनों का आचरण ॥ १९ ॥

रणे कराले प्रियसन्निसादिने ददौ प्रबन्धो विपदां सुविक्रमम्।
घनान्तरायो दृढनिश्चयं मनो हताऽपि तस्मै विजयं द्विषां ततिः ॥ २० ॥

कराले रणे विपदां प्रबन्धः प्रियसन्निसादिने सुविक्रमं ददौ, घनान्तरायः दृढनिश्चयं मनः (ददौ), हता अपि द्विषां ततिः तस्मै विजयं (ददौ) ॥ २० ॥

इस यशस्वी घुड़सवार को सम, विषम प्रत्येक स्थिति ने अनुगृहीत ही किया। भयंकर युद्ध में विपत्ति-बाधाओं ने उनके शौर्य एवम् उत्साह को शतगुणित कर दिया। विघ्नों की दुरूहता ने उनके मन को अधिकाधिक संकल्पपूर्ण बनाया तथा शत्रुदल ने निहत होकर उन्हें विजयलक्ष्मी का उपहार प्रदान किया ॥ २० ॥

असंस्तुतस्पन्दनवोद्गमैर्मुहुः स्वदक्षिणाशामचिराय वामता।
शिवेतरक्षेत्रवती व्यकम्पयद् विपक्षपक्षोत्कदनोद्यते शिवे ॥ २१ ॥

विपक्षपक्षोत्कदनोद्यते शिवे, शिवेतरक्षेत्रवती वामता स्वदक्षिणाशाम् असंस्तुतस्पन्दनवोद्गमैः मुहुः अचिराय व्यकम्पयत् ॥ २१ ॥

नवयुवक क्षत्रपति के आरम्भिक उत्कर्ष से आक्रान्त तथा शत्रुदल के विनाशार्थ उन्हें तत्पर जानकर भयभीत शत्रुलोक विकल हो उठा। उसकी दक्षिणी सीमा में कँपकपी फैल गयी। अब तक शत्रु को भय से पाला नहीं पड़ा था किन्तु अब उसे अपने कल्याण में सन्देह होने लगा। बीजापुर आदि राज्यों में विशेषतः मुगल साम्राज्य के दक्षिणी भाग में विकलता बढ़ने लगी ॥ २१ ॥

प्रजानिमित्तार्पितजीवितक्षणं निराकृतस्वार्थमलं कथन्नु तम्।
दुरत्ययेऽप्यध्वनि संशयाग्रहो व्रतान्निरोद्धुं प्रभवेन्मनागपि ॥ २२ ॥

प्रजानिमित्तार्पितजीवितक्षणं निराकृतस्वार्थमलं तं दुरत्यये अध्वनि अपि संशयाग्रहः व्रतात् मनाक् अपि निरोद्धुं कथं नु प्रभवेत् ॥ २२ ॥

उस नवयुवक वीर ने महान् उद्देश्य के लिए प्रजाराधन के लिए अपने जीवन को समर्पित कर दिया था। उनके उस भगीरथ-उद्योग में स्वार्थ का लेशमात्र भी नहीं था। निस्स्वार्थ भाव से सार्वजनीन लक्ष्य की सिद्धि के लिए महाराष्ट्र-केसरी ने अपने जीवन का मोह त्याग दिया था। यही कारण था कि कठिन मार्ग पर चलते हुए भी विषम परिस्थिति में भी उन्हें संशय विचलित नहीं कर सकता था ॥ २२ ॥

शुभाशिषः सिद्धिमतां समुत्सुका अवन्ध्यपुण्योपचयस्तपस्विनाम्।
विलुण्ठितानाञ्च मनोरथोऽवशः शिवप्रयत्नेऽङ्कुरिता इवाभवन् ॥ २३ ॥

सिद्धिमतां समुत्सुकाः शुभाशिषः तपस्विनाम् अवन्ध्यपुण्योपचयः विलुण्ठितानाम् अवशः मनोरथः च शिवप्रयत्ने अङ्कुरिताः इव अभवन् ॥ २३ ॥

वीर शिवाजी के उस महान् स्वातन्त्र्य संघर्ष में दृष्ट, अदृष्ट सभी शुभ भावनाओं का योगदान था। अपेक्षित देश, काल, पात्र का उत्तम संयोग पाकर उनका मनोरथ विकसित हो उठा। सिद्ध पुरुषों की शुभाशंसा, तपस्विजनों का अमोघ पुण्य, पददलित समाज का निरुपाय मनोरथ सभी उत्कण्ठित हो महाराष्ट्र वीर के उस महान् उद्योग में अंकुरित होने लगे। महान् क्रान्तियों की सफलता में लोकचेतना का बहुत बड़ा योगदान रहता है॥ २३॥

अजस्रवर्धिष्णुनवाम्बुदच्छविस्तमालरेखेव दुरातपच्छिदम्।
दिगन्तदृष्टा प्रतनुच्छटापि सा व्यपेतमूर्च्छामुदजीवयत् स्थितिम्॥ २४॥

दिगन्तदृष्टा तमालरेखा इव प्रतनुच्छटा अपि सा अजस्रवर्धिष्णुनवाम्बुदच्छविः दुरातपच्छिदं स्थितिं व्यपेतमूर्च्छाम् उदजीवयत्॥ २४॥

दूर क्षितिज के कोने में पतली काली तमालरेखा के समान विरल किन्तु सतत फैलनेवाली नवीन वर्षाकालीन उस बादल की शोभा ने भयंकर गर्मी से उत्पन्न विषम स्थिति को स्नेहसिक्त करते हुए उसकी मूर्च्छा को दूर कर पुनरुज्जीवित कर दिया। शिवाजी महाराज विरल मेघमाला के समान अत्याचार से प्रतप्त भारतीय आकाश में अवतीर्ण हुए। देश दुस्सह ज्वाला में दग्ध हो रहा था, क्रमशः उनका संघर्ष शक्तिशाली होता गया और विपन्न समाज में नवचेतना भरकर उन्होंने उसे जीवित कर दिया॥ २४॥

जनानरातिव्यसनान्निवारितुं विचारयन्नात्मनिलीनविग्रहः।
अकारणाराधितलोकमङ्गलो जितान्तरायः स बभौ मुनिर्यथा॥ २५॥

अरातिव्यसनात् जनान् निवारितुं विचारयन् आत्मनिलीनविग्रहः अकारणाराधितलोकमङ्गलः जितान्तरायः मुनिः यथा सः बभौ॥ २५॥

मुनिजन स्वभावतः आध्यात्मिक कल्याण के उपासक होते हैं फिर भी उन्हें लोकमंगल अभीष्ट होता है, वे समाज में सुव्यवस्था की प्रतिष्ठा चाहते हैं। प्रजाजनों को शत्रु के उत्पीडन से बचाने के लिए, अपने आप में लीन, विघ्नों को कुचल डालनेवाले वीरवर शिवाजी मुनि के समान सुशोभित हो रहे थे॥ २५॥

स्वदेशदुःखेन सुदुःखितात्मनो मनोरथोऽवाप्तुमिवेष्टभेषजम्।
बबन्ध रागं शिखरेषु भूभृतां दरीषु वा नीलतमिस्रसूतिषु॥ २६॥

स्वदेशदुःखेन सुदुःखितात्मनः मनोरथः इष्टभेषजम् इवाप्तुम् इव भूभृतां शिखरेषु नीलतमिस्रसूतिषु दरीषु वा रागं बबन्ध॥ २६॥

स्वदेशनिवासियों को प्रतप्त पीड़ित पददलित देखकर नवयुवक शिव का हृदय दुःख से विदीर्ण हो जाता था। अपने महल में बैठकर सुखोपभोग में जीवन बिताना उन्हें पाप के समान दुष्कर प्रतीत होता था। अपने दुखित हृदय के लिए, मनोरथ-

सिद्धि के लिए उचित ओषधि के अन्वेषण में ही वे प्रायः पहाड़ों, कन्दराओं, निर्जन स्थानों में घूमा करते थे [लक्ष्यप्राप्ति के लिए शिव महाराज मित्रों, सहायकों आदि को एकत्र करने में दर-दर भटक रहे थे।] ॥ २६ ॥

घनेषु सह्याद्रिवनेषु वीक्ष्य तं निसर्गबाधेष्वपि वीतसंशयम् ।
निकामहिंसामनसोऽपि विस्मिता न हिंस्रसत्त्वा विकृतिं प्रपेदिरे ॥ २७ ॥

घनेषु निसर्गबाधेषु अपि सह्याद्रिवनेषु वीतसंशयं तं वीक्ष्य निकामहिंसामनसः अपि विस्मिताः हिंस्रसत्त्वाः विकृतिं न प्रपेदिरे ॥ २७ ॥

हिंसक बन्य पशुओं से भरे घनघोर सह्याद्रि के जङ्गलों में निर्भय विचरते हुए नवयुवक शिव को देखकर क्रूर पशु भी विस्मित रह जाते थे तथा वे आक्रमण नहीं करते थे। उनके चित्त में विकारों का उदय नहीं होता था ॥ २७ ॥

गतस्पृहः पार्थिवभोगवैभवे यथोपलब्धैरतिवाहितक्रियः ।
उपोढकान्तिः परमार्थतेजसाऽवधूतकल्पोऽरमतार्यरक्षिता ॥ २८ ॥

पार्थिवभोगवैभवे गतस्पृहः यथोपलब्धैः अतिवाहितक्रियः परमार्थतेजसा उपोढकान्तिः आर्यरक्षिता अवधूतकल्पः अरमत ॥ २८ ॥

राजोचित भोग उन्हें अपनी ओर आकृष्ट न कर सके ! मिथ्या भोग-वैभव में उन्हें तनिक भी रुचि न रही। जो कुछ मिल जाय उसी पर आत्मतोष कर लेते थे। लोक-कल्याण की अदम्य निष्ठा से उनका मुखमण्डल प्रदीप्त रहता था। भारतीय जनों के भावी कर्णधार युवक शिवाजी इस प्रकार अवधूत के समान विचर रहे थे ॥ २८ ॥

उपाहरन्ती गिरिनिर्झरोदकं मरुत्पथानीतफलानि शाखिनाम् ।
स्वयं वनश्रीस्तमनिन्दितातिथिं समुत्सुकातिथ्यपथैरशिश्रियत् ॥ २९ ॥

गिरिनिर्झरोदकं शाखिनां मरुत्पथानीतफलानि उपाहरन्ती समुत्सुका वनश्रीः स्वयम् अनिन्दितातिथिं तम् आतिथ्यपथैः अशिश्रियत् ॥ २९ ॥

पहाड़ी झरनों का जल तथा पवन द्वारा गिराये गये फल इन सुलभ वस्तुओं द्वारा स्वयं वनदेवी ही उस मनस्वी अतिथि के आतिथ्य में तत्पर रहती थी ॥ २९ ॥

सकण्टकं वर्त्म वृषासनोंऽशुमान् सुदुर्गमोऽद्रिः विपिनञ्च घातुकम् ।
तदेकबुद्धेर्विविधाधयोऽपि ते वितेनुरुद्योगधियं न वैक्लवम् ॥ ३० ॥

सकण्टकं वर्त्म, वृषासनः अंशुमान्, सुदुर्गमः अद्रिः, घातुकं विपिनं च, ते विविधाधयः अपि तदेकबुद्धेः उद्योगधियं वितेनुः, वैक्लवं न (वितेनुः) ॥ ३० ॥

नवयुवक शिव ने बाधाओं को कुचलकर ऊनके उपर अपने उन्नति-पथ का निर्माण किया। कण्टकाकीर्ण जंगली रास्ता, बैशाख की जलती धूप, दुर्गम पर्वत, हिंस्र वनपशुओं से भरा हुआ डरावना वन, पद-पद मौत की छाया—यही थी हमारे चरितनायक की रङ्गभूमि। किन्तु ये अनन्त बाधायें भी उस अटल संकल्पवाले

कुमार के हृदय में घबराहट न उत्पन्न कर सकीं, प्रत्युत उन्हें अपने प्रयत्न और अधिक उत्साह के लिए ही उन्होंने प्रेरित किया ॥ ३० ॥

प्रसूर्विकारानिव भोगसञ्चयान् बलात् सपत्न्यामुदितानवेक्ष्य सा ।
बबन्ध कर्तव्यगुणैः स्वजीवितम् सतीव कर्तव्यपरायणा सती ॥ ३१ ॥

विकारान् इव भोगसञ्चयान् सपत्न्यां बलात् उदितान् अवेक्ष्य सा प्रसूः कर्तव्यपरायणा सती इव सती कर्तव्यगुणैः स्वजीवितं बबन्ध ॥ ३१ ॥

माँ जीजाबाई ने अपनी सपत्नी को वैभव में आकण्ठ निमग्न देखकर भी कुछ अन्यथा न माना। भोगों को वे भ्रामक विकार मानती थीं। सती के समान उस कर्तव्यपरायण सती ने कर्तव्य के बन्धन से ही अपने जीवन को सम्बद्ध किया। निरपेक्ष भाव से देवी जीजाबाई ने कर्तव्यनिष्ठा में अपने को समर्पित कर दिया था ॥ ३१ ॥

व्यपेतकामा विमलाम्बरावृता विधेयवर्त्माऽपि फलोत्सवास्पृहा ।
प्रशान्तचेताः करुणापयस्विनी वपुष्मतीवार्यकुलाधिदेवता ॥ ३२ ॥

विमलाम्बरावृता व्यपेतकामा विधेयवर्त्मा अपि फलोत्सवास्पृहा प्रशान्तचेताः करुणापयस्विनी वपुष्मती आर्यकुलाधिदेवता इव ॥ ३२ ॥

श्वेतवसना माँ जोजाबाई सांसारिक कामनाओं, प्रपञ्चों से मुक्त थीं। कर्तव्यबुद्धि से कर्म करती थीं किन्तु फलागम में उनकी उत्सुकता नहीं थी। वे करुणा की नदी थीं। उनका चित शान्त था। ऐसा प्रतीत होता था कि स्वयं आर्यकुल की अधिष्ठात्री देवी ही सशरीर उपस्थित हैं। वे निष्काम कर्मयोगिनी थीं, उनका स्वभाव उदार था ॥ ३२ ॥

सुतद्वितीयाऽपि विविक्तसेविनी निरन्तरोत्साहवती जनोदये ।
निसर्गधर्माचरणाऽपि तत्प्रसूर्मनो दधौ विष्णुपदेऽधिकाधिकम् ॥ ३३ ॥

सुतद्वितीया अपि विविक्तसेविनी, जनोदये निरन्तरोत्साहवती, निसर्गधर्माचरणा अपि तत्प्रसूः विष्णुपदे अधिकाधिकं मनः दधौ ॥ ३३ ॥

पुत्र शिवाजी के साथ रहती हुई भी वे एकान्तसेविनी थीं। जनकल्याण में उनकी स्वाभाविक रुचि थी। उनका सम्पूर्ण जीवन ही धर्म के आचरण से भरपूर था, तथापि वे भगवान् विष्णु के पावन चरणों में अपने मन को स्थिर करती रहती थीं ॥ ३३ ॥

विदूरमन्याग्रहबद्धमानसे धवे नियम्यात्मशुचं मनस्विनी ।
बबन्ध रागातिशयं रमाधवे निगूढवर्त्मा हि हरेरनुग्रहः ॥ ३४ ॥

अन्याग्रहबद्धमानसे धवे विदूरं (स्थिते) आत्मशुचं नियम्य मनस्विनी रमाधवे रागातिशयं बबन्ध। हरे अनुग्रहः हि निगूढवर्त्मा ॥ ३४ ॥

पति को अन्य पत्नियों में आसक्त जानकर, दूर रहती हुई मनस्विनी माँ जीजाबाई ने लक्ष्मीपति भगवान् के चरणों को अपने अनुराग से बाँध लिया। उन्होंने

अपनी चिन्ता तथा निर्वेद को शान्त कर दिया। ईश्वर का अनुग्रह विचित्र होता है। अव्यक्त रूप से प्रभु कृपा करते हैं। जीजाबाई को यदि पतिप्रेम का अभीष्ट प्रसाद न मिला तो प्रभुप्रेम का द्वार प्रशस्त हो गया ॥ ३४ ॥

स्वसा सखा बन्धुरहार्यगौरवा प्रसूः स्वपुत्राय ननन्द सद्मनि ।
ऋते जनन्याः परमं न चात्मनः स मातृदेवोऽपि विवेद दैवतम् ॥ ३५ ॥

स्वपुत्राय स्वसा, सखा, बन्धुः, अहार्यगौरवा प्रसूः सद्मनि ननन्द । सः मातृदेवः अपि जनन्याः ऋते आत्मनः परमं दैवतं न विवेद ॥ ३५ ॥

घर में माँ जीजाबाई अपने पुत्र वीर शिवा के लिए बहन, मित्र, बन्धु, सब कुछ थीं। माता को ईश्वर की प्रतिमूर्ति माननेवाले उस पुत्र के लिए माँ जीजाबाई से बढ़कर कोई देवता न था ॥ ३५ ॥

स पूर्वजाराधितकीर्तिकीर्तनैः प्रवर्तमानाधिकथाकदर्थनैः ।
अनारतं विस्मयसिन्धुमज्जितो भुवं ददर्शास्तफलामिव श्रुतिम् ॥ ३६ ॥

पूर्वजाराधितकीर्तिकीर्तनैः प्रवर्तमानाऽधिकथाकदर्थनैः अनारतं विस्मयसिन्धुमज्जितः सः अस्तफलां श्रुतिम् इव भुवं ददर्श ॥ ३६ ॥

नवयुवक शिवाजी भारतीय पूर्वजों की अतीतकालीन यशोगाथा को सुनकर तथा वर्तमानकाल में भारतीयों की दुर्दशा एवं प्रतारणा देखकर वीर शिवाजी विस्मय के समुद्र में डूब जाते थे। कहाँ तो वह अतीतकालीन उज्ज्वल कीर्ति और कहाँ आज का विपन्न पददलित जीवन ! उनको भारतभूमि इस प्रकार दुर्भाग्यग्रस्त लगती थी मानो फलरहित वेद हों ॥ ३६ ॥

सुपुष्टगात्रान्नवयौवनश्रियो महासिहस्तानपि देशवासिनः ।
अनेकधाभिन्नबलानतोऽबलान् निकारकारोन्मथितान् ददर्श सः ॥ ३७ ॥

सुपुष्टगात्रान् नवयौवनश्रियः महासिहस्तान् अपि देशवासिनः अनेकधाभिन्नबलान् अतः अबलान् निकारकारोन्मथितान् सः ददर्श ॥ ३७ ॥

वीरवर शिव ने देखा कि देशवासी स्वस्थ हैं, उनका शरीर पुष्ट है, उनमें युवावस्था का तेज झलक रहा है, उनमें तलवार चलाने की अद्भुत क्षमता है किन्तु वे परस्पर विरोधी हैं इसीलिये बलवान् होकर भी निर्बल हैं तथा घोर अधोगति में पड़कर प्रताडित हो रहे हैं ॥ ३७ ॥

विलोक्य कञ्चिद्रिपुरोषशोषितं भियाऽस्तवाचो विनता इवाक्षमाः ।
क्रमेण लङ्घ्यापि तमेव दुर्णयं जनाः स्वगुप्त्यै स्तवनं व्यधुर्द्विषाम् ॥ ३८ ॥

रिपुरोषशोषितं कञ्चित् (जनं) विलोक्य विनताः भिया अस्तवाचः अक्षमाः इव जनाः क्रमेण तम् एव दुर्णयं लङ्घ्या अपि स्वगुप्त्यै द्विषां स्तवनं व्यधुः ॥ ३८ ॥

प्रायः किसी निर्दोष व्यक्ति को शत्रु के क्रोध का शिकार होते हुए देखकर भी समाज के अन्य लोग भय के मारे चुप हो जाते थे तथा झुककर शत्रु के अन्याय का समर्थन करते थे। किन्तु क्रमशः उनपर भी वही विपत्ति जब पड़ती थी, जब वे भी एक एक-कर शत्रु के अन्याय का शिकार होते थे तब असहाय हो अपनी सुरक्षा के लिए उन्हीं शत्रुओं का गुणगान करके उनसे कृपा की भीख माँगते थे ॥ ३८ ॥

अनेकधा रोद्धुमरातिनिम्नगां जनः सयत्नोऽपि निरस्तपौरुषः ।
अभीक्ष्णमुच्चैरवधीरितोऽपि तं ननाम दैवं प्रतिकूलवर्त्मगम् ॥ ३९ ॥

अरातिनिम्नगाम् अनेकधा रोद्धुं सयत्नः अपि निरस्तपौरुषः जनः अभीक्ष्णम् उच्चैः अवधीरितः अपि प्रतिकूलवर्त्मगं तं दैवं ननाम ॥ ३९ ॥

प्रतीकार के लिए यदा-कदा प्रयत्न भी होते थे किन्तु संकल्प की दृढता न रहने के कारण वे निष्फल हो जाते थे। शत्रुरूपी नदी की धारा को रोकने के लिए अपने-अपने ढंग से चेष्टा करके भी पौरुषहीन होकर, मन के टूट जाने पर बार-बार शत्रु से अपमानित होकर भी लोग दुर्दैव को, अपने दुर्भाग्य को ही दोष देते थे। पराजित राष्ट्र का भाग्यवादी होना दुर्भाग्य को निमन्त्रित करना है ॥ ३९ ॥

नितान्तमाजिस्थिरकीर्तयोऽपि ते मिथोऽपरागात् समितौ मितौजसः ।
अरालदिल्लीविकरालरोचिषि पतत्प्रभावाः शलभायिताः नृपाः ॥ ४० ॥

नितान्तम् आजिस्थिरकीर्तयः अपि मिथः अपरागात् समितौ मितौजसः ते नृपाः अराल-दिल्लीविकरालरोचिषि पतत्प्रभावाः शलभायिताः ॥ ४० ॥

भारतीय रजवाड़े युद्धभूमि में पीठ दिखाना नहीं जानते थे। उनकी वीरता सर्वविदित थी। किन्तु परस्पर विरोध के कारण वे युद्ध में अल्पशक्ति हो जाते थे। इस प्रकार एक-एक कर उन्हें कुटिल दिल्ली की भयंकर क्रोधाग्नि में गिरकर पतङ्गों के समान जल जाना पड़ा। भारतीय राजाओं को उनके आपसी विरोध के कारण चतुर दिल्ली ने उन्हें अलग-अलग पीस डाला ॥ ४० ॥

सुते कलत्रे वपुषि स्वबन्धुषु न कोऽपि कुत्रापि जहौ स्वसंशयम् ।
महोत्सवस्तस्य तु येन वीक्षितो निशं निषेव्यापि पुनर्नवोंऽशुमान् ॥ ४१ ॥

सुते कलत्रे वपुषि स्वबन्धुषु कः अपि कुत्र अपि स्वसंशयं न जहौ। येन तु निशं निषेव्य अपि पुनः नवः अंशुमान् वीक्षितः तस्य महोत्सवः ॥ ४१ ॥

परतन्त्रता के उस युग में किसी का कुछ भी कभी सुरक्षित न था। लोग अपने पुत्र, स्त्री, बन्धुजन आदि के लिए सदा सशंक रहा करते थे। रात को निश्चिन्त बिताकर यदि किसी ने प्रातःकाल के उगते हुए सूर्य को भी देख लिया तो वह इसे अहोभाग्य मानता था ॥ ४१ ॥

अकृत्रिमाह्लादरमेऽपि चिन्तया स शैशवास्ये समवेक्ष्य रोपितम् ।
विवेकभाजामपि दुर्वहं पदं प्रकम्पमानोऽपि ततान कुण्ठितः ॥ ४२ ॥

अकृत्रिमाह्लादरमे शैशवास्ये अपि चिन्तया रोपितं विवेकभाजाम् अपि दुर्वहं पदं समवेक्ष्य सः प्रकम्पमानः अपि कुण्ठितः ततान ॥ ४२ ॥

सहज स्वाभाविक प्रसन्नता से पूर्ण भोले-भाले बच्चों के मुख पर बुद्धिमानों को भी विकल कर देनेवाली चिन्ता की काली रेखा देखकर नवयुवक शिवाजी क्रोध से काँप जाते थे पर कुछ करते न बनता था। [विवेकशील मनुष्यों को भी व्याकुल कर देनेवाला चिन्ता का असह्य भार अबोध बच्चों पर देखकर वे असहनशील हो जाते थे।] ॥ ४२ ॥

अनारतं त्राणवता सनाथिते स्वकीयपार्श्वेऽपि विरूढसाध्वसम् ।
निवेदयामास भविष्णवे स्थितिं नृपाय सौभाग्यधनं नतभ्रुवाम् ॥ ४३ ॥

त्राणवता अनारतं सनाथिते अपि स्वकीयपार्श्वे विरूढसाध्वसं नतभ्रुवां सौभाग्यधनं भविष्णवेनृपाय स्थितिं निवेदयामास ॥ ४३ ॥

पति के बगल में सोई हुई, पति के सतत सावधान रहने पर भी सुन्दरी नवयुवतियाँ अपनी अरक्षा के भय से विकल रहती थीं। भावी राजा को (वीर शिवाजी को) मानो सुन्दरियों ने अपने सौभाग्य की रक्षा के लिए आत्मनिवेदन ही कर डाला। [दासता के उस युग में प्रजा सर्वथा अरक्षित थी। न्याय को बलवान् के सम्मुख पराजित होना पड़ता था। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का ही बोलबाला था] ॥ ४३ ॥

हतः स्वभावो निहता शुभायतिर्गुणानुबन्धोऽपगतो हृतं यशः ।
न जातिनिष्ठा न च वर्णसत्क्रिया बभार लोकः पशुनिर्विशेषताम् ॥ ४४ ॥

स्वभावः हतः, शुभायतिः निहता, गुणानुबन्धः अपगतः, यशः हृतम्, जातिनिष्ठा न, वर्णसत्क्रिया च न, लोकः पशुनिर्विशेषतां बभार ॥ ४४ ॥

दासता ने समाज को अत्यन्त अस्त-व्यस्त कर दिया था। लोगों का सहज स्वभाव नष्ट हो गया था, सुखद भविष्य की कल्पना मिट चुकी थी, गुणसञ्चय की प्रवृत्ति क्षीण हो गयी थी, यश मलिन हो गया था, जातीय निष्ठा का लोप हो गया था, वर्णाश्रम में आस्था समाप्त हो रही थी। सम्पूर्ण समाज पशुओं का जीवन बिता रहा था ॥ ४४ ॥

वरा हि वन्या यदवेक्ष्य वैरिणं वियातमुल्लङ्घितशीलपद्धतिम् ।
निहत्य नन्दन्ति हताः पतन्ति वा परन्न जीवन्ति सपत्नमर्दिताः ॥ ४५ ॥

वन्याः हि वराः यत् उल्लङ्घितशीलपद्धतिं वियातं वैरिणं समवेक्ष्य, निहत्य नन्दन्ति हताः वा पतन्ति, परं सपत्नमर्दिताः न जीवन्ति ॥ ४५ ॥

वे जंगली लोग धन्य हैं जो मदोन्मत्त, नियम की अवहेलना करनेवाले आक्रामक शत्रु को देखकर वीरतापूर्वक युद्ध में उसे मारकर या तो विजयपर्व मनाते हैं या स्वयं मरकर सदा के लिए सो जाते हैं किन्तु शत्रु से पराजित या अपमानित होकर जीवित रहना नहीं चाहते ॥ ४५ ॥

तमार्यराष्ट्रोद्धरणाय दीक्षितं महार्हभोगो न शशाक बाधितुम् ।
महीरुहोन्मूलनशक्तिनन्दने न वारणे वारणमब्जसन्ततिः ॥ ४६ ॥

आर्यराष्ट्रोद्धरणाय दीक्षितं तं महार्हभोगः बाधितुं न शशाक, महीरुहोन्मूलनशक्तिनन्दने वारणे अब्जसन्ततिः न वारणम् ॥ ४६ ॥

आर्यराष्ट्र के पुनरुद्धार का संकल्प लेनेवाले उस महाराष्ट्रकेसरी को दुर्लभ राजभोग भी अपने मोहक जाल में बाँध न सके। विशाल वृक्षों को उखाड़ फेकनेवाला गजराज क्या कमलनाल से रोका जा सकता है ? ॥ ४६ ॥

स मावलान् विक्रममौलिमण्डनान् सगन्धशत्रुद्विपकुम्भभेदिनः ।
गुणादरात् केसरिणो यथाऽभयान् विधेयविस्रम्भपदे न्यवेशयत् ॥ ४७ ॥

सगन्धशत्रुद्विपकुम्भभेदिनः विक्रममौलिमण्डनान् केसरिणः यथा अभयान् मावलान् सः गुणादरात् विधेयविस्रम्भपदे न्यवेशयत् ॥ ४७ ॥

शौर्य के धनी वीर मावल लोगों को वीर शिवाजी ने अपने महान् संघर्ष में अत्यन्त विश्वसनीय पदों पर नियुक्त किया। ये मावले लोग बड़े निर्भीक थे। गजराज के समान मदोन्मत्त शत्रु के मस्तक को फाड़ने के लिए वे शेर के समान शक्तिशाली थे। उनके सहज निश्छल गुणों के कारण शिवराज उनका आदर करते थे ॥ ४७ ॥

अनाप्तयत्नावसरः क्रुधा दहन्नधिक्षिपन् यौवनमात्मविक्रमम् ।
विविच्य योगं विधिदर्शितं भटो जहर्ष संस्मारितदेशदुर्गतिः ॥ ४८ ॥

अनाप्तयत्नावसरः क्रुधा दहन् यौवनम् आत्मविक्रमम् अधिक्षिपन् भटः विधिदर्शितं योगं विविच्य संस्मारितदेशदुर्गतिः जहर्ष ॥ ४८ ॥

पौरुष-प्रदर्शन के लिए उचित अवसर न मिलने के कारण क्रोध से जलते तथा अपनी जवानी और शक्ति को बार-बार धिक्कारते मावले वीर ने शिवराज के स्वातन्त्र्य संघर्ष को ईश्वर का वरदान माना। उसका रोम-रोम पुलकित हो उठा। शत्रुओं द्वारा की गयी स्वदेश की दुर्दशा उसकी स्मृति में भर गयी ॥ ४८ ॥

निजाशनं सानुनयं स्ववाजिने ददौ भटः कुन्तमतोलयत् परः ।
चुचुम्ब चैकोऽसिलतामरिच्छिदं रणश्रियः कीर्तिकथैकलेखनीम् ॥ ४९ ॥

भटः सानुनयं स्ववाजिने निजाशनं ददौ, परः कुन्तम् अतोलयत्, एकः च रणश्रियः कीर्तिकथैकलेखनीम् अरिच्छिदम् असिलतां चुचुम्ब ॥ ४९ ॥

मावले वीरों के उत्साह की सीमा न रही। आसन्न युद्ध की आशा से वे झूम उठे। एक सैनिक ने आग्रहपूर्वक अपने घोड़े को अपना भोजन खिला दिया, दूसरा अपने भाले को तौलने लगा, एक ने शत्रु को काटनेवाली, कीर्तिगाथा को लेखनीस्वरूप अपनी तलवार को चूम लिया ॥ ४९ ॥

तमार्यसङ्कल्पधरं परन्तपं निरीक्ष्य देवा इव तारकान्तकम् ।
स्वदेशगुप्त्यै व्यपनीतसंशयाः श्रमायताङ्गाः प्रतिपेदिरे भटाः ॥ ५० ॥

व्यपनीतसंशयाः श्रमायताङ्गाः भटाः देवाः तारकान्तकम् इव आर्यसङ्कल्पधरं परन्तपं तं निरीक्ष्य स्वदेशगुप्त्यै (तं) प्रतिपेदिरे ॥ ५० ॥

महान् संकल्पवाले शत्रुहन्ता शिवराज को सेनापति स्कन्द (तारकासुर का वध करनेवाले) के समान देखकर, कठिन परिश्रम करने के कारण परिपुष्ट अंगोंवाले सैनिक (शिवराज के संघर्ष में सहायता करने के लिए) स्वयं आने लगे। उनका हृदय संशयमुक्त था, उनमें स्वदेश-रक्षा के लिए महान् उत्साह भरा था ॥ ५० ॥

न वाहनं शस्त्रचयं न वा भृतिं न भोगकल्पं वसनं न वाश्रयम् ।
ययाचिरे ते व्रतिनस्तु केवलं निषेवितुं तं द्विषदुग्रसङ्गरे ॥ ५१ ॥

ते व्रतिनः न वाहनं, न शस्त्रचयं, भृतिं वा न भोगकल्पं वसनं न वा आश्रयं ययाचिरे, केवलं द्विषदुग्रसङ्गरे तं निषेवितुं (ययाचिरे) ॥ ५१ ॥

शिवराज के सैनिक सामान्य सैनिक नहीं थे। उन्होंने आजीविका के लिए नहीं, देशसेवा के लिए सैनिक वृत्ति अपनायी थी। उन सैनिकों को वाहन, शस्त्र, वेतन, वर्दी या निवासस्थल आदि की चिन्ता नहीं थी। वे शत्रुओं के विरुद्ध भीषण संग्राम में वीर शिवाजी की ओर से लड़ना चाहते थे ॥ ५१ ॥

अनन्यलक्ष्योपनिबद्धपौरुषं स्फुरत्प्रभावोच्छ्वयलोचनोत्सवम् ।
समन्ततः सख्यजुषो यथानिलास्तमन्वगुर्दीप्तहिरण्यरेतसम् ॥ ५२ ॥

अनन्यलक्ष्योपनिबद्धपौरुषं स्फुरत्प्रभावोच्छ्वयलोचनोत्सवं, दीप्तहिरण्यरेतसं तं समन्ततः अनिलाः यथा सख्यजुषः अन्वगुः ॥ ५२ ॥

वीर शिवाजी प्रदीप्त अग्नि के समान थे। उनकी शक्ति लक्ष्यविशेष की सिद्धि के लिए समर्पित थी, उनकी आँखों से अनायास प्रभावित करनेवाली आकर्षक ज्योति छिटक रही थी। वीर सैनिक चारों ओर से इस प्रकार उनका अनुगमन कर रहे थे जैसे अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए सहयोगी पवन ॥ ५२ ॥

असौ पदे तान् सखिदुर्लभे दधन्निधाय तञ्चात्मनि तेऽनुजीविनः ।
मिथो विरेजुर्जययागदीक्षिताः क्षितावमर्यादवधं विधित्सवः ॥ ५३ ॥

असौ तान् सखिदुर्लभे पदे दधत्, ते अनुजीविनः च तम् आत्मनि निधाय मिथः जययाग-दीक्षिताः क्षितौ अमर्यादवधं विधित्सवः विरेजुः ॥ ५३ ॥

वीर शिवाजी के लिए उनके सैनिक मित्रतुल्य थे। वे सैनिक भी उन्हें हृदय मन्दिर में प्रतिष्ठित कर उनके पीछे चलने में ही गौरव अनुभव करते थे। इस प्रकार युद्धयज्ञ में बिजयव्रत लेकर, परस्पर सहयोग द्वारा वे दोनों (शिवराज तथा उनके सैनिक) अमर्यादित अन्यायियों का वध करने के लिए, पृथिवी पर अत्याचार को मिटा देने के लिए प्रतिश्रुत थे ॥ ५३ ॥

सखा वयस्यः प्रवया गुरुः प्रभुः स एक एवापि विधिप्रथः क्रमात् ।
हितं प्रियं बोधममोघशासनं दिशन् भटानां हृदयाधिपोऽभवत् ॥ ५४ ॥

एकः एव विधिप्रथः सः सखा, वयस्यः, प्रवयाः, गुरुः, प्रभुः क्रमात् हितं प्रियं बोधम् अमोघशासनं दिशन् भटानां हृदयाधिपः अभवत् ॥ ५४ ॥

अपने सैनिकों के लिए वीर शिवराज सब कुछ थे। वे उनके मित्र थे अर्थात् मित्र के समान उनकी हितचिन्ता करते थे, समान अवस्था के कारण साथी थे, उनका प्रिय करते थे, वृद्ध के समान उनको मङ्गलमय सीख देते थे, आदरणीय गुरु-जन तथा स्वामी थे और उन्हें अनुशासन में रखते थे। इस प्रकार वे अपने सैनिकों के एकच्छत्र हृदयसम्राट् थे ॥ ५४ ॥

वनान्तरालं गिरिनिम्नगातटान्यधित्यका मन्दिरगर्भभूमयः ।
निरापदं शत्रुवधाध्वरर्त्विजो बलश्रमाभ्यासनिरीक्षणैर्बभुः ॥ ५५ ॥

वनान्तरालं, गिरिनिम्नगातटानि, अधित्यका, मन्दिरगर्भभूमयः, निरापदं शत्रुवधाध्व-रर्त्विजः (शिवस्य) बलश्रमाभ्यासनिरीक्षणैः बभुः ॥ ५५ ॥

गुप्त, अज्ञात, बीहड़ स्थानों पर शिवराज की सेनाओं का अभ्यास चलता था, शिविर लगता था। कभी गहन वन में, कभी पहाड़ी नदी के किनारे, कभी पहाड़ी के ऊपर, तो कभी किसी मन्दिर की प्रशस्त गर्भभूमि में, निरापद स्थानों पर वे शत्र-विनाशरूपी यज्ञ के पुरोहित अपनी सैनिक-शाखायें लगाते थे ॥ ५५ ॥

भृशं तपन्त्यो हृदये द्विषद्भवा भियो विलोक्याभिमुखं शिवं हठात् ।
द्विषां परावृत्य रुषादहन्नसून् प्रयुक्तकृत्या इव लक्ष्यवञ्चिताः ॥ ५६ ॥

द्विषद्भवाः हृदये भृशं तपन्त्यः भियः हठात् शिवम् अभिमुखं विलोक्य, रुषा परावृत्य लक्ष्यवञ्चिताः प्रयुक्तकृत्याः इव द्विषाम् असून् अदहन् ॥ ५६ ॥

समय बदलने लगा। कभी शत्रु भय का कारण था, अब शत्रु ही भयभीत रहने लगा। शत्रु से उत्पन्न भय वीर शिवाजी को अपने सम्मुख पाकर स्वयं भयभीत हो उठा। उसका हृदय सन्तप्त हो उठा। वहाँ से उल्टे पाँव लौटकर उस भय ने प्रबल क्रोध से अपने प्रेरक (कारण) शत्रुओं के प्राणों को ही जला दिया। जिस प्रकार प्रयुक्त कृत्या अपने लक्ष्य को न पाकर प्रयोग करनेवाले को ही नष्ट कर डालती है उसी प्रकार दूसरों को भयभीत करनेवाला शत्रु के अत्याचार से उत्पन्न भय, अब वीर शिवाजी के उद्यत होते ही शत्रुओं को ही भयाक्रान्त करने लगा ॥ ५६ ॥

निजानुयोगेन हिताहितावुभौ शिवं प्रदीप्तार्चिषमन्वरक्षताम् ।
स्वदेहपातैरपि सेवितुं हिताः प्रवर्धितुं ते शलभाश्च विद्विषः ॥ ५७ ॥

उभौ हिताहितौ निजानुयोगेन प्रदीप्तार्चिषं शिवं अन्वरक्षताम् । हिताः स्वदेहपातैः अपि सेवितुं, ते शलभाः विद्विषः च प्रवर्धितुं (अन्वरक्षताम्) ॥ ५७ ॥

धधकती लपटोंवाले अग्नि के तुल्य तेजस्वी शिवाजी को मित्रों और शत्रुओं दोनों ने ही अपने ढंग से उपकृत किया । शुभचिन्तकों, अनुगामियों ने उनके संघर्ष में अपने प्राणों की बलि देकर उनको विजयोन्मुख बनाया तथा शत्रुओं ने उस आग में अपने आपको शलभों के समान झोंककर उनका मार्ग प्रशस्त किया ॥ ५७ ॥

जहावसिः कोशमरीन् शुभायतिः समुद्यमो दैन्यमनार्जवं विधिः ।
विपन्महाराष्ट्रभुवं बली शुचं सपत्नकान्तावदनश्च मण्डनम् ॥ ५८ ॥

असिः कोशं, शुभायतिः अरीन्, समुद्यमः दैन्यं, विधिः अनार्जवं, विपत् महाराष्ट्रभुवं, बली शुचं, सपत्नकान्तावदनं च मण्डनं जहौ ॥ ५८ ॥

उस महान् स्वातन्त्र्य-संघर्ष में सबको कुछ न कुछ छोड़ना पड़ा । तलवार ने म्यान को छोड़ दिया, मंगलमय भविष्य ने शत्रुओं को त्याग दिया, महान् उद्यम ने आत्महीनता छोड़ दी, दैव ने टेढ़ेपन, प्रतिकूलता को छोड़ दिया, विपत्ति ने महाराष्ट्रधरा से मुँह मोड़ लिया, बली ने चिन्ता छोड़ दी और शृंगार-प्रसाधनों ने शत्रुकुल की सुन्दरियों के मनोहर मुखों से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया [संघर्ष में शत्रुपक्ष का वध होता था अतः विधवा हो जाने के कारण शोकग्रस्त शत्रु-सुन्दरियों को शृंगार-प्रसाधनों से कोई सम्बन्ध न रह जाता था ।] ॥ ५८ ॥

निसर्गमुग्धं नवमस्थिरं वयः कुलानुरक्ताश्च मनोरथश्रियः ।
तथापि दुर्लङ्घ्यपथे दधद्रतिं सतां स तेने हृदयेऽपि विस्मयम् ॥ ५९ ॥

अस्थिरं निसर्गमुग्धं नवं वयः, कुलानुरक्ताः मनोरथश्रियः च, तथापि दुर्लङ्घ्यपथे रतिं दधत् सः सताम् अपि हृदये विस्मयं तेने ॥ ५९ ॥

वीर शिवाजी नवयुवक थे । नवयौवन की अवस्था स्वभावतः चञ्चल होती है । अविवेक का प्रभाव भी कम नहीं रहता; तिसपर उनका महल भी रुचिपूर्ण भोग-वैभव से परिपूर्ण था । यह सब सुलभ होने पर भी उस वीर ने जब स्वदेश-मुक्ति के लिए सशस्त्र संघर्ष को ही अपना रास्ता बनाया तो सज्जनों को भी उनके इस असाधारण चरित्र ने विस्मय में डाल दिया ॥ ५९ ॥

अनाप्तपुण्योपचयं कुलं स्थितिः सपत्नसेवा चपलाग्रहं मनः ।
सखाऽन्तरायः स्वजना वनेचरास्तथापि नात्माऽचलदुत्तमात्पथः ॥ ६० ॥

कुलम् अनाप्तपुण्योपचयं, स्थितिः सपत्नसेवा, मनः चपलाग्रहं, सखा अन्तरायः, स्वजनाः वनेचराः, तथापि उत्तमात् पथः आत्मा न अचलत् ॥ ६० ॥

परिस्थिति के सर्वथा विरुद्ध होने पर भी दूरदर्शी मनस्वी शिवाजी आदर्श-पथ से विचलित न हुए। उनका कुल असाधारण कीर्तिशाली न था, पिता का व्यवसाय या आजीविका भी शत्रुकुल की सेवा ही थी (पिताजी वीजापुर राज्य के जागीरदार थे), नई जवानी थी, अतः मन भी सहज ही चञ्चल था। विघ्न ही मित्र था। स्वजन के नाम पर जंगली लोग ही साथ थे, फिर भी शिवराज उस उत्तम संघर्ष-पथ से विचलित न हुए ॥ ६० ॥

सुधाकरस्फारतुषारजृम्भितस्तरं शयाने भुवने निशा सह।
दिवं शशी सोऽपि भुवं वशी दधद् गतौ मिथः स्वापविधातसाक्षिताम् ॥ ६१ ॥

भुवने निशासह सुधाकरस्फारतुषारजृम्भितस्तरं शयाने, शशीदिवं सा अपि वशी भुवं दधत् मिथः स्वापविधातसाक्षितां गतौ ॥ ६१ ॥

वीर शिवराज का दिन सघर्षो में और रात भावी गति-विधि के चिन्तन में निर्निमेष बीत जाती थी। चन्द्रमा की शीतल किरणों से आर्द्र बिस्तरे पर जब रात्रि के साथ सारा संसार नींद में डूब जाता था तब आकाश में चन्द्रमा और पृथ्वी पर वीर शिवराज परस्पर एकदूसरे के जागरण का साक्षी (गवाह) रहते थे। चन्द्रमा साक्षी था कि शिवराज योगी के समान विना सोये चिन्तन में रात्रि बिता देते थे ॥ ६१ ॥

असौ नवं निष्कलुषाम्बरं दधद्विविक्तवर्त्मा द्विजबन्धुसत्प्रथः।
सुपक्षकीर्तिः श्रुतिनन्दनो भुवं समीक्षमाणः प्रभविष्णुरैधत ॥ ६२ ॥

नवं निष्कलुषाम्बरं दधत् विविक्तवर्त्मा द्विजबन्धुसत्प्रथः सुपक्षकीर्तिः श्रुतिनन्दनः प्रभविष्णुः असौ भुवं समीक्षमाणः ऐधत ॥ ६२ ॥

श्लोक ६२-६३ में वीर शिवराज की तुलना पक्षिराज गरुड से की गयी है। निष्कलुषाम्बर—निर्मल वस्त्र या निर्मल आकाश। विविक्तवर्त्मा—उत्तम मार्ग या निर्जन रास्ता। द्विजबन्धुसत्प्रथः—ब्राह्मणों से प्रशंसित या पक्षियों से समादृत। सुपक्षकीर्तिः—न्यायोचित पक्ष वाला या सुन्दर पंखों की कीर्ति से युक्त। श्रुतिनन्दनः—वेदों का सम्मानकर्ता या कान को मधुर लगने वाला। शिवपक्ष में—धवल परिधान-मण्डित वीर शिवराज उत्तम मार्ग सेवी, ब्राह्मणों के प्रतिपालक, न्यायोचित पक्ष पर स्थिर तथा वेद-शास्त्र की मर्यादा को मानने वाले थे अतः उनका अभ्युदय हो रहा था। गरुड़ पक्ष में—नीले आकाश को अपनी अद्भुत गति से भर देनेवाले, एकान्त-चर, विहगकुल से सम्मानित, सुन्दर पखों की विशाल कीर्ति से पूर्ण, विश्व को कलध्वनि से मुग्ध करनेवाले गरुड संसार का अवलोकन करते हुए उत्तरोत्तर विकसित हो रहे थे ॥ ६२ ॥

समीहितं विष्णुपदं वहन् सदा कलात्मसिद्धो बुधसूतिवन्दितः।
अनन्तधामा विनतामरद्रुमो विशेषपुण्योपचयः शरीरभृत् ॥ ६३ ॥

सदा समीहितं विष्णुपदं वहन्, कलात्मसिद्धः बुधसूतिवन्दितः अनन्तधामा विनतामरद्रुमः शरीरभृद्विशेषपुण्योपचयः (सः आसीत्) ॥ ६३ ॥

अनन्तधामा—असीम तेजस्वी या आकाशचारी। विनतामरद्रुमः—विनयशील के लिये कल्पवृक्ष के समान उदार या विनता देवी (गरुड की माता) के लिये कल्पद्रुम।

शिवपक्ष में—विष्णु की भक्ति में लीन प्रबुद्ध आत्म-सम्पत्ति से युक्त, पण्डितों द्वारा सम्मानित, अनन्त गौरव मण्डित, विनयशीलों के लिए उदार कल्पवृक्ष शिवराज सचमुच अनुपमेय थे। उत्कृष्ट पुण्य का समवाय ही मानो शिवराज के रूप में सशरीर उपस्थित था।

गरुड़ पक्ष में—आराध्य विष्णु चरणों को अपने ऊपर धारण किये हुए श्रेष्ठ विज्ञानी, पण्डित जन-अभिष्टुत, आकाश-विहारी विनता माता के लिए कल्पद्रुम के समान पक्षिराज गरुड वस्तुतः शरीर धारण किये हुए महान् सुकृत के सञ्चय ही थे ॥ ६३ ॥

विभाव्यतां सानुजुषा महीस्थितो जनो लघीयान् वपुषापिसम्भृतः ।
शिवेन मुक्तोपधिदृष्टिना परं स्वरूपसिद्धं निखिलं समैक्ष्यत ॥ ६४ ॥

सानुजुषा महीस्थितः वपुषासम्भृतः अपि जनः लघीयान् विभाव्यताम्, परं मुक्तोपधिदृष्टिनां शिवेन निखिलं स्वरूपसिद्धं समैक्ष्यत ॥ ६४ ॥

वीर शिवाजी में मनुष्य को परखने की अद्भुत क्षमता थी। प्राय पर्वत की चोटी पर बैठे मनुष्य को तलहटी में खड़ा उन्नत, पुष्ट देह वाला व्यक्ति भी अत्यन्त छोटा प्रतीत होता है किन्तु भ्रमहीन दृष्टि वाले शिवराज के साथ ऐसी बात न थी प्रत्येक वस्तु का यथातथ्य सही आकलन करते थे ॥ ६४ ॥

अबाधभोगोपचितारिवश्यता करग्रहा नाभिमता महात्मनः ।
धनान्तराया ऽपि फलस्थिरायतिः स्वतन्त्रता मुक्तिरिव प्रिया ऽभवत् ॥ ६५ ॥

महात्मनः (तस्य) करग्रहा अबाधभोगोपचिता अरिवश्यता न अभिमता। (किन्तु) धनान्तराया अपि फलस्थिरायतिः स्वतन्त्रता मुक्तिः इव प्रिया अभवत् ॥ ६५ ॥

(करग्रहा-हाथ पकड़ने वाली या कर वसूलने वाली) गुलाम बन कर राजसी भोग भोगने की अपेक्षा दुःखपूर्ण भी स्वाधीनता ही शिवराज को अभीष्ट थी। मनस्वी शिवराज निर्द्वन्द्व भोग से समृद्ध, वैभवपूर्ण दासता को भी बाँध लेने वाली जडता के समान या धनलुब्ध वेश्या के समान अग्राह्य मानते थे। उन्हें तो स्वाधीनता ही मुक्ति के समान प्यारी थी, भले ही अनेक संकटों से भरी हो पर उसमें सफल भविष्य का विधान प्रतिष्ठित है ॥ ६५ ॥

समुत्सुका वह्निशिखेव चेतना सदोर्ध्वगा तस्य कृशा ऽपि भास्वरा ।
चकार वर्धिष्णुरुचिस्स्वरोचिषा सताम्रराग च्छवि दिग्वधूमुखम् ॥ ६६ ॥

कृशा अपि समुत्सुका सदा ऊर्ध्वंगा भास्वरा वह्निशिखा इव तस्य वर्धिष्णुरुचिः चेतना स्वरोचिषा दिग्वधूमुखं सताम्ररागच्छवि चकार ॥ ६६ ॥

शिवराज की प्रदीप्त स्वातन्त्र्यनिष्ठा सबको अपने रंग में रंग देती थी। अग्नि शिखा के समान ऊपर उठने वाली पतली किन्तु प्रदीप्त, शिवराज की स्वातन्त्र्य चेतना सतत विकासमान अपने तेज से दिग्वधुओं के मुखमण्डल को (दिशाओं को) गुलाबी शोभा से भर देती थी ॥ ६६ ॥

असंस्तुतानायसपाटवेऽटवीजुषोऽपि भूष्णुः परिलोच्य मावलान् ।
अकृष्टवप्रानिव सोर्वरोरसः स्वराज्यवीजोन्मिषितानमन्यत ॥ ६७ ॥

भूष्णुः आयसपाटवे असंस्तुतान् अपि अटवीजुषः मावलान् परिलोच्य, (तान्) सोर्वरोरसः अकृष्टवप्रान् इव स्वराज्यबीजोन्मिषितान् अमन्यत ॥ ६७ ॥

वीर शिवाजी सामान्य जन में भी आन्तरिक योग्यता को देख उसे दायित्वपूर्ण भूमिका में प्रतिष्ठित करते थे। यद्यपि मावले लोग गाँवों के निवासी थे, वनवासी थे तथा शस्त्रास्त्रों की दक्षता में अनाड़ी थे तथापि शिवराज की अन्तर्दृष्टि ने जान लिया कि वे बिना जोते हुए उन खेतों के समान थे जिनकी मिट्टी अत्यन्त उपजाऊँ थी। अतः वे जान गये कि उन मावले हृदयों में स्वराज्य का बीज भली-भाँति उग सकता था ॥ ६७ ॥

विषाक्तगन्धामिव विघ्नवल्लरिम् प्रवेशवर्त्मोद्ग्रथिताम् विभज्य सः ।
अवार्यसंयोगफलामिवाश्रयत् प्रसादसिद्धिं भुजबन्धनिस्सहाम् ॥ ६८ ॥

प्रवेशवर्त्मोद्ग्रथितां विषाक्तगन्धाम् इव विघ्नवल्लरिं विभज्य सः अवार्यसंयोगफलां प्रसादसिद्धिं भुजबन्धनिस्सहाम् इव आश्रयत् ॥ ६८ ॥

बाधाओं को विनष्ट कर शिवराज ने सिद्धि का अभिनन्दन किया। प्रवेशद्वार पर जाल के समान गुथी हुई कटुगन्ध वाली विघ्नों की विषैली लता को छिन्न-भिन्न करके वीर शिवराज ने आगे बढ़कर निश्चित संयोग फल वाली, प्रसन्नता से पूर्ण सिद्धि को निस्सह भुजश्लेष में बाँध लिया ॥ ६८ ॥

दुरन्तसह्याचलनन्दितं हठान्नमोऽवरुध्यापि सपत्नवाहिनी ।
विलम्बिपाथोधरमेचकच्छविः विधूय झञ्झापवनेन खण्डिता ॥ ६९ ॥

विलम्बिपाथोधरमेचकच्छविः सपत्नवाहिनी हठात् दुरन्तसह्याचलनन्दितं नमः अवरुध्य अपि झञ्झापवनेन विधूय खण्डिता ॥ ६९ ॥

बरसने के लिए आकुल मेघ माला जैसी शत्रु सेना ने दुर्गम सह्याद्रि से सुरक्षित प्रदेश को सहसा घेर लिया। किन्तु प्रबल झञ्झावात के थपेड़ों से वह मेघ माला छिन्न-भिन्न होकर नष्ट हो गयी। (शत्रु ने सहसा शिव-शासित सह्याद्रि मण्डल पर आक्रमण किया था किन्तु अत्यन्त उत्साह से महाराष्ट्र वीर ने उसे निष्फल कर दिया।) ॥ ६९ ॥

विकृष्टनिस्त्रिंशनिपीतसाध्वसः शिलोच्चयाभेद्यनिवातसद्मनि ।
सुदुर्गदुर्गेऽपि मनोरथो द्विषामनभ्रवज्रेण शिवेन कम्पितः ॥ ७० ॥

शिलोच्चयाभेद्यनिवातसद्मनि सुदुर्गदुर्गे अपि द्विषां विकृष्टनिस्त्रिंशनिपीतसाध्वसः मनोरथः अनभ्रवज्रेण शिवेन कम्पितः ॥ ७० ॥

पर्वतों के अभेद्य प्राचीर से सुरक्षित, पवन के लिये भी दुष्प्रवेश्य, दुर्भेद्य रक्षा पंक्ति से सम्पन्न, निरन्तर नंगी तलवारों के पहरे में निर्भय दुर्गों में निवास करने वाले शत्रुओं के मनोरथ को भी शिवरूपी अनभ्र वज्र पात ने, विना वर्षा की बिजली ने भयाक्रान्त कर दिया। (सुरक्षित दुर्गों में रहता हुआ भी शत्रुदल शिववाहिनी के आतंक से काँपता रहता था।) ॥ ७० ॥

हयौकसामस्तवितानसम्पदाम् मरुज्जवानां शिवराजशस्त्रिणाम् ।
स्मृतिं निरीक्ष्योरसि निद्रयेर्ष्यया द्विषो विमुक्ताः शयनस्पृहा अपि ॥ ७१ ॥

अस्तवितानसम्पदां हयौकसां मरुज्जवानां शिवराजशस्त्रिणां स्मृतिं (द्विषां) उरसि निरीक्ष्य निद्रया ईर्ष्यया शयनस्पृहाः अपि द्विषः मुक्ताः ॥ ७१ ॥

वीर शिवराज के सैनिकों के भय से शत्रुओं को रात में नींद भी नहीं आती थी। घोड़े को ही अपनी दुनिया माननेवाले तम्बू, खेमा के आडम्बर से मुक्त, वायु के समान वेगशाली वीर मराठे सैनिकों ने शत्रु के नाक में दम कर दिया था। मराठों की स्मृति से शत्रुओं के हृदय को व्याप्त देखकर मानवती नायिका के समान निद्रा भी दुरन्त ईर्ष्या के कारण शयन में उनका साथ न देती थी। (हृदय पर स्मृति का एकाधिकार देखकर निद्रा का रूठना स्वाभाविक ही है।) ॥ ७१ ॥

चरित्रपूतेऽवति मेदिनीं वधूः द्विषोऽपि शीलात्ययसाध्वसं जहौ ।
सतामरीणामपि धर्मगुप्तये स एव जातो हतजाल्मपद्धतिः ॥ ७२ ॥

चरित्रपूते मेदिनीं अवति द्विषः अपि वधूः शीलात्ययसाध्वसं जहौ, अरीणां अपि सतां धर्मगुप्तये हतजाल्मपद्धतिः स एव जातः ॥ ७२ ॥

वीर शिवराज सदाचार की व्यवस्था शत्रु मित्र निरपेक्ष होकर करते थे। शत्रु भी उनकी आचार निष्ठा से आश्वस्त था।

महाराष्ट्रकेसरी के शासन में शत्रु सुन्दरियाँ भी भयमुक्त हो स्वयं को सुरक्षित समझती थीं। सदाचारी विपक्षी भी धर्म-मर्यादा का उन्मुक्त पालन करते थे। सचमुच शिवराज का लक्ष्य अनाचार एवं दुर्व्यवस्था का विनाश था ॥ ७२ ॥

अपद्रुतस्याऽऽजिमुखात् सहानुगैः द्विषेऽथवा वीरगतिं प्रयच्छतः ।
पराजितस्योढजयश्रियोऽपि वा न तस्य लक्ष्याच्चलितो मनोरथः ॥ ७३ ॥

आजि मुखात् अनुगैः सह अपद्रुतस्य अथवा द्विषे वीरगतिं प्रयच्छतः, पराजितस्य, ऊढजयश्रियः अपि वा तस्य मनोरथः लक्ष्यात् न चलितः ॥ ७३ ॥

हार-जीत दोनों को ही तटस्थ भाव से ग्रहण करनेवाले शिवराज आत्मलक्ष्य-प्राप्ति के लिये वद्धपरिकर थे। चाहे अपने साथियों के साथ रणभूमि से भागना पड़े या शत्रुपक्ष ही वीरगति को प्राप्त करे, चाहे पराजित हो जायं या जयलक्ष्मी प्राप्त कर लें किसी भी दशा में वीर शिवाजी का हृदय लक्ष्य भ्रष्ट नहीं होता था। वे स्वातन्त्र्य-लक्ष्य के लिए हार-जीत को साधन मात्र मानते थे ॥ ७३ ॥

दशन्नरेन्द्रानपि मन्त्रयन्त्रितान् विसारिभोगोदयलोकमण्डलः ।
अशेषमाङ्गल्यमनाः मनागपि स्वसाहसं नानुबबन्ध निष्फलम् ॥ ७४ ॥

मन्त्रयन्त्रितान् अपि नरेन्द्रान् दशन् विसारिभोगोदयलोकमण्डलः अशेषमाङ्गल्यमनाः (सः) स्वसाहसं मनाक् अपि निष्फलम् न अनुबबन्ध ॥ ७४ ॥

मदोद्धतों का तिरस्कार करनेवाले शिवराज लोककल्याण में ही रुचि रखते थे। जिसप्रकार लोक मंगल का प्रतीक नागराज मन्त्रबल से सुरक्षित विषवैद्यों को भी अपने विष से कालकवलित कर देता है तथा उसका वर्धिष्णु शरीर लोक मण्डल का प्रतीक होता है उसी प्रकार अशेष कल्याण मय शिवराज उद्दण्ड राजाओं को उचित सीख देकर भी विशेष फल प्राप्ति के लिये ही सत्साहस के प्रदर्शन का प्रयास करते थे। नरेन्द्र विषवैद्य या राजा ॥ ७४ ॥

श्लथोद्यमान् शैत्यकदर्थितोरसः प्रसह्य भूपानवमत्य मानिनी ।
अशक्तबन्धाकुलरागनिस्सहा शिवं रमा तिर्यगुदैक्षतोरसि ॥ ७५ ॥

श्लथोद्यमान् शैत्यकदर्थितोरसः भूपान् प्रसह्य अवमत्य, अशक्तबन्धाकुलरागनिस्सहा मानिनी रमा शिवं उरसि तिर्यक् उदेक्षत ॥ ७५ ॥

अकर्मण्य राजाओं को छोड़ कर राजलक्ष्मी युवक, उद्यमी, वीर शिवराज की ओर आकृष्ट हुई। आलसी अकर्मण्य, कुण्ठा से जर्जर हृदयवाले राजाओं का हठपूर्वक तिरस्कार करके, निर्बल शिथिल भुजबन्ध में अभीष्ट कामदोह में विफल होने के कारण उद्दीप्त राग से विवश राजलक्ष्मी ने मानवती नवयौवना के समान, वीर युवक शिवाजी को तिरछी दृष्टि (कटाक्ष) से देखा ॥ ७५ ॥

स्वदुर्गतामन्वभवत् पुरो द्विषाम् पुरन्दरेणेव पुरन्दरेण सः ।
प्रसाद्य साम्ना विनयेन भूसुरान् मनोरथं को न वृणोति भूतले ॥ ७६ ॥

पुरन्दरेण इव पुरन्दरेण सः द्विषाम् पुरः स्वदुर्गतां अन्वभवत् । विनयेन साम्ना (च) भूसुरान् प्रसाद्य कः भूतले मनोरथं न वृणोति ॥ ७६ ॥

पुरन्दर दुर्ग तथा साधु ब्राह्मणों की शुभाशंसा ने शिवराज को अजेय बना दिया। इन्द्र के समान सुदृढ पुरन्दर के किले को पाकर शत्रुओं के देखते ही देखते शिवराज उनके लिए अजेय हो गये। ठीक भी है, विनय, मान, दानादि द्वारा साधु ब्राह्मणों को प्रसन्न करके उनका कौन भक्त अभीष्ट मनोरथ को नहीं पाता है ? ॥ ७६ ॥

शरत्सुधांशोरपि कौमुदीच्छविर्न भातुमद्धान्तरिता क्षमा यथा।
न जावलीरुद्धपदा शिवस्य सा तथैव कीर्तिः प्रबभूव नन्दितुम् ॥ ७७ ॥

शरत्सुधांशोः अपि अब्दान्तरिता कौमुदीच्छविः यथा भातुं न क्षमा तथा एव जावली-रुद्धपदा शिवस्य सा कीर्तिः नन्दितुं न प्रबभूव ॥ ७७ ॥

शिवराज के राज्य विस्तार में अविजित जावली की स्थिति कांटे के समान थी। जिस प्रकार शरत्कालीन चन्द्रमा की मनोहर चाँदनी भी बादलों से ढकी होने के कारण अपनी सुषमा का विस्तार नहीं कर पाती उसी प्रकार शिवराज की कीर्ति भी स्वतन्त्र जावली द्वारा कुण्ठित गति हो जाने के कारण अपना अभिलषित विस्तार न कर पाती थी ॥ ७७ ॥

अरातिसख्यस्य न जावलीपतेः मनस्ततापार्यनिकारनिष्क्रयम्।
स्फुरत्प्रमान्धाः शलभा विदन्ति किं दिधक्षुमुद्यच्छिख माशुशुक्षणिम् ॥ ७८ ॥

अरातिसख्यस्य जावलीपतेः आर्यनिकारनिष्क्रियं मनः न ततापं, स्फुरत्प्रमान्धाः शलभाः उद्यच्छिखं दिधक्षुं आशुशुक्षणिं विदन्ति किम् ? ॥ ७८ ॥

शत्रु से मित्रता के बलपर जावली का शासक निश्चिन्त था उसे भारतीयों की दुर्दशा पर तनिक भी दुःख न होता था। तेज प्रकाश में उड़ता हुआ क्षुद्र पतिंगा भला भस्म कर देने वाले ऊपर उठती लपटों से पूर्ण आग के बारे में क्या जानता है ? ॥ ७८ ॥

अतो हि सह्याचलकाननौकसो निसर्गविस्रम्भविभूतिनन्दितान्।
निवारितुञ्जावलिकूटनिग्रहात् स्वबन्धुबल्लालमुपादिशत् कृती[1] ॥ ७९ ॥

अतः हि निसर्गविस्रम्भविभूतिनन्दितान् सह्याचलकाननौकसः (जनान्) जावलिकूट-निग्रहात् निवारितुं कृती स्वबन्धुबल्लालं उपादिशत् ॥ ७९ ॥

सह्याद्रि के जङ्गलों में रहनेवाले सहज विश्वासपूर्ण हृदयवाले प्राणियों को जावली के अत्याचारी हथकण्डों से मुक्त करने के लिए शिवराज ने अपने बन्धु बल्लाल को जावली के विरुद्ध प्रेरित किया ॥ ७९ ॥

स चन्द्रहासाहिमदीधितिस्पदे विभातचन्द्रोपमचन्द्रमण्डलम्।
विधाय वीतायुषमुल्लसन्मना उपाहरत्तच्छ्रियमुत्सुकोरसम् ॥ ८० ॥

उल्लसन्मनाः सः चन्द्रहासाहिमदीधितिस्पदे विभातचन्द्रोपमचन्द्रमण्डलं वीतायुषं विधाय उत्सुकोरसं तच्छ्रियं उपाहरत् ॥ ८० ॥

१. रघुनाथबल्लाल कोर्डे, कोषाध्यक्षः शिवराजस्य। कण्टकमिवजावली राज्यं दक्षिण-पश्चिमस्यांदिशि शिवराज्यप्रसारं न सहते प्रतिरुणद्धि च। अतएव शिवानुचरो बल्लालो दुर्विनीतं त चन्द्ररावोपाधिधरं जावलीनृपं शत्रुसहचरं सहसा जघान। जावली च शिवराज्य-सीमामवर्धयत्। १६५६ ई०

वल्लाल ने अपने तलवार की तीखी किरणों के प्रवाह में सबेरे के शोभा-विहीन चन्द्रमण्डल के समान जावलीपति चन्द्रको धराशायी बनाकर अत्यन्त उल्लास से उनकी राज्यलक्ष्मी भी भेंट के रूप में वीर शिवराज को समर्पित कर दिया ॥ ८० ॥

पुरस्कृतं मालसुरेण धीमता विजित्य शत्रून् स्वपराक्रमासहान् ।
अरिश्रियस्तोरणमेवतोरणममन्यताऽसौ स्वपदाङ्कितच्छवि ॥ ८१ ॥

स्वपराक्रमासहान् शत्रून विजित्य धीमता मालसरेण पुरस्कृतं 'तोरणं' असौ अरिश्रियः तोरणं एव स्वपदाङ्कितच्छवि अमन्यत ॥ ८१ ॥

तानाजो मालसुरे ने शिवराज के आदेश से तोरण दुर्ग को जीत लिया। महान् बुद्धिशाली मालसुरे ने अपने पराक्रम से आक्रान्त शत्रुपक्ष को जीतकर उनके तोरण दुर्ग को शिव महाराज की सेवा में समर्पित कर दिया। तोरण दुर्ग की उपलब्धि पर महाराष्ट्र नायक को ऐसा प्रतीत हुआ मानों उन्होंने शत्रुराजलक्ष्मी के तोरण (द्वार का वन्दनवार) को ही तोरण दुर्ग के ब्याज से पददलित कर दिया हो ॥ ८१ ॥

महेन्द्रलोकं प्रविशत्यनागसि स कौण्डदेवे गदितुं निजोदयम् ।
सुविक्रमैर्लोकमनोरथैरिव जयश्रियं नन्दयति स्म साहसी ॥ ८२ ॥

अनागसि कौण्डदेवे महेन्द्रलोकं प्रविशति साहसी सः निजोदयं गदितुं लोकमनोरथैः इव सुविक्रमैः जयश्रियं नन्दयति स्म ॥ ८२ ॥

दादाजी कौण्डदेव के दिवंगत हो जाने पर वीर शिवाजी ने उस साधु शिक्षक एवं शुभचिन्तक को अपने अभ्युदय की उत्तरोत्तर प्राप्ति को अपने लोकमंगलमय पराक्रम से सूचित करने के लिए विजयों की शृङ्खला का क्रम बनाये रखा ॥ ८२ ॥

तदैव बीजापुरराज्यधूर्वहात् नृपश्रियोपेक्षितसम्पदा यथा ।
हठाच्छ्रयन्त्या नवयौवनं शिवं ध्रुवं तदङ्गीकृतमेव कौतुकम् ॥ ८३ ॥

तदा एव बीजापुरराज्यधूर्वहात् उपेक्षितसम्पदा यथा नृपश्रिया हठात् नवयौवनं शिवं श्रयन्त्या ध्रुवं तत् कौतुकं अङ्गीकृतं एव ॥ ८३ ॥

वीजापुर राज्य में आन्तरिक विप्लव से दुर्व्यवस्था बढ़ने लगी। वीर शिवाजी का मार्ग प्रशस्त होने लगा। उसी समय वीजापुर राज्य में दुर्व्यवस्था बढ़ने लगी, शासक राज्य की उपेक्षा करने लगे। अपमान से व्यथित राजलक्ष्मी ने मानों वीजापुर से विमुख हो नवयुवक शिवराज का आश्रय प्राप्त करना चाहा तथा इस कौतूहल को (शिवपरक अनुराग को) हृदय से स्वीकार किया ॥ ८३ ॥

उपायनीकृत्य तदुद्यमाध्वरे पुरः स्वयं चङ्कणदुर्गरक्षिणः ।
स्वदुर्गमह्राय निजाध्वगानिव न्यबोधयन् कौण्डनपांश्च तद्विधिम् ॥ ८४ ॥

चङ्कणदुर्गरक्षिणः स्वयं तदुद्यामाध्वरे स्वदुर्गं पुरः उपायनीयकृत्य निजाध्वगान् इव कौण्डनपान् च अह्राय तद्विधिं न्यबोधयन् ॥ ८४ ॥

चंकन दुर्ग के रक्षकों ने स्वयं शिवराज को भेंट के रूप में दुर्ग समर्पित कर दिया। शिवविजय के उस महान् यज्ञ में योगदान करने के लिए कोण्डना दुर्ग के रक्षकों को भी अपने मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित किया ॥ ८४ ॥

जयैकवृत्तेरपि सङ्गरेन्दिरा स्वगौरवं वर्धितुमात्मवेदिनी ।
समं सुरत्नैः पृथुयौतुकैरिव बभाज तं तोरणदुर्गनन्दिनी ॥ ८५ ॥

जयैकवृतेः अपि (तस्य) आत्मवेदिनी तोरणदुर्गनन्दिनी सङ्गरेन्दिरा स्वगौरवं वर्धितुं पृथुयौतुकैः इव सुरत्नैः समं तं बभाज ॥ ८५ ॥

तोरण दुर्ग पर अधिकार के साथ ही वीर शिवराज को अपार धन सम्पत्ति प्राप्त हुई। परम्परा है कि विशेष दहेज लेकर आनेवाली नववधू का पतिगृह में अधिक आदर होता है। इसीलिए यद्यपि वीर शिवराज विजय मात्र से ही सन्तुष्ट थे तथापि आत्म-सम्मान की वृद्धि के लिए तोरण दुर्ग लक्ष्मी अपने साथ दहेज के रूप में अनन्त रत्नराशि लेकर ही उनके पास आयीं ॥ ८५ ॥

यथा निशम्योपवने विहङ्गमो विहङ्गरावं तनुते कलस्वनम् ।
शिवे तथैवारिकुलेन्दिराश्रयो नवाभिलाषानितरास्वधर्यत् ॥ ८६ ॥

विहङ्गमः उपवने विहङ्गरावं निशम्य यथा कलस्वनं तनुते तथा एव शिवे अरि कुलेन्दिराश्रयः इतरासु नवाभिलाषान् अवर्धयत् ॥ ८६ ॥

इसी प्रकार अनेक शत्रुदुर्ग शिवाजी के अधिकार में आ गये। जिस प्रकार बाग में एक पंछी के कूजने को सुनते ही दूसरे पंछी कलध्वनि करने लगते हैं उसी प्रकार जब शत्रु कुल की दुर्ग लक्ष्मी ने शिवराज को आत्मसमर्पण किया तो देखादेखी अन्य दुर्गलक्ष्मियों के हृदय में भी वैसी ही कामना उठने लगी ॥ ८३ ॥

मनोज्ञसह्याद्रिमहावलेश्वरोभयान्तरौत्सुक्यविविक्तसेविनी ।
घनद्रुमोत्कर्षनिवारितातपे महोच्चविच्छन्दकसौधराजिता ॥ ८७ ॥
प्रदर्शयन्ती स्वसखीमिवोदितां दरस्मितां रत्नगिरिस्थलीं हठात् ।
पुरः सताराम्बरचारुचन्द्रिकामिवोन्मदापाङ्गविलासनन्दिनीम् ॥ ८८ ॥
नृपेन्दिराऽङ्गीकृतजावलीरुचिः दृशा मनोज्ञार्थनिवेशगर्भया ।
प्रयोगभूयिष्ठमनोरथाग्रहं स्वतन्त्रतालोकजुषि प्रियेऽतनोत् ॥ ८९ ॥

मनोज्ञसह्याद्रिमहावलेश्वरोभयान्तरौत्सुक्यविविक्तसेविनी घनद्रुमोत्कर्षनिवारितातपे महोच्चविच्छन्दकसौधराजिता अङ्गीकृतजावलीरुचिः नृपेन्दिरा हठात् पुरः उदितां दरस्मितां सताराम्बरचारुचन्द्रिकां इव उन्मदापाङ्गविलासनन्दिनीं रत्नगिरिस्थलीं मनोज्ञार्थनिवेशगर्भया दृशा स्वतन्त्रतालोकजुषि प्रिये प्रयोगभूयिष्ठमनोरथाग्रहं अतनोत् ॥ ८७,८८,८९, ॥

ये तीनों श्लोक परस्पर सम्बद्ध हैं। भाव यह है कि महाराष्ट्र केसरी को उनकी राजलक्ष्मी (शासन व्यवस्था) रत्नगिरि विजय के लिए उत्साहित कर रही

है। शिवराजलक्ष्मी प्रगल्भ नायिका से समान, प्रिय को अपनी नवयौवना सखी (रत्नगिरि-स्थली) के प्रति आकृष्ट जानकर उन्हें इस कार्य में प्रसन्नतापूर्वक अपनी सम्मति प्रदान करके आँख के सकेत से नायक शिव को रत्नगिरि की प्राप्ति के लिए अनेक विधि उपाय करने की प्रेरणा दे रही है। सुरम्य सह्याद्रि और महावलेश्वर के बीच उत्कण्ठापूर्वक एकान्त स्थिता उन्नत द्रुमराजि को छाया से सूर्य के प्रखर तेज को रोक देनेवाले अत्यन्त ऊँचे विच्छन्दक नामक राजमहल में सुशोभित, शिवराज की राजलक्ष्मी (शिव का प्रभुत्व सह्याद्रि तथा महावलेश्वर के बीच में स्थापित था) अपनी प्रिय सखी के समान मन्दस्मिता, ताराओं से भरी चाँदनी के समान मनोहर, (या चाँदी सोने के फूलों से चित्रित परिधान वाली, या सतारा (स्थान विशेष) के बगल में अवस्थित) नव भ्रूधिभ्रम से स्पृहणीय रत्नगिरि की ओर गूढ़ दृष्टि से संकेत करती हुई मानो स्वाधीनता के प्रेमी प्रिय वल्लभ वीर शिवाजी को विविध उपायों से रत्नगिरि के अनुराग को प्राप्त करने के लिए उसे अपनी वशवर्तिनी बनाने के लिए उत्साहित किया ॥ ८७-८८-८९ ॥

अरातिराज्यायतने गतस्पृहा महानुभावा तुलजा[1] पुरेश्वरी।
शिवं निजादेशरमं समादिशत् पुनः प्रतिष्ठातुममर्त्यविग्रहम् ॥ ९० ॥

अरातिराज्यायतने गतस्पृहा महानुभावा तुलजापूरेश्वरी पुनः अमर्त्यविग्रहं प्रतिष्ठातुं निजादेशरमं शिवं समादिशत् ॥ ९० ॥

शत्रु प्रदेश में अपनी स्थिति से असन्तुष्ट, अत्यन्त प्रभावशालिनी शिवराज-कुल की अधिष्ठात्री देवी तुलजा भवानी ने अपने आज्ञाकारी भक्त वीर शिवा को अपनी पुनः प्राणप्रतिष्ठा के लिए मन्दिर निर्माण का आदेश किया। महाराष्ट्र में सर्वत्र किंवदन्ती है कि तुलजा भवानी ने अपने प्रिय भक्त वीर शिवा को स्वप्न में आदेश किया कि उनकी प्रतिमा दूसरे नवनिर्मित मन्दिर में स्थापित की जाय ॥ ९० ॥

प्रतापदुर्गे नव[2] मण्डपे ततः स्वयं प्रतिष्ठाप्य कुलेष्टदेवताम्।
प्रदाय सर्वं सह जीवितेन सः तदाग्रहेणैव दधौ पुनर्वपुः ॥ ९१ ॥

ततः प्रतापदुर्गे नवमण्डपे कुलेष्टदेवतां स्वयं प्रतिष्ठाप्य सः जीवितेन सह सर्वं प्रदाय तदःग्रहेण एव वपुः पुनः दधौ ॥ ९१ ॥

वीर शिवाजी ने प्रतापगढ़ के किले में नवनिर्मित भव्य मन्दिर में अपनी कुल इष्ट देवता तुलजेश्वरी को प्रतिष्ठापित किया और उनकी भक्ति में प्राणों के साथ ही सर्वस्व सर्पिमत करके देवी के आग्रह से ही उनके अनुग्रह स्वरूप प्राणों को फिर धारण किया ॥ ९१ ॥

१. तुलजा भवानी, क्षत्रपतेः कुलदेवता। तस्याः नवप्रतिष्ठां प्रतापगढ़दुर्गे नवनिर्मिते मन्दिरे शिवराजोऽकरोत्—

२. 'नवमन्दिरे' इति पाठान्तरम्।

स्वराजधानीपदगौरवेण सः सभाजयामास यदार्यरक्षिता ।
प्रसह्य तन्नामभयेव केवलं सवेपथुः किं ददृशे न देहली ॥ ९२ ॥

आर्यरक्षिता सः स्वराजधानीपदगौरवेण यत् सभाजयामास केवलं तन्नामभिया एव प्रसह्य देहली सवेपथुः न ददृशे किम् ॥ ९२ ॥

स्वदेशरक्षक वीर शिवराज ने जिस स्थान को (प्रतापगढ़) राजधानी का गौरव प्रदान किया उस प्रतापगढ़ का नाम सुनने मात्र से ही क्या दिल्ली भय से सिहर नहीं जाती थी ॥ ९२ ॥

मिथः प्लुताभ्यासचरैरकारणम् खुरं हयैः राजगृहस्थितैरपि ।
न रोपितं किं हृदयेषु विद्विषाम् सुदूरधाम्नामपि भीतिसूतिषु ॥ ९३ ॥

राजगृहस्थितैः अपि अकारणं मिथः प्लुताभ्यासचरैः हयैः सुदूरधाम्नां अपि विद्विषां भीतिसूतिषु हृदयेषु खुरं न रोपितं किम् ॥ ९३ ॥

दूरवर्ती शत्रुगण भी शिवाजी की घुडसवार सेना के भय से आतंकित रहते थे। राजगृह (रायगढ़) के मैदान में प्रतिदिन दौड़ने का अभ्यास करनेवाले प्रशिक्षित घोड़ों ने सहज ही दूर सुदूर निवासी शत्रुओं के भयभीत हृदय पर अपना खुर रख ही दिया। यद्यपि घोड़े राजगृह में थे किन्तु उनका खुरक्षेप मानों शत्रु के हृदय पर ही पड़ता था ॥ ९३ ॥

निपीतसारस्तदमोघविक्रमै–र्नितान्तमुल्लङ्घितराजशासनैः ।
जयश्रियाऽऽजौ च शिवैकरागया विजापुरेशः सहठं निराकृतः ॥ ९४ ॥

नितान्तं उल्लङ्घितराजशासनैः तदमोघविक्रमैः निपीतसारः, आजौ च शिवैकरागया जयश्रिया सहठं बिजापुरेशः निराकृतः ॥ ९४ ॥

बीजापुर की सत्ता में शिथिलता आने लगी, असन्तोष बढ़ने लगा। राजसत्ता को अनेक विध चुनौती एवं अवहेलना से तिरस्कृत करनेवाले, शिवराज के सफल अभियानों एवं मुठभेड़ों से जर्जर, निर्वीर्य बीजापुर के शासक को, युद्ध में शिवराज की अनुरागिणी विजयश्री ने हठपूर्वक अपने हृदय से दूर फेंक दिया। वीजापुर से विजयलक्ष्मी रूठ गयी ॥ ९४ ॥

अनार्यजुष्टेन ततो महीभृता घनान्तरायं चरितुं शिवोदये ।
परीक्षिताचारधरोऽपि बन्धने बलाधिपस्तज्जनको नियन्त्रितः ॥ ९५ ॥

ततः शिवोदये घनान्तरायं चरितुं अनार्यजुष्टेन महीभृता परीक्षिताचारधरः अपि बलाधिपः तज्जनकः बन्धने नियन्त्रितः ॥ ९५ ॥

बीजापुर राज्य के शासक ने शिवाजी के पूज्य पिता शाहजो भोंसले को जेल में बन्द कर दिया। दुष्टों से घिरे हुए बीजापुर के शासक ने शिवराज के अभ्युदय से आतंकित होकर उनकी प्रगति में विघ्न डालने के लिए तथा उन्हें अपने वश में करने

L. S. S. ... Academy
of Administration ... A/c
Acc. No. 126717
Date

के लिए उनके पिता शाहजी को जो वीजापुर के सामन्त तथा सेनाधिकारी थे तथा जिनकी राजनिष्ठा सर्वथा असन्दिग्ध थी, जेल में डाल दिया ॥ ९५ ॥

अनार्जवाचारजुषोऽपि जन्तवो भजन्ति नैवात्महितेषु विक्रियाम् ।
तथापि राज्ञा विहितं तदद्भुतं किमस्त्यकृत्यं भुवनेऽत्रपावताम् ॥ ९६ ॥

अनार्जवाचारजुषः जन्तवः अपि आत्महितेषु विक्रियां न एव भजन्ति, तथापि राज्ञा तत् अद्भुतं विहितं, भुवने अत्रपावतां किं अकृत्यं अस्ति ॥ ९६ ॥

क्रूर आचरणवाले दुश्शील अधम प्राणी भी उपकारी के विरुद्ध द्रोह बुद्धि नहीं रखते । फिर भी बीजापुर के शासक ने वैसा जघन्य कार्य किया (अपने राजभक्त कर्मचारी शाहजी को भी जेल यन्त्रणा का शिकार बनाया) सच है निर्लज्ज कुछ भी कर सकता है ॥ ९६ ॥

तथापि तस्मिन्ननवेक्ष्य वैक्लवं कृताभिचारानफलाञ्च भावयन् ।
अपश्यदेकं शिवदुर्गुणं नृपो महात्मनां छिद्रनिरीक्षणव्रती ॥ ९७ ॥

तथा अपि तस्मिन् वैक्लवं अनवेक्ष्य, कृताभिचारान् च अफलान् भावयन् महात्मनां छिद्रनिरीक्षणव्रती नृपः एकं शिवदुर्गुणं अपश्यत् ॥ ९७ ॥

वीजापुर की इस दुरिभसंधि का विशेष प्रभाव न पड़ा । वीर शिवराज को निर्भय, बिकलता रहित देखकर, तथा अपने राजनीतिक प्रयोगों को प्रभावहीन जानकर, अन्त में बीजापुर ने जिसे सज्जनों में दोष ढूँढ़ने का यश प्राप्त था, शिवाजी में एक दुर्बलता देख ही लिया ॥ ९७ ॥

तदीयनिष्ठां पितरि स्वभावजाम् स्ववर्तिनं तत्पितरञ्च चिन्तयन् ।
प्रकल्प्य तं साधनमात्मसिद्धये शिवं वशीकर्तुमचेष्टतोद्यमी ॥ ९८ ॥

पितरि स्वभावजां तदीयनिष्ठां, तत्पितरं च स्ववर्तिनं चिन्तयन्, तं आत्मसिद्धये साधनं प्रकल्प्य उद्यमी (बीजापुरराजः) शिवं वशीकर्तुं अचेष्टत ॥ ९८ ॥

शिवाजी की स्वाभाविक पितृभक्ति को जानकर तथा उनके पिता को अपना वशवर्ती पाकर उन्हीं को साधन (माध्यम) बनाकर उद्यमी वीजापुर ने आत्मलक्ष्य सिद्धि के लिए मनस्वी शिवराज को वश में करना चाहा ॥ ९८ ॥

प्रसह्य बीजापुरराज्यपांसुला चचार वार्ता मुखरेव दिङ्मुखे ।
शिवं निरोद्धुं विफलोऽधुना नृपः तदीय तातं निगडे हनिष्यति ॥ ९९ ॥

मुखरा इव बीजापुरराज्यपांसुला वार्ता प्रसह्य दिङ्मुखे चचार, शिवंनिरोद्धुं विफलः नृपः अधुना निगडे तदीयतातं हनिष्यति ॥ ९९ ॥

शीघ्र ही वीजापुर की यह कलंक वार्ता चारो ओर दिगन्त में फैल गयी— वीर शिवा को रोकने में असमर्थ वीजापुर अब जेल में उनके पिता की हत्या करेगा ॥ ९९ ॥

1265

निरुद्धरन्ध्रे तिमिरावगुण्ठिते करालकाराजठरेऽपि तत्पिता ।
तुतोष मानैकधनोऽनुवासरं द्विषत्कुलध्वंसकरे सुतोदये ॥१००॥

निरुद्धरन्ध्रे तिमिरावगुण्ठिते करालकाराजठरेऽपि मानैकधनः तत्पिता द्विषत्कुलध्वंसकरे सुतोदये अनुवासरं तुतोष ॥ १०० ॥

शाहजी को जेल की कालकोठरी में बन्द कर दिया गया, प्रकाश के लिए भी कोई छिद्र नहीं, अन्धकार की विभीषिका। फिर भी यश को ही श्रेष्ठ धन मानने वाले शाहजी को बड़ा परितोष था कि उनके पुत्र वीर शिवराज का प्रताप शत्रुकुल के विनाश के लिए काल बन गया है ॥ १०० ॥

निवेद्य भोगान् पुरतो मनोहरान् द्रुतं सहेलं व्यपनीय तत्पुनः ।
वृथाश्रमो लोब्धुमभूदरिक्रमस्तमाकुलप्राणमपीष्टगौरवम् ॥१०१॥

मनोहरान् भोगान् पुरतः निवेद्य सहेलं पुनः तत् द्रुतं व्यपनीय आकुलप्राणं अपि इष्ट-गौरवं तं लोब्धुं अरिक्रमः वृथाश्रमः अभूत् ॥ १०१ ॥

शाहजी को यन्त्रणा देने के लिए शत्रु अनेक विघ्न प्रपञ्च करता था। उत्तम भोजन की थाल उनके सामने रखकर फिर सहसा खींच ली जाती थी, फिर वही क्रम दुहराया जाता था। इस तरह उनके प्राण भूख प्यास से विकल हो रहे थे तथापि उस मनस्वी को अपने वश में करने के सब प्रयत्न निष्फल ही सिद्ध हुए ॥ १०१ ॥

ततस्सतारापतिरात्ममण्डले महोपरागं परिलक्ष्य साहसी ।
समीहमानस्सहसाऽहिसान्त्वनं खले खलीनं चकमे न वाजिनि ॥१०२॥

ततः आत्ममण्डले महोपरागं परिलक्ष्य साहसी सतारापतिः हि सहसा सान्त्वनं समीहमानः खले खलीनं चकमे वाजिनि न (चकमे) ।

(अथवा चन्द्रपक्षे)

ततः आत्ममण्डले महोपरागं परिलक्ष्य सः साहसी तारापतिः सहसा अहिसान्त्वनं समीहमानः खले खलीनं चकमे वाजिनि न (चकमे) ॥ १०२ ॥

वीजापुर को आश्वस्त करने के लिए शिवाजी ने अपनी गतिविधि को कुछ समय के लिए रोक दिया। तब सतारा के साहसी अधिपति शिवाजी ने अपने पक्ष में इस विषम आपत्ति को देखकर उस वीजापुर रूपी सर्प को आश्वस्त करने के लिए घोड़े के मुँह में लगाम न लगाकर दुष्टों के मुँह में ही लगाना चाहा। चन्द्रमा के रूपक में--तारापति चन्द्रमा के समान शिव ने अपने मण्डल में ग्रहण का दुर्योग उपस्थित देख राहु की शान्ति के लिए, लगाम को घोड़ों के मुँह में न लगाकर दुष्टों के मुँह में लगा दिया। सतारापतिः-सः+तारापतिः या सतारा+पतिः। अहिः-भुजगो-राहुर्वा ॥ १०२ ॥

स्वजातिघातो यदनुष्ठितः पुरा शयानमापादयता तमापदि ।
यथोचितं घोर[1]पदेन सानुगं व्यपाकृतन्तज्जहताऽर्णवाम्बराम् ॥१०३॥

पुरा तं (शिवपितरं) शयानं आपदि आपादयता 'घोरपदेन' यत् स्वजातिघातः अनुष्ठितः तत् सानुगं अर्णवाम्बरां जहता यथोचितं व्यपाकृतम् ॥ १०३ ॥

सोये हुए शाहजी को विश्वासघातपूर्वक शत्रु द्वारा कैद करा देने वाले भयंकर स्वजाति द्रोह का परिणाम घोरपड़े को भोगना ही पड़ा। उन्होंने अपने अनुगामियों के साथ ही इस समुद्रवसना पृथ्वी को त्याग कर (निहतप्राण) अपने पाप का प्रायश्चित्त कर लिया ॥ १०३ ॥

घनाभिषङ्गैरपि यैर्दिगुत्तरा न विव्यथेऽरातिकृतैर्निरन्तरम् ।
तदंशमप्यात्मवती न दक्षिणा क्षमाऽभवत् सोढुमसंस्तुतारतिः ॥१०४॥

निरन्तरं अरातिकृतैः यैः घनाभिषङ्गैः अपि उत्तरा दिक् न विव्यथे असंस्तुतारतिः आत्मवती दक्षिणा तदंशं अपि सोढु क्षमा न अभवत् ॥ १०४ ॥

दक्षिण भारत स्वभावतः दासता एवं अनाचार का विरोधी है। शत्रु द्वारा की गयी जिन भयंकर यातनाओं एवं दासता को अनन्तकाल तक सहती हुई भी उत्तर दिशा (उत्तर भारत) व्यथित न हुई उन्हीं विपत्तियों के क्षुद्र अंश को भी दक्षिण दिशा तनिक भी नहीं सह सकती थी ॥ १०४ ॥

तनोति यो वारवधूजने स्पृहाम् व्यपेतशीले कलुषोत्सुकोद्यमः ।
विषह्यते किं कुलमानिनीजनैश्चरित्रपूतैरपि तन्मनागपि ॥१०५॥

यः कलुषोद्यमः व्यपेतशीले वारवधूजने स्पृहां तनोति चरित्रपूतैः कुलमानिनीजनैः अपि मनाक् अपि तत् विसह्यते किम् ॥ १०५ ॥

जिन पापपूर्ण प्रलोभनों एवं गर्हित प्रयत्नों से शीलभ्रष्ट वारवधुएँ अनायास आकृष्ट हो जाती हैं उन्हीं दुष्प्रयत्नों की आंशिक छाया को भी पवित्र आचरण वाली कुलकामिनी क्या कभी सह सकती हैं ? ॥ १०५ ॥

विजापुरे विप्लवनिर्भरे हठात् समेधितुं लोलमनोरथं द्विषत् ।
चचाल दिल्लीशसुतो मलिम्लुचो यथा निकेतेऽनवधानरक्षिणि ॥१०६॥

विप्लवनिर्भरे विजापुरे लोलमनोरथं हठात् समेधितुं द्विषत् दिल्लीशसुतः अनवधानरक्षिणि निकेते मलिम्लुचः यथा चचाल ॥ १०६ ॥

१. पुरा शयानं शिवराजपितरम् शत्रुबन्धने निक्षिप्य 'घोरपडे' सामन्तेन यो विश्वासघातः समाचरितः तत्फलं सबन्धुलोकं प्राणत्यागं कुर्वता तेनानुभूतमिति— इतिहासः—"मराठों का उदय"।

वीजापुर राज्य में आन्तरिक कलह के विस्फोट के कारण उत्पन्न दुर्व्यवस्था में अपने चिरकालीन लोभपूर्ण मनोरथ को पूर्ण करने के लिए शत्रु, दिल्लीपति का पुत्र उत्सुक हो उठा जैसे असावधान प्रहरीवाले घरको देखकर चोर प्रसन्न हो उठता है॥१०६॥

सपत्नसामान्यकुलद्वयेऽप्यसौ रुचिं वबन्धात्मरुचिं न सेवितुम्।
अतोऽवरङ्गप्रणयं वधाध्वरे स बन्धुनाथो न ननन्द शीलितुम्॥१०७॥

आत्मरुचिः असौ सपत्नसामान्यकुलद्वये अपि सेवितुं रुचि न वबन्ध, अतः सः बन्धुनाथः अवरङ्गप्रणयं वधाध्वरे शीलितुं न ननन्द॥ १०७॥

शिवराज ने बीजापुर के विरुद्ध दिल्ली की सहायता करने के प्रस्ताव को ठुकरा दिया। स्वतन्त्र विवेकवाले वर्धिष्णु शिवराज के लिए दिल्ली और वीजापुर समान शत्रु थे। फिर भी उन्होंने दोनों में किसी का पक्षधर होना स्वीकार न किया। यही कारण था कि वीजापुर के विरुद्ध अवरंगजेब की युद्धक्षेत्र में सहायता करने के प्रस्ताव का उन्होंने अनुमोदन नहीं किया॥ १०७॥

उदारचेता परिहाय सोत्सुकाम् कथम्महाराष्ट्रनवोज्ज्वलश्रियम्।
रमेत दिल्लीमथवा बिजापुरीं मिथोऽपरक्ताम् गणिकाद्वयी मिव। १०८॥

सोत्सुकां महाराष्ट्रनवोज्ज्वलश्रियं परिहाय मिथः अपरक्तां गणिकाद्वयीं इव दिल्लीं अथवा बिजापुरीं उदारचेताः कथं रमेत ?॥ १०८॥

वे उदारचेता वीर शिवराज नवीन कान्तिवाली उत्कण्ठित महाराष्ट्र लक्ष्मी को छोडकर भला किस प्रकार परस्पर असहिष्णु दो वारवधुवों के समान दिल्ली या वीजापुर में अनुरक्त होते॥ १०८॥

सुदीर्घकालं कृतकानुबन्धनैर्निसर्गलोलामुपचर्य देहलीम्।
न तत्त्वतः सोऽभजतामतालसो मनोज्ञरूपां विषकन्यकामिव॥१०९॥

कृतकानुबन्धनैः सुदीर्घकालं निसर्गलोलां देहलीं उपचर्य अमतालसः सः मनोज्ञरूपा विषकन्यकां इव (ताम्) तत्त्वतः न अभजत॥ १०९॥

झूठमूठ के उपायों से चिरकाल तक स्वभावतः चञ्चल दिल्ली को बहलाकर भी आलस्यहीन कार्यपटु शिवराज उसकी ओर आकृष्ट न हुए। दिल्ली को वे सौन्दर्यपूर्ण विषकन्या ही समझते थे॥ १०९॥

पितुर्निशम्यामयनिर्जितां दशाम् निगूढवैरव्यसनः स्वबन्धुषु।
मगर्भ्यहत्याकलुषाय सस्पृहं गतोऽवरङ्गस्त्वरयोत्तरामभि[1]॥११०॥

---

१. दुस्सहरोगव्यसनात् सुचिरं प्रजाजनादर्शनतां गते दिल्लीपतौ शाहनहाने, तन्मरणं निश्चित्य दक्षिणतोऽवरंगजेबः, पूर्वतोऽपरः शुजा, उज्जयिनीतो मुरादश्च त्रयो राजसिंहासनमधिकर्तुम् राजधानीमागराम्प्रति चलिताः। (१६४८ ईस्वी)

(औरंगजेबः—यदुनाथ सरकार)

आमयनिर्जितां पितुः दशां निशम्य स्वबन्धुषु निगूढवैरव्यसनः अवरजः सस्पृहं सगर्म्य-हत्याकलुषाय त्वरया उत्तराम् अभि गतः ॥ ११० ॥

रोगजर्जर पिता (बादशाह) को मृत्यु के सङ्कट में सुनकर, बन्धुबान्धवों से प्रच्छन्न विरोध रखनेवाला राजकुमार औरंगजेब भाइयों की हत्या रूपी पातक के लिए उत्साहपूर्वक शीघ्रता से उत्तर दिशा की ओर प्रस्थित हुआ ॥ ११० ॥

यथा स्वराज्ये नवसम्पदायतिः शशिच्छटाऽनभ्रदिवीव भास्वरा ।
अपद्रुतारातिकुले तथैव सा शिवेन्दिराऽवर्धत दक्षिणापथे ॥१११॥

स्वराज्ये यथा नवसम्पदायतिः अनभ्रदिवि भास्वरा शशिच्छटा इव अपद्रुतारातिकुले दक्षिणापथे तथा एव सा शिवेन्दिरा अवर्धत ॥ १११ ॥

जैसे स्वराज्य की व्यवस्था में धन सम्पत्ति का उत्कर्ष होता है, मेघ रहित आकाश में चाँदनी अधिक समुज्ज्वल हो जाती है उसी प्रकार दक्षिणाञ्चल में शत्रुओं के इधर-उधर हट जाने के कारण शिवराज की राजलक्ष्मी विकसित होने लगी ॥१११॥

यिय सुना दक्षिणभूस्तथापि सा चमूपतौ प्राणनिधिर्यथा धृता ।
शिवे परं रागमुवाह निश्छलं यथा स्वभावे प्रियता शरीरिणाम् ॥११२॥

तथापि यियासुना सा दक्षिणभूः प्राणनिधिः यथा चमूपतौ धृता, परं (सा) शिवे निश्छलं रागं उवाह यथा शरीरिणां स्वभावे प्रियता ॥ ११२ ॥

यद्यपि उत्तर दिशा में प्रस्थित होनेवाले औरंगजेब ने प्राणनिधि के समान दक्षिण दिशा को सेनापति की देखरेख में छोड़ा था फिर भी शिवराज के लिए दक्षिण दिशा का निश्छल प्रेम घनीभूत होता गया जैसे प्रेम स्वभाव की ओर बढ़ता है ॥ ११२ ॥

विलङ्घ्य भीमामिव शत्रुवाहिनीम् हठात् शिवानीकगणा गणा इव ।
चमारगुण्डामपराञ्च रायसीं मनाशयन् दक्षमखस्थलीं यथा ॥११३॥

भीमां इव शत्रुवाहिनीं विलङ्घ्य गणाः इव शिवानीकगणाः हठात् चमारगुण्डां अपरां रायसीं च दक्षमखस्थली यथा अनाशयन् ॥ ११३ ॥

शिवगणों जैसे मनस्वी शिवसैनिकों ने भीमा की दुरन्त धारा के समान शत्रुसेना को लाँघकर चमारगुण्डा और रायसी को प्रजापति दक्ष की यज्ञभूमि के समान तहस-नहस कर डाला ॥ ११३ ॥

स जुन्नरं किन्नरलोकसन्निभं हटान्निशीथे विरलानुगान्वितः ।
अभिक्रमेणात्मवशामिवाकरोत् तुरङ्गसृष्टिं निखिलां स्वयम्भुवः ॥११४॥

१. भीमा नदी—महाराष्ट्र जनपदे ।
२. चमारगुण्डा—भीमापारे पुरविशेषः तदानीं शत्रुसैन्यसंस्थानम् ।
३. रायसी—एतन्नामकंपुरम्, तत्रापि शत्रुसैन्य संस्थानमासीत् ।
४. जुन्नरं—एतन्नामके पुरे युद्धोपयोगिनां वाजिनां महान् संग्रहः कृतः तदानीम् शत्रुणा ।

विरलानुगान्वितः सः निशीथे हठात् किन्नरलोकसन्निभं जुन्नरं अभिक्रमेण स्वयम्भुवः निखिलां तुरङ्गसृष्टिं आत्मवशां इव अकरोत् ॥ ११४ ॥

वीर शिवराज ने थोड़े सिपाहियों को साथ लेकर आधी रात में किन्नरलोक के समान समृद्ध जुन्नर पर सहसा धावा बोल दिया। और आक्रमण के परिणाम घोड़ों की इतनी बड़ी संख्या प्राप्त किये मानो ब्रह्मा की सम्पूर्ण अश्व सृष्टि ही उनके अधिकार में आ गयी हो ॥ ११४ ॥

निसर्गकल्याणमिवारिभूभृतां विजित्य कल्याण[1]मसौ जनेश्वरः ।
बिजापुरायादिशदात्मशासनः स्ववैरशुद्धेः प्रथमामुदाहृतिम् ॥११५॥

आत्मशासनः असौ जनेश्वरः अरिभूभृतां निसर्गकल्याण इव कल्याण विजित्य विजापुराय स्ववैरशुद्धेः प्रथमां उदाहृतिं अदिशत् ॥ ११५ ॥

उस प्रजानाथ शिवराज ने शत्रु नरपतियों के स्वाभाविक कल्याण के समान कल्याणकारी कल्याण नामक दुर्ग पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार शत्रु बीजापुर राज्य को अपने वैरशोधन के प्रथम उदाहरण से मानों परिचित करा दिया ॥ ११५ ॥

तदा बलानीतमहार्हवैभवे ददर्श राजा शिविकामपि स्थिताम् ।
दरस्मितः सान्त्वयितुं कुतूहलं चमूपतिस्तामकरोदपावृताम् ॥११६॥

तदा बलानीतमहार्हवैभवे राजा स्थितां शिविकां अपि ददर्श। कुतूहलं सान्त्वयितुं चमूपतिः दरस्मितः (सन्) तां अपावृतां अकरोत् ॥ ११६ ॥

वीर शिवाजी ने शत्रु को पराजित कर सेना द्वारा लाये बहुमूल्य वस्तुओं के भाण्डार में एक पालकी को भी देखा। उनके कौतूहल को शान्त करने के लिए किञ्चित् मुस्कान के साथ सेनापति ने पालकी के आवरण को हटाकर उसे अनावृत कर दिया ॥ ११६ ॥

सविस्मयं वेपथुनिर्भरामसौ परामिवाम्भोजभुवश्चमत्कृतिम् ।
सशङ्कितामुद्यदुदारयौवनां ददर्श राजा वनितां रमामिव ॥११७॥

असौराजा सविस्मयं अम्भोजभुवः परां चमत्कृतिं इव उद्यदुदारयौवनां वेपथुनिर्भरां सशङ्कितां रमां इव वनितां ददर्श ॥ ११७ ॥

वीर शिवराज ने विस्मयपूर्वक देखा–प्रतीत होता था मानों प्रजापति ब्रह्माजी की अन्त्यन्त उत्कृष्ट चमत्कारपूर्ण कृति है। वह नवयोवना थी, उसकी देह आशंका से काँप रही थी। वह लक्ष्मी के समान मनोहर थी ॥ ११७ ॥

१. कल्याण :—एतन्नामको दुर्गविशेषः हृदयमिव स्थितिबलाद् बीजापुरराज्यस्य। बीजापुराधिकारात् स्वायत्तीकृतो बलप्रयोगात् शिवराजेन।

निरीक्षमाणामनिमेषलोचनैरधिक्षिपन्तीमिव राममेदिनीम् ।
पराङ्गनाशीलमुषोऽपि बिभ्रती विलीयते या न विदीर्यतेऽथवा ॥११८॥

पराङ्गनाशीलमुषः बिभ्रती अपि या न विलीयते अथवा न विदीर्यते—(इति) राममेदिनीं अधिक्षिपन्तीं इव अनिमेषलोचनैः निरीक्षमाणाम् ॥ ११८ ॥

वह निर्निमेष दृष्टि से देख रही थी तथा मर्यादापुरुषोत्तम 'राम' की पृथ्वी को (भारत भूमि को) मानो धिक्कार रही थी कि दूसरों की बहू-बेटियों को अपमानित करनेवाले नीचों को आश्रय देकर भी जो न तो धस ही जाती है, न फट जाती है। [एक स्त्री के लिए मर्यादापुरुषोत्तम ने रावण को उसकी सेना और परिवार के साथ समूल नष्ट कर दिया, वाली को प्राणों से वियुक्त होना पड़ा था] ॥ ११८ ॥

अनिन्द्यसौन्दर्यविधिं जरद्विधिं शुचा शपन्तीमिव शून्यमानसम् ।
अनन्तरायोत्सवमात्मनिर्मितौ न वीक्षितुं यस्सहते सदात्मनाम् ॥११९॥

यः आत्मनिर्मितौ सदात्मनां अनन्तरायोत्सवं वीक्षितुं न सहते (तं) शून्यमानसं अनिन्द्यसौन्दर्यविधिं जरद्विधिं शुचा शपन्तीं इव ॥ ११९ ॥

वह अनिन्द्य सुन्दरी उत्कृष्ट सौन्दर्य का निर्माण करनेवाले उस बूढ़े ब्रह्मा की बुद्धिहीनता को धिक्कार रही थी क्योंकि उस खोखले मस्तिष्क वाले ब्रह्मा की सृष्टि एक विचित्र सनक है। वह अपनी सृष्टि में सज्जनों का विघ्नरहित सुख देख ही नहीं सकता। सौन्दर्य ही दुःख का, दुर्भाग्य का कारण बन गया ॥ ११९ ॥

अशेषकारुण्यमिव स्वमानसान्निवेश्य विस्रम्भवचस्सु साग्रहम् ।
पतिष्णुमालक्ष्य जगाद सत्वरं सपत्नकान्ताम् परिसान्त्वयन्नृपः ॥१२०॥

नृपः सपत्नकान्ताम् पतिष्णुं आलक्ष्य विस्रम्भवचस्सु स्वमानसात् अशेषकारुण्यं इव साग्रहम् निवेश्य परिसान्त्वयन् सत्वरं जगाद ॥ १२० ॥

शिवराज ने शत्रुवधू को घबड़ाहट में अचेत होने की आशंका से अपनी वाणी में हृदय की सम्पूर्ण करुणा उडेलकर आश्वस्त करते हुए अविलम्ब कहा ॥ १२० ॥

प्रसीद वत्से! पुरतो मयि स्थिते नदेहलीशोऽपि तवाप्रिये प्रभुः ।
पितुर्गृहं प्राप्य दुहितृवत्सलं कथं विषादैः परितप्यसेऽधुना ॥१२१॥

वत्से ! प्रसीद, मयि पुरतः स्थिते देहलीशः अपि तव अप्रिये न प्रभुः, दुहितृवत्सलं पितु गृह प्राप्य अधुना विषादैः कथं परितप्यसे ॥ १२१ ॥

---

१. आबाजी सोनदेवाभिधेन सेनापतिना बीजापुरीय प्रान्तपालस्य 'मुल्ला अहमद नवायत' नाम्नः कल्याणदुर्गरक्षितुः पुत्रवधूः सौन्दर्यमणिरिव शिवराजप्रसादाय शिविकाया मानीता। किन्तु 'मातृवत् परदारेषु' प्रतिपादयता शिवेन सर्वथा भूषादिभिरलङ्कृत्य सादरं पञ्चशतरक्षिरक्षिता सा शत्रुवधूः निरापदं बीजापुरे स्वजनसमीपं प्रेषिता।

बेटी, प्रसन्न होवो, मेरे रहते दिल्लीपति भी तुम्हारा अप्रिय नहीं कर सकते। पिता का घर तो कन्या के लिए स्नेहभरी गोदी है, भला वहाँ आकर क्यों विषाद से विकल हो ॥ १२१ ॥

अनार्यजुष्टं सहठं चमूपते ! कथं त्वयाऽऽचारविदाऽप्यनुष्ठितम् ।
कुलाङ्गनाशोकभराश्रु शस्त्रिणां यशस्यवद्यं शरदिन्दुरोचिषि ॥१२२॥

चमूपते ! आचारविदा अपि त्वया शस्त्रिणां शरदिन्दुरोचिषि यशसि अवद्यं कुलाङ्गना-शोकभराश्रु अनार्यजुष्टं कथं सहठं अनुष्ठितम् ॥ १२२ ॥

शिवराज ने सेनापति को फटकारते हुए कहा—सेनापति, सदाचार मार्ग को जानते हुए भी तुमने यह नीचजनोचित आचरण क्यों किया। सैनिक के निष्कलंक शारदीय चन्द्रिका के समान उज्ज्वल कीर्ति में, उसके कारण दुःखी कुलवधुओं का शोकाश्रुपात घोर कलंक के समान है ॥ १२२ ॥

ममाभविष्यज्जननी यदीदृशी मनोज्ञसौन्दर्यविभूतिमण्डिता ।
ममापि लोकत्रयलोचनोत्सवम् ध्रुवाभविष्यत् सुमनोहरं वपुः ॥१२३॥

यदि मम जननी इदृशी मनोज्ञसौन्दर्यविभूतिमण्डिता अभविष्यत् मम अपि ध्रुवा लोकत्रयलोचनोत्सवं सुमनोहरं वपुः अभविष्यत् ॥ १२३ ॥

यदि मेरी माँ भी ऐसी ही सौन्दर्यमण्डित होतीं तो उनसे उत्पन्न यह मेरा शरीर भी सुकान्त, मनोहर होता तथा संसार की आखें आश्चर्यपूर्वक उसे देखती ही रह जातीं ॥ १२३ ॥

मनोरथश्रीर्वयसः शरीरिणी पुरःस्थिताऽसौ हृदये जितात्मनः ।
पितुः प्रसादाय सुतेव निर्भरम् बभूव सौभाग्यविभूतिभूषिता ॥१२४॥

वयसः शरीरिणी मनोरथश्रीः पुरःस्थिता असौ जितात्मनः हृदये पितुः प्रसादाय सुता इव निर्भरं सौभाग्यविभूतिभूषिता बभूव ॥ १२४ ॥

वह अवस्था का मनोऽभिलषित स्वरूप थी, अवस्था अपने लिए उससे उत्कृष्ट-तर कल्पना नहीं कर सकती थी। आत्मवशी शिवराज के सम्मुख सौभाग्य से विभूषित इस प्रकार प्रतीत हो रही थी मानो पिता के सामने उसकी प्यारी बेटी उपस्थित हो ॥ १२४ ॥

परस्वभेदव्यवहारविक्रिया क्व धर्मवृत्तिः क्व च तुल्यदर्शिनी ।
निसर्गरक्ष्येष्ववलाजनेष्वपि प्रशस्यते किं व्यसनोद्यमाग्रहः ॥१२५॥

परस्वभेदव्यवहारविक्रिया क्व, तुल्यदर्शिनी धर्मवृत्तिः च क्व। निसर्गरक्ष्येषु अवला-जनेषु अपि व्यसनोद्यमाग्रहः प्रशस्यते किम् ॥ १२५ ॥

भला 'मेरा तेरा' भेदमूलक व्यवहार की विक्रिया तथा सबको एक समान माननेवाली धर्मभावना में कहाँ समन्वय है। सर्वथा रक्षणीय अवलाजनों पर भी

विपत्ति की वृष्टि का आयोजन करना कहाँ तक उचित है। धार्मिकता अपने पराये के भेद से कलुषित नहीं होती, वह सबके प्रति साधुबुद्धि रहती है ॥ १२५ ॥

न कामये कामयतेऽथवाऽत्र कः शमेन विस्मर्तुमरातिदुष्कृतम् ।
प्रतिक्रियां किन्तु विधातुमीदृशीमपि क्षमेयं कथमार्यपद्धतिः ॥१२६॥

शमेन अरातिदुष्कृतं विस्मर्तुं न कामये अथवा कः अत्र कामयते, किन्तु इदृशी प्रतिक्रियां विधातुं इयं आर्यपद्धतिः अपि कथं क्षमा ॥ १२६ ॥

में शान्ति का बाना धारण कर, शमवृत्ति बनकर शत्रु द्वारा किये गये अत्याचार को भूलना नहीं चाहता; कोई भी मनुष्य ऐसी क्लीवता नहीं चाहेगा। किन्तु इस प्रकार का बदला, (शत्रुवधू को बलपूर्वक-छीन लाना) ऐसा प्रतीकार हमारी आर्यपद्धति किस प्रकार सहन करेगी ॥ १२६ ॥

जिजीविषामो व्यसनक्षता अपि स्वयं यमादर्शमणिं निरीक्षितुम् ।
तमेव सञ्चूर्ण्य मदोन्मदा इव सपत्नसामान्यवृकाः वयं न किम् ? ॥१२७॥

यम् आदर्शमणिं निरीक्षितुं स्वयं व्यसनक्षताः अपि जिजीविषामः तं एव मदोन्मदाः इव सञ्चूर्ण्य किं वयं सपत्नसामान्यवृकाः न (स्मः) ॥ १२७ ॥

हम अपने द्वारा सम्मानित मानवीय मूल्यों, आदर्शों को प्रतिष्ठित देखने के लिए अनेक बाधाओं, विपत्तियों से प्रताडित होते हुए भी जीवित रहना चाहते हैं। किन्तु यदि अपनी विवेकहीनता से मद्यप के समान हम स्वयं उन मूल्यों, आदर्शों की हत्या करने लगें तो हम भी अपने विरोधी शत्रुओं के समान ही भेड़िये हैं। हममें तथा हमारे शत्रुओं में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। हम दोनों ही अनाचारी हैं। ॥ १२७ ॥

अनार्यपद्यानुकृतौ समुत्सुका कुलाङ्गनेवार्यमतिः कथंन्वियम् ।
विपद्यमाना परिणामकश्मले पवर्तते जीवितुमद्य पांसुले ॥१२८॥

अनार्यपद्यानुकृतौ समुत्सुका इयं आर्यमतिः कुलाङ्गना इव कथं नु पांसुले परिणामकश्मले विपद्यमाना अद्य जीवितुं प्रवर्तते ॥ १२८ ॥

नीच शत्रुओं के दानवीय व्यवहार का अनुकरण करने के लिए समुत्सुक, शीलवती कुलवधू जैसी शुद्ध हमारी आर्यबुद्धि आज क्यों भयंकर परिणामवाले पापमय कीचड़ में फँसकर विपन्न होना चाहती है ॥ १२८ ॥

स्वरूपमाहत्य नवोदयोऽपि मे भृशं समाराधितशक्रवैभवः ।
स्वमार्गमुल्लङ्घ्य तपस्विने यथा न रोचते घोरमलीमसायतिः ॥१२९॥

स्वरूपं आहृत्य भृशं समाराधितशक्रवैभवः नवोदयः अपि घोरमलीमसायतिः मे तपस्विने यथा स्वमार्गं उल्लङ्घ्य न रोचते ॥ १२९ ॥

स्वरूप को, आत्ममर्यादा को नष्ट कर इन्द्र के वैभव से पूर्ण नवीन अभ्युदय भी मुझे उसी तरह निष्फल प्रतीत होता है जैसे तपस्वी का अपना त्यागपथ छोड़कर भयंकर प्रपञ्च से कलुषित सांसारिक मार्ग अग्राह्य लगता है ॥ १२९ ॥

न शस्त्रसख्यं प्रकृतिः शरीरिणाम् परं विरोध्याः हि शठाततायिनः ।
वलावलेपैः महसा क्षिपन्ति ये त्रिवर्गवृत्तिं विधिमानिनोऽधमाः ॥१३०॥

शस्त्रसख्यं शरीरिणां प्रकृतिः न, परं शठाततायिनः विरोध्याः हि । ये विधिमानिनः अधमाः वलावलेपैः सहसा त्रिवर्गवृत्तिं क्षिपन्ति ॥ १३० ॥

शस्त्रसाहचर्य (हथियार को साथी बनाना) मानवीय स्वभाव नहीं है फिर भी अकारण समाजद्रोही आततायिओं का विरोध तो करना ही चाहिए । वे शक्ति के मद में अपने को ही सर्वतन्त्र स्वतन्त्र ईश्वर मानकर त्रिवर्ग वृत्ति (धर्म अर्थ तथा काम की सिद्धि) को कुचल कर फेंक देना चाहते हैं ॥ १३० ॥

अपूर्वचारित्र्यमवर्त्मकम्पनं नितान्तविस्मापितशत्रुमण्डलम् ।
समर्थशिष्यः सहसान्तिकं व्रजन् व्यवर्धयत्तं गुरुसम्मताशिषा ॥१३१॥

अवर्त्मकम्पनं नितान्तविस्मापितशत्रुमण्डलं अपूर्वचारित्र्यं तं समर्थशिष्यः सहसा अन्तिकं व्रजन् गुरुसम्मताशिषा व्यवर्धयत् ॥ १३१ ॥

सहसा वहाँ पर गुरु समर्थ के शिष्य उपस्थित हो गये । उन्होंने अपूर्व चरित्रवाले दुराचारी शत्रुओं को त्रास देनेवाले तथा अपने साहसिक कार्यों से शत्रुकुल को विस्मित करनेवाले शिवाजी को गुरु प्रदत्त अशीर्वाद से अनुगृहीत किया ॥ १३१ ॥

अरक्षितारिप्रमदासु विस्मिता तवाश्रुतेन व्यवहाररोचिषा ।
निरस्तधामा नियतं सुरावली दिवं विमुच्याश्रयतीव भूतलम् ॥१३२॥

अरक्षितारिप्रमदासु तव अश्रुतेन व्यवहाररोचिषा विस्मिता निरस्तधामा सुरावली नियतं दिवं विमुच्य भूतलं आश्रयति इव ॥ १३२ ॥

अरक्षित शत्रुवधू के प्रति भी तुम्हारे अद्भुत उत्तम व्यवहार से विस्मित निष्प्रभ देवमण्डली अब देवलोक को छोड़कर पृथ्वी का आश्रय ग्रहण कर रही है ॥ १३२ ॥

प्रचण्डमातङ्गजुषो वलोच्छ्रिता सुमेध्यरत्नाकरवन्दिता अपि ।
जिता तवाऽऽचाररुचा नताननाः व्यपेतरागा विहिता धराभृतः ॥१३३॥

प्रचण्डमातङ्गजुषः वलोच्छ्रिताः सुमेध्यरत्नाकरवन्दिताः अपि धराभृतः तव आचाररुचा जिताः नताननाः व्यपेतरागाः विहिताः ॥ १३३ ॥

शिवराज, तुमने अपने उत्तम आदर्श से धराभृतों (नृपगण तथा पर्वतकुल) को निष्प्रभ कर दिया है । नृप पक्ष में—प्रचण्ड गजसेना से युक्त, सेना के अभिमान

के गर्वित, उत्कृष्ट रत्नराशि से सेवित नृप गण भी तुम्हारे अप्रतिम आचरण की धवल-कीर्ति से पराजित एवं निस्तेज हो गये हैं। पर्वत पक्ष में—हाथियों के झुण्ड से भरे, शक्ति से समुन्नत, उत्तम रत्नों की खान से युक्त, धातुओं के मिश्रण से चित्रित वर्षवाले भूधर भी तुम्हारे शुभाचार से निष्प्रभ हो सर झुका लिए हैं ॥ १३३ ॥

यदीश्वराः भावविदः प्रतिष्ठिताः सदाशिषाम्वा नियता सदायतिः ।
प्रतिक्षणं त्वद्वशगा यशोनिधे धराऽधरीकृत्य दिवं महीयताम् ॥१३४॥

यदि ईश्वराः भावविदः प्रतिष्ठिताः, सदाशिषां सदायतिः वा नियता, यशोनिधे ! त्वद्वशगा धरा दिवं अधरीकृत्य प्रतिक्षणं महीयताम् ॥ १३४ ॥

यदि देवता आन्तरिक भाव को ही महत्त्व देते हैं यदि शुभाशीषों से भविष्य समृद्ध होता है तो यशस्वी शिवराज, स्वर्ग को भी लज्जित करके पृथ्वी सदा तुम्हारी वशवर्तिनी बनी रहे ॥ १३४ ॥

तदा शिवाम्बोरसि तां सुतामिव समागताम् भर्तृकुलाच्चिरोत्सुका ।
निवेशयन्ती मुदितां रिपुश्रियम् त्रपाकुलाक्षीं परिषस्वजे हठात् ॥१३५॥

तदा भर्तृकुलात् समागतां सुताम् इव तां उरसि निवेशयन्ती चिरोत्सुका शिवाम्वा मुदितां त्रपाकुलाक्षीं रिपुश्रियम् हठात् परिषस्वजे ॥ १३५ ॥

उसी समय ससुराल से आयी हुई बेटी के समान, लाज से नीची आखोंवाली, प्रसन्नचित्त उस शत्रु-वधू को माता जीजीबाई ने दीर्घ उत्कण्ठा से विह्वल अपने हृदय में विठाते हुए उसे वरवस गले से लगा लिया ॥ १३५ ॥

अकृत्रिमोदारचरित्रसम्पदा वधूमपीत्थं परितोष्य विद्विषाम् ।
अशोचनीयां तदशक्तबन्धुषु विधातुमाज्ञापयदाशु भूपतिः ॥१३६॥

विद्विषाम् वधूम् अपि अकृत्रिमोदारचरित्रसम्पदा इत्थं परितोष्य, भूपतिः तदशक्तबन्धुषु (ताम्) अशोचनीयां विधातुं आशु आज्ञापयत् ॥ १३६ ॥

इस प्रकार अपने सहज उदार—चारित्र्य बल से शत्रुओं की कुलबधू को भी सर्वथा परितुष्ट करके अशक्त बन्धु बान्धवों के पास आदर पूर्वक भेजने के लिए, शिवराज ने तुरन्त आदेश दिया ॥ १३६ ॥

भूरन्ध्रे योऽवरुद्धः क्वचिदुपरि हठाच्छैलभारावसन्नः
कृच्छान्नित्यप्रयत्नच्युमितगिरिमनस्स्यूतसूक्ष्मप्ररोहः ॥
लब्धारम्भः कथञ्चिद् गगनसखिभृगोः पातितश्चूर्णितात्मा
वारां सोऽसौ प्रवाहो नद इति कथितो वर्धताम् लोकबन्धुः ॥१३७॥

यः भूरन्ध्रे अवरुद्धः, उपरि क्वचित् हठात् शैलभारावसन्नः, कृच्छात् नित्यप्रयत्नक्षुभित-गिरिमनस्स्यूतसूक्ष्मप्ररोहः, कथञ्चित् लब्धारम्भः गगनसखिभृगोः पातितः चूर्णितात्मा 'नद' इति कथितः असौ वारां सः प्रवाहः लोकबन्धुः (सन्) वर्धताम् ॥ १३७ ॥

जो पृथ्वी के अन्तराल में सुदीर्घकाल तक अवरुद्ध रहा, कहीं किसी प्रकार बाहर भी निकला तो पर्वतखण्ड के भार से दबकर निश्चेष्ट हो गया फिर किसी निरन्तर अपने प्रयत्न से पर्वत के हृदय को क्षुब्ध कर अति सूक्ष्म धार के रूप में बाहर आया किन्तु आकाश को छूनेवाली चोटी से गिरने के कारण खण्ड-खण्ड हो बिखर गया। इस प्रकार सतत संघर्ष से उत्पन्न जल का वह प्रवाह जो बाद में, आगे चलकर 'नद' (नदी) कहलाने लगता है वह लोक-कल्याणकारी प्रवाह सतत यशस्वी हो ॥ १३७ ॥

इति श्रीत्रिपाठचुपाह्वेन उमाशङ्करशर्मणा विरचिते
क्षत्रपतिचरित-महाकाव्ये तृतीयः सर्गः ।

चतुर्थः सर्गः

अथोपकूलं कुललोकपालं देवालये दर्भकटे शयानम् ।
चारित्र्यनिष्ठात्मधनं सिषेवे श्रद्धेव निद्रा वशिनं विवेकम् ॥ १ ॥

अथ उपकूलं देवालये दर्भकटे शयानं चारित्र्यनिष्ठात्मधनं कुललोकपालं निद्रा श्रद्धा इव वशिनं विवेकं सिषेवे ॥ १ ॥

इस प्रकार देश जाति के रक्षक वीर शिवराज समुद्र के तटवर्ती किसी निर्जन देवालय में कुश की चटाई पर लेटे हुए थे। उनका बहुमूल्य धन उनकी चारित्रिक निष्ठा थी। जिस प्रकार संयत विवेक के पीछे श्रद्धा चलती रहती है (श्रद्धा संयत विवेक की सहधर्मिणी है) उसी प्रकार नींद उनकी सेवा कर रही थी ॥ १ ॥

वर्षत्तुषारे विगलन्मृगाङ्के नीहारसम्भारभरेऽन्तरिक्षे ।
योगीव निर्बाधसमाधिनिष्ठः स मीलिताक्षोऽपिददर्श सर्वम् ॥ २ ॥

वर्षत्तुषारे विगलन्मृगाङ्के नीहारसम्भारभरे अन्तरिक्षे निर्बाधसमाधिनिष्ठः योगी इव मीलिताक्षः अपि सः सर्वं ददर्श ॥ २ ॥

तुषार कण से रात भींग रही थी, चन्द्रमा ओस तथा निशान्त के कारण कुछ पीताभ हो रहा था, अन्तरिक्ष भी तुषार कणों के कारण भरा हुआ प्रतीत होता था। तभी उद्वेग शून्य समाधिवाले योगी के समान आँखों को अच्छी तरह खोले बिना भी वह जगे हुए सब कुछ देख रहे थे ॥ २ ॥

तमःप्रकाशोन्मिषदेकवर्णे निमज्जिते रोधसि दुर्निरुप्ये ।
लघूर्मिसङ्घोदितमन्द्रघोषः सुप्ताम्बुधिश्वासनिभो विरेजे ॥ ३ ॥

तमः प्रकाशोन्मिषदेकवर्णे दुर्निरुप्ये रोधसि निमज्जिते (सति) लघूर्मिसङ्घोदितमन्द्रघोषः सुप्ताम्बुधिश्वासनिभः विरेजे ॥ ३ ॥

अन्धकार और प्रकाश परस्पर मिलकर एक वर्ण हो रहे थे, उस विचित्र वर्ण में सर्वथा डूबा हुआ समुद्र तट स्पष्ट (साफ) लक्षित नहीं हो रहा था। शान्त, छोटी लहरों के तट से टकराने की ध्वनि ऐसी प्रतीत हो रही थी मानों सोये हुए समुद्र देवता की श्वास प्रक्रिया हो ॥ ३ ॥

समाहितो वारिधिवद्वदृष्टिः पतद्धिमानीप्रहतैकदेशे ।
विसृत्वरं दीप्तिमयं शिवोऽसौ विदूरतो वस्तु चलं ददर्श ॥ ४ ॥

समाहितः वारिधिवद्वदृष्टिः असौ शिवः पतद्धिमानीप्रहतैकदेशे विदूरतः विसृत्वरं दीप्तिमयं चलं वस्तु ददर्श ॥ ४ ॥

समुद्र की ओर दृष्टि लगाये हुए उस अवधान पूर्ण वीर शिव ने तुषार पूरित एक दिशा में भासित होती हुई किसी चलती फिरती वस्तु को दूर से देखा ॥ ४ ॥

तदा विनिश्चेतुमिवाऽऽर्यचेष्टः कुतूहलाकृष्टमनाः सुमेधाः ।
निरीक्षमाणोऽवयवादियोगैः गत्यञ्चितैस्तत् वनितां शशङ्के ॥ ५ ॥

तदा विनिश्चेतुं इव कुतूहलाकृष्टमनाः सुमेधाः आर्यचेष्टः निरीक्षमाणः (सन्) अवयवादियोगैः गत्यञ्चितैः तत् वनितां शशङ्के ॥ ५ ॥

तब कौतूहल से आकृष्ट होकर निश्चित जानकारी प्राप्त करने की इच्छा से उस श्रेष्ठ चरित्र शिवराज ने उस आकृति के अङ्गादि एवं गति विशेष से स्त्री जातीय माना ॥ ५ ॥

दिशो दिशद्भिः प्रसरन्मयूखैरुपासिता श्रीरिव वञ्चिताऽपि ।
तदृष्टिलग्नेन पथाव्रजन्ती तेनेऽनुयोगाग्रहमेव तस्मिन् ॥ ६ ॥

दिशः दिशद्भिः प्रसरन्मयूखैः श्रीः इव वञ्चिता अपि उपासिता (सा) तस्मिन् तदृष्टिलग्नेन पथा आव्रजन्ती अनुयोगाग्रहं एव तेने ॥ ६ ॥

फैलती हुई प्रभा से दिशाओं को भव्यतर करती, ठगी हुई लक्ष्मी के समान होने पर भी पूजित, शिवराज की ओर से जानेवाली पगडण्डी से जाती हुई उस नारी-मूर्ति को देखकर शिवराज की जिज्ञासा कुछ पूछने के लिए बलवती हो गयी ॥ ६ ॥

असंस्तुतामप्यनवद्यभावामवन्दतामर्त्यकलां हठात् सः ।
नदीव सिन्धौ वहते ह्यजस्रं महत्त्ववैशिष्ट्यजने प्रतिष्ठा ॥ ७ ॥

असंस्तुतां अपि अनवद्यभावां अमर्त्यकलां सः हठात् अवन्दत । हि महत्त्ववैशिष्ट्यजने सिन्धौ इव प्रतिष्ठा नदी इव अजस्रं वहते ॥ ७ ॥

उस अपरिचिता किन्तु स्वभावतः उत्तम भावपूर्ण दिव्यालोक सम्पन्न देवी को वीर शिव ने प्रणाम किया । महत्त्व विशिष्ट वस्तु की ओर प्रतिष्ठा स्वयं दौड़ पड़ती है । जिस प्रकार नदी समुद्र की ओर ही बहती है वैसे ही प्रतिष्ठा भी विशेष महत्त्वशाली व्यक्तित्व की ओर ही आकृष्ट होती है ॥ ७ ॥

तामूचिवानन्तकरोऽहितानामुदारवाणीविभवो महौजाः ।
दिवौकसामादिभवामुपास्यां वशम्वदो विस्मयलीढचेताः ॥ ८ ॥

अहितानां अन्तकरः उदारवाणीविभवः महौजाः विस्मयलीढचेताः वशम्वदः दिवौकसां उपास्यां आदिभवां ताम् ऊचिवान् ॥ ८ ॥

शत्रुओं का विनाश करनेवाले मधुरवाणी के धनी शक्तिशाली शिवराज ने स्वर्ग में निवास करनेवाले देवताओं की पूजनीया तथा पूर्वज उस देवी से विस्मय विमूढ़ होते हुए संयत होकर पूछा । स्वतन्त्रता की भावना जीवधारी जगत् की प्रथम अभिव्यक्ति है । आधार विहीन वस्तु की जिस प्रकार कल्पना असम्भव है उसी प्रकार

स्वतन्त्रता विरहित जीवन की भी कल्पना नहीं की जा सकती। सच तो यह है कि मानव समाज की सर्वविधि उपलब्धि के मूल में इसी स्वतन्त्रता का उद्रेक है। हमारे समाज का उत्कृष्टतम पुरुषार्थ 'मोक्ष' है और यह निर्बन्ध आत्मस्थिति से भिन्न कुछ भी नहीं है] ॥ ८ ॥

कूलङ्कषा प्राणिति मन्दमन्दं निशापि निद्राकुलितेव भाति।
शेते जगच्छ्रान्तनिरस्तचेष्टं त्वमद्वितीया कुटिलश्च पन्थाः ॥ ९ ॥

कूलङ्कषा मन्दमन्दं प्राणिति, निशा अपि निद्राकुलिता इव भाति, श्रान्तनिरस्तचेष्टं जगत् शेते, (परं) त्वं अद्वितीया पन्थाः च कुटिलः ॥ ९ ॥

नदी धीरे धीरे अति मन्थर गति से बह रही है, रात भी नींद से अलसायी सी लगती है। सम्पूर्ण संसार अपनी सुध बुध भूलकर थकान से चूर सोया हुआ है। फिर भी आप अकेली हैं तथा मार्ग निरापद नहीं है ॥ ९ ॥

नैशं तमो नश्यति गात्रकान्त्या विषीदतीवेन्दुमुखं तथापि।
अशोकरम्याम् कुरुषे स्थलीं त्वं सशोकभावाऽपि कुतूहलम्मे ॥ १० ॥

गात्रकान्त्या नैशंतमः नश्यति तथापि इन्दुमुखं विषीदति इव, त्वम् सशोकभावा अपि स्थलीं अशोकरम्यां कुरुषे—(इति) मे कुतूहलम् ॥ १० ॥

आपके शरीर की प्रभा से रात्रि का अन्धकार नष्ट हो रहा है फिर भी आपका मुख चन्द्र विषाद, चिन्ता से भरा हुआ है। आप अपनी सहज प्रभा से इस पृथिवी को शोकविहीन, सुषमापूर्ण बना रहीं हैं फिर भी आप विषाद में डूबी हुई हैं। मुझे बड़ा कौतूहल हो रहा है ॥ १० ॥

कुटुम्बिनी शैलसुता सनाथा निरस्तशोका च पयोधिपुत्री।
प्रसादलक्ष्मा गृहिणी विधातुः शताध्वरश्रीरपि शक्रपार्श्वा ॥ ११ ॥

कुटुम्बिनीशैलसुता सनाथा, पयोधिपुत्री च निरस्तशोका, विधातुः गृहिणी प्रसादलक्ष्मा, शताध्वरश्रीः अपि शक्रपार्श्वा ॥ ११ ॥

शैलपुत्री सदैव शंकरजी के साथ ही रहती हैं तथा भरापूरा परिवार भी उन्हीं की देखरेख में चलता है अतः आप इस अवस्था में शैलपुत्री नहीं हो सकतीं। समुद्र-कन्या लक्ष्मीजी शोक विषाद से सर्वथा उन्मुक्त हैं (उनके पति तो स्वयं शोकापहारी हैं। चतुर्मुख ब्रह्माजी की पत्नी का स्वभाव ही प्रसन्नता से पूर्ण रहता है उन्हें विषाद से क्या काम। शताध्वर (सौ अश्वमेधयज्ञ करनेवाले), इन्द्र की प्रिया पुलोमजा सदैव इन्द्र के बगल में निवास करती हैं, अस्तु वे इस प्रकार अकेले विषाद मलिन होकर नहीं रह सकतीं ॥ ११ ॥

निसर्गविद्योतितकान्तिभासा ज्योत्स्नेव रम्याऽपि निकारमृष्टा।
अपात्रचित्ताश्रयखिद्यमाना विद्येव का त्वम् व्यसनावरुद्धा ॥ १२ ॥

निसर्गविद्योतितकान्तिभासा ज्योत्स्ना इव रम्या अपि निकारमृद्धा अपात्रचित्ताश्रयखिद्यमाना विद्या इव व्यसनावरुद्धा त्वं का ? ॥ १२ ॥

अपनी स्वाभाविक कान्ति की प्रभा से चाँदनी के समान रमणीय होती हुई भी आपको दुःख ने मसल डाला है। कुपात्र के हृदय में दुर्भाग्यवश आश्रय ग्रहण करने के कारण विद्या के समान खेद करती हुई व्यसन-आक्रान्त आप कौन हैं। (सरस्वती, दम्भी के आश्रय में दुखी रहती हैं) ॥ १२ ॥

मातः कथं वर्षति दृष्टिरेषा महार्णवं यासि दयस्व, काऽसि ।
[1]एषाकृतिः सीदति ते यदीत्थं मन्येजितं दुःखवलेन सर्वम् ॥ १३ ॥

मातः एषा दृष्टिः कथं वर्षति, महार्णवं यासि, दयस्व, का असि, ते एषा आकृतिः यदि इत्थं सीदति, दुःखवलेन सर्वं जितम् मन्ये ॥ १३ ॥

माँ, इन आखों से आँसू क्यों गिर रहे हैं। तुम अथाह जलवाले समुद्र की ओर बढ़ रही हो, दया करो कहो तो तुम कौन हो। यदि ऐसी दिव्याकृति भी शोक-विपन्न हो रही है तो मानना पड़ेगा कि दुःख ने सारे संसार को जीत लिया ॥ १३ ॥

रहस्यगुप्तौ यदि नासि बद्धा निराकुलं ब्रूहि यथार्थमम्ब !
जानीहि मां दैन्यपयोधिमग्नाकुलोपकारव्रतवंशजातम् ॥ १४ ॥

रहस्यगुप्तौ यदि बद्धा न असि, अम्ब, निराकुलं यथार्थं ब्रूहि मां दैन्यपयोधिमग्नाकुलोपकारव्रतवंशजातम् जानीहि ॥ १४ ॥

माँ यदि रहस्य को गुप्त रखने के लिए आप वचनबद्ध नहीं हैं तो विकलता छोड़कर अपना वृत्तान्त कहें। मेरे बारे में बस जान ले कि मैं उस कुल में उत्पन्न हुआ हूँ जो दुःख के समुद्र में पड़े विकल विह्वल लोगों का उपकार करना ही अपना धर्म मानता है ॥ १४ ॥

अथापमृज्याननमुष्णदीर्घं निश्श्वस्य वाष्पाकुलनीरजाक्षी ।
शिवेतरोत्साहहरं कुमारं कुमारमातेव जगाद देवी ॥ १५ ॥

अथ आननं अपमृज्य उष्णदीर्घं निश्श्वस्य वाष्पाकुलनीरजाक्षी देवी शिवेतरोत्साहहरं कुमारं कुमारमाता इव जगाद ॥ १५ ॥

तब आसुओं से भरे मुँह को पोंछकर एक लम्बी साँस छोड़कर तुषार कणों से भरे कमल पुष्प जैसी आँखोंवाली देवी ने शत्रुओं के उत्साह को हरण करनेवाले कुमार शिवराज से कुमारमाता (कार्तिकेय जननी) पार्वती के समान कहा ॥ १५ ॥

अये ! दुरन्ताऽऽधिहतामपीत्थं प्रसादयन्मामसि कस्त्वमेव ।
सुनिर्जनेऽस्मिन्नपि योऽब्धिकूले निषेवसे ध्वस्तमहेशपीठम् ॥ १६ ॥

---

१. 'दिव्याकृति' इति पाठभेदः ।

अये, दुरन्ताधिहताम् अपि मां इत्थं प्रसादयन् त्वं एव कः असि यः अस्मिन् सुनिर्जने अपि डाम्बिकूले ध्वस्तमहेशपीठं निषेवसे ॥ १६ ॥

अरे, दुस्सह मानसिक चिन्ता से सन्तप्त मुझे इस प्रकार सान्त्वना से प्रसन्न करने का आग्रह करनेवाले तुम ही कौन हो यह तो बताओ। इस अतिशय निर्जन समुद्र के किनारे इस टूटे हुए शिवमन्दिर में क्यों रात बिता रहे हो ॥ १६ ॥

वचोभिरार्यावनिजातकोऽपि कथम्मुधा बोधभरस्त्रियामाम्।
कदर्थयस्याग्रहघूर्णिताक्षीं विवेकगर्ते पतितोऽसि कच्चित् ॥ १७ ॥

वचोभिः आर्यावनिजातकः अपि कथं बोधभरः आग्रहघूर्णिताक्षीं त्रियामां मुधा कदर्थयसि, कच्चित् विवेकगर्ते पतितः असि ॥ १७ ॥

तुम्हारी भाषा, बोली से प्रतीत होता है कि इसी आर्यभूमि में उत्पन्न हुए हो फिर भी व्यर्थ ही जगकर, आग्रहपूर्वक घूरती हुई आँखोंवाली (नींद के मारे जिसकी आखों में कडुवाहट भर गयी है)। रात को क्यों विडम्बना कर रहे हो। कहीं दुर्भाग्यवश विवेकगर्त में (आत्मचिन्तन के दलदल में) तो नहीं गिर पड़े हो ॥ १७ ॥

मा भैरवे वर्त्मनि साधुचारे मनोरथं दुर्ललितं बधान।
न भारतानामधुना स्वदेशे सुषुप्तिवर्जं परमस्ति पन्थाः ॥ १८ ॥

साधुचारे भैरवेवर्त्मनि दुर्ललितं मनोरथं मा बधान, अधुना स्वदेशे भारतानां सुषुप्तिवर्जं परं पन्थाः न अस्ति ॥ १८ ॥

सुनो, सत्पुरुषों के भयंकर मार्ग पर चलने के लिए अपने मनोरथ को विवश मत करो। आज स्वदेश में भारतीयों के लिए पैर फैलाकर खर्राटे भरने के अतिरिक्त अन्य कोई उत्तम मार्ग नहीं है ॥ १८ ॥

मत्संस्तवश्चापि निकारसूतिर्मोघानुबन्धो हि भवादृशेषु।
क्षमोऽपि बोधाय जनः प्रसुप्ते किं व्याजनिद्रेऽपि तथा कदापि ॥ १९ ॥

निकारसूतिः मत्संस्तवः अपि च भवादृशेषु मोघानुबन्धः हि प्रसुप्ते बोधाय क्षमः अपि जनः व्याजनिद्रे अपि कदापि तथा किम् ? ॥ १९ ॥

और मेरा परिचय ? मेरे परिचय का अर्थ है दुर्दशा, अपमान के स्रोत से परिचय करना। तुम जैसे महानुभावों के लिए वह सर्वथा निष्फल भी है। सोये हुए व्यक्ति को कोई भी व्यक्ति जगा सकता है किन्तु जो जानबूझकर जगा हुआ भी सोने का स्वांग करे उसे कैसे कोई जगा सकता है ॥ १९ ॥

तथापि वर्धस्व यतस्त्वमेव चिराद्गिरापीच्छसि मामवैतुम्।
क्षिप्तः स्वलोकैरपि सद्भवस्तु विपन्नचेताः लभतेऽवलम्बम् ॥ २० ॥

तथापि वर्धस्व यतः गिरा अपि चिरात् त्वं एव माम् अवैतुं इच्छसि, स्वलोकैः क्षिप्तः विपन्नचेताः सद्वचस्सु अपि अवलम्बं लभते ॥ २० ॥

फिर भी, तुम्हारा मंगल हो। क्योंकि शब्दों से ही सही, बहुत समय के बाद तुमने मुझे जानने की इच्छा तो की। अपने ही लोगों द्वारा प्रतारित और अपमानित होने वाले दुःखी प्राणी को भी भले आदमियों के सहानुभूति पूर्ण दो चार शब्दों से कुछ सम्बल, अवलम्ब प्राप्त हो जाता है॥ २०॥

याम् संस्मरन् काञ्चनपिञ्जरेऽपि मनोज्ञभोगाद्विरतश्शकुन्तः।
रटन्नजस्रं विपिने स्ववासं जीवादपीष्टाम्मृतिमाजुहोति ॥ २१ ॥

काञ्चनपिञ्जरे अपि यां संस्मरन् मनोज्ञभोगात् विरतः शकुन्तः विपिने स्ववासं अजस्र रटन् जीवात् अपि इष्टां मृतिं आजुहोति ॥ २१ ॥

सोने के पिञ्जरे में अनेक प्रकार के सुस्वादु दुर्लभ भोगों को त्यागकर, जंगल में अवस्थित अपने घोसले के लिए दिन रात टाँ टाँ करता हुआ शुक जिस स्थिति का स्मरणकर मृत्यु को ही जीवन से अधिक श्रेयस्कर मानता है, (जंगल में पक्षी अनेक बाधाओं के बीच में भी स्वच्छन्दता की अनुभूति करता है पिञ्जरों में सब कुछ रहते हुए भी उसे स्वच्छन्द बाहर उड़ने का अधिकार नहीं है।) ॥ २१ ॥

स्वतन्त्रता सा तपसां सवित्री शुभोदयानां खनिरात्मसिद्धिः।
विहाय यामद्य चतुष्पदानां बिभर्ति धर्मं द्विपदोऽपि लोकः ॥ २२ ॥

तपसां सावित्री शुभोदयानां खनिः आत्मसिद्धिः सा स्वतन्त्रता यां अद्य विहाय द्विपदः अपि लोकः चतुष्पदानां धर्मम् बिर्मति ॥ २२ ॥

वह स्वतन्त्रता है, तपस्याओं की प्रसवस्थली है, मंगलमय विधानों का मूल स्रोत है, उत्कृष्ट आत्मसिद्धि है। उसको त्यागकर द्विपद, (मनुष्य) होकर भी भारतीय समाज चतुष्पदों (पशुओं) की जिन्दगी जी रहा है॥ २२॥

अयं यदर्थं पुरुषः प्रयुङ्क्ते यदर्थमात्मा परमः प्रतिष्ठा।
यदर्थमाकल्पमुपोषते धीः तदेतदेषा जननी परा भूः ॥ २३ ॥

यदर्थं अयं पुरुषः प्रयुङ्क्ते, यदर्थं आत्मा परमः प्रतिष्ठा, यदर्थं धीः आकल्पं उपोषते तत् एतत् एषाभूः परा जननी ॥ २३ ॥

जिस लिए यह पुरुष (शक्तिसम्पन्न) अपनी शक्ति का प्रयोग करता है, जिसके लिए आत्मा को परम प्रतिष्ठा उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त है, जिसके लिए बुद्धि (अवधान की वृत्ति) अनन्त तक सन्नद्ध है वही यह उत्कृष्ट जन्म देनेवाली पवित्र पृथिवी है॥ २३॥

विशेष : २३ से २६ तक चार श्लोक में प्रायः वैदिक शब्द तथा वाक्य विन्यास स्पष्ट हैं स्वतन्त्रता के वर्णन में श्रुत-तत्त्व को प्रथम स्थान एवं वेद पुरस्सर स्तुति ही कवि को यहाँ अभीष्ट है।

सप्तार्णवानद्रिषु सप्तसिन्धूः व्रीहीन् हिरण्यम् भुवनानि सप्त ।
प्राणान् क्रतूनर्यमणञ्च सोमं नक्तन्दिवं या सुतपा बिभर्ति ॥ २४ ॥

या सुतपाः अद्रिषु सप्तार्णवान् सप्तसिन्धूः व्रीहीन् हिरण्यं सप्त भुवनानि प्राणान् ऋतून् अर्यमणं सोमं च नक्तंदिवं बिभर्ति ॥ २४ ॥

तप में स्थित यह पृथिवी सप्त समुद्रों को, पर्वतों में सप्त नदियों को, अन्न, धातु एवं सप्त भुवनों को धारण करती है। यह प्राणों को पुष्ट करती है यज्ञ (कर्तव्य भाव) को प्रश्रय देती है वैभव समृद्धि में हेतु भूत है, औषधियों में रस रूप से प्रविष्ट रहती है इस प्रकार रात दिन अनवरत यह इस भौम चक्र के सञ्चालन में केन्द्र स्थानीय है ॥ २४ ॥

या ज्योतिषां ज्योतिरनन्तगर्भा प्रसूः प्रसूनामनघा सवित्री ।
देवं मनश्चन्द्रमसञ्च वाचं रजोभिराकल्पति याऽऽत्मरूपैः ॥ २५ ॥

या ज्योतिषां ज्योतिः, प्रसूनां अनन्तगर्भा अनघा प्रसूः सवित्री, या देवं मनः चन्द्रमसं वाचं च आत्मरूपैः रजोभिः आकल्पति ॥ २५ ॥

यह पृथिवी प्रकाशवती है, प्रकाश का निधान है, उत्पत्ति की उत्पत्ति है, यह आत्मप्रसूत तत्त्वों में उद्भव शक्ति की प्रतिष्ठा करती है। प्रकाशपूर्ण मन, उसका अभिमानी देवता चन्द्रमा तथा वाक् को यह आत्मरूप से धूलि कणों से विनिर्मित करती है ॥ २५ ॥

या श्रेयसाम्मेधिरनागतानां रश्मिग्रहैरिन्द्रवृषं नियम्य ।
मनोरथं प्रीणयते मयोभूः दाक्षी प्रजानां महिषी धरित्री ॥ २६ ॥

अनागतानां श्रेयसां मेधिः या इन्द्रवृषं रश्मिग्रहैः नियम्य मनोरथं प्रीणयते, (या) मयोभूः दाक्षी प्रजानां धरित्री, महिषी ॥ २६ ॥

यह प्राप्त श्रेय की सम्बर्धिनी तथा अनागत (प्रकल्प्य) श्रेय की अवस्थिति है। सूर्य तत्त्व को देश काल के अनुसार संयत करके उसकी पोषक रश्मि माला से वैभवशील हो मनोरथ को परितृप्त करती है, यह निरन्तर त्याग से प्रजाओं को समृद्ध करती है उनकी प्रतिष्ठा है (पृथिवी ही उनका आधार है) तथा उद्भव एवं प्रभाव के साथ ही उनका सम्भरण करती है ॥ ॥ २६ ॥

तामेव नित्याध्वरकामधेनुं तिरस्कृताम्भारतवर्षजातैः ।
स्वातन्त्र्यलक्ष्मीमनुविद्धि धीमन् पतिष्णुमब्धाविह मामपुण्याम् ॥ २७ ॥

धीमन्, भारतवर्षजातैः तिरस्कृतां नित्याध्वरकामधेनुं तां एव माम् अपुण्यां इह अब्धौ पतिष्णुं स्वातन्त्र्यलक्ष्मीं अनुविद्धि ॥ २७ ॥

जीव जगत् के प्रतिदिन के यज्ञ (प्रभव, पोषण) के लिए सर्वविध मनोरथ के लिए कामधेनु स्वरूपा, मुझे भारतीयों द्वारा अतिशय तिरस्कृत स्वातन्त्र्यलक्ष्मी,

स्वतन्त्रता की अधिष्ठात्री देवता समझो। मैं मन्दभागिनी इस समुद्र में डूबने जा रही हूँ ॥ २७ ॥

[1]शक्तेरमार्गव्यवसायवत्याः लोकद्विषोऽनार्यपथप्रसक्त्या ।
त्यागप्रतिष्ठोऽपि मनोः स पन्थाः विच्छेदमेवेच्छति भर्त्सितोऽद्य ॥ २८ ॥

अमार्गव्यवसायवत्याः लोकद्विषः शक्तेः अनार्यपथप्रसक्त्या त्यागप्रतिष्ठः अपि अद्य भर्त्सितः मनोः सः पन्थाः विच्छेदं एव इच्छति ॥ २८ ॥

भगवान् मनु द्वारा समाज के सर्वविधि अभ्युदय के लिए प्रतिष्ठित, त्याग में निविष्ट वह जीवन पद्धति, अमार्ग में, निन्दित पथ में समाज की बुद्धि का व्यवसाय देखकर तथा फलस्वरूप उस संकुचित स्वार्थ बुद्धि द्वारा लोक का विषम संहार देखकर सर्वथा प्रताडित एवं निराहत हो, टूटना चाहती है ॥ २८ ॥

सकाननाम्भोधिशिलोच्चयान् यः प्रतीपमार्गव्यवसायलुब्धान् ।
न्ययोजयत् साधु मनोः पदव्यां सङ्कल्पसिद्धो घटसम्भवोऽसौ ॥ २९ ॥

प्रतीपमार्गव्यवसायलुब्धान् सकाननाम्भोधिशिलोच्चयान् यः मनोः पदव्यां साधु न्ययोजयत् असौ सङ्कल्पसिद्धः घटसम्भवः ॥ २९ ॥

समुद्रों पर्वतों और वनों में फैले हुए, असामाजिक, स्वार्थमय आचरण में लीन अमर्यादित जीवन बितानेवाले तत्त्वों को, अकेले ही सङ्कल्प चेता घटयोनि अगस्त्य मुनि ने मनुप्रदिष्ट मार्ग में व्यवस्थित कर दिया ॥ २९ ॥

[2]प्रयच्छता रक्ष्यतमं स्वदेहमजीव्यतेन्द्रः ससुरोऽपि येन ।
जीवन्नबद्धोऽपि निसर्गबन्धुर्बध्नाति कन्नात्मगुणैर्दधीचिः ॥ ३० ॥

येन ससुरः अपि इन्द्रः रक्ष्यतमं स्वदेहं प्रयच्छता अजीव्यत, अबद्धः अपि जीवन् (असौ) निसर्गबन्धुः दधीचिः कं आत्मगुणैः न बध्नाति ॥ ३० ॥

शरीर सबको प्यारा होता है इसीलिए इसकी रक्षा को प्रथम स्थान मिलता है। किन्तु इस भारत में दधीचि जैसे महात्माओं की विरलता नहीं है जिसने अपना शरीर देकर देवताओं के साथ ही इन्द्र को निर्भय बना दिया। वे जीवन्मुक्त होते हुए भी स्वभावतः लोकबन्धु थे। उन्होंने आत्मगुणों से (गुण, रस्सी, सद्वृत्ति) किसको नहीं बाँध लिया है ॥ ३० ॥

१. मनुः—मानवधर्म पद्धतिप्रवर्तकः—समाजस्य व्यवस्थाविधौ स एव प्रथमः। गुण कर्म विभागपूर्वकम् सर्वेषाङ्कृते तेन प्रदिष्टा पद्धतिः। मनुस्मृतिः तत्कृतिः।

२. दधीचिः—भार्गवो मुनिः। दुर्जयं वृत्रासुरं हन्तुं वज्रनिर्माणाय दधीचिं प्रार्थयामास देवराजस्तदस्थिलब्धये। अनासक्तो लोकदृष्टिः मुनिः स्वदेहं प्राणत्यागपूर्वकं ददावानिन्द्राय। तदुपदयास्थिनिर्मितेन वज्रेण हतो वृत्रासुरः।

आद्ये प्रबोधोपचयं यदायुः श्लाघ्यप्रयोगं तदनु द्वितीये।
अहंनिरासं कलयत् तृतीये प्रवर्ततेऽन्ते विरजाः स पन्थाः ॥ ३१ ॥

यत् आयुः आद्ये प्रबोधोपचयं, तदनु द्वितीये श्लाघ्यप्रयोगं तृतीये अहंनिरासं कलयत् अन्ते प्रवर्तते सः पन्थाः विरजाः ॥ ३१ ॥

मनुष्य की आयु जिस पद्धति (मानवजीवन की आदर्शपद्धति) के लिए आरम्भ में विद्या-बुद्धि का अर्जन करती है, उसके बाद दूसरे आश्रम (गार्हस्थ्य) में उचित प्रयोग करती है, तीसरे में 'अहं'भावना को व्यक्ति-स्वार्थमूलक अहम्मन्यता को दूर करने में सचेष्ट रहती है तथा अन्त में उन्मुक्त हो प्रवर्तमान होती है वह निष्कलङ्क पथ ही भारतीय पथ है। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास ये चार आश्रम भारतीय जीवन को पूर्णत्व देने के लिए विनिर्मित हैं, उपयुक्त बोधसंग्रह, कामनाओं का उत्तम परितोष, निवृत्ति का अभ्यास तथा सब कुछ छोड़कर निर्मुक्त लोकसेवा, यही मानवीय जीवनपद्धति है ॥ ३१ ॥

कृण्वन्त आर्यं निखिलं हि विश्वं समुद्यमा दाशरथेः पुरा ते।
वन्याननार्यानपि निर्व्यलीके गुणादरादार्यपथे बबन्धुः ॥ ३२ ॥

पुरा हि निखिलं विश्वं आर्यं कृण्वन्तः दाशरथेः ते समुद्यमाः वन्यान् अनार्यान् अपि गुणादरात् निर्व्यलीके आर्यपथे बबन्धुः ॥ ३२ ॥

सम्पूर्ण विश्व को आत्मशील आर्य बनानेवाले दशरथ-पुत्र श्रीराम के वे पूर्वकालीन समुद्यम श्लाघनीय हैं। आर्यपद्धति से अनभिज्ञ वानर-भालुओं को भी उनके सद्गुणों के कारण सार्वजनीन आर्यपद्धति में दीक्षित किया गया। [वस्तुतः राम-रावण-संघर्ष दो जीवन-दर्शनों का संघर्ष है तथा यह सतत प्रगतिशील है। एक ओर अहंवादी आसुरी, भोग-परायण ऐहिकता की पद्धति है, रावण इस पद्धति का प्रतिनिधि है। दूसरी ओर लोकाराधन के लिए सर्वस्व त्याग, स्वार्थहीनता की पद्धति है जो इस पृथिवी को अभ्यासस्थल के रूप में स्वीकार करती है तथा अमृत विराट् को ही अपने में प्रतिष्ठित मानकर स्वयंको उसका एक कण मानती है।] ॥ ३२ ॥

भूयो मनोज्ञेन विधाय धाम्ना लोकेऽमृतं स्वास्थ्यमिवात्मयत्नैः।
च्युतान् समुद्धृत्य तमोनिकाराल्लेभे यथार्थान्वयमच्युतोऽसौ ॥ ३३ ॥

आत्मयत्नैः भूयः मनोज्ञेन धाम्ना लोके अमृतं स्वास्थ्यं विधाय च्युतान् तमोनिकारात् समुद्धृत्य असौ अच्युतः यथार्थान्वयं लेभे ॥ ३३ ॥

अपने प्रभावोत्पादक विक्रम से अनेक प्रकार के उपायों द्वारा रोगी-समाज को अमृतस्वास्थ्य प्रदान कर, अन्धकार, अविद्या एवं हीनभावना के भयंकर गर्त से प्राणियों को बाहर निकालनेवाले, उद्धार करनेवाले अच्युत (भगवान् कृष्ण) ने अपने नाम की यथार्थता को (पतित न होने वाला, पतित होने से बचानेवाला) प्राप्त कर लिया ॥ ३३ ॥

यो लोकमुच्छूनमपेतसंज्ञं हठात् प्रतिष्ठाप्य विवेकपीठे।
निरस्तदम्भानकरोन्मदान्धान् वाणी हरेस्तस्य न कस्य गीता ॥ ३४ ॥

यः उच्छूनम् अपेतसंज्ञं लोकं हठात् विवेकपीठे प्रतिष्ठाप्य मदान्धान् निरस्तदम्भान् अकरोत् तस्य हरेः वाणी कस्य गीता न ॥ ३४ ॥

जिसने इस अचेत, दुर्बोध समाज को हठपूर्वक विवेक के आसन पर बैठाकर मदोन्मत्त आत्मश्लाघियों के दम्भ तथा पाखण्ड को धूल में मिला दिया उस श्रीहरि की वाणी गीता किसकी गीता नहीं है ॥ ३४ ॥

सम्मोहपाथोधृतराष्ट्रजातदुश्शासनोत्साहितविघ्नबन्धून् ।
युधिष्ठिरो भारत एव निघ्नन् भीमाध्वनाऽरक्षदिवार्यशीलम् ॥ ३५ ॥

सम्मोहपाथोधृतराष्ट्रजातदुश्शासनोत्साहितविघ्नबन्धून् भारतः एव युधिष्ठिरः भीमाध्वना निघ्नन् आर्यशीलम् अरक्षत् इव ॥ ३५ ॥

[धृतराष्ट्रजात = धृत-राष्ट्र-जात—फंसे हुए राष्ट्र में उत्पन्न या धृतराष्ट्र के पुत्र। दुश्शासन = दुःखमय शासन, या दुर्योधन का अनुज दुश्शासन। युधिष्ठिर = युधि-स्थिर—युद्ध में अचल या राजा युधिष्ठिर। भीम = भयानक या पाण्डव भीम।] मोह के जल में स्थित राष्ट्र में उत्पन्न कुशासन के कारण उत्साहपूर्ण विघ्न-समूहों को, युद्ध में स्थिर भाव से खड़े भारत ने ही भयङ्कर ढंग से विनष्ट कर आर्य शील की, आर्यपद्धति की रक्षा की। अथवा महामोहपूर्ण धृतराष्ट्र के पुत्र दुश्शासन से प्रेरित तथा उत्साहित उसके विघ्नकल्प भाइयों की युधिष्ठिर ने ही भारतयुद्ध में भीम के द्वारा विनष्ट कराकर आर्यशील की, भारतीय आदर्श की रक्षा की ॥ ३५ ॥

तस्मिन् कुरुक्षेत्रमहाजिसिन्धौ न्यायासहं शौर्यमपि प्रणाश्य ।
कृष्णापदेशेन ररक्ष देशः श्रद्धामिवार्यव्यसने प्रणाशात् ॥ ३६ ॥

तस्मिन् कुरुक्षेत्रमहाजिसिन्धौ न्यायासहं शौर्यम् अपि प्रणाश्य देशः कृष्णापदेशेन आर्यव्यसने श्रद्धाम् इव प्रणाशात् ररक्ष ॥ ३६ ॥

कुरुक्षेत्र के उस महान् रणसमुद्र में न्यायविरोधी शौर्यबल का भी प्रयोगकर देश के विक्रम ने द्रौपदी के बहाने श्रद्धा एवं विश्वास को ही आर्यों के महान् संकट के अवसर पर बचा लिया। [कृष्णा (द्रौपदी) का अपमान आर्यसंस्कृति का अपमान था। उसको नष्ट करके यदि शौर्य, वैभव, विजय मिले भी तो वह निष्फल है। अतः आर्यसंस्कृति, आर्यपद्धति, आर्यमूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए यदि भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि महारथियों को बलिदान भी करना पड़े तो यह कोई बहुत बड़ा त्याग नहीं है। मूल्यों की तिलाञ्जलि देकर प्राप्त जीवन जीवन न होगा। वह पशु-निर्विशेष जीवन होगा तथा किसी भी क्षण बिखर जायगा। भारतीय विवेक इस रहस्य से पूर्णतः अवगत था।] ॥ ३६ ॥

अद्यालकेशोऽर्थयते विपन्नो गीतागुरुः पृच्छति धर्ममार्गम् ।
दशास्यहा मुह्यति शस्त्रनाम्ना तथाप्ययं भारतमेव देशः ॥ ३७ ॥

अद्य विपन्नः अलकेशः अर्थयते, गीतागुरुः धर्ममार्गं पृच्छति, दशास्यहा शस्त्रनाम्ना मुह्यति, तथापि अयं देशः भारतम् एव ॥ ३७ ॥

जो कभी कुबेर था वह भिक्षुक होकर भीख मांग रहा है। जिसने गीता का उपदेश दिया था, जो विश्वगुरु है, वह आज रास्ता पूछ रहा है, उसे आत्ममार्ग का बोध भी नहीं है, रावण के दुर्मद दशों शिरों को काट गिरानेवाला आज शस्त्र के नाम से भी अचेत हो जाता है, फिर भी यह वही भारत देश है ॥ ३७ ॥

अन्यत्र[1] लब्धां प्रथमं स्वकीर्तिं हयं ततो विश्रुतशौर्यसाक्ष्यम् ।
मुक्त्वाऽवसानेऽलकसुन्दरोऽसौ व्यमुञ्चतासूनपि दूरमार्गे ॥ ३८ ॥

असौ अलकसुन्दरः (सिकन्दरः) प्रथमं अन्यत्रलब्धाम् स्वकीर्तिं ततः विश्रुतशौर्यसाक्ष्यं हयं मुक्त्वा अवसानेदूरमार्गे असून् अपि व्यमुञ्चत ॥ ३८ ॥

भारत-विजय की कामना करनेवालों में प्रथम सिकन्दर था जिसे अनेक युद्धों (मिस्र, ईरान आदि) में अन्यत्र प्राप्त की हुई कीर्ति को खोना पड़ा, फिर अनेक भयंकर युद्धों में उसके पराक्रम के साक्षी उसके घोड़े को जीवन त्यागना पड़ा और अन्त में लौटते हुए पीड़ा से बेसुध सिकन्दर को भी प्राण त्याग करना पड़ा ॥ ३८ ॥

[2]ससाध्वसोरःस्थललीयमानां बलात्समाकृष्य समीकलक्ष्मीम् ।
रिक्तं फलैः क्षुद्रकवीरकीर्तिर्ममर्द वक्षो यवनेश्वरस्य ॥ ३९ ॥

ससाध्वसोरस्स्थललीयमानां समीकलक्ष्मीं बलात् समाकृष्य क्षुद्रकवीरकीर्तिः यवनेश्वरस्य फलैः रिक्तं वक्षः ममर्द ॥ ३९ ॥

लौटते हुए यवनविजेता सिकन्दर के हृदय में भय के मारे छिपती हुई युद्धकीर्ति को बलपूर्वक बाहर खींचकर क्षुद्रक वीरों ने सिकन्दर के फल-शून्य हृदय को मसल डाला [इतिहास बतलाता है कि लौटते हुए सिकन्दर को क्षुद्रक तथा कठ गणों का भीषण प्रतिरोध भुगतना पड़ा ।] ॥ ३९ ॥

१. अलकसुन्दरः सिकन्दरनामा यवनविजेता, फिलिप्सपुत्रः विश्वविजयाय कृतसङ्कल्पः महता सैन्यबलेन पारसीकसाम्राज्यं विजित्य नानाविधान् देशान् अवनम्य भारतवर्षमपि जेतुं गान्धारान् विजित्य हठात् पर्वतकनाम्ना नृपेण प्रतिरुद्धः । तद्रणशौर्यस्तब्धाः सैनिकाः स्वदेशदर्शनाय सोत्कण्ठाः बभूवुः । परावृत्तः सिकन्दरः मार्गे क्षुद्रकैः प्रतिरुद्धः रणे भृशं पीडितः मार्गे एव बेबीलोननगरे मृतश्च ।

२. युद्धे क्षुद्रकैः गणराज्यसैनिकैः उरसि शूलेन आहतः यवनविजेता अचिरमेव तद्व्रणनिपीतसारः पञ्चत्वं प्राप मार्गे ।

शकारिसंवत्सरजन्मभूमिं[1] तं विक्रमादित्यमवाप्य जातम् ।
भीष्मप्रसूं सा सहठं ववन्दे सिप्रा शुभानामनघा सवित्री ॥ ४० ॥

शकारिसंवत्सरजन्मभूमिं तं विक्रमादित्यं जातम् अवाप्य शुभानाम् अनघा सवित्री सा सिप्रा भीष्मप्रसूं सहठं ववन्दे ॥ ४० ॥

शकारि-संवत् (विक्रमाब्द) के प्रवर्तक उस विक्रमादित्य शकारि को पुत्र-रूप में पाकर निष्पाप गुणों को उत्पन्न करनेवाली सिप्रा (उज्जैन के पास बहनेवाली नदी) ने भीष्म-जननी भगवती गङ्गा का हठपूर्वक सम्मान किया [भाव यह है कि केवल भागीरथी ही भीष्म नहीं पैदा करती, अन्य भी हैं। सिप्रा को भी स्त्री-सुलभ ईर्ष्या है। शकारि विक्रमार्क जैसा पुत्र पाकर वह गंगाजी की समकक्षता प्राप्त कर चुकी है। गंगा को प्रणाम करने में ध्वनि यह है कि गंगाजी अपने वीरप्रसूत्व के एकाधिपत्य को खण्डित होते हुए स्वयं देख लें।] ॥ ४० ॥

अनन्तसौभाग्यगर्भास्तिसूतौ सुरेन्द्रलक्ष्मीरभिसारिकापि ।
सतीव रेमे रमणेऽग्निमित्रे नितान्तविस्मारितलोलभावा ॥ ४१ ॥

अनन्तसौभाग्यगर्भास्तिसूतौ रमणे अग्निमित्रे अभिसारिका अपि नितान्तविस्मारितलोल-भावा सुरेन्द्रलक्ष्मीः सती इव रेमे ॥ ४१ ॥

अनन्तसौभाग्यपूर्ण नवयुवक अग्निमित्र शुङ्ग के गुणोत्कर्ष से मुग्ध होकर देवेन्द्रलक्ष्मी अभिसारिका होकर भी सदैव के लिए अपने चञ्चल स्वभाव को भुला-कर उसी में अनुरक्त सती के समान उसके पास रह गई ॥ ४१ ॥

कः[2] कालिदासस्य वरेण्यसख्यमन्यो वसन्तादिव मीनकेतोः ।
कुषाणपूषावनिपार्चिताङ्घ्रेः ऋतेऽश्वघोषाद्विषयीकरोति ॥ ४२ ॥

मीनकेतोः इव कालिदासस्य वरेण्यसख्यं कुषाणपूषावनिपार्चिताङ्घ्रेः वसन्तात् अश्व-घोषात् ऋते अन्यः कः विषयीकरोति ॥ ४२ ॥

कुषाणकुल-भास्कर, कनिष्कराज द्वारा अर्चित चरणकमलवाले महाकवि अश्वघोष के अतिरिक्त और कौन महाकवि कालिदास की अमर शैली से मैत्री कर सकता है, मीनकेतु काम की मित्रता वसन्त को छोड़ और कौन कर सकता है ! ॥ ४२ ॥

१. शकारिः विक्रमादित्यः—प्रवर्तको विक्रमसंवत्सरस्य । अयमुज्जयिनीनरेशः शत्रून् विशेषतः कुपथाचारान् शकान् भारतादबहिष्कृत्य प्रजाजनानुरञ्जने समर्पितस्वस्वः, प्रथमो न्यायदृशां रात्रावपि स्ववेषपरिवर्तनं कृत्वा ज्ञातुं वृत्तं प्रकृतीनां स्वैरं बभ्राम । श्रूयते यत् महाकविः कालिदासः तस्यैव भूभृतो मित्रमासीत् ।

२. अश्वघोषः—बुद्धचरितमिति नामकस्य महाकाव्यस्य कृती काव्यकलामर्मज्ञः वाग्देव-तामपि विस्मापयति प्रसादगुणोपेतायां वैदर्भीवृत्तिनिर्भरकाव्यरचनायां कालिदासं स्पर्द्धमानः । कनिष्को भूपतिः कुषाणवंशोद्भवः तं बहुमानितवान् ।

आसिन्धुगङ्गापुलिनात्[1] स्वदेशं संशोध्य दुर्वृत्तकुपाणपापात् ।
दशाश्वमेधैरिव दिक्प्रतापैर्जुष्टाः शिवं भारशिवाः प्रणेमुः ॥ ४३ ॥

दुर्वृत्तकुषाणपापात् स्वदेशं गङ्गापुलिनात् आसिन्धु संशोध्य दशाश्वमेधैः इव दिक्प्रतापैः जुष्टाः भारशिवाः शिवं प्रणेमुः ॥ ४३ ॥

गङ्गातट से सिन्धु नदी तक मध्यवर्ती क्षेत्र को अनाचारी कुषाणों से मुक्त करके भारशिव राजाओं ने दशों दिशाओं को अपने प्रताप से भरते हुए दस अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान कर सफलमनोरथ हो भगवान् शिव के चरणों में प्रणाम किया ! [मूलतः कुषाण बाहर से आये हुए आक्रामक थे। कनिष्क ने भारतीय पद्धति को अपनाया, भारतीय आदर्शों को अपनाया, किन्तु कनिष्क के पश्चात् उसके अनाचारी शासक एवं सामन्त प्रजा पर विपत्ति बरसाने लगे। सम्पूर्ण समाज ही क्षुब्ध हो उठा।] ॥ ४३ ॥

सम्मर्द्य चीनैस्सह पारसीकानुल्लङ्घ्य दानायुषमब्धिकीर्तिम् ।
कं नाहरद् भूभृतमात्तगन्धं धरातलाद्[2] हूणबलोग्रवज्रः ॥ ४४ ॥

चीनैः सह पारसीकान् सम्मर्द्य अब्धिकीर्तिं दानायुषम् (डेन्यूबनदीम्) उल्लङ्घ्य कम् आत्तगन्धं भूभृतं हूणबलोग्रवज्रः धरातलात् न अहरत् ॥ ४४ ॥

चीन साम्राज्य के साथ ही ईरान की सीमा को रौंदते, समुद्र जैसी विशाल मध्ययूरोप की डेन्यूब (दानाउस्) नदी को लाँघनेवाले, हूणों के भयंकर सैन्य-वात्याचक्र ने पृथ्वीतल के किस मदोन्मत्त राजा का गर्व नहीं कुचल दिया ॥ ४४ ॥

अद्यापि तद् वङ्क्षुतटं[3] स्मृतिं मे भृशं समुत्कण्ठयतीव वत्स ।
यत्रार्यशौर्यं निहतारिरक्तैर्लिलेख धारासु जयाङ्कपत्रम् ॥ ४५ ॥

वत्स, अद्य अपि तत् वङ्क्षुतटं मे स्मृतिं भृशं समुत्कण्ठयति इव, यत्र धारासु निहतारि-रक्तैः आर्यशौर्यं जयाङ्कपत्रं लिलेख ॥ ४५ ॥

---

१ भारशिवः—चरणाद्रिभूभागवर्तिनो राजन्याः पुरा कुषाणातिचारैः विपन्नाः प्रजाः विलोक्य दिवङ्गते राजनि विक्रमादित्ये दुर्व्यवस्थाकुलां पृथिवीं समुद्धर्तुं शिवभक्ता भारशिवाः कुषाणसैन्यं पराजित्य सिन्धुपारे निष्कास्य काश्यां दशाश्वमेधैः विजयोत्सवं चक्रुः। केषाञ्चिन्मते दशाश्वमेधघाटेति प्रसिद्धं तदेव यज्ञस्थलम् ।

२. हूणः—मध्येशियावसतयो बर्बराः हूण-इति संज्ञया प्रसिद्धाः। महता बलेन हसा हूणसैन्यपतयः शक्तिसम्मदान् राजतन्त्रान् चीन - ईरान - मिस्र - यूनानादीन् सम्मर्द्य दानाउ-(डेन्यूब) नदीमपि समुल्लङ्घ्य वात्याचक्राकाराः भुवमतापयन्। भारते गुप्तनृपाः स्कन्दगुप्तादयः प्रतिरुरुधुः, निराचक्रुश्च भारतात् ।

३. वङ्क्षुतटम्—इदानीं अफगानिस्तानदेशवर्तिनी नदी। अस्याः कूले निहता महती हूणवाहिनी भारतीयसैनिकैः ।

बेटा, आज इस दुर्दशा में भी मेरी स्मृति को वंक्षु नदी का किनारा, उत्कण्ठा से भर देता है। वहीं पर हूणों का सफल प्रतिरोध करते हुए आर्यजाति के शौर्य ने निहत शत्रुकुल के रक्त से धारा पर विजय-अभिलेख-पत्र लिखा [हूणों के रक्त से वंक्षु की धारा लाल हो गयी।] ॥ ४५ ॥

भूभृच्छिरोरत्न[1]मयूखविद्धनखद्युतेर्यस्य समुद्रधाम्नः ।
स्तम्भोऽरिचित्तोदितकालकीलस्तुरङ्गमेधस्मृतिमादधाति ॥ ४६ ॥

भूभृच्छिरोरत्नमयूखविद्धनखद्युतेः समुद्रधाम्नः यस्य अरिचित्तोदितकालकीलः स्तम्भः तुरङ्गमेधस्मृतिम् आदधाति ॥ ४६ ॥

राजाओं के शिरोरत्नों की कान्ति से संक्रान्त नख-शोभावाले जिस चक्रवर्ती समुद्रगुप्त का विजयस्तम्भ, शत्रुओं के हृदय में गड़े हुए कालकील के समान, उसके महान् अश्वमेध की स्मृति को उज्जीवित कर रहा है [प्रणाम करने के लिए जब नृप-मण्डल समुद्रगुप्त के चरणों में झुकता था तब उनके मुकुटों की कान्ति से राजा की चरणनख-पंक्ति प्रकाशित हो जाती थी। समुद्रगुप्त को भारतवर्ष का नेपोलियन कहा जाता है। इसने तीर्थराज प्रयाग में अश्वमेध यज्ञ किया तथा वहीं विजय स्तभ स्थापित किया था ॥ ४६ ॥

शकारिपुत्राय[2] शकोऽपि दत्त्वा शान्तामिवौद्दालकये तनूजाम् ।
ररक्ष वात्सल्यजितार्यकोपात् प्राणान् सुराष्ट्रानपि रुद्रदामा ॥ ४७ ॥

शकः अपि रुद्रदामा शकारिपुत्राय तनूजाम् औद्दालकये शान्ताम् इव दत्त्वा वात्सल्य-जितार्यकोपात् प्राणान् सुराष्ट्रान् अपि ररक्ष ॥ ४७ ॥

सुराष्ट्र (सौराष्ट्र) जनपद के क्षत्रप शक रुद्रदामा ने शकों के महान् शत्रु के पुत्र से अपनी कन्या को ब्याहकर सौराष्ट्र का राज्य तथा अपना जीवन दोनों की रक्षा कर लिया। अपने पुत्र के साथ वधू वेष में रुद्रदामा की पुत्री को देखकर राजा का क्रोध सहज वात्सल्य से पराजित हो गया [पूर्वकाल में राजा रोमपाद ने उद्दालक ऋषि के पुत्र को अपनी कन्या शान्ता का विवाह कर ऋषि के कोप से अपनी रक्षा की था।] ॥ ४७ ॥

१. समुद्रगुप्तः चन्द्रगुप्तप्रथमस्य पुत्रः सम्राट् समुद्रगुप्तोऽद्वितीयः भारतीयशासकानाम् शस्त्रे शास्त्रे सर्वत्राप्रतिहतगतिः दिग्विजयेन भूमण्डलभूपालमण्डलं साङ्गवङ्गकलिङ्गकामरूपं सपाण्डयचोलसातवाहनकेरलेशं सकलचुरिवाकाटकव्याघ्रभूतिप्रभृतिं विजित्य सर्वदिक्कः हयमेधेन विश्वेश्वरं पूजयामास। महान् कलामर्मज्ञोऽयं महीपतिः प्रयागे विजयस्तम्भस्थापनमकरोत्। तत्राङ्किता प्रशस्तिः साधु तत्कीर्तिं व्यनक्ति।

२. रुद्रदामा शकः शासकः सौराष्ट्रेषु। स्वदुहितृप्रदानेन विवाहे शकारिपुत्राय ररक्ष स्वराज्यं प्राणांश्च। सुदर्शन जलाशय संस्कारश्च रुद्रदाम्नैव नरपतिनियुक्तेन विहितः।

सा कालशस्त्रोर्मिपयोधिवेला मुहुर्मुहुः [1]स्कन्दतटाद्रिमूले ।
तथा प्रणष्टाऽऽर्यभुवं यथासौ द्रष्टुं न सेहेऽर्धशतीं समानाम् ॥ ४८ ॥

मुहुः मुहुः सा कालशस्त्रोर्मिपयोधिवेला स्कन्दतटाद्रिमूले तथा प्रणष्टा यथा असौ समानाम् अर्धशतीम् आर्यभुवं द्रष्टुं न सेहे ॥ ४८ ॥

हूणों की वह भयानक सेना जो भीषण-शस्त्ररूप तरंगों से भरी समुद्रवेला के समान थी, बार-बार स्कन्दगुप्तरूपी पर्वत से टकराकर इस प्रकार छिन्न-भिन्न हो गयी कि आतंक के मारे हूणों ने पचास वर्ष तक भारत की ओर देखने का साहस नहीं किया [युवराज स्कन्दगुप्त को उनके पिता महाराज कुमारगुप्त ने हूणों के विरुद्ध पश्चिमोत्तर सीमान्त में तैनात किया था। स्कन्दगुप्त के सफल प्रतिरोध से हूण सेना नष्ट हो गयी।] ॥ ४८ ॥

अलं मुधा विस्मयवर्षिहर्षैः किं भारतीयैर्न कृतं मनस्विन् ।
इतोऽपि दूरं किमु कम्बुजानां कृतज्ञताभारनता न पृथ्वी ॥ ४९ ॥

मनस्विन्, मुधा विस्मयवर्षिहर्षैः अलम्, भारतीयैः किं न कृतम् । इतः अपि दूरं कम्बुजानां पृथ्वी कृतज्ञताभारनता न किमु ? ॥ ४९ ॥

मनस्विन् ! इसमें व्यर्थ ही विस्मयपूर्ण हर्ष की बात ही क्या है ! भारतीयों ने क्या नहीं किया ? यहाँ से बहुत दूर कम्बुज (आधुनिक कम्बोडिया) की पृथ्वी क्या भारतीयों के प्रति कृतज्ञता के भार से दबी हुई नहीं है ? ॥ ४९ ॥

मुग्धातिथेयानतिथिर्द्विजन्मा[2] वनौकसः पूतचरित्रकल्पैः ।
तथा बबन्धार्यगुणैर्यथा ते स्वपूर्वपद्यामपि न प्रतीयुः ॥ ५० ॥

वनौकसः मुग्धातिथेयान् द्विजन्मा अतिथिः पूतचरित्रकल्पैः आर्यगुणैः तथा बबन्ध यथा ते स्वपूर्वपद्याम् अपि न प्रतीयुः ॥ ५० ॥

सुदूर भारत से आये हुए ब्राह्मण अतिथि (कौण्डिन्य नामक युवक) ने आतिथ्य करनेवाले भोले-भाले कम्बोडिया के जंगली लोगों को आर्यपद्धति के सद्गुणों से इस प्रकार सम्बद्ध कर दिया कि उन्हें अपनी पूर्वस्थिति पर स्वयं भी प्रतीति नहीं होती थी [भारतीय कौण्डिन्य ने कम्बोडिया के नग्नप्राय वनवासियों

---

१. स्कन्दगुप्तः पुत्रः कुमारगुप्तस्य राज्ञः । यौवराज्ये पित्रा प्रतिरोद्धुं हूणबलं पश्चिमोत्तरप्रदेशे सेनासञ्चालनाय नियुक्तः । आधुनिक-अफगानिस्तानजनपदे हूणान् रणभुवि तथा ममर्द यथा विनष्टस्पृहाः निहतशक्तयस्ते न सिन्धुकूलं लङ्घितुं साहसं बबन्धुः ।

२. चतुर्थशतकारम्भे भारतीयः कौण्डिन्य नामा कश्चित् ब्राह्मणो युवकः कम्बुजं (कम्बोडिया) गतः पोतमारुह्य । तत्र पृथिवीमुर्वरां निवासिनः सार्जवान् सुरूपसम्पदश्चवीक्ष्य किन्तु नग्नप्रायान् पुरुषान् स्त्रीलोकान् सर्वथाऽऽचारशून्यानवेत्य परया कृपयाविष्टः स तेषु सदाचारप्रतिष्ठां समाजपद्धतिञ्च विस्तारयामास ।

को आचरण, तथा समाज में रहने की पद्धति की शिक्षा से अवगत कराया। धीरे-धीरे कम्बोडिया अपनी पूर्वदशा को भूलकर एक सम्मानित आर्यपरम्परा का देश बन गया।] ॥ ५० ॥

वनेन्द्रकन्याप्रणयोपदेशे पुष्पायुधाज्ञामनुपालयन् सः।
पूतार्यदेशव्यवहारसिद्धां परम्परां लोकविधौ ततान ॥ ५१ ॥

वनेन्द्रकन्याप्रणयोपदेशे पुष्पायुधाज्ञाम् अनुपालयन् सः लोकविधौ पूतार्यदेशव्यवहार-सिद्धां परम्परां ततान ॥ ५१ ॥

वनवासियों के सरदार की नवयुवती सुन्दरी कन्या को पुष्पायुध कामदेव का आदेश मानकर प्रणयोपदेश करते हुए, दाम्पत्य पद्धति से अवगत कराते हुए उस नवयुवक अतिथि ने लोकव्यवहार में, समाज में भारत की पवित्र आदर्शमयी परम्परा का विस्तार किया अर्थात् कौण्डिन्य ने जङ्गली लोगों के सरदार की नवयुवती कन्या से विवाह कर लिया।] ॥ ५१ ॥

अयाचितापादितदृग्विमोहं नग्नं वपुर्यत्तु पुराऽङ्गनानाम्।
ज्ञातस्वरूपं विजनेऽपि दृष्टिं ह्रिया प्रियस्यापि न तद् विषेहे ॥ ५२ ॥

पुरा तु अयाचितापादितदृग्विमोहम् अङ्गनानां यत् वपुः नग्नं (आसीत्) तत् ज्ञात-स्वरूपं (सत्) विजने अपि ह्रिया प्रियस्य अपि दृष्टिं न विषेहे ॥ ५२ ॥

कौण्डिन्य के कम्बोडिया में पहुँचने के पूर्व युवतियों का अनावृत नग्न-सौन्दर्य बिना प्रार्थित हुए भी सहज ही दृष्टि को उन्मत्त, विह्वल कर देता था (उनके नग्न-सौन्दर्य को कोई भी बे-रोक-टोक देखकर दृष्टिफल पा सकता था)। किन्तु अब कौण्डिन्य के प्रभाव से, भारतीय परम्परा में दीक्षित वे ही नवयुवतियाँ स्वरूप की मर्यादा का ज्ञान हो जाने के कारण, एकान्त में भी लाज के मारे प्रियतम की ललचायी दृष्टि से भी अपनी नग्नता को बचाती थीं ॥ ५२ ॥

[1]सुरेन्द्रमैश्वर्यनिसर्गसर्गैस्तच्छिल्पिनश्चाप्यतिवैजयन्तैः।
द्वयं विजित्यैकपदे दिवञ्च पुण्यैर्यशोधर्मनृपो जिगाय ॥ ५३ ॥

ऐश्वर्यनिसर्गसर्गैः सुरेन्द्रम् अपि अतिवैजयन्तैः तच्छिल्पिनः च द्वयम् एकपदे विजित्य यशोधर्मनृपः पुण्यैः दिवं च जिगाय ॥ ५३ ॥

यशोधर्मा ने अपने महान् ऐश्वर्य के सुरुचिपूर्ण उपयोग द्वारा किये गये निर्माणों से इन्द्र को तथा वैजयन्त को भी लज्जित करनेवाले भवनों से उनके प्रधान शिल्पी विश्वकर्मा को एक ही उपक्रम में जीतकर पुण्य के द्वारा स्वर्ग को भी जीत लिया अर्थात् कम्बोडिया का प्रतापी नरेश यशोधर्मा कीर्ति और वैभव में अद्वितीय था ॥ ५३ ॥

१. यशोधर्मा—कम्बोडियानरपतिः ख्यातोऽतितरां विद्यानुरागाय दिव्यसौन्दर्यमण्डित-सौधनिर्माणाय च।

अजस्रपाखण्डपथाभिमर्शात् संरम्भबाष्पोद्गिरदम्बुजाक्षी ।
ब्राह्मी विहायार्यधरामपुण्यां कम्बोजकीर्तिं स्वयमुल्लिलेख ॥ ५४ ॥

अजस्रपाखण्डपथाभिमर्शात् संरम्भबाष्पोद्गिरदम्बुजाक्षी ब्राह्मी अपुण्याम् आर्यधराम् विहाय स्वयं कम्बोजकीर्तिम् उल्लिलेख ॥ ५४ ॥

सतत पाखण्डवृत्तियों से दूषित होने के कारण कमलनेत्रों से क्रोधपूर्ण अश्रु-पात करती हुई सरस्वती ने इस पुण्यहीन भारतभूमि को त्यागकर स्वयं अपने हाथों से कम्बोज की कीर्ति को लिखा [कम्बुज में विद्या को अत्यधिक उन्नति हुई ।] ॥ ५४ ॥

प्रकृष्टशालिः शुकवर्णकान्तिः क्षेत्रेषु लोकश्रमनिर्मितेषु ।
निषेदुषी[1] वत्सवती च धेनुः कृषीवलोत्साहमवर्धयन्त ॥ ५५ ॥

लोकश्रमनिर्मितेषु क्षेत्रेषु शुकवर्णकान्तिः प्रकृष्टशालिः निषेदुषी वत्सवती धेनुः च कृषी-वलोत्साहम् अवर्धयन्त ॥ ५५ ॥

कम्बुज में शुक की हरा कान्ति से युक्त उत्तम खेती होती थी । जनता ने अपने श्रम से उन खेतों में नवजीवन डाला था । अपने बछड़े के साथ बैठी हुई गाय शोभा पाती थी । ये सब खेत, खेती तथा दूध देनेवाली गायें किसानों का उत्साह-वर्धन करती थी ॥ ५५ ॥

वर्त्मोभयप्रान्तरुहद्रुमाणां छायास्विवाम्भोधरमेदुरासु ।
पन्थानमासेव्य शुशोच पान्थो न गेहमोहैः पथिकालयेऽपि ॥ ५६ ॥

वर्त्मोभयप्रान्तरुहद्रुमाणाम् अम्भोधरमेदुरासु इव छायासु पन्थानम् आसेव्य पान्थः पथिकालये अपि गेहमोहैः न शुशोच ॥ ५६ ॥

राजपथ के दोनों ओर लगाये गये हरे वृक्षों की, मेघमाला के समान मसृण-कान्ति छाया में रास्ता चलकर सायंकाल पान्थशाला में निवास करनेवाले पथिक को घर का मोह विकल नहीं करता था [पान्थशालायें सुख-सुविधा से पूर्ण थीं तथा पथिकों की सेवा ही उनका लक्ष्य था ।] ॥ ५६ ॥

अनावृतोरोजमपि प्रकाशं नवाङ्गनानामतनुर्निरीक्ष्य ।
यत्र श्रुताचारहरोऽपि भीतः पौष्पं धनुर्निर्गुणमाबिभर्ति ॥ ५७ ॥

यत्र श्रुताचारहरः अपि अतनुः नवाङ्गनानाम् अनावृतोरोजम् अपि प्रकाशं निरीक्ष्य भीतः (सन्) पौष्पं धनुः निर्गुणम् आबिभर्ति ॥ ५७ ॥

जहाँ (बालीद्वीप में) नवयुवतियों के खुले हुए नग्न स्तनों को स्पष्ट देखकर, सज्जनोचित आचार का शत्रु होकर भी भयभीत कामदेव अपने पुष्प-धनुष को

१. पूर्वोत्तरे एशियाखण्डे द्वीपसमुदाये 'बाली'नाम्नो द्वीपस्य स्थितिः तत्राद्यापि अनावृत-स्तनवस्त्राः कुमार्यः दृश्यन्ते ।

निर्गुण (बिना प्रत्यञ्चा चढ़ाये या निष्फल) धारण करता है [नग्न स्तन देखकर भी कामाचार को प्रोत्साहन नहीं मिलता ।] ॥ ५७ ॥

प्रतापसर्गावयनद्वयेऽपि मिथो दिनेशौ परिवीक्षमाणः ।
अन्योन्यकक्षावधिसिद्धबिन्दुः मध्यस्थतां नूनमवाप विन्ध्यः ॥ ५८ ॥

अयनद्वये अपि प्रतापसर्गौ दिनेशौ मिथः परिवीक्षमाणः अन्योन्यकक्षावधिसिद्धबिन्दुः विन्ध्यः नूनं मध्यस्थताम् अवाप ॥ ५८ ॥

अपने दोनों अयनों (भागों) में प्रभापूर्ण, प्रताप की सृष्टि करनेवाले दो सूर्यों को एक साथ उगा देखकर उन दोनों के मण्डलों के मध्यबिन्दु पर अवस्थित विन्ध्यगिरि मानो उन दोनों की मध्यस्थता कर रहा है [विन्ध्य के दक्षिण में पुलकेशी तथा उत्तर में हर्षवर्धन दोनों यशस्वी राजा थे ।] ॥ ५८ ॥

तस्मिन् तटस्थेऽपि यशःप्रसूतौ मनोरथोद्दामपथोऽपि हर्षः ।
न नर्मदां तामपि तोयजाक्षीं जेतुं शशाकोत्तरभारतस्य ॥ ५९ ॥

यशःप्रसूतौ तस्मिन् तटस्थे अपि उत्तरभारतस्य मनोरथोद्दामपथः हर्षः अपि तोयजाक्षीं तां नर्मदाम् अपि जेतुं न शशाक ॥ ५९ ॥

उस (पुलकेशी) यशस्वी राजा के तटस्थ (तट के किनारे स्थित, या उदासीन) रहने पर भी मनोरथ को चपल मार्ग पर चलानेवाला उत्तरभारत का हर्ष (सम्राट् हर्षवर्धन) भी चञ्चल कमलनेत्रवाली नर्मदा (नदी, हास-परिहास करनेवाली) के मन को भी न जीत सका [इतिहास के अनुसार हर्षवर्धन विजय-यात्रापर निकले । उनकी सेनायें नर्मदा के इस पार रुक गयीं । उधर दूसरी ओर पुलकेशी भी अपनी विशाल सेना के साथ उस तट पर डटा हुआ था । फलतः हर्ष ने अयुद्धस्थिति के लिए सन्धि कर ली तथा लौट आये ।] ॥ ५९ ॥

विलासकक्षां श्रयति प्रसह्य निर्वाणदीपे हठमुण्डितानाम् ।
अपार्थिवायास्तम एव भूमेः गोप्तुं ह्रियं गौरवमाततान ॥ ६० ॥

हठमुण्डितानां विलासकक्षां निर्वाणदीपे प्रसह्य श्रयति, अपार्थिवायाः भूमेः तमः एव ह्रियं गोप्तुं गौरवम् आततान ॥ ६० ॥

जब बिना आस्था के बलपूर्वक मूँड़ मुड़ाये पाखण्डियों का निर्वाणदीप विलास-कक्ष में (सुगुप्त विलास-कक्ष में) जलने लगा तब राजविहीन (अराजक) इस पृथिवी का भारत भूमि का अन्धकार ही विलास भूमि में नग्न होती हुई लज्जा को ढकने के लिए चारों ओर फैल गया [हर्षवर्धन के बाद कुछ समय तक अराजक स्थिति रही, माण्डलीक राजन्य-वर्ग रह गया । साधुओं, भिक्षुओं में अनाचार का इतना प्रवेश हो गया कि विलासकक्ष में ही निर्वाण की ज्योति जलने लगी, तान्त्रिकों तथा वाममार्गियों ने धर्म एवं त्याग के नाम पर व्यभिचार को ही अपना लक्ष्य बना लिया । सर्वत्र मठों एवं विहारों में पापाचार की कालिमा व्याप्त हो गयी ।] ॥ ६० ॥

प्रादुर्भवन् तं कुहनानिकायं ज्ञानांशुभासा सहसा विभिद्य ।
अजीवयद्यः पुनरार्यपद्यां क्वाद्वैतवेधा मम [1]शङ्करोऽसौ ॥ ६१ ॥

यः प्रादुर्भवन् ज्ञानांशुभासा तं कुहनानिकायं सहसा विभिद्य आर्यपद्याम् पुनः अजीवयत् अद्वैतवेधाः असौ मम शङ्करः क्व ॥ ६१ ॥

उस अन्धकारपूर्ण माया के स्तूप को जिसने पैदा होकर अपने ज्ञान के प्रकाश से नष्ट कर डाला तथा आर्य-पद्धति को पुनः प्रतिष्ठित किया वह अद्वैत-सृष्टिकर्ता मेरा शङ्कर आज कहाँ है ॥ ६१ ॥

मनोऽनुरूपप्रतिबिम्बमेयं तमेकमाराध्य पथान्तरेऽपि ।
लोकं समुद्बोध्य समुद्यमाय जगौ विवेकं विरजस्तमाः सः ॥ ६२ ॥

मनोऽनुरूपप्रतिबिम्बमेयम् एकं तं पथान्तरे अपि आराध्य लोकं समुद्यमाय समुद्बोध्य विरजस्तमाः सः विवेकं जगौ ॥ ६२ ॥

ईश्वर-प्राप्ति के अन्य उपायों में (मत-मतान्तर-प्रतिपादित सिद्धान्त में) अन्तर्भावना के अनुरूप प्रतिबिम्बित होनेवाले स्वसंवेद्य उस परब्रह्म को ही प्रतिभासित मानकर उस निर्बन्ध, राग एवं द्वेष से शून्य आचार्य ने संसार को सचेत करते हुए समुद्यम के लिए, उत्तम पुरुषार्थ के लिए विवेक की प्रतिष्ठा की ॥ ६२ ॥

श्रद्धाविवेकोभयवन्दिताङ्घ्रिर्धर्मोऽपि किं नन्दति शस्त्रसख्यम् ।
क्षतात्मदृष्टिप्रतिबन्धमूढो नष्टः स्वयं नाशयतीतरांश्च ॥ ६३ ॥

श्रद्धाविवेकोभयवन्दिताङ्घ्रिः धर्मः अपि शस्त्रशख्यं नन्दति किम्, क्षतात्मदृष्टिप्रतिबन्धमूढः स्वयं नष्टः इतरान् च नाशयति ॥ ६३ ॥

श्रद्धा एवं विवेक दोनों से सेवित धर्म भला किस प्रकार शस्त्र से (तामसी भावना से) मैत्री कर सकता है ! (स्पष्ट है, धर्म के विस्तार में श्रद्धा तथा विवेक तो कारण हो सकते हैं किन्तु शस्त्र से भय उत्पन्न कर बलपूर्वक धर्मप्रचार तो धर्म-बुद्धि को ही नष्ट कर देगा) । आत्मदृष्टिहीनता के दोष से नियन्त्रित मूढ ही इस प्रकार के धर्म-विस्तार में सहयोग देकर स्वयं तो नष्ट होता ही है, दूसरों को भी पथभ्रष्ट करता है ॥ ६३ ॥

तमेकभानुं तिमिरानुलीढा द्रष्टुं न शेकुर्द्विजगीततीर्थम् ।
आसिन्धु शैलादपनीतनिद्रा बभौ धरित्री पुनरुद्धृतेव ॥ ६४ ॥

द्विजगीततीर्थम् एकभानुं तं तिमिरानुलीढाः द्रष्टुं न शेकुः, शैलात् आसिन्धु अपनीतनिद्रा धरित्री पुनः उद्धृता इव बभौ ॥ ६४ ॥

---

१. शङ्कराचार्यः—केरले लब्धजन्मा शङ्कराचार्यः नवे वयसि संन्यासपथं स्वीकृत्य त्रयीं (उपनिषदः, गीता, ब्रह्मसूत्रञ्च) स्वभाष्यैः समलञ्चकार । मूर्धन्योऽयम् अद्वैतवादिनाम् विदुषाम् । शास्त्रार्थे पराजित्य मनुपद्धतिद्विषः अल्पायुषि दिवङ्गतः धरां विहाय ।

उस ज्ञानसूय, विद्वानों से सेवित तीर्थस्वरूप आचार्य को, अन्धकार से अनुराग करनेवाली तमोगुणी (उलूक आदि) प्रकृति देख भी नहीं सकती थी। हिमालय से समुद्र तक पृथिवी ज्ञानालोक से भरकर, निद्रा को छोड़कर जाग उठी। ऐसा प्रतीत होता था मानो पृथिवी का फिर से उद्धार किया गया हो ॥ ६४ ॥

वसन्तलक्ष्मीर्भवभूतिकल्पा यज्जीवितारामममधौ जजृम्भे ।
ब्रवीतु कोऽन्यः सुमनोऽभिरामं यशो [1]यशोधर्मनृपस्य तस्य ॥ ६५ ॥

यज्जीवितारामममधौ भवभूतिकल्पा वसन्तलक्ष्मीः जजृम्भे तस्य यशोधर्मनृपस्य सुमनोऽभिरामं यशः कः अन्यः ब्रवीतु ॥ ६५ ॥

जिनके जीवन-उपवन के मधुमास में भवभूति(संसार की समृद्धि)रूपी वसन्तलक्ष्मी ही उत्फुल्ल होकर विकसित हो गयी हो उस उदारचेता, पुष्पसुषमा से स्पृहणीय राजा यशोधर्मा (काश्मीरनरेश) के यश का वर्णन कौन कर सकता है ! [राजा यशोधर्मा (आठवीं शती) की सभा में महाकवि भवभूति रहते थे।]॥ ६५ ॥

अव्याहताज्ञः परिपालयन् यः कृत्स्नां हिमाद्रेर्भुवमामहेन्द्रम् ।
हूणाङ्गनानां सुचिरास्तशङ्के नवीचकारोरसि शोकवह्निम् ॥ ६६ ॥

हिमाद्रेः आमहेन्द्रं कृत्स्नां भुवम् अव्याहताज्ञः परिपालयन् यः हूणाङ्गनानां सुचिरास्तशङ्के उरसि शोकवह्निं नवोचकार ॥ ६६ ॥

हिमालय से लेकर महेन्द्र पर्वत तक सम्पूर्ण पृथ्वी को निष्कण्टक वशवर्तिनी बनाकर प्रजापालन करते हुए उस राजा यशोधर्मा ने हूणसुन्दरियों के चिरकाल से निश्शङ्क हृदय में शोकाग्नि को प्रदीप्त कर पुनः प्रज्वलित कर दिया [यशोधर्मा ने हूणों का इतना घोर संहार किया कि हूण नारियों का हृदय सद्यः प्राप्त वैधव्य-दुःख से विदीर्ण हो गया।]॥ ६६ ॥

वाह्लीककाम्बोजतुरुष्कभूपोद्भासच्छिरोरत्नमयूखकान्तिः ।
त्रिविष्टपश्चापि नभोनिवासं रुरोह यस्याङ्घ्रिसरोरुहश्रीः ॥ ६७ ॥

वाह्लीककाम्बोजतुरुष्कभूपोद्भासच्छिरोरत्नमयूखकान्तिः यस्य अङ्घ्रिसरोरुहश्रीः नभोनिवासम् अपि त्रिविष्टपं (तिब्बतम्) च रुरोह ॥ ६७ ॥

वाह्लीक (वलख), कम्बोज, तुर्किस्तान के शासकों के चमकते हुए शिरोरत्न (मुकुट में जड़े हीरे आदि) की शोभा से सेवित प्रभावाली, उस यशोधर्मा की राजसत्ता ने आकाश में रहनेवाले (अति उच्च स्थान पर स्थित) त्रिविष्टप (तिब्बत) को भी अपने चरणतल का आसन बनाया [यशोधर्मा ने पार्श्ववर्ती सीमान्त-राज्यों (वलख, कम्बोज, तुर्किस्तान आदि)को पराजित कर दिया। तिब्बत भी उसका करद राज्य हो गया।] ॥ ६७ ॥

१. यशोधर्मा, काश्मीरनृपतिः, विजेता हूणबलस्य, भवभूतिमण्डितराजसभः विक्रमेण सौन्दर्यमयसौधनिर्माणेन निजप्रभावशासनेन च लोकं विस्मापयामास अष्टमशताब्दाद् ।

निसर्गसौन्दर्यकलातिभूमेः काश्मीरलक्ष्म्याः प्रणयो वपुष्मान् ।
मर्त्योऽपि सोऽमर्त्यकलाभिमानं चिच्छेद छायापतिमन्दिरेण ॥ ६८ ॥

निसर्गसौन्दर्यकलातिभूमेः काश्मीरलक्ष्याः वपुष्मान् प्रणयः सः मर्त्यः अपि छायापतिमन्दिरेण अमर्त्यकलाभिमानं चिच्छेद ॥ ६८ ॥

राजा यशोधर्मा प्रकृति-सौन्दर्य की उत्कृष्ट भूमि, काश्मीर-लक्ष्मी के स्नेह का मूर्तिमान् स्वरूप था। मनुष्य होकर भी उसने दिव्य सूर्यमन्दिर के निर्माण द्वारा देवताओं की कलात्मक उत्कृष्टता के अभिमान को नष्ट कर दिया ॥ ६८ ॥

गाङ्गं पयोऽनन्तमुखैरजस्रं समादधद् भोगवतीप्रतिष्ठाम् ।
भगीरथोद्योगमिवाधुनापि यस्य स्तवं गायति सिंहकूपे ॥ ६९ ॥

अनन्तमुखैः भोगवतीप्रतिष्ठां समादधत् गाङ्गं पयः अधुना अपि यस्य स्तवं सिंहकूपे भगीरथोद्योगम् इव अजस्रं गायति ॥ ६९ ॥

सिंहकूप में अनन्त स्रोतों से निस्सृत होता हुआ जल भोगवती (पाताल-गङ्गा) की प्रतिष्ठा को प्राप्त करता हुआ आज भी भगीरथ के महान् उद्योग की पुनरावृत्ति के समान जिस राजेन्द्र चोल की कीर्ति को उद्घोषित कर रहा है [गङ्गा त्रिपथगा है—स्वर्ग, पृथिवी तथा पाताल में क्रमशः मन्दाकिनी, भागीरथी तथा भोगवती के नाम से प्रसिद्ध है] ॥ ६९ ॥

यत्स्वर्णदीबृंहितशैत्यवातस्पर्शाञ्चितस्वेदकणाक्तपार्श्वान् ।
असंस्तुतायाऽपि सुवर्णलक्ष्म्या हयान् निरीक्ष्यैव जनाय तेपे ॥ ७० ॥

यत्स्वर्णदीबृंहितशैत्यवातस्पर्शाञ्चितस्वेदकणाक्तपार्श्वान् हयान् निरीक्ष्य एव सुवर्णलक्ष्म्या असंस्तुताय अपि जनाय तेपे ॥ ७० ॥

नृपश्रेष्ठ राजेन्द्र के जिन घोड़ों ने विजययात्रा में गङ्गा की तटवर्ती भूमि में श्रमकणों से भींगे हुए अपने पार्श्व में (बगल में) गङ्गा की लहरों द्वारा प्रभावित शीतल पवन का स्पर्श किया था, उन्हीं घोड़ों को (अश्वसेना को) देखकर सुदूर समुद्र में सुमात्रा द्वीप (सुवर्णद्वीप) की राजलक्ष्मी उस अश्वबल के अधिपति अपरिचित राजा राजेन्द्र चोल को प्राप्त करने के लिए विकल विह्वल हो गयी [भाव यह है कि राजेन्द्र चोल की सेनाओं ने केवल गङ्गातट तक ही विजय नहीं प्राप्त की थी अपितु सुदूवर्ती समुद्र में स्थित सुमात्रा द्वीप तक को उन्होंने विजित किया था] ॥ ७० ॥

१. राजेन्द्रचोलः—चोलराज्यस्य गौरवशाली नृपतिः। विजेता गर्वावलिप्तानां धरापतीनां न केवलं दक्षिणभूमिवर्तिनो भूमिपालान् किन्तु तानङ्गवङ्गकलिङ्गानपि विजित्य पूर्वीयद्वीपसमूहेऽपि सुमात्रादौ राज्यं विस्तारयामास। अनेनैव दूराद् गङ्गाजलमानाय्य पूरितः सिंहकूपाख्यः कूपः। दशमशताब्द्यां जातोऽयं भूपेन्द्रः।

तं[1] गौतमीपुत्रमलङ्घ्यवीर्यं के शातकर्णिं रिपवो न युद्धे ।
आदित्यवृत्तं सहसा विभिद्य वीक्ष्यैव धाम्नामवधिं प्रयाताः ॥ ७१ ॥

अलङ्घ्यवीर्यं गौतमीपुत्रं तं शातकर्णिं युद्धे वीक्ष्य एव के रिपवः सहसा आदित्यवृत्तं विभिद्य धाम्नाम् अपि अवधिं न प्रयाताः ॥ ७१ ॥

दुर्धर्ष प्रतापवाले गौतमीपुत्र शातकर्णि को युद्धभूमि में देखकर ही किन शत्रु-योद्धाओं ने सूर्यमण्डल को सहसा तोड़कर तेज की अन्तिम सीमा का वरण नहीं कर लिया ? [आशय यह है कि युद्ध में शातकर्णि के सम्मुख पड़ने पर शत्रुकुल को मृत्यु का अतिथि होना ही पड़ता था। लड़कर वीरतापूर्वक मृत्यु प्राप्त करने के कारण उन्हें योगियों की दुर्लभ गति मिलती थी। वे सूर्यमण्डल का भेदन कर उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त करते थे। शास्त्रकार का कथन है—'द्वाविमौ पुरुषौ राजन् सूर्यमण्डलभेदिनौ। परिव्राड योगयुक्तोऽसौ रणे चाभिमुखे हतः'] ॥ ७१ ॥

इमां सुभिक्षामवलोक्य धात्रीं वीतौजसो रक्षिनृपांश्च वीक्ष्य ।
विभिद्य सीमामविशन् विदेश्या अनर्गलद्वारमिवेभ्यवेश्म ॥ ७२ ॥

इमां धात्रीं सुभिक्षाम् अवलोक्य रक्षिनृपान् च वीतौजसः वीक्ष्य विदेश्याः सीमां विभिद्य अनर्गलद्वारम् इभ्यवेश्म इव अविशन् ॥ ७२ ॥

इस भारतभूमि को धन-धान्य से सम्पन्न देखकर तथा इसकी रक्षा करनेवाले राजाओं को निर्वीर्य, असमर्थ जानकर, विदेशी लोग सीमा को तोड़कर भीतर घुस आये जैसे धनी व्यक्ति के अरक्षित खुले द्वारवाले घर में चोर-डाकू घुस जाँय ॥ ७२ ॥

जयाऽजयाकर्षणनिस्स्पृहोऽपि जीवत्यधन्योऽपि सदैव लोकः ।
प्रतिष्ठितादर्शनिबद्धभावो यदि स्थितिं रक्षति सोऽस्ततन्द्रिः ॥ ७३ ॥

जयाजयाकर्षणनिस्पृहः अपि अधन्यः लोकः सदा जीवति एव, यदि प्रतिष्ठितादर्शनिबद्धभावः अस्ततन्द्रिः सः स्थितिम् रक्षति ॥ ७३ ॥

जय-पराजय के आकर्षण से उदासीन रहकर भी, विपन्न तथा उपेक्षित होकर भी समाज जीवित रह सकता है, यदि वह अपने सम्मानित आदर्शों में दृढ निष्ठा रखकर अपनी स्थिति की रक्षा करता रहे [वस्तुतः विजेता निर्बलता पर ही प्रहार करता है। आदर्शों के लिये सर्वस्व-त्याग करनेवाली जाति कभी सुदीर्घकाल तक गुलाम नहीं रह सकती।] ॥ ७३ ॥

आत्मन्यविस्रम्भभरेऽद्य किन्तु देशः समारोपितदैन्यवृत्तिः ।
हेतावदृष्टेऽपि विलुप्तधैर्यो रज्जावहिभ्रान्तिभयादपैति ॥ ७४ ॥

१. गौतमीपुत्रः शातकर्णिः निहन्ताऽहितानाम् ख्यातः सुधासनेऽयं दक्षिणभरापतिः ।

किन्तु अविस्रम्भभरे आत्मनि समारोपितदैन्यवृत्तिः देशः अद्य विलुप्तधैर्यः अदृष्टे अपि हेतौ रज्जौ अहिभ्रान्तिभयात् अपैति ॥ ७४ ॥

किन्तु यहाँ तो बात ही कुछ और है। देश ने दैन्यवृत्ति को, हीन भावना को अपने ऊपर लाद रखा है। उसके अन्तर्मन में श्रद्धा-विश्वास रह ही नहीं गया। कारण को देखे-समझे बिना भी (या अदृष्ट को, भाग्य को ही कारण मानकर) धैर्यहीन हो वह रस्सी में सर्प की भ्रान्ति से भयभीत होकर भागने को ही रक्षा का एक मात्र उपाय समझता है ॥ ७४ ॥

मृत्स्नाऽम्बुदारूपलसन्निधाने देवालये नश्यति शत्रुदर्पात्।
माऽसौ शिवः सीदतु निर्विकारस्तदेकरक्षा तु हतैव जातिः ॥ ७५ ॥

शत्रुदर्पात् मृत्स्नाऽम्बुदारूपलसन्निधाने देवालये नश्यति निर्विकारः असौ शिवः मा सीदतु, तदेकरक्षा जातिः तु हता एव ॥ ७५ ॥

मिट्टी, पानी, लकड़ी, पत्थर आदि इन्हीं उपकरणों से निर्मित देवालय जब शत्रु के कोप से ध्वस्त हो जाते हैं, तोड़ दिये जाते हैं, तो द्वन्द्व से रहित, हर्ष-शोक से शून्य, निर्विकार शिव को भले ही दुःख न हो, उनको अपना रक्षक माननेवाली जाति तो टूट ही जाती है, उसका उत्साह भग्न हो जाता है ॥ ७५ ॥

दारान् बलान्निर्भयमृष्टशीलान् देवालयांश्च क्षतवर्मभित्तीन्।
दृष्ट्वाऽप्यसून्चेन्न जहाति जातिर्मृत्युर्वराको म्रियतां सलज्जम् ॥ ७६ ॥

बलात् निर्भयमृष्टशीलान् दारान् क्षतवर्मभित्तीन् देवालयान् च दृष्ट्वा अपि जातिः असून् न जहाति चेत्, सलज्जम् वराकः मृत्युः म्रियताम् ॥ ७६ ॥

यदि महिलाओं को बलपूर्वक निर्भय शीलभ्रष्ट होते देखकर, देवालयों की कवच के समान दीवारों को गिरायी जाती देखकर भी कोई जाति प्रतिरोध में प्राणत्याग नहीं करती तो लज्जा में डूबकर मृत्यु बेचारे को ही मर जाना चाहिए [यह तो क्लीबता एवं कायरता की पराकाष्ठा है कि हम अपनी स्त्रियों को अपमानित होते देखकर प्रतिरोध न करें। देवालय का टूटना तो हमारे आदर्शों का टूटना हुआ, फिर हमारे अस्तित्व का प्रमोजन ही क्या है!] ॥ ७६ ॥

न वेत्सि धीमन्निति नैव किन्तु प्रायेण चेतो व्यसनावलीढम्।
बन्धुं विलोक्याऽवशवाष्पमोक्षैरासिञ्चतीवाऽऽकुलमर्मवह्निम् ॥ ७७ ॥

धीमन्, न वेत्सि इति न एव किन्तु प्रायेण व्यसनावलीढं चेतः बन्धुं विलोक्य अवशवाष्पमोक्षैः आकुलमर्मवह्निम् आसिञ्चति इव ॥ ७७ ॥

तुम बुद्धिमान् हो, तुम्हें इसकी जानकारी नहीं है, ऐसी बात नहीं है। मैं भी जानती हूँ कि तुम्हें यह सब ज्ञात है किन्तु दुःखों से आक्रान्त हृदय प्रायः आत्मीय जनों को देखकर दुर्निवार आँसुओं को बहाकर मर्म को दग्ध करनेवाली भयंकर आग को मानो कुछ सींच देता है ॥ ७७ ॥

शास्त्रं पराचारनिदेशि मत्वा स्वार्थान्धगर्तेषु तदाक्षिपन्तः ।
नूनं द्विजिह्वव्यवहारसिद्धा आशीविषैर्ब्रह्मविदो दशन्ति ॥ ७८ ॥

शास्त्रं पराचारनिदेशि मत्वा, तत् (एव) स्वार्थान्धगर्तेषु आक्षिपन्तः द्विजिह्वव्यवहार-सिद्धाः ब्रह्मविदः नूनम् आशीविषैः दशन्ति ॥ ७८ ॥

अपने को ब्रह्मवेत्ता कहनेवाले महानुभाव शास्त्र का अर्थ दूसरों के आचरण को नियमन करना मानते हैं, अपने स्वार्थ की सिद्धि में उसे विघ्नरूप मानकर उसकी अवहेलना करते हैं। सर्पों के समान दो जिह्वावाले वे महानुभाव समाज को दाँतों से जहर उगलनेवाले साँपों के समान डसते हैं ॥ ७८ ॥

राज्यं मदैरायुरतृप्तभोगैश्चेतोऽपदार्थैः परिपूरयन्तः ।
नृपाधमा यत् स्वशिरोभिरुर्वीं न्यपूरयन् तद् विदितो हि पन्थाः ॥ ७९ ॥

मदैः राज्यम् अतृप्तभोगैः आयुः अपदार्थैः चेतः परिपूरयन्तः नृपाधमाः यत् स्वशिरोभिः उर्वीं न्यपूरयन् तत् पन्थाः विदितः हि ॥ ७९ ॥

राज्य को मद से, आयु को अतृप्तभोगों से, चित्त को निष्प्रयोजन अनर्ह विषयों से, उनके चिन्तन से भरते हुए हीनवृत्ति नीच राजाओं ने जो परिणामस्वरूप अपने कटे शिरों से पृथ्वी को ढँक दिया, वह इतिहास तो ज्ञात ही है। कर्तव्यच्युत होकर भी वे अधम राजे-महाराजे अपने शिर को कटने से न बचा सके ॥ ७९ ॥

परस्परद्रोहवतोऽप्यमुक्तः शौर्यस्वभावः प्रतिकर्तुमेव ।
आर्याधिपान् स्वार्थकषायिताक्षानरिच्छलेनावममर्द रोषात् ॥ ८० ॥

स्वार्थकषायिताक्षान् परस्परद्रोहवतः आर्याधिपान् प्रतिकर्तुम् एव अमुक्तः शौर्यस्वभावः अरिच्छलेन रोषात् अवममर्द ॥ ८० ॥

भारतीय शासक पारस्परिक द्रोह से अन्धे हो गये थे, फिर भी उनके शौर्यपूर्ण स्वभाव ने उन्हें छोड़ा नहीं था। उसी शौर्यस्वभाव ने राजाओं से उनकी दृष्टि हीनता के पाप से बदला लेने के लिए ही, स्वार्थ से कड़वाहट-भरी आँखोंवाले राजाओं को शत्रु के रूप में क्रोध से कुचल डाला ॥ ८० ॥

विद्धश्चलद्वारवधूकटाक्षैः रापूरहालाचषके निमग्नः ।
क्षिप्तागमो गुह्यविहारलोलो भिक्षार्थिधर्मोऽरिनिमित्तमाप ॥ ८१ ॥

चलद्वारवधूकटाक्षैः विद्धः आपूरहालाचषके निमग्नः क्षिप्तागमः गुह्यविहारलोलः भिक्षार्थिधर्मः अरिनिमित्तम् आप ॥ ८१ ॥

चञ्चलगतिवाली वेश्याओं के कटाक्षों से विद्ध, शराब से भरे हुए पानपात्र में डूबा हुआ, शास्त्रनिन्दक, मठों-विहारों में गुह्य-साधना-विलीन या छिपकर रंग-रेलियाँ मनाने में व्यस्त, भिक्षा को ही प्रयोजन माननेवाले धर्म ने शत्रु को लालायित करने में सहायता किया। वह धर्म भी विदेशी आक्रमण के लिए कारण बन गया

[वज्रयान गुह्यसाधना आदि पाखण्डपूर्ण कार्यों एवं मठों-विहारों में एकत्र सम्पत्ति तथा निरुद्देश्य सिर मुँड़ाकर भिक्षा माँगना—इन पापों ने भी शत्रु को आने के लिए उत्साहित ही किया ।] ॥ ८१ ॥

अश्रद्दधानो नवकाव्यमार्गं कुलाभिशंसां स्वपराग्रहं वा ।
कुतूहलं मे यदरातिखड्गो जग्राह सर्वान् सममेव कण्ठे ॥ ८२ ॥

यत् नवकाव्यमार्गं कुलाभिशंसां स्वपराग्रहं वा अश्रद्दधानः अरातिखड्गः सर्वान् समम् एव कण्ठे जग्राह (तत्) मे कुतूहलम् ॥ ८२ ॥

मुझे बड़ा आश्चर्य है कि शत्रु की तलवार ने नवीन काव्य-रचना-शैली या उत्तम कुल या अपने-पराये आदि में कोई आसक्ति नहीं दिखलायी । चाहे कवि हों या कुलीन, अपने हों या पराये, समानभाव से सबके कण्ठ से ही लगा [सबको काट डाला ।] ॥ ८२ ॥

अलीकचाटूक्तिनिपीतसारा अशीलितात्मस्थितयोऽवमोहात् ।
घनान्धनेत्रैरपि मन्वते ते नृपाभिधा दृष्टमशेषदृश्यम् ॥ ८३ ॥

अलीकचाटूक्तिनिपीतसाराः अशीलितात्मस्थितयः ते नृपाभिधाः अवमोहात् घनान्धनेत्रैः अपि अशेषदृश्यं दृष्टं मन्वते ॥ ८३ ॥

झूठमूठ की चाटुकारिता के मोहक शब्दजाल में अपनी सुध-बुध खोये, मोह के कारण अपनी दुरवस्थापूर्ण स्थिति से तनिक भी दुखी न होते हुए सर्वथा अन्धी आँखों से भी ये नृपनामधारी जीव ऐसा समझते हैं मानो उन्होंने सब कुछ देख लिया ॥ ८३ ॥

जनेषु शास्त्रोदितवर्त्मसिद्धा रहस्यधिक्षिप्य हठात्तदेव ।
अश्नन्ति विश्वास्य विरूढदम्भा इमे बुधम्मन्यवृकाः स्वदेशम् ॥ ८४ ॥

जनेषु शास्त्रोदितवर्त्मसिद्धाः रहसि तत् एव हठात् अधिक्षिप्य विरूढदम्भाः इमे बुधम्मन्यवृकाः विश्वास्य स्वदेशम् अश्नन्ति ॥ ८४ ॥

समाज में तो शास्त्रसम्मत मार्ग पर चलनेवाले कहलाते हैं किन्तु एकान्त में हठपूर्वक उसी शास्त्र को स्वार्थसिद्धि के लिए लात मार देते हैं । ये विकराल दम्भी, अपने आपको पण्डित समझनेवाले भेड़िये विश्वासी बनकर देश को ही चबा रहे हैं ॥ ८४ ॥

दिव्यस्तवैर्लङ्घितसाधुमार्गान् प्रभूञ्श्रयन्तो व्यसनौकसोऽपि ।
श्रमोद्यमान् स्रष्टुमपि क्रुधाऽन्धा वणिग्धियः शास्त्रमुदाहरन्ति ॥ ८५ ॥

लङ्घितसाधुमार्गान् व्यसनौकसः अपि प्रभून् दिव्यस्तवैः श्रयन्तः श्रमोद्यमान् स्रष्टुम् अपि क्रुधा अन्धाः वणिग्धियः शास्त्रम् उदाहरन्ति ॥ ८५ ॥

अनेकानेक दुर्व्यसनों में पड़े हुए सन्मार्ग-पराङ्मुख राजाओं की दिव्य स्तोत्रों द्वारा प्रशंसा करके उनका आश्रय ग्रहण करते हैं। किन्तु श्रम और उद्यम करनेवाले व्यक्तियों से छू जाने के नाम पर भी क्रोध से पागल होकर ये वणिग्बुद्धिवाले (धर्म का व्यापार करनेवाले) शास्त्रों की दुहाई देते हैं ॥ ८५ ॥

त एव शूद्रत्वकलङ्कशप्ता धीमन् विदेश्याविरताभियाने ।
स्वविक्षताङ्गक्षतजाम्बुतीर्थां एदात्पदं शिश्रियुरार्यभूमिम् ॥ ८६ ॥

धीमन्, विदेश्याविरताभियाने शूद्रत्वकलङ्कशप्ताः ते एव स्वविक्षताङ्गक्षतजाम्बुतीर्थाम् आर्यभूमि पदात् पदं शिश्रियुः ॥ ८६ ॥

उन विवेकशील नवयुवकों ने, जिन्हें समाज ने शूद्रत्व के कलङ्क से अभिशप्त कर रखा है, विदेशियों के निरन्तर आक्रमणों के अवसर पर, अपने कटे हुए अंगों की बहती हुई रक्तधारा से पवित्रजलवाली तीर्थभूता इस मातृभूमि को, एक-एक कदम पर अपने को कटाकर बचाने की चेष्टा की [ज्ञातव्य है कि सोमनाथ मन्दिर को बचाने के प्रयत्न में बीस हजार हिन्दुओं का संहार हुआ। वे सब के सब द्विजेतर थे—ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य नहीं थे।] ॥ ८६ ॥

मुहुर्मुहुर्दण्डमवाप्य जन्तुः प्रतीपभावं सहजं जहाति ।
चिरादपीमे रिपुगर्तमग्नाः पश्यन्ति किं स्वस्खलितानि मूढाः ॥ ८७ ॥

मुहुर्मुहुःदण्डम् अवाप्य जन्तुः सहजं प्रतीपभावं जहाति, चिरात् अपि रिपुगर्तमग्नाः इमे मूढाः स्वस्खलितानि पश्यन्ति किम् ? ॥ ८७ ॥

बार-बार डण्डे से प्रताडित होनेपर पशु भी प्रतिकूल भाव (टेढ़ापन) छोड़ देता है किन्तु ये मूर्ख पशुओं से भी गये बीते हैं कि शत्रुरूपी गर्त में गिरकर भी अपने दोष को देखने का प्रयत्न नहीं करते ॥ ८७ ॥

येषामहो ! ष्ठीवनसूतसिन्धौ मग्ना द्विषो द्रष्टुमलं न कूलम् ।
तेषामजस्रारिनिकृत्तकण्ठासृग्वारिधौ संप्लवमेति पृथ्वी ॥ ८८ ॥

अहो, येषां ष्ठीवनसूतसिन्धौ मग्नाः द्विषः कूलं द्रष्टुम् अलम् न, तेषाम् अजस्रारिनिकृत्त-कण्ठासृग्वारिधौ पृथ्वी संप्लवम् एति ॥ ८८ ॥

ओह, इन भारतीयों के थूक देने से भी जो समुद्र बनता उसमें डूबा हुआ शत्रु किनारे लगने में भी समर्थ न होता। किन्तु शत्रु द्वारा निरन्तर उन्हीं भारतीयों के कण्ठ को काटने से बहनेवाले रक्त के समुद्र में पृथ्वी डगमगा रही है। [मौलाना आजाद ने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पहले अंग्रेजों के विरुद्ध सभा में बोलते हुए ऐसा ही कहा था।] ॥ ८८ ॥

सौन्दर्यकीर्तिं मलयानिलस्य बिभर्ति यो मण्डनमीशभाले ।
भद्रश्रियस्तस्य सुवर्णपात्रं सपत्नकान्ताधरसख्यमेति ॥ ८९ ॥

ईशभाले मण्डनं यः मलयानिलस्य सोदर्यकीर्तिं बिभर्ति तस्य भद्रश्रियः सुवर्णपात्रं सपत्नकान्ताधरसख्यम् एति ॥ ८९ ॥

जिसे मलयानिल के सहोदर होने का गौरव प्राप्त है (मलयानिल तथा मलयगिरि चन्दन दोनों को मलय समान रूप से प्रभावित करता है), जो शम्भु के ललाट को विमण्डित करता है उस चन्दन के रखने का सुवर्णपात्र शत्रु-कामिनियों के अधरों से मित्रता करता है [शत्रु-कामिनियाँ उस सुवर्णनिर्मित चन्दन-पात्र में मधुपान करती हैं ।] ॥ ८९ ॥

दुश्शीलवृत्तश्रवणेऽपि कोपात् पूर्वं ज्वलद्भासुरधामवत्यः ।
सोपानमार्गेऽरिकरावलम्बं नग्नस्तनेष्वार्यसुताः सहन्ते ॥ ९० ॥

पूर्वं दुश्शीलवृत्तश्रवणे अपि कोपात् ज्वलद्भासुरधामवत्यः आर्यसुताः सोपानमार्गे नग्नस्तनेषु अरिकरावलम्बम् सहन्ते ॥ ९० ॥

शत्रु के वश में होने के पहले जो आर्य कन्यायें किसी शीलभ्रष्ट घटना को सुनकर भी क्रोध से जलकर अङ्गार हो जाती थीं (उन्हें सुनने मात्र से भी उन्हें अपमान का बोध होता था) वे ही सीढ़ियों पर खड़ी हो ऊपर जानेवाले शत्रु के अवलम्ब के लिए उसके हाथों को अपने अनावृत स्तनों पर सहन करती हैं ॥ ९० ॥

शुद्धान्तचारित्र्यकुलव्रतानां शुद्धान्तचारित्र्यमिवाभिधातुम् ।
हुताशनो धूमशिखाप्ररोहैर्देवानपीष्टान् मलिनीकरोति ॥ ९१ ॥

शुद्धान्तचारित्र्यकुलव्रतानां शुद्धान्तचारित्र्यम् अभिधातुम् इव हुताशनः धूमशिखाप्ररोहैः इष्टान् अपि देवान् मलिनीकरोति ॥ ९१ ॥

रनिवासों में शील एवं चारित्र्य व्रत पालन करनेवाली महिलाओं के शील और आचार की श्रेष्ठता का उद्घोष करने के लिए ही अग्निदेवता ने मानो उठती हुई धूमशिखाओं से आकाश को भरकर पूजनीय देवताओं को भी मलिन कर दिया [देवताओं में निष्ठा रखने पर भी उन महिलाओं को विपत्ति से मुक्तिपाने के लिए चिता में कूदना पड़ा, मानो इसी शोक से निर्बल देवता भी म्लान मुख हो गये ।] ॥ ९१ ॥

अरातिहर्म्यस्थितिपालिनीनां कशाभिघाताः स्खलने प्रयुक्ताः ।
उच्छ्वनदृष्टौ फलयन्ति तूर्णं हतस्य भर्तुः करुणेक्षितानि ॥ ९२ ॥

स्खलने प्रयुक्ताः कशाभिघाताः अरातिहर्म्यस्थितिपालिनीनाम् उच्छ्वनदृष्टौ हतस्य भर्तुः करुणेक्षितानि तूर्णं फलयन्ति ॥ ९२ ॥

शत्रु के महलों में दासी का कार्य करनेवाली सम्भ्रान्त कुल की महिलायें (जिनके परिवार को नष्ट कर उन्हें बलपूर्वक दासी बना लिया गया) कार्य में

१. प्रायः सर्वेषु प्रमाणार्हेषु इतिहासपुस्तकेषु तत्कालोदितेषु विविधग्रन्थेषु च वृत्तमिदं सुस्पष्टं दृश्यते ।

गलती करने पर जब चाबुक की मार सहती हैं तब उनकी शून्य निराश दृष्टि में दिवङ्गत पति की करुणाविवश दृष्टि उदित हो जाती है ॥ ९२ ॥

बलाच्च्युतो दैवगतिः समाजः कृच्छ्राज्जिघृक्षुर्नवलां व्यवस्थाम् ।
व्यपैति निर्दग्धकुलस्य भर्तुः क्षुत्क्षामकण्ठानपि वीक्ष्य वत्सान् ॥ ९३ ॥

बलात् च्युतः दैवगतिः समाजः नवलां व्यवस्थां कृच्छ्रात् जिघृक्षुः निर्दग्धकुलस्य भर्तुः वत्सान् क्षुत्क्षामकण्ठान् अपि वीक्ष्य व्यपैति ॥ ९३ ॥

अपनी मर्यादा से गिरा हुआ भाग्यवादी समाज नये शासन की नयी व्यवस्था को ग्रहण करने में उत्सुक न रहकर भी संकट से बचने के लिए, सपरिवार नष्ट कर दिये गये पुराने मालिक (राजा, सामन्त आदि) के भूख से तड़पते बालकों को देखकर भी दूर हट जाता है [उन्हें डर लगता है कि सहानुभूति दिखाने के कारण उन्हें उसका कुफल न भोगना पड़े ।] ॥ ९३ ॥

कामाङ्कुशक्षुब्धमनोरथानां व्यपत्रपोद्दीपितयौवनाग्निः ।
भस्मीकरोत्येव जगत्प्रतिष्ठां चारित्र्यनाशात् प्रलयोऽपरः कः ॥ ९४ ॥

कामाङ्कुशक्षुब्धमनोरथानां व्यपत्रपोद्दीपितयौवनाग्निः जगत्प्रतिष्ठाम् एव भस्मीकरोति, चारित्र्यनाशात् अपरः कः प्रलयः ? ॥ ९४ ॥

राजविप्लव के कारण अस्त-व्यस्त समाज में अनैतिकता की कोई रोकथाम नहीं है । कामभावना से क्षुब्ध मनोरथवालों की निर्लज्जता के कारण भभकती हुई यौवनाग्नि प्रतिष्ठित सामाजिक परम्पराओं को भस्म कर रही है । भला चरित्रनाश से बढ़कर और किसे प्रलय कहते हैं ॥ ९४ ॥

द्विषामनभ्यस्तमहार्हधाम्नां दास्ये जनो व्यत्ययमीक्षमाणः ।
स्मरन् महीपं निधनातिथेयं सास्रं समाक्रोशति दैवकृत्यम् ॥ ९५ ॥

अनभ्यस्तमहार्हधाम्नां द्विषां व्यत्ययम् ईक्षमाणः दास्ये जनः निधनातिथेयं महीपं सास्रं स्मरन् दैवकृत्यं समाक्रोशति ॥ ९५ ॥

राजप्रासादों के रीति-रिवाज तथा अनेकविध महार्ह, बहुमूल्य उपकरणों के व्यहारज्ञान में अनभ्यस्त शत्रुओं (जिन्होंने राजमहलों पर अधिकार कर लिया है तथा वैभव का उपभोग कर रहे हैं) के दैनन्दिन कार्य-कलापों में उलटफेर देखकर, पुराने राजा के नियुक्त कर्मचारी आँखों में आँसू भरकर मृत्यु का आतिथ्य करनेवाले (दिवङ्गत) महाराज को स्मरण करते हुए दुर्दैव को कोसते हैं जिसने बन्दर के गले में मोतियों का हार डाल दिया ॥ ९५ ॥

ऋक्सूक्तघोषस्तुतवैभवेषु भग्नेषु देवायतनेषु वीर ।
दिवापि निर्बन्धविलासलोला वामा दिवान्धानपि शङ्कयन्ति ॥ ९६ ॥

वीर, ऋक्सूक्तघोषस्तुतवैभवेषु भग्नेषु देवायतनेषु दिवा अपि निर्बन्धविलासलोलाः वामाः दिवान्धान् अपि शङ्कयन्ति ॥ ९६ ॥

जिन मन्दिरों में ऋक्सूक्तों द्वारा स्तुति होती थी आज उन्हीं ध्वस्तप्राय निर्जन खण्डहरों में दिन में भी अबाधित विलास-केलि में चञ्चल प्रमदायें उनमें छिपे हुए उलूकों को भी अपने आवागमन से शङ्कित बना रही हैं ॥ ९६ ॥

इयं जिहासुर्भुवमार्यपद्या ग्रन्थेषु दग्धार्धवपुष्षु लीना ।
वेश्मान्तरालेषु निरुद्धसंज्ञा संलक्ष्यतेऽद्यार्यकुलाङ्गनेव ॥ ९७ ॥

दग्धार्धवपुष्षु ग्रन्थेषु लीना भुवं जिहासुः इयम् आर्यपद्या अद्य वेश्मान्तरालेषु निरुद्धसंज्ञा आर्यकुलाङ्गना इव संलक्ष्यते ॥ ९७ ॥

आज इस भारत भूमि को त्यागकर जानेवाली आर्य-जीवन-पद्धति अधजले ग्रन्थों में सिमटकर इस प्रकार दबी पड़ी है जैसे घर के सबसे भीतरी भाग में अपनी स्थिति को सर्वथा छिपाती हुई आर्य-कुलवधू हो [अनाचारी शत्रुओं के भय से कुलाङ्गनायें घरों के भीतरी भाग में दुबकी रहती थीं ।] ॥ ९७ ॥

निर्हेतुमारोप्य कृतान्तकोपं निर्बाधकामाचरणा विपन्नान् ।
व्याघ्राः समाजे समजं यथेमे निघ्नन्ति छद्मात्तजयावलेपाः ॥ ९८ ॥

समजे व्याघ्रः यथा समाजे छद्मात्तजयावलेपाः निर्बाधकामाचरणाः इमे निर्हेतुं कृतान्तकोपम् आरोप्य विपन्नान् निघ्नन्ति ॥ ९८ ॥

किसी प्रकार प्राप्त जय से उन्मत्त बे-रोक-टोक कामोपभोग में रुचि रखनेवाले ये आततायी, बिना कारण भयंकर क्रोध में भरकर दुखी, असहाय लोगों को इस प्रकार नष्ट कर रहे हैं जैसे बाघ पशुओं को क्रूरतापूर्वक मार डालता है । [प्रतिरोध करनेवाले को कुफल भोगना ही पड़ता है ।] ॥ ९८ ॥

भूपातिताराध्यगृहेषु देशे धीमन्दुरा वीक्ष्य विवेकिनोऽपि ।
धीमन्दुरापादितविक्षताङ्गे क्षाराञ्जलीन् भावयतीव दत्तान् ॥ ९९ ॥

धीमन्, देशे भूपातिताराध्यगृहेषु मन्दुराः वीक्ष्य विवेकिनः अपि धीः दुरापादितविक्षताङ्गे-दत्तान् क्षाराञ्जलीन् इव भावयति ॥ ९९ ॥

विवेकसम्भर नवयुवक ! तोड़फोड़ कर भूमिसात् किये गये मन्दिरों को घुड़साल के रूप में परिवर्तित देखकर विवेकी प्राणी की भी बुद्धि को ऐसा प्रतीत होता है मानो भयानक ढंग से कटे हुए अंगों पर नमक की अञ्जलियाँ डाल दी गयी हों । ['क्षते क्षारं' कटे पर नमक छिड़कना कहावत है ।] ॥ ९९ ॥

अमारतीयां भरतावनिं मे विधित्सवो नाकमिवास्तदेवम् ।
दितिप्रसूता इव बद्धकक्ष्याः सन्मार्गसंज्ञामपि ते द्विषन्ति ॥१००॥

मे भरतावनिं नाकम् अस्तदेवम् इव अमारतीयाम् विधित्सवः बद्धकक्ष्याः दितिप्रसूता इव ते सन्मार्गसंज्ञाम् अपि द्विषन्ति ॥ १०० ॥

मेरी इस भरतभूमि को भारतीयता-विरहित करने के लिए वे अनाचारी स्वर्ग को देवविहीन करने के लिए बद्धपरिकर दैत्यों के समान सज्जनोचित मार्ग के नाम से भी द्वेष करते हैं ॥ १००॥

जितत्रिवारारिदवाग्निदग्धे तदेकवर्त्मा दयिताऽपि पत्यौ ।
दुर्गेव दुर्गे रचितात्मगुप्तिः शताहमारब्यबलं [1]रुरोध ॥१०१॥

जितत्रिवारारिदवाग्निदग्धे पत्यौ, तदेकवर्त्मा दयिता अपि दुर्गे दुर्गा इव रचितात्मगुप्तिः आरब्यबलं शताहं रुरोध ॥ १०१ ॥

तीन बार पराजित होनेवाले शत्रु की क्रोधाग्नि में पति के (सिन्धुनरेश राजा दाहर के) जल जाने पर दुर्गा के समान, पति के ही पथ पर चलनेवाली रानी ने किले के भीतर आत्म-रक्षा का प्रबन्ध करके सौ दिनों तक अरब सेना का सामना किया ॥ १०१ ॥

त्रिंशत्सहस्रार्यवधूशरण्ये दुर्गेऽवतीर्यार्यकुलासृगब्धिम् ।
युगान्तरौद्रान्तकरक्तजिह्वान्नान्योऽपरोऽग्नेर्ददृशे द्विषद्भिः ॥१०२॥

त्रिंशत्सहस्रार्यवधूशरण्ये दुर्गे आर्यकुलासृगब्धिम् अवतीर्य द्विषद्भिः युगान्तरौद्रान्तकरक्तजिह्वात् अग्नेः अपरः अन्यः न ददृशे ॥ १०२ ॥

निहत आर्यजनों के रक्तसमुद्र को पार कर, तीस हजार आर्यनारियों को शरण देनेवाले दुर्ग में प्रवेश करने पर शत्रुओं को दुर्ग के भीतर, प्रलयङ्कर यमराज की भैरवी रक्तजिह्वा के समान अग्नि की लाल लपटों के अतिरिक्त कुछ भी दिखायी न पड़ा [दुर्ग के टूटने के पूर्व ही तीस हजार आर्य नारियों ने निरुपाय हो शीलरक्षा के लिए अपने आपको प्रदीप्त अग्निकुण्डों में झोंक दिया। ज्ञातव्य है कि मुहम्मद बिन कासिम ने राजा दाहिर को ७०७ ई० में पराजित कर उसके किले को घेर लिया रानी ने तीन माह तक किले को बचाया। अन्त में सतीत्व-रक्षा के लिए तीस हजार स्त्रियाँ अग्नि में जल मरीं और दुर्ग पर अरब सेना का अधिकार हो गया।]॥ १०२ ॥

सौभाग्यवर्जं निखिलाङ्गभूषा दत्वाऽपि देव्यो रणकोषपूरे ।
दौर्भाग्यमेवापुरपूर्ववेद्यं तप्ताश्रुसंक्लिन्नपयोधरश्रि ॥१०३॥

देव्यः रणकोषपूरे सौभाग्यवर्जं निखिलाङ्गभूषाः दत्वा अपि अपूर्ववेद्यं तप्ताश्रुसंक्लिन्नपयोधरश्रि दौर्भाग्यम् एव आपुः ॥ १०३ ॥

भारतीय नारियों ने युद्धकोष को पूरा करने के लिए सौभाग्यसूत्र के अतिरिक्त सब आभूषणों को देकर भी दुर्भाग्य ही प्राप्त किया। इस भयंकर दुर्भाग्य

१. निहते दाहिराभिधे सिन्धुनरपतौ तन्महिषी कृतदुर्गरक्षा आरब्यबलं प्रतिरोद्धुं मतिं चक्रे। सा वीराङ्गना शतदिवसं सेनापतेः मुहम्मद-बिन-कासिम-नाम्नः चमूं विफलां प्रतिरुरोध। तदनु दुर्गपतनमनिवार्यमवलोक्य सत्रिंशत्सहस्रनारीजना विवेश प्रदीप्तार्चिषि वह्निकुण्डे।

की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। यह अपूर्व था। पहिले कभी ऐसा देखा-सुना भी नहीं गया था। इस दुर्भाग्य के फलस्वरूप भारतीय स्त्रियों की आँखों से निरन्तर गिरते गर्म आँसुओं से भींगकर उनकी स्तन-कान्ति नष्ट हो गयी [यह ऐतिहासिक घटना १०१८ की है। ढाई लाख भारतीय सेना ने मुलतान के किले में महमूद गजनवी को उसकी अठारह हजार सेना के साथ चारों ओर से घेर लिया था। यह निर्णायक युद्ध था। आर्यावर्त के प्रत्येक परिवार ने आक्रमण-कारियों के विरुद्ध धन-जन की सहायता की थी। स्त्रियों ने अपने शरीर के आभूषणों तक को सैन्य-संग्रह के लिए उतार दिया। किन्तु देश के दुर्भाग्य को यह स्वीकार नहीं था। राजाओं की सेनाओं में इस बात पर विवाद बढ़ गया कि सम्मिलित वाहिनी का प्रधान सेनापति कौन हो। मतभेद इतना बढ़ गया कि कुछ सेनायें युद्धभूमि से हट गयीं। महमूद गजनवी ने अवसर का पूरा लाभ उठाया। किले का फाटक खुला और भारतीयों की सञ्चालक-विहीन सेना पर अफगान घुड़-सवार टूट पड़े। देखते ही देखते मैदान में भारतीयों के शवों का पर्वत बन गया। महमूद ने अपनी हार को विजय में बदल दिया।] ॥ १०३ ॥

प्रधानसेनापतिपीठलुब्धा रिपून् जयन्तोऽपि पराजितास्ते।
लक्षार्धवीराहुतिमाजिवह्नौ दत्त्वार्यभूपा जगुरात्मकीर्तिम् ॥१०४।

रिपून् जयन्तः अपि प्रधानसेनापतिपीठलुब्धाः पराजिताः ते आर्यभूपाः आजिवह्नौ लक्षार्धवीराहुतिं दत्वा आत्मकीर्तिं जगुः ॥ १०४ ॥

प्रधान सेनापति बनने के लोभ में जीती हुई बाजी को भी परस्पर द्वेष के कारण हारकर, पचास हजार सैनिकों को युद्धाग्नि में गँवाकर भारतीय राजाओं ने अपनी कीर्ति का गुणगान किया ॥ १०४ ॥

कथं नृपो दुर्लभराजकन्याकराब्जनालाशिथिलोपगूढः।
स्मरेद् द्विषत्कोपविभिद्यमानां श्रीसोमनाथप्रतिमां यशस्वी ॥१०५॥

दुर्लभराजकन्याकराब्जनालाशिथिलोपगूढः यशस्वी नृपः द्विषत्कोपविभिद्यमानां श्रीसोमनाथप्रतिमां कथं स्मरेत् ॥ १०५ ॥

अतिदुर्लभ किन्तु भाग्यवश प्राप्त राज्यकन्या के कमलनाल के समान कोमल भुजाओं से दृढतापूर्वक आलिंगन-पास में विभोर चालुक्यवंशी नरेश[1] भला कैसे स्मरण कर पाते कि सोमनाथ-मन्दिर में मूर्ति को शत्रु का क्रोध खण्ड-खण्ड करके तोड़ रहा है ॥ १०५ ॥

बालाबलानां प्रथितः शरण्यो धर्मानुशिष्टः कथमग्निसाक्ष्याम्।
मुग्धां नवोढां निहतः कदाचित् कुर्यादनाराधितकामदोहाम् ॥१०६॥

१. चालुक्यनरेशो नाम्ना दुर्लभराजः एकादश्यां शताब्द्यां जातः।

बालाबलानां प्रथितः शरण्यः धर्मानुशिष्टः कदाचित् निहतः (स्यात् चेत्) अग्निसाक्ष्यां नवोढां मुग्धाम् अनाराधितकामदोहाम् कथं कुर्यात् ॥ १०६ ॥

चालुक्यनरेश करते भी क्या ? वे बच्चों-निर्बलों (नवयुवती सुन्दरियों) को शरण देने में विख्यात थे। उन्हें धर्म की पर्याप्त शिक्षा भी मिली थी। फिर किस प्रकार वे अग्नि को साक्षी बनाकर ब्याही हुई अज्ञातयौवना नववधू को (यदि युद्ध में अभाग्यवश वीरगति पा जाते तो) कामसुख के मनोहर विलास से वञ्चित करते ! [बालाबलानाम्—१. बाल+अबल अथवा २. बाला+अबला) प्रथम पदच्छेद से बालकों तथा निर्बलों का। दूसरे पदच्छेद के अनुसार नवयौवना स्त्रियों का।] ॥ १०६ ॥

पदं निधायारिनृपोत्तमाङ्गे लावण्यलोभागसि पौलकेश्यः।
यदात्मसौभाग्यमिवोपयेमे[1] त्यजेत् कलत्रं स कथं तदेव ॥१०७॥

लावण्यलोभागसि अरिनृपोत्तमाङ्गे पदं निधाय पौलकेश्यः यत् आत्मसौभाग्यम् इव उपयेमे तत् एव कलत्रं सः कथं त्यजेत् ॥ १०७ ॥

सौन्दर्य-धन के लोभ में पाप करनेवाले शत्रु राजाओं के सिर पर लात रखकर (चालुक्य राजा दुर्लभराज तथा अन्य राजाओं ने भी अपूर्व सुन्दरी राजकन्या के लिए युद्ध किया, परिणामतः दुर्लभराज ने शत्रुओं को पराजित कर उस राजकन्या से विवाह कर लिया) जिसे चालुक्यराज पुलकेशी द्वितीय ने अपने सौभाग्य के समान अपनी हृदयेश्वरी बनाया उसी सुन्दरी प्रियतमा का वह श्री सोमनाथ के मन्दिर की रक्षा के लिए कैसे छोड़ देता ॥ १०७ ॥

विधातृसृष्टेषु चतुष्पदेषु महाङ्ग एवास्ति परं मतं मे।
मुक्तेरपीष्टातिशयं यदेनं मेने विजेता[2] जयचन्द्रकाश्याम् ।१०८॥

विधातृसृष्टेषु चतुष्पदेषु महाङ्गः एव परं मे मतम् अस्ति, यत् जयचन्द्रकाश्याम् विजेता एनं मुक्तेः अपि इष्टातिशयं मेने ॥ १०८ ॥

मेरा निश्चित मत है कि ब्रह्मा द्वारा निर्मित चौपायों में ऊँट ही सबसे श्लाघनीय है क्योंकि कन्नौजनरेश जयचन्द्र की काशी नगरी में विजेता शत्रु ने ऊँटों को मुक्ति से भी अधिक महत्त्व दिया [सन् ११९३ ई० में मुहम्मदगोरी ने जयचन्द्र को हराया तथा काशी को लूटकर असंख्य ऊँटों पर अनन्त धन लादकर ले गया।] ॥ १०८ ॥

१. शासति दुर्लभराजे चालुक्यनृपे श्रीसोमनाथप्रतिमा खण्डिता महमूदगजनवी-नामकेन अफगान-आक्रामकेन। दुर्लभराजः समरे निहत्य शत्रून् राजकन्यां परिणीय विलास-सिन्धौ मग्नः आक्रमणप्रतिरोधाय न किमपि कर्तुमशकत् :

२. मुहम्मदगोरी पराजितोऽपि चौहाननृपतिना पृथ्वीराजेन विज्ञाय जयचन्द्र-पृथ्वीराजयोः मरणान्तं वैरम् ११९२ ई० वर्षे पृथ्वीराजं पराजित्य द्वितीये वर्षे जयचन्द्रमपि (११९३) कान्यकुब्जेश्वरं निहत्य युद्धे वाराणसीं विलुण्ठ्य विपुलां सम्पदं क्रमेलकानामुपरि नीत्वा काबुलं प्रत्यगमत्।

हित्वा नृपार्हानपि शस्त्रपाते कातर्यरक्षाव्रतिनो विहारान् ।
नित्यप्रसादार्चितगुह्यसिद्धाः क्वान्तर्हिता गुह्यतमोऽधुनाऽपि ॥१०९॥

शस्त्रपाते नृपार्हान् अपि विहारान् हित्वा कातर्यरक्षाव्रतिनः नित्यप्रसादार्चितगुह्यसिद्धाः क्व अन्तर्हिताः, अधुना अपि गुह्यतमः ॥ १०९ ॥

भीषण युद्ध आरम्भ होने पर कायरपन को ही रक्षास्त्र माननेवाले, राजवैभव-पूर्ण विहारों को छोड़कर वे नित्य उल्लास एवं उत्साहपूर्वक गुह्य साधना करनेवाले सिद्ध तथा साधक कहाँ अदृश्य हो गये, यह आज तक रहस्य ही बना हुआ है। [मुस्लिम आक्रमण के समय भारत विभिन्न प्रकार के सम्प्रदायों में विभक्त था। वे स्वयम्भू थे तथा मान्य मूल्यों को तोड़ने में ही अपनी अहम्मन्यता को तृप्त करते थे। गुह्यसाधकों, वज्रयानियों का पाखण्ड जनता पर प्रभावी था।] ॥ १०९ ॥

इदम्महन्मे परितापशल्यं मर्मघ्नमद्यापि हिनस्ति चेतः ।
ग्रन्थाकरेऽप्यग्निमुखार्धमुक्ते नैकोऽपि मुक्तस्तदधीनवृत्तिः ॥११०॥

इदं मर्मघ्नं महत् परितापशल्यम् अद्य अपि मे चेतः हिनस्ति, अग्निमुखार्धमुक्ते अपि ग्रन्थाकरे एकः अपि तदधीनवृत्तिः न मुक्तः ॥ ११० ॥

आज भी मेरा मर्मच्छेदन करता हुआ शोकशल्य मुझे कष्ट दे रहा है कि अग्निमुख में पड़े हुए ग्रन्थागारों से कुछ अधजली पुस्तकें तो प्राप्त भी हो गयीं किन्तु उन पुस्तकों के विद्वानों में एक को भी शत्रु ने नहीं छोड़ा ॥ ११० ॥

निरस्य दासत्वनिकारभारान् भियाऽरिभर्तुर्विषयाद् विदूरम् ।
के नार्यवंश्या वनिताद्वितीयाः शैलूषवृत्त्याऽद्य धरामटन्ति ॥१११॥

दासत्वनिकारभारान् निरस्य भिया अरिभर्तुः विषयात् विदूरम् अद्य वनिताद्वितीयाः के आर्यवंश्याः शैलूषवृत्त्या धरां न अटन्ति ? ॥ १११ ॥

गुलामी के दुःखदायी जुए को फेककर विजेता शत्रु की राजसीमा से दूर अपनी स्त्री के साथ अनेक आर्य युवक नट बनकर खेल-तमाशे दिखाकर पेट पालते हुए पृथ्वी के विभिन्न भागों में घूम रहे हैं [यूरोप के अनेक देशों में घूमनेवाली जिप्सी (Gypsy) जाति के सम्बन्ध में अन्वेषकों का कहना है कि वे भारतीय हैं तथा ग्यारहवीं शताब्दी के आसपास भारत से निकल पड़े। इन जिप्सियों की आँखें तथा बाल काले होते हैं तथा इनकी बोली में हजारों भारतीय शब्द अब भी मिलते हैं।] ॥ १११ ॥

तप्तातपे सान्द्रपयोदवर्षे निशासु पौषानिलकम्पितासु ।
स्वातन्त्र्यसन्धाश्चयरागबन्धा वनाद्वनं शाकटिकाश्चरन्ति ॥११२॥

तप्तातपे, सान्द्रपयोदवर्षे, पौषानिलकम्पितासु निशासु स्वातन्त्र्यसन्धाश्चयरागबन्धाः शाकटिकाः वनात् वनं चरन्ति ॥ ११२ ॥

जलती ग्रीष्मऋतु में, मेघों की घोर वृष्टिवाला बरसात में, पौष की ठण्डी हवाओं से काँपती रात्रियों में, सदैव, स्वतन्त्रता की निष्ठा में अनन्त भावना से पूर्ण गाडिया (गाड़ियों पर ही सपरिवार अपना जीवन बितानेवाले) एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमा करते हैं [ज्ञातव्य है कि मुगलों के शासनकाल में राजपूताने की आक्रान्त जनता के एक वर्ग ने शपथ ली कि स्वाधीनता प्राप्त किये बिना वे नगर या गाँव में घर नहीं बनायेंगे, फलतः वे गाड़ियों पर ही गृहस्थी लेकर घूमते रहे। इन्हें 'गाडिया' कहा जाता है। हाल ही में भारत सरकार के आग्रह पर अब वे स्वतन्त्र भारत में एक स्थान पर रहने लगे हैं।] ॥ ११२ ॥

नभोऽम्बुदो यावदवार्यधारैर्दूर्वास्थितिं क्लिन्नजलां करोति ।
ततोऽचिरेणापि सपत्नहासः कालेन गौडान् नमतो ददर्श ॥११३॥

अवार्यधारैः नभोऽम्बुदः यावत् दूर्वास्थितिं क्लिन्नजलां करोति ततः अपि अचिरेण कालेन सपत्नहासः गौडान् नमतः ददर्श ॥ ११३ ॥

सावन का बादल निरन्तर बरसता हुआ जितने समय में दूब को जल से लथपथ करता है उससे भी कम समय में शत्रुओं के विस्मयपूर्ण हास ने गौडदेश को झुककर प्रणाम करते देखा [बंगाल जीतने में शत्रु को कुछ भी श्रम नहीं करना पड़ा।] ॥ ११३ ॥

व्याघ्रप्रसूतावपि वङ्गभूमावष्टादशाश्वीयचमू रिपूणाम् ।
प्रालोभयत्[1] सेनकुलार्यलक्ष्मीमनर्हदासाङ्कनवासनाय ॥११४॥

व्याघ्रप्रसूतौ अपि वङ्गभूमौ रिपूणाम् अष्टादशाश्वीयचमू सेनकुलार्यलक्ष्मीम् अनर्हदासाङ्कनवासनाय प्रालोभयत् ॥ ११४ ॥

निर्भय व्याघ्रों को पैदा करनेवाली वंगभूमि में भी केवल अठारह घुड़सवारों की शत्रुसेना ने सेनकुल की राजलक्ष्मी को निकृष्ट गुलाम राजा की गोदरूपी नये आसन के लिए लुभा लिया [अठारह सवारों को सहायता से बख्तियार खिल्जी ने राजा लक्ष्मणसेन को पराजित कर गौड देश पर अधिकार कर लिया।] ॥ ११४ ॥

तालाङ्ककेतोरवकर्ण्य कीर्तिं जयश्रिया साकमरातयेऽसौ ।
ददत्स्वभार्यामपि लाटभर्ता कर्णः स्वनाम्नोऽप्यधिकं ननन्द ॥११५॥

तालाङ्ककेतोः कीर्तिम् अवकर्ण्य लाटभर्ता असौ कर्णः अरातये जयश्रिया साकं स्वभार्याम् अपि ददत् स्वनाम्नः अपि अधिकं ननन्द ॥ ११५ ॥

ताल चिह्न-विशिष्ट ध्वजवाले (कर्ण की ध्वजा में ताल का निशान बना हुआ था) कौरव योद्धा कर्ण की दानवीरता का यशोगान सुनकर उसी नामवाले गुजरात

---

१. लक्ष्मणसेनं गौडनृपं बख्तियारखिल्जीनामा गुलामवंशीयः केवलमष्टादशसादियुक्तः सेनापतिः युद्धं विनैव जितवान् ।

के राजा कर्ण ने शत्रु को जयलक्ष्मी (युद्ध में विजय) के साथ ही अपनी रानी को भी देकर अपने कर्ण नाम को सार्थक कर दिया [अलाउद्दीन खिल्जी (१२९६-१३१६) की सेना से पराजित होने पर राजा कर्ण ने सन्धि में अपनी रानी भी अलाउद्दीन को समर्पित कर दी ।] ॥ ११५ ॥

वृषस्थितिं पालयतां वृषाणामिवार्यजानां विधुरास्रपङ्क्तिः ।
स्वर्णैः प्रपूर्यापि पयोधिमार्गं खिल्जीन्द्रलोभं विफलीबभूव ॥११६॥

वृषस्थितिं पालयतां वृषाणाम् इव आर्यजानां विधुरास्रपङ्क्तिः पयोधिमार्गं खिल्जीन्द्रलोभं स्वर्णैः प्रपूर्य अपि विफलीबभूव ॥ ११६ ॥

स्वधर्मपालन के लिए, मन्दिरों की रक्षा के लिए बैलों की तरह भारतीयों को निष्फल कातर अश्रुपूर्ण दृष्टि ने अनन्त सुवर्ण एवं रत्नराशि देकर भी अलाउद्दीन खिल्जी के समुद्र जैसे विशाल लोभ को शान्त करने में असफलता ही प्राप्त की । [दक्षिण के मन्दिरों से अनन्त सम्पत्ति पाकर भी खिल्जी बादशाह की लोभपूर्ण प्रवृत्ति बढ़ती ही गयी ।] ॥ ११६ ॥

धिक् शस्त्रपाखण्डजुषो यदार्ता उत्कोचकल्पैर्जजियाप्रदानैः ।
प्रजाः स्वहिन्दुत्वशुभं वृकेभ्यो द्विड्भ्यो रिरक्षन्ति विपन्नजीवम् ॥११७॥

शस्त्रपाखण्डजुषः धिक् यत् आर्ताः प्रजाः उत्कोचकल्पैः जजियाप्रदानैः विपन्नजीवं स्वहिन्दुत्वशुभं वृकेभ्यः द्विड्भ्यः रिरक्षन्ति ॥ ११७ ॥

शास्त्रग्रहण का स्वाँग रचनेवाले पाखण्डियों को धिक्कार है कि अपने जीवन तथा वृत्ति की रक्षा के लिए शत्रुरूपी भेड़ियों को घूस के रूप में 'जजिया' कर देकर प्रजा अपने हिन्दुत्वरूपी बकरे की खैर मनाती है, मंगल-कामना करती है। [जजिया एक धार्मिक कर था जिसे विधर्मी प्रजा (जो मुसलमान नहीं थी) मुस्लिम शासकों को देकर ही उनके राज्य में रह सकती थी ।] ॥ ११७ ॥

सङ्गृह्य दारैरिव भूतिसारैः क्रमेलकान् वंक्षुतटौकसः के ।
लब्ध्वाऽभियानेऽक्षयहेमदास्यः परावृताः नार्यभुवो महाढ्याः ॥११८॥

दारैः इव भूतिसारैः क्रमेलकान् सङ्गृह्य वंक्षुतटौकसः के अभियाने अक्षयहेमदास्यः लब्ध्वा आर्यभुवः महाढ्याः (सन्तः) न परावृताः ॥ ११८ ॥

अपनी खेती-बारी के बदले में ऊँट खरीदकर, वंक्षु नदी (काबुल नदी) के तटवर्ती किस निवासी ने भारत पर आक्रमण में सम्मिलित होकर लूट में पुष्कल स्वर्णराशि तथा सुन्दरी स्त्रियों को प्राप्त कर, अपनी यात्रा को सफल नहीं कर लिया ! [महमूद गजनवी (ग्यारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध) ने बीसों बार भारत पर आक्रमण किया था तथा हर बार अनन्त सम्पत्ति लेकर लौटा था। उस समय काबुल में सामान्य कहावत चल पड़ी थी कि बूढ़ी बीबी के बदले में ऊँट खरीद लो,

भारत पर हमले में शामिल हो जाओ, बूढ़ो बीबी के बदले जवान नयी सुन्दर घरवाली तथा अनन्त सम्पत्ति के साथ लौटकर जोवन का आनन्द लो।] ॥ ११८ ॥

असंस्तुताचारविदेशभूमौ नियन्त्रितद्वारबहिश्चराणाम् ।
बाह्लीक[1]वीथ्योऽन्वभवन् निशीथे दासीकृतानां करुणास्वपातम् ॥११९॥

असंस्तुताचारविदेशभूमौ नियन्त्रितद्वारबहिश्चराणां दासीकृतानां निशीथे करुणास्वपातं बाह्लीकवीथ्यः अन्वभवन् ॥ ११९ ॥

गुलाम बनाकर भारत से लाये गये स्त्री-पुरुषों से मध्यएशिया के नगर भर गये थे। विदेशी भूमि के आचार, भाषा, व्यवहार आदि से अपरिचित अतः किसी कारणवश बाहर विलम्ब हो जाने के कारण घरों, बाजारों के बन्द हो जाने से, बाहर ठिठुरते हुए भारतीय गुलामों का करुण क्रन्दन वलख की गलियों को अर्धरात्रि में भी मुखरित किया करता था ॥ ११९ ॥

वर्षत्तुषारासु निशीथिनीषु जने निरुद्धार्गलसद्मलीने ।
हिमात्ययोच्छिन्ननिकारपाशान् द्रष्टुं न दासान् गजनी[2] विषेहे ॥१२०॥

वर्षत्तुषारासु निशीथिनीषु, निरुद्धार्गलसद्मलीने जने हिमात्ययोच्छिन्ननिकारपाशान् दासान् द्रष्टुं गजनी न विषेहे ॥ १२०

भयंकर शीतकाल में जब बर्फीली हवायें हड्डी तक कँपा देती थीं तथा घरवाले दरवाजे-खिड़कियाँ बन्द कर रात में सो जाते थे तो शीत की प्रबलता से ठिठुरे तथा प्राणों को देकर उस ठण्डक से मुक्त निर्जीव भारतीय गुलामों की लाशों को गजनी सबेरे देखने में भी दहल उठती थी ॥ १२० ॥

अपूर्वदत्ताधरपानपात्रोच्छिष्टाऽऽसवाऽऽस्वादभृशोन्मदानाम् ।
अनावृतानामरितल्पदृष्टिं दीपो ह्रियैवास्तमुपैति वीक्ष्य ॥१२१॥

अपूर्वदत्ताधरपानपात्रोच्छिष्टाऽऽसवाऽऽस्वादभृशोन्मदानाम् अनावृतानाम् अरितल्पदृष्टिं वीक्ष्य ह्रिया एव दीपः अस्तम् उपैति ॥ १२१ ॥

जिन अधरों ने पहले कभी शराब नहीं छुई थी उन्हीं अधरों से मधुपात्र को उच्छिष्ट शराब को पीने से अतिशय मदोन्मत्त, नग्न, भारतीय युवतियों को शत्रु की सेज को सतृष्ण दृष्टि से घूरते देखकर दीपक लज्जा के मारे बुझ जाता है। [कभी की आचारवती भारतीय युवतियाँ आज परवश हो शराब के नशे में शत्रु के साथ एकान्त-विहार करती हैं।] ॥ १२१ ॥

---

१. बाह्लीकजनपदः संज्ञया संस्कृतवाङ्मयाध्येतृणां परिचितः 'गौर्वाहीक' इति पदेन स्वाधिकारं वैशिष्ट्यञ्च प्रस्तौति। इदानीं 'वलख' इति नाम्ना सीमाभ्याशे ख्यातो देशः।

२. गजनी—महमूदगजनवीतिख्यातस्य अफगाननृपतेराक्रामकस्य राजधानी।

ज्वलदूदुरालोकमरुप्रथायामजोष्ट्रमेषान् भुवि चारयन्तः ।
अप्रांशुखर्जूरतपन्नमेरौ पश्यन्ति पूर्वां करुणं हताशाः ॥१२२॥

ज्वलद्दुरालोकमरुप्रथायाम् भुवि अजोष्ट्रमेषान् चारयन्तः हताशाः अप्रांशुखर्जूरतपन्नमेरौ पूर्वां करुणं पश्यन्ति ॥ १२२ ॥

भयंकर गरमी से जलती हुई रेतवाली मरुभूमि में ऊँटों, भेड़ों, बकरियों को चराते हुए छोटे-छोटे खजूरों की तपती अपर्याप्त छाया में निराश बैठे हुए परवश भारतीय युवक पूर्व दिशा की ओर (भारत की ओर) सतृष्ण करुण दृष्टि से देखते हैं [गुलाम बनाये गये भारतीय पशुओं को चराते हुए दूर विदेश-भूमि में जीवन से निराश हो मातृभूमि की ओर करुण, कातर दृष्टि से देखते हैं ।] ॥ १२२ ॥

स्थिताः स्थितेषूच्चलिताश्चलत्सु मूकेषु मूकाः सगिरो नदत्सु ।
हृतस्वभावा इव दूरभूमौ मेषीकृता मेषकुलेऽस्तभाग्याः ॥१२३॥

स्थितेषु स्थिताः चलत्सु उच्चलिताः मूकेषु मूकाः नदत्सु सगिरः अस्तभाग्याः दूरभूमौ हृतस्वभावाः इव मेषकुले मेषीकृताः ॥ १२३ ॥

मध्यएशिया के रेगिस्तानों में गुलाम भारतीय चरवाहे भेड़ों को चराते हुए उनके रुक जाने पर रुक जाते थे, चलने पर चलते थे, चुप रहने पर चुप रहते थे तथा उनके मिमियाने पर बोल पड़ते थे। दूर देश में अपने स्वभाव को भूल वे हतभाग्य भारतीय भेड़ों के झुण्ड में भेड़ ही हो गये ॥ १२३ ॥

वामीपयःसिद्धसुरां[1] कुतूस्थां क्रमेलकक्रव्यसखीं पिबन्त्यः ।
मधूत्सवा निष्करुणं हसन्त्यो बिभ्युः स्वनाम्नोऽपि कुलप्रसूताः ॥१२४॥

क्रमेलकक्रव्यसखीं कुतूस्थां वामीपयःसिद्धसुरां पिबन्त्यः मधूत्सवाः निष्करुणं हसन्त्यः कुलप्रसूताः स्वनाम्नः अपि बिभ्युः ॥ १२४ ॥

ऊँट के मांस के साथ, घोड़ी के दूध से बनी, चमड़े के कुप्पों में रखी शराब को पीती हुई मदहोश, अभिजात कुल की भारतीय स्त्रियाँ अपनी मनोव्यथा पर व्यंग्य सा करती हुई, हँसती हुई भी अपने नामोच्चारण मात्र से भयभीत हो जाती थीं ॥ १२४ ॥

कन्याजनोऽप्रार्थितयौवनश्रीरभुक्तसौभाग्यफला नवोढा ।
प्रौढाऽनुभूतस्मृतिमात्रसारा हृतार्यदासीः स्वपुरे निनिन्दुः ॥१२५॥

अप्रार्थितयौवनश्रीः कन्याजनः अभुक्तसौभाग्यफला नवोढा अनुभूतस्मृतिमात्रसारा प्रौढा स्वपुरे हृतार्यदासीः निनिन्दुः ॥ १२५ ॥

---

१. वडवाक्षीरनिर्मिता चर्मघटसञ्चिता भृशं मदोत्कटा सुरा । प्रायशः आरब्यदेश्याः उष्ट्रमांसेन सह इमामुत्कटमदनिर्भरां सुरां पिबन्ति ।

भारत से लूट के माल के रूप में लायी गयी भारतीय युवतियों के सौन्दर्य के कारण सुदूर मध्यएशिया तथा अन्य नगरों की पारिवारिक व्यवस्था को विचित्र झटका लगा। भारतीय सुन्दरियों पर युवक वर्ग के विशेष आकर्षण के कारण वहाँ परिवारों की सद्यःयौवना कुमारी कन्याओं के लिए वर का मिलना कठिन हो गया, उनकी यौवनश्री को चाहनेवाला दुर्लभ हो गया। नव-विवाहिता युवतियों की रातें विलासविहीन हो गयीं (उनके पति भारतीय दासियों से ही रंगरेलियाँ करने लगे)। प्रौटा महिलायें भी अपने वर्तमान को अन्धकार देखकर अतीत की सुखद स्मृतियों से ही मन बहलाने लगीं (उनके प्रौढ-स्वामी भी गुलाम दासियों को हरम में रख-कर उन्हीं को अपने अनुराग का पात्र बनाने लगे)। इस प्रकार नवयौवना कन्यायें नवयुवती वधुएँ तथा प्रौढा स्त्रियाँ एक स्वर से उन भारतीय सुन्दरियों के आगमन को कोसने लगीं ॥ १२५ ॥

हित्वाऽलकामर्तुररातिरुद्धामाशामगस्त्यस्थितिनन्दितायाम् ।
यद् दक्षिणस्यां शरणार्थिनी श्रीर्गुप्तिं ययाचे निहतैव सापि ॥१२६॥

यत् अरातिरुद्धाम् अलकामर्तुः आशां हित्वा अगस्त्यस्थितिनन्दितायां दक्षिणस्यां शरणा-र्थिनी श्रीः गुप्तिं ययाचे सा अपि निहता एव ॥ १२६ ॥

अलकापति कुबेर द्वारा पालित उत्तर दिशा (उत्तर भारत) को शत्रुबल से अवरुद्ध जानकर, लक्ष्मी ने अगस्त्य ऋषि के निवास के कारण सम्मानित दक्षिण दिशा (दक्षिण भारत) में शरण प्राप्त करने की जो कामना की, वह कामना भी विनष्ट ही हो गयी ॥ १२६ ॥

श्रीरङ्गदेवाङ्घ्रिरमस्य राज्ञो विज्ञाय तेजो रिपुदुर्विषह्यम् ।
पञ्चापि पञ्चत्वपयोदवर्षं तुरुष्कभूपाः सहसा ववर्षुः ॥१२७॥

श्रीरङ्गदेवाङ्घ्रिरमस्य राज्ञः रिपुदुर्विषह्यं तेजः विज्ञाय पञ्च अपि तुरुष्कभूषाः सहसा पञ्चत्वपयोदवर्षं ववर्षुः ॥ १२७ ॥

श्री रङ्गदेव के उपासक विजयनगर राज्य के अधिपति के शौर्य को शत्रुओं के लिए कालस्वरूप जानकर, पार्श्ववर्ती पाँच मुस्लिम राजाओं ने मिलकर अपनी सम्मिलित सेना से उन पर आक्रमण कर दिया तथा युद्ध में पाँच मेघों के समान उन्होंने पञ्चत्व (मृत्यु) की ही वर्षा कर दी ॥ १२७ ॥

महीभृतां पक्षनिपातदक्षे तस्मिन् गते वासवसख्यमाप्तुम् ।
नेपथ्यभूमिं रभसोत्सुकाऽपि सन्द्रष्टुमप्युत्सहते न लक्ष्मीः ॥१२८॥

महीभृतां पक्षनिपातदक्षे वासवसख्यम् आप्तुं तस्मिन् गते रभसोत्सुका अपि लक्ष्मीः नेपथ्यभूमिं सन्द्रष्टुम् अपि न उत्सहते ॥ १२८ ॥

महीभृतों (राजाओं या पर्वतों) के पक्ष को नष्ट करने में विख्यात (पर्वतों के पंख काटने में कुशल, पुराणों के अनुसार इन्द्र ने पूर्वयुग में पर्वतों के पंख

काटकर उन्हें स्थावर बना दिया) उस महेन्द्र विक्रम राजा के इन्द्र से मित्रता प्राप्त करने के लिए दिवङ्गत हो जाने के कारण, शृंगार करने के लिए अतिशय उत्सुक होकर भी लक्ष्मी अब नेपथ्यभूमि को ओर शोक के कारण देखना भी नहीं चाहती [ज्ञातव्य है कि बीदर, बरार, अहमदनगर, बीजापुर आदि मुसलमान रियासतों ने सहसा आक्रमण करके विजयनगर राज्य को ध्वस्त कर दिया।]॥१२८॥

निर्माणबुद्धेः परमावधिर्या शिल्पाम्बुधेर्विस्मयभूरिव श्रीः ।
तां विद्विषो विट्ठलदेवमूर्तिं धूलौ निमग्नामपि मर्दयन्ति ॥१२९॥

या शिल्पाम्बुधेः श्रीः इव विस्मयभूः निर्माणबुद्धेः परमावधिः तां धूलौ निमग्नाम् अपि विट्ठलदेवमूर्तिं विद्विषः मर्दयन्ति ॥ १२९ ॥

जो शिल्पकला के समुद्र से विस्मय उत्पन्न करनेवाली लक्ष्मी के समान आविर्भूत हुई थी, जो निर्माण की, उत्कृष्ट कला की पराकाष्ठा थी, विट्ठलदेव की उस प्रतिमा को धूल में मिलाकर भी शत्रु उसका मर्दन करते हैं ॥ १२९ ॥

अद्यापि [1]रामस्य विपक्षदुर्गे मूर्धाभिषिक्तस्य निकृत्तमूर्धा ।
प्रत्युत्तरं लब्धुमिवार्यभूमेः प्रतीक्षते तीर्णतनुज्वरोऽपि ॥१३०॥

अद्य अपि विपक्षदुर्गे मूर्धाभिषिक्तस्य रामस्य निकृत्तमूर्धा तीर्णतनुज्वरः अपि आर्यभूमेः प्रत्युत्तरम् इव लब्धुं प्रतीक्षते ॥ १३० ॥

मूर्धाभिषिक्त नरेश राम राजा का कटा हुआ शिर आज भी शत्रु के किले में टंगा हुआ शारीरिक हर्ष-शोक से सर्वथा मुक्त होकर भी भारतीयों के प्रत्युत्तर की मानो प्रतीक्षा कर रहा है [पराजित रामराजा के कटे हुए सिर को विजय चिह्नस्वरूप शत्रु ने अपने किले में टँगवा रखा था। अँग्रेजों ने भारत पर अधिकार कर लेने के बाद उस जुगुप्सित, दानवीय प्रकरण का अन्त कर दिया, उसे हटा दिया।] ॥ १३० ॥

[2]सन्ध्याविधिं पालयतां द्विजानां पातः प्रदीप्तार्चिषि धूमयोनौ ।
मोहेऽपि मां दुर्ललितक्षणार्धे शूलाकरोति स्मृतिमात्रसंज्ञाम् ॥१३१॥

सन्ध्याविधिं पालयताम् द्विजानां प्रदीप्तार्चिषि धूमयोनौ पातः दुर्ललितक्षणार्धे मोहे अपि स्मृतिमात्रसंज्ञां मां शूलाकरोति ॥ १३१ ॥

हवन, सन्ध्या आदि आह्निक कृत्यों को मनाने में व्यस्त ब्राह्मणों को जलती हुई आग में भूनकर मार डालना ऐसा हृदयद्रावक दृश्य है कि सुध-बुध भुला

१. रामनृपस्य विजयनगरभूभृतो निकृत्तं शिरः शत्रुदुर्गद्वारे बहुकालं रक्षितमासीद् विजयलक्ष्मभूतम् । भारतविजयानन्तरमांग्लैः तत् कुत्सितं दृश्यम् व्यपाकृतम् ।

२. देहलीसमीपे पर्वावसरे देवयजनरताः द्विजाः फिरोजतुगलकेन दिल्लीपतिना वह्नौ निपातिताः कथावशेषतामिताः ।

देनेवाली क्षणिक अचेतावस्था में भी स्मृतिमात्र शेष मेरे अस्तित्व को बींध डालता है [तुगलक बादशाह फिरोज के शासनकाल में दिल्ली के पास पर्वविशेष पर एकत्र हवन-सन्ध्या आदि धार्मिक अनुष्ठानों में लगे भारतीय हिन्दुओं को बादशाह की आज्ञा से प्रदीप्त आग में जला डाला गया था ।] ॥ १३१ ॥

मिथ्याकथाराधितदम्भलीला निरङ्कुशाक्षिप्तजनप्रसादाः ।
राज्यावलेपाऽऽमयमुद्रिताक्षा आर्याधिपाः स्वार्जितमश्नुवन्ति ॥१३२॥

मिथ्याकथाराधितदम्भलीलाः निरङ्कुशाक्षिप्तजनप्रसादाः राज्यावलेपामयमुद्रिताक्षाः आर्याधिपाः स्वार्जितम् अश्नुवन्ति ॥ १३२ ॥

झूठी चाटुकारिता से अपने दम्भ को बढ़ावा देते हुए, निर्द्वन्द्व होकर लोक-रञ्जन की उपेक्षा करते हुए, राज्यमद की बीमारी से बन्द आँखोंवाले (राज्यमद-रूपी लेप से जिनकी दृष्टि नष्ट हो गयी है । वे) आर्य नृपति अपने किये का फल भोगते हैं ॥ १३२ ॥

उपेक्ष्य शीतांशुमिषेण मोहाज्जनो ललाटन्तपमुष्णरश्मिम् ।
प्रस्वेदलेखां प्रसभं पतन्तीमपि क्षमः किं विनिवारणाय ॥१३३॥

जनः ललाटन्तपम् उष्णरश्मिं मोहात् शीतांशुमिषेण उपेक्ष्य, प्रसभं पतन्तीं प्रस्वेदलेखाम् अपि विनिवारणाय सः क्षमः किम् ? ॥ १३३ ॥

ललाट को तपानेवाले प्रखर किरणों से युक्त सूर्य को कोई शीतरश्मि चन्द्रमा मानकर भले ही उसकी उपेक्षा करे, किन्तु तेजी से गिरती हुई पसीने के धारा को भला वह व्यक्ति किस प्रकार रोक सकता है ! [आर्यनरेश अपने मन से अपने को कुछ भी समझें यथार्थ को वे कैसे छिपा सकते हैं !] ॥ १३३ ॥

अगाधतोयासु महानदीषु कूपेषु वा दृष्टरसातलेषु ।
नृपाधमास्ते कथमाननन्दुर्दृष्टिं वधूनामिति विस्मयो मे ॥१३४॥

अगाधतोयासु महानदीषु, दृष्टरसातलेषु कूपेषु वा (सत्सु) ते नृपाधमाः वधूनां दृष्टिं कथम् आननन्दुः इति मे विस्मयः ॥ १३४ ॥

अगाध जल से भरी अनेक नदियों के रहते हुए अथवा पातालगामी (जिनका जल कभी भी समाप्त न हो) कूपों के रहते हुए भी उन नीचकर्मा राजाओं ने किस प्रकार अपनी पत्नियों को अपना मुँह दिखाया यही मुझे विस्मित कर रहा है [वे अभागे नदी वा कूएँ में डूबकर मर क्यों न गये ?] ॥ १३४ ॥

प्रायः प्रतीपाचरणं जनानां हठावतारैर्विनिवारयन्ती ।
मन्ये प्रभूणां कुटिलारुणाक्षं द्रष्टुं वराकी त्रपते त्रपैव ॥१३५॥

प्रायः हठावतारैः जनानां प्रतीपाचारणं विनिवारयन्ती वराकी त्रपा एव प्रभूणां कुटिलारुणाक्षं द्रष्टुं त्रपते (इति) मन्ये ॥ १३५ ॥

[ऊपर के श्लोकों में व्यक्त की गयी शङ्का का समाधान स्वयं स्वतन्त्रता देवी कर रही हैं] लगता है, जो लज्जा सामान्य लोगों के विपरीत आचरणों को बार-बार अवतरित होकर रोक देती है, वैभवशाली राजाओं के कुटिल लाल नेत्रों के सम्मुख जाने में वह बेचारी स्वयं लजा जाती है ॥ १३५ ॥

आसिन्धु शैलादनुशास्य कृत्स्नां क्षोणीमपि क्षुब्धमनोरथाऽसौ ।
किमेकतन्त्राऽपि कदापि दिल्ली [1]सङ्ग्रामनप्त्राऽऽत्मवता ववन्दे ॥१३६॥

शैलात् आसिन्धु कृत्स्नां क्षोणीम् अपि अनुशास्य एकतन्त्रा अपि क्षुब्धमनोरथा असौ दिल्ली आत्मवता संग्रामनप्त्रा ववन्दे किम् ? ॥ १३६ ॥

हिमालय से समुद्र तक सम्पूर्ण भारत भूमि पर अपना आधिपत्य रखकर शासन करने पर भी विकल-मनोरथवाली वह दिल्ली क्या कभी संग्रामसिंह के नाती (पौत्र) को अपने सामने झुका सकी ? [राणा संग्रामसिंह के नाती हल्दीघाटी के महान् वीर राणा प्रताप थे ।] ॥ १३६ ॥

पर्णाशनो रौद्रगुहानिकेतो वनार्हवासा विपदध्वगोऽपि ।
दास्यार्जितैश्वर्यकलङ्कशक्तान् बाप्पान्वयो द्रष्टुमपीहते किम् ॥१३७॥

पर्णाशनः रौद्रगुहानिकेतः वनार्हवासाः विपदध्वगः अपि बाप्पान्वयः दास्यार्जितैश्वर्य-कलङ्कशक्तान् (नृपान्) द्रष्टुम् अपि ईहते किम् ॥ १३७ ॥

(स्वतन्त्रता के लिए) घास-पात खाकर जीवन बितानेवाले, घोर कन्दराओं में निवास करते हुए वनवासियों के वस्त्रों में लिपटी विपत्ति को ही मार्ग मानकर सङ्कल्प-पूर्वक चलते हुए, बाप्पारावल के वंशधर (राणा प्रताप) उन गुलामी के जूठनवाले वैभवों की कालिमा से दूषित दिल्ली के अनुचर राजाओं को देखना भी नहीं चाहते ॥ १३७ ॥

सन्ताप्य यं भूरिभटोऽपि जेता निसर्गशौर्यप्रतिमं समीके ।
जयश्रिया क्लीब इव प्रसह्य दृष्ट्वैव मुक्तस्तदनन्यगत्या ॥१३८॥

भूरिभटः जेता निसर्गशौर्यप्रतिमं यं समीके सन्ताप्य अपि, दृष्ट्वा एव तदनन्यगत्या जयश्रिया क्लीब इव प्रसह्य मुक्तः ॥ १३८ ॥

सही है कि दिल्ली के पास शक्तिशाली अनन्त सेना थी । अकबर ने राणा-प्रताप को सब तरह से विकल करना चाहा, किया, युद्ध में सहजशौर्य के अवतार

---

१. सिसोदियाकुलभास्करः प्रथमः स्वातन्त्र्यरसिकानां राणा प्रतापः स्वजीवनमव सर्मपितवान् स्वातन्त्र्यसंघर्षयागे । दिल्लीपतिमक्कवरं भजत्सु भारतीयभूपालेषु स्वल्पबलोऽपि सहायरहितोऽपि भारतीयादर्शसम्पन्नो वीरकेसरी भोगैश्वर्यादपि स्वजीवनादपि श्रेयांसं मेने स्वातन्त्र्यमार्गम् । नियतिरपि परीक्षितुमिव तद्धृतिं ज्ञातुमिवतदुत्साहं सर्वथा प्रतीपगा तस्थौ । तथापि सङ्कल्पितप्राणो नृपः स्वराज्यमवाप्य सदुत्साहेनशत्रोरपि श्लाघ्यतां लेभे ।

उस प्रताप को पराजय भी मिली। किन्तु राणाप्रताप में सर्वतोभावेन अनुरक्त विजयलक्ष्मी ने देखते ही अकबर को नपुंसक के समान निर्वीर्य समझकर त्याग दिया ॥ १३८ ॥

सुखत्रियामां कुलजोपहारैर्भजत्सु जोषं - नृपधूर्वहेषु ।
एकोऽपि यो नग्नशिलातलस्थो निद्रादरिद्रां कुरुतेस्म दिल्लीम् ॥१३९॥

कुलजोपहारैः सुखत्रियामां जोषं भजत्सु नृपधूर्वहेषु नग्नशिलातलस्थः एकः अपि यः दिल्लीं निद्रादरिद्राम् कुरुतेस्म ॥ १३९ ॥

दिल्लीपति को अपनी बेटियाँ सौंपकर जब वृषभ-भूपाल चुपचाप वैभवपूर्ण रात्रियों का सुख भोग रहे थे तब नग्न शिलाखण्ड पर आसन मारे उस एक (राणा) ने दिल्ली की नींद हराम कर दी ॥ १३९ ॥

दिल्लीशदुस्तीर्णपयोधिपूरे मज्जत्सु भूपेषु सहावरोधैः ।
सैषो हि तद् गोष्पदसन्निकाशादसिद्वितीयोऽप्यधिकन्न मेने ॥१४०॥

दिल्लीशदुस्तीर्णपयोधिपूरे अवरोधैः सह मज्जत्सु भूपेषु असिद्वितीयः सः एषः तत् गोष्पदसन्निकाशात् अपि अधिकं न मेने ॥ १४० ॥

दिल्लीपतिरूपी दुस्तर समुद्र में जब अपने रनिवासों के साथ राजागण डूब रहे थे तब भी उसी एक ने केवल अपनी तलवार मात्र का भरोसा रखते हुए भी उस महासमुद्र को गाय के खुर से अधिक महत्त्व नहीं दिया ॥ १४० ॥

बलिं[1] हरिश्चन्द्रमुताङ्गराजं प्रायो निशम्याऽपि जितामरद्रून् ।
विस्रम्भभावो यदि तेषु बुद्धेर्हेतुस्तदेको ननु भामशाहः ॥१४१॥

प्रायः जितामरद्रून् बलिं हरिश्चन्द्रम् उत अङ्गराजं निशम्य अपि यदि तेषु बुद्धेः विस्रम्भभावः तत् भामशाहः ननु एकः हेतुः ॥ १४१ ॥

दैत्यराजबलि, राजा हरिश्चन्द्र या अङ्गराज कर्ण आदि दानवीरता में कल्पवृक्ष को भी लज्जित करनेवाले दानवीरों की कीर्तिगाथा सुनकर भी यदि उन

---

१. बलिः दानवराजः—वामनाय विष्णुरूपिणे स्वराज्यं त्रैलोक्यमपि ददता त्रिविक्रमाय स्वपृष्ठमपि पुरस्कृत्य प्रतिज्ञाभङ्गभीरुणा बन्धनमपि स्वीकृतम् ।

राजा हरिश्चन्द्रः—स्वप्नेऽपि महर्षये विश्वामित्राय सङ्कल्पितं राज्यं जाग्रता तथाविधाय दक्षिणा द्रव्याय स्वभार्यां पुत्रमात्मानञ्च न्यासीकृत्य प्रसादितो महर्षिः ।

अङ्गराजः कर्णः—आत्मनोऽजेयतां जन्मजातकवचकुण्डलस्थितां जानन्नपि प्राग्धायातिथये छद्मरूपिणे शक्राय कवचं कुण्डले च प्रदाय, मात्रे पृथायै पञ्चबाणानपि दत्त्वा मृत्योरपि श्लाघ्यतरं स्वयशो मेने ।

भामाशाहः - विफलतां गतवति बहुविधप्रयत्ने राजस्थानं विहाय दूरतरं देशं जिगमिषौ राणाप्रतापे भामाशाहो राजकुलसचिवः सप्रश्रयं सबहुमानमात्मकोषं सैन्यसङ्ग्रहाय दत्त्वा प्रतापं रुरोध । तदनन्तरं तेनैव धनेन नवसैन्ययुतः प्रतापः स्वराज्यं लब्धवान् ।

आख्यानों में बुद्धि को विश्वास होता है तो उसके एकमात्र कारण निश्चित ही भामाशाह हैं ॥ १४१ ॥

मिष्टान्नगन्धेन[1] पिपीलिकेव विभूतिघोषेण विलोलदृष्टिः ।
कैवर्तसूतिस्तरसाऽधिकर्तुं समीहते पात्रमपि प्रसह्य ॥१४२॥

मिष्टान्नगन्धेन पिपीलिका इव विभूतिघोषेण विलोलदृष्टिः कैवर्तसूतिः प्रसह्य पात्रम् अपि तरसा अधिकर्तुम् समीहते ॥ १४२ ॥

जिस प्रकार मिष्टान्न की गन्ध पाकर चींटी उस स्थान पर आ जाती है वैसे ही भारत की सम्पत्ति का यश सुनकर दूर देश से लुब्ध दृष्टिवाली मल्लाहों की सन्तान शीघ्रतापूर्वक सम्पत्ति के साथ-साथ उस पात्र को (भारतवर्ष को) भी आत्मसात् करना चाह रही है ॥ १४२ ॥

इमानुपेक्ष्यानपि[2] पोर्तुकालान् सर्वंसहाऽपि क्षमते न वोढुम् ।
ये दासवाणिज्यजुषोऽपि धूर्ताः स्ववेधसञ्चापि विडम्बयन्ति ॥१४३॥

उपेक्ष्यान् अपि इमान् पोर्तुकालान् सर्वंसहा अपि वोढुं न क्षमते, दासवाणिज्यजुषः अपि ये धूर्ताः स्ववेधसं च अपि विडम्बयन्ति ॥ १४३ ॥

इन उपेक्षणीय पोर्तुकालों (पुर्तगालियों) को सर्वंसहा (सब कुछ सहने-वाली) पृथ्वी भी सहन नहीं करना चाहतीं। गुलामों का व्यापार करनेवाले ये धूर्त अपने इस कर्म द्वारा अपने बनानेवाले ईश्वर की भी विडम्बना कर रहे हैं। [अफ्रीका महाद्वीप के नीग्रो लोगों को फुसलाकर बलपूर्वक जहाजों पर लादकर दूर देशों में ले जाकर गाय-बैलों को तरह बेचा जाता था—यह व्यापार मुख्यतः पुर्तगाल-निवासो ही करते थे। जब अमेरिका को श्रमिकों की आवश्यकता पड़ी तब दास-व्यापार तेजी से पनप उठा। अनेक सभ्यनामधारी यूरोपीय देश इस धन्धे में लग गये। इसी दास-व्यापार को समाप्त करने के लिए महान् अमेरिकी राष्ट्रपति अब्राहमलिंकन को अपना बलिदान करना पड़ा (१८६५ ई०)।] ॥ १४३ ॥

रसैकवृत्तिर्मधुपो यथायं सङ्घस्तु वैदेशिकनैगमानाम् ।
क्रूरं क्षते क्षारमिव प्रयुङ्क्ते कृत्यैरमीष्टात्मपथानुकूलैः ॥१४४॥

रसैकवृत्तिः मधुपः यथा वैदेशिकनैगमानाम् अयंसङ्घः तु अमीष्टात्मपथानुकूलैः कृत्यैः क्षते क्षारम् इव क्रूरं प्रयुङ्क्ते ? ॥ १४४ ॥

---

१. पाश्चात्त्या व्यवसायार्थमेवागताः, किन्तु दुर्बलतन्त्रमवेक्ष्य भारतं भेदनीत्या शासकान् मिथः संयोध्य राज्यमपि विस्तारयामासुः ।

२. पोर्तुकालाः—पुर्तगालदेशनैगमाः । 'वास्को दि गामा' पाश्चात्त्यानां प्रथमो यः समुद्रमार्गेण पोतमारुह्य भारतभुवं महादुःखमनुभूय प्राप्तः (१४९८ ई०) ।

रस के लोभी भौंरों के समान विदेशी व्यापारियों का यह समुदाय अपनी इष्टसिद्धि के अनुरूप कार्यों द्वारा कटे पर नमक डाल रहा है ॥ १४४ ॥

पयोऽग्निगर्भं हिमशीतमग्निमदग्धरोमाणमपीद्धहेतिम् ।
प्रायोऽभिनीयार्जवविस्मिताक्षान् मयात्मजा धर्मपथाद् हरन्ति ॥१४५॥

अग्निगर्भं पयः इद्धहेतिम् अपि अदग्धरोमाणं हिमशीतम् अग्निं प्रायः अभिनीय मयात्मजाः आर्जवविस्मिताक्षान् धर्मपथात् हरन्ति ॥ १४५ ॥

पानी में आग लगाकर, अग्नि को प्रदीप्त कर रोयाँ तक जलाने में असमर्थ दिखाकर विभिन्न अभिनयों से ये सरलस्वभाववाली जनता को छलपूर्वक धर्मपरिवर्तन के लिए भी उत्साहित करते हैं [पेट्रोल, बारूद, विविध रसायन आदि के प्रयोग से पानी में आग लगाना, आग में न जलना आदि का प्रदर्शन चमत्कारिक था ।] ॥ १४५ ॥

वरावरस्थूलविभागमार्गे पादूकृदाचारवती प्रजाः या ।
त्वग्वर्णभेदेन विभज्य धत्ते पाश्चात्यधीः सा धुरि धातृसर्गे ॥१४६॥

पादूकृदाचारवती या त्वग्वर्णभेदेन प्रजाः विभज्य वरावरस्थूलविभागमार्गं धत्ते सा पाश्चात्यधीः धातृसर्गे धुरि (वर्तते) ॥ १४६ ॥

चमड़ी के रंग को भिन्नता का आधार मानकर चर्मकार के समान ऊँच-नीच का कुत्सित भेद करनेवाली पाश्चात्य बुद्धि सचमुच ब्रह्मा की सम्पूर्ण सृष्टि में निराली है ॥ १४६ ॥

नूनं विचित्रः परमेश्वरोऽसौ यस्यानुगा बिभ्रति दृष्टिमेनाम् ।
पूर्वर्षयस्ते नियतं विमूढा येषामभेदान्वयसम्पदात्मा ॥१४७॥

नूनं विचित्रः असौ परमेश्वरः यस्य अनुगाः एनां दृष्टिं बिभ्रति, येषाम् आत्मा अभेदान्वयसम्पत् ते पूर्वर्षयः नियतम् विमूढाः ॥ १४७ ॥

विचित्र है वह ईश्वर, जिसके उपासक इस प्रकार की रंगभेदमयी दृष्टि रखते हैं। अब तो यह कहना होगा कि पहले के सर्वद्रष्टा ऋषि-मुनि सचमुच बुद्धिहीन थे क्योंकि उन्होंने आत्मा को अभेदान्वयलक्षणलक्षित मान रखा था। उनके अनुसार आत्मा अभेद में अद्वैत में, प्रतिष्ठित है। जब तक आत्मा भेदबुद्धि के आवरण से ढका रहेगा, बन्धन में ही रहेगा ॥ १४७ ॥

सितासिताचारवती प्रतीची शोच्यैव सद्भिस्तिमिरौघदृष्टिः ।
अकारणास्पृश्यकलङ्कपङ्का प्राची तु गर्ते पतितैव घोरे ॥१४८॥

सितासिताचारवती तिमिरौघदृष्टिः प्रतीची सद्भिः शोच्या एव, अकारणास्पृश्यकलङ्कपङ्का प्राची तु घोरे गर्ते पतिता एव ॥ १४८ ॥

काले-गोरे का भेद रचनेवाली, अन्धकारपूर्ण दृष्टिवाली पश्चिमी सभ्यता सज्जनों की दृष्टि में अति शोचनीय है। और पूर्व को क्या कहा जाय, पूरब तो

अकारण किसी को अस्पृश्य बताकर कलंक के पंक से भरे कुण्ड में पतित ही हो गया है ॥ १४८ ॥

गन्धानुगैरम्बुधिसारमेयैर्दष्टा विषभ्रान्तधियोऽधुना ते ।
विदेशजाता इव देशपुत्राः प्रतीपमेवानुचरन्ति वर्त्म ॥१४९॥

गन्धानुगैः अम्बुधिसारमेयैः दष्टाः विषभ्रान्तधियः ते देशपुत्राः अधुना विदेशजाता इव प्रतीपं एववर्त्म अनुचरन्ति ॥ १४९ ॥

गन्ध द्वारा पता लगाने में दक्ष इन समुद्री कुत्तों ने जिन्हें काट लिया वे इनके दन्तविष से भ्रान्तबुद्धि होकर स्वदेश में जन्म लेकर भी विदेशी के समान उलटे प्रतिषिद्ध मार्ग को ही अपनाते हैं [प्रवृत्तिमूलक पाश्चात्त्य संस्कृति स्वाभाविक अतएव रुचिकर लगती है किन्तु भारतीय संस्कृति इन लौकिक प्राप्तियों को साधन के रूप में स्वीकारती हुई उच्चतर साध्य के लिए अपने आपको समर्पित मानती है। अस्तु, निवृत्तिमूलक भारतीय संस्कृति विवेक पर प्रतिष्ठित है।] ॥ १४९ ॥

स्वकण्ठसंश्लेषवरे निषादमथो दशास्यं दशकण्ठपाते ।
निबध्नताऽऽर्यप्रथितव्रतेन लोकव्यवस्थैव पुनर्निबद्धा ॥१५०॥

निषादं स्वकण्ठसंश्लेषवरे अथो दशास्यं दशकण्ठपाते निबध्नता आर्यप्रथितव्रतेन लोकव्यवस्था एव पुनः निबद्धा ॥ १५० ॥

आर्य आदर्श के महान् व्रती भगवान् राम ने निषादराज को अपने कण्ठ से लगाकर तथा रावण के दशों शिरों को काटकर, वस्तुतः दोनों कार्यों को समान रूप से महत्त्व दिया—इन दोनों ही कामों द्वारा उन्होंने लोकव्यवस्था को ही पुनः स्थापित किया [आर्यपद्धति सर्वजनहित में श्रद्धा रखती है क्योंकि यही लोक है तथा लोकव्यवस्था की प्रतिष्ठा ही सर्वजनहित का व्रत लेती है।] ॥ १५० ॥

निसर्गतो लोकजुषां प्रसूता इमे कथं कश्मलपङ्कपूरे ।
विडम्बयन्ति प्रसभं निपत्य स्वयं स्वपूर्वान् सह भाविभिश्च ॥१५१॥

निसर्गतः लोकजुषां प्रसूताः इमे कश्मलगर्तपूरे प्रसभं निपत्य कथं भाविभिः सह स्वपूर्वान् स्वयं च विडम्बयन्ति ॥ १५१ ॥

लोकसेवियों के वंशधर होकर भी ये किस प्रकार पापपूर्ण गर्त में अपने साथ ही साथ पूर्वजों तथा भावी सन्तानों को भी गिराकर अपनी निन्दा करा रहे हैं ॥ १५१ ॥

अहो सहस्राक्षविलोभिभोगान् श्रमोऽवचित्याऽपि धरान्तरालात् ।
क्षुत्क्षामकण्ठो म्रियते वराको विधाय भैक्ष्याध्वजुषः स्वजातान् ॥१५२॥

अहो, धरान्तरालात् सहस्राक्षविलोभिभोगान् अवचित्य अपि वराकः श्रमः स्वजातान् भैक्ष्याध्वजुषः विधाय क्षुत्क्षामकण्ठः म्रियते ॥ १५२ ॥

आश्चर्य है कि पृथिवी के गर्भ से अपने श्रम द्वारा, सहस्र नेत्रोंवाले देवराज इन्द्र को भी विस्मित करनेवाले भोग-वैभवों को उत्पन्न करके भी वह किसान तथा वह श्रमिक भूख-प्यास से तड़प कर मरता है तथा अपने पीछे अपने उन अनाथ बच्चों को छोड़ जाता है जिन्हें दर-दर भिक्षा माँगकर ही जीवन गुजारना है। [जागीरदारी प्रथा ने किसानों तथा श्रमिकों के सामाजिक महत्त्व को नष्ट करना आरम्भ कर दिया था।] ॥ १५२ ॥

अलं प्रलापेन कथा किमेषा व्यथाप्रसूतिः कथनैर्व्यपैति।
सूक्ष्माब्दरेखाऽपि नभस्यवातैराच्छादयत्यम्बरमप्यसीमम् ॥१५३॥

प्रलापेन अलम्, व्यथाप्रसूतिः एषा कथा कथनैः व्यपैति किम् ? नभस्यवातैः सूक्ष्मा अब्दरेखा अपि असीमम् अपि अम्बरम् आच्छादयति ॥ १५३ ॥

कहाँ तक प्रलाप करूँ। व्यथा से भरी यह गाथा क्या कहने से समाप्त हो जायगी ! आकाश के एक कोने में टिका हुआ बादल का एक तुच्छ टुकड़ा भी भादों के पवन का स्पर्श पाकर अनन्त आकाश को भी आच्छादित कर लेता है [भाव यह है कि थोड़ा भी दुःख सहानुभूति का प्रश्रय पाकर उमड़ पड़ता है, फिर सुदीर्घ-कालीन परतन्त्रता की व्यथा का क्या कहना है !] ॥ १५३ ॥

मुहुर्मुहुर्याऽङ्कुरिताऽपि चित्ते हठाद् दुराशा निहता तदैव।
मनोरथं गूढसमाधिलीना न स्प्रष्टुमप्युत्सहतेऽधुना सा ॥१५४॥

चित्ते मुहुः मुहुः अङ्कुरिता अपि या दुराशा तदा एव हठात् निहता, गूढसमाधि-लीना सा अधुना मनोरथं स्प्रष्टुम् अपि न उत्सहते ॥ १५४ ॥

बार-बार अवसर देखकर मन में अंकुरित होकर भी दुर्भाग्यग्रस्त आशा उसी क्षण निराशा में परिवर्तित हो गयी। अब अचल समाधि में विलीन होकर वह हृदय मनोरथ को छूने का भी उत्साह खो चुकी है [सदियों से स्वतन्त्रता प्राप्त करने की आशा बार-बार प्रताडित हो अब निराशा में बदल गयी है। अब कोई मनोरथ अपनी उपस्थिति से आशा को पुनरुज्जीवित नहीं कर सकता।] ॥ १५४ ॥

न भागधेयं सुखदुःखयोस्तन्मिलत्स्वभावं निखिलस्य जन्तोः।
प्रायेण दैवो हतभाग्यमेव रुषा निबध्नाति दुरन्तबन्धे ॥१५५॥

सुखदुःखयोः मिलत्स्वभावं तत् भागधेयं निखिलस्य जन्तोः न, प्रायेण दैवः हतभाग्यम् एव दुरन्तबन्धे रुषा निबध्नाति ॥ १५५ ॥

यों तो साधारणतया जीवन में सुख-दुःख दोनों घुले-मिले हैं। कभी सुख, तो कभी दुःख। यह चक्र सदैव ऊपर-नीचे चलता रहता है। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति के लिए इतना भी निश्चित नहीं। अनेक ऐसे भाग्यहीन व्यक्ति होते हैं जिनके जीवन में सुख का क्षण दुर्लभ हो जाता है। दैव भी प्रायः हतभाग्यों को ही अपने क्रोध का शिकार

बनाता है, मरे हुए को मारता है [देवी का अभिप्राय यह है उनका जीवन केवल दुःखानुभूति के ही लिए है उसमें सुख का लेश भी नहीं है।] ॥ १५५ ॥

स्वतन्त्रताप्राणमुषामरीणां श्रेयान् विधाताय विधिश्शठोऽपि।
केदारसंहारमवेक्ष्य कोऽसौ जालम्मृगेभ्यो न जनस्तनोति ॥१५६॥

स्वतन्त्रताप्राणमुषाम् अरीणाम् विधाताय शठः अपि विधिः श्रेयान्। केदारसंहारम् अवेक्ष्य असौ कः जनः मृगेभ्यः जालं न तनोति ? ॥ १५६ ॥

स्वतन्त्रता का हरण करनेवाले शत्रुओं के विनाश के लिए शठतापूर्ण उपाय भी श्रेयस्कर है, निर्दोष है। स्वातन्त्र्य का विनाश करनेवाला आततायी है। किसी भी उपाय से उसका वध न्यायपूर्ण ही है। अपनी हरी-भरी खेती को उजड़ी देखकर (मृगों के झुण्ड से चरी हुई देखकर) हरिणों को फँसाने के लिए कौन व्यक्ति जाल नहीं लगाता ? [यह सत्य ही है कि किसान को मृगकुल से कोई वैर नहीं है किन्तु जब आजीविका ही संकटापन्न होने लगे तो मृगों के लिए जाल तो बिछाना ही पड़ेगा।] ॥ १५६ ॥

पराङ्गनाशीलहरावतारं[1] गुप्तावरोधस्पृहमार्यभूमौ।
पुराङ्गनावेषधरः शकेशं नाशिक्षयत् किं भटचन्द्रगुप्तः ॥१५७॥

कुलाङ्गनाशीलहरावतारं गुप्तावरोधस्पृहं शकेशं पुरा आर्यभूमौ अङ्गनावेषधरः भटचन्द्रगुप्तः न अशिक्षयत् किम् ? ॥ १५७ ॥

दूसरों की स्त्रियों के शीलहरण के लिए अवतरित-गुप्त राजाओं के अन्तःपुर की रानियों की अभिलाषावाले शकराज को, शताब्दियों पहले, स्त्री का छद्मवेष धारण कर क्या वीर चन्द्रगुप्त ने मार नहीं डाला ? [रामगुप्त की पट्टमहिषी ध्रुवस्वामिनी की प्राप्ति को सन्धिपत्र का प्रथम सूत्र बनानेवाले विजेता शकराज को रात्रि में उसके शिविर में स्त्री वेष में जाकर चन्द्रगुप्त ने मार डाला।] ॥ १५७ ॥

सम्भुज्यमानाऽपि जनेन नित्यं लोकेऽनवाप्तस्वपदप्रतिष्ठा।
या पण्यनारीव वपुर्बिभर्ति धिक् तां भुवं तां प्रियवल्लभाञ्च ॥१५८॥

जनेन नित्यं सम्भुज्यमाना अपि लोके अनवाप्तस्वपदप्रतिष्ठा पण्यनारी इव या वपुः बिभर्ति ताम् प्रियवल्लभां ताम् भुवं च धिक् ॥ १५८ ॥

पुरुष से नित्य उपभुक्त होकर, उसके कामोपभोग के लिए अपना तन-मन समर्पण करके भी जो नारी पत्नीत्व की उचित प्रतिष्ठा से भी वञ्चित रहती है, केवल

---

१. दिवङ्गते समुद्रगुप्ते महानृपतौ, निर्वीर्यं रामगुप्तं युद्धे पराजित्य सन्धिव्याजेन विजेता शकराजः तद्भार्यां पट्टमहिषीं ध्रुवस्वामिनीमङ्कशायिनीं कर्तुमाग्रहवान् बभूव। क्लीबो रामगुप्तोऽपि तथेति स्वीचकार प्रस्तावम्। किन्तु तदनुजश्चन्द्रगुप्तः ध्रुवस्वामिनीमनुगच्छन् स्त्रीवेषः शकशिबिरं तं कामलम्पटं छुरिकया हतवान्, पराजिता शकसेनाऽपि प्रणष्टा।

उपभोग के लिए ही अस्तित्व धारण करती है उस प्रियवल्लभा को (अपने को भ्रम-वश पति-प्राणा समझनेवाली को) धिक्कार है, वह केवल वेश्या है। उसी प्रकार जिस धरती का हर प्रकार से अपनी सुख-सुविधा के लिए उपयोग किया जाय फिर भी उसे उसका प्राप्य न मिले, वह स्वतन्त्र धरती की प्रतिष्ठा न पाये उस पृथिवी को भी धिक्कार है ॥ १५८ ॥

प्रायो विदेश्यैर्विजितः पुराऽपि प्रतिष्ठितात्मा सततं स्वदेशः ।
जिष्णूनपि स्वाध्वरमान् विधाय पुत्रानिवानन्यतमान् पुपोष ॥१५९॥

प्राय. पुरा अपि विदेश्यैः विजितः प्रतिष्ठितात्मा स्वदेशः जिष्णून् अपि सततं स्वाध्वरमान् विधाय अनन्यतमान् पुत्रान् इव पुपोष ॥ १५९ ॥

पहले भी विदेशियों से यह देश पराजित हुआ था किन्तु विजयी विदेशी दल इस देश की जीवन-पद्धति को अपनाकर स्वयं को इसमें निमग्न करके इसका अभिन्न अंग बन गया। अन्य नागरिकों के समान उन विदेशियों को भी देश ने सहज भाव से अपना उत्तराधिकारी समझा। किन्तु यहाँ इस समय ऐसी बात नहीं है। विजेता स्वयं को भिन्नवर्गीय मानकर देशवासियों को निकृष्ट मानता है। यहाँ की जीवन-पद्धति से द्वेष करता है, न्याय के स्थान पर अन्याय करता है, रक्षा के नाम पर संहार करता है ॥ १५९ ॥

शीलच्छदाः स्निग्धमनोभिरामाः स्वस्थोरसोऽसंस्तुतभीतिबन्धाः ।
सौधे वने वर्त्मनि वा तदानीं पार्श्वं पतीनामभजन् शुभाङ्ग्यः ॥१६०॥

शीलच्छदाः स्निग्धमनोऽभिरामाः स्वस्थोरसः असंस्तुतभीतिबन्धाः शुभाङ्ग्यः तदानीं सौधे वने वर्त्मनि वा पतीनाम् पार्श्वम् अभजन् ॥ १६० ॥

उस समय आत्मशील के कवच से सुरक्षित (लम्बा घूँघट व्यर्थ था) आकर्षक सौन्दर्यमयी स्वस्थ मनवाली, भय के बन्धन से सर्वथा अपरिचित कुलधुवएँ घर में, वन में या मार्ग में अपने पतियों के साथ कहीं भी निर्भय घूम सकती थीं। सभ्यता तथा संस्कृति जब स्वभावतः जीवन-पद्धति का अविभाज्य अंग बन जाती है तब समाज से आशंका, अविश्वास आदि दूर हो जाते हैं, एक राष्ट्रिय चरित्र निखर-कर सामने आ जाता है। किन्तु जहाँ पशुता, निरंकुशता, निर्बलता पर हावी हो जाये वह समाज सौन्दर्य, शील एवं सम्पत्ति की रक्षा के जिए सतत आशंकित रहता है ॥ १६० ॥

विवेकमार्गेण विधिप्रबन्धमाराध्य निक्षिप्तपुराणकन्थाः ।
आर्याः स्वभाग्यान्यलिखन् स्वशौर्यैर्निसर्गमुक्ता अपि लोकनिष्ठाः ॥१६१॥

विधिप्रबन्धं विवेकमार्गेण आराध्य निक्षिप्तपुराणकन्थाः निसर्गमुक्ताः अपि लोकनिष्ठाः आर्याः स्वशौर्यैः स्वभाग्यानि अलिखन् ॥ १६१ ॥

विवेकप्रतिष्ठ विधि-विधान का पालन करनेवाले, अनुपयुक्त रूढिमूलक गुदड़े को दूर फेंककर भारतीयों ने अपने सङ्कल्पपूर्ण उद्योग से अपना निर्माण किया। स्वभावतः निर्बन्ध होते हुए भी वे लोकहित की भावना से सम्बद्ध थे ॥ १६१ ॥

शक्तिप्रकर्षोद्यमसेवमाना नाशाय जातेर्नहि युद्धभूमिः ।
सत्पद्धतिं यद्यहिताभियोगो भावस्थिरां नोत्सहते निहन्तुम् ॥१६२॥

शक्तिप्रकर्षोद्यमसेवमाना युद्धभूमिः जातेः नाशाय नहि, यदि अहिताभियोगः भावस्थिराम् सत्पद्धतिं निहन्तुं न उत्सहते ॥ १६२ ॥

युद्धभूमि तो शक्ति के प्रकर्षपूर्ण उद्योग के चमत्कार का क्रोडास्थल है। वस्तुतः युद्धक्षेत्र में पराजित हो जाने पर भी जातिविशेष का पतन तब तक नहीं होता जब तक कि विजेता शत्रु उस देश की प्रकृति में मिली हुई वहाँ की मंगलमयी जीवन-पद्धति को मिटा देने के लिए सङ्कल्पपूर्वक खड्गहस्त नहीं हो जाता ॥ १६२ ॥

एतद्वपुर्यौवनमेतदायुर्भोगा मनो धीर्निखिलं यदत्र ।
कृत्स्नं तदेतद्यदि जन्मभूमेस्तस्यां हतायां वद रक्षितं किम् ॥१६३॥

एतद् वपुः यौवनं आयुः भोगाः मनः धीः अत्र यत् एतत् निखिलम् तत् कृत्स्नम् एतत् यदि जन्मभूमेः, तस्यां हतायां किं रक्षितं वद ॥ १६३ ॥

यह शरीर, यह यौवन, यह उम्र, ये अनुपम दुर्लभ भोग-वैभव, यह मन, सुन्दर विवेक आदि जो कुछ भी यहाँ है वह सब यदि जन्मभूमि का ही है तो उस जन्मभूमि के निहत हो जाने पर उस देश या व्यक्ति के पास क्या सुरक्षित रह गया ॥ १६३ ॥

गृहं प्रदीप्ताग्नि दिशो विपन्नाः प्रसूं क्षताङ्गीमपि यन्निरीक्ष्य ।
भोगे पतत्येव तथाप्यनित्ये धिग् यौवनं तच्च मनो विलोलम् ॥१६४॥

प्रदीप्ताग्नि गृहं विपन्नाः दिशः क्षताङ्गीं प्रसूम् अपि निरीक्ष्य तथापि यत् अनित्ये भोगे एव पतति तत् यौवनं तत् विलोलं मनः च धिक् ॥ १६४ ॥

धधकती हुई लपटों में जलते घर को, विषाद से मलिन दिशाओं को, क्षत-विक्षत माँ को देखकर भी जो उपेक्षापूर्वक अनित्य क्षणभङ्गर भोगों में मग्न हो जाता है उस यौवन को धिक्कार है तथा उस चञ्चल मन को भी अनेक बार धिक्कार है ॥ १६४ ॥

द्वाराद्विनिस्सार्य मन्दान्धदृष्टिः प्रतीक्षमाणावसरं समाजः ।
सहस्रकृत्वोऽपि कदाचिदेव भ्रमप्रतीकारयशोऽभ्युपैति ॥१६५॥

मदान्धदृष्टिः समाजः प्रतीक्षमाणावसरं द्वारात् विनिस्सार्य सहस्रकृत्वः अपि भ्रमप्रतीकारयशः कदाचित् एव अभ्युपैति ॥ १६५ ॥

प्रतीक्षा करते हुए अवसर को, मद से अन्धी दृष्टिवाला समाज, अपने दरवाजे पर से अपमान पूर्वक बाहर निकालकर, बाद में हजार बार कोशिश करने पर भी शायद ही कभी भ्रममार्जन का सुयश पाता है। आशय यह है कि अवसर आकर भी यदि हाथ से निकल गया तो फिर लाख उपाय करने पर भी हाथ नहीं आता है। भारतीय अवसर से लाभ उठाना नहीं जानते, निरुद्यम होकर हाथ पर हाथ धरे बैठे रहते हैं ॥ १६५ ॥

तदास्स्व रम्या रजनी धिनोतु विमुक्तनिर्वेदमुरस्त्वदीयम् ।
किं रंहसोल्लङ्घ्य शिरोनगानां वात्याऽपि सा पाणिसखेन वार्या ॥१६६॥

तत् आस्व, विमुक्तनिर्वेदं त्वदीयं उरः रम्या रजनी धिनोतु, नगानाम् शिरः रंहसा उल्लङ्घ्य सा वात्या अपि पाणिसखेन वार्या किम् ? ॥ १६६ ॥

तो बैठो, आराम करो। सुखद रात्रि तुम्हारे विषादरहित हृदय की अभिलषित सिद्धि में सहायक हो। अपने दुर्दान्त वेग से पवर्तों की चोटियों को भी लाँघ जानेवाली आँधी क्या हाथों को फैला कर रोकी जा सकती है। (हमारी दुर्दशा को तुम नहीं दूर कर सकते।) ॥ १६६ ॥

मन्निष्फलारम्भकथाप्रसङ्गम् स्वप्नेऽपि मा ते स्मृतिरादधातु ।
क्षुद्रेऽपि नार्यो व्यसने स्वभावादसंयमाः ह्यात्मनिवेदनेषु ॥१६७॥

ते स्मृतिः स्वप्ने अपि मन्निष्फलारम्भकथाप्रसङ्गम् मा आदधातु, हि क्षुद्रे अपि व्यसने नार्यः आत्मनिवेदनेषु स्वभावात् असंयमाः ॥ १६७ ॥

ईश्वर करे कि मेरे इस निष्प्रयोजन, निष्फल विषाद कथा को स्वप्न में भी तुम्हारी स्मृति स्थान न दे। वास्तविकता तो यह है कि स्त्रियाँ स्वभावतः ही भीरु (कातर) होती है तथा थोंड़ा भी कष्ट पड़ने पर आत्म संयम खोकर अपनी विपत्ति गाथा का रोना रोने लगती हैं ॥ १६७ ॥

इत्थं पदं यावदपैतुकामा देवी पुरो न्यस्यति शून्यदृष्टिः ।
सदण्डकायेन शिवेन तावन्मौनं निरुद्धेव तमन्वपश्यत् ॥१६८॥

इत्थं अपैतुकामा शून्यदृष्टिः देवी यावत् पुरः पदं न्यस्यति तावत् मौनं सदण्डकायेन शिवेन निरुद्धा इव तं अन्वपश्यत् ॥ १६८ ॥

इस प्रकार कह कर नैराश्यपूर्ण दृष्टिवाली वह देवी जब तक वहाँ से हटने के लिए अपना पैर कढ़ायें तब तक दण्डवत् उनके पैरों में गिर कर शिवाजी ने मानों उन्हें रोक लिया और वे चुपचाप उन्हें देखने लगीं ॥ १६८ ॥

अल्पाक्षराऽपि स्थिरभावभूमिः वाणी तदीयोत्कलिकेव सिद्धिः ।
भविष्यमाश्रावयदव्यलीका निशान्तरम्येषु मरुत्पथेषु ॥१६९॥

अल्पाक्षरा अपि स्थिरभावभूमिः उत्कलिका सिद्धिः इव तदीया अव्यलीका वाणी निशान्तरम्येषु मरुत्पथेषु भविष्यं आश्रावयत् ॥ १६९ ॥

नपे तुले शब्दोंवाली किन्तु निश्चल भाव भूमि में प्रतिष्ठित शिवराज की उस सत्य वाणी ने मुखर सिद्धि के समान, रात्रि के अन्तिम प्रहर (ब्राह्म वेला) की शीतलता एवं धवलिमा से शोभित आकाश के नीचे, भविष्य का स्वरूप ही निवेदित कर दिया ॥ १६९ ॥

मातः कनीयानपि ते सुतोऽयम् न हव्यताम् यावदुपैति यागे ।
प्रतीक्षितुं तावदिहैव देशे प्रसीद वात्सल्यभरे, ममाम्ब ॥१७०॥

मातः, कनीयान् अपि अयं ते सुतः यावत् यागे हव्यतां न उपैति तावत् वात्सल्यभरे, मम अम्ब, इह एवदेशे प्रतीक्षितुं प्रसीद ॥ १७० ॥

(शिवाजी ने कहा—) माँ तुम्हारा यह छोटा पुत्र जब तक स्वाधीनता के महायज्ञ में हव्य (हवनीय सामग्री) बनकर समर्पित न हो जाय तब तक करुणामयी मेरी माँ आप इस देश को छोड़ कर न जायँ तथा यहीं पर रहकर प्रतीक्षा करने के लिए दयापूर्वक प्रसन्न हों ॥ १७० ॥

एतद्वयो धीरियमेष आत्मा स्वातन्त्र्ययागाय समर्पिता हि ।
मोहोऽप्ययं संशयपूरवर्ती तदस्तुसिद्ध्यै प्रथमं हविष्यम् ॥१७१॥

एतत् वयः इयं धीः एषः आत्मा, स्वातन्त्र्ययागाय हि समर्पिताः तत् संशयपूरवर्ती अयं मोहः अपि सिद्ध्यै प्रथमं हविष्यं अस्तु ॥ १७१ ॥

स्वतन्त्रता के संघर्षमय महायज्ञ में इस उम्र को इस विवेक को और इस आत्मा को समर्पित करते हुए मैं संशय से भरे हुए उस मोह को (शिवराज के अन्तराल में एक कामना कहीं अटकी हुई थी कि मैं भारतीय, स्वतन्त्र राज्य स्थापित करूँगा किन्तु अब उन्होंने उस मोह को भी छोड़ दिया, अब उनका व्रत, उत्साह एवं सङ्कल्प पूर्वक फलनिरपेक्ष दृष्टि से लक्ष्य का मार्ग प्रसस्त करना हो गया) प्रथम हविष्य के रूप में विसर्जित करता हूँ ॥ १७१ ॥

मिथोऽपरागं स्वजनेषु हर्तुम् द्रष्टुं स्वलक्ष्यं विजयेऽथ भङ्गे ।
राज्यश्रियं सार्वजनीनभावामितो विधातुं परमं व्रतम्मे ॥१७२॥

स्वजनेषु मिथः अपरागं हर्तुम्, विजये अथ भङ्गे स्वलक्ष्यं द्रष्टुम्, राज्यश्रियं सार्वजनीनभावां विधातुं, इतः मे परमम् व्रतम् ॥ १७२ ॥

अपने लोगों में पारस्परिक विरोध, विराग को दूर करते हुए एकता की प्रतिष्ठा करना, युद्ध में हार या जीत को साधन के रूप में ग्रहण करते हुए लक्ष्य पर सदैव दृष्टि को स्थिर रखना, तथा राज्य लक्ष्मी को प्रजाहित-चिन्तन में प्रतिष्ठित करना, आज से यही मेरा जीवन व्रत है ॥ १७२ ॥

तत् सर्ववर्णाश्रमकर्मणां भूः प्रतिष्ठिता लोकमनोरथेषु ।
स्वतन्त्रतेयम् ध्रुवतारिकेव प्रकाशतां वर्त्म सदा स्थिरार्चिः ॥१७३॥

तत् लोकमनोरथेषु प्रतिष्ठिता सर्ववर्णाश्रमकर्मणां भूः इयं स्वतन्त्रता स्थिरार्चिः ध्रुवतारिका इव सदा वर्त्म प्रकाशताम् ॥ १७३ ॥

अतः सम्पूर्ण वर्ण आश्रम एवं सदुद्योग कार्य की प्रसवस्थली यह स्वतन्त्रता लोक मानस में प्रतिष्ठित हो तथा ध्रुवतारक के समान सदैव अपने अवाधित स्थिर प्रकाश से पथ को आलोकमय करती रहे ॥ १७३ ॥

इत्थं शिवो भावपयोधिमग्नो माधुर्यतन्त्रीध्वनिनेव बुद्धः ।
अन्तःप्रसादेन ननन्द गूढम् प्रातर्मधूत्सिक्त इवाम्रशाखी ॥१७४॥

इत्थं भावपयोधिमग्नः माधुर्यतन्त्रीध्वनिना इव बुद्धः शिवः प्रातः मधूत्सिक्त आम्रशाखी इव अन्तः प्रसादेन गूढं ननन्द ॥ १७४ ॥

इस प्रकार भावसमुद्र में निमग्न शिवराज, माधुर्यपूर्ण वीणा की मनोहर झंकार जैसी आन्तरिक प्रसन्नता से सनाथ हो स्वस्थ हुए। उनका हृदय अन्तःप्रभा से विकसित हो गया मानों तरुण आम्रवृक्ष प्रातः काल मधुमय ओस कणों से शिक्त होकर आन्तरिक प्रसन्नता से झूम उठा हो ॥ १७४ ॥

याऽनागतप्रणयिनी तदुपक्रमाङ्गास्वान्तस्समुल्लसितमेव विधौ युनक्ति ।
सा भावना जयतु विश्वजनीनवर्त्मा निर्व्याजरक्षितविवेकमनोरथश्रीः ॥१७५॥

अनागतप्रणयिनी तदुपक्रमाङ्गा या विधौ स्वान्तः समुल्लासितं एव युनक्ति विश्वजनीन-वर्त्मानिर्व्याजरक्षितविवेकमनोरथश्रीः सा भावना जयतु ॥ १७५ ॥

उस भावना की जय हो जिसकी कामना, अभिलाषा विवेकनिष्ठ होती है, जिसके पास भविष्यपरक दृष्टि है, जिसके अन्तर्मन में भविष्य का युक्तियुक्त स्वरूप विद्यमान रहता है। अतएव उसका उपक्रम (कायीरम्भ) भविष्य परक लक्ष्य की सिद्धि के लिए साधन के रूप में (साधनीभूत) होता है। वह अन्तर्निहित मनोरथ ही को कार्यविधि द्वारा सम्पन्न करती है उसकी उदारदृष्टि सार्वजनीन कल्याण से युक्त होती है ॥ १७५ ॥

इति श्रीत्रिपाठ्युपाह्वेन उमाशङ्करशर्मणा विरचिते
क्षत्रपतिचरित-महाकाव्ये चतुर्थः सर्गः ।

अथ पञ्चमः सर्गः

प्रतिपलमधुरैर्विहङ्गरावैरुण-शिख-स्वन-बोधितै र्वनश्रीः ।
किसलयदलचामरैश्च कम्रैरभिमतबोधमवाप नन्दितात्मा ॥ १ ॥

प्रतिपलमधुरैः विहङ्गरावैः अरुणशिखस्वनबोधितैः कम्रैः किसलयदल—चामरैः च नन्दितात्मा वनश्रीः अभिमतबोधं अवाप ॥ १ ॥

सर्गारम्भ करते हुए महाकवि प्रातः कालीन सुषमा का वर्णन करते हुए कहते हैं, वन श्री जग पड़ीं। रात की निस्तब्धता तथा कालिमा ने प्रकृति को नीरव, श्रान्त, हलचल से शून्य बना दिया था। अब प्रातःकाल हुआ प्रतिक्षण पक्षियों का कलरव क्रमशः बढ़ने लगा, लाल चूड़ेवाला मुरगा भी अपने लय पूर्ण तारस्वर से प्रकृति को सम्बोधित करने लगा। मनोरन नवीन कोपलें पवन से हिलने लगीं मानों पवन देवता ने नवीन कोपलों के पत्तों वाले चामर का सञ्चालन आरम्भ कर दिया। इस प्रकार आनन्दित होकर वन देवी जग पड़ीं। (यह प्रकृति व्यापार महाकाव्य में भी कार्यारम्भ की भुमिका प्रस्तुत कर रहा है) ॥ १ ॥

अभिनव-सुकुमार-मुग्धकान्ति-र्व्यतनुत वृन्तकलीस्मितैः सलीलम् ।
चलमधुपकुले बलस्वनानामुपचितकैतववर्त्मनां निवेशम् ॥ २ ॥

अभिनवसुकुमारमुग्धकान्तिः वृन्तकली स्मितैः सलीलं चलमधुपकुले उपचितकेतववर्त्मनां कलस्वनानां निवेशं व्यतनुत ॥ २ ॥

अपने भोलेपन से सहठ आकृष्ट करनेवाली अति नवीन, मृदुल सुकुमार कान्ति-वाली, डाल से लगी हुई कली की दो एक पंखुड़ियाँ विकसित हुईं, लीलापूर्ण भाव विशेष से रञ्जित मुस्कान थिरक उठी, और तब उस मुस्कान ने मानों चञ्चल प्रकृति वाले भ्रमर कुल में, धूर्तता के विविध रूपो से समृद्ध कल-स्वन, चाटुकारितापूर्ण गुञ्जन के आरम्भ के लिए निमन्त्रण ही दे डाला ॥ २ ॥

लघुलहरिविवर्तनैरजस्रम् युगतटपार्श्वरमैर्गिरीन्द्रसिन्धुः ।
श्लथतिमिरमपास्य मोहकल्पं निरुपधिबोधमिवैक्षतात्मरूपम् ॥ ३ ॥

गिरीन्द्रसिन्धुः युगतटपार्श्वरमैः लघुलहरिविवर्तनैः अजस्रं मोहकल्पं श्लथतिमिरं अपास्य निरुपधिबोधं इव आत्मरूपं ऐक्षत ॥ ३ ॥

बारबार दोनों तटों पर छोटी-छोटी लहरों के टकराने से पहाड़ी नदी ने मोह के समान आलस्य भय अन्धकार (मानसिक भ्रम) को त्याग दिया तथा निर्बाध चेतना के रूप में आत्म स्वरूप को स्पष्ट देखा। जिस प्रकार शुभ प्रवृत्ति के बारबार मन में उदय होने के कारण अभ्यास के बढ़ते-बढ़ते अन्त में मोह मय अन्धकार

(भ्रम) के नष्ट हो जाने पर तात्त्विक बोध के कारण स्वरूप ज्ञान हो जाता है तथा उपासक सत् का निष्यङ्क भास्वर ज्ञान अपने भीतर अनुभव करता है उसी प्रकार निशाकालीन तिमिर के आवरण में नदी का स्वरूप स्पष्ट परिलक्षित नहीं होता था। छोटी लहरों के रूप में सद् विवेक ही संस्कार वश बार-बार उदित होकर अभ्यास साधना में लगा था अब भ्रम कल्प तिमिर के नष्ट हो जाने पर नदी ने अपने स्वरूप का स्पष्ट दर्शन कर लिया। मानों उसे अभीष्ट बोध प्राप्त हो गया ॥ ३ ॥

तुहिनकणचिताऽवमर्दिताऽपि प्रतिकृतिरश्रुभरा यथा प्रजानाम्।
निकृतिपरवशाऽऽकुलेव दूर्वा नवदलपौरुषरागमाततान ॥ ४ ॥

तुहिनकणचिता अवमर्दिता अपि प्रजानां अश्रुभरा प्रतिकृतिः यथा निकृतिपरवशा आकुला इव दूर्वा नवदलपौरुषरागं आततान ॥ ४ ॥

ओस कणों से भरी हुई, पद दलित भी दूब, मानों दुर्दशा कदर्थित, आखों में आँसू भर कर अत्यन्त व्याकुल भारतीय प्रजा ही हो, अपनी सद्यः जात नयी पत्तियों से आन्तरिक पौरुष के अनुराग को व्यक्त करते हुए उल्लसित हो उठी। (उस स्वातन्त्र्य संग्राम में प्रजापक्ष ने अपनो दीर्घ कालीन कुण्ठा को छोड़कर सक्रिय भूमिका में अपना योग दान किया ॥ ४ ॥

सुरपतिदिशमम्बरप्रसादै--निजकरगौरवमण्डनैः सरागम्।
पुनरथ गृहमागतः प्रवासात् पतिरिव भानुरनन्दयद्वियुक्ताम् ॥ ५ ॥

अथ निजकरगौरवमण्डनैः अम्बरप्रसादैः वियुक्ताम् सुरपतिदिशं प्रवासात् पुनः गृहं आगतः पतिः इव भानुः सरागं अनन्दयत् ॥ ५ ॥

जिस प्रकार प्रवास से लौटा हुआ व्यक्ति विछुड़ी हुई विरह कर्शिता प्रिया को स्वयं लायी हुई साड़ी आदि वस्त्रों को आदर पूर्वक अपने हाथ से आग्रह पूर्वक पत्नी को देकर उसकी चुप्पी को तोड़ते हुए आनन्दित करता है उसी प्रकार पूर्व दिशा रूपी नायिका को अपने करों द्वारा गौरव मण्डित, अम्बर का प्रसाद (उपायन) देकर, प्रवास के बाद घर लौटे हुए सूर्य रूपी नायक ने उस वियोगिनी को विरह-अवधि से मुक्त करते हुए आनन्दित किया ॥ ५ ॥

अनुदयति रवेः रथेऽपि चित्रं तदचिरसम्भव कीर्तिसूक्ति सिद्ध्यै।
दर-लसित-रदस्मितैः सिताभैः प्रतिदिशमिन्द्रदिशः श्रिया पुपूरे ॥ ६ ॥

रवेः रथे अनुदयति अपि तदचिरसम्भवकीर्तिसूक्तिसिद्ध्यै इन्द्रदिशः श्रिया सिताभैः दरलसितरदस्मितैः प्रतिदिशं चित्रं पुपूरे ॥ ६ ॥

यद्यपि अभी तक आकाश मार्ग में सूर्य का रथ दृष्टि गोचर नहीं हुआ था तब भी उसके शीघ्र प्रकट होने के सम्बन्ध में शुभाशंसाओं भंगलमय भावनाओं की सिद्धि के लिए कुछ कुछ झलकते हुए दातों की उज्ज्वल कान्तिवाली स्मित को विखेरती हुई इन्द्र दिशा ने अपनी शोभा से अन्य सभी दिशाओं को भर दिया। (जिस प्रकार

स्नेही प्रिय के आगमन को सुनकर उसके आने के पहिले ही उत्साह विह्वल नायिका अपनी हर्षोत्कण्ठा को छिपाने की चेष्टा करने पर भी अपने हाव भाव, कार्य-कलाप आदि से अपनी प्रसन्नता के द्वारा व्यक्त कर ही देती है उसीं प्रकार सूर्योदय से पूर्व ही आसमान के पूर्वीय भाग में प्रकाश फैलने लगा तथा उसने अन्य दिशाओं को भी अपने रङ्ग में (धवलिमा) रंगना आरम्भ कर दिया ॥ ६ ॥

तिमिरमपगतं दिशः प्रसेदू रविरपि पूर्वगिरौ नवश्चकासे ।
सहठमिव फलन्ति निश्चितार्थाः जनहितचित्तवतां निसर्गसिद्धाः ॥ ७ ॥

तिमिरं अपगतं, दिशः प्रसेदुः पूर्वगिरौ नवः रविः अपि चकासे । जनहित चित्तवतां निश्चितार्थाः निसर्गसिद्धाः इव सहठं फलन्ति ॥ ७ ॥

अन्धकार नष्ट हो गया, दिशायें प्रसन्न (स्वच्छ) हो गयी; सूर्य भी उदयगिरि पर नवीन प्रभा से प्रकाशित हो गये । सत्य है सर्व-लोक-हित की भावनावाले सज्जनों का सङ्कल्प पूर्ण मनोरथ निसर्ग सिद्ध होता है तथा हठपूर्वक अपना शुभ फल देता ही है । (शुभाशंसा है कि वीरशिवराज, जन हित की भावना से संघर्ष के लिए तत्पर हैं उनका सङ्कल्प निश्चय ही सफल होगा) ॥ ७ ॥

विजयपुरनृपस्य शून्यचित्ते रजनिरवाप समीहितं निवासम् ।
तिमिरसहचराः मिथो हि भावाः शिवरवितापभयात्तमेव जग्मुः ॥ ८ ॥

विजयपुरनृपस्य शून्यचित्ते रजनिः समीहितं निवासं अवाप, शिवरवितापभयात् हि तिमिरसहचराः भावाः मिथः तम् एव जग्मुः ॥ ८ ॥

बीजापुर के सुलतान के शून्य हृदय में रात्रि को (अन्धकार) अभिलषित शरण मिला । अन्धकार के (मोह के) सहचारी भाव भी (उलूक, द्विजिह्व, हिंस्र पशु आदि) शिव रूपी सूर्य के प्रकाश से भयभीत हो वहीं पर एकत्र हो गय । (बीजापुर का सुलतान विकल मन होकर उपद्रव पूर्ण भावनाओं से भर गया) ॥८॥

समुदितशिवविक्रमं निशम्य प्रकुपित-भीषण-देहलीश-भीतः ।
हतरुचिमिव लोकमेव पश्यन् विफलमसौ मनुतेस्म भूपजन्म ॥ ९ ॥

समुदितशिवविक्रमं निशम्य प्रकुपितभीषणदेहलीशभीतः असौ लोकं हतरुचिं इव पश्यन् भूपजन्म विफलं मनुते स्म ॥ ९ ॥

अभ्युदय-मार्ग में बढ़ते हुए शिवराज के विक्रम, पुरुषार्थ की गाथा सुनकर तथा क्रोध स भयङ्कर दिल्लीपति अवरंगजेब से आतंकित बीजापुर के सुलतान को संसार ही नीरस, निष्फल प्रतीत होने लगा । उनको ऐसा लगा कि मानों राजा के रूप में पैदा होना ही विडम्बना है, विपत्ति को निमन्त्रण देना है ॥ ९ ॥

महति बलभरेऽवरङ्गजावे हतफलमात्मबलं विवेच्य भूपः ।
परिमितमनुचिन्तयन् शिवाजिम् रिपुविजयस्तवमाप्तुमच्छदद्वः ॥ १० ॥

महति बलभरे अवरङ्गजीवे आत्मबलं हृतफलं विविच्य अज्ञः भूपः शिवाजि परिमितं अनुचिन्तयन् रिपुविजयस्तवं आप्तुं ऐच्छत् ॥ १० ॥

अवरंगजेब, दिल्लीपति को अजेय शक्तिशाली सेना से युक्त मानकर तथा शिवराज को सीमित शक्ति एवं अल्पसाधन सम्पन्न समझकर उस बुद्धिहीन सुलतान ने शत्रु विजय के यश को स्वयं प्राप्त करना चाहा। (एक ही पत्थर से दो लाभ, प्रथम तो पड़ोसी शत्रु का विनाश दूसरे, शत्रु विजय द्वारा जनता में आत्मशक्ति का प्रचार करते हुए विजय-यश प्राप्त करना) ॥ १० ॥

अवसरमिव सोऽनुचिन्त्य युक्तम् सदसिषदां सहठं बिलोलधैर्यः ।
शिवजयसवनाय नायकानां परिषदमाह्वयदाग्रहेण साधिः ॥ ११ ॥

बिलोल धैर्यः साधिः सः अवसरं युक्तं इव अनुचिन्त्य शिवजयसवनाय आग्रहेण सहठं सदसिषदां नायकानां परिषदम् आह्वयत् ॥ ११ ॥

उचित अवसर को भाग्यवश उपस्थित जानकर मानसिक विकलता से क्षुब्ध सुलतान ने अधीर होकर महाराष्ट्र वीर शिवराज को पराजित करने के लिए मन्त्रियों सलाहकारों तथा सेनापतियों को मन्त्रणा के लिए आग्रह पूर्वक परिषद् में बुलाया ॥ ११ ॥

अनुपदमुचितासने निषण्णान् द्विषदवधीनवधीरितान्तकालान् ।
समधिकमवतापितोऽपि भूपो विजितमिवारिमकल्पयद् बिलोक्य ॥ १२ ॥

द्विषदवधीन् अवधीरितान्तकालान् उचितासने अनुपदं निषण्णान् विलोक्य समधिकं अवतापितः अपि भूपः अरिं विजितं इव अकल्पयत् ॥ १२ ॥

वे सदस्य गण अत्यन्त कुशल, नीतिवेत्ता थे, शत्रुओं के लिए उनकी आयु की अवधि थे (उनसे टकराकर शत्रु जीवित नहीं रह सकता था) युद्ध भूमि में काल से भी नहीं घबराते थे। अतिशय विकल होने पर भी, उन्हें अपने पद के अनुसार उचित स्थान पर स्थित देखकर, सुलतान को ऐसा प्रतीत हुआ मानो उन्होंने अपने शत्रु शिवाजी को पराजित ही कर दिया ॥ १२ ॥

प्रथममभिमतादरः कृतेषु निज-जन-गौरव-मण्डनप्रथेषु ।
शतविधमनुकीर्तयन्नतीतम् परिषदमेव मुहूर्तमैक्षताऽसौ ॥ १३ ॥

प्रथमं निजजनगौरवमण्डनप्रथेषु कृतेषु अभिमतादरः शतविधं अतीतं अनुकीर्तयन् असौ मुहूर्तं परिषदम् एव ऐक्षत ॥ १३ ॥

सुलतान ने पहले तो उन अनेक कार्यों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन किया जो राज्य के लिए (बीजापुर के लिए) अत्यन्त हितकर थे तथा उनके द्वारा रियासत के राज्यभक्त कर्मचारियों की राजनिष्ठा तथा उनकी कार्य क्षमता का सम्मान बढ़ता था। फिर उस सुलतान ने अनेक प्रकार से बीजापुर के गरिमा मय अतीत का तथा

उसकी उपलब्धियों का प्रभाव पूर्ण वर्णन किया और एक क्षण परिषद् को मौन होकर देखा ॥ १३ ॥

विषमनिकृतिकारणं ततोऽसौ शिवकृतचापलमामयानुकारम् ।
भृशतरमपकारि राज्यदेहे विषयमुखेन, निवेदयाञ्चकार ॥ १४ ॥

ततः विषमनिकृतिकारणं राज्यदेहे भृशतरं अपकारि आमयानुकारं शिवकृतचापलं विषयमुखेन असौ निवेदयाञ्चकार ॥ १४ ॥

उसके बाद वीजापुर के उस सुलतान ने अपनी दुस्सह चिन्ता के कारण को स्पष्ट किया। विषय को आरम्भ करते हुए उन्होंने शिवराज के उपद्रवों का उल्लेख किया। शिवराज द्वारा राज्य में वेरोकटोक विप्लव फैलाना राज्य रूपी देह में भयंकर बीमारी के समान अधिकाधिक दुःखदायी होता जा रहा था तथा उससे राज्य का घोर अहित हो रहा था ॥ १४ ॥

प्रतिपलमुदिते शिवे स्वराज्ये वलवति चोत्तरतोऽवरङ्गजीवे ।
निरलसमवलेव राजलक्ष्मी–रवनीया सततं भवद्भिरेषा ॥ १५ ॥

स्वराज्ये प्रतिपलं शिवे उदिते उत्तरतः च वलवति अवरङ्गजीवे, अवला इव एषा राजलक्ष्मीः भवद्भिः सततं निरलसं अवनीया ॥ १५ ॥

एक ओर तो अपने इस राज्य में निरन्तर उपद्रवों द्वारा शिवाजी अपनी शक्ति वृद्धि कर रहे हैं, दूसरी ओर उत्तर से दिल्ली का बादशाह औरंगजेब कुदृष्टि लगाये हैं इन दोनों शत्रुओं के बीच घिरी हुई कुलवधू के समान राजलक्ष्मी को आलस त्याग कर निरन्तर सुरक्षित, निरापद रखना आप लोगों का महान् कर्तव्य है ॥ १५ ॥

स्वजनककुलपांसनोऽपि पुष्टो बहुमतशाहजिना विवासितश्च ।
गद इव परितोऽवकाशदस्तः प्रभवति मूढमनोरथः शिवाजीः ॥ १६ ॥

स्वजनककुलपांसनः च बहुमतशाहजिना विवासितः अपि पुष्टः अवकाशदस्तः गद इव मूढमनोरथः शिवाजी परितः प्रभवति ॥ १६ ॥

इस निज-कुल-कलङ्क शिवाजी को हम लोगों के विश्वासपात्र सामन्त, उसके पिता शाहजी ने पाला किन्तु उसकी उच्छृंखलता एवं दुष्टता से कुपित होकर घर से निकाल दिया। आरम्भ से ही राज्य ने उसके उपद्रवों पर विशेष ध्यान नहीं दिया। हम सब उसे नगण्य मान कर उपेक्षा करते रहे। हमारे ध्यान न देने के कारण व्याधि के समान निरन्तर बढ़ता हुआ, मूर्खतापूर्ण अभिलाषाओंवाला शिवाजी अब सरदर्द होता जा रहा है ॥ १६ ॥

अनुपकरणदुर्वलस्वभावान् प्रहरति लुण्ठति राज्यरक्षितान्सः ।
तमसि जडवनौकसां समूहैः वृक इव केसरिकुलिगूढकायः ॥ १७ ॥

जडवनौकसां समूहैः तमसि केसरिकुक्षिगूढकायः वृकः इव सः अनुपकरणदुर्बलस्वभावान् राज्यरक्षितान् प्रहरति लुण्ठति ॥ १७ ॥

रियासत द्वारा रक्षित राजकीय निवेशों को कर्मचारियों एवं सामन्तों को, भाण्डार गृहों को, रक्षोपकरणों की कमी के कारण भयभीत जनता को, मूर्ख वनवासियों को भीड़ लेकर रात्रि के आवरण में, शेर की खाल में अपने शरीर को छिपाये भेड़िये के समान यह शिवाजी आक्रमण करता है हत्या करता है तथा लूट लेता है ॥ १७ ॥

अपकृतिमयमित्थमेव नित्यं यदि चरितुं समुपेक्ष्यते हतायुः ।
नियतमचिरमेव लोकचित्ते निजभयशासनमुत्सहेत[1] धातुम् ॥ १८ ॥

यदि अयं हतायुः इत्थं नित्यं एव अपकृतिं चरितुं समुपेक्ष्यते, नियतं अचिरं एव लोकचित्ते निजभयशासनं धातुं उत्सहेत ॥ १८ ॥

यदि इस भाग्यहीन शिवाजी को यूहीं सदैव मनमानी करने की छूट मिलती रही और हम उपेक्षा करते रहे तो निश्चय ही यह शीघ्र थोड़े ही समय में जनता के उपर अपना आतंकपूर्ण शासन स्थापित करने में सफल हो जायेगा। शिवाजी के आक्रमणों से अरक्षित प्रजा बीजापुर की निष्ठा से विरक्त हो जायेगी तथा शिवाजी के प्रभाव में आ जायेगा ॥ १८ ॥

व्यपहृतजनरक्षणं हि राज्यं विरतरसा तरसा जहाति लक्ष्मीः ।
असफलमिव पौरुषं हि रन्तुम् मदविवशा युवतिः परोत्सुकेव ॥ १९ ॥

मदविवशा युवतिः असफलं पौरुषं इव लक्ष्मीः व्यपहृतजनरक्षणं हि राज्यं विरतरसा परोत्सुका इव रन्तुं तरसा जहाति ॥ १९ ॥

जो राज्य प्रजा की सुरक्षा में असमर्थ हो जाता है उस राज्य से लक्ष्मी रूठ जाती हैं तथा अनुराग हीनता के कारण शीघ्र ही उस राज्य को त्याग कर चली जाती है। लक्ष्मी तो उस मदविह्वल नवयौवना के समान हैं जो पुरुष को भोग क्रिया में असफल, असमथ जानकर उसकी उपेक्षा कर देती है तथा दूसर अभीष्ट व्यक्ति के लिए सतृष्ण उत्कण्ठित हो जाती है ॥ १९ ॥

तदिह विधिममोघमाशु सिद्ध्यै शिव-दव-दूषण[2]-शान्तये विविच्य ।
निजनरपतिमानसानुतापम् प्रहरत नावसरः सदाऽभ्युपैति ॥ २० ॥

तत् शिवदवदूषणशान्तये आशु इह सिद्धयै अमोघं विधिं विविच्य निजनरपतिमानसानुतापं प्रहरत, अवसरः सदा न अभ्युपैति ॥ २० ॥

१. 'मुत्क्रमेद्विधातुम्' इति पाठान्तरम् ।
२. 'दवपावक शान्तये' इति पाठन्तरम् ।

अतः शिव रूपी दवानल को शान्ति के लिए आप लोग विचारपूर्वक कोई कारगर उपाय अति शीघ्र ढूंढें। इस प्रकार अपने सुल्तान के मानसिक अनुताप को नष्ट करें। विश्वास करें, अवसर बार बार नहीं आता ॥ २० ॥

विजयपुरवधूर्न मोघमेव जनयति यौवननिष्क्रयात्तनूजान् ।
प्रसवविषमदुःखहेतवोऽपि निजजननीस्तनपानगौरवास्ते ॥ २१ ॥

विजयपुरवधूः यौवननिष्क्रयात् तनूजान् मोघं एव न जनयति, प्रसवविषमदुःखहेतवः अपि ते निजजननीस्तनपानगौरवाः ॥ २१ ॥

बीजापुर की नारियाँ अपनी जवानी देकर सन्तान को व्यर्थ ही नहीं जन्म देती हैं। (सन्तान प्राप्ति के लिए यौवन को दाँव पर लगाना ही होता है)। यह ठीक है जन्म लेनेवाली सन्तान माता की भयङ्कर प्रसव वेदना का निमित्त बनता है किन्तु वह उत्पन्न सन्तान माता के दूध की लाज बचाने के लिए अपना शिर तक कटाने में नहीं हिचकती। पुत्र-लाभ के लिए माता को यौवन दान देना ही होता है भयङ्कर प्रसव वेदना से छटपटाना पड़ता है किन्तु वही सन्तान माँ की रक्षा के लिए अपनी बलि भी दे देती हैं ॥ २१ ॥

परिषदि कलितौजसां वरेण्यः खर-करवाल-कलाधरो मनस्वी ।
तदिह हठमलङ्करोतु कश्चित् सुभटवरो जयपानवीटिकाम्मे ॥ २२ ॥

तत इह परिषदि कलितौजसां वरेण्यः खरकरवालकलाधरः कश्चित् मनस्वी सुभटवरः हठं मे जयपानवीटिकाम् अलङ्करोतु ॥ २२ ॥

अस्तु इस सभा में उपस्थित आप लोगों में से जो शक्ति में अपने को सर्वश्रेष्ठ समझता हो जो पानीदार तलवार की मूठ को पकड़ने में अद्वितीय हो वह आगे आये और मेरे इस पान के बीड़े को लेकर इसका सम्मान करे। [पान का बीड़ा, किसी प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए वीरों के सम्मुख रखा जाता था ॥ २२ ॥

सहठमनुपदं नरेन्द्रमाता तदुदितमेव पुनः प्रयोजयन्ती ।
अभिलषितमितार्थमाप्तवाणी सविशदमाकलयन्मनोज्ञबन्धैः ॥ २३ ॥

अनुपदं तदुदितं एव सहठं पुनः प्रयोजयन्ती अभिलषितं अर्थं आप्तवाणी इव नरेन्द्र माता मनोज्ञबन्धैः सविशदं आकलयत् ॥ २३ ॥

सुल्तान के प्रस्ताव के बाद ही तुरन्त उन्हीं शब्दों को दुहराती हुई राजमाता ने अपने ओजस्वी शब्दों से इस प्रस्ताव पर सभासदों को उत्साहित करते हुए विशद व्याख्या प्रस्तुत की। अभिहितार्थ के पीछे जैसे शुद्ध वाणी चलती है उसी प्रकार सुलतान की भावना को राजमाता ने अपने ओजस्वी शब्दों द्वारा स्पष्ट किया ॥२३॥

अथ निखिलजने जनेशवाचः प्रतिपदमज्जिततेजसो विरामे ।
सरभस-भय-संशयास्तवर्णाम् स्थगयति वाचमधोनतास्यबिम्बे ॥ २४ ॥

अथ प्रतिपदमज्जिततेजसः जनेशवाचः विरामे अधोनतास्यबिम्बे सरभसभसंशयास्त-वर्णाम् वाचं स्थगयति निखिलजने (अपजलः अवोचत) ॥ २४ ॥

सुल्तान का कथन अपने प्रत्येक शब्द से सभासदों की शक्ति को कुण्ठित करता जा रहा था। उनके भाषण के बाद, सहसा भय एव संशय ने उत्पन्न होकर उन सभासदों की वाक् सम्पत्ति को मानो हतप्रभ कर दिया उनका शिर झुक गया वे नीचे देखने लगे ॥ २४ ॥

विदित-शिव-गण-प्रतापसूक्तेर्बहु-विध-दृष्ट-निजोद्यमावधेश्च ।
अनुभवयशसो मतेर्निदेशा[1]न्निज-पदमूलमधः समीक्षमाणे ॥ २५ ॥

विदितशिवगणप्रतापसूक्तेः बहुविधदृष्टनिजोद्यमावधेः अनुभवयशसः मतेः निदेशात् च निजपदमूलं अधः समीक्षमाणे (निखिलजने·····) ॥ २५ ॥

यही नहीं, शिवराज के सैनिकों की गौरव गाथा को जाननेवाली तथा अपनी विविध कार्य पद्धति की सीमा को भी यथार्थतः जाननेवाली, पूर्व-अनुभवों से समृद्ध, उन सभासदों की बुद्धि ने भी मानो उन्हें यही परामर्श दिया कि वे पान का बीड़ा उठाने का दुस्साहस पूर्ण पागलपन न करें। इस प्रकार जब सामन्तगण नीची दृष्टि किये अपने पैरों के नाखूनों को देखने लगे तथा ॥ २५ ॥

विविध-वर-गवाक्ष-साक्ष्य-भाजि प्रसरदनल्पविभातधामधाम्नि ।
रुचि-रुचिर-मनोज्ञ-मण्डपेऽपि श्रयति रणाधिघनान्धकारछायाम्[2] ॥ २६ ॥

विविधवरगवाक्षसाक्ष्यभाजि प्रसरदनल्पविभातधामधाम्नि रुचिरुचिरमनोज्ञ मण्डपे अपि रणाधिघनान्धकारछायां श्रयति (अपजलः अवोचत) ॥ २६ ॥

अनेक उत्कृष्ट वातायनों से सुशोभित, प्रचुर मात्रा में फैलते हुए प्रातःकालीन प्रभा से प्रकाशित, सुरुचि पूर्वक सौन्दर्य की अप्रतिम श्रेष्ठता से मनोहर उस सुषमा-यतन सभामण्डप में भी युद्धजन्य चिन्ता से उत्पन्न गाढ़ अन्धकार को छाया का प्रतिबिम्ब पड़ने पर ॥ २६ ॥

सहठमपजलोऽसमीक्ष्यकारी निकृतिपरैर्हसितै र्दिशो विधुन्वन् ।
धन-पुरुष-बलावलेपधृष्टो रभसमवोचत सूदवंशजन्मा ॥ २७ ॥

सहठं निकृतिपरैः हसितैः दिशः विधुन्वन् धनपुरुषबलावलेपधृष्टः असमीक्ष्यकारी सूदवंश-जन्मा अपजलः सरभसं अवोचत ॥ २७ ॥

१. 'नियोगात्' इति पाठान्तरम् ।
२. 'लेखाम्' इति पाठान्तरम् ।
३. अफजल खान—बीजापुरराज्यस्य सेनापतिः ख्यातः स्वनिर्दयाचारप्रदर्शनाय । प्रायेण कहदः बहुपत्नीवल्लभो मूर्तिः बलावलेपस्य ।

अपमान एवं अवज्ञापूर्ण हँसी से दिशाओं को कँपाता हुआ, अपने उत्कट दानवतापूर्ण नृशंस बल के मद में उच्छृंखल, बिना बिचारे काम करनेवाला, रसोइये (बावर्ची) के वंश में उत्पन्न, अफजल खान हठपूर्वक बोल उठा ॥ २७ ॥

विजयपुरपतेरनुग्रहोऽयं निज-जन-मङ्गल-गौरवैकसूतिः ।
यदि नियतमसौ शिवोऽपि वन्यो रणभुवि वीरगतिश्रियं बिभर्ति ॥ २८ ॥

यदि वन्यः असौ शिवः अपि रणभुवि नियतं वीरगतिश्रियं बिभर्ति, विजयपुरपतेः अयं अनुग्रहः निजजनमङ्गलगौरवैकसूतिः ॥ २८ ॥

यदि जंगली, मराठा शिवाजी भी (सुलतान की इच्छा के अनुसार) युद्धक्षेत्र में वीरगति के पुण्य को प्राप्त करने जा रहा है तो प्रकारान्तर से अपने सैनिकों तथा सामन्तों को यशपूर्ण गौरव की प्रतिष्ठा देने के लिए ही सुलतान यह कृपा कर रहे हैं। (शिवाजी परम सामान्य व्यक्ति है उसे परास्त करने के लिए मामूली प्रयास भी पर्याप्त होता किन्तु यदि सुल्तान ने इतनी चिन्ता व्यक्त की तो स्पष्ट है उस क्षुद्र शिवाजी के विरुद्ध सैन्य सञ्चालन होगा तथा अनायास ही सेनापति तथा सैनिकों को यश प्राप्त होगा, विशेष श्रम या उत्साह प्रदर्शन करने की स्थिति ही नहीं आयेगी।) ॥ २८ ॥

अधिकमिह तथापि मानसम्भे परिषदि मौनमवेक्ष्य शस्त्रभाजाम् ।
दृढयति धियमेव यन्न जन्ये धृतकरबालफलोऽपि विक्रमाय ॥ २९ ॥

तथापि इह परिषदि शस्त्रभाजाम् मौनं अवेक्ष्य मे मानसं धियं अधिकं दृढयति यत् धृतकरबालफलः अपि जन्ये विक्रमाय न ॥ २९ ॥

फिर भी इस परिषद् में इस अवसर पर शस्त्रधारी सरदारों एवं सामन्तों में ऐसी चुप्पी (मौन) देखकर अपनी पूर्व मान्यता धारणा पर मेरा मन अधिकाधिक विश्वास करने लगा है कि तलवार हाथ में पकड़ लेने से ही कोई युद्धभूमि में भी शौर्यप्रदर्शन नहीं कर सकता। (शौकिया तलवार बाँध लेने से ही कोई वीर नहीं हो जाता है।) ॥ २९ ॥

इति सरभसमुत्पपात चण्डो मदकलिताक्षिविघूर्णितेन दृप्यन् ।
सगरलमिव पानपत्रबन्धम् शिशुरिवमोदकमादधौ स्ववक्त्रे[1] ॥ ३० ॥

इति मदकलिताक्षिविघूर्णितेन दृप्यन् चण्डः सरभसं उत्पपात, सगरलं मोदकम् इव पानपत्र-बन्धं शिशुः इव स्ववक्त्रे आदधौ ॥ ३० ॥

इतना कहकर मद-मस्त आँखों से घूरने के कारण और अधिक गर्व में झूमते अफजल खान ने झपटकर उस पान के बीड़े को अपने मुँह में डाल लिया। मानो किसी अबोध शिशु ने विषमय मिठाई को ही मुँह में डाल लिया हो ॥ ३० ॥

१. 'निजास्ये' इति पाठान्तरम् ।

क्रकचरदनघट्टनैः सलालैरुपमुखमुत्थितशीकरोत्करार्क्तः ।
नकुलकृत-भुजङ्ग-चर्वणाभः सदसि विरागतति ततान रागः ॥ ३१ ॥

सलालैः क्रकचरदनघट्टनैः उपमुखं उत्थितशीकरोत्करार्क्तः नकुलकृतभुजङ्गचर्वणाभः रागः सदसि विरागतति ततान ॥ ३१ ॥

आरे के समान तीक्ष्ण दाँतों के चलाने से पान चबाने में उत्पन्न लार के छीटों से मुख के आस-पास की स्थिति को सम्पृक्त करता हुआ अफजल खान का वह कृत्य, नेवले के द्वारा किसी सर्प के खण्ड-खण्ड करके चबाने के समान प्रभाव उत्पन्न करता हुआ उस सभा में वैरस्य विराग को ही उत्पन्न किया ॥ ३१ ॥

क्षणमपि विनयैरलन्तरन्तुं सपदि सभाभवनाद्बहिर्यियासुम् ।
बलिपशुमिव सच्चकार भूपः खलमपि सम्भृतशौर्यकीर्तिमाजौ ॥ ३२ ॥

विनयैः क्षणं अपि रन्तुं न अलम् सभाभवनात् बहिः सपदि यियासुं खलं अपि बलिपशुं इव आजौ सम्भृतशौर्यकीर्तिम् (तं) भूपः सच्चकार ॥ ३२ ॥

क्षण भर के लिए भी विनयशीलता को महत्व न देनेवाले उस अफजल खान को तुरन्त सभाभवन से बाहर जाने को उद्यत देखकर, सुलतान ने उस उद्दण्ड आचरणवाले किन्तु युद्धक्षेत्र में प्रचण्ड विक्रम का प्रदर्शन करनेवाले अफजल खान को आग्रहपूर्वक रोककर उसका सत्कार किया ॥ ३२ ॥

[1]वृषमिव कृषिधूर्वहं तमुच्चैर्निखिलसदस्यजनोऽपि गूढभावः ।
कटुवचसमपि प्रसह्य सूक्तैरतिथिमिवान्तकवेश्मनोऽन्वगृह्णात् ॥ ३३ ॥

कृषिधूर्वहं वृषं इव इति कटुवचसं अपि अन्तकवेश्मनः अतिथिं इव तं गूढभावः अपि निखिलसदस्यजनः उच्चैः सूक्तैः प्रसह्य अन्वगृह्णात् ॥ ३३ ॥

जिस प्रकार किसान, खेती के आधार स्वरूप, बोझ ढोनेवाले बैल पर विशेष ध्यान देते हैं वैसे ही सदस्य मण्डल ने गूढ़भाव से (मन को भावनाओं को छिपाते हुए) उच्च स्वर से उस दुर्विनीत अफजल खान की प्रशंसा ही की। वे उसकी कटुभाषिता से पूर्ण परिचित थे फिर भी प्रशंसापूर्ण वाक्यों में उसका मानवर्धन कर रहे थे। जैसे शीघ्र ही यमराज के घर जानेवाले के लिए लोग अतिशय उदार-पूर्ण हो जाते हैं ॥ ३३ ॥

गगनमपि बिभर्तु पुष्पलक्ष्मीं जनयतु जातमनुश्रुताऽपि वन्ध्या ।
शशकशिरसि वोद्भवेद् विषाणं तदपि न पातुमलं शिवं शिवोऽपि ॥ ३४ ॥

---

१. यद्यपि छत्रपतिः नवोदित एव आसीत् प्रभावप्रसारार्थं यतमानश्च स्वलक्ष्यम् अलक्षयत् तथापि तदुद्योगविक्रमोत्साहसमाकृष्टाः शौर्यसम्पदः मनस्विनः सैनिकाः शत्रुकदर्थिताः विरोधिनश्च तदबलमवर्धयन्त । नूनं महती चमू शिवाज्ञां पालयन्ती तन्निदेशं प्रतीक्षमाणा सन्नद्धासीत् । बहुभिः बीजापुरीयैःतत्तु सर्वथा ज्ञातमेवासीत् ।

गगनं अपि पुष्पलक्ष्मीं बिभर्तु, अनुश्रुता अपि वन्ध्या जातं जनयतु, वा शशकशिरसि विषाणं उद्भवेत् तदपि शिवं शिवः अपि पातुं न अलम् ॥ ३४ ॥

(अफजल खान ने कहा) यदि आकाश फूलों (उगे हुए) की शोभा से भर उठे, यदि सर्वथा वन्ध्या भी पुत्र उत्पन्न करे, या यदि खरगोश के भी सिर पर सींग निकल आये तब भी इस क्षुद्र शिवाजी को स्वयं शिव भी मेरी तलवार से बचा नहीं सकते। आकाश में फूल उगना, वन्ध्या का पुत्र प्रसव करना या खरगोश के सिर पर सींग का निकलना आदि असम्भव उद्भावनायें हैं। इन असम्भव प्रतिपत्तियों को उपस्थित करके वक्ता अपनी धारणा को, संकल्प को सुदृढ़ आधार देना चाहता है। यदि असम्भव भी सम्भव हो जाय तब भी शिवाजी की रक्षा असम्भव है ॥ ३४ ॥

भयमिति कलयन् सतामुपेक्षामुपगिरि वीरपदावलेपदिग्धः ।
शुनक इव पलायनप्रतिष्ठो हरिमपि लङ्घितुमीहते स सुप्तम् ॥ ३५ ॥

सतां उपेक्षां भयं इति कलयन् उपगिरि वीरपदावलेपदिग्धः पलायनप्रतिष्ठः शुनक इव स सुप्तं हरिं अपि लङ्घितुं ईहते ॥ ३५ ॥

भद्र सज्जनों का यह स्वभाव ही है वे प्रत्येक अशोभन बात पर अपना विरोध प्रकट न करके बहुधा उपेक्षा कर दिया करते हैं उनकी दृढ़ धारणा रहती है कि अन्यायी स्वयं अपने अन्याय से विरत हो सन्मार्ग पर आ जायगा। किन्तु इस उच्छृङ्खल शिवाजी ने सज्जनों की उस उपेक्षा को दूसरे भाव से ग्रहण किया। पहाड़ी के अगल बगल में छिट पुट उपद्रवों के द्वारा स्वयं वीरता के गर्व से मदान्ध हो, वह इस भ्रम में है कि भद्र समाज उससे भयभीत हो गया है। इस प्रकार भाग जाने की कला में कुशल यह शिवाजी कुत्ते के समान सोये हुए मृगराज को भी लाँघने की अपमानित करने की धृष्टता कर रहा है ॥ ३५ ॥

तदिह सशपथं शपामि वीर्यं बलमवधूय शिवस्य दस्युवृत्तेः ।
स्रवदविरतशोणितं शिरश्च निज-पद-लुण्ठितमाहरामि सोऽहम् ॥ ३६ ॥

तत् इह सशपथं शपामि, दस्युवृत्तेः शिवस्य बलं वीर्यं अवधूय निजपदलुण्ठितं स्रवद-विरतशोणितं (तस्य) शिरः च सः अहं आहरामि ॥ ३६ ॥

अतः अपनी वीरता की शपथ लेकर कहता हूँ कि डाकुओं का पेशा करने वाले शिवाजी की सेना को मटियामेट करके, उसके रुधिराप्लावित कटे हुए शिर को अपने पैर से ठुकराता हुआ लाऊँगा ॥ ३६ ॥

मृगपतिमपि वीक्ष्य निद्रिताक्षं स्वचपलसङ्क्रमणैः विलङ्घयन्तः ।
अनवहितबलं तथा प्रजेशम् परिभवितुं गिरिदारकाः यतन्ते ॥ ३७ ॥

मृगपतिं अपि निद्रिताक्षं वीक्ष्य स्वचपलसङ्क्रमणैः विलङ्घयन्तः गिरिदारकाः तथा अनवहितबलं प्रजेशं परिभवितुं यतन्ते ॥ ३७ ॥

(गिरिदारकाः— पर्वत को विदारित करनेवाले, चूहे या पहाड़ी छोकरे) नींद में बेखबर शेर को भी देखकर चूहे अपनी चपलता से उसे लाँघ जाते है। ऐसे ही असावधान बलवाले राजा को भी पहाड़ी छोकरे (शिवाजी आदि) अपमानित करने की दुश्चेष्टा करने लगते हैं ॥ ३७ ॥

दिशि-दिशि दलितौजसोऽपि मूढाः अहितकुलैर्नकुलैरिव द्विजिह्वाः ।
विजहति मनसस्तथापि नास्थामिह पुनरार्यधरास्वराज्यसिद्धौ ॥ ३८ ॥

नकुलैः इव अहितकुलैः दिशि-दिशि दलितौजसः अपि मूढाः द्विजिह्वाः इह तथापि पुनः आर्यधरास्वराज्यसिद्धौ मनसः आस्थाम् न विजहति ॥ ३८ ॥

ये भारतीय भी विचित्र मूर्ख हैं। नेवले जिस प्रकार सर्पों को काटकर मार डालते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक दिशा में हम लोगों से टकराकर शक्तिक्षीण, निर्बल हो जाने पर भी ये इस देश में पुनः स्वराज्य स्थापित करने के मानसिक सङ्कल्प को हृदय में सँजोये रहते हैं। अब भी इनको दुराशा (स्वतन्त्रता को कामना) चुपचाप बैठने नहीं देती ॥ ३८ ॥

भुवनविजयशासनप्रथान्नः समयविदोहि निषेव्य जातपक्षाः ।
सततमसहनाः पिकाः यथेमे स्वकुल-कुलाय-दिशोऽनुभावनीयाः ॥ ३९ ॥

सततं असहनाः इमे समयविदः पिकाः यथा भुवनविजयशासनप्रथान् नः निषेव्य जातपक्षाः (सन्तः) स्वकुलकुलायदिशः अनुभावनीयाः ॥ ३९ ॥

विश्वविजय तथा सम्पूर्ण भूमण्डल पर शासन करने के लिये विख्यात हम लोगों की शरण में, देश, काल, पात्रादि को ध्यान में रखते हुए ये भारतीय, सेवा के द्वारा अपना दुर्दिन बिताकर, कोयल के बच्चों के समान, पँख उग जाने पर अपने बन्धु-बान्धवों के दल में जाकर मिल जाते हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखना चाहिए। (जन श्रुति है कि माँदा कोयल अपने अण्डों को कौवों के घोसलों में रख आती है तथा उनके पंख आदि उग आने पर अपने साथ उड़ा लाती है।) ॥ ३९ ॥

परभृतविरहे वने निकामं कटुकरटाः विहगोत्सुकान् श्रयन्तु ।
परमधमधियो विदन्तु ते यत् पिक-कल-जृम्भितमद्य विष्णुवर्त्म ॥ ४० ॥

परभृत विरहे वने कटुकरटाः विहगोत्सुकान् निकामं श्रयन्तु, परं ते अधमधियः विदन्तु यत् अद्य विष्णुवर्त्म पिककलजृम्भितम् ॥ ४० ॥

जिस वन, उपवन में कोयल न हो वहाँ के लोग विहग-कल-ध्वनि को उत्कण्ठा में कटुभाषी कौवों से भी भले अपना क्षणिक मनोरञ्जन कर लें, पर उन मन्दमति कौवों को जानना चाहिए कि आज पिक-काकली से समस्त आकाश मण्डल प्रतिध्वनित हो रहा है। (किसी कारणवश यदि किसी अञ्चल में सुलतान का शासन तन्त्र ढीला हो गया तो शिवाजी अपने गणों के साथ भले कुछ देर उछल-कूद मचा ले, पर उसे

जानना चाहिए कि आज सुलतान अपने दायित्व एवं अधिकार के प्रति जागरूक हैं। अब शिवाजी की खैर नहीं ॥ ४० ॥

तदलमवनिपाल ! मोघयत्नैरभिमतहिन्दुकृतैरपीद्धशङ्कैः ।
व्यपरतहृदयैर्धृतोऽपि नूनम् स्खलति कराद्विजयाक्षमः कृपाणः ॥ ४१ ॥

तत् अवनिपाल ! अभिमतहिन्दुकृतैः अपि इद्धशङ्कैः मोघयत्नैः अलम् । नूनं व्यपरत-हृदयैः धृतः अपि विजयाक्षमः कृपाणः कराद् स्खलति ॥ ४१ ॥

तो सुलतान। यदि आपके विश्वासपात्र हिन्दू सामन्त भी इस दिशा में कुछ करते हैं (शिवाजी को पराजित करने के लिए) तो वह निष्फल ही होगा और हमारी अनास्था, शङ्का को ही बल मिलेगा। इसलिए इन शङ्कालु प्रयत्नों को अधिक अवसर देने की आवश्यकता नहीं। जिस हृदय में भक्ति हो, निष्ठा हो सन्दिग्ध है, वह यदि अपने हाथ से तलवार भी पकड़े तो वह तलवार उस हाथ से गिर पड़ेगी। (आशय है कि हिन्दू सेनापति या सामन्त आपके लिए पूर्ण निष्ठा नहीं रखते, फिर बिना मन का कार्य भी निष्फल ही होता है अतः ऐसे अवसरों पर हिन्दुओं का विश्वास करना घातक है) ॥ ४१ ॥

कृतगृहवसतेः सहस्रदीपाः प्रतिदिशमिष्टमवेक्षितुं भवन्तु ।
घनतिमिरपथे परं बहिष्कः प्रभवति वस्तुविधौ विना स्वनेत्रम् ॥ ४२ ॥

कृतगृहवसतेः प्रतिदिशं इष्टं अवेक्षितुं सहस्रदीपाः भवन्तु, परः बहिः घनतिमिरपथे वस्तुविधौ स्वनेत्रं विना कः प्रभवति ? ॥ ४२ ॥

घर पर रहते हुए तो अन्धकार में भी यदि किसी रखी हुई वस्तु की इच्छा हुई तो बीसों दीपकों के प्रकाश में उसे प्राप्त किया जा सकता है किन्तु घर से बाहर अन्धकार मार्ग पर चलते हुए तो वस्तुज्ञान के लिए अपनी ही दृष्टि पर भरोसा करना पड़ेगा। (राजधानी में तो हिन्दु सामन्त भी विश्वसनीय हो सकता है किन्तु उपद्रव आदि को कुचलने के अभियान में तो परम आत्मीय जन ही (जो अपनी दृष्टि के समान है) विश्वास भाजन हो सकता है।) ॥ ४२ ॥

रिपुकदन विधौ श्रमो न कश्चित् परमयमेव मनो दुनोति खेदः ।
यदहितदहनप्रथं कदापि नहि युधि मामरुणज्जयान्तरायः ॥ ४३ ॥

रिपुकदनविधौ कश्चित् श्रमः न, परं अयं एव खेदः मनः दुनोति यत् अहितदहनप्रथं मां कदापि युधि जयान्तरायः न हि अरुणत् ॥ ४३ ॥

शत्रु को ध्वस्त करने में मुझे कुछ भी श्रम विशेष नहीं करना पड़ता। फिर भी एक खेद मन को बराबर व्यथित करता रहता है कि शत्रुओं को जलाने में आग के समान भीषण मुझ अफजल खान को अब तक युद्ध में कभी भी विजय को सन्देहास्पद बनानेवाली बाधा नहीं ही मिली ॥ ४३ ॥

द्वयमिह भयमङ्कते[1] न नूनं स्थिरमतिरेव जडोऽथवाऽस्तचेताः ।
विषमिति परिमुक्तमाप्तबोधैर्मधुरमिवाकलितं हि सूदनप्त्रा ॥ ४४ ॥

स्थिरमतिः अथवा अस्तचेताः जडः एव इह नूनं द्वयं भयं न अङ्कते आप्तबोधैः विषं इति परिमुक्तं हि सूदनप्त्रा मधुरं इव आकलितम् ॥ ४४ ॥

इस जगत् में केवल दो ही व्यक्ति भय निर्मुक्त होते हैं, स्थितप्रज्ञ अथवा बोध हीन मूढ़ । बुद्धिमानों ने जिसे (शिवाजी पर आक्रमण करना) विष समझकर छोड़ दिया उसी को रसोइये के बेटे ने 'मधुर' मानकर स्वीकार कर लिया ॥ ४४ ॥

जगदपि निजकौशलावलेपाज्जडमिति निस्त्रपवर्त्मनाऽऽक्षिपन्ती ।
कृतनतिमभिनन्द्य राजमाता रहसि तमादिशदुद्धतं विधेयम् ॥ ४५ ॥

निजकौशलावलेपात् निस्त्रपवर्त्मना जगत् अपि जडं इति आक्षिपन्ती राजमाता कृतनतिं तं उद्धतं अभिनन्द्य, रहसि विधेयं आदिशत् ॥ ४५ ॥

अपनी बुद्धिमत्ता के गर्व में सारे संसार को मूर्ख मानकर निर्लज्जतापूर्वक आक्षेप करने वाली राजमाता ने अफजल खान को चरणों में झुकते देख, उसका सम्मान करती हुई एकान्त में दारुण कर्म करने के लिए (शत्रुओं का भीषण संहार करने के लिए) प्रोत्साहित किया तथा आदेश दिया ॥ ४५ ॥

स्वतनयमपि सर्वतोऽपि रक्ष्यं भुजगवधूः समयेऽत्ति निष्कृपेव ।
जननमरणसङ्कुले नृलोके प्रथमविधिर्निजजीविताऽभ्युपायः ॥ ४६ ॥

सर्वतः अपि रक्ष्यं स्वतनयं अपि निष्कृपा इव भुजगवधूः समये अत्ति । जननमरण-सङ्कुले नृलोके निजजीविताभ्युपायः प्रथमविधिः ॥ ४६ ॥

अपनी सन्तान सबको प्यारी होती है तथा जीवधारी सब प्रकार से उसकी रक्षा करते हैं । किन्तु उसी सविधि रक्षणीय सन्तति को सर्पिणी समय पड़ने पर निष्करुण होकर खा डालती है । यथार्थ तो यह है किन्तु जन्म तथा मृत्यु से परिपूर्ण इस संसार में आत्म जीवन को निरापद बनाना, व्यक्ति का प्रथम कर्तव्य है ॥ ४६ ॥

प्रणयकलहवर्त्मनीष्टभाजो विदधति सर्वविधोद्यमं स्वसिद्ध्यै ।
प्रकटति परुषाग्रहेऽपि लोको विजयिनि कौतुकनिर्भरां प्रशंसाम् ॥ ४७ ॥

इष्टभाजः प्रणयकलहवर्त्मनि स्वसिद्ध्यै सर्वविधोद्यमं विदधति, परुषाग्रहे अपि विजयिनि लोकः कौतुकनिर्भराम् प्रशंसाम् वितरति ॥ ४७ ॥

प्रेम तथा विरोध के क्षेत्र में यशस्वी पुरुष सब प्रकार के उपायों से आत्म-सिद्धि प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं । लोकमत भी कोई सैद्धान्तिक आदर्श नहीं है । कठोर कर्म करनेवाला भी (अनाचारी भी) जब विजयश्री का कृपापात्र हो जाता है तब वही समाज उसकी शतमुख, आश्चर्य मिश्रित प्रशंसा करने लगता है ॥ ४७ ॥

---

१. 'भयमीक्षते' इति पाठान्तरम् ।

भुवनसरसि नीरपूरकण्ठे तटभुवमाश्रयतां जनव्रजानाम् ।
हठकृतजललोडनस्य लोको भयमनसो नहि कीर्तये तटस्थाः ॥ ४८ ॥

नीरपूरकण्ठे भुवनसरसि तटभुवं आश्रयतां जनव्रजानां हठकृतजललोडनस्यलोकः हि तटस्थाः भयमनसः कीर्तये न ॥ ४८ ॥

यह संसार उस तालाब के समान है जो पानी से खूब भरा हुआ है तथा सारा मनुष्य समाज चारों ओर किनारे पर खड़ा है किन्तु इन खड़े रहनेवालों में से जो व्यक्ति साहसपूर्वक जल में कूद पड़ता है तथा उसे मथ डालता है उसी पर सारे समाज की दृष्टि जम जाती है। वास्तव में यह दुनिया उसीकी है जिसने इसे निर्भयतापूर्वक झकझोर डाला। तटस्थ रहनेवाले (किनारे पर खड़े होनेवाले या बैर विरोध से बचनेवाले) भयभीत प्राणी यश के भागी नहीं हो सकते ॥ ४८ ॥

अभिलषितमनोरथाय लोके सुतजननी सुतमौरसं निजाङ्कात् ।
अहमयि ! निजपाणिनैव तूर्णम् क्षतशिरसं विनिहत्य कर्तुमीशे ॥ ४९ ॥

अयि, लोके अभिलषितमनोरथाय निजाङ्कात् औरसं सुतं सुतजननी अहं निजपाणिना तूर्णं विनिहत्य क्षतशिरसं कर्तुं ईशे ॥ ४९ ॥

इस संसार में अभीष्ट मनोरथ की सिद्धि के लिए कुछ भी किया जा सकता है, जन्मदात्री माँ होकर भी मैं ही अपने पेट से उत्पन्न शिशु को अपनी गोद से अलग करके अपने ही हाथ से उसकी हत्या कर सकती हूँ। कुछ भी अकरणीय नहीं है। अभीष्टतम सिद्धि के लिए बड़ा से बड़ा बलिदान देना भी दुष्कर नहीं है। (ऐसी ही उक्ति अंग्रेजी साहित्य के नाटक 'मैकबेथ' में 'लेडी मैकबेथ' की भी है।) ॥ ४९ ॥

कुटिलविधिवती मुखस्मित[1]श्रीः कलुषमना सहजं स्वलक्ष्यदृष्टिः ।
वितथवचनपण्डिता[2] निगूढम् द्विषमुपतापयतीत्वरीव नीतिः ॥ ५० ॥

कुटिलविधिवती मुखस्मितश्रीः सहजं कलुषमनाः स्वलक्ष्यदृष्टिः वितथवचनपण्डिता नीतिः इत्वरी इव द्विषं निगूढं उपतापयति ॥ ५० ॥

नीति विशेषतः शत्रु संहार करनेवाली कूटनीति सदैव विषमय हृदय तथा मधुमय वाणी से व्यापार आरम्भ करती है। कूटनीति उस कुलटा नायिका के समान है जो अभीष्ट सिद्धि के लिए बाधक तत्त्वों को मिटा डालती है। वह कपटपूर्ण आचरण करती है किन्तु मुस्कान से मुखमण्डल अपनी निष्कपटता का विश्वास दिलाता रहता है। मन के भीतर भीषण प्रतिशोध भभकता रहता है तथा दृष्टि लक्ष्य पर केन्द्रित रहती है। अनृत भाषण की कुशलता में वह अद्वितीय रहती है तथा भीतर ही भीतर शत्रु पक्ष का भयकर अपघात कर डालती है ॥ ५० ॥

१. 'स्मितास्यलक्ष्मीः' इति पाठान्तरम् ।
२. 'वितथवचनकौशला' इति पाठान्तरम् ।

निज-जन-कदनावरोधपूर्वं रिपुनिधनं हि तदस्तु ते विधित्सा ।
कुटिलनयजितं विपाद्य युक्त्या चकितबलं शिवधूर्तमानयस्व ॥ ५१ ॥

तत् निजजनकदनावरोधपूर्वं रिपुनिधनं हि ते विधित्सा अस्तु युक्त्या विपाद्य कुटिल-नयजितं चकितबलं शिवधूर्तं आनयस्य ॥ ५१ ॥

निज पक्ष के संहार को रोकते हुए शत्रु का विनाश ही तुम्हारी कार्यपद्धति का आदर्श हो। कूटनीति के जाल में फँसाकर युक्तिपूर्वक उसकी इहलीला समाप्त कर उसके अनुगामियों को भ्रम में डालकर उस धूर्त शिवाजी को तुम बाँध लाओ ॥ ५१ ॥

शतविधशपथैः प्रतीतिगर्भैः परुषमतेः सकलां भियं विभिद्य ।
हृदि शयितशिशोरिवेष्टसिद्ध्यै अकरुणमाहर तस्य दृप्तशीर्षम् ॥ ५२ ॥

प्रतीतिगर्भैः शतविधशपथैः परुषमतेः सकलाम् भियं विभिद्य इष्ट सिद्ध्यै हृदि शयित शिशोः इव तस्य दृप्तशीर्षं अकरुणं आहर ॥ ५२ ॥

विश्वास उत्पन्न करनेवाले विविध शपथों द्वारा उस दारुण कर्मवाले के भय को निर्मूलकर, आत्मलक्ष्य सिद्धि के लिए, गोद में सोये हुए शिशु के समान उस शिवाजी का गर्वोन्नत सिर काट कर ले आओ ॥ ५२ ॥

अभिलषति न जीवने जनः को विजयवधूवरतल्पदृप्तदोहम् ।
परमयि ! निजसाधनेऽपशङ्का स्थगयति सौधकपाटमेव लक्ष्म्याः ॥ ५३ ॥

कः जनः जीवने विजयवधूवरतल्पदृप्तदोहं न अभिलषति । अयि परं निजसाधने अप-शङ्का लक्ष्म्याः सौधकपाटं एव स्थगयति ॥ ५३ ॥

कौन इस जीवन में विजयश्री के मनोहर लीलातल्प पर आसीन होकर चिरवांछित मनोरथ को सफल करना नहीं चाहता। किन्तु जब प्राणी आत्मसाधन में शंकाकुल हो जाता है तब लक्ष्मी के महल का फाटक उसके लिये बन्द हो जाता है ॥ ५३ ॥

मनसि सततमुद्यतोऽपि कृत्ये प्रभवति नैव जनः कदर्यचेताः ।
जनयति विरलं हिकश्चनाम्बा सुतमुपलब्धमनोरथं पृथिव्याम् ॥ ५४ ॥

मनसि सततं उद्यतः अपि कदर्यचेताः जनः कृत्ये न प्रभवति एव . पृथिव्याम् हि अम्बा कश्चन विरलं उपलब्धमनोरथं सुतं जनयति ॥ ५४ ॥

कातर स्वभाववाला प्राणी मन में तो बड़ी-बड़ी कल्पनायें करता है, ऊँची-ऊँची उड़ाने भरता है किन्तु किसी भी कल्पना को कार्य रूप में परिणत नहीं कर सकता। यों तो सभी मातायें पुत्र उत्पन्न करती हैं, किन्तु कोई भाग्यशालिनी माता ही ऐसे विशिष्ट पुत्र की पैदा करती है जो अपने संकल्पों को अपने जीवन में अपनी कार्यक्षमता एवं अध्यवसाय से पूरा भी करता है ॥ ५४ ॥

नियमपरिधृतार्णवाम्बरोर्वी नहि सहते पथविप्लवं कदापि।
बलवति निहिता जगत्प्रतिष्ठा व्यभिचरिता बलिनं निहन्ति नूनम् ॥ ५५ ॥

नियमपरिधृता अर्णवाम्बरा उर्वी कदापि पथविल्पवं न हि सहते, बलवति निहिता जगत्प्रतिष्ठा व्यभिचारिता (सती) नूनं बलिनं निहन्ति ॥ ५५ ॥

समुद्रों से घिरी हुई यह पृथ्वी नियम में स्थित है तथा नियमों का उल्लंघन सहन नहीं करती। जगत् की स्थिति एवं सुरक्षा का भार शक्ति में सन्निहित है यदि शक्तिमान् अपनी उच्छृङ्खलता के कारण संसार के प्रतिष्ठित नियमो में व्याघात उत्पन्न करे, उन्हें हठपूर्वक नष्ट करे तो वे क्षुब्ध नियम ही, वह निर्दलित प्रतिष्ठा ही उस शक्ति-शाली का भी विनाश कर देती है। अस्तु यदि शिवाजी अपने दुराग्रह से प्रतिष्ठित नियमों को विपन्न करता है तो उसका विनाश निश्चित ही है ॥ ५५ ॥

अहनि दिनमणिः शशी रजन्यामनवरतं जगतीपतिस्तु लोकम्।
अभिमतकरगौरवैरवन्ति विधिविहिता सरणिः कथन्न वन्द्या ॥ ५६ ॥

दिनमणिः अहनि शशी रजन्याम् जगतीपतिः तु अनवरतं अभिमतकरगौरवैः लोकं अवन्ति। कथं विधिविहिता सरणिः न वन्द्या ? ॥ ५६ ॥

दिन में सूर्य तथा रात्रि में चन्द्रमा अपनी किरणों के आलोक से लोक का पालन करते हैं। राजा भी दिन-रात जागरूक होकर लोक-सुरक्षा करता है तथा बदले में प्रजाजन उसे सर्वथा अनुमोदित उचित कर देते हैं। यह परम्परा से चली आ रही प्रथा है, इसका पालन होना ही चाहिए। (शिवाजी प्रतिष्ठित राजसत्ता का विरोधी है अस्तु इस कार्य की निन्दा ही होगी।) ॥ ५६ ॥

नरपतिमपि लङ्घितात्मवृत्तिर्यदि यतते प्रकृतिविरोद्धुमेवम्।
अभिभवितुमहो कपोतकान्ता कलयतु पत्रिणमर्णवं सरिद्वा ॥ ५७ ॥

यदि लङ्घितात्मवृतिः प्रकृतिः नरपतिं अपि एवं विरोद्धुं यतते, अहो कपोतकान्ता पत्रिणं सरित् अर्णवं वा अभिभवितुं कलयतु ॥ ५७ ॥

यदि अपनी मर्यादा को इस प्रकार छोड़कर प्रजावर्ग भूमिपाल राजा का सहठ विरोध करने लगे तब तो इसका यह अर्थ हुआ कि कबूतरी, बाज (श्येन) का अपमान करने की धृष्टता करे या नदी समुद्र का उल्लंघन करने लगे। (राजमाता की दृष्टि में जन विद्राह अधर्म है। राजा को राजा ईश्वर ने बनाया है। अस्तु प्रजा का कर्तव्य है उस राजा की आज्ञा का पालन करे। विश्व के अनेक देशों में इस प्रकार के विचारक फ्रांसीसी क्रान्ति के पूर्व तक पाये जाते थे। इगलैण्ड का स्टुअर्ट वंश तो राजसत्ता को ईश्वरानुमोदित ही मानता था (Divine theory of kingship) ॥ ५७ ॥

लघुरपि नवलोऽवरङ्गजीवादधिकतरं विषमो भविष्णुरेषः ।
मृदुलमपहतोऽपि मुस्तकल्पः पुनरुदितुं समये यतिष्यते यत् ॥ ५८ ॥

लघुः अपि नवलः भविष्णुः एषः अवरङ्गजीवात् अधिकतरं विषमः यत् मृदुलं अपहतः अपि समये मुस्तकल्पः पुनः उदितुं यतिष्यते ॥ ५८ ॥

जिस प्रकार जमीन के ऊपर से नष्ट करने पर भी मोथा (मुस्त) अवकाश पाते ही थोड़े ही समय में फिर बढ़ जाता है, उसी प्रकार यदि सामान्य ढंग से इस शिवाजी को दण्ड दिया गया तो समय पाकर वह बीजापुर के लिए फिर चिन्ता का कारण बन जायेगा। क्योंकि नवयुवक होने के कारण छोटा (अल्पसाधनयुक्त) होने पर भी यह दिल्लीपति औरंगजेब से भी अधिक दुखदायी है, यह वर्धिष्णु है तथा पड़ोस में विद्यमान है। अस्तु इसे भयंकर दण्ड ही मिलना चाहिए ॥ ५८ ॥

प्रतिजन मुदयायतिर्विभिन्ना, तुरगवराः जवनाः गजाश्च मन्दाः ।
सरलसरणिरेतु कोऽपि सिद्धिं, कुटिलपथान् श्रयतेऽधिकं रमा नः ॥ ५९ ॥

उदयायतिः प्रतिजनं विभिन्ना, तुरगवराः जवनाः गजाः च मन्दाः, कः अपि सरल-सरणिः सिद्धिं एतु, नः रमा कुटिलपथान् अधिकं रमते ॥ ५९ ॥

भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए उन्नति के अलग-अलग मार्ग हैं। घोड़े तेज दौड़ते हैं, किन्तु हाथी मन्दगामी होता है। कोई भी व्यक्ति सरल न्यायोचित मार्ग से आत्म सिद्धि पाये तो यह उचित ही है। किन्तु कुटिल मार्गवालों को तो दण्डित करना ही होगा क्योंकि राजसत्ता, प्रायः उपद्रवों के प्रति अधिक उदार होती है। राजलक्ष्मी प्रायः उद्दण्ड विद्रोहियों की ओर विशेष आकृष्ट होती हैं ॥ ५९ ॥

जनशिरसि पदं निधाय धीमान् रविरिव लोकतमो विधूय भाति ।
यदपि तमसि नन्दितान्तरात्मा नहि सहते शठकौशिको विभातम् ॥ ६० ॥

धीमान् रविः इव जनशिरसि पदं निधाय लोकतमः विधूय भाति, यदपि तमसि नन्दितान्तरात्मा शठकौशिकः विभातं हि न सहते ॥ ६० ॥

बुद्धिमान पुरुष समाज का अज्ञान दूर करते हुए समाज के सिर पर पैर रख कर भी अपने हितावह कार्यों के कारण सुशोभित होता है, जैसे संसार के सिर पर पैर (किरण) रखकर भी अन्धकार का नाश करने के कारण सूर्य यशस्वी ही होता है। हाँ यह ठीक है कि अन्धकार के आवरण में आनन्द लूटनेवाले दुष्ट उल्लुओं को प्रकाश से जगमगाता हुआ प्रभात काल भी असहनीय ही प्रतीत होता है ॥ ६० ॥

अभिलषितपदे निलीनचेताः [1]कुटिलरमा कुलटा जिगीषुनीतिः ।
सघन तिमिरकण्टकं हसन्ती भजति मनोरथमुग्रसाहसाङ्कम्[2] ॥ ६१ ॥

१. 'निविड' इति पाठान्तरम् ।
२. 'साहसेद्धम्' इति पाठान्तरम् ।

अभिलषितपदे निलीनचेताः कुटिलरमा कुलटा जिगीषुनीतिः सघनतिमिरकण्टकं हसन्ती उग्रसाहसाङ्कं मनोरथं भजति ॥ ६१ ॥

चञ्चला लक्ष्मी, कामुकी युवती तथा विजयाभिलाषी व्यक्ति की नीति अपने अभीष्ट लक्ष्य में अपने हृदय को बाँधे रहती हैं। जिस प्रकार संकेत स्थल पर जाने-वाली कुलटा कामिनी मार्ग में बाधास्वरूप आँधी, पानी, अन्धकार तथा काँटों की उपेक्षा करती हुई, उपहास करती हुई, साहस का आश्रय लेकर अपने मनोरथ को, कामदोह को सफल बनाती है वैसे ही, चञ्चला लक्ष्मी तथा विजयेच्छु की नीति भी लोकमत की उपेक्षा करके, बाधाओं को रौंदती हुई आत्म मनोरथ को पूर्ण करती हैं (यदि तुम्हें अपने उद्देश्य को पूरा करने में विघ्न भी आयें तो उनकी चिन्ता न करते हुए तुम शिवाजी का निग्रह करो।) ॥ ६१ ॥

विजयपुरकुलप्रतीपभक्तिर्नवशतवीरधुरीणसैन्यवर्गः ।
अशिवशिवचमूं निषेवतेऽद्य तववशमेष्यति किन्तु भेदकृष्टः ॥ ६२ ॥

विजयपुरकुलप्रतीपभक्तिः नवशतवीरधुरीणसैन्यवर्गः अद्य अशिवशिवचमूम् निषेवते किन्तु भेदकृष्टः तव वशं एष्यति ॥ ६२ ॥

इस समय शिवाजी की सेना में बीजापुर से रुष्ट होकर बीजापुर के नौ सौ वीर सैनिक भी भरती हुए हैं। यद्यपि वे इस समय मन्दमति शिवाजी के आदेश में हैं, किन्तु फूट डालकर उन्हें सहज ही अपनी ओर मिलाया जा सकता है ॥ ६२ ॥

तव समररसं बिभर्ति कृष्णा निपुणमवैति हतोद्यमा च दिल्ली ।
पटुरसि करणीयमावहस्व यदचिरमात्मशुचं जहातु भूपः ॥ ६३ ॥

कृष्णा तव समररसं बिभर्ति हतोद्यमा दिल्ली च निपुणं अवैति, पटुः असि करणीयं आवहस्व यत् भूपः आत्मशुचं अचिरं जहातु ॥ ६३ ॥

तुम्हारे युद्ध-पराक्रम को कृष्णा (महाराष्ट्र की एक नदी) भली-भाँति जानती है। दिल्ली भी अपने अनेक प्रयत्नों में भग्न मनोरथ हो जाने के कारण तुम्हारी शक्ति को अच्छी तरह समझती है। पराक्रमी होने के साथ ही साथ तुम अत्यन्त बुद्धिमान् भी हो। अतः जिस कार्य का दायित्व उठाये हो उसे अवश्य पूरा करो, जिससे बीजापुर के सुलतान शीघ्र ही अपनी चिन्ता से छुटकारा पा जाँय ॥ ६३ ॥

व्यपहतघनसाध्वसाः स्वसौधे नृपवनिताः सुचिरात् समुत्सुकाङ्ग्यः ।
प्रददतु दरलो[1]हितावलोकैः रजनिकुलाय बलिं सुषुप्तिकल्पम् ॥ ६४ ॥

सुचिरात् व्यपहतघनसाध्वसाः समुत्सुकाङ्ग्यः नृपवनिताः दरलोहितावलोकैः रजनि-कुलाय सुषुप्तिकल्पं बलिं प्रददतु ॥ ६४ ॥

बहुत दिनों से उत्कण्ठित अंगोंवाली राजरानियाँ, अन्तःपुर की नवयुवतियाँ अपने महलों में दुस्सह भय को भूल कर मधुपान के कारण कुछ-कुछ गुलाबी आँखों

१. 'दरकुचितावलोकैः' इति पाठान्तरम् ।

से आनेवाली रात्रियों के सम्मान के लिए अभ्यर्थना के लिए, अपनी नींद भेंटकर दें। राजदारायें चिरकाल से इस शिवाजो रुपी चिन्ता से बीजापुर को आतंकित जानकर, मनमारे, भय विकल राग रंग विहीन रातों को बिता रही हैं। तुम्हारे द्वारा इस शिवाजी के आतंक से मुक्त वे युवतियाँ अपनी अनुराग भरी रात्रियों को रागोन्माद में निमेष के समान बिना एक क्षण सोये बिता डालें ॥ ६४ ॥

सरभसमपि दर्पविह्वलोऽसाववहितधीरनुचिन्त्य चारवृत्तम् ।
प्रधनविरहमीहतां विकल्पम् यमसदनं हठमेतुमीहते कः ॥ ६५ ॥

सरभसं दर्पविह्वलः अपि असौ चारवृत्तं अनुचिन्त्य अवहितधीः (सन्) प्रधनविरहं विकल्पं ईहताम्, हठं यमसदनं एतुं कः ईहते ॥ ६५ ॥

यह भी सम्भव है कि यद्यपि शिवाजी सेना तथा शक्ति के मद में विह्वल है तथापि सावधान होकर अपने गुप्तचरों से वस्तुस्थिति को जानकर युद्ध के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प, अन्य उपाय ढूढ़ें। हठपूर्वक यमपुरी कौन जाना चाहता है ॥ ६५ ॥

भृशतरमवधार्य राजमातुर्विषमनयं तदुदीरिताभियुक्तः ।
शिवमृजुविधिनाऽभिभूय[1] जेतुं समभिललाष वृको यथा द्विपारिम् ॥ ६६ ॥

राजमातुः विषमनयं भृशतरं अवधार्य तदुदीरिताभियुक्तः वृकः यथा द्विपारिं शिवं ऋजुविधिना अभिभूय जेतुं समभिललाष ॥ ६६ ॥

राजमाता के अन्याय परक विपवमन को हृदय में सँजोकर उनकी उक्तियों के वश में आकर अफजल खान ने शिवाजी को हल्के सामान्य प्रयत्नों से बहकाकर फुसलाकर जीतना चाहा मानों कोई भेड़िया हाथी का मान मर्दन करनेवाले शेर को वश में करना चाहता हो ॥ ६६ ॥

समरनदतटद्वये स्वकीर्तिम् खर-करवाल-मुखेन लेखबद्धाम् ।
बहु-विध-नृप-सत्कृतोद्यमानां लिखितवतां वरसादिनामनीकम् ॥ ६७ ॥
दृढतरमवलोक्य शौर्यदीप्तं[2] सहठमरातिशमाय बद्धकक्ष्यः ।
समरचपलवाद्यघोषरौद्रे द्रुतमभियानपथे बबन्ध रागम् ॥ ६८ ॥

खरकरवालमुखेन समरनदतटद्वये लेखबद्धाम् स्वकीर्तिं लिखितवतां बहुविधनृपसत्कृतोद्यमानां वरसादिनां अनीकम् ॥ ६७ ॥

दृढ़तरं शौर्यदीप्तं अवलोक्य अरातिशमाय सहठं बद्धकक्ष्यः समरचपलवाद्यघोषरौद्रे अभियानपथे द्रुतं रागं बबन्ध ॥ ६८ ॥

जिन्होंने अपनी तीखी तलवार की धार से युद्ध-नदी के दोनों किनारों पर अपनी युद्धकीर्ति को लेखबद्ध किया था जो अपने अतिमानवीय युद्धशौर्य के लिए

---

१. 'प्रतार्य' इति पाठान्तरम् ।

२. 'शौर्यदृप्तम्' इति पाठान्तरम् ।

अनेक प्रकार से सुलतान द्वारा सत्कृत हुए थे ऐसे घुड़सवारों की पराक्रम से उबलती सेना का भलीभाँति निरीक्षण करके, शत्रु को निश्चय ही विनष्ट कर देने के लिए बद्धपरिकर अफजल खान ने लड़ाई के बाजों के तुमुल घोष से भयंकर आक्रमण के मार्ग में अपने मन को लगाया ॥ ६७-६८ ॥

तडिदनलस-वाहिनी कथं क्व जिगमिषतीति जनोऽनुमाति यावत् ।
पवनलहरिभिर्हरित्सु तावत् प्रतिगदितं ननु दग्धपूरजोभिः ॥ ६९ ॥

तडिदनलसवाहिनी क्व कथं जिगमिषति' इति यावत् जनः अनुमाति तावत् दग्धपूरजोभिः पवनलहरिभिः हरित्सु ननु प्रतिगदितम् ॥ ६९ ॥

अफजल खान की बिजली के समान वेगवती सेना को देखकर जबतक मार्ग के गावों के आदमी अनुमान लगावें तबतक जलाये गये गावों की राख से भरी वायु लहरियों ने निश्चय ही सब कुछ बता दिया। (अफजल खान की सेना आतंक फैलाने के लिए मार्ग के दोनों ओर के गाँवों को बिना किसी कारण के आग में जलाती हुई तीव्रगति से आगे बढ़ रही थी।) ॥ ६९ ॥

चलति रिपुबले गृहान् समाज–स्तरुमयहाय खगाः व्रजश्च गावः ।
त्वरितमपगताः हि कान्दिशीकाः अभिमुख मिच्छति वीक्षितुं यमं कः ॥ ७० ॥

रिपुबले चलति समाजः गृहान्, खगाः तरुम् गावः च व्रजं अपहाय त्वरितं हि कान्दिशीकाः अपगताः। यमं अभिमुखं वीक्षितुं कः इच्छति ? ॥ ७० ॥

शत्रुदल के उस भीषण अभियान को देखकर प्रजावर्ग ने घरों को छोड़कर पक्षियों ने आवास तरु समूहों का त्याग कर तथा भयभीत गायों ने घोष को छोड़कर शीघ्रतापूर्वक निरापद स्थान की खोज में, जिधर मुँह था उधर ही का रास्ता पकड़ा। भला अपने सम्मुख कौन यमराज को देखना चाहेगा ॥ ७० ॥

अनलकवलिताः पुरोऽवसन्नाः वनपशुनिर्भयनित्यधामभीमाः[1] ।
करुणमहितकृत्यमावहन्त्य–श्चिरमप कीर्तिकथाःयथावभूवुः ७१ ॥

अनलकवलिताः अवसन्नाः वनपशुनिर्भयनित्यधाममीमाः पुरः अहितकृत्यं करुणं आवहन्त्यः चिरम् अपकीर्तिकथाः यथाः वभूवुः ॥ ७१ ॥

सेना द्वारा जलाये गये गाँव उजड़ गये तथा उन्हें निर्जन देखकर हिंस्र जंगली पशु निरन्तर अपने निवास द्वारा उन्हें अधिक भयंकर एवं दुष्प्रवेश बना दिये। वे गाँव विवशतापूर्वक शत्रु के जघन्यकृत्य के साक्षी के रूप में बहुत समय तक शत्रु की कलंक कथा के समान वैसे ही पड़े रहे ॥ ७१ ॥

निगदितदुरितेव दक्षिणाशा दुरितघनस्तनितैरकालचण्डैः ।
विततविमलमम्बरं प्रसह्य तिमिरतिरोहित मुद्ददर्श भीता ॥ ७२ ॥

---

१. 'रौद्राः' इति पाठान्तरम् ।

निगदित दुरिता इव भीता दक्षिणाद्या अकालचण्डैः दुरितघनस्तनितैः विततविमलं अम्बरं प्रसह्य तिमिरतिरोहितं उद्ददर्श ॥ ७२ ॥

दुर्दिन में उमड़े हुए मेघों के अकाल सूचक प्रचण्ड गर्जन से दक्षिण दिशा को उस भीषण दुर्दशा की सूचना मिल गयी। भयभीत दृष्टि से दक्षिणाशा ने फैले हुए निर्मल आकाश को अन्धकार में डूबा हुआ सा देखा। अथवा लहराता हुआ निर्मल परिधान सहसा अन्धकार से रंग उठा ॥ ७२ ॥

अनवरतमशङ्किताधिकाराः मुहुरुपशल्यनिवासपाशवद्धान् ।
अभिलषितपशून् विकर्षयन्तो द्विषदनुगाः गृहिणो व्यबाधयन्त ॥ ७३ ॥

उपशल्यनिवासपाशबद्धान् अभिलषितपशून् मुहुः विकर्षयन्तः अनवरतं अशङ्किताधिकाराः द्विषदनुगाः गृहिणः व्यबाधयन्त ॥ ७३ ॥

शत्रु सेना के पीछे चलनेवाले लूटपाट करनेवाले अर्ध सैनिक सदा प्रत्येक वस्तु पर अपना अबाध अधिकार समझते थे। प्रायः गावों के किनारे पशुओं को रखने के लिए बाड़े बने हुए थे। अर्ध सैनिकों ने धन, जन, पशु आदि को अपने साथ खींच कर ले जाते हुए बेचारे गरीब ग्रामीणों को भयंकर संकट में डाल दिया ॥ ७३ ॥

अभिनवसुकुमारभावभव्यां सकलकलामिव विभ्रतीं स्वरूपे ।
पशुरिव तुलजापुरे भवान्याः व्यभिनदसौ प्रतिमां मनुष्यसंज्ञः ॥ ७४ ॥

अभिनवसुकुमारभावभव्यां स्वरूपे सकलकलाम् इव विभ्रतीम् तुलजापुरे भवान्याः प्रतिमां पशुः इव असौ मनुष्यसंज्ञः व्यभिनत् ॥ ७४ ॥

नित्य अभिनव सुकुमार भावों के द्योतन में अद्वितीय, सम्पूर्ण कलाओं की प्रतिष्ठा को अपने विग्रह में प्रदर्शित करनेवाली तुलजापुर की देवी की प्रतिमा को उस अफजल खान ने पशु के समान तोड़ डाला। फिर भी वह अपने आप को मनुष्य कहता था ॥ ७४ ॥

क्व नु खलु सुषमाकृतिः क्व चेमे प्रतिपलमासुरवर्तनाः नृशंसाः ।
इदमपि नहि ये विदन्ति मूढाः यदखिललोकसदाग्रहः कलात्मा ॥ ७५ ॥

सुषमाकृतिः खलु क्वनु, प्रतिपलं आसुरवर्तनाः इमे नृशंसाः च क्व, ये मूढाः इदं अपि नहि विदन्ति यत् कलात्मा अखिललोक सदाग्रहः ॥ ७५ ॥

कहाँ तो उत्कृष्टतम सौन्दर्य से पूर्ण यह कलाकृति और कहाँ ये राक्षसी मार्ग वाले नृशंष असहिष्णु मूर्ख। ये दरिद्र यह भी नहीं जानते कि कला की आत्मा सम्पूर्ण विश्व के कल्याण में प्रतिष्ठित रहती है अजातशत्रु है किसी से विरोध नहीं, दुर्भाव नहीं। कला तो निखिल जीवन की प्राण प्रतिष्ठा है ॥ ७५ ॥

समहृत मणिकेश्वरेण सार्धम् निजशठभावखलीकृतोऽन्यमूर्तीः ।
विषमतरविपर्ययानुरूपां भुजगजगच्छ्रियमातनोति धुर्याम् ॥ ७६ ॥

निजशठभावखलीकृतः मणिकेश्वरेण सार्धम् अन्यपीठान् समहृत, भुजगजगत् विषमतरविषः यथानुरूपां धुर्यां श्रियं आतनोति ॥ ७६ ॥

अपनी शठता के कारण अति निकृष्ट आचरण वाले उस अफजल खान ने मणिकेश्वर की प्रतिमा के साथ ही अन्य देवमन्दिरों को भी ध्वस्त कर डाला। ठीक है विषधर भुजङ्ग की प्रतिष्ठा तो उसके भयंकर विष वमन में ही है। जितना हो भयंकर विष होगा उतना ही डरावना वह सर्प भी माना जायेगा। अफजल खान ने अपने स्वभाव के अनुरूप ही आचरण किया ॥ ७६ ॥

[1]मृगयुमिव शरो जगाम खण्डूस्तमहितमिद्धमनोरथोऽसदात्मा ।
ननु भुवि जयचन्द्र वर्त्मभाजाम् न विरलता परिदृश्यते खलानाम् ॥ ७७ ॥

असदात्मा इद्धमनोरथः खण्डूः शरः मृगयुम् इव तं अहितं जगाम ननु जयचन्द्रवर्त्म भाजाम् खलानां भुवि विरलता न परिदृश्यते ॥ ७७ ॥

एक तो वानर, दूसरे बिच्छू ने डंक मार दिया। अफजल खान तो वैसे ही अनर्थ एवं ध्वंस में अद्वितीय था उसके सहायक के रूप में महत्त्वाकांक्षी दुष्टबुद्धि खण्डू मिल गये। मानो व्याध के हाथ में तीर आ गया हो—सचमुच इस पृथ्वी पर जयचन्द्र के मार्ग पर चलने वाले व्यक्तियों की कोई कमी नहीं है। खांडोजी खोपड़े उन्नोली का देशमुख था ॥ ७७ ॥

पशुधनमुदरे वसूनि कोषे युवतिजनान् रुदतो मदाक्ततल्पे ।
प्रतिपद युवकांश्च खड्गतर्पे शठरिपुसैन्यभटाः प्रसह्य निन्युः ॥ ७८ ॥

शठरिपुसैन्यभटाः पशुधनं उदरे, वसूनिकोषे, रुदतः युवतिजनान् मदाक्ततल्पे, प्रतिपदयुक्कान् च खड्गतर्पे प्रसह्य निन्युः ॥ ७८ ॥

उस दुराचारी शत्रु के सैनिकों ने पशुओं को अपने पेट में रख लिया (मारकर खा गये) धन सम्पत्ति लूटकर कोष में डाल दिया, रोती हुई युवती स्त्रियों को बलपूर्वक मदसिक्त शयनकक्ष में रख लिया। मार्ग में मिलने वाले युवकों के रक्त से कदम-कदम पर तलवार को प्यास को शान्त किया ॥ ७८ ॥

स्रवदविरतनेत्रवारिधाराः प्रसभ विषादनिपीतदेहसारान् ।
पथविटपितले कुलार्भकानां करुणदृशः समबोधयन्त वृद्धान् ॥ ७९ ॥

पथविटपितले कुलार्भकानां स्रवदविरतनेत्रवारिधाराः प्रसभविषादनिपीनदेहसारान् करुणदृशः वृद्धान् अबोधयन्तः ॥ ७९ ॥

---

१. जयचन्द्रः—कन्नौजनृपः दिल्लीपतेः स्वजामातुः पृथ्वीराजस्य ध्वंसमीहमानः तादृश्यं परितोषञ्चाप्तवत् मुहम्मदगोरी नाम्ना अफगानशासकेन निहते पृथ्वीराजे पूर्वपराजितेनापि तलावड़ी युद्धे (११९२) किन्तु द्वितीये वर्षे जयचन्द्रमपि तेनैव यथा कुलघ्नं देशद्रोहिणम् हतवान् समरे मुहम्मदगोरी।

जवान पुत्रों ने कुल मर्यादा को बचाने के प्रयास में प्राण दिया, युवती स्त्रियों को सैनिक घसीट कर ले गये, घर जला दिया गया, धन सम्पत्ति लूट ली गयी—अब रास्ते के किनारे वृक्षों के नीचे आखों से निरन्तर अश्रुधारा बहाते हुए छोटे बच्चों की करुण दृष्टि को देखकर, विषाद एवं शोक से शून्य चेतना वाले भग्न हृदय वृद्धों को सब कुछ नष्ट हो जाने पर उन बच्चों की रक्षा के लिए कर्तव्य का ज्ञान हुआ। उन्होंने उन छोटे-छोटे रोते बालकों के ही लिए अपने हतभाग्य प्राणों को धारण किया ॥ ७९ ॥

रजनिरपि घनान्धकारभीमा प्रसभमुपेक्ष्य शशिप्रभामपीष्टाम् ।
समजनयदुलूकरौद्रघोषैर्मनसि भियं ज्वलितौकसां दुरन्ताम् ॥ ८० ॥

घनान्धकारभीमा रजनिः अपि इष्टाम् शशिप्रभाम् अपि प्रसमं उपेक्ष्य उलूकरौद्रघोषैः ज्वलितौकसाम् मनसि दुरन्ताम् भियं समजनयत् ॥ ८० ॥

निविडअन्धकार से भयंकर रात्रि ने भी मनोहर चाँदनी की भी उपेक्षा करके उस निस्तब्धता में उलूकों की कर्कश चीत्कार से जले हुए घरों वाले शरणहीन लोगों के हृदय में घोर भय उत्पन्न कर दिया ॥ ८० ॥

व्यपहृतभयदुर्मदाः दिनेऽपि सहठमरण्यजुषः कठोरचेष्टाः ।
[1]अनलसमहितां धियं वितेनुः कुलशिशुरक्षिणि वार्धकेऽपि हिंस्राः ॥ ८१ ॥

दिने अपि सहठं व्यपहृतभयदुर्मदाः कठोरचेष्टाः अरण्यजुषः हिंस्राः वार्धके कुलशिशुरक्षिणि अपि अनलसं अहिताम् धियम् वितेनुः ॥ ८१ ॥

उजड़े अधजले गावों में लोगों की विरलता के कारण दिन के उजाले में भी भयरहित होने के कारण अधिक धृष्ट, कठोर चेष्टावाले जंगली हिंसक जन्तु तत्परता के साथ हठपूर्वक ग्रामञ्चलों में निर्बाध प्रवेश करके छोटे बालकों (परिवार के बचे हुए बालकों) की रक्षा करनेवाले वृद्धों पर भी आक्रमण करने लगे। बूढ़े लोगों की जागरूकता के कारण बच्चों पर आक्रमण करने में सफल न होने के कारण क्रुद्ध जंगली पशु बुड्ढों पर ही टूटने लगे ॥ ८१ ॥

अपजलभयविह्वलोरसस्ते वनहृदये शठसत्त्वभैरवेऽपि ।
विविशुरशरणाः जनाः जनेभ्यः पशुमपि सेव्यतरं विमृश्यमानाः ॥ ८२ ॥

अपजलभयविह्वलोरसः अशरणाः ते जनाः जनेभ्यः पशुं अपि सेव्यतरं विमृश्यमानाः शठसत्त्वभैरवे अपि वनहृदये विविशुः ॥ ८२ ॥

अफजल खान के भय से कम्पित हृदय उन गाँववालों ने हिंसक जन्तुओं से भरे हुए जंगलों के अन्तराल में शरण लिया। ग्रामवासी जनता ने सैनिकों के अत्याचार से मुक्ति पाने के लिए बाधाओं से भरे वनों में छिपना आरम्भ किया। यह

१. 'निरलसमहितां' इति पाठान्तरम्]।

सही है कि वनों में छिपना निरापद नहीं था बाघ, भेड़िये, सर्प आदि का सदा भय बना रहता था तथापि लोगों ने उन पशुओं को आततायी सैनिकों से तो अच्छा ही समझा ॥ ८२ ॥

अवटु गुरुकुलं हतश्रि गेहं मलिनरुचिः कुलरक्षिताऽऽर्य कीर्तिः ।
अपसृतकृषका धराऽपि वन्ध्या प्रतिदिशमीति कथामिवोचुरुच्चैः ॥ ८३ ॥

अवटु गुरुकुलं, हतश्रि गेहं, मलिनरुचिः कुलरक्षिताऽऽर्यकीर्तिः, अपसृतकृषका वन्ध्या धरा अपि प्रतिदिशं उच्चैः ईतिकथाम् इव ऊचुः ॥ ८३ ॥

बिना छात्रों की पाठशालायें, नष्ट भ्रष्ट किये गये मकान, मलिनकान्ति कुल-रक्षिता नारियाँ तथा भारतीय परम्परा, खदेड़ दिये गये किसान तथा स्वयं वन्ध्या (अन्न, फल, फूल विरहित) पृथिवी, प्रत्येक दिशा में चिल्लाकर अनाचारियों के पैशाचिक दुष्कृत्यों की कथा कह रही थीं ॥ ८३ ॥

अभिनगरमुरीकृताध्वबाधाः प्रतिपथमुत्थितरेणुपूरदूताः ।
अविरतगतयो जनाः स्वशीलं दनुजभयात् परिरक्षितुं व्रतस्थाः ॥ ८४ ॥

दनुजभयात् स्वशीलं परिरक्षितुं व्रतस्थाः, उरीकृताध्वबाधाः प्रतिपथं उत्थितरेणुपूर-दूताः अभिनगरं अविरतगतयः जनाः·····॥ ८४ ॥

अत्याचारी दानवों के भय से अपने शील, कुल, आचार आदि की सुरक्षा का व्रत लिए हुए ग्रामवासी गावों को छोड़ कर, मार्ग की प्रत्येक बाधा को सहन करते हुए तथा चलने के कारण उठती हुई धूल से अपने आने की पूर्व सूचना देते हुए, बिना रुके रास्ता चलते हुए नगरों की ओर बढ़ने लगे। पाँच श्लोकों का अन्वयः एक साथ होगा। ८४ का "जनाः" कर्ता है तथा ८८ का 'वितेनुः' किया पद है ॥ ८४ ॥

श्रमजलविनिवेदितानि मुक्त्वा निखिलवसूनि विडम्बनासतीर्थ्याः ।
अतिथिबहुमता अपि स्वजातानितरकराश्रयिणो निरीक्षमाणाः ॥ ८५ ॥

श्रमजलविनिवेदितानि निखिलवसूनि मुक्त्वा विडम्बनासतीर्थ्याः अतिथिबहुमताः अपि इतरकराश्रयिणः स्वजातान् निरीक्षमाणाः (जनाः·····) ॥ ८५ ॥

अपनी पसीनों की बूदों द्वारा उपार्जित सारी गाढ़ी कमायी को छोड़कर, अनेक विडम्बनाओं तथा विकलताओं से विकल वे ग्रामीण जन शहर के लोगों द्वारा अच्छी तरह अपनाये जाने पर भी अपने आश्रितों, बच्चों को दूसरे के (अपने आतिथ्य करनेवालों के) अनुग्रह पर अवलम्बित देखते हुए ॥ ८५ ॥

व्यवहृतपरिधानमात्रशेषा, अनधिकृतश्रमपीतशक्तिसाराः ।
सरजसि कुपथेऽपि कान्तयेव चिरविरहातुरनिद्रयोपगूढाः ॥ ८६ ॥

व्यवहृतपरिधानमात्रशेषाः अनधिकृतश्रमपीतशक्तिसाराः सरजसि कुपथे अपि चिर-विरहातुरनिद्रया कान्तया इव उपगूढाः (जनाः·····) ॥ ८६ ॥

गाँवों को छोड़ कर, भागे हुए उन लोगों के पास केवल शरीर पर पहिना हुआ वस्त्र मात्र शेष था, अत्यन्त श्रम करने के कारण शक्ति चूर-चूर हो गयी थी। धूल भरे रास्ते में बहुत समय से विरहातुर निद्रा से आलिगित होकर सो रहे थे मानों अपनी विरह विधुया प्रियतमा से आबद्ध होकर कोई पड़ा हुआ हो ॥ ८६ ॥

स्वयमकलिततृट् क्षुदन्तरायाः शरणधियः सुधियोऽपि वीतधैर्याः।
विनयविलसितै रशेषपौरैः नृपपुरुषैश्च निवेशिताः नियुक्तैः ॥ ८७ ॥

स्वयं अकलिततृद्क्षुदन्तरायाः सुधियः अपि वीतधैर्याः शरणधियः विनयविलसितैः अशेषपौरैः नियुक्तैः नृपपुरुषैः च निवेशिताः ॥ ८७ ॥

उन भाग कर आये हुए विपन्न लोगों को अपने भूख प्यास की कोई चिन्ता नहीं थी, वे शरण चाहते थे बुद्धिमान होकर भी दुस्सह चिन्ता के कारण धैर्यहीन हो रहे थे। आवास आदि की व्यवस्था में नगर की विनय पूर्ण जनता तथा शिवराज द्वारा नियुक्त राजकर्मचारी सब प्रकार उनकी सेवा में तत्पर थे ॥ ८७ ॥

उपलमपिरिपुप्लवानुलीढैः विरलकथैरपिवर्णनैर्दलन्तः।
शिव-जन-हृदये प्रतिक्रियायै समरमनोरथमुत्कटं वितेनुः ॥ ८८

रिपुप्लवानुलीढैः विरलकथैः अपि वर्णनैः उपलं अपि दलन्तः प्रतिक्रियायै शिवजन-हृदये उत्कटं समरमनोरथं वितेनुः ॥ ८८ ॥

उन लोगों ने शत्रु द्वारा किये गये विध्वंस से भरी, पत्थर तक को पिघला देनेवाली छोटी-मोटी घटनाओं के वर्णन से शिवराज के सहायकों में प्रतिक्रिया के लिए शत्रु के विरुद्ध लड़ने का उत्कट उत्साह भर दिया ॥ ८८ ॥

इति दुरितपथः प्रतापदुर्गं शिव-नृप-वासमिवावरोद्धुकामः।
पुलिनपरिसरं रिपु स्तटिन्याः वलशिविरैरकरोदशून्यदोषम् ॥ ८९ ॥

इति शिवनृपवासं प्रतापदुर्गं अवरोद्धुकामः इव दुरितपथः रिपुः तटिन्याः पुलिनपरि-सरं वलशिविरैः अशून्यदोषम् अकरोत् ॥ ८९ ॥

इस प्रकार शिवराज के निवासस्थान प्रताप दुर्ग को घेरने के लिए मलिन पथ सेवी शत्रु ने नदी के तटवर्ती मैदान को सैन्यशिविर से भर कर अनेक तरह के दोषों से भर दिया अथवा रात की निस्स्तब्धता को समाप्त कर दिया ॥ ८९ ॥

कुर्वन् कण्डूतिरागात् सरलनवतरून् निस्त्वचः स्थाणुकल्पान्
सम्बद्धाः शाखिशाखः फलकुसुमवतीर्मर्दयन् हेलयैव।

श्च्योतद्दानाम्बुलुब्धान् मलिनमधुलिहो नन्दयन् कर्णमूले।
सोऽसौ कुम्भीन्द्रकुम्भोत्कदनपटुमिभो याति हन्तुं मृगेन्द्रम् ॥ ९० ॥

कण्डूतिरागात् सरलनवतरून् निस्त्वचः स्थाणुकल्पान् कुर्वन्, फलकुसुमवतीः सम्बद्धाः शारिवशाखाः हेलया एव मर्दयन्, कर्णमूले श्च्योतद् दानाम्बुलुब्धान् मलिनमधुलिहः नन्दयन्, असौ सः इभः कुम्भीद्रकुम्भोत्कदनपटुं मृगेन्द्र हन्तुं याति ॥ ९० ॥

खुजलाहट की मौज में सीधे नवीन वृक्षों की छाल उखेड़ते हुए उन्हें ठूँठ बनाकर, शाखों फल-फूल से लदी डालियों को हठपूर्वक मसलते हुए, बहते हुए दान-जल (हाथियों के कनपटी से जल की बूँदे टपकती हैं) के लोभी भौरों को कान के पास पाकर उन्हें आनन्दिन करते हुए, वही हाथी गजराजों के सिर को फाड़ने में समर्थ सिंह को मारने के लिए आगे जा रहा है। (अफजल ही वह हाथी है तथा अपने बल के दर्प में किसी को कुछ न समझते वो धृष्टता करता हुआ सिंहरूपी शिवाजी टकराने जा रहा है।) ॥ ९० ॥

इति श्रीत्रिपाठ्युपाह्वेन उमाशङ्करशर्मणा विरचिते
क्षत्रपतिचरित-महाकाव्ये पञ्चमः सर्गः।

अथ षष्ठः सर्गः

अथ सपत्नबलं समवेक्षितुं कलयितुञ्च रहस्यमनोरथम् ।
शिवचराश्चरितारिविडम्बनाः सविनयं विविशुः शिविरं द्विषः ॥ १ ॥

अथ सपलषलं समवेक्षितुं रहस्यमनोरथं च कलयितुं चरितारिविडम्बनाः शिवचराः सविनयं द्विषः शिविरं विविशुः ॥ १ ॥

छठें सर्ग का आरम्भ कवि ने लक्ष्य विशेष को ध्यान में रख कर किया है। पाँचवे सर्ग की समाप्ति के साथ ही यह स्पष्ट हो जाता है कि शत्रु ने मार्ग के दोनों ओर के गाँवों, निवासियों तथा धार्मिक स्थानों को नष्ट—भ्रष्ट करने में अपने पूर्ण पराक्रम का परिचय दिया। जब प्रताप दुर्ग की तलहटी में नदी के किनारे सैनिकों का शिविर व्यवस्थित हो गया। पार्श्ववर्ती अञ्चल के लिए यह स्थिति सर्वथा विभीषिका-पूर्ण थी। वीर शिवराज ने अपने गुप्तचरों के द्वारा अफजल खान की सेना की यथार्थ स्थिति, उसका मन्तव्य आदि जानने के लिए प्रयत्न किया। फलतः वे नटों नटिनियों के वेष में खेल तमाशा दिखाने के बहाने शिविर में सहज ही प्रविष्ट हो गये तथा अपने कौशल से सैनिकों का अच्छी तरह मनोरञ्जन किया। बाद में अफजल खान के आदेश से ऋतु परिवर्तन का गीतिरूपक उपस्थित किया तथा पारितोषिक आदि प्राप्त कर सम्पूर्ण जानकारी लेकर वे चले आये। यह सर्ग द्रुत विलम्बित छन्द में लिखा गया है तथा चौथे पद में यमक का सन्निवेश है। सामान्यतः यह पूर्ववर्ती काव्य प्रथा (ऋतुवर्णन आदि) का निर्वाह है। अंशतः यह सही भी है किन्तु इसे युक्ति पुरस्सर बनाने के लिए नयी उद्भावना का आश्रय लिया गया है। अफजल खान के आदेश से ही छः ऋतुओं को एक ही स्थान पर अत्यन्त अल्प समय में (दो तीन घन्टों) प्रस्तुत किया गया है अस्तु अस्वाभाविकता का मार्जन कर दिया गया है तथा परम्परा भी नहीं तोड़ी गयी है। पर इतना स्पष्ट है कि कवि को पुष्पावचयन, जलक्रीड़ा तथा नखशिख वर्णन आदि काव्य परम्पराओं के पालन में कोई रुचि नहीं है। काव्य में स्वाभाविकता को प्रथम स्थान दिया गया है। साथ ही एक तथ्य और भी मननीय है,—कवि को यमक आदि अलंकारों के सन्निवेश से पाण्डित्यकौशल प्रदर्शित करना कथमपि ग्राह्य नहीं है अस्तु यह छठाँ सर्ग भी अपनी रचनात्मक प्रतिभा को असहजता से बचाता है। शत्रु सेना की स्थिति जानने और शत्रु के हृदय गत गूढ़भावों, दुरभिसन्धियों को भलीभाँति परखने के लिए, शत्रु कुल की दुर्दशा करने वाले, शिवराज के गुप्तचर विनमपूर्वक शत्रु की छावनी में प्रविष्ट हुए ॥ १ ॥

श्रितकलाः सकलाः कलगीतयो बहुविधं विधिरक्षितलक्षणाः ।
जनमनोहरकौतुकसम्पदा क्षणधियां विदधुः क्षणसत्क्रियाम् ॥ २ ॥

कलगीतयः श्रितकलाः बहुविधं विधिरक्षितलक्षणाः सकलाः जनमनोहरकौतुकसम्पदा क्षणधियाम् क्षणसत्क्रियाम् विदधुः ॥ २ ॥

नट-नटिनियों के रूप में शिवराज के वे गुप्तचर सचमुच कलाकार थे। संगीत में अति कुशल थे। अपनी वास्तविकता को, स्वरूप को कौशलपूर्वक छिपाये हुए थे। सैनिकों के हृदय को अनुरञ्जित करनेवाले खेल-तमाशों से आमोद-प्रमोद में रुचि रखने वाले उन लोगों का अच्छा मनोरञ्जन हुआ ॥ २ ॥

[1]फणिपिनद्धशिरोरुहसंहतिर्धवलभूतिमिताङ्गरुचि र्जनः ।
प्रलयनृत्यमुखेन मखद्विषोऽनुकृतिकौशलमाकलयत्क्वचित् ॥ ३ ॥

क्वचित् फणिपिनद्धशिरोरुहसंहतिः धवलभूतिसिताङ्गरुचिः जनः प्रलयनृत्यमुखेन मखद्विषः अनुकृतिकौशलं आकलयत् ॥ ३ ॥

जटाजूट को सर्पों द्वारा बाँधकर संयत किये हुए, सुन्दर स्वच्छ विभूति से शुभ्र अंग कान्ति वाले कलाकार ने प्रलयकालीन ताण्डव नृत्य द्वारा, यज्ञ विध्वंस करने वाले रुद्र का अभिनय प्रस्तुत किया ॥ ३ ॥

[2]हरसमाधिहरायहरेः पुरः सशपथं कुसुमायुधमावहन् ।
अमरवारवधूजननन्दिता धृतवसन्तकरो ददृशेऽतनुः ॥ ४ ॥

हरेः पुरः हरसमाधिहराय कुसुमायुधं सशपथं आवहन् अमरवारवधूजननन्दिता धृतवसन्तकरः अतनुः ददृशे ॥ ४ ॥

दर्शकों के सामने कामदेव उपस्थित हुए। हाथ में फूल का धनुष बाण लिये हुए, स्वर्ग की अप्सराओं का आनन्द बढ़ाने वाले कामदेव वसन्त का हाथ अपने हाथ में लिये हुए देवराज इन्द्र के सामने शपथपूर्वक भगवान् शंकर की समाधि को भंग करने की प्रतिज्ञा कर रहे थे ॥ ४ ॥

---

१. मखद्विट्—लोकाचारप्रतीपं शंकरं सतीनाथं स्वजामातरं द्विषन् तदपमानाय श्वसुरः प्रजापतिर्दक्षः स्वयज्ञे महादेवं ननिमन्त्रयामास । तत्सुता सती निषिध्यमानाऽपिभर्त्राऽनाहूतैव पितृगृहं जगाम-किन्तु यज्ञस्थले स्वपतिभागमप्रस्तुतं वीक्ष्य कोपज्वलितप्राणा देवी तत्रैव यज्ञभुवि योगाग्निना स्वदेहं ददाहनिशम्य नारदमुखादेतत् रुद्रोवीरभद्रनामानं स्वगणं दक्षयज्ञविध्वंसनाय प्रैषयत् स च प्रकुपितो यज्ञनाशं विधाय मुनीनृत्विजः सन्ताड्य दक्षशिरो निकृत्य हवनकुण्डे प्रचिक्षेप । ततः शान्तः शिवः सप्रसादं तं जीवयामास । अतएव मखद्विट् शङ्करः ।

२. योगाग्नौ ज्वलितायां सतीदेव्यां महतानिर्वेदेन विकलः शम्भुः समाधौ प्रविष्टः । तारकासुर शक्ति निर्जिताः स्वर्गान्निराकृताः देवाः तारकासुरविनाशकं शङ्करपुत्रं लब्धुं शङ्करे कामरागोदयाय सप्रयत्ना देवाः दुर्जयं पुष्पसायकं कामं ययाचिरे । ततः शंकरे क्षोभमङ्कुरयन् दग्धः कामः तत्तृतीयनेत्राग्निना ।

[1]अवशसस्पृहनिश्चलतारकः सुरभिसिद्धिलतामिव मेनकाम् ।
पवनकृष्टचलाञ्चलदर्शितस्तनफलाञ्चकमे कुशिकान्वयः ॥ ५ ॥

अवशसस्पृहनिश्चलतारकः कुशिकान्वयः पवनकृष्टचलाञ्चलदर्शितस्तनफलां मेनकाम् सुरभिसिद्धिलताम् इव चकमे ॥ ५ ॥

हवा के झोकों से अञ्चल के अस्त-व्यस्त हो जाने के कारण स्पष्ट क्षण भर के लिए दिखायी दे जानेवाले स्तनफलवाली, वसन्त की सिद्धिलता जैसी (शरीर में वसन्त की सिद्धिलता को आरोपित करने के कारण स्तनों में फल की अनुमिति स्वाभाविक ही है) मेनका को, दुर्दमनीय लालसा से विवश निश्चल पुतलियोंवाली आँखों से कुशिक कुलनन्दन तपस्वी विश्वामित्र ने देखा तथा उसे प्राप्त करने के लिए विह्वल हो गये। मेनका स्वर्ग की अप्सराओं में अप्रतिम हैं तथा प्रजापति ब्रह्मा ने मनोयोगपूर्वक अक्षय-सौन्दर्य को मेनका के माध्यम से स्वरूप प्रदान किया ॥ ५ ॥

[2]हरगणद्वयवर्धितचापलं विधिसुतं प्लवगास्यविडम्बितम् ।
मुहुरवेक्ष्य पुरोहरिणीदृशो हतफलञ्जहसुः कुटिलेङ्गितैः ॥ ६ ॥

हरगणद्वयवर्धितचापलं प्लवगास्यविडम्बितं हतफलं विधिसुतं मुहुः पुरः अवेक्ष्य हरिणीदृशः कुटिलेङ्गितैः जहसुः ॥ ६ ॥

अति सुन्दर शरीर एवं उत्कृष्ट परिधानों से अलङ्कृत किन्तु विकराल वानर के मुँहवाले, प्रजापति ब्रह्माजी के मानस पुत्र देवर्षि नारद को जिन्हें स्वयम्वर में वधू प्राप्ति के लिए उपयुक्ततम पात्र कहकर परम विनोदी दो शिवगण बराबर उत्साहित कर रहे थे, विफल मनोरथ देखकर, तमाशा देखनेवाली मृगनयनी युवतियाँ परस्पर व्यङ्ग्यपूर्ण कटाक्ष करती हुईं हँस पड़ीं ॥ ६ ॥

---

१. दुर्धर्षं तपोनिमग्नं कुशिक कुलनन्दनं विश्वामित्रमृषिं विलोक्य शतक्रतुरिन्द्रः स्वपदरक्षणाय भीतः तत्तपोविनाशाय प्रयतमानः तत्समीपं परमां लावण्यमयीम्मेनकामप्सरसं तद्विलोभनाय प्रैषयत् स च मुनिः रहसि नातिदूरं तां कन्दुकक्रीडासक्ताम् पवनान्दोलिताञ्चलस्खलनोदितस्तनफलामुपवने विलोक्य विस्मृतपःप्रकर्षः कामीव कामिनीमनुरञ्जयन् बहुकालं निनाय । सैव मेनका सुषुवे शकुन्तला विश्वामित्रपुत्रीम् ।

२. एकदा सम्पादित महातपाः नारदः तपः प्रभावादङ्कुरितगर्वापलेपो हरिं स्वकृतकामशासनं श्रावयामास । हरिणाऽपि तद्गर्वनाशाय माया प्रेरिता । मध्येमार्गं नारदः स्वयम्वरभुवं तत्र वर्त्मनिनीं राजदुहितरमपि ददर्श । स्वरूपदारिद्र्यमनुचिन्तयन् नारदो विष्णुं मनोज्ञरूपप्रदानाय प्रार्थितवान् । तथेति कृत्वा भगवता प्रदत्ता परमा रूपसम्पदभूयिष्ठा तनुः किन्तु भीषणवानरास्यकदर्थिता । अथ मोहान्धो नारदो बहु मन्यमानोऽपि स्वात्मानमुत्साहितः शिवगणद्वयेन समुपहसितोलोकैरनाप्तराजकन्यो याथार्थ्यं ज्ञात्वा शशपवान् हरिं शिवगणद्वयञ्च ।

[1]रणमुखे क्वचिदामिषवृत्तयः कुपितशूर्पणखा विनियोजिताः ।
रघुपतेश्शरचापपरावधैर्वशमिताः शमितागमनिर्गमाः ॥ ७ ॥

क्वचित् रणमुखे कुपितशूर्पणखाविनियोजिताः आमिषवृत्तयः शरचाप परावधैः रघुपतेः वशं इताः शमितागमनिर्गमाः (जाताः) ॥ ७ ॥

उस नटमण्डली ने सेना के सामने रामायण का 'शूर्पणखा नासिकाकर्तन' तथा 'खरदूषण वध' प्रस्तुत किया। कहीं पर (जनस्थान में) नाक, कान कट जाने के कारण रुधिराक्तमुखी शूर्पणखा द्वारा प्रतिशोध लेने के लिए प्रेरित, खरदूषण आदि मांसभोजी राक्षसों की सेना को, धनुर्वेद के सर्वोत्कृष्ट वीर भगवान् रामचन्द्र के बाणों द्वारा निहत होने के कारण जन्म मृत्यु के बन्धन से सदा के लिए मुक्त होते देखा गया ॥ ७ ॥

[2]क्वचिदयोघनभूधरविग्रहं नववयाः ललितो व्रजनन्दनः ।
सपशुमारमपोथयदश्रमं कुशलतोशलमुद्धतविक्रमम् ॥ ८ ॥

क्वचित् अयोघनभूधरविग्रहं उद्धतविक्रमं कुशलतोशलं नववयाः ललितः व्रजनन्दनः अश्रमं सपशुमारं अपोथयत् ॥ ८ ॥

[और कृष्ण चरित्र से लेकर मल्लयुद्ध का प्रदर्शन भी नटमण्डली ने प्रस्तुत किया । मथुरा में भगवान् राम और कृष्ण ने शलतोशल सुष्टिक आदि कंस के पहलवानों को मल्लयुद्ध में मार डाला था] कहीं पर लौहगिरि के समान कठोर शरीर एवं शक्तिवाले, भयानक पराक्रमी तोशल नामक पहलवान को नई अवस्था वाले सुकुमार, व्रजनन्दन कृष्ण ने बिना परिश्रम ही मल्लयुद्ध में लात घूसों थप्पड़ों से कचूमर निकाल पर पशु के समान मर डाला ॥ ८ ॥

[3]रहसि वाणसुता स्वमनोरथं चकित चारुदृशं नवसाध्वसा ।
प्रतिपलं चपलैरवगुण्ठनैरतितरं विवशाऽपि वशेऽनयत् ॥ ९ ॥

१. दण्डकारण्ये रागं दृष्ट्वा काममोहिता रावणभगिनी शूर्पणखा प्रार्थयामास स्ववधूं जानकीं निर्दिश्य रामेण लक्ष्मणसमीपं प्रेषिता सा राक्षसी पुनः लक्ष्मणेन रामाय प्रेषिता । अथ सीतां भीषयन्तीं तां लक्ष्मणः कर्णनासिकारहितामसृजत् प्रतिशोधार्थं सा राक्षसान् खरदूषणान् रामबाणास्तजीवान् विधाय रावणं प्रचोद्य सीताहरणपूर्वकं रावणवधमपि कारितवती ।

२. औग्रसेनिः कंसः कृष्णं हन्तुं गोपान् धनुष्यज्ञसमारोहे मथुरायामाहूतवान् । तत्र नानाविधोपायैः कृष्णं सबलरामं व्यापादयितुं कुवलयापीडं गजराजम् द्वारि नियुक्तवान् किन्तु तं हस्तिनं निहत्य. मल्लयुद्धे शलतोशलादीन् हत्वा कृष्णः मञ्चमारुह्य कंसं मातुलमपि व्यापाद्य साधून् सुजनान् निगडबद्धानुन्मोच्य देवकीं वसुदेवञ्च पितरौ कंसनिग्रहान्मोचयामास ।

३. बाणासुरस्य शिवभक्तस्य दुहिता स्वप्नेऽनिरुद्धं श्रीकृष्ण पौत्रं वीक्ष्य तदनुरागवती स्वसख्याः चित्रलेखायाः मन्त्रशक्त्या सुप्तमेवतं कन्यान्तःपुरेसमानाय्य लब्धोपभोगारक्षिभिः ज्ञाता च । श्रुत्वैतद् बाणोऽनिरुद्धं बन्धने ऽक्षिपत् । नारदादवधार्य वृत्तं श्री कृष्णमनुगतायादवी चमू रुरोध बाणनगरम् । रणे बाणं पराजित्यवरवधू सहितो द्वारकामागच्छत् कृष्णो यदुपतिः ।

रहसि नवसाध्वसा वाणसुता प्रतिपलं विवशा अपि चकितचारुदृशं स्वमनोरथं चपला अवगुण्ठनैः अतितरं वशे अनयत् ॥ ९ ॥

(कहीं पर कृष्ण कथा के प्रसंग में उषानिरुद्ध विवाह प्रस्तुत हो रहा था ।) एकान्त अन्तपुर के सुरक्षित प्रकोष्ट में मन्त्रवल द्वारा सुप्तावस्था में द्वारकापुरी से शोणितपुर में लाये गये अतएव जगने पर सर्वथा अपरिचित स्थान पर अपने को पाकर, चारो ओर अपनी मुग्धकारी दृष्टि से कौतूहल पूर्वक देखनेवाले अपने प्रियतम हृदयधन अनिरुद्ध को समीप पाकर सात्विक भावजन्य अभिनव भय से विह्वल, बार-बार खुल जानेवाले घूँघट से विवश, वाणपुत्री उषा सहमती हुई क्रमशः अपने वश में कर रही थी ॥ ९ ॥

[1]निहतभौमसुदुर्गसमुद्धृताः क्वचिदसङ्ख्यनराधिपकन्यकाः ।
सपुलकं ददृशुर्यदुनन्दनं सुकृतमालतमालनवच्छविम् ॥ १० ॥

क्वचित् निहतभौमसुदुर्गसमुद्धृताः असङ्ख्यनराधिपकन्यकाः सुकृतमालतमानवच्छविं यदुनन्दनं सपुलकं ददृशुः ॥ १० ॥

[कहीं पर कृष्णलीला सम्बन्धी भौमासुर वध प्रस्तुत किया जा रहा था ।] भौमासुर के मारे जाने के बाद उसके अति सुरक्षित दुर्ग से बाहर निकाली गयीं (बन्धन से मुक्त की गयीं) असंख्य किशोरी राजकन्याओं ने कृतज्ञता एवं हर्ष से विह्वल, पुलकित होकर, पुण्यमयी माला से सुशोभित तमाल कान्ति-शरीरवाले अपने उद्धारक यदुनन्दन कृष्णजी को देखा ॥ १० ॥

[2]विदितमौर्यधराधिपकम्पना ध्वनदनार्यबलावधिलङ्घिनी ।
क्वचिददर्शि जयोद्धवदुर्मदा ध्वजवती जवतीर्णरणाम्बुधिः ॥ ११ ॥

क्वचित् ध्वनदनार्यबलावधिलङ्घिनी जवतीर्णरणाम्बुधिः जयोद्धवदुर्मदा ध्वजवती विदितमौर्यधराधिपकम्पना अदर्शि ॥ ११ ॥

[कहीं चन्द्रगुप्त मौर्य की सेना द्वारा यूनानी सेनापति सिल्यूकस की पराजय का अभिनय हो रहा था ।] और दर्शकों ने विजेता सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य की विश्व-विख्यात रणवाहिनी को देखा । वह घोर गर्जन करनेवाली यूनानियों को विशाल सेना का मान मर्दित कर चुकी थी । विजयहर्ष से विह्वल थी ध्वज पताकाओं से सुशोभित थी तथा तेजी के साथ रण समुद्र को पार कर चुकी थी ॥ ११ ॥

१. भौमासुरं निहत्याजौ समुद्धृत्य तन्निबद्धाः राजकन्यकाः स्वस्थाः विदधौ श्रीकृष्णः । सर्वास्ताः श्रीकृष्णपरवशाः तमेव पतिमाप्तुं कृतनिश्चयाः भगवतास्वीकृताः ।

२. सम्राट् चद्रगुप्तो मौर्यः—विजेता निखिलायाः भरतावनेः शिष्यश्चाणक्यस्य युद्धे यवनसेनापतिं सिल्यूकसामिधं पराजित्य तत्सुतामुपयेमे ।

[1]अनवलोकितपृष्टदिशं क्वविद् विषमबर्बरहूणपताकिनीम् ।
खगपति-ध्वज-कुन्त-भयद्रुताम् विजहसुः समवेक्ष्य युयुत्सवः ॥ १२ ॥

क्वचित् अनवलोकितपृष्टदिशं विषमबर्बरहूणवाकिनीम् खगपतिध्वजकुन्तभयद्रुताम् समवेक्ष्य युयुत्सवः विजहसुः ॥ १२ ॥

जिसने युद्ध में कभी पीछे की दिशा को देखना सीखा ही नहीं था, हूणों को उस भयङ्कर सेना को गरुणध्वजवाली सेना (आर्य सेना) के भालों की मार से सभय भागते देखकर, युद्धोन्मत्त अफजल खान के सैनिक हँसने लगे। ज्ञातव्य है कि गुप्त वंशावतंस महाराज स्कन्दगुप्त ने हूणों को पश्चिमोत्तर प्रदेश से युद्ध में हराकर चिरकाल तक के लिए खदेड़ दिया था ॥ १२ ॥

हरिनिदेशभयादिव सत्वरं खरखुरंहरिमूर्ध्नि निवेशितम् ।
प्रकृतिघोरविपर्ययमाकुलाः सहभियाददृशुर्द्विषदङ्गनाः ॥ १३ ॥

सत्वरं हरिनिदेशभयात् इव हरिमूर्ध्नि प्रकृतिघोरविपर्ययं निवेशितं खरखुरं आकुलाः द्विषदङ्गनाः भिया सह ददृशुः ॥ १३ ॥

बन्दर के आदेश से भयभीत गधे ने अपने खुर को शेर के शिर पर रखा था। प्रकृति में इतनी भयंकर उलट पुलट से व्याकुल भयभीत मुद्रा में शत्रुनारियों ने उस अभिनय को सहमते हुए देखा ॥ १३ ॥

सकलहाऽपि पराग्रहलिप्सुना, परिहृता कपिना बत वानरी ।
मृगदृशां करुणारुणवीक्षितं सकरुणं रुदती समवर्धयत् ॥ १४ ॥

सकलहा अपि पराग्रहलिप्सुना कपिना परिहृता रुदती वानरी बत सकरुणं मृगदृशाम् करुणारुणवीक्षितं समवर्धयत् ॥ १४ ॥

[बन्दर बन्दरिया के प्रणय कलह का रूपक प्रस्तुत करते हुए नटमण्डली ने दर्शक नारियों को बरबस बन्दरिया के प्रति सहानुभूति पूर्ण बना दिया] बन्दर ने अपनी झगड़ालू बन्दरिया को किसी दूसरी बानरी को घर मे बैठाने की लालसा से छोड़ दिया। अब परित्यक्त होने पर करुणा पूर्वक रोती हुई उस बानरी ने मृगनयनी युवतियों के आखों में करुण एवं अरुण मनोभावों को भर दिया। वानरी के प्रति सहानुभूति तथा उसकी दुर्दशा के प्रति समवेदना ने करुण भाव को उद्भासित

१. हूणाः—मध्य एशिया-सादिनां समूहः। अर्धसभ्यलोकः, परम्परासंहारकः। दुर्जया भीमपराक्रमा चमूः भूमध्यसागरोपान्त देशान् यूरोपीय महाद्वीपे व्यपहृतासून् निर्गतप्राणान् विधाय, मध्य-एशिया जनपदान् सम्मर्घं भारतमपि निर्दग्धुं तरसा प्रविष्टा प्रतिरक्षिभटैः गुप्त-युवराज स्कन्दगुप्तेन नियुक्तैः प्रतिरुद्धा पराजित्य च भारताद्विनिस्सारिता। अपम् स्कन्दगुप्तो दिवङ्गते पितरि राजनि कुमारगुप्ते नृपासनेऽभिषिक्तो भारतं पालयामास। गरुणाङ्कितः ध्वजः सुरपति गुप्तानाम् विष्णुभक्तिम्।

किया किन्तु बानर की परकीया सम्बन्धी स्पृहा ने उस स्त्री समाज को क्रोधान्ध कर दिया फलतः आँखों में अरुणिमा झलकने लगी ॥ १४ ॥

रुचिरकौतुकहृष्टमनास्ततो वलपतिस्सहठं नटगायकान् ।
समभिनेतुमृतूत्सवमादिशत् तदुचितोदितरङ्गपरिच्छदम् ॥ १५ ॥

ततः रुचिरकौतुकहृष्टमनाः वलपतिः नटगायकान् सहठं ऋतूत्सवं तदुचितोदितरङ्ग-परिच्छदम् समभिनेतुं आदिशत् ॥ १५ ॥

इस प्रकार इन मनोरञ्जक रुपकों से प्रसन्न चित्त होकर सेनापति अफजल खान ने उस नटमण्डली को आग्रहपूर्व आदेश दिया कि वे पूर्ण सज धज साज सज्जा के साथ ऋतु उत्सव को अभिनीत करें [भारत के अनेक प्रदेशों में बारहमासा ऋतु वर्णन, द्वादशराशि का आदि नृत्यगान याचक नट नटिनियों द्वारा सम्पन्न होता है। यद्यपि प्रश्रय हीनता तथा अशिक्षा एवं विपन्नता के कारण नटों ने वह कलात्मक-रुचि पूर्णता को त्याग दिया है फिर भी वह परम्परा आज भी निर्मूल नहीं हुई है।] ॥ १५ ॥

हठनिदेशभयादिव तत्क्षणं तदखिलं परिवर्तितसम्पदा ।
रुचिररङ्गविधानपरम्परां ललितनृत्तकलां समदर्शयत् ॥ १६ ॥

तत्क्षणं हठनिदेशभयात् इव परिवर्तितसम्पदा तत् अखिलं रुचिररङ्गविधानपरम्पराम् ललितनृत्तकलाम् समदर्शयत् ॥ १६ ॥

मानो उनके आग्रहपूर्ण आदेश के भय से ही वह सब कुछ उसी क्षण परिवर्तित वेष भूषा आदि से सम्पन्न हो गया। और ललित नृत्यगान आदि से समन्वित सुन्दर रङ्गमञ्च की परम्परा उल्लसित हो गयी ॥ १६ ॥

समाकुलस्त्रुट्यति गात्रवन्धो वासोऽसपातं मुहुरातनोति ।
भ्रान्तेव न स्वास्थ्यमुपैति दृष्टिः वसन्तवाताऽऽहतसुन्दरीणाम् ॥ १७ ॥

वसन्तवाताऽऽहतसुन्दरीणां समाकुलः गात्रबन्धः त्रुट्यति, वासः मुहुः अंसपातं आतनोति, दृष्टिः, भ्रान्ता इव स्वास्थ्यं न उपैति ॥ १७ ॥

वसन्तकालिक पवन से क्षुब्ध युवतियों का अङ्ग अङ्ग विकल होकर टूट रहा है बार-बार कन्धे से फिसलता हुआ आँचल अभ्यास सा कर रहा है। उद्विग्न होकर चारों ओर उठती हुई दृष्टि अनमनी सी हो रही हैं कहीं पर चैन नहीं मिलती ॥ १७ ॥

कलमलिर्विपिनं नवपल्लवं परभृतो मधुकण्ठमिनो महः ।
नवचयो जगदम्बरमच्छतां रसमये समये सुरभे दधौ ॥ १८ ॥

सुरभेः रसमये समये अलिः कलं, विपिनं नवपल्लवं, परभृतः मधुकण्ठं, इनः महः, जगत् नववयः, अम्बरं अच्छताम् दधौ ॥ १८ ॥

ऋतुराज वसन्त का राज्यारोहण है प्रजाजनों को यथायोग्य प्रसाद मिला है। भवरों ने कलस्वन, मधुर गुञ्जन पाया है, वनों उपवनों को अभिनव कोमल पल्लव दल मिले हैं। कोकिल को मधुमय कण्ठ, स्वरमाधुरी मिली है सूर्य को उज्जवल प्रकाश मिला है। संसार को नयी उम्र मिली है आकाश को निर्मलता प्राप्त हुई है। रसपूर्ण वसन्त के आगमन में सबका मनोरथ पूर्ण हुआ है॥ १८॥

गलितपत्ररुचि र्जडकश्मलो विरलधामभरोऽनिल बाधितः।
भरति गन्तुमितः सुरभौ हिमः श्रितनये तनयेश्रियमुत्तमाम्॥ १९॥

गलितपत्ररुचिः जडकश्मलः विरलधाममरः अनिलबाधितः हिमः इतः गन्तुं श्रितनये तनये सुरभौ उत्तमां श्रियं मरति॥ १९॥

भारतीय परम्परा है कि वृद्धावस्था से विपन्न होने पर गृहस्थ समर्थ उत्तराधिकारी को दायित्व, अधिकार आदि देकर गृहबन्धन से मुक्ति चाहता है। शीतकाल भी कुछ ऐसी ही मनः स्थिति में है। जैसे—अब वाहनों के व्यवहार का उत्साह जाता रहा (पत्तों के झड जाने से शोभा नष्ट हो गयी है) जड़ता, बुढ़ापा के कारण शरीर रुक्ष हो गया अकड़ गया है, तेज, पौरुष भी पहले जैसा न रहा। हवा के कारण, बात व्याधि से कम्पन उग्र हो जाता है। इस प्रकार यहाँ से जाने के लिए तत्पर हिम काल लक्ष्मी को अपने नीतिनिपुण पुत्र बसन्त में संस्थापित कर रहा है॥ १९॥

प्रचयपुष्पधनुः सशिलीमुखं पिककलज्यमवाप्य समुल्लसन्।
मधुसखो मृगयुर्नवमानिनीजनतपा नतपादपवल्लरिः॥ २०॥

पिककलज्यं सशिलीमुखं प्रचयपुष्पधनुः अवाप्य समुल्लसन् नतपादपवल्लरिः नवमानिनीजनतपाः मधुसखः मृगयुः॥ २०॥

(वसन्त के राज्य में कामदेव की स्थिति देखिये)।—विकसित पुष्पराशि ही धनुष है साथ में शिलीमुख (वाण, भ्रमर) भी हैं, कोकिल की मीठी तान ही प्रत्यञ्चा है। वसन्त का मित्र शिकारी कामदेव अस्त्र-शस्त्र से सज्जित हो वृक्षों लताओं को नचाता हुआ नबोढा मानवती युवतियों को अधिकाधिक पीड़ा दे रहा है॥ २०॥

द्विजकुलालिकलस्वनगीतिभिः किसलयाभिनवच्छविसम्पदः।
प्रवयसस्तरवोऽपि समुत्सुकाः समुदिते मुदिते कुसुमाकरे॥ २१॥

मुदिते कुसुमाकरे समुदिते, किसलयाभिनवच्छविसम्पदः प्रवयसः तरवः अपि द्विजकुलालिकलम्बनगीतिभिः समुत्सुकाः (जाताः)॥ २१॥

[वसन्त ऋतु में केवल नयी उम्र वालों में ही मनोरथ का उद्रेक नहीं हुआ है वृद्धों में भी उत्कण्ठा अंगड़ायी ले रही है]—पुराने वृक्षों में भी उत्कण्ठा तड़प रही है, विहग समूह की कल ध्वनि, भौरों का कल रव ही मानो उन पेड़ों का गीत है, नवीन कोपलों की शोभा ही उनकी सम्पत्ति है, प्रसन्न स्वभाव वाले वसन्त के उदित होने पर इस तरह बूढ़े पेड़ भी उत्कण्ठा-विह्वल हो गये हैं। [प्रकृति

का नियम ही है कि वसन्तागम के आस-पास पेड़ों में नयी कोंपले निकल आती हैं कोयल आदि पंछी कल ध्वनि से वातावरण को प्रतिध्वनित कर देते हैं।] ॥ २१ ॥

चलरसालरसालसमञ्जरीरुचिरता चिरतापहराऽधुना ।
सककुभाः ककुभा रुचिरेजिताः ससरले सरले कुसुमाकरे ॥ २२ ॥

अधुना चलरसालरसालसमञ्जरी रुचिरता चिरतापहरा, ससरले सरले कुसुमाकरे रुचिरेजिताः सककुभाः ककुभः (सन्ति) ॥ २२ ॥

पवन लहरियों से झूमते हुए आमों की सरस मादकता से आलस्यपूर्ण प्रभाव डालनेवाली बौरों की शोभा ने दीर्घकालीन विकलता को दूर कर दिया। अर्जुन वृक्षों के समूह से भरी दिशायें मनोहर लगने लगीं आर्जव-प्रकृति सम्पन्न वसन्त में कनेर के पीले पुष्पों का सौन्दर्य सर्वत्र व्याप्त हो गया ॥ २२ ॥

मलयजो रजनी रजनीपति र्दधतु तेऽननुविद्धतटस्थताम् ।
जयति कोऽपि मधौ जगतीरमो मधुरिमा धुरि माधवसम्पदाम् ॥ २३ ॥

मलयजः रजनिः रजनीपतिः ते अननुविद्धतटस्थताम् दधतु मधौ माधवसम्पदाम् धुरि कः अपि जगतीरमः मधुरिमा जयति ॥ २३ ॥

ठीक है कि वसन्त की प्रभावशक्ति में मलय पवन, चाँदनी रात, चन्द्रमा आदि का भी योगदान रहता है किन्तु ये असन्दिग्ध रूप में यदि तटस्थ्य व्रत भी धारण कर लें तब भी चैत मास में संसार को बरबस अपनी ओर आकृष्ट करनेवाली कुछ ऐसी माधुरी रहती है जो वसन्त की अनेक विध सम्पत्तियों में भी अद्वितीय है। चैत्रमास की मादकता भरी माधुरी अनुपम है ॥ २३ ॥

विमलपल्वलमज्जनकौतुकी घनपिशङ्गपरागविमण्डितः ।
मधुमरुत् श्रयते कुसुमावलिं नववशां विवशामिव यूथपः ॥ २४ ॥

विमलपल्वलमञ्जनकौतुकी घनपिशङ्गपरागविमण्डितः मधुमरुत् कुसुमावलिम् यूथपः विवशाम् नववशाम् इव श्रयते ॥ २४ ॥

चैत्र मास का उन्मादकारी पवन, निर्मल जलवाले तालाबों में स्नान का आनन्द प्राप्तकर पीले-पीले पराग कण से सुशोभित होता हुआ कुसुमसम्पत्ति की ओर इस तरह सस्पृह आकृष्ट हो रहा है जेसे भावविह्वल नयी हथिनी के पीछे गजयूपथ भी जलक्रीड़ा आदि के माध्यम से अपने भावों को व्यक्त करता हुआ नयी हस्तिनी में आसक्त होता है ॥ २४ ॥

कलरुचिः सविता सहनो हिमः ससुषमा वसुधा मदिरोऽनिलः ।
अलिभरा नवकञ्जसरस्ततिः सहृदया हृदयाङ्कुरितस्पृहाः ॥ २५ ॥

सविता कलरुचिः, हिमः सहनः, वसुधा ससुषमा, अनिलः मदिरः, नवकञ्जसरस्ततिः अलिभरा, सहृदयाः हृदयाङ्कुरितस्पृहाः ॥ २५ ॥

अहा, ऋतुराज के आगमन का प्रभाव तो देखिये, सूर्य प्रभा में मोहक उत्कर्ष आ गया है, अब शीत असह्य नहीं लगता, पृथ्वी सौन्दर्य से भर गयी है, पवन में मादकता है। नवीन कमल पुष्पों से पूर्ण तालाबों की पंक्ति भौरों से भर गयी है तथा सहृदयों के मन में लालसायें अंकुरित हो गयी हैं। प्रकृति के प्रत्येक स्तर में वसन्त का वैभव दृष्टिगोचर हो रहा है यही क्यों सूर्य, पवन आदि भी उससे ओत-प्रोत हैं। सचेतन प्राणी भी अपने हृदय में स्पृहारञ्जित हो गये हैं॥ २५॥

कुसुमसम्बलशोभिवनस्पतौ वहति गन्धवहे स्मृतिसङ्कुले।
अनभिधाधिरमे मधुमाधवे सदयिताः दयिता अपि किं क्षमाः॥ २६॥

कुसुमसम्बद्धशोभिवनस्पतौ स्मृतिसङ्कले गन्धवहे वहति, मधुमाधवे अनभिधाधिरमे सदयिताः अपि दपिताः किंक्षमाः॥ २६॥

जब वनस्पति अनेक प्रकार की पुष्प सम्पत्ति से लद जाती है स्मृति को पुनरुज्जीवित करता हुआ गन्धभारवाही पवन बहने लगता है तथा मधु-उत्सिक्त वसन्त जब अनकही वेदना को उभाड़ने लगता है तब प्रियतमाओं के साथ रहनेवाले प्रेमी जन भी क्या अप्रभावित रह सकते हैं? (वसन्त की मनोरम सम्पत्ति हृदय में कुछ ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देती है कि व्यक्ति एक अज्ञात मधुर पीड़ा से भर उठता है। शब्दों में शक्ति भी नहीं कि उस वेदना का विश्लेषण कर सकें॥ २६॥

नवरसालरसासवविह्वलप्रियतमामधुचञ्चुपुटस्पृशः।
परभृता जगतीललिताऽऽधयः कलवचोलवचोरितसंयमाः॥ २७॥

नवरसालरसासव विह्वलप्रियतमामधुचञ्चुपुटस्पृशः जगतीललिताधयः परभृताः कलवचोलवचोरितसंयमाः॥ २७॥

और इन कोकिलों वसन्तदूतों की तो कथा ही निराली है आम के नये कोमल पत्तों बौरों आदि के रस निर्भर मधुपान से उन्मद कोकिला के मादक चञ्चु-पुटों का स्पर्श करनेवाले ये कोकिल तो संसार के लिए मनोहर वेदना स्वरूप (खूब-सूरत बला) ही हैं। ये अपने कल-स्वन-माधुरी के कण मात्र से भी मनुष्य को संयम विहीन कर देते हैं। कोयल की मादक तान संयम चुरा लेती है॥ २७॥

चलदपाङ्गशरैर्हृदयोन्मुखैर्मलयवातधुतैर्ललिताञ्चलैः।
मदकलैरलकैरपिसुभ्रुवां निजगदे जगदेकमनोरथः॥ २८॥

हृदयोन्मुखैः चलदपाङ्गशरैः मलयवातधुतैः ललिताञ्चलैः मदकलैः अलकैः अपि सुभ्रुवां जगदेकमनोरथः निजगदे॥ २८॥

सुन्दर भोहों वाली देवियों ने तो इस आग में मानो घी का काम किया है। हृदय को लक्ष्य बनाकर चलाये गये कटाक्षवाणों से, पवन द्वारा बार-बार उड़ाये जानेवाले मनोहर अञ्चलों से, यहाँ तक कि इनके उन्मादक केश कलापों द्वारा भी

संसार में एक ही मनोरथ व्यक्त किया जा रहा है। स्वभावतः इनकी सामान्य प्रवृत्ति भी कुछ अनकही कह रही है ॥ २८ ॥

शशधरे सदयं दहनायिते मलयजे भुजगोदरसङ्गिनि ।
शरसतीर्थ्यपथे नवपल्लवे पिक-कलङ्क ! कलङ्कथमङ्कसे ॥ २९ ॥

शशधरे सदयं दहनायिते, मलयजे भुजगोदरसङ्गिनि, नवपल्लवे शरसतीर्थ्यपथे, पिक-कलङ्क ! कथं कलं अङ्कसे ॥ २९ ॥

[इस दुर्विनीत कोकिल की देखिये, आपने भी अपना चमत्कार आज ही के लिए संजोकर रखा था। भला वसन्त के इस सुदृढ़ शासन में तुम्हारे बिना भी तो संसार भोग ही रहा था, वेदनाओं की कभी तो नहीं ही थी] वसन्त के इस राज्य में जब चन्द्रमा भी दयापूर्वक आग बन गये हैं, मलय पवन तो ऐसा भला प्रतीत हो रहा है जैसे महाभुजङ्ग के पेट में से निकलकर आ रहा हो, और ये चारों ओर वृक्षों लताओं को समृद्ध करनेवाले नवपल्लव तो मानों बाणों के भाई बन्धु हो गये हैं (पुष्प, काम का बाण है अतः पुष्प के साथ रहने वाले नवपल्लवों में भी बाण का गुण आ जाय तो बहुत अस्वाभाविक तो नहीं ही है)। ऐसी स्थिति में ऐ अधम कोकिल ! तुम क्यों अपनी तान सुनाने के लिए इतने उतावले हो रहे हो। अब बाकी ही क्या है जिसकी पूर्ति तुमसे होनी है ॥ २९ ॥

अलिगुणाः कुसुमोद्गमरीतयो हरिदलङ्कृतिपल्लवितं तरोः ।
परभृतेन समीक्ष्य सदर्थताम् ध्वनिकृता निकृता गुणधर्मिणः ॥ ३० ॥

अलिगुणाः कुसुमोद्गमरीतयः, तरोः हरिदलङ्कृति पल्लवितं (सन्ति तथापि) सदर्थताम् समीक्ष्य ध्वनिकृता परभृतेन गुणधर्मिणः निकृताः ॥ ३० ॥

कल-ध्वनिवाले कोकिल ने सदर्थता (सद् वस्तु की प्रतिष्ठा) का विचार करके भ्रमर कुल के गुणों पुष्प समूहों हरिद्वर्णवाले अलंकारों के समान नव पल्लवों को प्रतिस्पर्द्धी जान कर, सर्वथा पराजित कर दिया। अथवा ध्वनिकार ने (ध्वनि-मार्ग के प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्धन ने) परभृत (दूसरों के द्वारा सम्पुष्ट-पूर्ववर्तियों द्वारा अनुप्राणित) के समान सत् तत्त्व की (ध्वनि की) यथार्थ मीमांसा करके अलि के समान गुणों, कुसुमोद्गम के समान रीतियों तथा हरित् पल्लवों के समान अलंकारों को अपने मार्ग के प्रतिकूल जान कर ध्वस्त कर दिया। ध्वनि मार्ग की संस्थापना में सबका निषेध कर दिया ॥ ३० ॥

सुरभितैरभितोऽनिलसञ्चरैर्मदभरभ्रमरस्वनितैः स्तुतः ।
पिकरुतैरलसैः कुसुमाकरो मदयिता दयिताजनमङ्कते ॥ ३१ ॥

अभितः सुरभितैः अनिलसञ्चरैः मदभरभ्रमरस्वनितैः (च) अलसैः पिकरुतैः (च) स्तुतः मदयिता कुसुमाकरः दयिताजनं अङ्कते ॥ ३१ ॥

चारो ओर पवन के सुगन्धित सञ्चरण से, मदोन्मद भ्रमर कुल के कलस्वन से तथा आलस उत्पन्न करनेवाले पिक काकली से पूजित उन्मादक वसन्त, वधूजनो को अपने अधिकार में ले रहा है ॥ ३१ ॥

समवधूय निशानिगडग्रहं जललवाक्तपरागरजोरुचिः[1] ।
उपवनादलिरेति सरोवरं कमलकोमलकोरकमण्डितम् ॥ ३२ ॥

निशानिगडग्रहं समवधूय जललवाक्तपरागरजोरुचिः अलिः उपवनात् कमलकोमल-कोरकमण्डितं सरोवरं एति ॥ ३२ ॥

ग्रह के समान रात्रिरूपी बन्धन को छिन्न भिन्न कर ओस के कणों से सम्पृक्त अतएव पराग पीत पराग मण्डित भ्रमर उपवन से निकल कर कोमल कमल कोरकों से शोभायमान सरोवर की ओर जा रहा है ॥ ३२ ॥

ललितमाधवरागि समन्ततश्चलशिलीमुखनन्दितवैभवम् ।
अनुकरोति हसत्कुसुमोत्सवं घनवनं नवनन्दनसम्पदम् ॥ ३३ ॥

समन्ततः ललितमाधवरागि चलशिलीमुखनन्दितवैभवम् हसत्कुसुमोत्सवं घनवनं नव-नन्दनसम्पदं अनुकरोति ॥ ३३ ॥

मनोहर वसन्त का अनुरागी, चारों ओर चपल भ्रमरकुल से आत्म वैभव के लिए यशस्वी उपवन, कुसुम सम्पत्ति से उत्फुल्ल होता हुआ नवीन नन्दन वन जैसा सुशोभित हो रहा है (नन्दन वन में सदैव वसन्त का निवास रहता है, भ्रमर कुल की कल-कल-ध्वनि गुञ्जन करती रहती है तथा पुष्प लक्ष्मी विहँसती रहती है ।) ॥ ३३ ॥

ज्योत्स्नाद्रवस्निग्धसुधाभिषेकैः शीतोपचारैरपि मूर्च्छितैव ।
ग्रीष्मे त्रियामा पतिमोषधीनां प्रतीक्षते स्तब्धमधूककुञ्जे ॥ ३४ ॥

ग्रीष्मे ज्योत्स्नाद्रवस्निग्धसुधाभिषेकैः शीतोपचारैः मूर्च्छिता एव त्रियामा स्तब्धमधूक-कुञ्जे ओषधीनां पतिं प्रतीक्षते ॥ ३४ ॥

चादनी के द्रववाली स्निग्ध सुधा में स्नान से (चादनी को ही कूट कर द्रव के रूप में परिवर्तित किया गया है उसी से स्निग्ध सुधा निर्मित है) तथा अन्यान्य शीतल उपचारों से भी मूर्च्छित ही रात्रि ग्रीष्म काल में ओपधियों के नाथ चन्द्रमा की नीरव मधूक कुञ्ज में प्रनीक्षा कर रही है। प्रतीत होता है कि रात रानी का कष्ट असाधारण है। ताप की अतिशयता को दूर करने के लिए सुधा से नहलाया गया है, अन्य शीतोपचार भी किये गये हैं तब भी तापजन्य मूर्छा टूट नहीं रही है। अस्तु वेदना विकल रात्रि, एकान्त महुवों के कुञ्ज में अव दवाओं के मालिक वैद्यराज चन्द्रमा की ही प्रतीक्षा कर रही है। भेजी गयी औषधियाँ का कुछ भी प्रभाव नहीं

१. 'परागकणाञ्चितः' इति पाठान्तरम् ।

पड़ा है अस्तु अब वैद्यराज की ही प्रतीक्षा है [महुआ की कुञ्जों में एक विचित्र उन्माद कारी मादकता रहती है, प्रायः उसमें जाने पर नींद का आक्रमण अवश्य-म्भावी हो जाता है फिर यदि रात्रि मधूक कुञ्ज को ही प्रतीक्षा के लिए उपयुक्त स्थल मानती हैं तो क्या कहा जाय। यह मधूक कुञ्ज अभिसार स्थल है रात्रि अभिसारिका है तथा चन्द्रमा वैद्यराज ही नायक है मूर्च्छा टूटेगी।] ॥ ३४ ॥

रवियतावुदिते जगदाश्रमे सहजवैरमपास्य मिथो रताः।
न कलयन्ति खगाः शवरैस्सह न हरिणा-हरिणा स्थितिविक्रियाम् ॥ ३५ ॥

रवियतौ जगदाश्रमे उदिते सहजवैरं अपास्य मिथः रताः खगाः शवरैः हरिणाः हरिणा सह स्थितिविक्रियां न कलयन्ति ॥ ३५ ॥

[संसार रूपी तपोवन में सूर्य रूपी साधु का शुभागमन हुआ और उस तपोवन के सम्पर्क में आनेवाले पशुपक्षी भी अपना सहज, आनुषङ्गिक वैर विरोध भूलकर निर्द्वन्द्व निर्भय हो एक साथ रहने लगे] सूर्य के प्रभाव का फल यह हुआ संसार से हिंसात्मक प्रवृत्ति ही लुप्त हो गयी। पक्षी और बहेलिये एक साथ निर्वैर भाव से बैठे पाये गये। हरिणों ने शेर से भय छोड़ दिया। (गर्मी इतनी भीषण हो गयी कि छाया में सब एकत्र हो गये तथा अपना ताप दूर करने के लिए सब बातों को भूल कर एक साथ बैठे हुए दिखायी पड़ने लगे ॥ ३५ ॥

उपतटं सहकाररसोन्मदैः पिक-कल-स्वन-निर्भर-मूर्च्छितैः।
विफलमेव जनैरुपचर्यते प्रसरवासरबाधितयामिनी ॥ ३६ ॥

उपतटं सहकाररसोन्मदैः पिककलस्वननिर्भर मूर्च्छितैः जनैः विफलं एव प्रसरवासर-बाधितयामिनी उपचर्यते ॥ ३६ ॥

नदियों की तटवर्ती भूमि में आम के बागों में आममञ्जरी की भीनी सुगन्ध से उन्मद पवन, फिर उसमें पिक-कुल के मधु-मत्त कलरव की उन्मादकारीं रागिनी— इन दोनों से विकल विह्वल संसार बिना मनोरथविशेष को चरितार्थ किये हो बढ़े हुए दिन के कारण किञ्चित, क्षण-सेव्या यामिनी (रात्रि) को निष्फल ही गँवा देता है। रात तो दिन के बड़ा हो जाने के कारण यूँ ही संकुचित हो गयो है अब उस पर भो आम के कुञ्जों से आती भीनी मदोन्मद गन्ध तथा कोयलों का उन्मादकारी कल-स्वन; मनुष्य जब तक इनके अमोघ प्रभाव से मुक्त होने की चेष्टा करे तब तक निशान्त पवन ऊषाकाल का सन्देश लेकर पहुँच जाता है ॥ ३६ ॥

प्रबलमारुतसम्भृतरेणुभिर्विषमभानुकरानलगर्भितैः ।
समधिकृत्य नभोभुवनान्तरं हृतरसा तरसा क्रियते रसा ॥ ३७ ॥

प्रबलमारुतसम्भृतरेणुभिः विषमभानुकरानलगर्भितैः नभः भुवनान्तरं समधिकृत्य रसा तरसा हृतरसा क्रियते ॥ ३७ ॥

ग्रीष्मऋतु सूर्य की किरणें आग के समान जल रही हैं, ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो उन किरणों के स्पर्श से पृथ्वी भी तप रही है, अब तेज हवा धूलि कणों को उड़ा कर सारे अन्तरिक्ष तथा आकाश एवं पृथ्वी को धूलि के समुद्र में निमग्न कर देती है। फल यह हो रहा है कि जलता हुआ सूर्य, लु वर्षाती हुई हवा और अग्नि स्फुल्लिङ्ग के समान उड़ती हुई धूलि राशि, सब मिलकर शीघ्रतापूर्वक रसा (पृथ्वी) को हृतरसा, रसहीन कर दे रहे हैं (रसा, नीरसा प्रतीत हो रही है) ॥३७॥

उपरि पुष्करपल्लवमम्भसः सलिलमानमिवाभिनयन् मुहुः[1]।
दलति दन्तिवरो जलजश्रियं तपनतापनतामपि निर्दयम् ॥ ३८ ॥

अम्भसः उपरि मुहुः सलिलमानं इव पुष्करपल्लवं अभिनयन् दन्तिवरः तपनतापनताम् अपि जलजश्रियं निर्दयं दलति ॥ ३८ ॥

और सरोवर की यह दुर्दशा देखिये। भीषण गर्मी पड़ रही है तलाब कमलों से भरा है जल भी कम नहीं है फिर भी कमलपुष्प तथा पत्ते ताप के कारण म्लान हो रहे हैं उसमें भी यह यूथप, गजराज गर्मी से व्याकुल होकर जलक्रीडा करने आ पहुँचा। जल में सारे शरीर को छिपाकर जल के ऊपर अपने सूँड़ का अग्रभाग मात्र उठाये हैं प्रतीत होता है मानो जल की गहराई का परिमाण ही ज्ञात कर रहा हो। और अब ये गजराज महाराज जलकेलि पर उतर आये और कमलों की शोभा का, कमल वन का सत्यानाश आरम्भ हुआ। एक तो अपने ही कमलों की शोभा भीषण ताप के कारण कुम्हला गयी थी अब गजक्रीडा ने उसे क्षत विक्षत कर दिया ॥ ३८ ॥

प्रविरलद्रुमवर्त्मनि कातरः कुपितभानुसखे पथिको व्रजन्।
श्रमजलाक्ततनुः श्वसिति स्थिरं तरुतलेरुतलेशनिषेवित ॥ ३९ ॥

कुपितभानुसखे प्रविरलद्रुमवर्त्मनि व्रजन् श्रमजलाक्ततनुः कातरः पथिकः रुतलेशनिषेवित तरुतले स्थिरं श्वसिति ॥ ३९ ॥

भीषण गर्मी पड़ रही है दुपहरी होनेवाली है पथिक गर्मी के मारे बेहाल है फिर भी चलना ही है। रास्ता भी इतना बीहड़ है कठिनता से ही कहीं सड़क के किनारे पेड़ मिल पाते हैं सूरज है कि जलता हुआ आग का गोला जान पडता है। अब दुपहरी हो गयी है भाग्यवश पेड़ों की छाया भी सड़क पर सुलभ है और कहीं-कहीं पंछियों की एकाध बार चीं चीं भी सुनायी पड़ जाती है। पसीने की बूँदों से पथिक नहा उठा है अब छाया में बैठकर लम्बा-लम्बी श्वासों से अपनी थकान दूर कर रहा है ॥ ३९ ॥

नयनशोणरुचौ भटसैरिभे श्रयति पङ्कनिमज्जितविग्रहे।
समयमेति तृषाऽपि न पल्वलं मृगवलं गवलं परिचिन्तयत् ॥ ४० ॥

---

१. 'दधत्'—इति पाठान्तरम्।

पङ्कनिमज्जित विग्रहे नयनशोणरुचौ भटसैरिभे पल्वलं श्रयति गवलं परिचिन्तयत् मृग-बलं समयं तृषा अपि (पल्वलं) न एति ॥ ४० ॥

लाल-लाल आखें, काला भारी शरीर और भी कीचड़ में लिपटा हुआ, छोटी पोखर के एक भाग पर अधिकार जमाये पानी में भैंसा स्नान का आनन्द ले रहा है, कभी-कभी पानी के भीतर डूबकर शिर तथा सींगे ऊपर निकालता है। मृगों का झुण्ड प्यासा है पानी पीना चाहता है पर भैंसे को देखकर तथा उसकी भयकर सीगों से भयार्त होकर पोखर के पास आने का साहस नहीं कर रहा है ॥ ४० ॥

कमलिनीमधुगन्धमदालसाः द्रुमकुले च निदाघखलीकृताः ।
अनुभवन्त्यलयोऽपि सहाण्डजैर्यमवतामवतारमिवात्मनि ॥ ४१ ॥

कमलिनीमधुगन्धमदालसाः द्रुमकुले च निदाघखलीकृताः अलयः अपि अण्डजैः सह आत्मनि यमवतां अवतारं इव अनुभवन्ति ॥ ४१ ॥

पक्षियों और भ्रमरों का समूह भी ताप की भीषणता के मारे मौनव्रत ही दुपहरी में धारण कर रहा है। भ्रमर कुल ने कमलों के वन में छककर मधुपान किया है मद जनित प्रभाव से तन्द्रिल हो रहे हैं। जब वे वहाँ से हटकर तटवर्ती तरु कुञ्जों में आते हैं तो ताप की भीषणता उन्हें विकल बना देती है और डालियों पर बैठे पंछियों के साथ ही वे भी चुपचाप हो जाते हैं ऐसा प्रतीत हो जाता है मानो उनके भीतर मौनी महात्मा ने अवतार ले लिया हो। जेसे यम प्रधान व्यक्ति मौन का अभ्यास करता है वैसा ही कुछ वे भी अपने भीतर अनुभव करते हैं ॥ ४१ ॥

पयोदसेनापतिमेकतन्त्रा पथावरोधाय समादिशन्ती ।
मनोरथं प्रोषितभर्तृकाणां हठात्समुद्वेजयतीव वर्षा ॥ ४२ ॥

पयोदसेनापतिं पथावरोधाय समादिशन्तो एकतन्त्रा वर्षा प्रोषितभर्तृकाणां मनोरथं हठात् समुद्वेजयति इव ॥ ४२ ॥

सर्वतन्त्र स्वतन्त्र वर्षा ऋतु का शासन प्रवर्तित हुआ, अपने राज्यारोहण के साथ ही वर्षा ने अपने प्रधान सेनापति मेघराज को आदेश दे दिया है कि रास्तों को रोक दिया जाय, गमनागमन के मार्गो को नियन्त्रित कर दिया जाय। और इस प्रकार अपने इस आदेश से वर्षा रानी ने प्रेषितमर्तृका युवतियों के मनोरथ को (प्रेषितभर्तृका वे नारियाँ है जो पति के परदेश चले जानेपर व्रत नियम पूर्वक पति के आगमन की प्रतीक्षा में अपना समय व्यतीत करती हैं। भारतीय वाङ्मय की परम्परा के अनुसार चातुर्मास्य, वर्षाकाल का समय प्रायः गृहवर्तिजन यहाँ तक कि साधु तपस्विजन भी एक स्थानपर, अपने घर पर, या मठों आदि में व्यतीत करते हैं) उद्विग्न कर दिया है। प्रोषितभर्तृकाओं की आशा पर पथावरोध के कारण भोषण तुषार पात हुआ हैं। पथावरोध के कारण यात्रा रुक जायेगी, नदी नाले भर जायेंये, आने वाले प्रियतम को वीच ही में कहीं न कही रुक जाना पड़ेगा। यही कारण है

कि वर्षा के आदेश के कारण स्त्री समाज विशेषतः प्रोषित भर्तृका स्त्रियों का मनोरथ उद्विग्न हो गया है ॥ ४२ ॥

पिक ! गतः समयः कलमञ्जुलः, इह हरिष्यति भेकरवो मनः ।
समलिनं सघनं धवलाम्बरं चल मखेऽलसखेदमपाकुरु ॥ ४३ ॥

पिक ! कलमञ्जुलः समयः गतः इह भेकरवः मनः हरिष्यति, धवलाम्बरं समलिनं सघनं, खले, चल अलसखेदं अपाकुरु ॥ ४३ ॥

प्रिय कोकिल ! अब तुम्हारी मीठी तान का समय बीत चुका जब आम्रकुञ्जों के झुरमुट में तुम्हारी उन्मादकारी काकली मन को मुग्ध कर देती थी । अब तो मेढकों की टर्र-टर्र मन को अच्छी लगेगी । धवलाम्बर (स्वच्छ वस्त्र या स्वच्छ आकाश) भी अब कठिनता से दृष्टिगोचर होंगें अब तो मलिन मेद्याच्छादित आकाश ही (कींच के छींटों से भरा वस्त्र) दिखाई पड़ेगा । मित्र कोकिल ! चलो, इस आलस्य एवं कुण्ठा-जन्य खेद को छोड़ों । (समय सदा एक समान किसी के लिए नहीं होता) ॥ ४३ ॥

घनपयोधरवृंहितवैभवाः कुनदिकाः शतगोत्रभिदोऽभितः ।
न कलयन्ति तरङ्गचलेक्षणाः क्रमहताः महतामपि शासनम् ॥ ४४ ॥

अभितः घनपयोधरवृंहितवैभवाः शतगोत्रभिदः क्रमहताः तरङ्गचलेक्षणाः कुनदिकाः महतां अपि शासनं न कलयन्ति ॥ ४४ ॥

विचित्र विडम्बना है बढ़ते हुए पयोधरों की शोभा से स्पृहणीय अतः कुल परिवार की मर्यादा को कदर्थित कलङ्कित करनेवाली किशोरियाँ चञ्चल कटाक्षपूर्ण नयनों के द्वारा सन्मार्ग त्याग करने में बड़े बूढ़ों के आदेश उपदेश का भी विचार नहीं कर रही दे । वे उन छोटी नदियों के समान है जिनका ग्रीष्म में तो कहीं पता नही रहता किन्तु वरसात के आते ही सघन पयोधर (बरसनेवाले बादलों) से जल पूर्ण होकर सैकड़ों नदनालों के रूप में पहाड़ों (गोत्र) से निकल कर तरंग रूपी चञ्चल आँखो से उछल कूद मचाती हुयी राह कुराह पर चलती हुयी भी मान्य परम्पराओं की अवहेलना करतो हैं ॥ ४४ ॥

प्रशमयन्दवदावकरालतां कृषकसस्यवलं समुदीरयन् ।
वितरतीव घनो मदयन्नदीः नवसुधां वसुधाञ्चलसेविने ॥ ४५ ॥

दवदावकरालताम् प्रशमयन् कृषकसस्यवलं समुदीरयन् नदीः मदयन् घनः वसुधाञ्चल-सेविने नवसुधाम् इव वितरति ॥ ४५ ॥

ग्रीष्मकाल में पृथ्वी झुलस गयी थी, घास-पात जल गये थे, नदी नालों का जल सूख गया था । किन्तु वर्षा ऋतु ने सब कुछ परिवर्तित कर दिया । दवानल की भीषण लपटों को वर्षा की झड़ी ने शान्त कर दिया, किसानों के खेत हरियाली से झूम उठे, पृथिवी के विभिन्न भागों में रहनेवाले प्राणियों के लिए मेघ नवीन अमृत

की वर्षा कर रहा है नदियों को भी जल दान द्वारा उनके प्रवाह को विकसित कर उन्हें जीवन (जल) से पूर्ण बना दिशा ॥ ४५ ॥

फलवती जगती नवयौवनं हतवनं सरितां भरितः क्रमः ।
भवतु नाम विधौ सविधे परं भुवनजीवन ! जीवनहाऽसि मे ॥ ४६ ॥

भुवनजीवन, जगती फलवती, हतवनं नवयौवनं, सरिताम् क्रमः भरितः, सविधे विधौ भवतुनाम, परं (त्वं) मे जीवनहा असि ॥ ४६ ॥

किसी प्रोषितभर्तृका का मेघ के प्रति उपालम्भ है प्रतीत होता है कि उसके प्रियतम सहसा वर्षाकाल के प्रकट हो जाने के कारण घर नहीं पहुँच सके। पथावरोध तो वर्षा का आदेश ही है। भुवनजीवन मेघ ! तुमने अपने अनुग्रह से सबका कल्याण कर दिया। पृथिवी उजाड़ थी हरी-भरी हो गयी, जला हुआ उजाड़ बन नये पत्तों डालियों से ढँककर मनोहर हो गया। नदियों का उथला अन्तर जलपूर्ण हो गया। विधि के सदय होने पर, दैव के अनुकूल होने पर सब ठीक ही होता है, किन्तु संसार के प्राण होकर भी तुमने तो हमारा जीवन ही नष्ट कर दिया। मेरी सब आशाओं को तुम्हारे आगमन ने निष्फल कर दिया। तुम्हारे शीघ्र आ जाने के कारण मेरा परदेशी प्रियतम घर न आ सका ॥ ४६ ॥

नमसि साम्भसि साम्प्रतमक्षमा श्वसनशासनशासितकल्पना ।
अधिकृताऽऽधिकृतासहवेदना कृशमना शमनाश्रयमीहते ॥ ४७ ॥

साम्भसि नमसि श्वसनशासनशासितकल्पना अधिकृताऽऽधिकृतासहवेदना कृशमनाः साम्प्रतं अक्षमा शमनाश्रयं ईहते ॥ ४७ ॥

प्रोषितभर्तृका की अवस्था का वर्णन है। इस समय श्रावण बादलों से भरा हुआ है, एकाकिनी पतिविरहातुरा वधू जलसिक्त पवन के अधिकार में विकल हो रही है, मानसिक अनुताप ने उसपर अधिकार जमा लिया है, दुःखदग्ध चेतना से विवश होकर वह अब यमराज को ही अपना उद्धारक, कष्ट से मुक्ति दिलानेवाला समझ कर उसकी इच्छा कर रही है। श्रावण का दुर्दिन, बादलों से ढँका हुआ आकाश, जल-कण-सिक्त चञ्चल पवन, ये सभी उद्दीपक तत्त्व हैं किन्तु प्रियतम की अनुपस्थिति, वह भी स्वेच्छया नहीं अपितु पथावरोध हो जाने के कारण, विप्रलम्भ को तीव्रतर बना रही है। मनोव्यथा की प्रबलता के कारण दशमी दशा 'मृति' ही केवल अवलम्बरूप में दिखायी पड़ रही है॥ ४७ ॥

घनपयोधरमण्डलमण्डिताः युवतयश्चपलाश्च मनोहराः ।
विदधते पथिकाधि[1]समुच्चयं रसघनाः सघनाम्बरभूषिताः ॥ ४८ ॥

घनपयोधरमण्डलमण्डिताः मनोहराः सघनाम्बरभूषिताः रसघनाः युवतयः चपलाः च पथिकाधिसमुच्चयं विदधते ॥ ४८ ॥

१. 'पथिकार्ति समुच्चयम्' इति पाठान्तरम् ।

और इनसे मिलें । ये पथिक देवता, वर्षाजन्य बाधाओं को तिरस्कृत करते हुए अपने गन्तव्य स्थान (घर) की ओर बढ़ते जा रहे हैं किन्तु वस्तुस्थिति की उपेक्षा कैसे कर सकते हैं। मार्ग में प्रत्येक स्थान पर युवतियों और विजलियों की चमकती अठखेलियाँ इनके मानसिक कष्ट को शत गुणित कर रही हैं। युवतियाँ परस्पर मिले हुए अवकास रहित पयोधर युगल से मण्डित हैं मनोहर हैं अनुराग से आप्लावित है तथा रंग बिरंगे परिधानों से युक्त हैं। विजलियाँ भी निविड मेदुर मेघमण्डल से युक्त हैं विस्मय कारी है रस प्रवण (जल से भरी बादलों वाली) है तथा बादलों से भरे आकाश को अलंकृत कर रही हैं। और पथिक के प्राणों पर आ बनी है ॥ ४८ ॥

प्रणयकृत्रिमकोपपराङ्मुखीकठिनमाननिरासविधित्सुना ।
समदनाऽभिहिता मदनन्दिना क्व कलहं कलहंसि घनागमे ॥ ४९ ॥

प्रणयकृत्रिमकोपपराङ्मुखीकठिनमाननिरासविधित्सुना मदनन्दिना समदना अभिहिता, "कलहसि, घनागमे कलहं क्व ?" ॥ ४९ ॥

और किसी मानिनी के कठिन मान को तोड़ने की चेष्टा चल रही है। प्रणय में झूठ मूठ ही कुपित प्रिततमा ने मौन व्रत धारण कर लिया, मान-हठ क्रमशः गुरुतर होने लगा, अस्तु उस कठिन मान को दूर करने की चेष्टा में लीन मद-विह्वल भक्त ने मद-परवशा मानिनी से विनय पूर्वक कहा, राजहंसिनि ! भला घनागम (वर्षाकाल) के इस मधुर पर्व में कहीं कलह किया जाता है। अस्तु, यह मान भङ्ग हो ॥ ४९ ॥

घनतमालदलद्युतिमेचकैर्नवघनैरनुषिक्तमनोरथः ।
प्रतिदिशं चकितोमुहुरीक्षते स पथिकान् पथि कान्तवधूजनः ॥ ५० ॥

घनतमालदलद्युतिमेचकैः नवघनैः अनुषिक्तमनोरथः चकितः सः कान्तवधूजनः प्रतिदिशं पथिकान् मुहुः ईक्षते ॥ ५० ॥

और दूसरी ओर भी देखें, वह आग ही क्या जो दोनों ओर न लगे। तो उत्कण्ठा, उत्सुकता, संशय, वितर्क और आशा ने वधू जनों को झकझोर डाला है प्रतीक्षा की घड़ियाँ काटे नहीं कटतीं, बार-बार दृष्टि पथ पर दौड़ जाती है। सघन तमाल पत्र की कान्ति के समान काले बादलों से उज्जीवित मनोरथवाली युवतियाँ अपनी अटारियों से (अनेकव्याजों से, तरह-तरह के बहानों से) रास्ते में आते हुए पथिकों को चकित-दृष्टि से बार-बार निहार लेती हैं। प्रोषित भर्तृकायें हैं। सम्भवतः सन्देश भी मिल गया है कि परदेशी अमुक दिन को आजायेंगे फिर तो उत्सुकता का क्या कहना। प्रतिक्षण रास्ता देखा जा रहा है ॥ ५० ॥

करगृहीतविलोललतालकं नभसि वीक्ष्य घनं दयितागमम् ।
परिपिबन्ति भृशं नयनाञ्जलौ उपरि ताः परितापजुषोऽङ्गनाः ॥ ५१ ॥

नभसि दयितागमं घनं उपरि वीक्ष्य परितापजुषः ताः अङ्गनाः करगृहीतविलोलतालकं नयनाञ्जलौ भृशं परिपिबन्ति ॥ ५१ ॥

आकाश में काले मेघ मँडरा रहे हैं। अब परदेशी प्रियतम विरह कदर्थिता वधू की अवहैलना कैसे कर सकता है, तो मनोरथ के अग्रदूत, मेघदूत, तुम्हारा स्वागत है। तुम आये, अब वे भी आयेंगे। आकाश में काले मेघ को देख कर, मेघ जो प्रियतम के आगमन का सूचक है—दुःख से कृश, विकल विरह दग्धा स्त्रियाँ अपनी आँखों की अञ्जलि में रूपाभिराम मेघ को पी रही है जब तब चञ्चल कुञ्चित केश आँखों पर आ जाते हैं और व्यवधान उत्पन्न कर देते हैं इसलिए लता के समान चञ्चल उन केशों को एक हाथ से पकड़ कर रोक लिया गया है यतः वे फिर उछल कूद न मचायें ॥ ५१ ॥

प्रशमयन् दवदावविभीषिकां विरचयन् पृथिवीं नवकन्दलैः।
ससरसः सरितः परिपूरयन् नवनभाः वनभास्तनुते नभाः ॥ ५२ ॥

दवदावविभीषिकाम् प्रशमयन् पृथिवीं नवकन्दलैः विरचयन् ससरसः सरितः परिपूरयन् नवनभाः नभाः वनभाः तनुते ॥ ५२ ॥

श्रावण का सलोना महीना, नया, नवीन घन मालाओं से अलंकृत आकाश, कहाँ है दवाग्नि में जलते वनों की दुर्दशा, सावन ने दवानल की प्यास को बुझा दिया, और पृथिवी, प्रतीत होता हैं कि नवीन उत्पन्न होनेवाले अंकुरों से पृथिवी का कायाकल्प किया जा रहा हो। आज ये सूखे तालाब और कृशाङ्गी सरितायें जल से आप्लावित हो गयीं हैं। सचमुच श्रावण अपने मेघों की नवघटावाले आकाश वन की शोभा का शतगुण विस्तार कर रहा हैं ॥ ५२ ॥

प्रहरतोऽभिमुखं तरुणाम्बुदान् श्रमजलौघमुचस्तडिदिङ्गिते।
शशिरवी रसिकाविव पश्यतः किमुविहाय विहायसि शासनम् ॥ ५३ ॥

तडिदिङ्गिते अभिमुखं प्रहरतः श्रमजलौघमुचः तरुणाम्बुदान् रसिकौ इव शशिरवी विहायसि शासनं विहाय पश्यतः किमु ? ॥ ५३ ॥

प्राचीन यूरोप में टूर्नामेण्ट होता था किसी परमा सुन्दरी कुमारी को राजकुमारी बनाकर यह उत्सव आयोजित होता था सब प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त कर देनेवाला वीर उस सुन्दरी का कृपापात्र होता था। भारतीय परम्परा में भी वीर्य शुल्का कन्याओं का विवाह होता था सुन्द उपसुन्द का स्त्री के लिए लड़कर मर जाना तो विदित ही है। अस्तु इस श्लोक में भी कुछ ऐसा ही वर्णित है। विचित्र स्थिति है चारों ओर मेघों की गर्जन सुनायी पड़ रही है कभी कभी बिजली भी कोध उठती है पर कहां हैं वे दोनों जिनपर इस आकाश का भार छोड़ा गया है! दिन में सूर्य का पता नहीं, रात में चन्द्रमा के दर्शन नहीं। अन्ततः वे दोनों अपना कर्तव्य भुला कर कहाँ पर क्या कर रहे हैं। कर्तव्य हीनता तो गुरुतर अपराध है। तो यह देखें, विद्युत रुपी सुन्दरी को अपना बनाने के लिए

उसके इङ्गित पर आपस में टकरा रहे हैं ये नवयुवक मेघ, जोर शोर के साथ सामने आघात कर रहे है परिश्रम के मारे पसीनों की झड़ी लग गयी है (वही बरसात है क्या ?) लगता है कौतुक प्रिय चन्द्रमा और सूर्य दोनों अपना कार्य छोड़कर, आकाश को यूँ ही दैव के भरोसे छोड़कर इस मेघ संघर्ष का आनन्द ले रहे हैं। (हम लोग भी तो क्रिकेट का टेस्ट मैच देखने के लिए स्कूल कालेज को मूल ही जाते हैं) ॥ ५३ ॥

हिमकरं मकरन्दधियापिबन् नवनवा वनवाहि कलाः दिशन् ।
परिजिहीर्षति संयममम्बुदश्चपलयापलयाचितसङ्गतिः ॥ ५४ ॥

हिमकरं मकरन्दधिया पिबन् नवनवाः वनवाहिकलाः दिशन् चपलया पलयाचित-सङ्गतिः अम्बुदः संयमम् परिजिहीर्षति ॥ ५४ ॥

हिमकर चन्द्रमा को रस मानकर मेघ ने पी लिया (वादलों ने चन्द्रमा को तिरोहित कर दिया) तथा आकाश में तरह-तरह की कलावाजी, आत्मकौशल का प्रदर्शन आरम्भ कर दिया। लगता है अब मेघ के संयम का बाँध टूटमे ही वाला है अब वह अपने को रोक नहीं पायेगा। किन्तु ऐसा क्यों ? मेघ अपना आपा अपनी मर्यादा क्यों खो रहा है ? ठीक है विजली ने स्वयं क्षण भर के लिए साहचर्य सुख का प्रस्ताव किया है। फिर तो मेघ में ऐसी चपलता का आना स्वाभाविक ही है ॥ ५४॥

क्षणविकासिसुधाकरमण्डलं निविडमेदुररागरुचो घनाः ।
मुखमिवाभिभवन्ति शिरोरुहाः[1] सुवदना वदनामृतलोलुपाः ॥ ५५ ॥

निविडमेदुररागरुचः घनाः शिरोरुहाः इव सुवदनावदनामृतलोलुपाः मुखं इव क्षण-विकासिसुधाकरमण्डलं अभिभवन्ति ॥ ५५ ॥

क्षण भर के लिए पीयूषवर्षी चन्द्रमण्डल उदित हुआ और अत्यन्त गाढ तामस राग वाले धन टूट पड़े जैसे किसी चन्द्रमुखी युवती के मुखामृत के लोभी काले केश समूह उसे अपनी उतावली में आच्छादित कर लें। विश्व साहित्य में अनेक स्थलों पर मुख और काले या नीले केशों को लेकर उत्प्रेक्षायें की गयी हैं संस्कृत साहित्य में भी इन उत्प्रेक्षाओं एवं उपमाओं की विरलता नहीं। पौराणिक धारणा के अनुसार नाग या सर्प अमृत पान के लोभी हैं सुधाकर के साथ मुख की तुलना में साधर्म्य आदि इन्हीं स्पृहणीय लावव्य, कान्ति, आह्लाद आदि गुणों में विनियोजित होता है अस्तु केशों में भी परम्परया सर्प प्रतीक का विधान किया जाता है मेघ शिरोरुह सर्प आदि में वर्णसाम्य अथवा प्रसर्पण व्यापार सामान्य है ॥ ५५ ॥

अवतरन् घनमन्दिरमध्यतो जनसमुत्सुकदृष्टिपथे क्षणम् ।
वितनुते पुनरात्मनिगूहनैरधनसाधनसाम्यमहस्करः ॥ ५६ ॥

१. महोरगाः इति पाठान्तरम् ।

जनसमुत्सुकदृष्टिपथे घनमन्दिरमध्यतः क्षणं अवतरन् अहस्करः पुनः आत्मनिगूहनैः अधनसाधनसाम्यं बितनुते ॥ ५६ ॥

वर्षा काल का सूर्य भी मानों जनविडम्बना ही करता है, दरिद्रों के भाग्य के साथ खिलवाड़ करता है। प्रायः समाज में देखा जाता है कि किसी विशेषधनी व्यक्ति या राजा या अधिकारी की सेवा में सैकड़ों विपन्न व्यक्ति उपास्थित होते हैं तथा टकटकी बाँध कर उनके आगमन की प्रतीक्षा, करते हैं सामन्यतः तो वे किसी न किसी व्यपदेश से आते ही नहीं यदि भाग्यवश आ भी गये तो क्षण भर में दर्शन देकर बिना उन अभ्यर्थियों की प्रार्थना पर विचार किये फिर भीतर चले जाते हैं और बेचारा प्रार्थी समाज दिन भर की विडम्बना से कदर्थित हो सायं उदास अपने घर की राह पकड़ता है उसी प्रकार वर्षा काल में सूर्य अपने मेघ महल (मेघ निर्मित सौध) से बाहर आये उतरे, तथा क्षण भर के लिए उत्सुक, प्रतीक्षा रत जनता ने उन्हें देखा फिर तत्काल ही भीतर चले गये, अपने को छिपा लिया, इस प्रकार अहस्कर (दिन उत्पन्न करने वाले) सूर्य भी धन हीन व्यक्ति के साधन सम्पन्नता (विपन्नता ?) की विडम्बना को ही चारितार्थ करते हैं (धन हीन व्यक्ति की साधन हीनता उसकी विडम्बना का मूल कारण है। निर्धन व्यक्ति का साधन क्षण भर के लिए अपना आलोक दिखा कर निष्फल हो जाता है उसी प्रकार सूर्य भी क्षण भर के लिए सामने आकर फिर तिमोहित हो गया ॥ ५६ ॥

द्विजवरस्वरसिद्धितपस्स्थली सुमनसां नवनन्दननन्दिनी।
इह विभाति पुराणसरस्वती वनवती नवतीर्थवतीव भूः ॥ ५७ ॥

द्विजवरस्वरसिद्धितपस्स्थली सुमनसां नवनन्दननन्दिनी वनवती पुराणसरस्वती इव नवतीर्थवती भूः इह विभाति ॥ ५७ ॥

वर्षा ऋतु में पृथिवी नवीन जलाशयों से समृद्ध हो जाने के कारण, विविध प्रकार के पंछियों की स्वर सिद्धि के अभ्यास के लिए तपोवन से युक्त, सुन्दर पुष्प सम्पत्ति से नवल नन्दन बन की कान्ति का धारण करती हुई पुराण विश्रुत सरस्वती नदी के समान प्रतीत होती है। सरस्वती के तट पर श्रेष्ट ब्राह्मण वेदमन्त्रों के सस्वर गायन से वातावरण को मुखरित करते रहते थे। देवताओं के आगमन के कारण (यज्ञादि में) ऐसा प्रतीत होता था मानों देवकुल नन्दन बन में भ्रमण कर रहा हो अथवा पुण्य समृद्धि सरस्वती को दूसरे अभिनव नन्दन बन का गौरव प्रदान करतो थी सरस्वती का पावन तट अनेक विध तीर्थों का स्थान था। इस श्लोक में द्विजवर-स्वर, सुमनसां बनवती, नवतीर्थवती, आदि शब्द द्विविध अर्थों के उद्बोधक हैं ॥ ५७ ॥

अपांसुरध्वा गगनं निरब्दं गृहाः सुभिक्षाः ससरोजमम्भः।
तथापि सप्तच्छदगन्धलुब्धा नान्यत्र बध्नाति शरत् स्वभावम्। ५८ ॥

अध्वा अपांसुः, गगनं निरब्दं, गृहाः सुभिक्षाः, अम्भः ससरोजम्, तथापि सप्तच्छगन्ध-लुब्धा शरत् अन्यत्र स्वभावं न बध्नाति ॥ ५८ ॥

वर्षा बीत चली, नये सज धज के साथ पृथिवी पर शरत् का शुभागमन हुआ है, अतः अब रास्तों में कीचड़ नहीं रहा आकाश भी निर्मल हो गया बादलों का कहीं नाम निशान भी नहीं है। घर धन धान्य से परिपूर्ण हो गये हैं तालाबों में कमलों की शोभा विकसित है। फिर भी छितवन के उत्कट गन्ध से लुब्ध शरत् अपने भाव को, अनुराग को, कहीं अन्यत्र किसी दूसरी वस्तु में केन्द्रित नहीं कर सकती। छितवन का वृक्ष अत्यन्त विशाल होता है तथा यदि हवा कुछ तेज हो तो इसकी गन्ध मीलों तक वातावरण में व्याप्त ही जाती है हाथियों को यह गन्ध अत्यधिक मुग्धकारी लगती है ॥ ५८ ॥

क्षतपयोधरमण्डलदूषिते ! धवलकासकचे ! हतजीवने ।
शरदधिक्षिपतीव घनश्रियं त्यज रसां जरसामिह का स्थितिः ॥ ५९ ॥

धनश्रियं शरत् अधिक्षिपति इव, "क्षतपयोधरमण्डलदूषिते, धवलकासकचे, हतजीवने, रसाम् त्यज, जरसां इह का स्थितिः ? ॥ ५९ ॥

शरत् सुषमा ने वर्षा को ललकारा, भाग जा, क्यों चुड़ैल की तरह घूम-घूम कर वातावरण को अपनी मनहूस सूरत से अरुचिकर बना रही है। जरा अपना शरीर तो देख, क्षतविक्षत नीरस पयोधर मण्डल (स्तन या मेघमाला) कितने अभद्र लगते हैं। तुम्हारे केश कास के समान सफेद हो गये (कास पुष्प ही वर्षा की वृद्धता का द्योतक है) कुछ तो लज्जा कर। अब भी मन नहीं भरा ? इस प्रकार अधिक्षेप पूर्ण कटु वाक्यों द्वारा वर्षा की भर्त्स्ना करती हुई शरत् लक्ष्मी कहती हैं। पृथ्वी को छोड़ो, कहीं और जावो यहाँ बुढ़ापे के लिए कहाँ स्थान धरा पड़ा है। गोसाईं जी की चौपाई—

"फूले कास सकल महि छाई। जनु वर्षा ऋतु प्रकट बुढ़ाई ॥"

शरत् के वर्णन में मार्ग निर्देशन कर रही है ॥ ५९ ॥

धवलयन्नचिरं ककुभाङ्कुलं कुमुदिनीदयिताविरहाक्षमः ।
सितविसारिविताननभस्तलादयमुदेति मुदे तिमिरान्तकः ॥ ६० ॥

ककुभां कुलं अचिरं भवलयन् कुमुदिनीदयिताविरहाक्षमः अयं तिमिरान्तकः सित विसारिविताननभस्तलात् मुदे उदेति ॥ ६० ॥

शरदृतु में चन्द्रोदय अत्यन्त ही आह्लाद पूर्ण दृश्य उपस्थित करता है। अब, दिशाओं के समूह को शीघ्रतापूर्वक प्रकाश से समुद्मासित करते हुए, प्रियतमा कुमुदिनी के वियोग को सहने में असमर्थ ये अन्धकार को नष्ट करनेवाले सुधाकर संसार को आनन्दित करने के लिए, चारों ओर फैले हुए स्वच्छ तम्बूवाले आकाश से उदित हो रहे हैं ॥ ६० ॥

अभिसृतामपि वीक्ष्य रुषारुणां सितसितैर्हसितैर्हरितो भरन् ।
व्यपनयन् रजनीतिमिराञ्चलं, समुदितो मुदितो मृगलाञ्छनः ॥ ६१ ॥

अभिसृताम् अपि रुषा अरुणाम् वीक्ष्य सितसितैः हसितैः हरितः भरन् रजनीतिमिराञ्चलं व्यपनयन् मुदितः मृगलाञ्छनः समुदितः ॥ ६१ ॥

रात रानी अभिसार में (संकेत स्थल में) उपस्थित हैं किन्तु प्रिय पीयूषरश्मि का पता भी नहीं, दिशायें वयस्याओं, सखियों की तरह अनमनी हैं। आखिर यह भी कोई ढंग है। और रात रानी को स्वभावतः ही क्रोध आ गया, रोष से लाल हो गयीं और काले आँचल से अपने को ढंग लिया यह विद्रूप कोई और न देखे तो ही भला। किन्तु नायक आया, धृष्ट है, देरी के लिए अनुनय विनय तो दूर सखी स्वरूपा द्विग्वधुवों को तो उन्मुक्त हास से ही ओत प्रोत कर दिया। और रात रानी के तेवर की परवाह न कर झट से काले आञ्चल को खींच कर अलग कर दिया, स्पष्ट है कि बेचारा मान भी ऐसे धृष्ट अनाड़ी के सामने भाग कर तिरोहित हो गया ॥ ६१ ॥

नवमरुद्भिरयुक्च्छदगन्धिभिः सह विधुः प्रियदूत इवाङ्गनाः।
मुषितमानधनास्त्वरयत्ययं श्रमधुरो मधुरोद्यमवर्त्मनि ॥ ६२ ॥

अयुक्च्छदगन्धिभिः नवमरुद्भिः सह प्रियदूत इव अयं विधुः मुषितमानधनाः भ्रमधुरः अङ्गनाः मधुरोद्यमवर्त्मनि त्वरयति ॥ ६२ ॥

मानवती युवतियाँ हैं प्रियतम के प्रति अनेक उपालम्भ हैं। गिन-गिन कर बदला लेने का सङ्कल्प है। किन्तु यह क्या, छितवन की मादक सुगन्ध का मधुपान कर यह मोहक पवन तो विवश विकल करने ही लगा, और उस पर भी यह शशलाञ्छन चन्द्रमा, नाकों दम है। प्रियतम द्वारा प्रेषित दूत के समान चन्द्रमा ने कुछ ऐसा किया कि बिगड़ी बात बन ही गयी। युवतियों के घन मान का तो अपहरण ही हो गया। वे विचित्र भ्रान्ति से अभिभूत हो गयी। कहाँ तो अभी तक क्या-क्या इरादे थे और अब मान हठ का ही पता नहीं, विकलता बढ़ती जा रही है। चन्द्रमा ने अवसर का पूर्ण उपयोग करते हुए उन नवयुवतियों में शीघ्रता उत्पन्न करते हुए उन्हें मधुर उद्यमवाले मार्ग में (प्रिय साहचर्य की उचित भूमिका में) सर्वथा तल्लीन कर दिया ॥ ६२ ॥

अतिदिनेशमिवोदितशासनं समवधाय विधुं शरदागमे।
अभिसरत्यवशा नवमानिनी सविनयं विनयन्तमपि प्रियम् ॥ ६३ ॥

शरदागमे उदितशासनं विधुं अतिदिनेशं इव समवधाय अवशा नवमानिनी विनयन्तं अपि प्रियं सविनयं अभिसरति ॥ ६३ ॥

शरदृतु की उन्मादकारी वेला में चन्द्रमा का शासन अनुपेक्षणीय अलङ्घनीय हो जाता है वह दिनकर सूर्य से भी प्रबलतर प्रखरतर एवं अधिक प्रभावी हो जाता है। और नया-नया मान का अभ्यास करने वाली नववधू के लिए तो मार्ग निश्चित करना, अपने इरादे पर अडिग रहना अत्यन्त विषम हो जाता है। नववधू जान जाती है कि इस मान का निभना कठिन है अतः विनयपूर्वक प्रार्थी प्रियतम के सर्वथा

अनुगामी रहते हुए भी वह अपने आप विनयपूर्वक सब कुछ भूल भाल कर विवश कातर हो प्रिय मनोरथ को पूर्ण करने के लिए उतावली हो जाती है ॥ ६३ ॥

जगदरेणु नभोऽपघनं ततं सविनया सरितोऽच्छपयः सरः ।
सकलमा खलभूरपि साम्प्रतं सकमला कमलाकरपद्धतिः ॥ ६४ ॥

साम्प्रतं अरेणु जगत्, अपधनं ततं नभः सविनयाः सरितः अच्छपयः सरः सकलमा खलभूः कमलाकरपद्धतिः अपि सकमला (विभाति) ॥ ६४ ॥

शरत् का वैभव बड़ा विस्मयकारी है। संसार में कहीं धूल का पता भी नहीं, आकाश अब अत्यन्त निर्मल, मेघ रहित, अतः विस्तृत प्रतीत हो रहा है। नदियों की वह उद्दाम चपलता विलीन हो गयी अब वे सर्वथा अपनी सीमा में मर्यादित विनयवती दीख पड़ती हैं। तालाबों का जल भी स्वच्छ, निर्मल हो गया। खलिहान अन्न से भरा पूरा है (दुष्ट व्यक्ति का खेत भी अन्न से भरपूर है) और सरोवरों में शोभा अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गयी है ॥ ६४ ॥

मधुरपाण्डुमुखी नवमङ्गलं कृषकलोकनितान्तमनोहरम् ।
रुचिरसत्वभरा तनुतेऽभितो वसुमती सुमतीष्टकुले प्रसूः ॥ ६५ ॥

रुचिरसत्वभरा मधुरपाण्डुमुखी प्रसूः वसुमती सुमतीष्टकुले अभितः कृषकलोकनितान्तमनोहरं नवमङ्गलं तनुते ॥ ६५ ॥

शरऋतु में हरी फसल पककर सुनहले रंग की हो जाती हैं पीले खेत भरे पूरे बड़े भले लगते हैं। सुनहली खेती देखकर किसान हर्ष से झूम उठता है जिन परिवारों में सम्मति है जो मिल जुल कर खेतों में श्रम करते हैं उन्हें पृथिवी वसुधा होकर फल देती है। वसुमती पृथ्वी आसन्न-प्रसवा नारी के समान प्रतीत हो रही है पके हुए खेतों की शोभा ही मानों उसका सलोना पीताभ मुख है कृषक जन (जोतने वाले) को यह मङ्गलमय विधान बड़ा आह्लादकारो, मनोहर लग रहा है। वह सुन्दर सत्व सम्पन्न है (नयनाभिराम गर्भस्थ शिशु से सम्पन्न है) तथा आने वाले नवीन उत्साह सम्भर मंगल बिधान का हर्ष चारों ओर फैला रहीं है ॥ ६५ ॥

सकलहंसकलां वदनाम्बुजां विमलवारितनुं शरदिन्दिराम् ।
जहति वीक्ष्य नभो द्युतिनिर्जिताः कृशवलाः शवलाः घनराजयः ॥ ६६ ॥

सकलहंसकलाम् विमलवारितनुं वदनाम्बुजाम् शरदिन्दिराम् वीक्ष्य कृशवलाः शवलाः द्युतिनिर्जिताः घनराजयः नभः जहति ॥ ६६ ॥

शरत् लक्ष्मी के सौभाग्य को देखकर बची खुची भी घनमास की सम्पत्ति आत्महीनता से अत्यन्त खिन्न होकर आकाश को शीघ्रता पूर्वक छोड़कर अन्तर्हित हो रही है स्वच्छ जल ही शरत् सुन्दरी की देहयष्टि है। कमल पुष्प ही उसका मनोहर मुखमण्डल है, कलहंसो की कल ध्वनि ही उसकी वाणी है ऐसी शरल्लक्ष्मी को देखकर अल्पप्राण (निर्जल) चितकवरो मेघमाला उसकी कान्ति से हतोत्साहित होकर

आकाश को छोड़कर जा रही है। (उचित ही है जिस आकाश में अपना एकच्छत्र शासन रहा हो वहाँ परमुखापेक्षी होकर तो नहीं ही रहा जा सकता है) ॥ ६६ ॥

जल-विहङ्ग-विराव-विमण्डिता, कनकधाम-पिशङ्गमनोरमा ।
जल-लवोद्ग्रथिता कृषकव्रजे सकलमा कलमानयति क्षितिः ॥ ६७ ॥

जलविहङ्गविरावविमण्डिता कनकधामपिशङ्गमनोरमा जललवोद्ग्रथिता सकलमा क्षितिः कृषकव्रजे कलं आनयति ॥ ६७ ॥

अवर्णनीय छवि है शरत्कालीन वसुन्धरा की। जलाशयों में विचरते जल पक्षियों के कलरव से पृथिवी विमण्डित है, पके हुए धान के खेतों की सुनहली कान्ति से अत्यन्त मनोहर लग रही है ओस-कणों या पानी के बूदों से गुथ गयी है तथा हर जगह धान की वालियाँ लहरा रही हैं। इस प्रकार की शारदीय सुषमा वाली वसुधा कृषकजनों को आनन्दित कर रही है ॥ ६७ ॥

चल-तरङ्ग-तरङ्गित-पक्षतिः सलिलकेलि-कलोदितलक्ष्मणः ।
विहरते कलहंसवरोऽपरो विसरसं सरसं सरसोऽश्नुते ॥ ६८ ॥

चलतरङ्गतरङ्गितपक्षतिः सलिलकेलिकलोदितलक्ष्मणः कलहंसवरः विहरते, अपरः सरसः सरसं विसरसं अश्नुते ॥ ६८ ॥

सरोवर के जल में हंस शान्त बैठा हुआ है, जल की चञ्चल तरंग मालायें उसके पंखों को तंरगित, चञ्चल बना देती हैं। वह जल क्रीडा में प्रवृत्त हो जाता है और उसकी सुकुमार कला उसकी प्रिया हसिनी को भी उन्मुख कर देती है इस प्रकार वह कल हस का जोड़ा जल विहार कर रहा है। दूसरा हंस सरोवर के सरस कमल-नाल का मधुरस पान कर रहा है ॥ ६८ ॥

लुलितशीकरचञ्चलपुष्करा सहठषट्पदनिस्वन-नन्दिनी ।
मद-मतङ्गजशावकसङ्गतौ लसति पुष्करिणी करिणी यथा ॥ ६९ ॥

लुलितशीकरचञ्चलपुष्करा सहठषट्पदनिस्वननन्दिनी पुष्करिणी मदमतङ्गजशावक सङ्गतौ करिणी यथा लसति ॥ ६९ ॥

पुष्करिणी (पोखर) कमलों से भरी पूरी है भ्रमर दल एक पुष्प से दूसरे पर मँडरा रहा है और तभी एक नया हाथी पानी में घुस कर जल विहार करने लगता है फल स्वरूप कमल पुण्य कम्पित होने लगते हैं भ्रमर कुल भी उद्विग्न होकर इधर उधर उड़ने लगता है। उत्प्रेक्षा यह है कि मानों पुष्करिणी करिणी के (हथिनी के) रूप में नये हाथो के साथ जलक्रीड़ा में योग दे रही है। तीन बातों में पुष्करिणी और करिणी का साम्य है। प्रथम तो जल क्रीडा में योगदान, वह स्पष्ट है पुष्करिणी का सहयोग है अन्यथा जल क्रीडा कहाँ। दूसरे, शुण्ड के अग्रभाग को 'पुष्कर' कहते हैं कमल भी तदर्थ का बोधक है अस्तु पुष्कर पुष्करिणी का कमल न होकर शुण्ड का अग्र भाग है। तीसरे, भ्रमर कुल—भ्रमर कुल हस्तियूथ के साथ

परम्परया सहचारी माना जाता है। अतः जल के छीटों से कम्पित शुण्डाग्र भाग वाली उत्साह युक्त भ्रमर कुल के कल कल नाद से आनन्दित पुष्करिणी हथिनी के समान मतवाले नये हाथी के साथ जलक्रीडा करती हुई सुशोभित हो रही है ॥ ६९ ॥

गतवसुः श्लथपीतकरोद्यमश्चरमभूधरसानुषु कम्पितः ।
पतति विष्किरमुग्धरुतैस्सह करुणवारुणवारिनिधौ रविः ॥ ७० ॥

गतवसुः श्लथपीतकरोद्यमः कम्पितः रविः विष्किरमुग्धरुतैः सह चरमभूधरसानुषु करुणवारुणवारिनिधौ पतति ॥ ७० ॥

और अब इस दिनान्त की वेला में निर्धन, झुर्रियों से भरा, रक्तहीन पीले निर्वल हाथोंवाला बूढ़ा सूरज अस्ताचल की चोटियों पर काँपता हुआ, पंछियों की विवश चहचहाहट के साथ करुणापूर्ण वरुणसागर में (पश्चिम समुद्र में) गिर रहा है। [यहाँ सूर्य एक ऐसे व्यक्ति के रूप में चित्रित है जिसने जीवन का उत्कृष्ट अभ्युदय देखा है समाज द्वारा समादृत रहा है किन्तु क्रमशः वह क्षीण वसु (निर्धन या किरणहीन) हो गया, बढ़ती अवस्था के साथ शक्ति क्षीण होती गयी, बुढ़ापे से जर्जर, हाथ पाँव से पहिले की वह स्फूर्ति नहीं, आलस्य ने घेर लिया, हाथ काँपता है पहले का अनुरक्त समाज भी क्रमशः उससे विमुख हो गया, निष्प्रयोजन किसे कौन पूछता है। अस्तु अकेला उपेक्षित सूरज किसी प्रकार पहाड़ पर चढ़ कर दूसरी ओर फैले हुए समुद्र में कूद कर जीवन लीला समाप्त कर देना चाहता है। सूर्य की यह सान्ध्य कालीन विपन्नता प्रकारान्तर से शरत् काल का अवसान व्यञ्जित कर रही है।] ॥ ७० ॥

किञ्चित्तुषाराक्तनिशान्तवातैर्हेमन्तदूतैरिव बोधिताऽपि ।
आलिङ्गनोद्दामभुजान्तरस्थं त्यक्तुं प्रियं नोत्सहते नवोढा ॥ ७१ ॥

हेमन्तदूतैः इव किञ्चित्तुषाराक्तनिशान्तवातैः बोधिता अपि नवोदा आलिङ्गनोद्दामभुजान्तरस्थं प्रियं व्यक्तुं न उत्सहते ॥ ७१ ॥

हेमन्त का मनोरम समय आ गया। अब रात के अन्तिम प्रहर में कुछ तुषार का प्रभाव बढ़ता जा रहा है उसके सम्पर्क के कारण ग्राह्य वेला का पवन भी अधिक शीतल लगता है। सूर्य की तीक्ष्णता क्रमशः मन्द होती जा रही है। रात बढ़ रही है, दिन छोटा होने लगा है। प्रातः काल होने वाला है। नयी विवाहिता वधू अपनी शय्या पर है। निशान्त कालीन शीतल पवन हेमन्त दूत के समान आकर जगा गया। किन्तु जगकर भी अपने दृढ़ भुजपाश में आलिङ्गननिबद्ध प्रियतम को छोड़ने के लिए नववधू की इच्छा नहीं हो रही है ॥ ७१ ॥

हिमभराम्बरसुप्तवनस्पतिं रुचिकरः प्रतिबोधयते रविः ।
तुहिनशीर्णपरागमपर्णिनम् न कमला कमलाकरमोहते ॥ ७२ ॥

हिमभराम्बरसुप्तवनस्पतिं रुचिकरः रविः प्रतिबोधयते, तुहिनशीर्णपरागं अपर्णिनम् कमलाकरं कमला न ईहते ॥ ७२ ॥

शीत कण से भरे वस्त्रों में (आसमान के नीचे) सोयी वनस्पति को प्रेमपूर्वक (सुरुचिपूर्ण किरणों वाले—जाड़े में सूर्य की किरणें अतिशय आनन्दपूर्ण हो जाती हैं) सूर्य जगा रहे हैं। और अब कमलों से भरे सरोवर शोभा विहीन हो गये हैं। ओस कणों ने पराग को क्षत-विक्षत कर दिया तथा पत्ते भी सिकुड़कर कान्तिहीन हो गये हैं, अब कमलाकर (कमलों का सरोवर) कमला (लक्ष्मी) को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पाता। सौन्दर्य लक्ष्मी अब तालाबों की ओर नहीं जातीं ॥ ७२ ॥

परिहृताप्तनिरूपितलक्षणौ समवसू रविचन्द्रमसाविह।
रजनिरेव विशेषयति क्रमादपचयोपचयोभयनिःस्पृहौ ॥ ७३ ॥

इह परिहृताप्तनिरूपितलक्षणौ समवसू अपचयोपचयोभयनिस्स्पृहौ रविचन्द्रमसौ रजनिः एव क्रमात् विशेषयति ॥ ७३ ॥

संकट की घड़ी उपस्थित है समस्या यह है कि सूर्य तथा चन्द्रमा को अलग-अलग कैसे जाना जाय। एक समय था जब सूर्य को 'तिग्मरश्मि' तथा चन्द्रमा को 'शीतरश्मि' द्वारा आप्तों, विद्वानों ने परिलक्षित किया था। किन्तु इस हेमन्त ने लक्षण साङ्कर्य उपस्थित कर दिया है; दोनों ही शीतल हैं एक ही समान प्रभाव भी है वे उत्कर्ष तथा अपकर्ष से भी निःस्पृह हैं। हाँ यदि रात्रि चाहे तो दोनों की जानकारी हो सकती है। रात्रि के आने के पहिलेवाला प्रकाशपिण्ड सूर्य नामधारी है तथा रात्रि में रहने वाला प्रकाशपिण्ड ही चन्द्रमा है। यह है हेमन्त की महिमा ॥ ७३ ॥

'गुणगणाः गुणनोऽपि गृहेऽगुणा' इति यदाह जनस्तदुदाहरन्।
उडुपतिर्हिमकालमुपेत्य सो नहि मतो हिमतोऽपि हिमांशुभिः ॥ ७४ ॥

'गृहे गुणिनः अपि गुणगणाः अगुणाः एव' इति जनः यत् आह तत् उदाहरन् हिमकालं उपेत्य सः उडुपतिः हिमांशुभिः अपि हिमतः नहि मतः ॥ ७४ ॥

लोग कहा करते हैं कि अति गुणी आदमी के गुण भी अपने घर पर समादृत नहीं होते दूसरों को भले ही उसमें स्पृहणीय गुण हों किन्तु उस व्यक्ति के गुणों का आदर गृह, पास-पड़ोस आदि में यथोचित नहीं होता। आज भी देहातों में (पूर्वाञ्चल, उत्तर प्रदेश) कहावत है घर का जोगी जोगड़ा, आन गाँव का सिद्ध [दूसरी जगह उस योगी को लोग भले ही सिद्ध महात्मा समझें, अपने घर पर तो उसे 'जोगड़ा' (आक्षेपपूर्ण संज्ञा) ही कहा जायेगा] इसी उक्ति के उदाहरण के रूप में चन्द्रमा को लें। चन्द्रमा हिमरश्मि है, शीतल है—ठण्डक पहुँचाता है। जेठ की ताप भरी सन्ध्या में चन्द्रोदय की प्रतीक्षा होती थी किन्तु अब इस हिम मास में हिमांशु (हिम से संपृक्त किरणों वाला) का भी महत्त्व हिम से (बर्फ से) अधिक नहीं है। हिम मास में चन्द्रमा निष्प्रयोजन है ॥ ७४ ॥

प्रियतमः शतसौरभनन्दनो यदुपकारभरः सुरभौ मतः।
स्मरसि वीक्ष्य जवाहतविग्रहामनिल ! तानि लतासुकृतानि किम् ॥ ७५ ॥

अनिल ! यदुपकारभरः सुरभौ शतसौरभनन्दनः प्रियतमः मतः, (ताम्) जवाहत विग्रहाम् वीक्ष्य तानि लतासुकृतानि स्मरसि किम् ॥ ७५ ॥

बड़ा करुण उपालम्भ है। पवन को सम्बोधित करके कहा गया है। पुष्पमास में फूलों से लदी जिन लताओं के साहचर्य में आकर पवन को 'गन्धवह' की उपाधि मिली थी, जिन लताओं के उपकार के कारण उन्हीं की सम्पत्ति (गन्ध) के कारण पवन को प्रियतम, शतसौरभनन्दन, आदि कहकर सम्मानित किया जाता था, आज दुर्दिन में उन्हीं जीर्णशीर्ण लताओं को अपने प्रबल वेग से आहत करता हुआ पवन स्यात् स्मरण करता कि इन लताओं ने उस कृतघ्न के प्रति कितना आत्मीय सुलभ व्यवहार किया था। उस सहृदयता का बदला पवन इस निष्ठुरता से दे रहा है ॥ ७५ ॥

शशिमरुत्तुहिनर्तुभयादिव नववधूरसि पाति रविः स्थितिम्।
कठिनकम्रकुचाश्रयवर्तिनां घनहिमो नहि मोदहरो यतः ॥ ७६ ॥

रविः शशिमरुत्तुहिनर्तुभयात् इव नववधूरसि स्थितिं पाति, यतः घनहिमः हि कठिन-कम्रकुचाश्रयवर्तिनाम् मोदहरः न ॥ ७६ ॥

जाड़े का सूर्य वस्तुतः एक विडम्बना है। क्या करे, चारों ओर शत्रु ही शत्रु तो हैं। शीतांशु चन्द्रमा हावी होना चाहता है, अगर भाग्यवश बच गये तो शीत वायु से बेचारे सूर्य की कौन रक्षा करे, और यदि बच भी गये तो महाकाल के समान हिम काल। जल, स्थल कहीं भी छिपने का स्थान नहीं तब अन्त में प्रत्युत्पन्नमति सविता देवता ने अपने त्राण के लिए नववधू के हृदय को चुना। वही है वह दुर्ग जहाँ निर्भयतापूर्वक रहा जा सकता है। अस्तु नववधू के हृदय में जाड़े को बिताने के लिए तथा शत्रुओं से निर्भय रहने के लिए सूर्य प्रविष्ट हो गये। (इन्द्र भी तो कभी ब्रह्महत्या जन्य कृत्या से बचने के लिए कमलनाल में छिपे थे) पर एक शङ्का होती है कि इसमें प्रामाण्य क्या है कि सूर्य जाड़े भर नववधू के हृदय में रहते हैं। कवि का कथन है कि इसमें प्रमाणान्तर की व्यपेक्षा क्यों ? यह तो लोकसंवेद्य है, लोक अनुभूत है। क्योंकि जाड़े में जो सज्जनवृन्द कठिन कुच युगल के आश्रयवर्ती होते हैं जिन्हें नवल कुचाश्रय प्राप्त करने का सौभाग्य मिला है वे भयंकर हिम मास से भी भयभीत नहीं होते। हिम मास उनके आनन्द को किञ्चित् भी कम नहीं कर सकता। अस्तु, यह सूर्य के निवास करने का ही फल है। जहाँ निर्बल भी सूर्य रहेगा, कुछ उष्मा तो अवश्य ही मिलेगी। 'यत्र धूमस्तत्राग्निः' के समान 'यत्रोष्मा तत्रार्कः' ऐसी व्याप्ति भी कर सकते हैं ॥ ७६ ॥

अजलकेलिमनाः पवनासहो नभसि निर्जलदे ग्लपिते विधौ।
तदपि वासरुद्धवधूजनो न सहते स हतेनमपीर्ष्यया ॥ ७७ ॥

ग्लपिते विधौ निर्जलदे नमसि अजलकेलिमनाः पवनासहः सः वासररुद्धवधूजनः तदपि हतेनं अपि ईर्ष्यया न सहते ॥ ७७ ॥

नवयुवती कामिनियों ने अनेक पुराने कामों से अवकाश ग्रहण कर लिया है। समय का कफी बचाव किया है। जलक्रीड़ा से मुक्ति मिली, जाड़े के कारण जलविहार में रुचि नहीं रही। हवा खोरी भी असहनीय है कितना शीतल लगता है हिमपवन। आकाश में वर्षा कालीन मेघ माला भी नहीं, आकाश स्वच्छ है क्या निहारा जाय? चन्द्रमा भी तो कुछ गला-गला सा प्रतीत होता है। फिर भी एक कष्ट है, आखिर इतना बड़ा दिन क्यों? प्रातः से सन्ध्या तक आकाश में टँगा रहता है। दिन की (उगने और डूबने की) आवश्यकता ही क्या थी? इसीलिए बेचारे अघमरे सूर्य को भी, वे ईर्ष्यापूर्वक अपना शत्रु मानती हैं—बात भी ठीक है यदि दिन न होता तो इस संसार की जाड़े में कौन सी हानि हो जाती ॥ ७७ ॥

अहोऽपि मन्दार्ककृशं शपन्ती निरन्तरौत्सुक्यचलोत्पलाक्षी ।
यस्मिन् निशामप्यतनूत्सवश्रीर्न वेत्ति वीताम् शिशिरः स कालः ॥ ७८ ॥

निरन्तरौत्सुक्यचलोत्पलाक्षी मन्दार्ककृशं अहः अपि शपन्ती यस्मिन् अतनूत्सवश्रीः वीताम् अपि निशाम् न वेत्ति सः कालः शिशिरः ॥ ७८ ॥

क्षीणशक्ति, मन्दप्रभावाले सूर्य के कारण बेचारा दिन तो अपने आप सिकुड़कर छोटा हो गया है फिर भी गरीब को वधूजनों की जली-कटी सुननी ही पड़ती है। इस प्रकार दिन को शाप, उपालम्भ देनेवाली, निरन्तर उत्सुकतापूर्ण प्रतीक्षा में चञ्चल कमल नेत्रोंवाली, कामाराधन में आत्मविस्मृत सी कामिनी जब यह भी नहीं जान पाती कि रात बीत गयी, वही शिशिर मास है। (स्थिति यह है कि भले ही शिशिर की रात्रियाँ दीर्घयामिनी कहलायें, नवसुन्दरी के लिए वे छोटी ही पड़ती हैं। न जाने क्यों यह मूढ़चेताः दिन इतना पहिले क्यों उग जाता है) ॥ ७८ ॥

जडसमीरसमीरितचेतनो घनतुषारतुषारपरिस्नुतः ।
विषमयन् समयन्नितरामयं सशिशिरः शिशिरः श्रयति क्षितिम् ॥ ७९ ॥

जडसमीरसमीरितचेतनः घनतुषारतुषारपरिस्नुतः समयं नितरां विषमयन् सशिशिरः अयं शिशिरः क्षितिम् श्रयति ॥ ७९ ॥

शिशिर का समय है, शीत पवन ने चेतना को झकझोर दिया है। शिशिर अपने आप शीतल तुषार कणों से नहा उठा है। समय एकदम इस शिशिर के मारे विषम कठिन हो गया है और वही शिशिर इस समय संसार पर हाबी है ॥ ७९ ॥

खगकलस्वनबुद्धतटान्तरा शिशिरसूतिरिवाहितहैमना ।
नयति हैमवतीनियताभिधां प्रवलशैवलशैवलिनी कृशा ॥ ८० ॥

आहितहैमना खगकलस्वनबुद्धतटान्तरा शिशिरसूतिः इव कृशा प्रवल-शैवलशैवलिनी हैमवतीनियताभिधाम् नयति ॥ ८० ॥

अत्यधिक शैवाल (सेवार) से भरी जल के कम हो जाने से कृशकलेवरा नदी कुहरे से भर गयी है मानों इसी के उदर से शिशिर ऋतु का जन्म हुआ हो। शीतलता का साम्राज्य है। नदियों को हैमवती कहा जाता है मानो हिम-शैत्य के माध्यम से उसी संज्ञा का अर्थ ही स्पष्ट कर रही है। किनारा कहाँ है ज्ञान नहीं होता सब कुछ कुहरे से ढँका है। हाँ, जलपक्षियों के बोलने से तट का ज्ञान होता है ॥८०॥

प्रतिफलन्ति मनःफलके प्रियाः प्रवसतां हिमदुस्सहरात्रिषु ।
सहजनिर्वचनाभिहिताशयाः रहसि ताः हसिताकुलदृष्टयः ॥ ८१ ॥

हिमदुस्सहरात्रिषु प्रवसतां मनःफलके रहसि हसिताकुलदृष्टयः सहजनिर्वचनाभिहिताशयाः ताः प्रियाः प्रतिफलन्ति ॥ ८१ ॥

शिशिर की दीर्घ रात्रि है। घर से दूर, प्रिया विहीन, दूर देश में परदेशियों, प्रवासियों के लिए शिशिर की ये ठण्ड भरी रातें बिताये नहीं बीततीं। अनायास ही हृदय पटल पर प्रियतमा की मूर्ति अंकित हो जाती है। अनेक बीते हुए दृश्य आँखों में उभरने लगते हैं, उनकी कभी एकान्त में वह हँसी कि हँसते-हँसते आँखों से पानी निकल आया, बिना बोले ही बिना शब्दव्यापार के ही मनोगत आशय को व्यञ्जित कर देना, आदि सैकड़ों बातें, घटनायें प्रवासियों के हृदय पर निर्मम प्रहार करती हैं, उपालम्भ देती हैं और बेचारा प्रवासी किंकर्तव्यविमूढ़ हो आखों में ही रात काट देता है ॥ ८१ ॥

कुसुममासलसन्नवमञ्जरीपटलमञ्जुलगुञ्जननन्दनः ।
हिमहताम्रकुलं मनसाऽप्यसौ न मधुपो मधुपोषकमीहते ॥ ८२ ॥

कुसुममासलसन्नवमञ्जरीपटलमञ्जुलगुञ्जननन्दनः असौ मधुपः मनसा अपि मधुपोषकं हिमहताम्रकुलं न ईहते ॥ ८२ ॥

यही आमों का वाग है—दुर्दशा कर डाला है हिमकाल ने। पत्ते गिर पड़े हैं। नयी कोपलों का नाम नहीं। न मञ्जरी है, न आम है सब कुछ उजाड़ सुनसान है। वह भ्रमरकुल भी कहीं दिखाई नहीं देता। पर सदैव यह दशा न थी। वसन्त के महीनों में यही वाग, ये ही आम्रतरु नवीन मञ्जरियों से लद उठे थे। भीनी-भीनी सुगन्ध से पवन बोझिल हो जाता था और षट्पद-कुल (भौंरे) घूम-घूम कर अपने कलस्वन से उनका यशगान करता था और गन्ध, रस से मत्त हो जाता था। आज उसी मधुपोषक मधुरस के स्रोत आम को हिम-आहत देखकर मधुपकुल इतना कृतघ्न हो गया है कि मन से भी उसका स्मरण नहीं करता ॥ ८२ ॥

स्तनभरोष्मरुचैव तपश्चियं समवधूय मनोरथनन्दिनी ।
प्रसभकान्तभुजान्तरयन्त्रिता हिमरताऽमरतामपि नेहते ॥ ८३ ॥

मनोरथनन्दिनी तपश्चियं स्तनभरोष्मरुचा एव समवधूय प्रसभकान्तभुजान्तरयन्त्रिता हिमरता अमरताम् अपि न ईहते ॥ ८३ ॥

'तपसाराध्यते स्वर्गम्' तप से स्वर्गसिद्धि होती है। होती होगी! पर नववधू ने अभिनव अनुभूति का साक्षात्कार किया है स्तनों की उष्णता की प्रभा से उसने तपश्री, तप की प्रभा को व्यर्थ कर दिया (तप माघमास का पर्याय है) ठीक भी है मेनका, रम्भा आदि अनेक सुन्दरियों ने तपःप्रभा को अपमानित—कदर्थित किया था। अस्तु अपने मनोरथ की प्राप्ति से हर्षित नववधू प्रियतम के सहठ—अशिथिल भुजपाश में निवद्ध होकर हिमकालीन, शैशिरी रात्रियों में आनन्दोपभोग करती हुई अमरता (देवत्व या देव लोक) को भी व्यर्थ मानती है तथा उसकी इच्छा तक नहीं करती। ठीक है तप द्वारा स्वर्ग प्राप्ति होती है किन्तु उस तप को तो यह नव-वधू पराजित कर चुकी है वह भी अपने एकांश से। अस्तु; तपोलब्ध अमरता उसके लिए व्यर्थ ही है। वस्तुतः आनन्द में हो जिसकी स्थिति है उसे स्वर्ग का अभिलाष क्यों होगा ॥ ८३ ॥

क्षयमितो[1] वनिताजनमन्युना दयितदूत इवौषधिराडपि।
इति हिमे प्रमदाकुलभीषितो दिनकरो न करोति दिनोदयम् ॥ ८४ ॥

'दयितदूतः इव ओषधिराट् अपि वनिताजनमन्युना क्षयं इतः' इति (विचार्य) प्रमदाकुलभीषितः दिनकरः हिमे दिनोदयं न करोति ॥ ८४ ॥

जाड़े में दिन देर से निकलता है पर क्यों? कवि का उत्तर है कि सूर्य जान-बूझकर देर से उगते हैं। प्रमदाकुल से भयभीत होने के कारण सूर्य देर से उगते हैं क्योंकि सूर्य को एक घटना अच्छी तरह याद है। किस प्रकार ओषधिपति (वैद्यराज) चन्द्रमा भी वधूजनों के कोप के कारण, प्रियतम को उन्मुख करने में दूत के समान होने पर भी यक्ष्मा से अभिशप्त हुए। बेचारे सूर्य को तो ओषधि-ज्ञान भी नहीं, इनको तो शाप से भस्म ही कर डालेंगी। अतः कातर सूर्य दिनोदय में विलम्ब करते हैं ॥ ८४ ॥

इत्थं कलोद्भवचमत्कृतशस्त्रिलोकं विस्रम्भवैभवधनाः शिवचारमुख्याः।
गूढं निरीक्ष्य निखिलं समधीत्य मर्म चेतो बबन्धुरभिनन्दितुमार्यबन्धुम् ॥ ८५ ॥

इत्थं विस्रम्भवैभवधनाः शिवचारमुख्याः कलोद्भवचमत्कृतशास्त्रिलोकं गूढं निरीक्ष्य, निखिलं मर्म समधीत्य आर्यबन्धुं अभिनन्दितुं चेतः बबन्धुः ॥ ८५ ॥

इस प्रकार वीर शिवराज के उन कुशल गुप्तचरों ने अपने गीत, नृत्य आदि कलाओं से शस्त्रधारी शत्रुकुल को चमत्कृत करके उनके प्रत्येक गूढ़ रहस्य को जानकर तथा उनको आन्तरिक गुप्ततम विचारधारा को भलीभाँति जानकर आर्यबन्धु वीर शिवा को अपनी सूचनाओं से अवगत कराने के लिए विचार किया और शीघ्रतापूर्वक प्रस्थित हुए ॥ ८५ ॥

१. प्रजापतिना सप्तविंशतिसुताः शशिने दत्ताः। किन्तु रोहिण्यामासक्तः शशीतामेवाङ्क-शायिनीं विधाय नान्यासु मनोदधे। ताभिः दुःखिताभिः निवेदितो भगवान् प्रजापतिः चन्द्रमसं शशाप सोमरोगेण। पश्चात् प्रणतं शशिनं कृपयाऽनुजग्राह, पक्षैकं वृद्धये, पक्षैकं क्षयाय च।

पूर्वं ज्ञातगदस्वभावगतयः शारीरकान्तर्विदो
व्यक्ताव्यक्तविकारबोधपरमाः दृष्टानुमानप्रथाः ।
ते धन्या अगदङ्कराः सुभिषजो ये वै निदानाध्वना
कृच्छ्रेऽपि प्रभवन्ति भेषजगुणैरोगे यशोजीविताः ॥ ८६ ॥

पूर्वं ज्ञातगदस्वभावगतयः शारीरकान्तर्विदः व्यक्ताव्यक्तविकारबोधपरमाः दृष्टानुमानप्रथाः अगदङ्कराः ते सुभिषजः धन्याः ये यशोजीविताः वै निदानाध्वना भेषजगुणैः कृच्छ्रे अपि रोगे प्रभवन्ति ॥ ८६ ॥

वे पीयूषपाणि वैद्यगण धन्य हैं जो सर्वप्रथम रोग के स्वभाव, चेष्टा आदि को भलीभाँति जानकर, शारीरक में अन्तर्दृष्टि रखकर, प्रकट-अप्रकट सब प्रकार के विकारों की जानकारी में प्रवीणता द्वारा, प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों के बल पर उचित निदान के द्वारा कठिनतम दुस्साध्य, कृच्छसाध्य रोगों पर भी अपने भैषज्य ज्ञान से उन रोगों को शीघ्र ही दूर कर देते हैं। सचमुच आत्मयश के कारण सदा जीवित रहते हैं। इस अन्तिम श्लोक में अन्योक्ति द्वारा चारमुख्यों का ही गुण गान किया गया है। कुशल गुप्तचर भी अपने अनेक विध उपायों द्वारा गोप्यतम, अन्तर्निहित शत्रु के भाव को स्पष्टतया जान लेते हैं ॥ ८६ ॥

इति श्रीत्रिपाठ्युपाह्वेन उमाशङ्करशर्मणा विरचिते
क्षत्रपतिचरित-महाकाव्ये षष्ठः सर्गः ।

अथ सप्तमः सर्गः

अथ श्रियो मण्डयिता यशस्वी तमन्तरायं परिचिन्त्य शत्रुम् ।
सभासदो भासदमोघमन्त्रान् समाजुहावाऽवसराभियोगे ॥ १ ॥

अथ यशस्वी श्रियः मण्डयिता तं शत्रुं अन्तरायं परिचिन्त्य अवसराभियोगे भासद-मोघमन्त्रान् समाजुहाव ॥ १ ॥

राजलक्ष्मी के अलङ्कर्ता यशस्वी वीर शिवराज ने उस सदलबल आये हुए वीजापुरीय शत्रु सेनापति अफजलखान को आत्मप्रयत्न में घोर बाधक समझकर, उत्तम सफल नीति के प्रयोग में निष्णात अपने मन्त्रियों को प्राप्त अवसर के अनुकूल सम्मति के लिए आग्रहपूर्वक बुलाया ॥ १ ॥

विविच्य तं क्रूरविधानदक्षं स्वलक्ष्यसिद्ध्यै वहुरूपवृत्तिम् ।
नयानुयोगावधयोऽपि सभ्याः वक्तुं गुरुत्वावनताः न शेकुः ॥ २ ॥

स्वलक्ष्यसिद्ध्यै वहुरूपवृत्तिं तं क्रूरविधानदक्षं विविच्य नयानुयोगावधयः अपि सभ्याः गुरुत्वावनताः वक्तुं न शेकुः ॥ २ ॥

सचिव गण अफजलखान के चञ्चल स्वभाव से सर्वथा परिचित थे। जघन्यतम कृत्य भी उसे लज्जित नहीं कर सकता था। घोर क्रूर आचरण में वह बेजोड़ था तथा अपने मतलब को पूरा करने के लिए बहुरूपिये के समान अनेक रूप धारण कर सकता था। अतः नीति के गूढतम रहस्यों के पारङ्गत होते हुए भी वे सभासद् विषय की गुरुता के कारण सहसा कुछ बोल न सके ॥ २ ॥

पूर्वं[1] पुरस्कारभरैः प्रसादैः सौहार्दबद्धो यदुदारकृत्यैः ।
छेत्तुं शिरोऽमात्यवरस्य तस्य सासिश्चकम्पे न यदीयपाणिः ॥ ३ ॥

पूर्वं यदुदारकृत्यैः पुरस्कारभरैः प्रसादैः सौहार्दबद्धः तस्य अमात्यशिरः छेत्तुं सासिः यदीयपाणिः न चकम्पे ॥ ३ ॥

जिसने समयानुसार पुरस्कार, कृपा आदि के द्वारा उस अफजल खान को मिट्टी से उठाकर उच्चासन पर बैठा दिया तथा अपना मित्र बनाकर अपने विश्वास का पात्र बना दिया उसी (बीजापुरीय मन्त्रिवर के गले को काटने के लिए उद्यत उस अफजल खान का वह हाथ तनिक भी नहीं कम्पित हुआ जिसने विश्वास, स्नेह को काटने के लिए नंगी तलवार ले रखा था। अफजलखान अपने उपकारक बन्धु

---

१. बीजापुरामात्यस्य कृपाप्रसादं साहाय्यञ्चावलम्ब्य पदोन्नतिमारूढोऽज्ञातकुलशीलोऽ-प्यफजलखानः दीप्यमानेऽन्तर्विरोधे बीजापुरराज्ये तमेव निजोपकारिणं श्रद्धाभाजनं मन्त्रिवरं नृशंसो जघान खान मुहम्मदनामानम् ।

को भी उसके दुर्दिन में इस प्रकार बदला चुका सकता था। बेचारे बीजापुर के प्रधान मन्त्री ने उसे प्रतिष्ठा एवं सम्मान का पात्र बनाया तथा अवसर आने पर अफजल खान ने कुचक्र रचकर उन्हीं को दो टुकड़े कर दिया ॥ ३ ॥

लब्ध्वाऽऽश्रयं[1] सच्छपथानुवृत्त्या विश्रब्धवर्त्माऽपि यदीयवाचा ।
सेराधिपो यच्छिविरे स्वभाग्यं प्राक्षालयत् कण्ठकदुष्णधारैः[2] ॥ ४ ॥

सच्छपथानुवृत्त्या यदीयवाचा आश्रयं लब्ध्वा विश्रब्धवर्त्मा अपि सेराधिपः यच्छिविरे कण्ठकदुष्णधारैः स्वभाग्यं प्राक्षालयत् ॥ ४ ॥

सैकड़ों बार शपथपूर्वक विश्वास दिलाकर उस अफजलखान ने सरल प्रकृति 'सेरा' धिपति को अपने वाग्जाल में बाँध लिया और उसका विश्वास करके नरेश आश्वस्त मना हो उसके शिविर में अरक्षित भाव से प्रविष्ट हुए। किन्तु फल वही हुआ जिसकी आशंका थी। राजा को अपने गले के गर्म रक्त से अपने भाग्य को धोना पड़ा। क्रूर अफजल खान ने अपनी तलवार से उन्हें काट डाला ॥ ४ ॥

क्षणोपदिष्टाध्वरमोऽपशङ्को विकत्थनः स्वार्थनिपीतदृष्टिः ।
सतोऽपि सोढुं स्वजनानशक्तः तिरस्करोत्येव मनुष्यलोकम् ॥ ५ ॥

क्षणोपदिष्टाध्वरमः अपशङ्कः विकत्थनः स्वार्थनिपीतदृष्टिः सतो अपि स्वजनान् सोढुं अशक्तः मनुष्यलोकं तिरस्करोति एव ॥ ५ ॥

यह धृष्ट सेनापति बिना विचार किये सहसा किसी क्षणिक भावना के वशीभूत होकर काम करने वाला है निर्भय है तथा आत्मश्लाघा करता रहता है, स्वार्थ से अन्धा होकर सब कुछ भूल जाता है। असहिष्णु इतना है कि अपने सज्जन आत्मीयजनों की भी उपेक्षा करता रहता है। संक्षेप में यह कहना चाहिए कि वह सम्पूर्ण मानव जगत् की अवहेलना करता है ॥ ५ ॥

कोपाविवेकौ सहजाविव द्वौ यत्कामसाफल्यसहायिवृत्तौ ।
परान् नयन्तावपि गर्तपूरे नूनं बिभीतोऽश्रुतवर्त्मनोऽस्मात् ॥ ६ ॥

कोपाविवेकौ सहजौ इव द्वौ यत्कामसाफल्यसहायिवृत्तौ, परान् गर्तपूरे नयन्तौ अपि नूनं अस्मात् अश्रुततवर्त्मनः विभीतः ॥ ६ ॥

कोप और अविवेक दोनों ही मनोभाव प्रायः सहजात हैं एक दूसरे के आश्रित हैं। ये दोनों ही उसकी इच्छा पूर्ति में सहायक की भूमिका निभाते हैं। दूसरों को तो ये दोनो भले ही विनाश के गड्ढे में फेंक दें (और प्रायः फेंकते ही हैं) किन्तु इस अश्रुतवर्त्मा, भ्रष्ट मार्ग वाले अफजल खान से निश्चय ही डरते हैं (यही कारण है कि कोप और अविवेक से भर कर भी यह दुर्दशा में नहीं पड़ता) ॥ ६ ॥

१. 'सेरा' भूभागाधिपतिः कस्तूरीरंगां, सशपथं विश्वास्य अफजलखानेन शिविरे समाहूतः। अकारणमेव सरलहृदयः निर्दयं निहतः तदेव शिविरेऽफजलखानेन-इतिऐतिहासिकाः—

२. 'बदुष्णरक्तैः' इति पाठान्तरम्।

विलोलबीजापुरराजलक्ष्म्याः प्रसादमेषोऽर्थयतां बहूनाम् ।
ख्यातात्मपारुष्यनिबद्धमार्गैः कम्वाऽभिचारं क्षमते न कर्तुम् ॥ ७ ॥

विलोलबीजापुरराजलक्ष्म्याः प्रसादं अर्थयतां बहूनां एषः ख्यातात्मपारुष्यनिवद्धमार्गैः कं वा अभिचारं कर्तुं न क्षमते ॥ ७ ॥

इस समय बीजापुर राज्य की दशा बड़ी विस्फोटक है। वहाँ की चञ्चल राजलक्ष्मी की कृपा के अनेक अभिलाषुकों के अनुकूल या प्रतिकूल यह कौन सा साहसिक अपकर्म नहीं कर सकता। इसकी शठता एवं कठोरता से भरी कार्य पद्धति तो लोगों में विख्यात ही है। स्वपक्ष के हित के लिए कोई भी दानवीय कृत्य इसके धृष्ट, कठोर स्वभाव के लिए सर्वथा सरल होगा ॥ ७ ॥

आवर्तरौद्रे तरिकश्मलेऽब्धावर्हा किमेषोडुपसन्तितीर्षा ।
झञ्झाऽऽशुगाऽऽश्लिष्टतमस्विनी किं क्षमेत दीपोत्सुकमुग्धदृष्टिम् ॥ ८ ॥

आवर्तरौद्रे तरिकश्मले अब्धौ एषा उडुपसतिन्तीर्षा अर्हा किम्, दीपोत्सुकमुग्धदृष्टिं झञ्झाशुगाऽऽश्लिष्टतमस्विनी क्षमेत किम् ? ॥ ८ ॥

उत्ताल तरङ्गों के कारण भयंकर, अपनी प्रचण्डता से नाव की परवाह न करनेवाले इस विपत्ति सागर में डोंगी से पार उतरने की इच्छा कहाँ तक उचित है ? अथवा झञ्झावात (आँधी तूफान से भरी हवा) से भरी हुई काली रात क्या क्षुद्र लघु दीपक की उत्सुकता पूर्ण मुग्ध दृष्टि को (दीपक की क्षुद्र लौ को) सहन करेगी ? (यह अफजल खान भयंकर लहरों से उद्वेलित महासमुद्र के समान है छोटी सेना से इसका सामना करना आत्मघाती दुस्साहस है। या यह आँधी तूफान से भरी काली रात के समान है एक छोटा दीपक इसके वेग के सामने कभा भी नहीं टिक सकता ॥ ८ ॥

[1]पटीयसी दैवनटी विचित्रा नृपश्रियं दासपदे क्षिपन्ती ।
प्रायः प्रतीपाभिनयप्रयोगैरभ्यासलीलामिव सन्तनोति ॥ ९ ॥

विचित्रा पटीयसी दैवनटी नृपश्रियं दासपदे क्षिपन्ती प्रतीपाभिनयप्रयोगैः प्रायः अभ्यासलीलाम् इव सन्तनोति ॥ ९ ॥

दैवनटी अति कुशल है तथा इसका स्वभाव भी विचित्र ही है यह कौतूहल वश राज्यलक्ष्मी को गुलाम के पैरों में भी डाल सकती है। अभिनय के इन उल्टे पुल्टे अभिनव प्रयोगों द्वारा मानों यह दैवनटी अभिनय कला का अभ्यास सा करती रहती है। दुर्दैव की इच्छा बड़ी विचित्र एवं अप्रत्याशित होती है वह हर तरह का उल्टा सीधा काम किया करता है ॥ ९ ॥

---

१. निहते दिल्लीपतौ पृथ्वीराजे चौहानवंशधरे तलावड़ीसमरमुखे (११९२) भारतराजलक्ष्मीरुपभुक्ता दासनरपतिभिः । मुहम्मदगोरी विजेता तलावड़ी युद्धस्य भारतवर्षशासने स्वदासं कुतुबुद्दीनसंज्ञकं नियुक्तवान् स्वयञ्च स्वदेशं जगाम ।

कथं प्रभावस्थितिवेदिनीयं मतिर्ध्रुवापायविधौ रमेत ।
दृष्ट्वा फणाटोपकरालकालं प्रसूनमालोपममावहेत् कः ॥ १० ॥

प्रभावस्थितिवेदिनी इयं मतिः ध्रुवापायविधौ कथं रमेत, फणाटोपकरालकालं दृष्ट्वा कः प्रसूनमालोपमं आवहेत् ॥ १० ॥

आत्म शक्ति एवं वस्तुस्थिति को यथार्थतः जाननेवाली हम लोगों की यह बुद्धि निश्चित विनाश के पथ में किस प्रकार अग्रसर हो सकती है ? जानकर तो कोई भी विपत्ति का स्वागत नहीं करता। कौन आदमी भयंकर फणवाले काल भुर्जग को देखकर उसे पुष्पमाल के समान अपने गले में डालेगा। विपत्ति का ठीक मूल्यांकन होना ही चाहिए। अयथार्थ बुद्धि प्रायः विनिपात का द्वार खोल देती है ॥ १० ॥

शुभायतिं चिन्तयता तु नित्यं रक्ष्या स्थितिः स्वोद्यमकामधेनुः ।
नूनं सुयोगेऽवसरेङ्गितज्ञं प्रयोगलुब्धा द्रुतमेति सिद्धिः ॥ ११ ॥

शुभायतिं चिन्तयता तु स्वोद्यमकामधेनुः स्थितिः नित्यं रक्ष्या, अवसरेङ्गितज्ञं सुयोगे प्रयोगलुब्धा सिद्धिः नूनं द्रुतं एति ॥ ११ ॥

शुभ कल्याणमय भविष्य की कामनावाला विवेकी मनुष्य सदैव आत्मस्थिति की रक्षा करे उसे सम्पन्न बनावे क्योंकि वही प्रयत्न को, किये जानेवाले कार्यों को सफल बनायेगा निश्चय ही, अवसर के संकेत को समझनेवाले व्यक्ति के पास समय पर उसके प्रयोगव्यापार से आकृष्ट होकर कामिनी के समान सिद्धि दौड़ कर अपने आप पहुँच जाती है। (जिस प्रकार सुयोग मिलने पर मौके का इशारा समझनेवाला पुरुष तदनुकूल आचरण द्वारा परकीया को आकृष्ट कर लेता है तथा वह स्वयं अनुरक्तमना होकर उसके पास पहुँच जाती है वैसे ही क्रियासिद्धि भी समय की गति को समझनेवाले तथा तदनुकूल कार्य करनेवाले चतुर व्यक्ति के पास दौड़ती चली जाती है ॥ ११ ॥

उपेक्षितोद्देश्यफलाः स्वदेशे शौर्यश्रियोऽपीष्टपथानभिज्ञाः ।
नूनं गताः द्विण्मखहव्यतां ये सङ्ख्याऽपि-सङ्ख्यातुमपण्डिता तान् ॥ १२ ॥

स्वदेशे उपेक्षितोद्देश्यफलाः शौर्यश्रियः अपि इष्टपथानभिज्ञाः ये द्विण्मखहव्यताम् गताः तान् नूनं सङ्ख्या अपि सङ्ख्यातुं अपण्डिता ॥ १२ ॥

इस देश में मान के लिए मर मिटनेवाले वीरों की कभी कमी न रही, शौर्य में भी यह देश मूर्धन्य रहा है। फिर भी इसे दासता भोगनी पड़ रही है। इसके पीछे स्पष्ट कारण हैं। उद्दिष्टफल को ध्यान में न रख कर, अभीष्ट पथ से अनभिज्ञ किन्तु शौर्य से भरपूर भारतवासी, परस्पर विरोधी भावनाओं को लेकर शत्रु के युद्ध यज्ञ के हवनकुण्ड में आहुति के समान गिरते गये। देशवासियों को इस प्रकार बलिदान होनेवाली संख्या इतनी अनन्त है कि संख्या देवी भी उनकी संख्या को

ठीक ठीक गिन न सकेंगी। ('संख्या' को गिननेवाली महिला के रूप में ग्रहण किया गया है।) ॥ १२ ॥

हत्वा हतो वोभयतुल्यवर्त्मा कृतार्थतां गच्छतु सासिराजौ।
इत्थं भटाचारमुपेत्य भूभृन्नष्टो जनाशां विफलीकरोति ॥ १३ ॥

हत्वा हतः वा उभयतुल्यवर्त्मा सासिः आजौ कृतार्थताम् गच्छतु, इत्थं भटाचारं उपेत्य नष्टः भूभृत् जनाशाम् विफलीकरोति ॥ १३ ॥

युद्धभूमि में तीखी तलवारवाला वीर सैनिक मार कर या मर कर (प्रतिद्वन्द्वी को नष्ट कर या उसके द्वारा स्वय नष्ट होकर) दोनों ही अवस्थाओं में तुल्यधर्मा होकर भले ही कृतकृत्य हो जाय पर यदि राजा भी इसी व्यक्तिपरक सैनिक धर्म का अनुसरण करे तो वह विनष्ट होकर प्रजा की शुभाशा को विफल, निष्फल ही कर देगा। आशय यह है कि सेना में असंख्य योद्धा हैं, युद्धभूमि में निश्चय ही अगणित सैनिक वीरगति को प्राप्त होते हैं, शौर्य द्वारा उन्होंने विपक्षी को मारा होगा या लड़ते हुए विपक्षी द्वारा मारे गये होंगे। फिर भी बहु संख्यक सैनिक शेष रहते हैं, राष्ट्र मृत सैनिकों के आश्रितों की सुख सुविधा का प्रबन्ध करके नये सैनिकों की भरती द्वारा सेना को यथावत् बना लेगा किन्तु राजा केवल व्यक्ति ही नहीं है वह राष्ट्र का प्रतिनिधि है राष्ट्र की आशायें उसमे केन्द्रित हैं अस्तु, वह मरने के लिए सैनिक के समान स्वतन्त्र नहीं है—उसका प्रधान कर्तव्य राष्ट्र की आशा को सफल बनाना है यह काम तभी हो सकेगा जब वह आत्मरक्षा करता हुआ विपक्षी को विनष्ट करे। वह उत्साह पूर्वक लड़कर वीरगति पाकर अपना व्यक्तिगत कल्याण (यशोलब्धि) भले करले राष्ट्र तथा समाज को तो वह मर कर नष्ट ही कर डालेगा, अतः राजा का भट-सामान्य-आचरण नहीं करना चाहिए। राजा के लिए आत्म स्थिति की रक्षा प्रथम कर्तव्य है ॥ १३ ॥

तरङ्गलास्ये तरणीं विपाद्य किं ज्ञापिता धीवरता जनेन ?
सर्वात्यये वह्निमुखे स्वपातात् कृतो ध्रुवं यत्नवता प्रयत्नः ॥ १४ ॥

तरङ्गलास्ये तरणीं विपाद्य जनेन धीवरता ज्ञापिता किम् ? सर्वात्यये वह्निमुखे स्वपातात् ध्रुवं यत्नवता प्रयत्नः कृतः ॥ १४ ॥

नाचती हुई लहरो में नाव को डुबो कर केवट ने किस कुशलता का, किस मल्लाही का परिचय दिया। सर्वभक्षी अग्नि की लपटों में स्वयं कूदकर सचमुच प्रयत्न करनेवाले ने खूब प्रयत्न किया ? अभिप्राय यह है कि तरणी के बचाने में स्वयं डूब जानेवाला केवट या आग बुझाने में स्वयं जल कर मर जानेवाला पुरुष व्यक्तिगत रूप में समाज की समवेदना भले ही प्राप्त कर लें किन्तु वस्तुस्थिति तो अपनी कहानी कहेगी ही। नाव नष्ट हुई, बैठे हुए यात्रियों को मध्य धार में जल समाधि मिल गयी, नाव भी नष्ट हुई। घर जला सम्पत्ति भी नष्ट हुई। यहाँ पर नाव की सुरक्षा ही प्रधान कर्तव्य है तथा अग्नि शमन ही प्रथम दायित्व है। प्राण देना श्लाघ्य

भले हो, विपत्ति का निवारण तो नहीं ही हुआ। अतः राजा आत्मस्थिति की सुरक्षा के साथ खिलवाड़ न करे। आत्म वलिदान से बढ़ कर आवश्यक है दायित्व बोध तथा तत्परक चेष्टा करना ॥ १४ ॥

श्रेयानुपायान्तरयोगबन्धः पुरः स्थितेऽस्मिन् कुपितान्तकेऽरौ।
अनूनबुद्धिव्यवसायदक्षा दण्डैकरक्ष्या नहि राजनीतिः ॥ १५ ॥

कुपितान्तके अस्मिन् अरौ पुरः स्थिते उपायान्तरयोगबन्धः श्रेयान्। हि अनूनबुद्धिव्यवसायदक्षा राजनीतिः दण्डैकरक्ष्या न ॥ १५ ॥

अतः यमराज के समान क्रोधातुर इस शत्रु के सामने रहते हुए युद्ध के अतिरिक्त किसी अन्य उपाय का अवलम्बन ही श्रेयस्कर है। अनेक विध प्रयोगों व्यवसायों में अप्रतिहत वुद्धिवाली राजनीति केवल शस्त्रमात्र (युद्ध) से ही सुरक्षित नहीं रहती है। साम, दाम, भेद, दण्ड, आदि उपायों से संवलित राजनीति युद्ध को अन्तिम अस्त्र के रूप में स्वीकार करे मूल उद्देश्य तो आत्म पक्ष का अभ्युदय है, इसीलिए प्रयत्न करना चाहिए। वस्तुतः साधनों को साध्य रूप में स्वीकार करने से ही फल सन्दिग्ध हो जाता है। युद्ध केवल एक साधन है साध्य नहीं। साध्य तो स्थिति की सुरक्षा तथा आत्म पक्षोदय है ॥ १५ ॥

तथापि चेतः परिशङ्कते नश्चमूपतेरस्य विविच्य भावम्।
दृष्ट्वाऽपि गां दैन्यदृशं समक्षं स्वभावमेवानुकरोति हिंस्रः ॥ १६ ॥

तथापि अस्य चमूपतेः भावं विविच्य नः चेतः परिशङ्कते, दैन्यदृशं गाम् समक्षं दृष्ट्वा अपि हिंस्रः स्वभावं एव अनुकरोति ॥ १६ ॥

फिर भी इस सेनापति के दुष्ट भावों पर दृष्टिपात करने से हमारा हृदय आशंकासे भर जाता है। भले हीं दीनता की मूर्ति वनी गाय सम्मुख हो उसे देखकर भी घातुक हिंस्र पशु तो अपने हिंसक स्वभाव का ही अनुसरण करेगा। यह अफजल खान अपना हृदयहीन कठोर स्वभाव क्यों छोड़ेगा ? ॥ १६ ॥

दुर्दैवशापप्रतिमः शठोऽयं प्रस्तावमाकर्ण्य च सामसन्धेः।
[1]याथार्थ्यबोधोदितदर्पवह्निः भस्मच्छदामेव भुवं विदध्यात् ॥ १७ ॥

दुर्दैवशपप्रतिमः अयं शठः सामसन्धेः च प्रस्तावं आकर्ण्य याथार्थ्यबोधोदितदर्पवह्निः भुवं एव भस्मच्छदाम् विदध्यात् ॥ १७ ॥

दुर्दैव के अभिशाप के समान उपस्थित यह दुष्ट अफजल खान हम लोगों द्वारा किये जानेवाले सन्धि प्रस्ताव को सुनकर वास्तविक स्थिति (हमारी सीमित शक्ति) को जानकर उभड़ती हुई घमण्ड की ज्वाला में कहीं पृथिवी को ही राख से आच्छादित न कर दे। अफजल खान इतना क्रूर है कि निर्बलता पर प्रहार करना हो उसे

---

१. 'कानर्मबोधोदित' इति पाठान्तरम्।

उचित लगता है। फिर तो क्रोधान्ध होकर गाँवो को लूटना, उजाड़ना, आग लगाना आदि जघन्य कृत्यों द्वारा यह पृथिवी को ही दुर्दशा एवं दुर्व्यवस्था से भर देगा ॥ १७ ॥

जिघृक्षुणा वाऽधमसन्धिदोष्णा सर्वस्वमात्मार्थमिवोपकल्प्य ।
दैवाद्विमुञ्चेदघनिर्भरासून् क्षमोऽपि मृत्युः किमु तन्निवोढुम् ॥ १८ ॥

जिघृक्षुणा अधमसन्धिदोष्णा वा सर्वस्वं आत्मार्थं इव उपकल्प्य दैवात् अघनिर्भरासून् विमुञ्चेत्, तत् निवोढुं मृत्युः अपि क्षमः किमु ॥ १८ ॥

यदि मान लें कि सन्धि के लिए सहमत हो जायेगा तो हो सकता है कि अधम सन्धि (सबल तथा निर्बल के बीच सन्धि) से बलिष्ठ अपनी लम्बी बाहों से सब कुछ हड़प लेने की इच्छा से हमारा सर्वस्व अपने वश में करके हमारे पापी प्राणों को छोड़ दे। किन्तु ऐसे कलंकपूर्ण प्राणों का भार उठाना मृत्यु के लिए भी कठिन होगा। यह सन्धि मृत्यु से भी निकृष्टतर होगी ॥ १८ ॥

बध्नाति सादृश्यगुणैरमर्त्या चित्तद्वयं या सहजप्रतिष्ठैः ।
स्वत्यागसम्भूतिनिधिः क्व मैत्री, स्वार्थाभिरक्तिः क्व पराग्रहा वा ॥ १९ ॥

सहजप्रतिष्ठैः सादृश्यगुणैः अमर्त्या या चित्तद्वयं बध्नाति (सा) स्वत्यागसम्भूतिनिधिः मैत्री क्व परागृहा स्वार्थाभिरक्तिः वा क्व ॥ १९ ॥

मैत्री दो हृदयों को एकत्र करती है एक सूत्र में निबद्ध करती है, सहज प्रतिष्ठित सादृश्यमूलक गुणों पर आधारित रहती है तथा आत्मत्याग के महान् सम्पत्ति से युक्त रहती है (मैत्री में प्रत्येक पक्ष अपने से अधिक दूसरे पक्ष के कल्याण की कामना करता है)। वस्तुतः मैत्री इस पृथ्वी पर स्वर्गीय पदार्थ है। स्वार्थ तो दूसरे का प्राप्य छोननेवाला दानवीय अनाचार है। कहाँ तो दिव्य प्रभाव विशिष्ट मैत्री और कहाँ परपीडोत्सुक स्वार्थ, भला दोनों का क्या सम्बन्ध ? ॥ १९ ॥

पृष्ठे वनाग्निः पुरतः पयोधिर्दैवो गृहीताशनिरुत्तमाङ्गे ।
प्रतिष्ठिते वर्त्मनि गच्छतोऽपि पदं निगृह्णन्ति शठान्तरायाः ॥ २० ॥

पृष्ठे वनाग्निः, पुरतः पयोधिः गृहीताशनिः दैवः उत्तमाङ्गे, प्रतिष्ठिते वर्त्मनि गच्छतः अपि शठान्तरायाः पदं निगृह्णन्ति ॥ २० ॥

मानव जीवन भी विषम विडम्बनाओं का समवाय ही है। इच्छा रखकर सन्मार्ग पर चलता हुआ भी व्यक्ति बहुधा बरबस रोक दिया जाता है। घटनाक्रम उसे आगे बढ़ने ही नहीं देता और व्यक्ति विवश हो भग्न हृदय होकर बिखर जाता है। पीछे जाये तो दावानल मुँह खोले खड़ा है, आगे समुद्र अपनी लहरों से भयभीत कर रहा है, सर पर दुर्भाग्य वज्र लेकर मँडरा रहा है; सज्जनोचित मार्ग पर चलते हुए व्यक्ति के पैरों को शठ अधम बाधायें अपने दुस्तर जाल में फाँस देती हैं ॥ २० ॥

ध्रुवं समालोच्य तथापि सर्वम् पदाभिरक्षैव विधिप्रतिष्ठा ।
एकोऽपि कालेऽग्निकणो वनालि भस्मीकरोत्येव विवर्धिताङ्गः ॥ २१ ॥

तथापि सर्वं समालोच्य पदाभिरक्षा एव ध्रुवं विधिप्रतिष्ठा, काले एकः अपि अग्निकणः विवर्धिताङ्गः (सन्) वनालिं भस्मीकरोति एव ॥ २१ ॥

फिर भी सब कुछ देख सुन लेने के बाद यही प्रतीत होता है कि निश्चित ही आत्मस्थिति की सुरक्षा करना ही विधि सम्मत है। दुर्दिन में भी यदि भाग्यवश एक भी अग्नि कण कहीं बचा रह जाता है तो समय पाकर विवर्धित शक्ति सम्पन्न हो वह सम्पूर्ण वन को ही जलाकर भस्म कर सकता है ॥ २१ ॥

निरन्तरं वर्षति शत्रुमेघे दुर्दैवझञ्झापवने प्रवाति ।
विस्रम्भदीपार्चिषि वेपमाने स्वात्मस्थितिर्नूनमपेक्षणीया ॥ २२ ॥

शत्रुमेघे निरन्तरं वर्षति, दुर्दैवझञ्झापवने प्रवाति, विस्रम्भदीपार्चिषि वेपमाने नूनं स्वात्मस्थितिः अपेक्षणीया ॥ २२ ॥

जब शत्रुरूपी मेघ निरन्तर बरस रहा हो, दुर्दैव का वात्याचक भीषण वेग से चल रहा हो और विश्वास के दीपक की वत्ती भी संशय में काँप रही हो तो निस्सन्देह विवेकी पुरुष का कर्तव्य है कि वह आत्म स्थिति की सुरक्षा का सर्वविध प्रयत्न करें ॥ २२ ॥

उपास्यसिद्ध्यै कृतनिश्चयानां क्व जीवनापायविधिः पराध्वा ।
अकुण्ठितारब्धमखोद्यमाय नैवार्पितात्मायुषि ते स्वतन्त्राः ॥ २३ ॥

उपास्यसिद्ध्यै कृतनिश्चयानां जीवनापायविधिः क्व पराध्वा, अकुण्ठितारब्धमखोद्यमाय अर्पितात्मायुषि ते न स्वतन्त्राः एव ॥ २३ ॥

जिन्होंने अभीष्टसिद्धि के लिए जीवन को सङ्कल्पित कर दिया है उनके लिए सिद्धि लाभ के पूर्व जीवन का विनाश करना कथमपि उत्तम मार्ग नहीं है। सर्वथा विचार-विमर्श के बाद उत्साह युक्त चेतना से आरम्भ किये गये महान् यज्ञ को सम्पन्न करने के लिए, तदर्थ कठिन उद्यम करने के लिए उनका जीवन साधन स्वरूप है। जीवित रहकर ही वे अपने सङ्कल्प को, महान् यज्ञ को पूर्ण कर सकते हैं। अतः अपने उस समर्पित जीवन को विनष्ट करने का उन्हें कोई अधिकार नहीं है। उन्हें यह स्वतन्त्रता ही कहाँ है कि वे जीवन के साथ खिलवाड़ करें! उनका जीवन तो उद्देश्य विशेष की सिद्धि के लिए बिक चुका है अब वह उनका है ही कहाँ कि वे फिर उसका सौदा करें ॥ २३ ॥

दूताह्वपद्यारथिकं तदेनं परीक्ष्य तेनैव पथा सयत्नम् ।
विधिक्रमोऽस्माभिरवेक्षणीयो दुर्लङ्घ्यविघ्नाऽक्षतसाध्यसिद्धिः ॥ २४ ॥

तत् दूताह्वपद्यापथिकं एनं तेन एव पथा सयत्नं परीक्ष्य अस्माभिः दुर्लङ्घ्यविघ्नाक्षत-साध्यसिद्धिः विधिक्रमः अवेक्षणीयः ॥ २४ ॥

अतः दौत्य मार्ग के अवलम्बन से इसको (अफजल खान की) परीक्षा करके उसी के अनुसार प्रयत्न करते हुए हम सब चेष्टापूर्वक घटनाओं पर अपनी जागरूक दृष्टि रखें तथा वैसा ही कार्यक्रम बनायें। वह कार्यक्रम भयंकर विघ्नों के रहते हुए भी उनसे अप्रभावित रहकर अभीष्ट सिद्धि में उपयोगी होगा ॥ २४ ॥

सङ्ख्यावलैर्लङ्घितुमुत्सुकोऽपि द्विषत् क्षमोऽयं किमु मन्त्रशक्तौ ।
चमूं समेत्यापि सुवर्णदर्पैः सीदन्ति मन्दाः नयदुस्तराब्धौ[1] ॥ २५ ॥

अयं द्विषत् सङ्ख्यावलैः लंघितुं उत्सुकः अपि मन्त्रशक्तौ क्षमः किमु ? मन्दाः सुवर्णदर्पैः चमूं समेत्य अपि नयदुस्तराब्धौ सीदन्ति ॥ २५ ॥

माना कि शत्रु के पास विशाल सेना है तथा यह हमें पराजित करने के लिए अत्यन्त उत्सुक है किन्तु क्या, धन के द्वारा असंख्य सैनिकों की फौज खड़ी कर लेने मात्र से ही वह राजनीति के गूढ़ बिचार में भी हमसे अधिक कुशल हो जायेगा ? कोई मूर्ख भी यदि धन हो तो सेना खड़ी कर सकता है किन्तु राजनीति के दुस्तर समुद्र में सामान्य बुद्धि वाले प्रायः विपत्ति का ही वरण करते हैं, डूब जाते हैं ॥ २५ ॥

[2]एवं नृपं मन्त्रिमनीषिजुष्टं दूतः समागम्य रिपोरधृष्टः ।
गिरा शुभाशीर्भरयाभिनन्द्य कृष्णाजिनामाऽऽरभतेष्टवार्ताम् ॥ २६ ॥

एवं मन्त्रिमनीषिजुष्टं नृपं रिपोः अधृष्टः कृष्णाजिनामा दूतः समागम्य शुभाशीर्भरया गिरा अभिनन्द्य इष्टवार्ताम् आरभत ॥ २६ ॥

इस प्रकार मूर्धन्य नीति विशारद मन्त्रियों से सेवित वीर शिवराज के पास, शत्रु द्वारा प्रेषित विनयशील दूत कृष्णाजी ने आकर आशीर्वचनपूर्वक अभीष्ट वार्ता आरम्भ किया। (वस्तुतः अफजल खान भी अपनी विशेष दक्षता प्रदर्शित करने के लिए, तथा अपनी सेना का एक बूँद रक्त भी बिना बहाये ही इस महान् कार्य को सम्पन्न करना चाहता था। स्वयं राजमाता का भी आग्रह था कि राज्य शक्ति तथा कोष को यथावत् रखते हुए नवयुवक शिवराज को बश में कर लिया जाय इसीलिए अफजल खान ने अपना पुराना प्रयोग 'विश्वासघात' नये ढंग से कार्यान्वित करना चाहा ॥ २६ ॥

अव्याहताज्ञेन नृपेण सेर्ष्यं राजन् नियुक्तः पृतनाधिपत्ये ।
अपज्जलोऽहेतुहितस्तथापि भवत्कृते नोज्झति सख्यबन्धम् ॥ २७ ॥

१. 'नयकूटमार्गे' इति पाठान्तरम् ।

२. कृष्णाजि भास्करः—महाराष्ट्रपण्डितः बीजापुरराजसेवायां नियुक्तः । अयमेव दौत्यं समाचरत् प्रतिनिधिरफजलखानस्य ।

राजन्, अव्याहताज्ञेन नृपेण सैन्यं पृतनाधिपत्ये नियुक्तः अपज्जलः तथापि भवत्कृते : सख्यबन्धं न उज्झति ॥ २७ ॥

राजन् शिववीर ! अफजल खान आपके अकारण हितैषी हैं यूँ तो बीजापुर के अप्रतिहतशासनवाले सुलतान ने यद्यपि विशेष ईर्ष्या पूर्वक उन्हें सेनापति के पद पर प्रतिष्ठित किया है तथापि अफजल खान आपका ख्याल करके ही मैत्री सम्बन्ध को छोड़ना नही चाहते ॥ २७ ॥

श्रुतः परेषामवरो वरो वा सखा पितुस्ते परमः स वीर ।
द्रष्टुं पुनस्तामनिरुद्धधारां स्नेहापगामिच्छति भूमिपाल ॥ २८ ॥

वीर, परेषां अवरः वरः वा श्रुतः सः ते पितुः परमः सखा भूमिपाल, अनिरुद्धधाराम् ताम् स्नेहापगाम पुनः द्रष्टुं इच्छति ॥ २८ ॥

वीर नरेश ! अफजल खान दूसरों के लिए भले बुरे कुछ भी हों किन्तु आपके पिता के वे परम मित्र हैं। वे चाहते हैं कि आपके और उनके बीच फिर वही स्नेह सरिता निर्बाध गति से पुनर्जीवित हो उठे ॥ २८ ॥

एतन्नवोर्वीश, मनोविषाद वीरायितञ्चापि रुषे न तस्य ।
तारुण्यदर्पोत्सुकशौर्यलक्ष्मीः नूनं प्रसादातिशयाय शूरे ॥ २९ ॥

नवोर्वीश, एतत् मनोविषादं वीरायितं च अपि तस्य रुषे न । नूनं तारुण्यदर्पोत्सुकशौर्य-लक्ष्मीः शूरे प्रसादातिशयाय ॥ २९ ॥

नवयुवक नरेश, आपके वीरोचित कार्यों से बीजापुर को विषाद भले हुआ हो पर आपके शौर्य, विक्रम प्रदर्शन से (शिवराज ने बीजापुर के अनेक दुर्गों को बलपूर्वक अधिकार में कर लिया था तथा सेनाओं को परास्त किया था) सेनापति को क्रोध नहीं हुआ है। यौवनोचित दर्प से उत्सुक वीरता का शौर्य विलास तो किसी भी मनस्वी वीर हृदय की प्रसन्नता का ही कारण होता है। अफजल खान वीर हैं अस्तु आपके उत्साह से उन्हें हर्ष ही हुआ है ॥ २९ ॥

सिद्धोदयैर्मित्रपथाश्रयाणाममित्रभाजां तिमिरावपातैः ।
अयं द्वयोरेकगतिः पृथिव्यामेकोऽप्यनेकाकृतिमाविभर्ति ॥ ३० ॥

मित्रपथाश्रयाणां सिद्धोदयैः अमित्रभाजां तिमिरावपातैः अयं पृथिव्यां द्वयोः एकगतिः एकः अपि अनेकाकृतिं आविभर्ति ॥ ३० ॥

मित्रपथ (मैत्री) का आश्रय ग्रहण करनेवालों के लिए सेनापति अफजल खान मनोऽभिलषित अभ्युदय से उनका आनन्द बढ़ाते हैं किन्तु अमित्र पथवालों को (शत्रुओं को) घोर अन्धकार में निमज्जित कर देते हैं (यूँ भी मित्र (सूर्य) मार्गीय के लिए प्रकाश तथा अमित्र (सूर्यरहित) मार्गीय के लिए अन्धकार स्वा-

भाविक हीं हैं) इस प्रकार यह वीर सेनापति एक होकर भी पृथिवी निवासियों के लिए विभिन्न रूपों में दिखाई पड़ते हैं। अतः अभ्युदय के लिए सेनापति से मैत्री ही सरलतम मार्ग है उनसे बिरोध रखने का अर्थ आत्मविनाश है ॥ ३० ॥

शुचा हरन्त्यः स्ववयो नवीनं निरस्तभूषा व्रतकर्शिताङ्ग्यः ।
प्रत्यादिशन्तीव तपस्विलोकं यस्य प्रभावादरिभूपकान्ताः ॥ ३१ ॥

शुचा नवीनं स्ववयः हरन्त्यः निरस्तभूषाः व्रतकर्शिताङ्ग्यः अरिभूपकान्ताः यस्य प्रभावात् तपस्विलोकं प्रत्यादिशन्ति इव ॥ ३१ ॥

इस सेनापति का तेज दुर्धर्ष है। अफजल खान से जिन राजाओं ने विरोध किया उनकी नवयौवना विधवा रानियों ने शोकाग्नि में अपनी नवीन अवस्था को सुखाते हुए निरलंकार होकर अनेक प्रकार के व्रत-उपवासादि करते हुए अपनी निर्वेदपूर्ण भोगविहीन स्थिति द्वारा तपस्वियों को भी जीत लिया [अफजल खान के क्रोध में पति के विनष्ट हो जाने पर राजपरिवारों की नवयौवना किन्तु सद्यः विधवा रानियों ने शोक, अनासक्ति एवं व्रतादि द्वारा अपने जीवन को सुखा डाला। उनकी साधना के सम्मुख तपस्वी भी लज्जित हो गये।] ॥ ३१ ॥

प्रापुः पुनर्नैव तटं प्रविष्टाः व्यपेतयाथार्थ्यगिरस्तटस्थाः ।
गाम्भीर्यमद्यापि बलार्णवस्य नास्याभिधातुं भुवने शरीरी ॥ ३२ ॥

प्रविष्टाः पुनः तटं न एव प्रापुः, तटस्थाः व्यपेतयाथार्थ्यगिरः, अस्य बलार्णवस्य गाम्भीर्यम् अभिधातुं अद्य अपि भुवने शरीरी न ॥ ३२ ॥

सेनापति अफजल खान बल के अद्वितीय समुद्र है। इनके बल की गम्भीरता कितनी गहरी है यह बताना किसी भी जीवित मनुष्य के वश की बात नहीं है। जिन वीरों ने कौतूहलवश इस बल के समुद्र की गहराई नापनी चाही और प्रविष्ट हुए वे फिर बाहर न निकल सके तथा जो तटस्थ रहे, किनारे पर खड़े रहे, अनासक्त रहे, उनका कथन याथार्थ्य से परे होगा, कोरा बकवास होगा। अतः इस सेनापति का बल आज भी अथाह है। कोई व्यक्ति उसका थाह नहीं पा सकता ॥ ३२ ॥

राज्ञां नियन्ताऽवधिरोजसां यो दण्डेन सर्वाननुशास्य चित्रम् ।
त्रिवर्गसिद्धिं वितरत्यमन्दां तेनैव धातेव परः स्वतन्त्रः ॥ ३३ ॥

ओजसाम् अवधिः राज्ञां नियन्ता यः दण्डेन सर्वान् अनुशास्य चित्रम् तेन एव धाता इव परः स्वतन्त्रः अमन्दां त्रिवर्गसिद्धिं वितरति ॥ ३३ ॥

यह सेनापति राजाओं का नियामक है, शक्ति की पराकाष्ठा है, दण्ड द्वारा सबको अनुशासित करता हुआ ब्रह्मा के समान उस एक ही दण्ड द्वारा भक्तों में, अपने अनुजीवियों में त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) का उत्कृष्ट वितरण करता रहता है। इस तरह यह सर्वथा स्वतन्त्र है ॥ ३३ ॥

पुराणषाड्गुण्यपथोपदेशानधिक्षिपन्नश्रुतकौशलेन ।
स पूर्वशास्त्राविषयो मनस्वी वशीकरोत्येव सदैव दैवम् ॥ ३४ ॥

पुराणषाड्गुण्यपथोपदेशान् अश्रुतकौशलेन अधिक्षिपन् पूर्वशास्त्राविषयः यः मनस्वी सदैव दैवम् एव वशीकरोति ॥ ३४ ॥

अपनी अतिमानवोचित, अश्रुतपूर्व कुशलता के द्वारा पुरानी नीति सम्बन्धी धारणाओं (षाड्गुण्य, शक्ति आदि) की हँसी उड़ाता हुआ वह अफजल खान प्राचीन परम्परागत बुद्धि या शास्त्र की पहुँच के बाहर है तथा अपनी असामान्य दक्षता से दैव को भी सदा अपने अनुकूल बनाये रखता है [अफजल खान की असामान्य कार्य-दक्षता ही उसके लिए सौभाग्य का निर्माण करती है। वह स्वयं अपने भाग्य का विधाता है, वह अपना मार्ग स्वयं बनाता है] ॥ ३४ ॥

दिष्ट्या स एवाऽरणवर्त्मना त्वां सन्धित्सतीष्टात्मसखं नरेन्द्र ।
चित्रं प्रदीपाशरणोऽपि वायुः स्वरंहसा वर्धयते दवाग्निम् ॥ ३५ ॥

नरेन्द्र ! दिष्ट्या सः एव इष्टात्मसखं त्वाम् अरणवर्त्मना सन्धित्सति। चित्रं प्रदीपाशरणः अपि वायुः स्वरंहसा दवाग्निं वर्धयते ॥ ३५ ॥

नरेन्द्र शिव, यह सौभाग्य की ही बात है कि वही दुर्धर्ष सेनापति अफजल खान आपको अपना अनन्य मित्र मानते हुए आपको अयुद्धमार्ग से (बिना शस्त्र उठाये) मित्र बनाना चाहते हैं, सन्धि करना चाहते हैं। आश्चर्य है, जो वायु दीपक के लिए विनाश का कारण बन जाता है (जिस वायु के झोंके से दीप बुझ जाता है) वही दवाग्नि (जंगल की आग) को अपने वेग से अधिकाधिक प्रदीप्त ही करता है। [स्पष्ट है कि वायु का झोंका निर्बल दीप को तो बुझाता है किन्तु प्रबल लपटोंवाली आग को और अधिक तेज करता है। अस्तु, यदि अफजल खान वीर शिव की मैत्री चाहते हैं तो इसमें शिवाजी की प्रबलता ही कारण है तथा भविष्य में इस मैत्री से शिवाजी को और अधिक लाभ ही होगा। इस प्रकार कृष्णाजी शिवराज की प्रशंसा भी कर देते हैं तथा अपने सन्धि-प्रस्ताव की उपयोगिता का महत्त्व भी स्पष्ट कर देते हैं।] ॥ ३५ ॥

तृणेषु योऽसंस्तुतविक्रमोऽपि दर्पोद्धतानोकहमानमर्दी ।
झञ्झानिलः सोऽवसराभिरूपामिष्टार्हणामर्हति जीवकामैः ॥ ३६ ॥

तृणेषु असंस्तुतविक्रमः अपि दर्पोद्धतानोकहमानमर्दी यः झञ्झानिलः सः जीवकामैः अवसराभिरूपाम् इष्टार्हणाम् अर्हति ॥ ३६ ॥

जो लघुप्राय तृणों के लिए सामान्यतर है, जिससे सामान्य जीवन को कुछ भी असुविधा नहीं किन्तु जो गर्व से ऊँचा सिर किये हुए वृक्षों की प्रतिष्ठा को धूल में मिला देता है, उखाड़कर फेंक देता है, उस झंझावात का (आँधी-तूफान का) समृद्ध जीवन, निरापद जीवन की अभिलाषावाले प्राणियों द्वारा समयोचित सम्मान तो होना

ही चाहिए [अफजल खान बड़ों-बड़ों के घमण्ड को भी धूल में मिला देता है, यद्यपि सामान्य जनों को उससे कोई भय या चिन्ता नहीं। तो ऐसे अफजल खान से वैर-विरोध उचित नहीं, उससे सन्धि ही उचित है, उसके प्रस्ताव का अनुमोदन ही होना चाहिए।] ॥ ३६ ॥

प्रतीपविक्रान्तकुलानि पूर्वं वात्या तृणानीव विधूय दिक्षु।
यथेन्द्रशक्तिस्त्रिदशप्रदेशं बीजापुरं रक्षति यस्य शक्तिः ॥ ३७ ॥

पूर्वं प्रतीपविक्रान्तकुलानि वात्या इव तृणानि दिक्षु विधूय यस्य शक्तिः इन्द्रशक्तिः यथा त्रिदशप्रदेशं बीजापुरं रक्षति ॥ ३७ ॥

जिस प्रकार आँधी सूखे हुए तिनकों को अपने वेग से उड़ाकर दिशाओं में फेंक देती है उसी प्रकार उस सेनापति की शक्ति ने पहले के अनेक शौर्यपूर्ण शत्रु-कुलों को तहस-नहस कर डाला। जिस प्रकार देवभूमि, स्वर्ग इन्द्र के वज्र से सुरक्षित रहता है उसी प्रकार अफजल खान की शक्ति से बीजापुर सल्तनत सुरक्षित है ॥३७॥

नवोदयो माऽनुभवत्वपुण्यां मेघोद्यमैर्दुर्दिनसंस्तुतिं वः।
स्वनाभिरामो द्विजलोककण्ठो मा मा श्रुतिं स्तब्धकलो दुनोतु ॥ ३८ ॥

वः नवोदयः मेघोद्यमैः अपुण्याम् दुर्दिनसंस्तुतिं मा अनुभवतु। स्वनाभिरामः द्विजलोक-कण्ठः स्तब्धकलः (सन्) श्रुतिं मा मा दुनोतु ॥ ३८ ॥

राजन् शिव, तुम्हारा यह अभिनव उदय है। तुम्हें प्रयास करना चाहिए कि मेघ के समान युद्ध की प्रस्तावना कहीं इस उदय को कलुषित दुर्दिन (वर्षा, बदली, अन्धकार आदि) की उपस्थिति से अवरुद्ध न कर दे। ऐसा न हो कि वेदपाठी ब्राह्मणों के कण्ठ से मुखरित होनेवाली मधुर ध्वनि सहसा अवरुद्ध होकर श्रुति (कर्ण, वेद) को व्यथा-विकलित कर दे [जिस प्रकार नया सूर्योदय मेघमाला के उद्योग से दुर्दिन में बदल जाता है तथा पक्षियों की मुखरित होती हुई कलकल स्वरलहरी वर्षा से अवरुद्ध होकर उत्कण्ठित कानों को दुखित ही करती है उसी प्रकार ऐसा न हो कि तुम्हारा अभिनव अभ्युदय युद्धादि से विपन्न होकर अवरुद्ध हो जाय, अतः तुम्हारे लिए सन्धि ही हितावह है, श्रेयस्कर है। तुम्हें अफजल खान का सन्धि-प्रस्ताव मान लेना चाहिए] ॥ ३८ ॥

अहेतुकामाचरितानुबन्धैर्मनोरथावाप्तिपथस्थिरा वा।
मा शोच्यतां गच्छतु मातृभूमिर्व्यपेतरक्षाकृपणा पुरेव ॥ ३९ ॥

अहेतुकामाचरितानुबन्धैः वा मनोरथावाप्तिपथस्थिरा मातृभूमिः पुरा इव व्यपेतरक्षा-कृपणा शोच्यतां मा गच्छतु ॥ ३९ ॥

राजन्, यह मातृभूमि सैकड़ों वर्षों से दासता में सड़ रही है। अकारण, बिना समझे-बूझे, हठपूर्वक किये गये मिथ्या व्यवसायों के कारण ही गुलामी आयी। आज सौभाग्यवश तुम्हारे उद्योग से यह मातृभूमि पुनः आत्म-मनोरथ-प्राप्ति के मार्ग पर

आरूढ है अतः निष्कारण हठपूर्वक आयोजित युद्धादि व्यवसायों द्वारा इस स्वदेश-धरा को फिर पहले के समान शोचनीय अवस्था में दुखित न होना पड़े इसका तुम्हें अवश्य ध्यान रखना चाहिए ॥ ३९ ॥

नवं वयः सिद्धिपथे भटानां कृतार्थतामेतु भवत्सखानाम् ।
प्रतिक्षणं नन्दतु सत्प्रयासैर्भूर्धीरिवाप्तोदितवर्त्मनिष्ठा ॥ ४० ॥

भवत्सखानां भटानां नवं वयः सिद्धिपथे कृतार्थताम् एतु, आप्तोदितवर्त्मनिष्ठा धीः इव भूः प्रतिक्षणं सत्प्रयासैः नन्दतु ॥ ४० ॥

अच्छा हो कि मित्रस्वरूप आपके सैनिकों की नयी अवस्था आपकी मनोरथ-सिद्धि के मार्ग में अपने योगदान द्वारा कृतार्थ हो (व्यर्थ में सैनिकों का खून बहाने से क्या लाभ है, उनका प्रयोग तो मनोरथ-सिद्धि, दासता से देश के उद्धार के लिए करना चाहिए तथा जिस प्रकार सज्जनोचित मार्ग पर संकल्पपूर्वक चलनेवाली बुद्धि कल्याणभागिनी होती है वैसे ही यह भारतभूमि भी सन्मार्ग में निष्ठावती होकर प्रतिक्षण अपने सत्प्रयासों से प्रसन्नता प्राप्त करे ॥ ४० ॥

शतं समानां शृणुयादपापा प्रसूः प्रसूतेस्तव पौरुषाणि ।
सुते पुरस्तिष्ठति कीर्तियत्ने न मुक्तिरप्यात्ममुदे जनन्याः ॥ ४१ ॥

अपापा प्रसूः प्रसूतेः तव पौरुषाणि समानां शतं शृणुयात्, कीर्तियत्ने सुते पुरः तिष्ठति मुक्तिः अपि जनन्याः आत्ममुदे न ॥ ४१ ॥

भगवान् ऐसी कृपा करें कि तुम्हारी निष्पाप जननी माँ जीजाबाई सौ वर्षों तक तुम जैसी योग्य सन्तान की पुरुषार्थ-गाथा सुनती रहें। कीर्ति-प्राप्ति के प्रयास में लगा हुआ पुत्र यदि आँखों के सामने रहे तो जननी आत्मकल्याण के लिए मुक्ति को भी महत्त्व नहीं देती [माता का सर्वोत्तम आनन्द यही है कि उसका पुत्र सन्मार्ग में यशस्वी होता हुआ उसकी आँखों के सामने रहे ।] ॥ ४१ ॥

अवन्ध्यपुण्योपचयावतारं त्वां निर्निमेषं सुतवत्सलाऽसौ ।
विलोकयन्ती श्रुतवर्त्मभाजां ध्रुवाशिषा नन्दतु वीरमाता ॥ ४२ ॥

सुतवत्सला असौ वीरमाता अवन्ध्यपुण्योपचयावतारं त्वां निर्निमेषं विलोकयन्ती श्रुत-वर्त्मभाजाम् ध्रुवाशिषा नन्दतु ॥ ४२ ॥

अमोघ पुण्यराशि के प्रसाद से अवतरित तुमको वह पुत्रवत्सलता वीरप्रसू निर्निमेष दृष्टि से देखती हुई वेदपाठी ब्राह्मणों के अमोघ आशीर्वाद से मनोऽभिलषित प्रसन्नता, परितोष प्राप्त करे ॥ ४२ ॥

मन्दोदितोदन्तरमां सहन्तां मनोरथौत्सुक्यभरोरसोऽपि ।
भटाङ्गना रात्रिमपि प्रियाङ्के विभातवातच्छलिताः सतृष्णम् ॥ ४३ ॥

मनोरथौत्सुक्यभरोरसः अपि भटाङ्गनाः सतृष्णं प्रियाङ्के विभातवातच्छलिताः अपि मन्दोदितोदन्तरमां रात्रिं सहन्ताम् ॥ ४३ ॥

ईश्वर कृपालु हों, यतः सैनिकों की नवोढा पत्नियां अपने प्रियतमों (उन सैनिकों) को घर पर आया हुआ देखकर अनेकानेक मनोरथों को पूर्ण करने की उत्कण्ठा को हृदय में रखकर भी, उनकी गोद में लेटी हुई, मन्दस्वर में कही गयी अनेकविध ललित मनोरञ्जक वार्ताओं में लीन हो प्रभातकालीन पवन से सहसा प्रतारित हो सतृष्ण दृष्टि से जान जायँ कि पूरी रात केवल बातों में ही समाप्त हो गयी ॥ ४३ ॥

विषीदतां मा पितरावकाले मा शैशवं दैन्यधुरं विभर्तु ।
मा मा कदुष्णाश्रुपयोदवर्षैर्व्यपैतु रागो वनिताऽधराणाम् ॥ ४४ ॥

अकाले पितरौ मा विषीदताम्, शैशवं दैन्यधुरं मा बिभर्तु, वनिताधराणाम् रागः कदुष्णाश्रुपयोदवर्षैः मा मा व्यपैतु ॥ ४४ ॥

ईश्वर न करें कि कुसमय में माता-पिता को शोक-सन्तप्त होना पड़े, बचपन को दीनता का भार ढोते हुए अनाथ होना पड़े तथा सुन्दरी युवतियों का अधर-राग गर्म-गर्म आँसुओं की बरसात से धुल जाय [युद्ध, विभीषिका है, यह किसी भी स्थान पर वीर युवकों की बलि लेता है किन्तु यह अपने साथ पूरे समाज के लिए शोक, दैन्य, उत्पीडन एवं अपूरणीय क्षति लेकर आता है। वृद्ध माता-पिता युवक पुत्र (सैनिक) को खोकर अवलम्ब-रहित, शोकाकुल हो जाते हैं; छोटे बच्चे सहसा अनाथ हो जाते हैं तथा सद्यःविधवा युवतियों का क्रन्दन असह्य हो जाता है अतः युद्ध, विशेषतः सर्वग्रासी युद्ध सर्वथा निन्द्य है।] ॥ ४४ ॥

नूनं वृषामर्षशमैकहेतुः सस्यावनिः सर्गविधौ न धातुः ।
ज्योत्स्नासुधाप्लावितलोकधाम्नः किमूपरागो हि गतिर्हिमांशोः ॥ ४५ ॥

नूनं धातुः सर्गविधौ सस्यावनिः वृषामर्षशमैकहेतुः न, ज्योत्स्नासुधाप्लावितलोक-धाम्नः हिमांशोः उपरागः हि गतिः किमु ॥ ४५ ॥

ब्रह्मा की सृष्टि में हरी-भरी खेती की व्यवस्था केवल इसलिए नहीं हुई थी कि क्रोध में पागल साँड़ अपने पैरों तले उसे रौंदकर अपने क्रोध का उपशमन करे (प्रयोजन तो यह था कि खेती उपजे, पके और उस अन्न से समाज जीवन-यापन करे)। अपनी चाँदनी की दिव्य प्रभा से संसार को आप्लावित कर देनेवाले सुधांशु, चन्द्रमा का क्या इतना ही प्रयोजन है कि उस पर ग्रहण लग जाय ? [इसी प्रकार धन-धान्य, स्वस्थ युवक तथा दुर्ग आदि सहसा ध्वस्त होने के ही लिए तो नहीं उत्पन्न हुए ! उनका एक प्रयोजन है। क्यों वे युद्धाग्नि में सहसा भस्म हों !] ॥ ४५ ॥

राज्योद्यमं भूभृदनुग्रहं वा स्वायत्तमेवावनिपाल ! विद्धि ।
तदीयसौहार्दसमेधिताय बीजापुरेऽनर्हमनोरथं किम् ॥ ४६ ॥

अवनिपाल ! राज्योद्यमं भूभृदनुग्रहं वा स्वायत्तम् एव विद्धि, तदीयसौहार्दसमेधिताय बीजापुरे किं अनर्हमनोरथम् ॥ ४६ ॥

पृथ्वीनाथ ! इस सन्धि से सम्पन्न होकर तुम चाहो तो राज्य-विस्तार के लिए निर्बाध उद्योग कर सकते हो अथवा तुम्हारी इच्छा के अनुसार बीजापुर के सुलतान का अनुग्रह भी तुम्हें सुलभ होगा। सेनापति अफजल खान की मित्रता से अनुगृहीत व्यक्ति के लिए बीजापुर सल्तनत में कौन-सी अभिलाषा अपूर्ण रह सकती है ! ॥४६॥

पोतानिलोद्योगनिभं तदत्र द्वयोः समाश्रित्य वरेण्ययोगम् ।
सुखेन भीतिव्यसनोर्मिपूरं प्रजा समुत्तीर्य धिनोतु कामम् ॥ ४७ ॥

तत् अत्र पोतानिलोद्योगनिभं द्वयोः वरेण्ययोगं समाश्रित्य प्रजा सुखेन भीतिव्यसनोर्मिपूरं समुत्तीर्य कामं धिनोतु ॥ ४७ ॥

जहाज और अनुकूल पवन के सहयोग के समान तुम दोनों (वीर शिवराज एवं अफजल खान) की उत्कृष्ट मैत्री का आश्रय प्राप्त करके भय और संकट की लहरों से युक्त दुःख सागर को प्रजाजन अनायास ही सुखपूर्वक पार कर अपना अभिलषित फल प्राप्त करें [कृष्णाजी प्रकारान्तर से यह स्पष्ट कर रहे हैं कि युद्ध करने से प्रजाजन दुःखसमुद्र में निमग्न हो जायेंगे जब कि सन्धि द्वारा उनकी उन्नति का मार्ग प्रशस्त होगा।] ॥ ४७ ॥

अत्र प्रतीक्ष्योत्तरसंस्थितिर्मे त्वच्छ्रेयसेऽनल्पफलाय भूयात् ।
दौत्ये निवेद्येतरवागदक्षे न मादृशोऽतोऽप्यधिकं स्वतन्त्राः ॥ ४८ ॥

अत्र मे प्रतीक्ष्योत्तरसंस्थितिः अनल्पफलाय त्वच्छ्रेयसे भूयात्, निवेद्येतरवागदक्षे दौत्ये अतः अपि अधिकं मादृशः न स्वतन्त्राः ॥ ४८ ॥

प्रतीक्ष्य उत्तर प्राप्त होने तक मैं यहाँ रुकूँगा। ईश्वर करें कि मेरा यह निवास आपके कल्याण के लिए अनन्तफलदायी सिद्ध हो। दूतकर्म निवेदनीय सन्देश के अतिरिक्त अन्य बातों में प्रायः मौन ही रहता है। अर्थात् दूत तो प्रभुजनों का सन्देशवाहक मात्र होता है। अपने विषय से असम्बद्ध प्रश्नों पर वह कुछ नहीं कह सकता। अतः मेरे जैसे व्यक्ति इससे कुछ अधिक कहने में स्वतन्त्र नहीं हो सकते॥४८॥

निरुक्तसन्देशमसुं ततोऽसावातिथ्यधर्मा स्वयमार्यनाथः ।
धराऽमृताऽन्धोऽङ्घ्रिरजोविविक्तमयाचतावासगृहं विधातुम् ॥ ४९ ॥

ततः आतिथ्यधर्मा असौ आर्यनाथः स्वयम् आवासगृहं धराऽमृतान्धोऽङ्घ्रिरजोविविक्तं विधातुं निरुक्तसन्देशम् असुम् अयाचत ॥ ४९ ॥

आर्यचरित वीर शिवराज अतिशय अतिथिभक्त थे अतः पं० कृष्णाजी का सन्देश सुन लेने के पश्चात् उस आर्यनाथ ने महीदेव ब्राह्मणदेवता से प्रार्थना की कि वे कृपया अपने चरणों की धूलि से उनके निवासस्थान को पवित्र करने

का अनुग्रह करें (उन्हीं की अतिथिशाला में निवास कर उनको आतिथ्य का अवसर दें) ॥ ४९ ॥

सुखं समाराधितशर्मशय्यं राजा निशीथेऽनुमतप्रवेशः ।
लक्ष्मीवरेणोरसि[1] सेव्यमानं तदङ्घ्रियुग्मं शिरसा ववन्दे ॥ ५० ॥

निशीथे अनुमतप्रवेशः राजा लक्ष्मीवरेण उरसि सेव्यमानं सुखं समारोपितशर्मशय्यं तदङ्घ्रियुग्मं शिरसा ववन्दे ॥ ५० ॥

अर्धरात्रि के समय जब पं० कृष्णाजी आदन्ददायक शय्या पर लेटे हुए थे, तब प्रवेश के लिए अनुमति लेकर राजा शिवराज ने शिर से उनके उन दोनों चरणों की वन्दना की जिन्हें लक्ष्मीवर भगवान् विष्णु भी अपने हृदय पर रखकर सेवा करते रहते हैं। [इसीलिए भगवान् को श्रीवत्सलाञ्छन कहा जाता है। शिवाजी महाराज अत्यन्त ही व्यवहारपटु तथा विनम्र स्वभाव के थे। ब्राह्मण-प्रकृति को वे पूर्णतः जानते थे। भक्तिभाव ही वह माध्यम है जिससे विद्वान् प्रसन्न होते हैं। अस्तु, राजा ने प्रदर्शन के लिए नहीं अपितु विनम्र भाव-प्रवणता वश ही विप्रचरणों की वन्दना की।] ॥ ५० ॥

तमेकलं राष्ट्रमणिं वचोभिः प्रसादगर्भैरभिनन्द्य वाग्मी ।
तद्विक्रमाऽऽपादितधर्मवृद्धौ लोकोदितं विस्मयमाततान ॥ ५१ ॥

वाग्मी एकलं तं राष्ट्रमणिं प्रसादगर्भैः वचोभिः अभिनन्द्य तद्विक्रमापादितधर्मवृद्धौ लोकोदितं विस्मयम् आततान ॥ ५१ ॥

वाग्मी पं० कृष्णाजी ने राष्ट्र-उद्धारक वीर शिवराज को अकेले आया हुआ देखकर प्रसादगर्भित वचनों से उनका अभिनन्दन किया तथा उनके बाहुबल द्वारा व्यवस्थापित निरापद राज्य में, समाज में बहुप्रशंसित सार्वजनीन धर्माचरण तथा धर्मभावना की वृद्धि पर अपना कौतूहल प्रकट किया [कृष्णाजी को शिवराज की प्रजा में धर्मप्रवृत्ति तथा पारस्परिक सौहार्द देखकर सचमुच अत्यन्त विस्मय था।] ॥ ५१ ॥

१. एकदा सप्तर्षिमूर्धन्यो भृगुः सर्वश्रेष्ठतां परीक्षितुकामः त्रिदेवेषु प्रथमं ब्रह्माणं गत्वा अविनिवेदितप्रणतिः जग्राहासनम्; रुषोत्तप्तहृदयो विधिः शापप्रदानोत्सुकोऽपि कथमपि स्वात्मानं वशेऽनयत् । ततः कैलाशशिखरे गृहीतासनं सप्रसादमपि शिवं मृगुः दुर्वचोभिः महादेवं साधिक्षेपं निनिन्द । गृहीतशूलं रोषामर्षदीप्तं पतिं कथमपि पर्वतात्मजा प्रसादयामास । वैकुण्ठं गतो भृगुः ददर्श शेषशायिनं लक्ष्मीसंवाहितचरणं नारायणम् । दृष्ट्वैव कोपारक्तनेत्रः तमुरसि पादप्रहारेण ताडयामास । विष्णुस्तु तत्कालमवबुद्धः स्पृशन् संवाहयन् मुनिचरणौ सदुःखमवदत्— 'अहो गिरिकर्कशं मम वक्षः मृदुलश्च त्वच्चरणम् ! नूनमाघातेन पीडितमेव तत् । अतः प्रसादये शिरसा । भवच्चरणचिह्नितमेवातः परं नन्दतु ममोरःस्थलम् ।' प्रीतो मुनिः पपात प्रभुचरणयोः । घोषणाञ्चाकरोत् यद् विष्णुरेव सर्वोत्तमः देवेषु ।

निरामयं वीक्ष्य विभो ! वपुस्ते मनश्च बाधापटलेऽपि युक्तम् ।
अवैमि नूनं भरतावनिर्मे न स्तोकपुण्येति जगाद विप्रः ॥ ५२ ॥

विभो ! निरामयं ते वपुः बाधापटले अपि युक्तं मनः च वीक्ष्य अवैमि—मे भरतावनिः नूनं स्तोकपुण्या न—इति विप्रः जगाद ॥ ५२ ॥

उस ब्राह्मण ने कहा—राजन्, तुम्हारे शरीर को नीरोग देखकर तथा अनेक विघ्न-बाधाओं की उपस्थिति में भी तुम्हारे मन को सर्वथा उद्वेगरहित एवं व्यवसायोन्मुख देखकर मुझे तो निस्सन्देह यह प्रतीत होता है कि हमारी भारतभूमि अल्पपुण्या नहीं है। अवश्य ही यह अनन्तपुण्यमयी है, नहीं तो तुम्हारे समान वीर पुत्र इस पर क्यों अवतरित होता ! ॥ ५२ ॥

वर्षत्तमस्स्तोमतिरोहितेषु जनेषु मोहासवमूर्च्छितेषु ।
को वाऽपरो यं स्तिमितप्रदीपः प्रतीक्षतामात्महिताय लोकः ॥ ५३ ॥

वर्षत्तमस्स्तोमतिरोहितेषु मोहासवमूर्च्छितेषु जनेषु कः वा अपरः यं स्तिमितप्रदीपः लोकः आत्महिताय प्रतीक्षताम् ॥ ५३ ॥

बरसती हुई अन्धकार-धारा में तिरोहित, आलस्य तथा मोह की मदिरा से मूर्च्छित होकर जब बहुसंख्यक समाज अधोगति में अचेत पड़ा हुआ हो, बुझे दीपक-वाला संसार अपने कल्याणार्थ तुम्हारे अतिरिक्त किस दूसरे की प्रतीक्षा करे ॥ ५३ ॥

आशातरङ्गोदितफेनशुभ्रामाखण्डलाशामवलोक्य धीराः ।
त्वामेव बद्धाञ्जलयो गृणन्ति दुर्वृत्तनैशावरणं विभेत्तुम् ॥ ५४ ॥

धीराः आशातरङ्गोदितफेनशुभ्राम् आखण्डलाशाम् अवलोक्य दुर्वृत्तनैशावरणं विभेत्तुं बद्धाञ्जलयः त्वाम् एव गृणन्ति ॥ ५४ ॥

प्रातःकाल मानो आशा-तरङ्गों के नृत्य से समुदित फेन के कारण ही इन्द्रदिशा (पूर्वदिशा) को धवलिमा से युक्त देखकर विवेकी पुरुष हाथ जोड़कर, भीषण रूप से लिपटे हुए अन्धकार के आवरण को ध्वस्त करने के लिए तुम्हें ही आदरपूर्वक स्मरण करते हैं [रात जब गतप्राय प्रतीत होती है तब पूर्वाकाश में धवलिमा फैलने लगती है (यही पौ फटना है)। रात का तिमिर नष्ट होता है। प्रकाश प्रसारित होता है। इसी प्रकार कभी भाग्यवश देश का अन्धकार भी किसी महापुरुष के प्रयास से दूर होता तथा स्वाधीनता का प्रकाश फैलता है। विवेकी जन जानते हैं कि यह कार्य केवल आप ही से सम्भव है अतः प्रतिदिन ब्राह्मवेला में वे आपका स्मरण करते हैं।] ॥ ५४ ॥

महीसुरं तं विनिवार्य दूतं राजा विषादव्यसनावलीढः ।
आत्मानमेव प्रकटीचकार विनीतबद्धाञ्जलिसाधुभावम् ॥ ५५ ॥

महीसुरं तं प्रति विषादव्यसनावलीढः राजा विनिवार्य विनीतबद्धाञ्जलिसाधुभावम् आत्मानम् एव प्रकटीचकार ॥ ५५ ॥

देश की दुर्दशा के कारण शोक एवं विषाद से अतिशय सन्तप्त राजा शिवराज ने दूत का कार्य करनेवाले उस ब्राह्मणदेवता को बोलने से रोककर विनयपूर्वक, हाथ जोड़कर, सज्जनोचित विधि से अपना आत्मभाव ही, अपने आत्मा को ही, सुस्पष्ट कर देना चाहा ॥ ५५ ॥

ब्रह्मन् ! ध्रुवं धर्मपथावधिर्नो यदार्यपादाः दधतेऽरिदौत्यम् ।
कृतं कृतं नूनमजेयशस्त्रैः समानयद्भिर्द्विषतः स्वदेशे ॥ ५६ ॥

ब्रह्मन् ! यत् आर्यपादाः अरिदौत्यं दधते (तत्) ध्रुवं नः धर्मपथावधिः, द्विषत स्वदेशे समानयद्भिः अजेयशस्त्रैः नूनं कृतं कृतम् ॥ ५६ ॥

राजेन्द्र शिववीर ने कहा—ब्राह्मणदेवता ! सचमुच यह हमारे धर्ममार्ग-पालन की पराकाष्ठा है कि श्रीमान् जैसे विद्वानों को भी शत्रु का दूत बनना पड़ रहा है। निस्सन्देह, हमारे अजेय शस्त्रों को अनेकशः धन्यवाद है कि उन्होंने शत्रुओं को देश में घुसा दिया [विपरीतलक्षणा द्वारा इसका भाव स्पष्ट होगा कि हमारी धर्महीनता ही आपको आज दूत बनने के लिए बाध्य कर रही है तथा हमारे शस्त्रों को धिक्कार है कि इनके रहते हुए ही शत्रु, देश में घुस आये।] ॥ ५६ ॥

गायन्ति विप्राः पुरुषस्य सूक्तं स्वास्थ्यं वृणोत्येव स लूनबाहुः ।
कृषीवलोऽसाध्वसहृष्टचेता वसुन्धरामर्थवतीं विधत्ते ॥ ५७ ॥

विप्राः पुरुषस्य सूक्तं गायन्ति, लूनबाहूः सः स्वास्थ्यं वृणोति एव, असाध्वसहृष्टचेताः कृषीवलः वसुन्धराम् अर्थवतीं विधत्ते ॥ ५७ ॥

वेदपाठी विप्रगण पुरुषसूक्त का पाठ करते हैं। वह विराट् पुरुष भी छिन्नबाहु (बाहुविहीन) होकर स्वास्थ्य का ही आनन्द लेता है (पुरुषसूक्त में विराट् का वर्णन करती हुई श्रुति कहती है ब्राह्मण इस विराट् पुरुष का मुख हैं तथा क्षत्रिय ही इसकी भुजा है, किन्तु विपन्न स्वदेश में क्षत्रिय ही कहाँ हैं ! यदि रहते तो आज यह पराधीनता क्यों आती, शत्रु क्यों शासन करता, अतः अब तो विराट् पुरुष छिन्नबाहु है, क्षत्रिय कर्तव्यहीन हो गया, अब 'बाहु' कहलाने का उसे अधिकार ही कहाँ है)। कृषकवर्ग भी निर्भयतापूर्वक प्रसन्नचित्त होकर पृथिवी को अर्थ से परिपूर्ण कर रहा है। आशय है कि किसान तो भयाक्रान्त है फिर पृथिवी धन-धान्य-पूर्ण कैसे हो सकती है ॥ ५७ ॥

निरस्तबाधा हरिताङ्कुरेषु चरन्ति गावस्तटशाद्वलेषु ।
प्रवर्तते धर्मविधिः स्वतन्त्रः शरीरभाजामकुतोभयानाम् ॥ ५८ ॥

तटशाद्वलेषु हरिताङ्कुरेषु निरस्तबाधाः गावः चरन्ति, अकुतोभयानां शरीरभाजाम् स्वतन्त्रः धर्मविधिः प्रवर्तते ॥ ५८ ॥

सचमुच निरापद होकर हरे-हरे अंकुरवाली तटीय भूमि में गायें सुखपूर्वक चरती हैं तथा कहीं भी किसी प्रकार के भय से सर्वथा शून्य प्राणी स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी धार्मिक क्रियाओं को सम्पन्न कर रहे हैं। [विधर्मियों के राज्य में जहाँ गोहत्या पुण्य समझी जाती हो तथा गोमांस स्वादिष्ठ भोजन हो वहाँ गोवंश की तो दुर्दशा ही है। पुनश्च जहाँ धार्मिक विधि पालन करने में भी लोग स्वतन्त्र न हों वहाँ आतंक के राज्य में धर्म की दुर्दशा के अतिरिक्त और क्या है ?] ॥ ५८ ॥

श्रेयः स्वधर्मे निधनं पुरा यो गायन् स्वदेशः स्वपदं ररक्ष ।
सुखोपलब्धौ परधर्मरागस्तत्रैकहेतुः किमतोऽपि चित्रम् ॥ ५९ ॥

यः स्वदेशः पुरा 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' गायन् स्वपदं ररक्ष तत्र परधर्मरागः सुखोपलब्धौ एकहेतुः, अतः अपि किं चित्रम् ॥ ५९ ॥

पूर्वकाल में जिस स्वदेश ने उच्चस्वर से गाकर कहा था 'अपने धर्म के पालन में मर जाना भी श्रेयस्कर है' तथा इसी अमोघ मन्त्र से, जब भी विपत्तियाँ आयीं, आत्मस्थिति को सुरक्षित किया। किन्तु आज उसी देश में परधर्म के प्रति अनुराग, परधर्मावलम्बन ही सुखप्राप्ति का एक मात्र उपाय रह गया है। इससे बढ़कर आश्चर्य की बात और क्या हो सकती है [अपने धर्म के प्रसार के लिए विधर्मियों ने भोली जनता को हर प्रकार के प्रलोभन द्वारा उसे अपने धर्म में दीक्षित किया। जिन्होंने अपने धर्म का पालन ही कर्तव्य समझा उन्हें अनेकानेक संकटों का सामना करना पड़ा।] ॥ ५९ ॥

ब्रह्मन् ! स्वयं भैक्ष्यचरोऽपि भोगानुपाहरन् कामदुघान् द्विषद्भ्यः ।
यद् दृश्यते त्यागपथे स्वदेशस्तत्क्षात्रतेजोऽर्हति साधुवादम् ॥ ६० ॥

ब्रह्मन्, स्वयं भैक्ष्यचरः अपि द्विषद्भ्यः कामदुघान् भोगान् उपाहरन् स्वदेशः यत् त्यागपथे दृश्यते तत् क्षात्रतेजः साधुवादम् अर्हति ॥ ६० ॥

देवता ! स्वयं भिक्षावृत्ति से जीवनयापन करता हुआ भी, शत्रुशासकों के लिए विविध अभिलषित भोगों का उपहार भेंट करता हुआ भारत देश यदि आज त्यागपथ का राही हो गया है (स्वयं अपनी लालसा को दबाकर, त्यागवृत्ति अपनाकर शत्रुओं के लिए भोगों की व्यवस्था प्रस्तुत करता है) तो इसके लिए निश्चय ही क्षात्रतेज प्रशंसा का पात्र है [क्षात्रतेज ने स्वयं भ्रष्ट होकर देश को पतन के मुँह में ढकेल दिया।] ॥ ६० ॥

आत्माभिधानं न शवोऽपि जातु जहाति लोकव्यवहारदत्तम् ।
क्षात्रे तथैवास्तमितेऽपि धाम्नि शवास्तदाख्यां वयमाहरामः ॥ ६१ ॥

लोकव्यवहारदत्तम् आत्माभिधानं शवः अपि जातु न जहाति, तथा एव अस्तमिते धाम्नि अपि क्षात्रे शवाः वयं तदाख्याम् आहरामः ॥ ६१ ॥

संसार लोकव्यवहार में प्रत्येक वस्तु को एक संज्ञा प्रदान कर देता है। इससे उस वस्तु का बोध होता है। यह संज्ञा यद्यपि यदृक्षारोपित होती है तथापि यही तद्वस्तुज्ञापिका भी होती है। व्यक्ति को भी एक दूसरे से अलग करने के लिए नाम की, संज्ञा की कल्पना की जाती है। यदि दुर्भाग्यवश व्यक्ति जीवनरहित होकर शव मात्र रह जाय तब भी वर्ण, आकृति आदि के कारण उस शव का बोध भी वही संज्ञा कराती है, जैसे 'वरुण' नाम से पुकारा जानेवाला व्यक्ति जीवित या शव रूप में भी 'वरुण' नाम से ही अभिहित होगा। उसी प्रकार 'क्षत्र' शब्द भी एक जाति की संज्ञा के रूप में प्रचलित हुआ, अब क्षात्र तेज से रहित क्षत्रिय शवतुल्य होकर भी (शव, निर्जीव होकर भी) लोक-व्यवहार में आज भी उसी क्षत्रिय संज्ञा द्वारा पुकारे, सम्बोधित किये जाते हैं [क्षत्रिय जाति शवतुल्य है। कभी वह जीवित थी किन्तु आत्मधर्म से च्युत हो जाने के कारण वह जीवनहीन, शव मात्र रह गयी। हम लोग वस्तुतः शवतुल्य ही हैं फिर भी लोक-व्यवहार में हमें अब भी क्षत्रिय ही कहा जाता है।]॥ ६१ ॥

वशिष्ठगाधेयविवेकगङ्गा भागीरथान् वीक्ष्य तमिस्रमग्नान्।
दनुप्रसूतेरुदयाध्वराय लब्धोपचर्या यततेऽद्य लोके ॥ ६२ ॥

भागीरथान् तमिस्रमग्नान् वीक्ष्य अद्य लोके दनुप्रसूतेः उदयाध्वराय लब्धोपचर्या वशिष्ठ-गाधेयविवेकगङ्गा यतते ॥ ६२ ॥

वशिष्ठ तथा गाधिनन्दन विश्वामित्र की ज्ञानमयी गङ्गा आज भगीरथ की सन्तानों को, क्षत्रियों को, अज्ञाननिमग्न देखकर, मोहोन्माद से ग्रस्त देखकर, उनके द्वारा अपने को निराहृत, असम्मानित जानकर, दानवों द्वारा समाहृत हो उनके अभ्युदय-यज्ञ की सम्पन्नता के लिए प्रयत्नशील है [विद्वान् ब्राह्मणों से सुरक्षित होकर क्षत्रिय जाति आत्मतेज के परम उत्कर्ष पर थी, ब्राह्मणों का ज्ञान उसका पथ प्रशस्त करता था तथा वह ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा में सदैव तत्पर रहती थी। आज क्षत्रिय जाति स्वयं मोहमग्न है, विद्वानों के प्रति उसमें अनास्था आ गयी। वह उनका संग्रह करना, उन्हें उचित सम्मान देना भूल गयी तथा दूसरी विधर्मी जातियों ने उचित सम्मान, आश्रय देना आरम्भ किया। फलतः विद्वानों का ज्ञान, उनका विवेक तथा पथ-प्रदर्शन उन अनधिकारी विधर्मियों को प्राप्त होने लगा। उनकी प्रगति होने लगी। अभिप्राय यह है कि ब्राह्मणों-विद्वानों के बुद्धिवैभव ने उचित आश्रय प्राप्त करने के लिए अपने ज्ञान को, जो कभी क्षत्रियों के लिए सुरक्षित था, दूसरी विधर्मी जातियों के लिए सुलभ कर दिया क्योंकि उन्होंने गुण-ग्राहकता का परिचय दिया, ज्ञान का उचित सम्मान किया। मोहनिमग्न क्षत्रिय जाति ने गुणों की अवहेलना को ही आत्मधर्म बना लिया। (पं० कृष्णाजी के ज्ञान का लाभ बीजापुर राज्य को मिल रहा था, कारण यह था कि उनके विवेक-ज्ञान, योग्यता आदि से हिन्दू राज्यों को कोई प्रयोजन नहीं था। बीजापुर उसका लाभ पा रहा था क्योंकि बीजापुर गुणग्राही था।]॥ ६२ ॥

एतैरधिक्षेपवचोभिराप्तान् दुराग्रहो मे न कदापि योक्तुम् ।
युक्तोद्यमाऽऽकृष्टफलप्रसादा पात्रैकसाराः खलु सिद्धयोऽपि ॥ ६३ ॥

एतैः अधिक्षेपवचोभिः आप्तान् योक्तुं कदापि मे दुराग्रहः न, सिद्धयः अपि युक्तोद्यमाकृष्टफलप्रसादाः पात्रैकसाराः खलु ॥ ६३ ॥

मेरे आत्मनिवेदन पर ध्यान दिया जाय। इन उक्तियों के द्वारा अपने पूज्य पुरुषों को लिप्त करने का मैं स्वप्न में भी दुराग्रह नहीं करता। सफलता, उद्देश्य-परक सिद्धि, यथायोग्य उद्यम से आकृष्ट होकर सफलता का प्रसाद वितरित करती हैं तथा इस प्रकार सफलता, सिद्धिप्राप्ति में, उस पात्र का, व्यक्ति का बड़ा महत्त्व होता है जो अथक उद्यम, अपेक्षित मनोयोग से निष्ठापूर्वक कार्यसिद्धि के लिए प्रयत्न-तत्पर रहता है। जो इस स्पर्द्धा में कुशलतर, विशिष्टतर, संकल्पपूर्ण अध्यवसायचेता होगा, उसे ही सिद्धि मिलेगी ॥ ६३ ॥

मया महारम्भवताऽवमोहात् सपत्नपाथोनिधिशासनाय ।
ध्रुवं मुधा टिट्टिभवर्त्मभाजा प्रस्तूयते लोकमनोविनोदः ॥ ६४ ॥

सपत्नपाथोनिधिशासनाय महारम्भवता टिट्टिभवर्त्मभाजा मया मुधा अवमोहात् ध्रुवं लोकमनोविनोदः प्रस्तूयते ॥ ६४ ॥

और शत्रुरूपी महासमुद्र को संयम में रखने के लिए, देश-शत्रुओं के उच्छृंखल दर्प को विनष्ट करने के लिए टिटिहरी पंछी के समान मैंने झूठ-मूठ, चपलता से प्रेरित होकर व्यर्थ एक महान् संघर्ष छेड़ दिया है। जानता हूँ, इससे कुछ लाभ न होगा। केवल दुनियावालों के मनोविनोद के लिए ही यह प्रस्तावना है। कहाँ अति-सीमित शक्ति-साधनवाला मैं, कहाँ निस्सीम-शक्तिसम्भर शत्रुलोक ! ['टिट्टिभ'—एक बार समुद्र की लहरों से किनारे पर पड़ा हुआ टिटिहरी पंछी का अण्डा बहकर समुद्र में चला गया। सागर को दण्डित करने के लिए उसे सुखा डालने का संकल्प लेकर टिटिहरी के जोड़े ने अपनी चोंच से पानी उलीचना आरम्भ किया।] ॥ ६४ ॥

सरस्वती सार्थवती तदुक्ता शिवस्वरूपं प्रतिभासयन्ती ।
आदर्शतामाप महीसुराय स्वभावविज्ञानविदे यथार्थम् ॥ ६५ ॥

शिवस्वरूपं प्रतिभासयन्ती तदुक्ता सार्थवती सरस्वती यथार्थं स्वभावविज्ञानविदे महीसुराय आदर्शताम् आप ॥ ६५ ॥

वीर शिवराज के मुख से निकली वह अर्थसम्पद्भूयिष्ठ वाणी (सरस्वती) शिव (सज्जनोचित , स्वरूप को प्रतिभासित करती हुई उस पं० कृष्णा जी के लिए, जो मानव स्वभाव के अद्भुत पारखी थे, यथार्थ (वस्तुस्थिति को—शिवराज के आन्तरिक स्वरूप को) स्पष्ट करती हुई, दर्पण के समान झलक उठी [शत्रु पक्ष के दूत पं० कृष्णाजी महाराज शिवाजी के शब्दों में, शिवाजी के आन्तरिक स्वरूप

को, उनके विचारों को, प्रयासों को दर्पण में प्रतिबिम्बित वस्तु के समान देख सकते थे ॥ ६५ ॥

इत्थं नृपस्यात्मनिदर्शनेन धृतो वसन्तेन यथाऽऽम्रशाखी ।
नवं किमप्याततगौरवार्हं स्वस्मिन् प्रगल्भं द्रुतमन्वभूत् सः ॥ ६६ ॥

इत्थं नृपस्य आत्मनिदर्शनेन वसन्तेन धृतः आम्रशाखो यथा सः द्रुतं स्वस्मिन् किम् अपि नवं प्रगल्भम् आततगौरवार्हम् अन्वभूत् ॥ ६६ ॥

राजा की निश्छल आत्मस्थिति की अभिव्यक्ति ने पं० कृष्णाजी पर अतिशय प्रभाव डाला। वे वसन्त-पवन से झंकृत आम्रतरु के समान चमत्कृत हो उठे। उनको ऐसा प्रतीत हुआ मानो उनके भीतर कोई विशेष गौरवपूर्ण भाव तीव्र गति से उदित हो रहा है ॥ ६६ ॥

यथार्थबोधोपचितेन धाम्ना विभिद्य भेदभ्रमशम्बरौघम् ।
अदर्शि कर्तव्यविधिर्महीयान् तिरस्कृतेन्द्रावनिकल्पभोगः ॥ ६७ ॥

यथार्थबोधोपचितेन धाम्ना भेदभ्रमशम्बरोघं विभिद्य तिरस्कृतेन्द्रावनिकल्पभोगः महीयान् कर्तव्यविधिः अदर्शि ॥ ६७ ॥

कृष्णाजी के हृदय में जाग्रत् हुए यथार्थ बोध से पुरस्कृत प्रकाश ने पूर्व-धारणा-प्रसूत संशय, भेद, भ्रान्तिमूलक मायामहल के अन्धकार को क्षण भर में छिन्न-भिन्न कर दिया। उन्हें उस प्रकाश में अपना महान् पारमार्थिक सार्वजनीन कर्तव्यपथ स्पष्ट दिखाई देने लगा। यह कर्तव्य-बोध इतना प्रभावपूर्ण था कि वह सहठ स्वर्ग के अयाचित कल्पभोग के लोभ को भी तिरस्कारपूर्वक त्यागने की शक्ति रखता था [कृष्णाजी का शिवराजविषयक ज्ञान बे-सिर-पैर की बातों पर आधारित था। उनकी पूर्वधारणा भ्रान्तियों पर आधारित थी किन्तु स्वयं शिवराज से मिलकर उनकी विनयशीलता निश्छल-स्वरूप-प्रकाशन तथा देशसेवा के अदम्य उत्साह और विभिन्न बाधाओं से टक्कर लेने की अद्भुत क्षमता एवं सङ्कल्प-बुद्धि ने कृष्णाजी के हृदय को भ्रान्तिशून्य कर दिया। वे शिवराज के आदर्श से मुग्ध हो गये। उन्होंने अनुभव किया कि देशहित के लिए व्यक्तिगत सुख-सुविधा का अणु मात्र भी महत्त्व नहीं है।] ॥ ६७ ॥

प्रभावभद्रा परिणामदृष्टिर्विवेकशाणोत्कलिता स्फुरन्ती ।
ब्राह्मी तदोष्ठाम्बुजपत्रपीठे स्वयं ननर्तोत्तरविभ्रमेषु ॥ ६८ ॥

तदोष्ठाम्बुजपत्रपीठे प्रभावभद्रा परिणामदृष्टिः विवेकशाणोत्कलिता स्फुरन्ती ब्राह्मी स्वयम् उत्तरविभ्रमेषु ननर्त ॥ ६८ ॥

वीर शिवराज के मर्मस्पर्शी वचनों को सुनकर, कृष्णाजी की ओर से, श्रेष्ठ प्रभावशालिनी, परिणामदर्शिनी, विवेक की सान पर उत्तेजित मुखर, स्वयं मानो

सरस्वती ही पं० कृष्णाजी के ओष्ठकमलासन पर उत्तर देने के लिए मुखरित हो उठीं ॥ ६८॥

अलं विषादैर्नृप ! सत्क्रियाणां परो हि एन्था वृणुते सदर्थम् ।
तमिस्रपाशग्रहभूर्निशाऽपि विभातसन्देशवती न सा किम् ॥ ६९ ॥

नृप ! विषादैः अलम्, सत्क्रियाणां परः हि पन्थाः सदर्थं वृणुते, तमिस्रपाशग्रहभूः सा निशा अपि किं विभातसन्देशवती न ॥ ६९ ॥

राजन् शिव ! विषाद छोड़ो, सत्क्रिया (उत्तम कर्म) का अपना ढंग होता है और सदर्थप्राप्ति तो उसका भागधेय ही है, यह तो निर्विवाद है ।' और बाधाओं से विकलता क्यों, बाधाओं की उपस्थिति ही प्रकारान्तर से प्रमाण है कि बाधाओं को अवश्यमेव जाना है । ठीक है कि रात्रि अन्धकार का जाल लेकर आयी है तथा भूतल को उस जाल में नियन्त्रित कर लिया है किन्तु क्या वही रात्रि विभात का सन्देश नहीं सुना रही है । इतना तो स्पष्ट ही हो गया कि अपनी विभीषिका में आकण्ठ मग्न भी वह काली रात बीत रही है तथा शीघ्र ही प्रातःकाल उसके प्रभाव को विनष्ट कर देगा ॥ ६९ ॥

स्वदेशभूमेरपि मोहसुप्तौ न कारणं केवलमायुधीयाः ।
व्यपेतयुक्ताचरणास्तु सर्वे विगर्हणां हन्त मिथः श्रयन्ति ॥ ७० ॥

स्वदेशभूमेः मोहसुप्तौ अपि केवलम् आयुधीयाः कारणम् न । हन्त, व्यपेतयुक्ताचरणाः तु सर्वे मिथः विगर्हणाम् श्रयन्ति ॥ ७० ॥

यदि स्वदेश मोहनिद्रा में अचेत पड़ा हुआ है तो इसमें केवल शस्त्रजीवी (क्षत्रिय) ही दोष के भागी नहीं हैं । वास्तव में वे सब लोग जिन्होंने अपेक्षित (उचित) कर्तव्यपथ को त्याग दिया, राष्ट्रहित के सामने व्यक्ति-स्वार्थ को ही महत्त्व दिया, इस भयंकर निन्दा के समान रूप से भागी हैं ॥ ७० ॥

ज्ञानं स्वबोधावधि मन्यमाना निरुद्यमा सन्ततविस्तराय ।
जातिः किमन्यानुदयाद्रिपान्थान् क्षमा वशीकर्तुमनाप्तपद्या ॥ ७१ ॥

ज्ञानं स्वबोधावधि मन्यमाना सन्ततविस्तराय निरुद्यमा अनाप्तपद्या जातिः उदयाद्रि-पान्थान् अन्यान् वशीकर्तुं क्षमा किम् ? ॥ ७१ ॥

जो राष्ट्र ज्ञान को अपने ही में सीमित मानकर उसके निरन्तर विस्तार का प्रयत्न नहीं करता, उद्यमविरहित बैठा रहता है वह मार्गविहीन राष्ट्र या जाति भला उदयगिरि के शिखर पर चढ़नेवाले अन्य यात्रियों को किस प्रकार अपने वश में रख सकती है । अभ्युदय-प्राप्ति तो विश्व-मानव-समूह का सहज स्वभाव है । अब यदि कोई राष्ट्र 'एकोऽहं द्वितीयो नास्ति' की भाँग खाकर निरुद्यम नशे की मस्ती में पड़ा रहे, तो दूसरे क्यों अपना समय गँवायें, उन्हें बढ़ना है, वे बढ़ेंगे ही । उनको रोकने की शक्ति उस अकर्मण्य जाति में कहाँ है जिसे मोहनिद्रा से ही अवकाश नहीं है ॥ ७१ ॥

अधिक्षिपन्ती पथि दम्भमोहात् परानभीष्टेऽपि तमोऽभिरक्तिः ।
अहङ्कृतिस्वादुसुरावमत्ता विपद्यते जातिरनुत्तमाऽपि ॥ ७२ ॥

अभीष्टे अपि पथि परान् दम्भमोहात् अधिक्षिपन्ती तमोऽभिरक्तिः अहंकृतिस्वादुसुराव-मत्ता अनुत्तमा अपि जातिः विपद्यते ॥ ७२ ॥

स्वयं अन्धकार में डूबकर भी जो जाति दम्भ के नशे में सुपथ पर चलने-वाली दूसरी जातियों के बारे में निकृष्ट भाव रखती है तथा अहंकार की सुस्वादु सुरा का पान कर मदहोश रहती है वह जाति चाहे कितनी ही श्रेष्ठ क्यों न हो, विपत्ति के गर्त में अवश्य ही गिरती है ॥ ७२ ॥

अभीष्टपूर्वानुभवाऽपि नीतिर्नवं परिष्कारमपेक्षतेऽद्य ।
नवज्वरोत्तप्तवपुर्युगोऽयं प्रतीक्षते नव्यनिदानयोगम् ॥ ७३ ॥

अद्य अभीष्टपूर्वानुभवा अपि नीतिः नवं परिष्कारम् अपेक्षते, नवज्वरोत्तप्तवपुः अयं युगः नव्यनिदानयोगं प्रतीक्षते ॥ ७३ ॥

सही है कि प्राचीन नीति अत्यन्त उपयोगी रही है तथापि पहले के (प्राचीन) अनुभवों से समृद्ध भी वह नीति आज नवीन परिष्कार चाह रही है। आज के युग का शरीर किसी नवीन ज्वर से संतप्त हो रहा है। आज उसे नये निदान की आवश्यकता है। नये रोग के लिए नया निदान स्वाभाविक ही है [पं० कृष्णाजी परम्परा का महत्त्व स्वीकारते हुए भी अभिनव के स्वागत के लिए परामर्श दे रहे हैं। रूढ़िवादी विचारधारा समय-समय पर परिष्कार-संस्कार से रहित हो अनुपयुक्त होने लगती है।] ॥ ७३ ॥

स्वदेशपात्रस्थितिबोधसीमा ध्रुवं व्यवस्था परिवर्तनाय ।
दिदृक्षते दक्षनवावतारं नवोत्सवौत्सुक्यनिबद्धदृष्टिः ॥ ७४ ॥

स्वदेशपात्रस्थितिबोधसीमा व्यवस्था परिवर्तनाय नवोत्सवौत्सुक्यनिबद्धदृष्टिः ध्रुवं दक्षनवावतारं दिदृक्षते ॥ ७४ ॥

व्यवस्था देश-काल-पात्र-सापेक्ष ही होती है। जिस व्यवस्था में युगबोध स्पन्दित होता रहता है वही स्थायी रहती है अतः देश, स्थिति तथा पात्र के सन्दर्भ में कार्योन्मुख व्यवस्था परिवर्तन चाहती है, संस्कार-परिष्कार चाहती है। आज परिवर्तन के लिए यह व्यवस्था किसी नये कुशल व्यक्तित्व (नया दक्षावतार—दक्ष प्रजापति हैं, लोक-व्यवस्था स्थापित करना प्रजापति का ही कार्य है) को नवीन विधान के लिए उत्कण्ठापूर्वक देख रही है ॥ ७४ ॥

वनेचरोपासितसत्क्रियापि न पत्रिचापावृतिरद्य युद्धे ।
रथाधिकारोऽप्यनपेक्षितार्थो यथार्हणं विन्दति कोशकोणे ॥ ७५ ॥

अद्य वनेचरोपासितसत्क्रिया अपि पत्रिचापावृतिः युद्धे न। अनपेक्षितार्थः रथाधिकारः अपि कोशकोणे यथार्हणं विन्दति ॥ ७५ ॥

यद्यपि वनवासी भील आदि जातियाँ आज भी धनुष-बाण का व्यवहार करती हैं तथापि आज के युद्ध-विज्ञान में धनुष-बाण व्यर्थ हैं। उसी प्रकार आज रथाधिकार (रथयुद्ध-प्रक्रिया) उपेक्षित-प्रयोजन होकर, अनुसन्धाताओं, जिज्ञासुओं के लिए कोशों के किसी कोने की शोभा बढ़ा रहा होगा। आधुनिक युद्धशास्त्र की दृष्टि में वह सर्वथा अनुपयुक्त है। बारूद के गोले उगलनेवाले तोपखानों के सामने उसकी क्या स्थिति है। अस्तु, देश-कालादि के अनुसार परिवर्तन ही जीवन्त होने का प्रधान लक्षण है ॥ ७५ ॥

पैत्र्येण धाम्नाऽपि धृतस्थितीनामनुद्यमो हन्ति पदं निगूढम्।
वधूरिव श्रीः पुरुषार्थकामा नान्यानुबन्धं प्रणयीकरोति ॥ ७६ ॥

पैत्र्येण धाम्ना धृतस्थितीनाम् अपि पदम् अनुद्यमः निगूढं हन्ति, वधूः इव पुरुषार्थकामा श्रीः अन्यानुबन्धं न प्रणयीकरोति ॥ ७६ ॥

परम्परया प्राप्त पैतृक सम्पत्ति से सम्पन्नता का दम्भ भरनेवालों की अकर्मण्यता, उद्यमहीनता उनकी स्थिति को गूढ़ रूप से नष्ट कर देती है। दूसरे के धन से दीर्घ काल तक कोई कर्महीन व्यक्ति धनी नहीं रह सकता। लक्ष्मी तो नवोढा वधू के समान पुरुष में पौरुष चाहती है। पौरुषहीन व्यक्ति अपनी पुंस्त्वहीनता के बदले विश्व का सम्पूर्ण वैभव देकर भी नवयुवती वधू का प्रेम नहीं पा सकता। उसी प्रकार लक्ष्मी भी पुरुषार्थहीन व्यक्ति से सदा दूर ही रहती है ॥ ७६ ॥

स्वतन्त्रतेयं वरवर्णिनीव प्रतीक्षते तं पुरुषार्थसिंहम्।
जन्मावनेर्दास्यगडं विभिद्य योऽस्या व्रतं रक्षितुमात्तसन्धः ॥ ७७ ॥

इयं स्वतन्त्रता वरवर्णिनी इव तं पुरुषार्थसिंहं प्रतीक्षते यः जन्मावनेः दास्यगडं विभिद्य अस्याः व्रतं रक्षितुम् आत्तसन्धः ॥ ७७ ॥

वरवर्णिनी युवती के समान, स्वतन्त्रता उस पुरुषार्थ-रत्नवाले युवक की प्रतीक्षा करती है (गले में वरमाला डालती है) जो जन्मभूमि की दासता की जंजीरों को तोड़कर उसकी मर्यादा की रक्षा के लिए अपने-आप को सङ्कल्पित कर चुका हो ॥ ७७ ॥

आचाररक्षाप्रहरी व्यवस्थाम् हरन् यदा स्वैरगतिर्नृपोऽपि।
न भर्त्स्यते स्तब्धवचोभिराप्तैः स किं क्षमः प्राणितुमन्धलोकः ॥ ७८ ॥

आचाररक्षाप्रहरी नृपः अपि स्वैरगतिः व्यवस्थाम् हरन् यदा स्तब्धवचोभिः आप्तैः न भर्त्स्यते सः अन्धलोकः प्राणितुं क्षमः किम् ॥ ७८ ॥

प्रजा के आचारात्मक नियमों की रक्षा करनेवाला प्रहरी राजा भी यदि मनमाने ढंग से उन नियमों को निर्बाध तोड़ता हुआ भी यदि भय या अन्य कारणों

से विवेकियों, विद्वानों द्वारा अपने अनाचार के लिए धिक्कारवाद नहीं पाता, निन्दित नहीं किया जाता, तो वह अन्धा समाज भला किस प्रकार सम्मानपूर्वक जी सकता है [नियम व्यक्तिशः नहीं बनते। यदि नियामक ही उन नियमों की अवहेलना करे और मनीषिजन उसका तिरस्कार न करें अपितु मौन रहकर उपेक्षा करें तब तो लोक में उन नियमों के प्रति आस्था ही नष्ट हो जायेगी और नियमविहीन समाज पशुसमाज से भी निकृष्टतर होता है। अस्तु, राजा को निरंकुशता को समाज कभी भी प्रश्रय न दे।] ॥ ७८ ॥

मनोहरैर्वा मधुरस्तवैः किं प्रसाद्यतेऽसृक्प्रणयी मृगेन्द्रः।
सदार्जवं किं छलधूर्वहेषु दौरात्म्यमार्गं न परिष्करोति ॥ ७९ ॥

मनोहरैः मधुरस्तवैः वा असृक्प्रणयी मृगेन्द्रः प्रसाद्यते किम् ? छलधूर्वहेषु सदार्जवं दौरात्म्यमार्गं न परिष्करोति किम् ? ॥ ७९ ॥

खून का प्यासा सिंह भी भला कहीं मनोहर मीठी स्तुति से प्रसन्न होगा ? सिंह को तो खून चाहिए। उसे अनुनय-विनय से क्या देना लेना है। इसी प्रकार छल-छद्म का व्यवसाय करनेवाले दुष्टहृदय प्राणी के प्रति सरलता का प्रदर्शन तो उसकी नीचता को उत्साहित ही करेगा, उसे निन्दनीय कृत्य करने के लिए प्रेरणा ही मिलेगी। सत्य है कि विनयशीलता उत्तम गुण है, मधुर वचन ही बोलना चाहिए, पर प्रश्न है, किससे ? पात्र का विचार तो करना ही होगा ॥ ७९ ॥

अन्तर्बहिः सन्ततमात्मदृष्टिः शत्रून् निरुन्धन् प्रतिबद्धलक्ष्यः।
स्वतन्त्रतां मुक्तिमिवावसाने प्रायो महात्मैव वशीकरोति ॥ ८० ॥

अन्तर्बहिः सन्ततम् आत्मदृष्टिः प्रतिबद्धलक्ष्यः शत्रून् निरुन्धन् अवसाने प्रायः महात्मा एव स्वतन्त्रताम् मुक्तिम् इव वशीकरोति ॥ ८० ॥

बाहर-भीतर, सतत जागरूक हो, शत्रुओं को निरुद्ध करता हुआ, लक्ष्य पर एकाग्रदृष्टि रखे प्रायः कोई विशिष्ट महान् सत्त्वयुक्त प्राणी ही अन्त में मुक्ति के समान स्वतन्त्रता को प्राप्त कर पाता है [मुक्ति को प्राप्ति के लिए भी अन्तःस्थित मनो-विकारों का दमन, बाह्य जगत् के अनेकविध आकर्षणों से वैराग्य, सदैव आत्मदृष्टि का अभ्यास, अभीष्ट साध्य के प्रति चित्त की एकाग्रता—इस प्रकार इन अनेक उपायों का निरन्तर अभ्यास करनेवाला कोई बिरला महात्मा ही अन्त में स्वतन्त्रता के समान मुक्ति को प्राप्त कर पाता है।] ॥ ८० ॥

अभ्रंलिहोत्तुङ्गहिमाद्रिसानौ दुरध्वदुर्गेऽपि समारुरुक्षुः।
अनल्पपूर्वाहुतिलब्धशक्तिः पदं कृती न्यस्यति कश्चिदन्ते ॥ ८१ ॥

दुरध्वदुर्गे अभ्रंलिहोत्तुङ्गहिमाद्रिसानौ अपि समारुरुक्षुः अनल्पपूर्वाहुतिलब्धशक्तिः कश्चित् कृती अन्ते पदं न्यस्यति ॥ ८१ ॥

आकाश को छूनेवाले मार्ग से रहित, हिमगिरि के शिखर पर चढ़ने की इच्छा-वाला कोई भाग्यशाली ही, इस कार्य में हजारों बलिदानियों की शक्ति से (अनुभव आदि का लाभ उठाकर) शक्तिमान् होकर अन्त में चरण रखने में सफल होता है। [आज भी यद्यपि शेरपा तेनसिंह और केप्टेन हिलारी ने एवरेस्ट पर पैर रखने का गौरव पाया तथापि उनके पूर्व अनेक विदेशियों ने चेष्टा की थी तथा अधिकांश काल-कवलित हो गये थे। उन लोगों द्वारा प्राप्त अनुभव ने विजेताओं को विशेष उपकृत किया।] ॥ ८१ ॥

स्वतन्त्रता सा प्रथमा क्रतूनां या देशमप्यात्महविः प्रकल्प्य ।
निरन्तरायामितरक्रतुभ्यो निर्माति भूमिं सुलभावकाशा ॥ ८२ ॥

सा स्वतन्त्रता क्रतूनां प्रथमा या देशम् अपि आत्महविः प्रकल्प्य सुलभावकाशा इतर-क्रतुभ्यः निरन्तरायां भूमिं निर्माति ॥ ८२ ॥

यज्ञों में प्रथमस्थानीय, स्वतन्त्रता वह यज्ञ है जो देश को भी अपनी आहुति के रूप में स्वीकार करके, अपनी स्थिति द्वारा अन्य यज्ञों के लिए बाधाविहीन वातावरण उत्पन्न करती है। स्वतन्त्रता की स्थिति अनेक लोकहित कार्यों के लिए मार्ग प्रशस्त करती है ॥ ८२ ॥

दुरन्तदुष्कण्टकगर्तकूटे विनाशितुं व्यूहमुदायुधानाम् ।
सुचिन्तिते पूर्वपदप्रयोगे पदोत्तरस्याभिमता व्यवस्था ॥ ८३ ॥

दुरन्तदुष्कण्टकगर्तकूटे उदायुधानां व्यूहं विनाशितुं सुचिन्तिते पूर्वपदप्रयोगे पदोत्तरस्य व्यवस्था अभिमता ॥ ८३ ॥

कण्टकपूर्ण भयंकर अन्धगर्त में शत्रुओं के व्यूह को नष्ट करने के लिए सुचि-न्तित प्रयत्न ही सफलता दे सकता है। यथार्थ तो यह है कि सुविचारित प्रथम चरण की स्थिति ही द्वितीय चरण के लिए आधारशिला का काम करती है। शत्रु पर सफलता पाने के लिए छोटे से छोटा उद्यम भी दक्षतापूर्वक सम्पादित होकर ही संकल्प को सफल बनायेगा। तनिक भी उपेक्षा आत्मघाती हो सकती है ॥ ८३ ॥

उल्लङ्घ्य शिष्टानपि लोकधर्मान् पूर्वं विदेश्यो विशतीष्टभूमिम् ।
चित्रं पुनः स्वस्थितिरक्षणाय तानेव धर्मान् भृशमाजुहोति ॥ ८४ ॥

पूर्वं शिष्टान् अपि लोकधर्मान् उल्लङ्घ्य विदेश्यः इष्टभूमिं विशति, चित्रं, पुनः स्वस्थिति-रक्षणाय तान् एव धर्मान् भृशम् आजुहोति ॥ ८४ ॥

आश्चर्य है, आक्रामक विदेशी पहले तो छल, अन्याय आदि उपायों से मान्य लोकधर्मों का उल्लंघन करके दूसरे देश में घुसता है, उत्पीड़न द्वारा अधिकार कायम करता है फिर अपनी स्थिति की सुरक्षा के लिए उन्हीं उल्लघित नियमों और व्यवस्था की दुहाई देने लगता है। नियमों की अवहेलना करनेवाले आक्रामक के लिए नियमों की दुहाई देना प्रवञ्चना है। उसने नियमों को सहठ तोड़कर व्यवस्था को छिन्न-भिन्न

करके वस्तुतः नियमों तथा व्यवस्था के प्रति अपना अधिकार ही खो दिया। उसे विनष्ट करने के लिए सर्वविध प्रयत्न प्रशस्त है ॥ ८४ ॥

दर्पाभियानैः स्ववशं नयन्तस्तात्स्थ्यचक्रानपि वक्रमार्गाः।
देवेन्द्रमाजुह्वति [1]भूभृतस्ते कृतानुगुण्यप्रतिपक्षवज्रम् ॥ ८५ ॥

वक्रमार्गाः ते भूभृतः दर्पाभियानैः तात्स्थ्यचक्रान् अपि स्ववशं नयन्तः कृतानुगुण्य-प्रतिपक्षवज्रं देवेन्द्रम् आजुह्वति ॥ ८५ ॥

दर्पपूर्वक शस्त्राभियान द्वारा तटस्थ राज्यों को भी बलात् आत्मसात् करने-वाले ये अन्यायी राजा किसी ऐसे मनस्वी वीर का आह्वान कर रहे हैं जो इनकी करनी के अनुसार इन शत्रुओं को उचित प्रतिफल दे। अथवा—ये पक्षधारी पर्वत दर्प में आकर अपने अभियान द्वारा सर्वथा तटस्थ देशों को भी अपने आतंक से आत्म-वश कर लेते हैं। ये पर्वत आज फिर गोत्रभिद् इन्द्र को बुला रहे हैं जो इनकी दुष्टता के अनुरूप इनके प्रत्येक पक्ष के विनाश के लिए अपने वज्र का प्रयोग करे ॥ ८५ ॥

अनुद्यमात् किं परमुग्रदैवं सुदैवमारब्धविधेः परं वा।
ध्रुवं सदुद्योगकशाग्रपाणिर्जनः समारोहति दैवपृष्ठम् ॥ ८६ ॥

अनुद्यमात् परं उग्रदैवं किम्, आरब्धविधेः परं वा (किं) सुदैवम्। ध्रुवं सदुद्योग-कशाग्रपाणिः जनः दैवपृष्ठं समारोहति ॥ ८६ ॥

अकर्मण्यता से बढ़कर कौन दुर्दैव है। आलस्य, अकर्मण्यता ही दुर्दैव है, इसी प्रकार कार्य का शुभारम्भ ही सबसे बड़ा सुदैव है। सदुद्योगरूपी चाबुक को हाथ में लेकर मनुष्य दैव की पीठ पर सवारी करता है। सद्उद्योग में लगा हुआ प्राणी दैव को अपने संकेत पर नचाता है ॥ ८६ ॥

सदार्जवानार्जवयोरजस्रं वैरानुबन्धोऽतिनिमित्तभूमिः।
हेतून् यदृक्षाप्रभवान् प्रकल्प्य निर्यातनं वाञ्छति बद्धकक्ष्यः ॥ ८७ ॥

सदार्जवानार्जवयोः अजस्रं वैरानुबन्धः अतिनिमित्तभूमिः। यदृक्षाप्रभवान् हेतून् प्रकल्प्य बद्धकक्ष्यः निर्यातनं वाञ्छति ॥ ८७ ॥

सरलता और वक्रता में सज्जन तथा दुष्ट में सनातन वैरानुबन्ध है। उस विरोध के लिए निमित्त ढूंढने की आवश्यकता नहीं। यह वैर स्वेच्छापूर्वक वैर का

---

१. पुरा सपक्षा गिरयो दर्पोद्धताः प्रोड्डीय यत्र कुत्रचित् स्वस्थित्या प्रजाविनाशं विदधिरे। देवराजो वज्रपाणिः प्रजालोककदनं निराकविष्णुः पर्वतानां पक्षच्छेदाय स्ववज्रं व्यापारयामास तथा सर्वान् भूभृतः विरहितपक्षान् विधाय स्थाने स्थाने प्रतिष्ठाप्य तान् अचलांश्च-कार। अतएव गोत्रभित् शक्रः।

कल्पित कारण उत्पन्न कर, कमर कसकर विरोध की समाप्ति चाहता है (वक्रता सरलता को मिटा देना चाहती है) अतः सज्जनता एवं दुष्टता में अनाक्रमण-सन्धि व्यर्थ है ॥ ८७ ॥

परार्जवं छिद्रमिवावगन्तुः साध्ये परोत्सादनमाजि नूनम् ।
असाधुजुष्टान्यपि साधनानि दुरोदराऽऽराध्यमुपाहरन्ति ॥ ८८ ॥

परार्जवं छिद्रम् इव अवगन्तुः परोत्सादनमाजि साध्यं असाधुजुष्टानि अपि साधनानि नूनं दुरोदराराध्यम् उपाहरन्ति ॥ ८८ ॥

विपक्षी की सरलता, शील, न्यायबुद्धि आदि को उसका दोष माननेवाला विरोधी अपना लक्ष्य मात्र उस विपक्षी को मिटा देना ही समझता है। दुष्टों से अधिष्ठित विविध साधन भी स्वयं ही उस दुश्शील अनृजु व्यक्ति की सहायता के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। समाजविरोधी आचरणवाले तत्त्व अनायास ही एक-जुट होकर आत्मविरोध प्रकट करते हैं ॥ ८८ ॥

पशुः स्वभावोद्धतकामचारो द्विषद्यथा वारितचापलोऽपि ।
स्वत्राणमात्रोद्यममेकलक्ष्यः क्षेत्राभिघातैरधरीकरोति ॥ ८९ ॥

स्वभावोद्धतकामचारः पशुः यथा वारितचापलः अपि द्विषत् एकलक्ष्यः (सन्) स्वत्राणमात्रोद्यमं क्षेत्राभिघातैः अधरीकरोति ॥ ८९ ॥

स्वभावतः उच्छृंखल इच्छा-व्यापारवाला पशु तथा शत्रु दोनों तुल्यधर्मा होते हैं। हरे-भरे खेत को उजाड़ना पशु की प्रवृत्ति है। शत्रु भी विपक्ष की सम्पत्ति से भरपूर परक्षेत्र की सीमा को आतंकित करके अपना अधिकार फैलाना चाहता है। क्षेत्रपति (किसान, या राज्य का अधिपति) उस साँड़ को भगा देगा, या प्रबल हुआ तो विपक्षी को खदेड़ देगा। क्षेत्रपति ने पशु को हाँक दिया कि किसी प्रकार अपनी स्थिति बनी रहे। इस प्रकार पशु या शत्रु बार-बार क्षेत्र पर दबाव डालते-डालते अन्त में क्षेत्र को विनष्ट करके उस अपना भलाई में ही जागरूक रहनेवाले रक्षक को भी कदर्थित, विपन्न बना देता है ॥ ८९ ॥

विशीर्णपर्णोऽपि विषद्रुमः किं जहाति जीवव्यसनाऽभिचारम् ।
स्वदेशगुप्त्यै प्रतिवर्त्मनां तत् समूलमुन्मूलनमेव पन्थाः ॥ ९० ॥

विशीर्णपर्णः अपि विषद्रुमः जीवव्यसनाभिचारं जहाति किम् ? तत् प्रतिवर्त्मनां समूलं उन्मूलनं एव स्वदेशगुप्त्यैः पन्थाः ॥ ९० ॥

यदि किसी विषपक्ष के पत्ते झड़ जायँ तो, क्या वह जीवधारियों को विपन्न करने का विषमूर्च्छित करने का अपना अधिकार भी छोड़ देगा ? अतः विपन्न भी शत्रु, अहित ही करेगा। अस्तु स्वदेश रक्षा के लिए शत्रुओं का समूल उन्मूलन, (सर्वथा विनाश) ही एक रास्ता है ॥ ९० ॥

बुधोऽसि धृत्या परिचिन्त्य मार्गं वलाधिपोक्तिं परिपालयस्व ।
पाथोधिघोरोदरभीषितानां मुक्तोपलब्धिः खलु कल्पनैव ॥ ९१ ॥

बुधः असि, धृत्या मार्गं परिचिन्त्य वलाधिपोक्तिं परिपालयस्व, पाथोधिघोरोदरभीषितानां मुक्तोपलब्धिः खलु कल्पना एव ॥ ९१ ॥

तुम बुद्धिमान् हो, धैर्यपूर्वक कर्तव्य का विचार करके सेनापति के कथन का सम्मान करो। जो लोग समुद्र की भयंकर गहराई से आतंकित रहते हैं उनका समुद्र से मोती निकालने का विचार, केवल कल्पना है व्यर्थ की बकवास है ॥ ९१ ॥

इत्थं श्रुतातिथिमुखोदितलोकधर्मो राजा स्वयत्नमभिषिक्तमिवाभिनन्द्य ।
विप्रं प्रणम्य तदनुग्रहभावितात्मा प्रस्तोतुमुद्यतविधिं भवनाज्जगाम ॥९२॥

इत्थं श्रुतातिथिमुखोदितलोकधर्मः राजा स्वयत्नं अभिषिक्तं इव अभिनन्द्य विप्रं प्रणम्य तदनुग्रहभावितात्मा उद्यतविधिं प्रस्तोतुं भवनात् जगाम ॥ ९२ ॥

इस प्रकार अतिथि के मुख से लोक धर्म का विवेचन सुनकर राजा को ऐसा प्रतीत हुआ मानो देशोद्धार के लिए उनके विविध प्रयत्नों का अभिषेक ही कर दिया गया है। ब्राह्मण देवता को प्रणाम कर तथा उनके अनुग्रह से प्रसन्न आत्मा वाले राजा शिव आवश्यक कार्यों के सम्पादनार्थ भवन से (अतिथि निवास से) बाहर गये ॥ ९२ ॥

इति श्रीत्रिपाठ्युपाह्वेन उमाशङ्करशर्मणा विरचिते
क्षत्रपतिचरित-महाकाव्ये सप्तमः सर्गः ।

अष्टमः सर्गः

अथ द्विजाच्चारविचारवर्तिनो निशम्य वैरिच्छलगर्भचेष्टितम् ।
शिवोऽपि [1]कार्ष्णिव्यवसायवर्त्मना मनो दधौ शम्बरपाशभेदने ॥ १ ॥

अथ चारविचारवर्तिनः द्विजात् वैरिच्छलगर्भचेष्टितं निशम्य शिवः अपि कार्ष्णिव्यवसायवर्त्मना शम्बरपाशभेदने मनः दधौ ॥ १ ॥

इस प्रकार अफजल खान द्वारा भेजे गये दूत-कर्म-कुशल ब्राह्मण द्वारा शत्रु की छल-छद्मपूर्ण चेष्टा को सुनकर वीरशिवराज ने भी श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न द्वारा आचरित मार्ग से शत्रु की शाम्बरी माया को ध्वस्त करने का विचार निश्चित किया। शम्बरासुर ने प्रद्युम्न को गर्भगृह से ही गायब कर दिया था, किन्तु उसी के यहाँ पलकर, उसकी प्रत्येक दुरभिसन्धि को जानकर प्रद्युम्नजी ने उसे युद्धार्थ ललकारा और उसकी प्रबल माया को नष्ट कर उसे मार डाला ॥ १ ॥

यथार्थबोधोदितसत्त्वसम्पदां विचूर्णिताघ्वाधमकण्टकैनसाम् ।
क्षमेत सङ्कल्परविं प्रबाधितुं तमोऽपि किं संशयगह्वरस्थिति ॥ २ ॥

यथार्थबोधोदितसत्त्वसम्पदाम् विचूर्णिताघ्वाधमकण्टकैनसाम् सङ्कल्परविं प्रबाधितुं संशयगह्वरस्थिति तमः अपि क्षमेत किम् ? ॥ २ ॥

जिन मनस्वियों ने उचित विवेक पर निर्भर होकर आत्मस्थिति का निर्माण किया है, जिन्होंने अपने मार्ग में बिखरे अधम काँटों के समान आपत्तियों को चूर्ण कर दिया है उन मनस्वियों के सङ्कल्प-सूर्य को भला संशयपूर्ण गुफाओं में (संशयालु हृदयों में) रहनेवाला अन्धकार (दुश्चेष्टा) किस प्रकार रोक सकता है ॥ २ ॥

जयाग्रदूतप्रतिमा नृपानने प्रसादलक्ष्मीः समुवाह गौरवम् ।
मनोरथो लब्धुमिव प्रतीक्षितं जहर्ष रोमाञ्चमुखेन निर्भरम् ॥ ३ ॥

नृपानने जयाग्रदूतप्रतिमा प्रसादलक्ष्मीः गौरवं समुवाह, प्रतीक्षितं लब्धुम् इव मनोरथः रोमाञ्चमुखेन निर्भरं जहर्ष ॥ ३ ॥

---

१. कार्ष्णिः—कृष्णपुत्रः प्रद्युम्नो, रौक्मिणेयः—पुरा शम्बरासुरः श्रीकृष्णपुत्रं स्वमृत्युमिव मन्यमानः तं सूतिकागृहादेव वायुरूपेण प्रगृह्य वारिधौ चिक्षेप। स तु नवजातः शिशुः मत्स्याङ्गनया निगलितः तदुदरे वर्धमानः समयान्तरे जालनिबद्धायां तस्यां मत्स्यविशेषायाम् शम्बरासुरमहानसं प्राप्तायाम् विपाटितादुदरात्तस्याः समुद्धृतः पालितश्च, पश्चात् कामावतारोऽसौ प्रद्युम्नो मायावत्या रतिरूपया विदितसकलवृत्तान्तो राजभवनं गत्वा सामर्षं शम्बरं युद्धे विभिद्य तन्मायाचक्रं तं जघान। कान्तया सहितो द्वारकाञ्चगत्वा ददर्श पितरौ।

राजा का मुखमण्डल प्रभा से दीप्त हो उठा मानो, विजय के अग्रदूत की प्रतिमा के समान प्रसन्नतामयी लक्ष्मी ने गौरवपूर्ण आसन जमा लिया हो। राजा का मनोरथ भी चिरवाञ्छित फल की प्राप्ति की आशा में रोमाञ्च के रूप में उल्लसित हो उठा ॥ ३ ॥

घनोपरागोपहताऽऽर्यमन्त्रिणां विपाटिताम्भोधरगर्भया द्रुतम्।
नवार्कभासाऽब्जमिवाकुलं मनः पुनर्ननन्दाऽभ्युदयाध्वनि स्थितिम्॥ ४ ॥

घनोपरागोपहतार्यमन्त्रिणाम् अब्जम् इव आकुलं मनः द्रुतं विपाटिताम्भोधरगर्भया नवार्कभासा पुनः अभ्युदयाध्वनि स्थितिं ननन्द ॥ ४ ॥

अफजल खान के अभियान के कारण सम्भावित परिणाम का विचार करते हुए राजा शिवा के सचिवमण्डल का मन चिन्ता से मलिन हो गया था। प्रतीत होता था कि घटाटोप मेघमाला को देखकर कमल संकुचित, म्लान हो गये हों। किन्तु महाराज के मुखमण्डल पर विकसित प्रभापुञ्ज को देखकर ऐसा प्रतीत हुआ मानो मेघमाला को चीरकर सूर्य की नयी प्रभा कमलवन पर जगमगा रही हो और उनका चित्त पुनः राष्ट्रोदय के पथ-चिन्तन में निष्ठापूर्वक अवस्थित हो गया हो ॥ ४ ॥

तदाशु [1]पन्ताजिनिवेदितां द्विषो निगूढदुर्वारदुरोदरस्पृहाम्।
पुरःस्थितानां समितौ महात्मनामुदाहरन्नार्यनृपो व्यभाषत ॥ ५ ॥

तदा आशु पन्ताजिनिवेदिताम् द्विषः निगूढदुर्वारदुरोदरस्पृहाम् पुरःस्थितानां महात्मनां समितौ उदाहरन् आर्यनृपः व्यभाषत ॥ ५ ॥

तभी तत्काल ही पन्ता जी द्वारा निवेदित (गुप्तचरों द्वारा प्राप्त) शत्रु की गुप्त, दुर्दमनीय शठतापूर्ण कामना को सामने उपस्थित विवेकशील सदस्यों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए वीरकेसरी शिवराज ने कहा ॥ ५ ॥

श्रुतो भवद्भिर्दुरिताध्वनां विधिः फलैकधर्मा विनिवारितार्जवः।
छलेन नक्रो मुहुरार्यघातिना तमेव पूर्वाऽभ्युदयं समीहते ॥ ६ ॥

भवद्भिः दुरिताध्वनां फलैकधर्मा विनिवारितार्जवः विधिः श्रुतः। नक्रः मुहुः आर्यघातिना छलेन तम् एव पूर्वाभ्युदयं समीहते ॥ ६ ॥

तो आप लोगों ने इन पापकर्मियों के शीलभ्रष्ट फलमात्र की दृष्टिवाले प्रवञ्चनापूर्ण उपायों का विवरण सुना। यह पुराना घड़ियाल फिर उसी आर्य-विनाशिनी प्रवञ्चना के द्वारा उसी पहले प्राप्त सफलता को फिर प्राप्त करना चाहता है ॥ ६ ॥

जयाभिलाषी स्वयमक्षतैरपि बलैरवाप्तुं परमावधिं श्रियः।
प्रतीतिकूटे विनिगृह्य सौनिको मृगं यथा मामभिहन्तुमीहते ॥ ७ ॥

१. पन्ताजी—शिवराजदूतो गूढप्रणिधिश्च। सेनापतेरफजलखानस्य गूढं मनोभावं विज्ञाय राज्ञे न्यवेदयत्।

स्वयम् अक्षतैः बलैः अपि श्रियः परमावधिम् अवाप्तुं जयाभिलाषी मां प्रतीतिकूटे विनिगृह्य सौनिकः मृगं यथा अभिहन्तुम् ईहते ॥ ७ ॥

अफजल के हृदय में विजय की महती अभिलाषा है, तथा वे अपनी सेना को संकट में डाले बिना ही जयश्री की इच्छा कर रहे हैं बहेलिये के समान मुझे अपने झूठे विश्वास में फँसा कर मृग के समान मेरी हत्या करना ही उनका लक्ष्य है ॥ ७ ॥

अजस्रकौटिल्यफलं खलोऽधुना वृकः स्वजाले लभतां पतन्नतः ।
स्वशाठ्यसंक्षोभितशाठ्यशासिताः स्वयं शठा एव दिशन्तु सत्पथम् ॥ ८ ॥

अतः अधुना स्वजाले पतन् खलः वृकः अजस्रकौटिल्यफलं लभताम्, स्वशाठ्यसंक्षोभितशाठ्यशासिताः शठाः एव स्वयं सत्पथं दिशन्तु ॥ ८ ॥

ठीक है, इस बार यह दुष्ट भेड़िया स्वयं अपने जाल में फँसकर अपनी निरन्तर व्यवहृत कुटिलता का फल आज स्वयं चखे । अपनी शठता के कारण दूसरों में भी शठता को प्रेरित करके तथा उससे विपन्न होकर स्वयं शठजन ही अब सन्मार्ग पर चलने के लिए आगे आयें] 'शठे शाठ्यम्' का सिद्धान्त ही कुटिलता को विनष्ट करने का सरलतम मार्ग है ।] ॥ ८ ॥

पुमानुपायाप्रवणः शठोद्यमं विदन्नपि च्छद्मपथेऽवसीदति ।
पुनर्नवीकर्तुमतन्द्रिलः कथं सहेत पूर्वस्खलितं जनोऽथवा ॥ ९ ॥

शठोद्यमं विदन् अपि उपायाप्रवणः पुमान् छद्मपथे अवसीदति, अथवा अतन्द्रिलः जनः पूर्वस्खलितं पुनः नवीकर्तुं कथं सहेत ॥ ९ ॥

प्रवञ्चना, कुटिलता तथा इनके घातक व्यवसाय को जानता हुआ भी व्यक्ति उसके प्रतीकारात्मक उपाय में अकुशल होने के कारण उस छद्मजाल में फँसकर विपन्न होता है । किन्तु जो कर्मठ है, आलस्यरहित है वे भला एक बार धोखा खा जाने के बाद फिर क्यों दुबारा उस कुटिलता के पञ्जों में फँसेंगे] व्यावहारिक बुद्धिवाला प्राणी एक बार भले ही विश्वास के कारण ठगा जाये किन्तु फिर तो जीवन भर वह तत्परतापूर्वक कुटिलता की प्रवञ्चना को व्यर्थ करता रहेगा ।] ॥ ९ ॥

ततो महामात्यवरः श्रुतश्रुतो नृपं गृहीतावसरो हरिं यथा ।
अवोचदल्पाक्षरमन्त्रसन्निभां गुरूपदिष्टामिव सत्फलां गिरम् ॥ १० ॥

ततः गृहीतावसरः श्रुतश्रुतः महामात्यवरः नृपं हरिं यथा गुरूपदिष्टाम् इव अल्पाक्षरमन्त्रसन्निभां सत्फलां गिरम् अवोचत् ॥ १० ॥

तब शास्त्रपारंगत महामात्य ने उचित अवसर देखकर राजा से इस प्रकार कहा जिस प्रकार देवराज इन्द्र को मन्त्र के समान थोड़े किन्तु विशद अर्थवाले शब्दों में देवगुरु बृहस्पति अनन्तफलवाली अपनी उपदेशवाणी सुनाया करते हैं ॥ १० ॥

अनीतिहेतुः प्रथमो महीपते ! सपत्नगर्ते पतनं हि जानताम् ।
तथैव नूनं तदपायनिश्चया सुनीतिराप्तैः परिकीर्तिता श्रिये ॥ ११ ॥

महीपते ! जानताम् सपत्नगर्ते पतनं हि प्रथमः अनीतिहेतुः, तथा एव नूनं तदपाय-निश्चया सुनीतिः आप्तैः श्रिये परिकीर्तिता ॥ ११ ॥

राजन्, विवेकशील पुरुष का, जानते हुए भी शत्रु के जाल में फँस जाना, शत्रु की चाल में आ जाना अनीति का प्रथम कारण है (इस कार्य से अनीति को पनपने का अवसर मिल जाता है अतः बुद्धिमान पुरुष सदा इससे मुक्त रहने का प्रयत्न करे) । उसी प्रकार विद्वानों का कथन है कि शत्रु को उस प्रवञ्चना को विनष्ट करने का दृढ़तापूर्ण निश्चय एवं तदनुकूल कार्य, अभ्युदयमयी सुनीति है ॥ ११ ॥

समर्थसेविन् यदनर्थजीवितः श्रयत्यरिः सख्यमपास्य कैतवम् ।
तदोजसा छिद्रवतैव भाव्यते शठेऽथवा शाठ्यमकृत्रिमाग्रहः ॥ १२ ॥

समर्थसेविन्, यत् अनर्थजीवितः अरिः कैतवम् अपास्य सख्यं श्रयति तत् छिद्रवता एव ओजसा भाव्यते, अथवा शठे शाठ्यम् अकृत्रिमाग्रहः ॥ १२ ॥

गुरु समर्थ महाराज के सेवक ! यह अनर्थोपजीवी शत्रु अफजल खान यदि धूर्तता छोड़कर सचमुच मैत्री का अभिलाषी है तो स्पष्ट है कि उसकी शक्ति में कहीं छिद्र है (ऊपर से शक्तिशाली बनने का स्वांग करता हुआ भी वह यथार्थतः निर्बल है) अथवा यदि दुष्टता के लिए ही यह सन्धि का नाटक रच रहा है तब भी शठ के प्रति शठता, दुष्ट के प्रति दुष्टता स्वाभाविक, नैतिक विधान है ॥ १२ ॥

निरागसोऽसङ्ख्यजनान् ग्रसन्नतः खलाभिचारोऽयमुदर्चिरेनसाम् ।
स्वयं स्वपूर्णाहुतये हविर्भवञ्शुभां महाराष्ट्रभुवं विमुञ्चतु ॥ १३ ॥

अतः निरागसः असङ्ख्यजनान् ग्रसन् एनसाम् उदर्चिः अयं खलाभिचारः स्वपूर्णाहुतये स्वयं हविः भवन् शुभां महाराष्ट्रभुवं विमुञ्चतु ॥ १३ ॥

असंख्यों निरपराध सरल स्वभाववाले प्राणियों को निगलनेवाला, कुटिल आचरण में अद्वितीय यह पाप की प्रदीप्त ज्वाला के समान दुर्धर्ष अफजल खान स्वयं ही अपनी पूर्णाहुति के लिए बलि होकर (उसी हवनकुण्ड में भस्म होकर) इस सरलप्रकृति महाराष्ट्र भूमि को सर्वदा के लिए छोड़ दे ॥ १३ ॥

अनारतं छद्मपुरस्कृतोदयो विभेदकूटप्रवणो दुरध्वगः ।
नभोऽपदृष्टिर्मृगदंशको यथा हरिन्मयीं पश्यति निर्मितिं सदा ॥ १४ ॥

अनारतं छद्मपुरस्कृतोदयः विभेदकूटप्रवणः दुरध्वगः नभोऽपदृष्टिः मृगदंशकः यथा निर्मितिं सदा हरिन्मयीं पश्यति ॥ १४ ॥

कुटिलता के द्वारा सदैव अपने उद्योग में सफलता प्राप्त करनेवाला यह सेनापति फूट डालने की कूटनीति में कुशल है तथा टेढ़े रास्ते को ही चुनता है ।

सावन के महीने में अन्धे होनेवाले कुत्ते के समान सदा ही पृथिवी को सावन की हरियाली से भरा-पूरा समझता है। धूर्तता में बराबर सफल होता हुआ, समय को सदैव धूर्तता के लिए उपयुक्त समझता है ॥ १४ ॥

अयं स्वपातेन विधाय निर्भयं बिजापुरं स्वोदयकण्टकक्षतम्।
अनीकभङ्गेन निरस्तसंशयान् करोतु सीमाविषयांश्च मादृशान् ॥ १५ ॥

स्वपातेन स्वोदयकण्टकक्षतं बीजापुरं निर्भयं विधाय अयं अनीकभङ्गेन सीमाविषयान् मादृशान् च निरस्तसंशयान् करोतु ॥ १५ ॥

इस अफजल खान का विनाश ही समय की माँग है। विनष्ट होकर यह बीजापुर के लिए तथा हमारे लिये भी कल्याणकारी होगा। अपने विनाश द्वारा यह बीजापुर को अपने प्रबल प्रभाव के आतंक से सर्वथा निश्चिन्त करके निर्भय कर देगा। बीजापुर इसके दुरन्त प्रभाव से आतंकित है। साथ ही हम जैसे सीमावर्ती राज्यों को भी इसके सैन्यबल के विखण्डित हो जाने के कारण निश्चिन्तता मिल जायेगी ॥ १५ ॥

बलद्वयं तावदलक्ष्यकौशलं प्रतीक्षतां गूढनिषेवितस्थिति।
पयस्विनीकूलवती वनान्तभूर्निसर्गदुर्गाऽभ्युदयाय जायताम् ॥ १६ ॥

तावत् अलक्ष्यकौशलं गूढनिषेवितस्थिति बलद्वयं प्रतीक्षताम्, पयस्विनीकूलवती वनान्तभूः अभ्युदयाय निसर्गदुर्गा जायताम् ॥ १६ ॥

अतः अपनी स्थिति को छिपाती हुई बिना आत्मप्रदर्शन के हमारी दो सेनायें अवसर की प्रतीक्षा करें। नदी की ऊँची-नीची तटभूमि तथा वनप्रान्त सहज ही दुर्लंघ्य है वह हमारे मंगलमय विधान को सफल बनाये ॥ १६ ॥

चिरादनाप्तावसरोऽद्य सस्पृहं हठान्महाराष्ट्रकृपाणविक्रमः।
स्वतर्पदोहं हतवैरिशोणितैर्निपूरयत्वाजिनिवेदिताञ्जलौ ॥ १७ ॥

अद्य चिरात् अनाप्तावसरः महाराष्ट्रकृपाणविक्रमः सस्पृहं हठात् आजिनिवेदिताञ्जलौ हतवैरिशोणितैः स्वतर्पदोहं निपूरयतु ॥ १७ ॥

दीर्घकाल से अवसर न मिलने के कारण आज इस महान् पर्व पर महाराष्ट्र की तलवार का शौर्य उत्कण्ठापूर्वक रणचण्डी द्वारा प्रस्तुत अञ्जलि में मारे गये शत्रुओं के रक्त से अपनी प्यास की इच्छा को शान्त करे ॥ १७ ॥

ततो द्विषन्मेघविभेदसाहसः सभासदः स्फीतदृशैव वर्धयन्।
महीपतिः सूनृतया गिराऽप्यसौ निरूपयामास यथोदितां स्थितिम् ॥ १८ ॥

ततः द्विषन्मेघविभेदसाहसः अपि असौ महीपतिः स्फीतदृशा एव सभासदः वर्धयन् सूनृतया गिरा यथोदितां स्थितिं निरूपयामास ॥ १८ ॥

तब शत्रुरूपी मेघ को अपने विक्रम से छिन्न-भिन्न करनेवाले वीर शिवराज ने अपनी उदार दृष्टि से सदस्यों का मान-संवर्धन करते हुए मधुर तथा सत्य वाणी से उपस्थित अवसर का निरूपण किया ॥ १८ ॥

सुमेधसो नाविदितं तथापि यद् द्विषो महाराष्ट्रनवोदयासहाः ।
बलाम्बुदानारतशस्त्रवर्षणैर्विधातुमुत्तप्तरुषोऽत्र दुर्दिनम् ॥ १९ ॥

सुमेधसः तथापि न अविदितं यत् महाराष्ट्रनवोदयासहाः द्विषः बलाम्बुदानारतशस्त्रवर्षणैः अत्र दुर्दिनं विधातुम् उत्तप्तरुषः ॥ १९ ॥

विवेकनिष्णात मनोषियो ! फिर भी यह आपको भली-भाँति ज्ञात है कि महाराष्ट्र के अभिनव उदय को शत्रुदल तनिक भी सहन करने को तैयार नहीं है। बादलों के समान विशाल अपनी सेना की शस्त्रवृष्टि से भयंकर क्रुद्ध शत्रुदल इस संकल्पवती पृथिवी पर दुर्दिन (आँधी-तूफान) लाने का घोर प्रयत्न करेगा ॥ १९ ॥

स्वतन्त्रतासिद्धिनवाध्वरोत्सवे प्रदीप्तहव्याशनहव्ययोग्यताम् ।
वहन्तु सर्वेऽपि तथापि निर्भयं समेधनीयैव विकस्वरा शिखा ॥ २० ॥

स्वतन्त्रतासिद्धिनवाध्वरोत्सवे सर्वे अपि प्रदीप्त हव्याशनहव्ययोग्यतां वहन्तु तथापि विकस्वरा शिखा निर्भयं समेधनीया एव ॥ २० ॥

स्वतन्त्रता-सिद्धि के लिए आयोजित इस महान् यज्ञोत्सव में हममें से प्रत्येक व्यक्ति हवनकुण्ड की प्रदीप्त अग्नि में हवन होने की योग्यता को निर्भय होकर धारण करे। स्वातन्त्र्य-यज्ञ की अग्नि की ज्वाला को तो प्रदीप्त रखना ही होगा। स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष एक निरन्तर प्रज्वलित हवनकुण्ड है तथा निर्भय बलिदानों का उत्साह ही उसे अपने सत्प्रयत्न में सफल बनाता है ॥ २० ॥

महोरगोद्यद्गरफेनिलानने मया यदर्थं विशता मनागपि ।
न शोच्यते मानवजन्मसंकटस्तदेकरक्षाव्रतिनो वयं श्रुताः ॥ २१ ॥

महोरगोद्यद्गरफेविलानने विशता मया यदर्थं मानवजन्मसंकटः मनाक् अपि न शोच्येते वयं तदेकरक्षाव्रतिनः श्रुताः ॥ २१ ॥

जिस महान् उद्देश्य की सफलता के लिए विषधर महाभुजङ्ग के विष से फेनिल भयंकर मुख में घुसता हुआ भी मैं मानव जीवन के संकट की (मृत्यु की) तनिक भी परवाह नहीं करता उसी उद्देश्य की रक्षा के लिए हममें से प्रत्येक वचनबद्ध है ॥ २१ ॥

पथि स्खलन्तो विषमे पदं पदे निबद्धकक्ष्या ध्रुवमेकलक्ष्यगाः ।
निरन्तरोत्साहविनिर्जितापदः शिरस्सु तिष्ठन्ति महीभृतामपि ॥ २२ ॥

विषमे पथि पदे पदे स्खलन्तः ध्रुवं निबद्धकक्ष्याः एकलक्ष्यगाः निरन्तरोत्साहविनिर्जितापदः महीभृताम् अपि शिरस्सु तिष्ठन्ति ॥ २२ ॥

दुर्गम पथ में पग-पग पर फिसलते हुए भी निश्चयपूर्वक, कमर कसकर एक लक्ष्य की ओर बढ़नेवाले, सतत साहस द्वारा अनेकविध विपत्तियों को पैरों तले रौंदते हुए अन्त में पर्वतों के (राजाओं के) भी शिर पर आसीन हो ही जाते हैं ॥ २२ ॥

स्वतन्त्रता शीलवधूरिवानिशं प्रवर्धते सर्वजनानुरक्षिता ।
नृपे तु दैवव्यसनायितेऽपि सा प्रजाकुटुम्बैर्भ्रियतेऽस्ततन्द्रिभिः ॥ २३ ॥

शीलवधूः इव सर्वजनानुरक्षिता स्वतन्त्रता अनिशं वर्धते । नृपे तु दैवात् व्यसनायिते अपि सा अस्ततन्द्रिभिः प्रजाकुटुम्बैः भ्रियते ॥ २३ ॥

स्वतन्त्रता शीलवती कुलवधू के समान है । सम्पूर्ण जनों से सतत अनुरक्षित होकर ही वह समृद्ध होती है । दुर्दैववश यदि कहीं राजा को यह संसार छोड़ना ही पड़े तब भी प्रजाजन कुटुम्बियों के समान आलस्यरहित हो इसका भरण-पोषण करते हैं । स्वतन्त्रता राष्ट्र की निधि है, चेतना है । केवल राजा या सेना का ही नहीं, राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति का यह प्रथम कर्तव्य है कि वह इसकी सुरक्षा में तत्पर रहे ॥ २३ ॥

निषेककुम्भैरभिवर्धयन्नपि नृपोऽपि मूलं न हि राष्ट्रशाखिनः ।
अनन्ततन्तुव्यवसायवर्ष्मणः प्रजैव तन्मूलमभिन्नसंहति ॥ २४ ॥

नृपः अपि निषेककुम्भैः अभिवर्धयन् अपि राष्ट्रशाखिनः मूलं न हि । प्रजा एव अनन्ततन्तुव्यवसायवर्ष्मणः अभिन्नसंहति तन्मूलम् ॥ २४ ॥

जलपूर्ण घड़ों से सींच-सींचकर संवर्धित करता हुआ भी राजा राष्ट्रतरु का मूल नहीं है । अनन्त व्यवसायरूपी तन्तुओं (रेशों) से युक्त उस स्वातन्त्र्यतरु की वास्तविक मूल तो प्रजा है जो एक मत से भेद-भाव छोड़कर सम्बद्ध जड़ के रूप में सदा उसे हरा-भरा रखती है ॥ २४ ॥

इहाऽथवाऽमुत्र निषेवितायुषि मयि स्थिरं नन्दतु राष्ट्रपादपः ।
सुरक्षितात्मोपचयः प्रतिक्षणं निकामवात्सल्यभृतो यथा शिशुः ॥ २५ ॥

इह अथवा अमुत्र निषेवितायुषि मयि राष्ट्रपादपः प्रतिक्षणं सुरक्षितात्मोपचयः निकामवात्सल्यभृतः शिशुः यथा स्थिरं नन्दतु ॥ २५ ॥

चाहे मैं जीवित रहूँ या आयुभोग पूरा कर वहाँ परलोक में रहूँ, राष्ट्र-पादप सर्वथा वर्धमान होकर पल्लवित एवं पुष्पित होता रहे । यह प्रतिक्षण सुरक्षित होकर वृद्धि को प्राप्त करता हुआ सुतनिर्विशेष स्नेह से पालित शिशु के समान है । राष्ट्र का संवर्धन, सुरक्षा केवल व्यक्तिविशेष का ही कर्तव्य नहीं है । व्यक्ति तो जीता-

मरता रहता है किन्तु राष्ट्रतरु नित्यवर्धिष्णु है। इसकी सतत सुरक्षा होनी ही चाहिए ॥ २५ ॥

कथावशिष्टे मयि तद् भवद्गणो मदेकवर्माऽवतु राष्ट्रमात्मना ।
दिनेशमुक्तं भुवनं यथा शशी तदीयधामाभिनिविष्टदीधितिः ॥ २६ ॥

तत् दिनेशमुक्तं भुवनं तदीयधामाभिनिविष्टदीधितिः शशी यथा मयि कथावशिष्टे मदेकवर्मा भवद्गणः राष्ट्रम् आत्मना अवतु ॥ २६ ॥

अतः मेरे न रहने पर भी आप सब मिलकर मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हुए इस राष्ट्र की प्राण देकर भी रक्षा करें, जिस प्रकार संसार से सूर्य के सायंकाल अस्त हो जाने पर भी उस संसार को चन्द्रमा सूर्य के ही प्रकाश से सम्भृत किरणों द्वारा सनाथ करता है [विज्ञान के अनुसार चन्द्रमा में प्रकाश सूर्य द्वारा ही सन्निविष्ट होता है। चन्द्रमा पर सूर्य का आलोक ही पृथिवी पर चन्द्रमा को ज्योत्स्ना-विमण्डित करता है।] ॥ २६ ॥

अलं विकल्पेन यदस्थिरां धुरं क्षमा न वोढुं भवतां मतिः शुभा ।
ध्रुवं दिने स्तोककलाऽपि शार्वरं प्रभा प्रदीपस्य तमो निकृन्तति ॥ २७ ॥

विकल्पेन अलम् यत् भवतां शुभा मतिः अस्थिरां धुरं वोढुं न क्षमा, दिने स्तोककला अपि प्रदीपस्य प्रभा शार्वरं तमः निकृन्तति ॥ २७ ॥

इसमें ऊहापोह न करें कि यह नवोदित राज्य अभी स्थिरता नहीं प्राप्त कर सका है। इस संशयास्पद भार को आप किस प्रकार सँभाल पायेंगे। तथ्य तो यह है कि आप की जागरूक बुद्धि इस दायित्व को भली भाँति सँभाल लेगी। देखिये, दिन में जब सूर्य चमकता रहता है तब दीपक का प्रकाश बड़ा नगण्य ज्ञात होता है किन्तु सूर्यास्त होते ही बढ़ते हुए रात्रि के अन्धकार को उस दीपक का प्रकाश ही विनष्ट कर देता है ॥ २७ ॥

सदैक्यजुष्टा प्रकृतिः प्रबोधिता बलोत्तमा दुर्गततिः स्थिरा धृतिः ।
यथा भवेयुर्निजलक्ष्यमार्गणे तथा विधातुं भवतां व्रतोत्तमम् ॥ २८ ॥

सदा ऐक्यजुष्टा प्रबोधिता प्रकृतिः, बलोत्तमा दुर्गततिः, स्थिरा धृतिः, निजलक्ष्यमार्गणे यथा भवेयुः तथा विधातुं भवतां व्रतोत्तमम् ॥ २८ ॥

एकता में सर्वदा सम्बद्ध प्रजावर्ग, यह सुदृढ़ दुर्गपंक्ति तथा आपकी संकल्पवती धीरता; इन सबका उपयोग अपने लक्ष्य की सिद्धि में जिस प्रकार भी सुचिन्तित ढंग से हो सके वैसा करना ही आपका उत्तम व्रत है ॥ २८ ॥

अपज्जलं तत्र चमूपतिं द्विजो वितानराजार्हविभूतिगोपितम् ।
महीध्रमूले विनयन्नधःस्थले शुभामुपन्यास्यदमोघभारतीम् ॥ २९ ॥

तत्र महीध्रमूले अधःस्थले वितानराजार्हविभूतिरोषितं चमूपतिम् अपज्जलं विनयन् द्विजः शुभाम् अमोघमारतोम् उपन्यास्यत् ॥ २९ ॥

उधर पहाड़ी की तलहटी में निर्मित वितान एवं राजार्ह उपकरणों से सुसज्जित प्रबन्ध को (यह स्थल अफजल खान तथा महाराज शिवाजी के बीच भेंट के लिए चुना गया था) देखकर सेनापति अफजल खान रुष्ट होकर अनाप शनाप बकने लगा (इन जगलियों के पास ऐसे राजकीय उपकरण भी हैं यह तो आत्मश्लाघा का प्रदर्शन है, आदि) । ब्राह्मण देवता ने सान्त्वना द्वारा उसे परितुष्ट करने के लिए अपनी विनय पूर्ण युक्ति युक्त, प्रभावशाली वाणी को आरम्भ किया । (ये ब्राह्मण देवता गोपीनाथ पन्त छत्रपति के पक्ष का प्रतिनिधित्व कर रहे थे ॥ २९ ॥

विदन्ति किं चारदृशो न भूभृतो जनार्जितर्द्धिं स्वयमेकहेतवः ।
तथापि लोकोऽवसरे तदर्पयन् प्रभोः कृपागर्भमपेक्षते स्मितम् ॥ ३० ॥

स्वयम् एकहेतवः चारदृशः भूभृतः जनार्जितर्द्धिं किं न विदन्ति, तथापि अवसरे तत् अर्पयन् लोकः प्रभोः कृपागर्भं स्मितम् अपेक्षते ॥ ३० ॥

प्रजाजन यदि समृद्धि प्राप्त करते हैं, वैभव से सम्पन्न रहते हैं तो इसके एक मात्र कारण वे राजा ही हैं जिनके निरापद शासन में सर्वतो मुखी उन्नति होती है और प्रजाजन की वास्तविक आर्थिक स्थिति भला प्रजापालक राजाओं से कहाँ अज्ञात, गुप्त रह सकती है ! उनके पास तो दक्ष गुप्तचरों की इतनी प्रभावपूर्ण व्यवस्था है कि प्रत्येक गति-विधि, स्थिति की यथार्थ जानकारी उन राजाओं को सहज ही सुलभ रहती है । फिर भी अवसरविशेष पर समाज राजानुग्रह द्वारा उपलब्ध अपनी उसी सम्पन्नता के अर्पण-प्रदर्शन द्वारा अपने प्रभुओं की कृपापूर्ण मुस्कान प्राप्त करने के लिए उत्सुक रहता है । प्रजा सुशासन द्वारा प्राप्त अपनी समृद्धि को शासनाध्यक्षों के सम्मुख उपस्थित कर उनकी प्रसन्नतापूर्ण उत्साहप्रद दृष्टि की भूखी रहती है । इससे प्रजा का मनोबल बढ़ता है ॥ ३० ॥

ध्रुवं महत्पुण्यतमोऽपि जीवने क्षणः कदाचिद्विरलो हि पूरुषम् ।
तदीयसौहार्दविभूतिशालिभिः शुभातिथेयार्हफलैर्निषेवते ॥ ३१ ॥

ध्रुवं जीवने अपि कदाचित् विरलः हि महत्पुण्यतमः क्षणः पूरुषं तदीयसौहार्दविभूतिशालिभिः शुभातिथेयार्हफलैः निषेवते ॥ ३१ ॥

व्यक्ति के जीवन में भी वह अत्यन्त पुण्यप्रद क्षण विरला ही होता है जो आतिथेय के रूप में (आतिथ्य-सत्कार करनेवाले के रूप में) अतिथिविशेष के लिए सम्पूर्ण शुभाशंसा, विनयशीलता, औदार्य आदि आतिथेय के उपयुक्त गुणों एवं भावों से उल्लसित अतिथि-सत्कार करनेवाले को धन्य करता है । आतिथ्य-सत्कार भले ही गृहस्थ-जीवन का सामान्य धर्म हो पर वह क्षण तो बड़ा दुर्लभ है जब व्यक्ति सम्पन्न हो, सत्कार करने की अभिलाषा भी हो तथा भाग्यवश ऐसा परम

श्लाघनीय अतिथि देवता भी मिल जाय जिसका भावपूर्ण अत्यन्त उन्मुक्त हृदय से पूर्ण समर्पण की भावना से आतिथ्य किया जाय। आज सौभाग्य है कि वीर शिवराज को वह दुर्लभ क्षण सुलभ है ॥ ३१ ॥

सयत्नमाकल्पितरेणुमन्दिरान् निरीक्ष्य वत्सान् गुरवोऽपि सस्मितम्।
मुदं दधत्यद्भुतवास्तुकौशले विचारवन्तोऽपि तदुद्यमादराः ॥ ३२ ॥

सयत्नम् आकल्पितरेणुमन्दिरान् वत्सान् गुरवः अपि सस्मितं निरीक्ष्य विचारवन्तः अपि तदुद्यमादराः अद्भुतवास्तुकौशले मुदं दधति ॥ ३२ ॥

बड़े लोग भी, गुरुजन भी, मनोयोगपूर्वक धूल के घरौंदे बनानेवाले छोटे-छोटे बच्चों को मुस्कान के साथ देखकर उनकी वास्तुकला (गृहनिर्माण-कौशल) पर प्रसन्नता व्यक्त करते हैं। ठीक है कि वे अतिविवेकी हैं, उन घरौंदो की निस्सारता को जानते हैं तथापि बच्चों का मन रखने के लिए, उनके उत्साह को बढ़ाने के लिए प्रसन्न ही होते हैं ॥ ३२ ॥

मनोरथः किन्तु मनागपीदृशैर्निवेदितैः किं लभतेऽपि संस्तुतिम्।
न पार्थिवैरैन्द्रमहोत्सवैरपि मनःप्रसादः परिमीयते क्वचित् ॥ ३३ ॥

किन्तु ईदृशैः निवेदितैः अपि मनोरथः मनाक् अपि संस्तुतिं लभते किम् ? पार्थिवैः ऐन्द्रमहोत्सवैः अपि मनःप्रसादः क्वचित् न परिमीयते ॥ ३३ ॥

पर इस तरह के आयोजनों के करने से भी क्या हृदय की अभिलाषा का तनिक भी परिचय मिल पाता है ? ये आयोजन भले ही भव्यतर हों, हृदय तो इनसे अनन्तगुना अधिक करके भी संकोच ही अनुभव करता है। इन्द्रलोक की सम्पूर्ण पार्थिव विभूति का प्रसार भी हार्दिक प्रसन्नता को माप नहीं सकता ॥ ३३ ॥

जनेषु वर्धद्भिभवेषु निश्चितं जनेशकोषोऽप्युपचीयते भृशम्।
घनर्तुनद्यो वसुमण्डितोरसो भरन्त्यकामानपि वाहिनीपतीन् ॥ ३४ ॥

वर्धद्भिभवेषु जनेषु जनेशकोषः अपि निश्चितं भृशम् उपचीयते, वसुमण्डितोरसः घनर्तुनद्यः अकामान् अपि वाहिनीपतीन् भरन्ति ॥ ३४ ॥

और यथार्थ तो यह है कि जब प्रजा की समृद्धि बढ़ती है तो निश्चय प्रजापालक नरेश का कोष भी वृद्धि को प्राप्त होता है। वर्षा ऋतु की वसुपूर्ण (वसु-धन, जल) नदियाँ वाहिनीपति (समुद्र, सेनापति, राजा) को भरती ही है, भले ही वह पूर्ण काम हों, उनकी इच्छा न हो, पर नदी को तो देना ही है ॥ ३४ ॥

वसुप्रतिष्ठाः खलु कामधेनवः प्रजाः स्वगोप्तारमपास्तसाध्वसाः।
प्रसादयन्त्येव सुधापयोधरैर्निसर्गसम्पादितलोकवृत्तिभिः ॥ ३५ ॥

अपास्तसाध्वसाः प्रजाः खलु वसुप्रतिष्ठाः कामधेनवः। स्वगोप्तारं निसर्गसम्पादित-लोकवृत्तिभिः सुधापयोधरैः प्रसादयन्ति एव ॥ ३५ ॥

प्रजा वसुप्रतिष्ठा है, धन की अधिष्ठात्री है, कामधेनु है, कामनाओं को पूर्ण करनेवाली गाय है। स्वभावतः ही जगत् की आवश्यकताओं को पूर्ण करनेवाले अपने अमृतवर्षी पयोधरों (मेघों, स्तनों) से वह अपने रक्षक (राजा को भय-रहित होकर आनन्दित करती है [यह पद्य प्रजा तथा कामधेनु दोनों पक्षों में घटित होगा।] ॥ ३५ ॥

तदेभिरातिथ्यमहार्हवस्तुभिर्निषेव्यतां त्वत्पदसत्क्रियाऽनिशम् ।
शिवे भवत्कीर्तितवृष्टिसिञ्चिते त्वदध्वगा प्राभृतकोदिता कृषिः ॥ ३६ ॥

तत् एभिः आतिथ्यमहार्हवस्तुभिः अनिशं त्वत्पदसत्क्रिया निषेव्यताम्, भवत्कीर्तितवृष्टि-सिञ्चिते शिवे प्राभृतकोदिता कृषिः त्वदध्वगा ॥ ३६ ॥

अतः ये बहुमूल्य उपकरण सदा श्रीमान् का चरणसान्निध्य प्राप्त कर सेवा द्वारा कृतकृत्य हों। जब वीर शिवराज आपकी लोकविश्रुत औदार्य वृष्टि से अभिषिक्त हैं तो भेंट आदि के रूप में उपस्थित कृषि (उपार्जित वस्तुजात) तो श्रीमान् का अनुगमन अवश्य ही करेगी [शिवराज यदि समृद्ध होते हैं तो उनका भेंट आदि के रूप में कुछ 'पत्रं पुष्पम्' तो आपको स्वीकारना ही होगा।] ॥ ३६ ॥

परं प्रकृष्टायुधवर्तिनो भटानिहानुगान्ते समवेक्ष्य कातरः ।
विशङ्कते सख्यपुरस्कृतोऽप्यसौ मनोरथं नन्दितुमाधिकम्पितम् ॥ ३७ ॥

परं प्रकृष्टायुधवर्तिनः ते अनुगान् भटान् इह समवेक्ष्य सख्यपुरस्कृतः अपि असौ कातरः आधिकम्पितं मनोरथं नन्दितुं विशङ्कते ॥ ३७ ॥

किन्तु उत्तम शस्त्र धारण किये हुए आपके अनुचर इन वीर सैनिकों को यहाँ पर देखकर, भयभीत राजा शिव आपकी मैत्री से सनाथ होकर भी विकलता से कम्पित अपने मनोरथ को हर्षपूर्वक सफल बनाने में सशङ्कित हो रहे हैं। इन सैनिकों की उपस्थिति उनके हर्ष में बाधा बन रही है ॥ ३७ ॥

व्यपेतसैन्यस्य तदार्द्रचेतसस्तवोदयस्तं परिसान्त्वयन् हठात् ।
तदीयनिर्हेतुविषादबन्धनं व्यपाकरोत्वात्मविकाशिसम्पदा ॥ ३८ ॥

तत् व्यपेतसैन्यस्य आर्द्रचेतसः तव उदयः हठात् तं परिसान्त्वयन् आत्मविकाशिसम्पदा तदीयनिर्हेतुविषादबन्धनं व्यपाकरोतु ॥ ३८ ॥

अतः दयार्द्रचेता आपकी सैन्यविरहित स्थिति शिवराज को सान्त्वना प्रदान करती हुई, अकारण उत्पन्न उनके शोक को, अपने आत्मीय सद्गुणों के प्रभाव से शीघ्र दूर करे ॥ ३८ ॥

मृगो यथा गीतसुधातरङ्गितः पुरो व्रजन् विस्मृतलुब्धकाशनिः ।
विभीषयन् दर्पनिराकृतार्जवस्तमाश्रवं व्याहरदाजिकौतुकी ॥ ३९ ॥

गीतसुधातरङ्गितः मृगः यथा विस्मृतलुब्धकाशनिः पुरः व्रजन् दर्पनिराकृतार्जवः आजिकौतुकी तम् आश्रवं बिभीषयन् व्याहरत् ॥ ३९ ॥

जिस प्रकार गीत की पीयूषलहरी से मुग्ध हिरन बहेलिये के बाणवज्र को भूलकर आगे बढ़ता जाता है उसी प्रकार घमण्ड के कारण नम्रता का गला घोंटते हुए युद्धरसिक अफजल खान ने उस विनयशील ब्राह्मण (शिवाजी के प्रतिनिधि) से उसको धमकाते हुए कहा ॥ ३९ ॥

निशम्य यान् सौरिनिवेशितायुधान् रणादरं मुञ्चति साऽपि देहली ।
विलोकनादेव वनेचरास्त्विमे ध्रुवं विहास्यन्ति हतायुषि स्पृहाम् ॥ ४० ॥

सौरिनिवेशितायुधान् यान् निशम्य सा देहली अपि रणादरं मुञ्चति, इमे वनेचराः तु विलोकनात् एव ध्रुवं हतायुषि स्पृहाम् विहास्यन्ति ॥ ४० ॥

यमदण्ड के समान भीषण जिन योद्धाओं के नाम-श्रवण मात्र से वह दिल्ली भी युद्ध-कामना त्याग देती है उन्हें केवल देखने मात्र से ही ये जंगली मराठे तो अपनी गरीब जिन्दगी से नाता ही तोड़ लेंगे [देखकर ही बेचारे जंगली मराठे दम तोड़ देंगे ।] ॥ ४० ॥

'तथास्तु' सर्वे कथमायसत्विषं विसोढुमज्ञातरणोत्सवाः क्षमाः ।
तमस्तधैर्यं त्वरितं समानय श्रयन्तु दूरावनिमेव मद्भटाः ॥ ४१ ॥

तथास्तु (तथा अस्तु), अज्ञातरणोत्सवाः सर्वे आयसत्विषं विसोढुं कथं क्षमाः । त्वरितं तम् अस्तधैर्यं समानय, मद्भटाः दूरावनिम् एव श्रयन्तु ॥ ४१ ॥

'ऐसा ही हो ।' जो युद्ध के मादक रस से अपरिचित हैं वे भला लोहे (शस्त्र) की चमक को सहने में कैसे समर्थ हो सकते हैं ! उस धैर्यहीन शिवाजी को शीघ्र लाओ । ठीक है, हमारे सैनिक खेमे से दूर ही प्रतीक्षा करें ॥ ४१ ॥

ततः शिरस्त्राणमभेद्यमायसं सुगुप्तमुष्णीषनिबद्धमुद्वहन् ।
स्वकञ्चुकान्तर्धृतवर्मवेष्टितं महौजसामायतनं श्रयन् वपुः ॥ ४२ ॥
सुरक्षितां व्याघ्रनखीं कराङ्गुलौ शितक्षुरप्रं मणिबन्धरक्षितम् ।
निधाय राजा परिधानसंवृतो दधार कण्ठे स्रजमम्बिकाधृताम् ॥ ४३ ॥

ततः अभेद्यम् आयसं शिरस्त्राणम् उष्णीषनिबद्धं सुगुप्तम् उद्वहन् स्वकञ्चुकान्तर्धृतवर्मवेष्टितं महौजसाम् आयतनं वपुः श्रयन् कराङ्गुलौ सुरक्षितां व्याघ्रनखीं, मणिबन्धरक्षितं शितक्षुरप्रं निधाय परिधानसंवृतः राजा अम्बिकाधृतां स्रजं कण्ठे दधार ॥ ४२-४३ ॥

उसके बाद, महाराज क्षत्रपति ने शुद्ध फौलाद के बने हुए अभेद्य लौहटोप को पगड़ी के नीचे ठीक से सुरक्षित जमाकर धारण किया । उत्कृष्ट शौर्य का निधान उनका शरीर कवच से पूर्णतः आच्छादित था । उन्होंने ऊपर से अंगरखा (कुरता) पहनकर उसे भलीभाँति ढक लिया था । हाथ की अंगुलियों में मुट्ठी के अन्दर

बघनखा छिपा हुआ था तथा मणिबन्ध में तेज धारवाला छुरा सुगुप्त रखा हुआ था। इन सुरक्षात्मक उपायों से सुसज्ज तथा परिधान से अलंकृत राजा ने देवी भवानी को अर्पित उनका प्रसादस्वरूप पुष्पमाल अपने गले में धारण कर लिया था ॥ ४२-४३ ॥

तमन्वगातां बलिपूजितौजसौ स्वपक्षबन्धू परपक्षभेदिनौ ।
कृपाणिकम्पो युधि जीवमाहलाः परश्च शम्भुः परशम्भुराहवे ॥ ४४ ॥

बलिपूजितौजसौ स्वपक्षबन्धू परपक्षभेदिनौ युधि कृपाणिकम्पः जीवमाहला परः च आहवे परशम्भुः शम्भुः तम् अन्वगाताम् ॥ ४४ ॥

महाराज शिवाजी के साथ दो अनुचर थे। युद्ध में शत्रु की बलि देने में दोनों का साहस सर्वविदित था। वे आत्मीय पक्ष के रक्षक थे किन्तु शत्रु के विनाश के लिए प्रसिद्ध थे। 'जीवमाहला' नामक सैनिक युद्धभूमि में तलवारबाजों के हृदय में भयमिश्रित कम्पन उत्पन्न कर देता था। दूसरा 'शम्भु' नामक वीरश्रेष्ठ था जो युद्ध में सचमुच दूसरा शम्भु 'शिव' ही प्रतीत होता था ॥ ४४ ॥

धुरि स्थितः शस्त्रभृतां स्वलाघवाच्चलत्कृपाणाहिकुलाहितुण्डिकः ।
प्रतीपशौर्यैरपि कुण्ठितक्रमैरभिष्टुतः संयति जीवमाहलाः ॥ ४५ ॥

स्वलाघवात् शस्त्रभृतां धुरि स्थितः चलत्कृपाणाहिकुलाहितुण्डिकः कुण्ठितक्रमैः प्रतीपशौर्यैः अपि संयति अभिष्टुतः जीवमाहलाः ॥ ४५ ॥

जीवमाहला अपने हस्तलाघव, हाथ की तेजी के कारण शस्त्रधारियों का सिरमौर था। सर्पकुल के समान लपलपाती हुई तलवारों के लिए वह उन्हें वश में करनेवाला सँपेरा था। युद्ध में कुण्ठितगति होकर शत्रु भी उसके हस्तलाघव तथा युद्धविक्रम का यशोगान करता था। वह जीवमाहला नाई महाराज का पार्श्वरक्षक था ॥ ४५ ॥

युगान्तनृत्यद्धरताण्डवोद्धवक्षरत्स्फुलिङ्गोत्करकीर्णदिङ्मुखम् ।
करालनिस्त्रिंशकरं रणाङ्गणे सहेत कः शम्भुमवेक्षितुं पुनः ॥ ४६ ॥

युगान्तनृत्यद्धरताण्डवोद्धवक्षरत्स्फुलिङ्गोत्करकीर्णदिङ्मुखं करालनिस्त्रिंशकरं शम्भुं रणाङ्गणे पुनः अवेक्षितुं कः सहेत ॥ ४६ ॥

प्रलयकालीन युगान्तकारी नृत्य में प्रवृत्त शङ्कर के प्रलयङ्कर ताण्डव के उन्माद में झड़ते हुए अग्निकणों के समूह से दिशाओं को भर देनेवाले, हाथ में भयानक तलवार लिए शम्भु को युद्धभूमि में कौन फिर दुबारा देखने का उत्साह रख सकता है। युद्ध में जिसने एक बार देख लिया, देख लिया; सामने पड़ा और समाप्त हुआ, फिर देखने के लिए वह बेचारा सैनिक जीवित ही कहाँ रहता ॥ ४६ ॥

सिताम्बरा शैलसुतेव सिद्धिदा विलोक्य सा स्कन्दमिवात्मजं पदे ।
जगाद माता विजयस्व निर्भयं स्वदेशकल्याणमुषो रिपूनिति ॥ ४७ ॥

सिताम्बरा शैलसुता इव सिद्धिदा स्कन्दम् इव आत्मजं पदे विलोक्य सा माता जगाद– स्वदेशकल्याणमुषः रिपून् निर्भयं विजयस्व इति ॥ ४७ ॥

श्वेतवस्त्रावृता भगवती शैलपुत्री के समान सिद्धि देनेवाली माता जीजाबाई ने देवसेनानी स्कन्द के समान पुत्र को अपने चरणों में पड़ा देखकर कहा—'यशस्वी होगे, स्वदेश के कल्याण को लूटनेवाले शत्रुओं पर निर्भय विजय प्राप्त करो' [महाराज छत्रपति की गुरुभक्ति के समान ही उनकी मातृभक्ति सर्वविदित है।] ॥४७॥

निरीक्ष्य तौ भानुसुधांशुविक्रमौ महेन्द्रपुत्रोभयपार्श्ववर्तिनौ ।
परं ननन्दादितिपद्धतिः प्रसूः शिवे निबद्धोज्ज्वलतारकप्रभा ॥ ४८ ॥

महेन्द्रपुत्रोभयपार्श्ववर्तिनौ भानुसुधांशुविक्रमौ तौ निरीक्ष्य शिवे निबद्धोज्ज्वलतारकप्रभा अदितिपद्धतिः प्रसूः परं ननन्द ॥ ४८ ॥

माता जीजाबाई ने सूर्य और चन्द्र के समान विक्रमवाले उन दोनों 'जीवमाहला' और 'शम्भु' को देखा। वे छत्रपति के अगल-बगल खड़े थे। प्रतीत होता था मानो महेन्द्रपुत्र जयन्त की रक्षा में दोनों ओर सूर्य और चन्द्रमा उपस्थित हों। अदिति, देवमाता की मुद्रा में माता शिवराज को निर्निमेष दृष्टि से देखते हुए उन दोनों को देख प्रसन्न हुईं ॥ ४८ ॥

समर्प्यतेऽयं भवतां करे शिवो भवत्प्रभुः ज्ञातविधेयगौरवाः ।
पुनर्भवद्भिः प्रथितात्मविक्रमैः प्रणन्दितव्याऽस्मि तथैव विह्वला ॥ ४९ ॥

ज्ञातविधेयगौरवाः, भवतां करे भवत्प्रभुः अयं शिवः समर्प्यते, प्रथितात्मविक्रमैः भवद्भिः पुनः तथा एव विह्वला प्रणन्दितव्या अस्मि ॥ ४९ ॥

वीरो, तुम अपने दायित्व की गुरुता को सर्वथा समझ रहे हो। तुम्हारे हाथ में शिव को, तुम्हारे राजा को सौंप रहा हूँ। अपनी बहुकीर्तित वीरता का यथावत् परिचय देकर तुम लोग फिर इसी प्रकार मुझ विह्वला को आनन्दित करो, यही हमारी कामना है ॥ ४९ ॥

मदेकपुत्रं नहि केवलं शिवं परं महाराष्ट्रधरानभोमणिम् ।
सुमेधसः सन्नयथ प्रभोज्ज्वलं तमोऽन्तरायोऽभिभवेन्न तद्रुचम् ॥ ५० ॥

सुमेधसः, केवलं मदेकपुत्रं नहि परं प्रभोज्ज्वलं महाराष्ट्रधरानभोमणिं सन्नयथ तद्रुचं तमोऽन्तरायः न अभिभवेत् ॥ ५० ॥

बुद्धिमान् वीरो ! तुम केवल मेरे एक पुत्र शिवा को नहीं ले जा रहे हो अपितु सम्पूर्ण महाराष्ट्र की आशा को, महाराष्ट्र के आकाश के सूर्य को, प्रभा से जगमगाते

छत्रपति को ले जा रहे हो। अन्धकार इनकी प्रकाशमयी प्रभा को धूमिल करने की दुश्चेष्टा न करे ॥ ५० ॥

यथार्तसेरापतिमाश्रयातिथिं बिजापुरामात्यमनागसञ्च तम् ।
दिदेश चण्डोऽन्तकसद्मसङ्गतिं पथाऽद्य तेनैव तथा विचेष्टते ॥ ६१ ॥

आश्रयातिथिम् आर्तसेरापतिम् अनागसं तं बीजापुरामात्यं च यथा चण्डः अन्तकसद्मसङ्गतिं दिदेश अद्य तेन एव पथा तथा विचेष्टते ॥ ५१ ॥

दुष्ट अफजल खान ने जिस प्रकार आश्रय में आये हुए अतिथि सेरानरेश को तथा बीजापुर के निरपराध उस अमात्य को यमपुरी का मार्ग दिखा दिया आज भी वह उसी क्रम से भेंट के लिए प्रवृत्त हो रहा है ॥ ५१ ॥

अनूहितेऽप्यध्वनि जिह्मपद्धतेः सदावधानैर्विनिहत्य कौशलम् ।
भवद्भिरेषः परिरक्षणव्रतैः प्ररक्षणीयो निजजीवितैरपि ॥ ५२ ॥

अनूहिते अध्वनि अपि सदा अवधानैः जिह्मपद्धतेः कौशलं विनिहत्य परिरक्षणव्रतैः भवद्भिः निजजीवितैः अपि एषः प्ररक्षणीयः ॥ ५२ ॥

यद्यपि उस दुष्ट की हृदयगत योजनाओं का पता नहीं है फिर भी उस कुटिलात्मा के कौशल को निरन्तर अवधानपूर्वक विनष्ट करके सुरक्षा में तत्पर आप लोग अपना जीवन देकर भी इस छत्रपति की रक्षा करना ॥ ५२ ॥

प्रसीद मातर्जगदम्ब मादृशा मुधा रमन्ते न विकत्थनाध्वनि ।
निवेदयिष्यत्यभिनन्दनोत्सुका प्रतीक्ष्यवेला स्वयमेव नः कृतम् ॥ ५३ ॥

मातः जगदम्ब, प्रसीद, मादृशाः विकत्थनाध्वनि मुधा न रमन्ते, नः कृतम् अभिनन्दनोत्सुका प्रतीक्ष्यवेला स्वयम् एव निवेदयिष्यति ॥ ५३ ॥

माता जगदम्ब ! आप प्रसन्न रहें। हम लोग आत्मश्लाघा में व्यर्थ मनोविनोद करना नहीं चाहते। अभिनन्दन के लिए उत्कण्ठित, प्रतीक्षा करता हुआ समय ही हम लोगों की कारगुजारी को स्वयं सूचित करेगा ॥ ५३ ॥

महासिदाक्ष्यस्य च पोषितायुषो मनोरथोऽनाप्तपरीक्षकाग्रहः ।
प्रसाद्य कौतूहलमुद्रितं क्षणं वशीकरोत्वात्मकलाचमत्कृतम् ॥ ५४ ॥

महासिदाक्ष्यस्य पोषितायुषः च अनाप्तपरीक्षकाग्रहः मनोरथः आत्मकलाचमत्कृतं कौतूहलमुद्रितं क्षणं प्रसाद्य वशीकरोतु ॥ ५४ ॥

हमारे तलवार का कौशल तथा सर्वथा पाली जाती हुई उग्र—इन दोनों का मनोरथ अब तक परीक्षा करनेवाले अवसर की राह ही देख रहा था। आज कौतूहल में डूबे हुए क्षण को शीघ्रतापूर्वक प्रसन्न करके अपनी तलवारबाजी के चमत्कार द्वारा उस क्षणविशेष को अपने वश में करें ॥ ५४ ॥

अवार्यकोपोऽयमरातिबन्धभित् करे कृपाणो हृदयं समुत्सुकम् ।
अनेकमूर्धा भुवि को दिदृक्षते नृपं शरीरी समवेक्ष्य मामपि ॥ ५५ ॥

अरातिबन्धभित् अयम् अवार्यकोपः, करे कृपाणः, समुत्सुकं हृदयं (नः सन्ति) मां समवेक्ष्य अपि भुवि कः अनेकमूर्धा शरीरी नृपं दिदृक्षते ॥ ५५ ॥

शत्रुओं के जीवन-बन्धन को काटनेवाला, सफल क्रोधवाला यह कृपाण हाथ में है, हृदय कुछ कर डालने के लिए समुत्सुक है; फिर इस पृथिवी पर कौन एक से अधिक सिर रखनेवाला प्राणी होगा जो मुझे देखने के बाद भी महाराज को देखने की इच्छा करेगा। मेरे सम्मुख आकर तो वह प्राण गँवा ही देगा, फिर महाराज की ओर देखने का, प्रतिरोध करने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ॥ ५५ ॥

प्रतीक्षमाणान् विजयाभिशंसिनो निदेशसन्धान् विनिवार्य भूपतिः ।
प्रसूदृशा सोत्सुकनिर्निमेषया निरीक्ष्यमाणोऽवतरन् पथि स्थिरम् ॥ ५६ ॥

प्रतीक्षमाणान् निदेशसन्धान् विजयाभिशंसिनः विनिवार्य सोत्सुकनिर्निमेषया प्रसूदृशा निरीक्ष्यमाणः पथि स्थिरम् अवतरन् भूपतिः ॥ ५६ ॥

विजयाभिशंसा के लिए प्रतीक्षारत, निदेश में स्थिर आश्रितों को रोककर राजा ने सधे कदमों से पहाड़ी से उतरना (किले से नीचे आना) आरम्भ किया। उस समय माता जीजाबाई उन्हें निर्निमेष दृष्टि से देख रही थीं ॥ ५६ ॥

त्रिभिः त्रिदेवैरिव नन्दितक्रमैर्वपुर्धरो धर्म इवाभितः श्रितः ।
ददर्श दूरादपि भीमविग्रहं महाधनोल्लोचतले बलाधिपम् ॥ ५७ ॥

नन्दितक्रमैः त्रिदेवैः इव त्रिभिः वपुर्धरः धर्मः इव अभितः श्रितः दूरात् अपि महाधनोल्लोचतले भीमविग्रहं बलाधिपं ददर्श ॥ ५७ ॥

मार्ग में तीन व्यक्तियों (पार्श्वरक्षकों) से युक्त छत्रपति त्रिदेवों से युक्त मूर्तिमान् धर्म के समान सुशोभित हो रहे थे। दूर से भी उन्होंने बहुमूल्य शामियाने के नीचे सेनापति अफजल खान की लम्बी-चौड़ी काया को देखा ॥ ५७ ॥

प्रतिक्षणं चेतसि सुस्थिरेऽप्यसौ विचित्रभावाञ्जितविद्युदुद्यमान् ।
मनस्विधृत्या वशमानयन् वशी कटुप्रतीक्षां सफलामिवाकरोत् ॥ ५८ ॥

सुस्थिरे अपि चेतसि प्रतिक्षणं जितविद्युदुद्यमान् विचित्रभावान् मनस्विधृत्या वशम् आनयन् असौ वशी कटुप्रतीक्षां सफलाम् इव अकरोत् ॥ ५८ ॥

सर्वथा निश्चिन्त मन में भी प्रतिक्षण बिजली की तीव्रता से उठ रही विचित्र भावनाओं को मनस्विजन-सुलभ धैर्य से शान्त करके, संयत विचारवाले छत्रपति ने प्रतीक्षा की क्षोभपूर्ण घड़ियों को सफल कर दिया ॥ ५८ ॥

परस्परोद्घोषितसख्यसत्फलाश्छलाघ्वना किन्तु मिथोजिघांसवः।
जयश्रियाऽनूह्यविलासरागया खलीक्रियन्ते पशवो यथा नृपाः ॥ ५९ ॥

अनूह्यविलासरागया जयश्रिया परस्परोद्घोषितसख्यसत्फलाः किन्तु छलाघ्वना मिथः जिघांसवः नृपाः पशवः यथा खलीक्रियन्ते ॥ ५९ ॥

परस्पर मित्रता तथा उसके उपयोग का बखान करते हुए किन्तु भीतर ही भीतर प्रवञ्चना द्वारा एक दूसरे का गला काटने की इच्छावाले राजाओं को, अप्रतर्क्य विलास-दोह की कामनावाली विजयश्री अपने ढंग से, पशु के समान हाँकती रहती है। राजधर्म अत्यन्त महनीय होते हुए भी कूटनीति के अतिचार के कारण अति दानवीय हो जाता है। फलदृष्टि होने के कारण वे साधनों में स्वच्छता को महत्त्व नहीं देते ॥ ५९ ॥

तदन्तिकं संव्रजतो महीपतेर्हठादुरोऽस्पन्दत सोष्मचञ्चलम्।
तरङ्गमालाकुलितं तृणं यथा मनोऽक्षुभत् शत्रुचमूपतेरपि ॥ ६० ॥

तदन्तिकं संव्रजतः महीपतेः सोष्मचञ्चलम् उरः हठात् अस्पन्दत। शत्रुचमूपतेः अपि मनः तरङ्गमालाकुलितं तृणं यथा अक्षुभत् ॥ ६० ॥

सेनापति अफजल से भेंट करने के लिए जाते हुए वीर शिवराज का हृदय बरबस चञ्चल हो उठा, जोर-जोर से स्पन्दित होने लगा, उसकी गर्माहट कुछ बढ़ गयी। उधर शत्रु-सेनापति अफजल खान का मन भी तरङ्गों के जाल में भटकते हुए तृण के सनान क्षुब्ध हो गया [अफज़ल खान को शिवाजी की तरफ से कोई संशय न था। उसे केवल .अपनी योजना को सफल करने की उतावली थी। उसकी उद्विग्नता का कारण था कि कहीं कार्यसिद्धि के पूर्व ही कुछ अप्रत्याशित बाधा उसके मनोरथ के पूर्ण होने मे व्यवधान न उत्पन्न कर दे ॥ ६० ॥

इतः शिवाजिस्त्वरितं पुरो ययावसौ विमुच्यासनमुत्थितस्ततः।
उभावपीद्धोत्कटसंशयोरसौ परस्पराश्लिष्टतनू विरेजतुः ॥ ६१ ॥

इतः शिवाजिः त्वरितं पुरः ययौ ततः आसनं विमुच्य असौ उत्थितः, इद्धोत्कटसंशयोरसौ उभौ अपि परस्पराश्लिष्टतनू विरेजतुः ॥ ६१ ॥

इधर से महाराज क्षत्रपति शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़े। तब उधर से अफजल भी आसन छोड़कर मिलने के लिए उठा। यद्यपि विभिन्न कारणों से दोनों का हृदय उत्कट आशंका से भरा हुआ था तथापि वे दोनों एक दूसरे की भुजाओं में समाकर सुशोभित हो उठे ॥ ६१ ॥

तदैव वेगान्निजकक्षपिञ्जरप्रलीनमूर्धानमसौ नरेश्वरम्।
करद्वितीयेन महासिनाऽहनत् तदीयकक्षौ सहसा दुराशयः ॥ ६२ ॥

तदा एव निजकक्षपिञ्जरप्रलीनमूर्धानं नरेश्वरं वेगात् असौ दुराशयः करद्वितीयेन महासिना तदीयकुक्षौ सहसा अहनत् ॥ ६२ ॥

तभी तेजी से दुरात्मा सेनापति अफजल खान ने अपने बगल में वीर शिवराज के सिर को दबाकर दूसरे हाथ की तीखी तलवार से शिवाजी के बगल में सहसा वार किया ॥ ६२ ॥

निषेवितान्तर्धृतवर्मरक्षिते वपुष्यनाप्तप्रसरो द्विषः क्रमः ।
निबद्धकक्षान्तरमप्यकुण्ठितं शिवं समारोपयदिष्टवर्त्मनि ॥ ६३ ॥

निषेवितान्तर्धृतवर्मरक्षिते वपुषि अनाप्तप्रसरः द्विषः क्रमः निबद्धकक्षान्तरम् अपि अकुण्ठितं शिवम् इष्टवर्त्मनि समारोपयत् ॥ ६३ ॥

कुरते के भीतर पहिने गये कवच तथा जाली से सुरक्षित राजा के शरीर पर शत्रु के प्रहार को कुछ भी सफलता न मिली, वह वार खाली गया। किन्तु अफजल खान के बगल में दबकर भी शिवाजी चेतनासम्पन्न थे। वे अभीष्ट कर्तव्य में अब तत्पर हो गये ॥ ६३ ॥

स यावदाकृष्य कृपाणमत्रपः शिरः प्रतीत्या सह भेत्तुमैक्षत ।
द्रुतं शिवो व्याघ्रनखेन विद्विषश्चकर्ष तावद्विशतोदरं बहिः ॥ ६४ ॥

अत्रपः सः यावत् कृपाणम् आकृष्य प्रतीत्या सह शिरः भेत्तुम् ऐक्षत तावत् द्रुतं विशता व्याघ्रनखेन शिवः विद्विषः उदरं बहिः चकर्ष ॥ ६४ ॥

जब तक वह निर्लज्ज सेनापति तलवार को खींचकर फिर से विश्वास के साथ ही साथ सिर पर तलवार चलाये तब तक तो वीर शिवराज के बघनखे ने भीतर घुसकर शत्रु का पेट (अँतड़ियाँ) बाहर खींच लिया [शिवाजी की उँगलियों में फौलादी बघनखा था। उसीसे शत्रु की आँतें बाहर आ गयीं।] ॥ ६४ ॥

उरः समन्विष्य तनुत्रयन्त्रितं हठात् क्षुरप्रेण तदैव वैरिणः ।
विभिद्य तच्छाठ्यसखं न्यपातयत् क्षणेन भूमौ शिथिलाग्रहं वपुः ॥ ६५ ॥

तदा एव तच्छाठ्यसखं तनुत्रयन्त्रितं वैरिणः उरः समन्विष्य हठात् क्षुरप्रेण विभिद्य क्षणेन शिथिलाग्रहं वपुः भूमौ न्यपातयत् ॥ ६५ ॥

सेनापति के कवच के भीतर छिपे हुए उसकी कुटिलता के साथी उसके हृदय को (मणिबन्ध में छिपाये गये) छुरे से तुरन्त बींधकर वीर शिवराज ने उसके अशक्त शिथिल शरीर को पृथ्वी पर गिरा दिया ॥ ६५ ॥

अये मृतोऽस्मीति निशम्य पन्नगो यथाङ्गरक्षी सहसा महासिना ।
द्विधा शिरस्त्राणमखण्डयद्बली शिरस्त्वचि स्वां प्रथयन्निव स्मृतिम् ॥ ६६ ॥

अये मृतः अस्मि इति निशम्य बली अङ्गरक्षी पन्नगः यथा सहसा महासिना शिरस्त्वचि स्वाम् स्मृतिं प्रथयन् इव शिरस्त्राणं द्विधा अखण्डयत् ॥ ६६ ॥

'अरे मैं मरा' अफजल खान की इस चीख को सुनकर सर्प के समान उछलकर उसके अंगरक्षक ने सहसा अपनी लम्बी तलवार के वार से वीर शिवराज के फौलादी टोप को दो टुकड़ों में बाँट दिया तथा सिर के ऊपरी चमड़े पर अपनी यादगार का चिह्न भी बना दिया [अंगरक्षक की तलवार ने छत्रपति के फौलादी टोप को काटकर शिर के ऊपरी भाग को त्वचा की भी काट दिया। महाराज के सिर पर यह निशान जीवन भर रहा।] ॥ ६६ ॥

द्रुतं समुत्प्लुत्य स जीवमाहला ददन्नृपायासिमवार्यविक्रमः ।
कृपाणलीलाचपलोऽङ्गरक्षिणं तमेकबाहुं विदधावदक्षिणम् ॥ ६७ ॥

द्रुतम् अवार्यविक्रमः सः जीवमाहला समुत्प्लुत्य नृपाय असिं ददत् कृपाणलीलाचपलः तम् अङ्गरक्षिणम् अदक्षिणम् एकबाहुं विदधौ ॥ ६७ ॥

तुरन्त ही उछलकर जीवमाहला ने शिवराज को तलवार दी तथा अमोघ शौर्यवाले तलवारबाजी के धनी उस वीर ने शीलभ्रष्ट उस अंगरक्षी को एकबाहु बना दिया (उसकी तलवारवाली बाँह को कन्धे से अलग कर दिया)। वह अदक्षिण (दाहिनी बाहु से रहित या शीलरहित) हो गया ॥ ६७ ॥

अधिक्षिपन् शोणदृशा स वामतां तदीयदाक्षिण्यमवाप्तुमुद्यमी ।
उपायनीकृत्य शिरोऽप्यनूरुणा विलोकितः सारथिनाऽम्बरं विशन् ॥ ६८ ॥

शोणदृशा वामताम् अधिक्षिपन् सः उद्यमी तदीयदाक्षिण्यम् अवाप्तुं शिरः अपि उपायनीकृत्य अम्बरं विशन् अनूरुणा सारथिना विलोकितः ॥ ६८ ॥

दाहिनी बाँह कट जाने पर रक्तदृष्टि से देखते हुए अंगरक्षक ने जीवमाहला की दुष्टता को धिक्कारते हुए तथा उसके दाक्षिण्य को (युद्ध में उदारतापूर्ण मनस्विता को) प्राप्त करने के लिए परिश्रमपूर्वक अपने शिर की भेंट चढ़ाकर आकाश में प्रवेश करता हुआ सूर्य के सारथी अनूरु (जाँघविहीन) अरुण द्वारा देखा गया। [शास्त्रोक्ति है कि युद्ध में वीरगति पानेवाला सूर्यमण्डल को भेदकर ब्रह्मलोक को चला जाता है—'द्वाविमौ पुरुषौ राजन् सूर्यमण्डलभेदिनौ। परिव्राड् योगयुक्तोऽसौ रणे चाभिमुखं हतः।] ॥ ६८ ॥

चमूपतेस्तच्छिविकाधृतं वपुः समुह्यमानं समवेक्ष्य सत्वरम् ।
हठाच्चमत्कृत्य कृपाणविद्युता ररक्ष शम्भु र्जयलक्ष्य तच्छिरः ॥ ६९ ॥

शिविकाधृतं समुह्यमानं चमूपतेः तत् वपुः सत्वरं कृपाणविद्युता हठात् चमत्कृत्य जयलक्ष्म तच्छिरः शम्भुः ररक्ष ॥ ६९ ॥

अफजल खान को पालकी में सुला कर कहारों द्वारा ले जाते हुए देखकर हठपूर्वक तुरन्त अपनी बिजली जैसी तलवार से चमत्कृत करते हुए छत्रपति के अंगरक्षक 'शम्भु' ने शिर को विजयोपहार के रूप काट कर अलग रख दिया ॥ ६९ ॥

रणाग्रहो भैरवनादभङ्कृतो विधूय तन्द्रां सहसा व्यबुध्यत।
सुदारुणः क्रन्दनहुङ्कृतिस्वनैर्विकीर्णमूर्धक्षतजाभिषेकवान् ॥ ७० ॥

भैरवनादशंकृतः क्रन्दनहूंकृतिस्वनैः सुदारुणः विकीर्णमूर्धक्षतजाभिषेकवान् रणाग्रहः तन्द्राम् विधूय सहसा व्यबुध्यत ॥ ७० ॥

और फिर भयंकर युद्ध आरम्भ हो गया। प्रतीत होता था कि आलस्य को दूर फेंक कर युद्ध देवता स्वय जग गया हो। वह संग्राम बड़ा हृदयविदारक था। चींखपुकार, ललकार, 'मारो काटो' आदि ध्वनियों से भरपूर था। चारो ओर कट कर विखरे हुए नर मुण्डों के रुधिर-जल से मानो युद्ध देवता ने स्नान किया हो ॥७०॥

निदाघदुर्दर्शदिनेशभास्वरां रणे महाराष्ट्रशितायसत्विषम्।
न दण्डपाणिर्यमनोऽपि तद्दिने क्षमो विसोढुं किमुतेतरे द्विषः ॥ ७१ ॥

तद्दिने रणे निदाघदुर्दर्शदिनेशभास्वरां महाराष्ट्रशितायसत्विषम् दण्डपाणिः यमनः अपि विसोढुं न क्षमः इतरे द्विषः किम् उत ॥ ७१ ॥

ग्रीष्मकाल में तपते हुए दुर्निरीक्ष्य सूर्य की भास्वर प्रभा के समान चमक-वाली महाराष्ट्र की तीखी तलवारों का, उस दिन युद्धभूमि में दण्डपाणि यमराज भी सामना करने में समर्थ नहीं हो सकते थे, दूसरे शत्रुओं की तो बात ही क्या है ॥ ७१ ॥

पदं पदं शैवलिनीतटान्तभूः प्रतिच्छदं काननमन्धभैरवम्।
क्षणं क्षणं दिङ्मुखमुत्थितायुधैर्भटावतारैरहितानभीषयन् ॥ ७२ ॥

पदं पदं शैवलिनीतटान्तभूः प्रतिच्छदम् अन्धभैरवं काननं क्षणं क्षणं दिङ्मुखम् उत्थितायुधैः भटावतारैः अहितान् अभीषयन् ॥ ७२ ॥

पद-पद पर नदी की तटभूमि से, अन्धकार भैरव वन के पत्ते-पत्ते से; क्षण-क्षण पर दिशाओं के मुख से हथियार ताने हुए वीरों का समूह निकलता हुआ झूम उठता था। उन्होंने शत्रुओं को भय से आक्रान्त कर दिया ॥ ७२ ॥

महाटवी द्रागसिपत्रतामगाच्छुभाऽपि सा वैतरणीप्रथां सरित्।
अवातरत् सौरिरिवार्यसैनिकः स्वदेशघाताघवतां कृते द्विषाम् ॥ ७३ ॥

स्वदेशघाताघवतां द्विषां कृते महाटवी द्राक् असिपत्रताम्, शुभा सा सरित् अपि वैतरणीप्रथाम् अगात्, आर्यसैनिकः सौरिः इव अवातरत् ॥ ७३ ॥

स्वदेश-विध्वंस का पाप करनेवाले शत्रुओं के लिए, उस दिन वह घना जंगल असिपत्रवन (नरक का एक वन जिसके पत्ते तलवार की तीखी धार के समान होते हैं) हो गया था, वह मनोहर सरिता भी वैतरणी (नरक की नदी) हो गयी थी तथा महाराष्ट्र का एक-एक सैनिक यमराज का स्वरूप ही हो गया था ॥ ७३ ॥

विहङ्गमोऽन्धःकणसन्निभान् रिपूञ्चिरक्षुदग्नावचिरं यथा क्षिपन्।
पतन्नपीष्टे पथि सैनिको ध्रुवं निनाय साक्ष्याय विपक्षपञ्चषान् ॥ ७४ ॥

चिरक्षुदग्नौ अन्धःकणसन्निभान् रिपून् विहङ्गमः यथा सैनिकः क्षिपन् इष्टे पथि पतन् अपि ध्रुवं विपक्षपञ्चषान् साक्ष्याय निनाय ॥ ७४ ॥

जिस प्रकार भूखा पंछी अनाज के दानों को अपनी दीर्घकालीन भूख की ज्वाला के शमन के लिए शीघ्रतापूर्वक चुगता है वैसे ही शत्रुओं को चुगता हुआ महाराष्ट्र सैनिक अभीष्ट पथ में धराशायी होता हुआ भी साक्षी के लिए शत्रुपक्षीय पाँच-छः योद्धाओं को साथ लिए जाता था। साक्षी की आवश्यकता सम्भवतः इसलिए थी कि कहीं कोई साथी ऐसा न कह दे कि बिना मारे ही निहत होकर चला आया ॥ ७४ ॥

महाङ्गकण्ठाभिनिविष्टपुष्करप्रबन्धमाचर्चितरक्तपङ्किलम्।
शृगालवध्वः सतृषोऽपि विस्मिताः स्वलौल्यमाश्वास्य शनैरवाकृषन् ॥ ७५ ॥

आचर्चितरक्तपङ्किलं महाङ्गकण्ठाभिनिविष्टपुष्करप्रबन्धं सतृषः अपि विस्मिताः शृगालवध्वः स्वलौल्यम् आश्वास्य शनैः अवाकृषन् ॥ ७५ ॥

ऊँट के गले में घुसे हुए हाथी के सूँड़ को बहते हुए रक्त से पंकिल, लथपथ देखकर विस्मय से भरी सियारिनें भूखी-प्यासी होने पर भी अपनी चपलता को संयत करके लाशों को धीरे से खींचती थीं ॥ ७५ ॥

तुरङ्गदीक्षायसमात्रसङ्गिनो जयोद्धवा वीक्ष्य निवेशसम्पदम्।
सुविस्मिता नैव विदुः प्रयोजनं रणे नवोरोजरुचां मृगीदृशाम् ॥ ७६ ॥

तुरङ्गदीक्षायसमात्रसङ्गिनः जयोद्धवाः निवेशसम्पदं वीक्ष्य सुविस्मिताः नवोरोजरुचाम् मृगीदृशाम् रणे प्रयोजनं न एव विदुः ॥ ७६ ॥

घोड़ा और हथियार मात्र को साथी बनानेवाले, विजय से उन्मत्त महाराष्ट्र सैनिकों ने सेना की छावनी में प्रवेश कर वहाँ की विपुल सम्पत्ति को देखा। किन्तु उनके विस्मय का ठिकाना न रहा जब उन्होंने छावनी में स्त्रियों का समूह भी देखा। वे नहीं जान पाये कि युद्धभूमि में नवकुचशोभामयी मृगनयनी स्त्रियों का क्या प्रयोजन है ॥ ७६ ॥

जयध्वजिन्यै श्रमसीकरश्रिये सुवर्णपाथोधरमाश्रिताम्बरम्।
प्रणन्दितुं हर्षमरुत्तरङ्गितं महेन्द्रकल्पः समवर्षयन्नृपः ॥ ७७ ॥

महेन्द्रकल्पः नृपः श्रमसीकरश्रिये जयध्वजिन्यै प्रणन्दितुं हर्षमरुत्तरङ्गितम् आश्रिताम्बरं सुवर्णपाथोधरं समवर्षयत् ॥ ७७ ॥

इन्द्र के समान उदार छत्रपति ने परिश्रम के स्वेदकणों से शोभित विजयिनी सेना के लिए उनके आनन्द को बढ़ाते हुए सोने के बादलों से भरे प्रसन्नता के पवन

से पुलकित अम्बरमयी वृष्टि की [सैनिकों को धारण करनेयोग्य सुन्दर परिधान तथा धन वितरित किया गया—शत्रु की छावनी में जो विपुल सुवर्ण तथा वस्त्रादि का भाण्डार सुरक्षित था उसका अधिकांश वितरित कर दिया गया।] ॥ ७७ ॥

विशल्यनिर्मृष्टशितायुधव्यधे प्रहाररेखैव वयस्सखी हृदि।
विलोकिता पौरुषनन्दितोत्सवा स्वदेशवीरैरिव कीर्तिकौमुदी ॥ ७८ ॥

विशल्यनिर्मृष्टशितायुधव्यधे हृदि वयस्सखी पौरुषनन्दितोत्सवा प्रहाररेखा एव कीर्ति-कौमुदी इव स्वदेशवीरैः विलोकिता ॥ ७८ ॥

कुशल वैद्यों ने व्रणरोपणादि द्वारा घायल सैनिकों को नीरोग कर दिया, घाव भर गये। केवल प्रहार की निशान-रेखा जीवनसङ्गिनी के समान छाती पर दिखायी पड़ती थी। स्वदेश-वीरों ने पुरुषार्थ को आनन्दित करनेवाली उस प्रहार-रेखा को (चिह्न को) यश की चाँदनी के समान आदर दिया ॥ ७८ ॥

अपज्जलप्राणपतात्रणा सह दुरन्तशङ्काभयसम्मरक्षणः।
विवृद्धचीत्कारकदर्थितश्रुतिं भुवं विहायाश्रयदाननं दिशाम् ॥ ७९ ॥

अपज्जलप्राणपतत्रिणा सह दुरन्तशङ्काभयसम्मरक्षणः विवृद्धचीत्कारकदर्थितश्रुतिं भुवं विहाय दिशाम् आननम् आश्रयत् ॥ ७९ ॥

सेनापति अफजल खान के प्राणपखेरू के साथ ही भय, शंका, संशय से पूर्ण वह क्षण भी, अफजल खान के अनाचार से जन्य पीड़ा, विलाप, चीत्कार आदि क्लेशों से उद्विग्न कर्णकुहरोंवाली पृथिवी को छोड़कर दिशाओं के मुख में समा गया। [अफजल खान के साथ ही उसके द्वारा उत्पन्न शंकाकुल क्षण तथा उसके अत्याचारों की भी इतिश्री हो गयी।] ॥ ७९ ॥

व्यपेतरागेव पयस्विनी शनैस्तरङ्गसन्तानितनृत्यपद्धतिः।
विहङ्गमान् क्रव्यभुजो महोत्सवान् समादिशद् गन्तुमिवाब्धिरोधसि ॥ ८० ॥

तरङ्गसन्तानितनृत्यपद्धतिः पयस्विनी व्यपेतरागा इव शनैः क्रव्यभुजः महोत्सवान् विहङ्गमान् अब्धिरोधसि गन्तुम् इव समादिशत् ॥ ८० ॥

इस रणोद्यम से सर्वथा निर्लिप्त, अनासक्त, अपनी तरङ्गमालाओं द्वारा नृत्य का अनुशीलन करती हुई नदी मांसभक्षी, हर्ष मनानेवाले पक्षियों को रात बिताने के लिए उनके समुद्रतटवर्ती आवास वृक्षों पर जाने के लिए मानो आदेश दे रही थीं ॥ ८० ॥

शनैः समुत्थाय तटान्तकाननाद् गते रवौ ध्वान्तमनोरथोत्सवः।
अलक्षितारम्भपदोऽप्यकल्पयत् प्रगाढधूमोदितमण्डपं भुवः ॥ ८१ ॥

रवौ गते तटान्तकाननात् शनैः समुत्थाय अलक्षितारम्भपदः अपि ध्वान्तमनोरथोत्सवः भुवः प्रगाढधूमोदितमण्डपम् अकल्पयत् ॥ ८१ ॥

सूर्यास्त के साथ ही तटीय वनप्रान्त से धीरे से उठकर अन्धकार ने उद्दाम कामना से बिना अपने पदक्रम स्पष्ट किये (अन्धकार की वृद्धि का क्रम अबाध होकर भी अलक्षित ही था) । उसने क्रमशः पृथ्वी के लिए घने धूमजाल से मानो मण्डप ही निर्मित कर दिया [चारों ओर अन्धकार फैल गया, प्रतीत होता था कि पृथ्वी के लिए धूयें का राजमहल निर्मित हो गया है ।] ॥ ८१ ॥

इतस्ततः सञ्चरतां वनौकसां निसर्गनिस्स्पन्दितपद्धतावपि ।
तलस्थिताः कातरमर्मरध्वनिं विवर्णपर्णप्रचया वितेनिरे ॥ ८२ ॥

इतस्ततः सञ्चरतां वनौकसां निसर्गनिस्स्पन्दितपद्धतौ अपि तलस्थिताः विवर्णपर्णप्रचयाः कातरमर्मरध्वनिं वितेनिरे ॥ ८२ ॥

इधर-उधर घूमनेवाले बनैले पशुओं की प्रायः निश्शब्द पड़ती हुई पदपंक्ति के होते भी पैरों के नीचे पड़ी हुई सूखे पत्तों की ढेरी कातरतापूर्ण मर्मर ध्वनि का विस्तार कर रही थी ॥ ८२ ॥

दिगन्तपर्यस्तधरातलाजिरे वनान्तझिल्लीविरलस्वनाञ्चिते ।
तुषारसङ्घातजडीभवत्तनुः शरीरिणी नीरवता दधौ पदम् ॥ ८३ ॥

वनान्तझिल्लीविरलस्वनाञ्चिते दिगन्तपर्यस्तधरातलाजिरे शरीरिणी तुषारसंघातजडीभवत्तनुः नीरवता पदं दधौ ॥ ८३ ॥

दिगन्त तक चारो ओर फैले हुए पृथ्वीतल पर जहाँ वनप्रान्त से झिल्ली की मन्द ध्वनि झंकृत हो रही थी, वहीं तुषार के संघात से शीतल हो रहे शरीरवाली नीरवता (निस्तब्धता) ही सशरीर विद्यमान थी [यद्यपि सुदूर में झिल्ली की क्षीण, विरल झङ्कार सुनायी दे जाती थी फिर भी पृथिवी पर नीरवता का साम्राज्य था ।] ॥ ८३ ॥

इत्थमुल्लङ्घ्य दुस्तीर्णं द्विषत्पाथोधिभैरवम् ।
आशामास्थापयद्वीरो निश्शङ्के लोकमानसे ॥ ८४ ॥

इत्थं दुस्तीर्णं द्विषत्पाथोधिभैरवम् उल्लङ्घ्य वीरः निश्शङ्के लोकमानसे आशाम् आस्थापयत् ॥ ८४ ॥

इस प्रकार अत्यन्त कठिनतापूर्वक पार किये जानेवाले शत्रुरूपी भयावह समुद्र को लाँघकर वीर शिवराज ने निर्भय जनमानस में आशा को प्रतिष्ठित किया ॥ ८४ ॥

उच्चैस्तमं शिखरमङ्कितुमार्यवृत्तेर्लक्ष्यस्थतारकदृशः पदपङ्क्तिसिद्ध्या ।
दण्डेन वारितशठस्खलनस्य मार्गे भूयात् पदस्थितिरसौ प्रथमोदयाय ॥८५॥

पदपङ्क्तिसिद्ध्या उच्चैस्तमं शिखरम् अङ्कितुं लक्ष्यस्थतारकदृशः दण्डेन वारितशठस्खलनस्य आर्यवृत्तेः मार्गे असौ पदस्थितिः प्रथमोदयाय भूयात् ॥ ८५ ॥

लक्ष्य पर दृष्टितारक को केन्द्रित किये हुए, दण्ड द्वारा पैरों की फिसलन को निवारित करनेवाले, अभ्युदय के उच्चतम शिखर को अपनी पदपंक्ति की सिद्धि से (पैरों के निशान से) अंकित करने की कामना के मार्ग में आर्यचरित, छत्रपति महाराज की वह प्रथम पदस्थिति (अफजल खान पर विजय द्वारा प्रथम पद-आरोपण) उदय के लिए मंगलमय होवे [पर्वतारोही अपने हाथ में दण्ड लिए रहता है जिससे वह फिसलने से बचकर पैर टिकाने में समर्थ होता है। राजा उच्छृंखलता को दण्ड द्वारा संयत करता है। इस प्रकार एक-एक कदम आगे बढ़नेवाले यात्री के लिए प्रथम पद की स्थिति ही महत्त्वपूर्ण होती है। छत्रपति के जीवन में भी अफजल खान की पराजय प्रथम सम्मानपूर्ण घटना थी। अब तक क्षत्रपति के प्रयासों को शत्रु तथा मित्र दोनों ही विशेष महत्त्व नहीं देते थे क्योंकि बीजापुर सल्तनत का आतंक सर्वोपरि था। इस कृत्य ने बीजापुर के महत्त्व को उखाड़कर फेंक दिया।] ॥ ८५ ॥

इति श्रीत्रिपाठ्युपाह्वेन उमाशङ्करशर्मणा विरचिते
क्षत्रपतिचरित-महाकाव्ये अष्टमः सर्गः ।

अथ नवमः सर्गः

ततः प्रभारुणीकृते सुरेशदिग्वधूमुखे
विभातवारिजोपमाक्षितारकाभिनन्दिनः ।
चमूं कषायवर्णवर्णितध्वजाभिमानिनीं
व्यलोकयन् क्षणोद्धताः शिवस्य सङ्गिनीं द्विषः ॥ १ ॥

ततः सुरेशदिग्वधूमुखे प्रभारुणीकृते विभातवारिजोपमाक्षितारकाभिनन्दिनः क्षणोद्धताः द्विषः कषायवर्णवर्णितध्वजाभिमानिनीं शिवस्य सङ्गिनीं चमूं व्यलोकयन् ॥ १ ॥

तब प्रातःकालीन प्रकाश से पूर्व दिशा के लाल हो जाने पर प्रभातकालीन कमल के समान विकसित हर्षविभोर आँखोंवाले शत्रुओं ने भगवाध्वज से सुशोभित, शिवाजी महाराज की सेना को देखा ॥ १ ॥

मितं विविच्य तद्बलं सहेलमुद्यतायुधा
रणादरं दरेङ्गितेन चक्षुषानुबिभ्रतः ।
जनित्रपाक्षपावसानमात्मनो मनोरथं
विधिप्रदर्शितं पुरो निरीक्ष्य ते दधुस्त्वराम् ॥ २ ॥

तद्बलं मितं विविच्य सहेलम् उद्यतायुधाः दरेङ्गितेन चक्षुषा रणादरम् अनुबिभ्रतः ते आत्मनः जनित्रपाक्षपावसानं मनोरथं पुरः विधिप्रदर्शितं निरीक्ष्य त्वरां दधुः ॥ २ ॥

शत्रुओं ने क्षत्रपति महाराज की अल्पसंख्यक सेना को देखकर गर्वपूर्वक हथियारों को उछालते हुए आँख के संकेत से अपने दलवालों को युद्धानुराग सूचित किया। उन्हें प्रतीत हुआ कि पराजय के कारण उनके पौरुष पर लगे हुए कलंक के धुल जाने का सुयोग उन्हें मिल गया है। वे मराठों की सेना की ओर दौड़ पड़े ॥ २ ॥

स्रवन्मदार्क्तगण्डमण्डलेमकुम्भभेदिनि
मृगाधिपे दुरन्तफेरुसंख्ययाऽपि किं फलम् ।
अवैतु कौशिकस्तमोहतं दिनेशमण्डलं
लघुप्रदीपतेजसाऽपि किं तमो न हन्यते ? ॥ ३ ॥

स्रवन्मदार्क्तगण्डमण्डलेमकुम्भभेदिनि मृगाधिपे दुरन्तफेरुसङ्ख्यया अपि किं फलम् ? कौशिकः सवितृमण्डलं तमोहतम् अवैतु (किन्तु) तमः लघुप्रदीपतेजसा अपि न हन्यते किम् ? ॥ ३ ॥

अपने कपोलप्रदेश से मदधार बरसानेवाले मत्त गज के कुम्भस्थल को फाड़ देनेवाले सिंह के सामने गीदड़ों की विशाल संख्या से भी क्या लाभ है ! उल्लू भले

ही माने कि अन्धकार की सेना ने सूर्यमण्डल को निगल लिया, किन्तु छोटे से दीपक के प्रकाश के सामने भी क्या अन्धकार टिक सकता है ? ॥ ३ ॥

निरन्तरोद्धतारिशोषितार्यभूमिवारिदाः
स्वदेहदानतोऽपि जन्यसिन्धुजामनोरथाः ।
महाबलावलेपलुप्तचेतसो विचिन्य तान्
धृतग्लहा रिरक्षवोऽभितो नृपं स्थितिं दधुः ॥ ४ ॥

निरन्तरोद्धतारिशोषितार्यभूमिवारिदाः स्वदेहदानतः अपि जन्यसिन्धुजामनोरथाः तान् महाबलावलेपलुप्तचेतसः विचिन्त्य नृपं रिरक्षवः धृतग्लहाः अभितः (नृपं) स्थितिं दधुः ॥ ४ ॥

उद्दण्ड शत्रु से बार-बार प्रतापित आर्यभूमि के मेघ, अपनी देह की चिन्ता से मुक्त होकर युद्ध की इच्छावाले महाराष्ट्र सैनिकों ने विशाल सैन्यबल के गर्व में बेसुध शत्रुओं को देखकर आपस में होड़ लगाकर क्षत्रपति की रक्षा के लिए उन्हें चारों ओर से घेर लिया ॥ ४ ॥

तुरुष्कवाहिनीजयैकहेतुरुत्पथावधि-
श्चलत्तरङ्गरिङ्गणोच्छलत्प्रवाहभैरवा ।
स्वदेशकीर्तिरक्षिणस्तटद्रुमानिव प्लवे
निमज्जितुं गभीरगर्जितस्वनाशु तत्वरे ॥ ५ ॥

जयैकहेतुः उत्पथावधिः चलत्तरङ्गरिङ्गणोच्छलत्प्रवाहभैरवा गभीरगर्जितस्वना तुरुष्कवाहिनी स्वदेशकीर्तिरक्षिणः तटद्रुमान् इव प्लवे निमज्जितुम् आशु तत्वरे ॥ ५ ॥

विजय के लिए बीजापुर की वह सेना जो गर्व से अनियंत्रित नदी के समान चंचल लहरों से क्षुब्ध प्रवाह के कारण भयंकर थी, मातृभूमि के रक्षकों को किनारे के वृक्षों के समान अपनी बाढ़ में डुबो देने के लिए घनघोर गर्जन के साथ आगे बढ़ी ॥५॥

समिद्धिधानभीमतामवेक्ष्य भूभृते तदा
चमूपतिर्न्यवेदयद् विहस्य भैरवाकृतिः ।
प्रभो ! यदर्थमार्यजा वृणोति पुत्रिणीपदं
तदागतो जयस्व देव ! तत्क्षणः समागतः ॥ ६ ॥

तदा समिद्धिधानभीमताम् अवेक्ष्य भैरवाकृतिः चमूपतिः विहस्य भूभृते न्यवेदयत्, प्रभो, आर्यजा यदर्थं पुत्रिणीपदं वृणोति तत् आगतः, तत्क्षणः समागतः, देव, जयस्व ॥ ६ ॥

युद्ध की भीषणता का विचार कर सेनापति ने हँसकर छत्रपति महाराज से कहा,—राजन् ! आर्यकन्या जिस लिये पुत्र प्राप्त करने की इच्छा करती है, वह समय आ गया, महाराज, आप की जय हो, वह अवसर आ गया ॥ ६ ॥

अनुग्रहैस्सदा सभाजयन्नपीश ! किं मया
कदा प्रसादितोऽसि जन्मदुर्लभेन कर्मणा ।
तदद्य कालकालताण्डवैकचेतसो मम
प्रणाममम्बुजाङ्घ्रिचुम्बितं गृहाण भूपते ॥ ७ ॥

ईश ! अनुग्रहैः सदा सभाजयन् अपि किं मया कदा जन्मदुर्लभेन कर्मणा प्रसादितः असि ? भूपते, तत् अद्य कालकालताण्डवैकचेतसः मम अम्बुजाङ्घ्रिचुम्बितं प्रणामं गृहाण ॥ ७ ॥

प्रभो ! आपने सदैव अनेकविध अनुग्रहों से मेरा सम्मान किया है, किन्तु मैंने कभी किसी विशेष दुर्लभ कर्म द्वारा आपको प्रसन्न नहीं किया । आज मृत्यु के भीषण ताण्डव की कामनावाले मेरा इन चरणकमलों में प्रणाम स्वीकार करें ॥ ७ ॥

अहं चमूपतिस्तदादिशामि याहि सत्वरं
बलार्धरक्षि-रक्षितो विशालदुर्गवर्त्मनि ।
निरापदाश्रयोत्तरं दिगन्तवेधिनिस्वनं
निदेशमेव पालयन् स्थितोऽस्मि कालदुर्जयः ॥ ८ ॥

तत् अहं चमूपतिः आदिशामि, बलार्द्धरक्षिरक्षितः विशालदुर्गवर्त्मनि सत्वरं याहि, निरापदाश्रयोत्तरं दिगन्तवेधिनिस्स्वनम् एव निदेशं पालयन् कालदुर्जयः स्थितः अस्मि ॥ ८ ॥

मैं सेनापति हूँ, मेरी आज्ञा है कि आप आधी सेना के साथ सुरक्षित हो विशाल दुर्ग का रास्ता पकड़ें । निरापद किले में पहुँच जाने के फलस्वरूप वहाँ से की गयी दिगन्तभेदी (तोपों की) आवाज को आदेश के रूप में मानता हुआ मैं यहाँ पर मृत्यु को चुनौती देता हुआ स्थिर हूँ ॥ ८ ॥

मृषावचोभिरात्मदेवता न दूषिता मया
न तद् विकत्थनाग्रहेण दूषयेऽन्तिमक्षणम् ।
बिभर्तु पुष्पमम्बरं शशो विषाणमावहेत्
परं स्वयं शिवोऽपि लङ्घितुं न मामिह स्थितम् ॥ ९ ॥

मया मृषावचोभिः आत्मदेवता न दूषिता तत् अन्तिमं क्षणं विकत्थनाग्रहेण न दूषये । अम्बरं पुष्पं बिभर्तु, शशः विषाणम् आवहेत् परं स्वयं शिवः अपि इह स्थितं मां लङ्घितुं न ॥ ९ ॥

राजन् ! झूठ बोलकर कभी भी मैंने अन्तरात्मा को कलंकित नहीं किया तो आज इस अन्तिम समय में डींग मारकर स्वभाव को दूषित न करूँगा । अस्तु, आकाश में फूल भले ही उगें, खरहे के शिर पर सींग निकल आये किन्तु यहाँ स्थित मुझे स्वयं शिव भी (आप भी) हटा नहीं सकते ॥ ९ ॥

उरुक्रमो द्विडेकतो निरस्तवागिह प्रभुः
तदाशु कालवेदिना विभज्य तच्चमूं द्विधा ।

मुहुर्मुहुर्निवारतो बलादिवाहवोद्यमा-
च्छिवः प्रसह्य विह्वलस्तमालिलिङ्ग रुद्धवाक् ॥ १० ॥

एकतः उरुक्रमः द्विट्, इह प्रभुः निरस्तवाक्, तत् कालवेदिना तच्चमूं आशु द्विधा विभज्य आहवोद्यमात् बलात् इव मुहुः मुहुः निवारितः रुद्धवाक् विह्वलः शिवः तं प्रसह्य आलिलिङ्ग ॥ १० ॥

उधर बलोन्मत्त शत्रु, इधर असमंजस में मौन राजा, सेनापति ने समय की माँग को जानकर तुरन्त उस छोटी सेना को दो भागों में बाँटकर प्रणामपूर्वक हर तरह से राजा को युद्धमार्ग से विरत किया। विह्वल भावातिरेक से अवरुद्ध वाणी-वाले राजा ने सेनापति को छाती से लगा लिया ॥ १० ॥

निमीलिताक्षिनिस्सृतामृताम्बुधारसिञ्चितो
बलाधिपः स्वसैनिक नवेक्षतोत्सुकः क्षणम् ।
पुनर्नगोपमस्थिरान् सपत्नसैन्यसादिनः
निरीक्ष्य निश्चयात्मधीर्जगाद रुद्रशासनः ॥ ११ ॥

निमीलिताक्षिनिस्सृतामृताम्बुधारसिञ्चितः बलाधिपः उत्सुकः सन् क्षणं स्वसैनिकान् अवैक्षत, पुनः नगोपमस्थिरान् सपत्नसैन्यसादिनः निरीक्ष्य निश्चयात्मधीः रुद्रशासनः जगाद ॥ ११ ॥

राजा की अश्रुपूरित आँखों की अजस्र धारा से नहाये हुए सेनापति ने उत्सुकतापूर्वक अपने सैनिकों को देखा, फिर पर्वत के समान खड़ी शत्रुसेना के घुड़सवारों को देखकर निश्चयात्मक स्वर में हुंकारपूर्वक बोला ॥ ११ ॥

भवत्प्रतीतिवर्तिना प्रतिश्रुतो मया नृप
स्तथापि मुक्तबन्धना निबोधतात्मपद्धतिम् ।
स्वदेशबन्धवो ! भवत्कृपाणपाणिनिर्भया
भजेयुरद्य नारिरोषवह्निहव्यतां स्त्रियः ॥ १२ ॥

भवत्प्रतीतिवर्तिना मया नृपः प्रतिश्रुतः तथापि मुक्तबन्धनाः आत्मपद्धतिं निबोधत । स्वदेशबन्धवः भवत्कृपाणपाणिनिर्भयाः स्त्रियः अद्य अरिरोषहव्यतां न भजेयुः ॥ १२ ॥

जवानो ! आप ही के बल पर मैंने क्षत्रपति महाराज के सामने प्रतिज्ञा ली है फिर भी आप इच्छानुकूल पथ चुनने के लिए स्वतन्त्र हैं। देशबन्धुओ ! आपकी तलवार की छाया में निर्भय देशनारियाँ आज शत्रु की क्रोधाग्नि में आहुति न बन जायँ ॥ १२ ॥

न के निबद्धजन्मरज्जुबन्धनासवोऽवशं
विहाय भूतलं भजन्ति दुस्तराध्वसाध्वसम् ।

विधूय देशकालपात्रकीर्तिसंस्तवं हठात्
क्व कं कदा कुतो न हन्ति कालभैरवाशनिः ॥ १३ ॥

निबद्धजन्मरज्जुबन्धनासवः के भूतलम् अवशं विहाय दुस्तराध्वसाध्वसं न भजन्ति, हठात् देशकालपात्रकीर्तिसंस्तवं विधूय कालभैरवाशनिः कं कदा क्व कुतः न हन्ति ॥ १३ ॥

जन्मरूपी डोर से निबद्ध प्राणवाला कौन व्यक्ति इस संसार को छोड़कर दुस्तर परलोक यात्रा के भय से विह्वल नहीं होता। देश, काल, पात्र, यश आदि गुणों की बरबस उपेक्षा करके कालदण्ड ने किसे कब कहाँ बिना मारे छोड़ा है ॥ १३ ॥

जनुस्सगर्भजन्मनाऽपि मृत्युना सविस्तरं
जनो निषेव्यतेऽवधार्य कालवर्त्मनिर्भयः ।
स्वदेशवैरिपातनात् स्वभूपजीवनावनात्
परोऽपि कोऽवनौ कृपाणसङ्गिनामतो विधिः ॥ १४ ॥

जनुस्सगर्भजन्मना मृत्युना अपि सविस्तरम् अवधार्य कालवर्त्मनिर्भयः जनः निषेव्यते । अतः स्वदेशवैरिपातनात् स्वभूपजीवनावनात् अपि परः अवनौ कृपाणसङ्गिनां कः विधिः ॥१४॥

जन्म के साथ ही उत्पन्न होनेवाला मृत्यु भी व्यक्ति को मृत्यु-भयरहित जानकर उसका सम्मान करता है। साथियो ! मातृभूमि के शत्रुओं का विनाश और अपने राजा के जीवन की रक्षा से बढ़कर इस पृथ्वी पर सैनिक का और क्या कर्तव्य हो सकता है ॥ १४ ॥

द्विडद्रिसम्भवापगापदुत्कटोर्मिचञ्चला-
ऽम्बुपूरसन्तराय सेतवो वयं प्रजापतेः ।
महाभटास्तदद्य विक्रमाङ्कविस्मितेक्षणान्
प्रशिक्षयन्तु जिह्मजल्पनायुषोऽसिलाघवम् ॥ १५ ॥

द्विडद्रिसम्भवापगापदुत्कटोर्मिचञ्चलाम्बुपूरसन्तराय वयं प्रजापतेः सेतवः तत् महाभटाः अद्य विक्रमाङ्कविस्मितेक्षणान् जिह्मजल्पनाजुषः असिलाघवं प्रशिक्षयन्तु ॥ १५ ॥

सैनिको ! शत्रुरूपी पर्वत से निकली, भयानक विपत्ति की लहरों से चञ्चल जल राशिवाली नदी को पार करने के लिए हम लोग क्षत्रपति के पुल हैं। योद्धाओ, आज अपने शौर्य से विस्मित नेत्रोंवाले कपटपूर्ण वाग्जाल में जीवन बितानेवाले शत्रुओं को तलवार के पानी का स्वाद चखा दीजिये ॥ १५ ॥

अनल्पपुण्यपेशला स्वदेशभूरियं हठा
दुपत्यकोभयाञ्चलेऽस्मदुष्णरक्तसिञ्चिते ।
बिभर्तु कीर्तिकौमुदीकथाभिलेखसम्पदं
युगान्तदुर्जयद्विषत्पताकिनीनिपातिनीम् ॥ १६ ॥

अस्मदुष्णरक्तसिञ्चिते उपत्यकोभयाञ्चले अनल्पपुण्यपेशला इयं स्वदेशभूः हटात् युगान्तदुर्जयद्विषत्पताकिनीनिपातिनीं कीर्तिकौमुदीकथाभिलेखसम्पदं बिभर्तु ॥ १६ ॥

अनन्त पुण्यमयी यह मातृभूमि हठपूर्वक हम लोगों के गर्म खून से सिक्त इस (गजपुर) घाटी के दोनों किनारों पर प्रलयंकर शत्रुसेना की पराजय को शुभ्र चाँदनी के समान स्निग्ध कीर्ति-अभिलेख की कथा-सम्पत्ति को धारण करे ॥ १६ ॥

अपज्जलौरसः कशाभिताडितो हयो यथा
पुरा विरोधनिष्कृतिं द्विपावलीमुपाददत् ।
स्वतातघातशोधनाकुलोऽनुकूलसम्बलः
शिवाविषह्यतापतापितोऽपि नाजहाद्धृतिम् ॥ १७ ॥

कशाभिताडितः हयः यथा अपज्जलौरसः पुरा विरोधनिष्कृतिं द्विपावलीम् उपाददत् स्वतातघातशोधनाकुलः शिवाविषह्यतापतापितः अपि अनुकूलसम्बलः धृतिं न अजहात् ॥ १७ ॥

चाबुक खाये घोड़े के समान अफजल खान का पुत्र अपने पिता की मृत्यु का बदला लेने के लिए अनुकूल सैन्य-साधन से सम्पन्न होकर, क्षत्रपति के तेज से कुण्ठित होकर भी धैर्यहीन न हुआ। यद्यपि पहले शिवाजी को हाथियों की भेंट देकर उसने अपने विरोध का मार्जन किया था ॥ १७ ॥

समुद्यमाऽध्वरानुभावभाविताजिसिन्धुजा
न कं वृणोति लक्ष्यनिर्जिताखिलात्मसम्पदम् ।
असैन्यमार्यनाथमेकदा विभाव्य सत्वरं
रुरोध पन्हलामुरङ्गमोद्यमश्चमूवृतः ॥ १८ ॥

समुद्यमाध्वरानुभावभाविता आजिसिन्धुजा लक्ष्यनिर्जिताखिलात्मसम्पदं कं न वृणोति । एकदा आर्यनाथम् असैन्यं विभाव्य उरङ्गमोद्यमः चमूवृतः सः द्रुतं पन्हलां रुरोध ॥ १८ ॥

उद्योगरूपी यज्ञ के प्रभाव से सन्तुष्ट युद्धलक्ष्मी, लक्ष्यसिद्धि के लिए अपना सर्वस्व दाँव पर लगा देनेवाले किस व्यक्ति का वरण नहीं करती ? आर्यनाथ क्षत्रपति को एक बार स्वल्प सेना से युक्त जानकर उसने (अफजल खाँ के पुत्र ने) विशाल सेना के साथ महासर्प के समान पन्हला दुर्ग को घेर लिया ॥ १८ ॥

महीध्रसानुनिश्चलाङ्घ्रयो विमुक्तबन्धनाः
शितायुधा निबद्धमण्डला निदेशवर्तिनः ।
उपत्यकार्गलानिभाः समुद्धृतासिशङ्कवो
रिपुद्विपोत्तमाङ्गभेदनाङ्कुशव्रता भटाः ॥ १९ ॥

महीध्रसानुनिश्चलाङ्घ्रयः विमुक्तबन्धनाः शितायुधाः निबद्धमण्डलाः निदेशवर्तिनः उपत्यकार्गलानिभाः समुद्धृतासिशङ्कवः रिपुद्विपोत्तमाङ्गभेदनाङ्कुशव्रताः भटाः ॥ १९ ॥

मोहपाश से मुक्त, पर्वतशिखर के समान निश्चल पदवाले, अनुशासन-प्रवण तेज शस्त्रोंवाले महाराष्ट्र सैनिकों ने घाटी के प्रवेशद्वार को अर्गला के समान अवरुद्ध कर दिया। कील के समान उठी हुई तलवारोंवाले उन वीरों ने शत्रुरूपी हाथियों के मस्तक को फोड़ने के लिए अंशुक का व्रत ले रखा था ॥ १९ ॥

मृगेन्द्रशावको मृगव्रजं प्रभञ्जनोऽम्बुदं
प्रभारथाधिरूढबालतिग्मदीधितिस्तमः ।
स्वलक्ष्यमाशुगो गरुत्मदन्वयो यथोरगं
बलाधिपः सपत्नमण्डलं व्यलोकयत्तथा ॥ २० ॥

यथा मृगेन्द्रशावकः मृगव्रजं, प्रभञ्जनः अम्बुदं, प्रभारथाधिरूढबालतिग्मदीधितिः तमः, आशुगः स्वलक्ष्यं, गरुत्मदन्वयः उरगं, तथा बलाधिपः सपत्नमण्डलं व्यलोकयत् ॥ २० ॥

जिस प्रकार मृगसमूह को सिंह, बादल को तेज हवा, अन्धकार को प्रातः-कालीन सूर्य, सर्पों को गरुड़पुत्र तथा अपने लक्ष्य को बाण देखता है, सेनापति ने शत्रु-सेना को उसी प्रकार देखा ॥ २० ॥

नभस्यकज्जलाम्बुदच्छटाः प्रतीपसैनिका
निरन्तरप्रहारधारवर्षिणो दृषन्निभे ।
भटे स्वराज्यरक्षणव्रतेऽविभेद्यवर्मणि
विलूनविग्रहाः स्वयं कथावशेषतां ययुः ॥ २१ ॥

स्वराज्यरक्षणव्रते अविभेद्यवर्मणि दृषन्निभे भटे नभस्यकज्जलाम्बुदच्छटाः निरन्तरप्रहार-धारवर्षिणः प्रतीपसैनिकाः विलूनविग्रहाः स्वयं कथावशेषतां ययुः ॥ २१ ॥

स्वराज्य-रक्षा-व्रत में दीक्षित अभेद्य कवचवाले पत्थर जैसे कठोर शरीरवाले सैनिकों पर भादों की काली घनघटा के समान शस्त्रों की अनवरत बौछारवाली शत्रु-सेना ने क्षत-विक्षत हो अपनी मृत्यु का ही वरण किया ॥ २१ ॥

ततः प्रवर्तिते समित्समुद्यमे बलाकुले
तदाद्यशस्त्रपातकौतुकं विनीय दुर्मदः ।
क्षतो निहत्य निर्हतोऽपि हेतियन्त्रणां भटो
मनागपि स्वविक्रमेऽन्वभूत्स शत्रुमर्दने ॥ २२ ॥

ततः बलाकुले समित्समुद्यमे प्रवर्तिते दुर्मदः तदाद्यशस्त्रपातकौतुकं विनीय क्षतः निहत्य निर्हतः अपि भटः हेतियन्त्रणां शत्रुमर्दने स्वविक्रमे मनाक् अपि न अन्वभूत् ॥ २२ ॥

दोनों सेनाओं के तुमुल युद्ध आरम्भ होने पर योद्धा स्पर्द्धापूर्वक लड़ने लगे, मदमाते सैनिक ने विरोधी के प्रथम प्रहार को खेल के समान झेलकर घायल होकर

भी विरोधी को यमलोक पहुँचाकर, शत्रुमर्दन के उत्साह में दिवंगत होते हुए भी प्रहार की पीड़ा का कुछ भी ध्यान न किया ॥ २२ ॥

द्विधाकृतोऽपि निर्भयं कृपाणपाणिराहवे
ननर्त शोणिताक्तवर्मसंहतोऽरिभैरवः ।
तनुत्रमेकतो विभिद्य खण्डितायुधो मुदा
समं हतेन सञ्चितं यशोदिदृक्षुरुद्ययौ ॥ २३ ॥

आहवे द्विधाकृतः अपि शोणिताक्तवर्मसंहतः अरिभैरवः कृपाणपाणिः निर्भयं ननर्त, एकतः खण्डितायुधः तनुत्रं विभिद्य मुदा हतेन समं सञ्चितं यशः दिदृक्षुः उद्ययौ ॥ २३ ॥

कहीं हाथ में तलवार पकड़े सीधे दो भागों में चीरा हुआ भी कवच के कारण सम्बद्ध धड़वाला वीर युद्ध में नाच उठा, दूसरी ओर शत्रु का कवच फाड़कर उसे सदा के लिए सुलाकर स्वयं हथियार टूट जाने के कारण स्वर्ग में अपने संचित शौर्ययश को देखने के लिए उसके साथ ही वीर ने पृथ्वी को छोड़ दिया ॥ २३ ॥

द्रुमं प्रभञ्जनः क्वचिन्न्यपातयन्महोच्छ्रितं
महीध्ररुद्धविक्रमो जहावसौ ह्रिया भुवम् ।
निहत्य पञ्चषानुपात्तशस्त्रपङ्क्तिरात्मनि
जयाभिनन्दनैरभिष्टुतो भटो द्विषत्कृतैः ॥ २४ ॥

क्वचित् प्रभञ्जनः महोच्छ्रितं द्रुमं न्यपातयत् (किन्तु) महीध्ररुद्धविक्रमः असौ ह्रिया भुवं जहौ, पञ्चषान् निहत्य आत्मनि उपात्तशस्त्रपङ्क्तिः भटः द्विषत्कृतैः जयाभिनन्दनैः अभिष्टुतः ॥ २४ ॥

कहीं आँधी ने विशाल वृक्ष को उखाड़ दिया, किन्तु पहाड़ को टकराकर भग्नदर्प हो उसने लज्जावश पृथ्वी को छोड़ दिया। पाँच-छः को अकेले मारकर हृदय में शस्त्रपंक्तियों से पूर्ण उस वीर का शत्रुओं ने जयघोष से अभिनन्दन दिया ॥ २४ ॥

गृहीतकुण्ठितासिगर्हितक्षतः स्ववक्षसि
प्रसह्य हेलया निहत्य मूढविक्रमं भटः ।
कृपाणतिग्मतां प्रकाश्य तत्क्षणं परानपि
तदीयसंस्तुतिं विवक्षुराजघान साग्रहम् ॥ २५ ॥

स्ववक्षसि गृहीतकुण्ठितासिगर्हितक्षतः भटः हेलया प्रसह्य मूढविक्रमं निहत्य कृपाणतिग्मतां प्रकाश्य तत्क्षणं परान् अपि तदीयसंस्तुतिं विवक्षुः साग्रहं आजघान ॥ २५ ॥

अपनी छाती पर कुन्द धारवाली तलवार का हास्यास्पद घात झेलकर वीर ने हँसकर उस निष्फल प्रयत्न करनेवाले आक्रामक को अपने तलवार की तीक्ष्णता जताते हुए समाप्त कर दिया, दूसरों को भी मानो तलवार की धार का परिचय देने के लिए ही उसी रास्ते पर भेज दिया ॥ २५ ॥

तडित् पपात वाहिनी ततामं कामनावशा
जहास रक्तलोचनो जवात् पताकिनीपतिः ।
उदीर्णशम्बराश्रयैन्द्रजालिकावमोहिताः
कृपाणपाणयः कबन्धका विचेरुराहवे ॥ २६ ॥

तडित् पपात, कामनावशा वाहिनी ततामं, रक्तलोचनः पताकिनीपतिः जवात् जहास, उदीर्णशम्बराश्रयैन्द्रजालिकावमोहिताः कृपाणपाणयः कबन्धकाः आहवे विचेरुः ॥ २६ ॥

बिजली गिरी, उद्दीप्त कामनाकुला सेना तमतमा उठी। रक्तनेत्र सेनापति तेजो से हँस पड़ा। प्रौढ़ शाम्बरी मायावाले ऐन्द्रजालिक के इंगित पर हाथ में तलवार लिये धड़ रणभूमि में इधर-उधर घूमने लगे ॥ २६ ॥

अहो कृपाणतिग्मता द्विधाकृतेऽपि यद्भटे
बहिर्बभार नात्मसंस्तवं ह्रियेव तत्क्षतम् ।
सविस्मयं पुनस्तथैव यावदिष्यते क्रमो
विधाय तावदेव तुल्यधर्मतां हतोऽहसत् ॥ २७ ॥

अहो कृपाणतिग्मता ! यत् द्विधाकृते अपि भटे तत् क्षतं ह्रिया इव आत्मसंस्तवं बहिः न बभार, सविस्मयं तथा एव यावत् पुनः क्रमः इष्यते तावत् एव तुल्यधर्मतां विधाय हतः अहसत् ॥ २७ ॥

तलवार की तीक्ष्णता देखिये, योद्धा दो भागों में विदीर्ण हो गया किन्तु लज्जा के मारे (विभक्त होने पर भी मरा नहीं) उस घात ने बाहर (शरीर पर) आत्म-परिचय नहीं दिया। विस्मित हो योद्धा ने जब फिर वही प्रयोग करना चाहा तभी द्विधा विभक्त वीर ने उसे समानधर्मा बनाकर हँसते हुए इहलीला समाप्त कर दी ॥ २७ ॥

श्रमाम्बुसीकराञ्चितासृगुत्करच्छटोल्लसन्-
मुखेन भैरवोऽपि साम्परायिकश्रियार्थितः ।
स्वजीवितैकसम्पदामिनन्द्य तामनिन्दितां
त्रिविष्टपाङ्गनादृगुत्सवोत्सुकोऽभवद् भटः ॥ २८ ॥

श्रमाम्बुसीकराञ्चितासृगुत्करच्छटोल्लसन्मुखेन भैरवः अपि साम्परायिकश्रिया अर्थितः भटः स्वजीवितैकसम्पदा ताम् अनिन्दिताम् अभिनन्द्य त्रिविष्टपाङ्गनादृगुत्सवोत्सुकः अभवत् ॥२८॥

पसीने की बूँदों से मिश्रित रक्त के छींटों से उल्लसित मुख के कारण भयानक किन्तु युद्धलक्ष्मी द्वारा प्रार्थित भट ने उस अनिन्दिता का अपने प्राणरूपी सम्पत्ति के द्वारा अभिनन्दन किया। स्वर्ग-सुन्दरियों की अपने ऊपर निर्निमेष पड़ती हुई आँखों की मोहिनी में वह सुध-बुध खो बैठा ॥ २८ ॥

स्वनामघोषरोषरोषितारिविद्धवक्षसो
महासिलेखनी लिलेख तत्प्रयाणमादरात् ।
हया हयैर्महासयो महासिभिर्भटा भटै-
र्निचख्नुगात्मविक्रमं वृतग्लहाः परस्परम् ॥ २९ ॥

स्वनामघोषरोषरोषितारिविद्धवक्षसः महासिलेखनी आदरात् तत्प्रयाणं लिलेख । हयाः हयैः, महासयः महासिभिः भटाः भटैः परस्परं वृतग्लहाः आत्मविक्रमं निचख्नुः ॥ २९ ॥

नामघोषपूर्वक क्रोध से दीप्त शत्रु द्वारा विदीर्ण हृदयवाले वीर के महाप्रयाण को असिलेखनी ने आदरपूर्वक लिखा। परस्पर द्वन्द्व में घोड़े घोड़ों से, तलवारवाले तलवारवालों से तथा वीर वीरों से जूझते हुए अपनी शौर्यगाथा अंकित कर गये॥२९॥

जगर्ज वाहिनी ननर्त वाजिराजिरुद्धता
बबन्ध संहतान्त्रबन्धने स्वकण्ठमण्डजः ।
चकर्ष वर्षदुष्णरक्तसक्थि फेरुमण्डली
रुराव वृद्धगृध्रचञ्चुलुञ्चितान्यचिल्लकी ॥ ३० ॥

वाहिनी जगर्ज, उद्धता वाजिराजिः ननर्त, अण्डजः स्वकण्ठं संहतान्त्रबन्धने बबन्ध, फेरुमण्डली वर्षदुष्णरक्तसक्थि चकर्ष, वृद्धगृध्रचञ्चुलुञ्चिता अन्यचिल्लकी रुराव ॥ ३० ॥

सेना ने गर्जन किया, घोड़े हिनहिना पड़े। मांसभक्षी पक्षियों के गले में अँतड़ी की माला उलझ गयी, ताजे रक्त से लथपथ जाँघों को गीदड़ों का झुण्ड खींचने लगा। बूढ़े जटायु की चोंच से डरी चील ठनकने लगी ॥ ३० ॥

स्वमण्डलाग्रगर्वितः प्रसह्य शत्रुमण्डलं
दिदेश जीवितेशसद्मवर्त्म मावलेभटः ।
दशास्यघातलब्धनिर्विशेषकीर्तिना जनोऽ-
धिकारिमूर्धकर्तनश्रथो बलादभिष्टुतः ॥ ३१ ॥

स्वमण्डलाग्रगर्वितः मावलेभटः शत्रुमण्डलं प्रसह्य जीवितेशसद्मवर्त्म दिदेश । दशास्य-घातलब्धनिर्विशेषकीर्तिना अधिकारिमूर्धकर्तनश्रथः जनः बलात् अभिष्टुतः ॥ ३१ ॥

अपने मण्डल के अग्रभाग में गर्वपूर्वक स्थित मावले वीरों ने शत्रु सैनिकों को हठपूर्वक यमलोक का मार्ग दिखाया। दश योद्धाओं के शिर को काटने की कीर्ति-वाले वीर ने शत्रुदल के अधिकारियों को मारनेवाले योद्धा की प्रशंसा की ॥ ३१ ॥

निपीतकूलपद्धतिः प्लवोपचायसंसृति-
श्चमूर्घनस्वना स्वरंहसा भटावनीभृतः ।
पुनः पुनः प्रहृत्य सम्प्रधर्षिता पुनः पुनः
कृतार्थतामगान्न विद्रवाकुलेव वाहिनी ॥ ३२ ॥

निपीतकूलपद्धतिः प्लवोपचायसंसृतिः घनस्वना चमूः स्वरंहसा भटावनीभृतः पुनः पुनः प्रहृत्य पुनः पुनः सम्प्रधर्षिता विद्रवाकुला वाहिनी इव कृतार्थतां न अगात् ॥ ३२ ॥

बढ़ी हुई नदी जैसी तट का उल्लंघन करके बाढ़ सी फैलती घोर गर्जन करती हुई अपने वेग से चट्टान के समान दृढ़ सैनिकों से बार-बार टकराकर भी बार-बार पीछे हटती सेना भगदड़ से व्याकुल हो सफल-मनोरथ न हो पाती थी ॥ ३२ ॥

अलं श्रमेण लज्ज मूढ पश्य खड्गलाघव-
मनुस्मरात्मदेवतां हतोऽसि साधु गच्छ रे ।
जहीहि जन्यमाशु याहि वल्लभाञ्चलान्तरं
कथं न मन्यसे लभस्व तद् विलम्बसे कथम् ॥ ३३ ॥

मूढ, श्रमेण अलम्, लज्ज, खड्गलाघवं पश्य, आत्मदेवताम् अनुस्मर, साधु हतः असि, गच्छ रे, जन्यम् आशु जहीहि, वल्लभाञ्चलान्तरं याहि, कथं न मन्यसे, तत् लभस्व, कथं विलम्बसे ॥ ३३ ॥

बस-बस, श्रम मत कर, अरे मूढ ! लज्जा कर, तलवार की चपलता तो देख, जा, अपने इष्टदेव का स्मरण कर, जा, अब तू मर चुका । छोड़ भी इस रणभूमि को, प्रेयसी के आँचल में छिप जा, नहीं मानेगा ? तो ले, अब देर क्यों करता है ॥ ३३ ॥

अपेहि कातरोरसामनल्पभैरवाऽऽजिभूः
किमीहसेऽहिरोषमात्मजीवितावधिच्छिदम् ।
मृतोऽसि रक्ष कण्ठमंसलब्धवर्त्मनाऽथवा
प्रयान्ति तेऽसवः समाकुला इमे शवाधम ॥ ३४ ॥

अपेहि, कातरोरसाम् अनल्पभैरवा आजिभूः, आत्मजीवितावधिच्छिदम् अहिरोषं किम् ईहसे, कण्ठं रक्ष, मृतः असि, अथवा शवाधम ! ते समाकुलाः इमे असवः अंसलब्धवर्त्मना प्रयान्ति ॥ ३४ ॥

भाग जा, कायरों के लिए यह रणभूमि बड़ी भयंकर है । सर्प के क्रोध को मत जगा, यह तेरा जीवन समाप्त कर देगा, गला बचा, अब तू गया अथवा अरे मृतक ! कटे हुए कन्धे के रास्ते ही तेरे व्याकुल प्राण बाहर निकलें ॥ ३४ ॥

असिद्वयं करद्वये वनायुजो दृढासने
उरस्युरश्छदं शिरस्यनाहतायसं दधत् ।

अभीतिमण्डितो वधाध्वरावबोधपण्डितः
सपत्नमर्दनाय वर्धयन् स्वसैन्यविक्रमम् ॥ ३५ ॥

करद्वये असिद्वयं, दृढासने वनायुजम्, उरसि उरश्छदं, शिरसि अनाहतायसं दधत् अभीतिमण्डितः वधाध्वरावबोधपण्डितः सपत्नमर्दनाय स्वसैन्यविक्रमं वर्धयन् ॥ ३५ ॥

दोनों हाथों में दो-दो तलवारें, जाँघों के बीच में घोड़ा, छाती पर कवच, शिर पर इस्पात का बना लौहटोप, निर्भयता से अलंकृत वध-यज्ञ की प्रतिष्ठा में पण्डित शत्रुओं के विनाश के लिए अपनी सेना के उत्साह को बढ़ाता हुआ ··· ॥ ३५ ॥

बहिः पुरोऽधिपार्श्वमुच्चकैरधो निरन्तरं
विभिन्नरूपरूपितः स एक एव कालराट् ।
युगान्तकाशुशुक्षणिः सपत्नबन्धसङ्कुलं
ददाह वीरकाननं बलाधिपश्चमूपतिः ॥ ३६ ॥

बहिः पुर अधिपार्श्वम् उच्चकैः अधः निरन्तरम् एकः एव सः कालराट् विभिन्नरूप-रूपितः युगान्तकाशुशुक्षणिः चमूपतिः बलाधिपः सपत्नबन्धसङ्कुलं वीरकाननं ददाह ॥ ३६ ॥

बाहर, आगे, दोनों ओर, ऊपर-नीचे निरन्तर विभिन्न रूपों में निरूपित अकेले ही वह युगक्षयकारी महानल कालपुरुष सेनापति, शत्रुओं से भरे वीरों के जंगल को जला रहा था ॥ ३६ ॥

करालकालसन्निभं निरीक्ष्य वीतजीविता
गताः परेऽपरे विचुम्ब्य तत्कृपाणमस्पृहाः ।
अलातचक्रवाल एव यन्त्रचालितो यथा
हरन् द्विषो भरन् यशश्चचार रुद्रताण्डवः ॥ ३७ ॥

करालकालसन्निभं (तं) निरीक्ष्य परे वीतजीविताः गताः अपरे अस्पृहाः तत्कृपाणं विचुम्ब्य (गताः) । यन्त्रचालितः अलातचक्रवालः यथा एव द्विषः हरन् यशः भरन् रुद्र-ताण्डवः चचार ॥ ३७ ॥

मराठों के सेनापति को दुर्दान्त काल के समान देखकर कितने ही भय से प्राणशून्य हो गये, बहुत से अनिच्छापूर्वक हो उसकी तलवार चूमकर जीवनमुक्त हो गये । यन्त्रचालित प्रदीप्त अग्निचक्र के समान शत्रुओं को मिटाता, यश को लूटता सेनापति शंकर के ताण्डव के समान घूम रहा था ॥ ३७ ॥

शिरो निपात्य सोत्सुकं विभिद्य बाहुमश्रमं
बहिर्विपाट्य वर्मगूहितं द्विषामुरस्स्थलम् ।
स्वयं क्षताङ्गजद्रवस्रवन्निषेकसिञ्चितो
गृहीतवीरवेष एव वीरसाह्वयो रसः ॥ ३८ ॥

सोत्सुकं द्विषां शिरः निपात्य, अश्रमं बाहुं विभिद्य, वर्मगूहितम् उरःस्थलं बहिः विपाट्य, स्वयं क्षताङ्गजद्रवस्रवन्निषेकसिञ्चितः गृहीतवीरवेषः वीरसाह्वयः रसः एव (वाजीप्रभुः बासीत्) ॥ ३८ ॥

उत्सुकतापूर्वक शिर काटकर, अप्रयास बाहु अलग कर, कवचाच्छादित शत्रुओं के वक्षःस्थल को बाहर निकालकर, स्वयं प्रहार से बहते हुए खून की धारा से अभिषिक्त (सेनापति ऐसा प्रतीत हो रहा था) मानो वीररस ही वीरवेष में उतर आया हो ॥ ३८ ॥

स देशपाण्डवः स्वदेशपाण्डवः प्रतीपहा
प्रणोद्य सैनिकाननारतं हरन् द्विषत्कृषिम् ।
निकृत्तवैरिमूर्धमण्डितावनावनाकुलो
जगाद रुद्रभीषणः शवश्मशानधामनि ॥ ३९ ॥

स्वदेशपाण्डवः प्रतीपहा सः देशपाण्डवः (वाजीप्रभुदेशपाण्डे) सैनिकान् प्रणोद्य द्विषत्कृषिम् अनारतं हरन् निकृत्तवैरिमूर्धमण्डितावनौ शवश्मशानधामनि अनाकुलः रुद्रभीषणः जगाद ॥ ३९ ॥

मातृभूमि के लिए पाण्डवों सा प्रतापी वह वाजी प्रभु देशपाण्डे शत्रुओं का संहार करता हुआ, शत्रुरूपी खेती को काटता हुआ, बराबर अपनी सेना उत्साहित करते हुए निर्द्वन्द्व कटे हुए शत्रुमुण्डों से पटी पृथ्वी पर श्मशान में विचरनेवाले रुद्र की तरह बोला ॥ ३९ ॥

अदृष्टशक्तयो जये पराजये यदीश्वरा
वयं स्वपौरुषाभिनन्दिनः स्वपौरुषे क्षमाः ।
प्रतीत विक्रमानुनीतमानसाऽऽजिसिन्धुजा
दरस्मिता वृणोति सोत्सुकं महौजसं जनम् ॥ ४० ॥

जये पराजये यदि अदृष्टशक्तयः ईश्वराः, स्वपौरुषाभिनन्दिनः वयं स्वपौरुषे क्षमाः । प्रतीत, विक्रमानुनीतमानसा आजिसिन्धुजा सोत्सुकं दरस्मिता महौजसं जनं वृणोति ॥ ४० ॥

यदि अदृष्ट दैव ही जय-पराजय में समर्थ है तो हो, हम आत्मपौरुष का अभिनन्दन करनेवाले पौरुष में समर्थ हैं। विश्वास रखें, रणलक्ष्मी पौरुष से मुग्ध होकर विस्मयपूर्वक किञ्चित् मुस्कान के साथ महान् पौरुष का वरण करती है ॥ ४० ॥

स्वतन्त्रताजुषः स्वपूर्वजा दिवि स्वसन्ततीः
क्षमा न वीक्षितुं गृहीतदास्यवर्त्मनश्शुचा ।
तदद्य शोणिताञ्जलिः कुलर्षिलोकतृप्तये
निजोरसो विधीयतां स्वतन्त्रतापगातटे ॥ ४१ ॥

दिवि स्वतन्त्रताजुषः स्वपूर्वजाः गृहीतदास्यवर्त्मनः स्वसन्ततीः शुचा वीक्षितुं न क्षमाः। तत् अद्य स्वतन्त्रतापगातटे कुलर्षिलोकतृप्तये निजोरसः शोणिताञ्जलिः विधीयताम् ॥ ४१ ॥

स्वतन्त्रता के पुजारियो ! परतन्त्रता के मार्ग पर चलनेवाली अपनी सन्तति को स्वर्गस्थ अपने पूर्वज शोक के मारे देखने में भी असमर्थ हैं, तो आज पितृगणों की तृप्ति के लिए स्वतन्त्रता की नदी के इस तट पर अपने हृदय के रक्त की जलांजलि दीजिये ॥ ४१ ॥

शताब्दसेवनाग्रहं निमेषमात्रमेव वा
तदेव जीवितं यदक्षयायुषे महीयते।
अशेषसंहरोऽपि किं कृतान्तदुर्धराशनि-
रमर्त्यसेव्यमर्त्यविक्रमे क्रमाय चेष्टते ॥ ४२ ॥

शताब्दसेवनाग्रहं निमेषमात्रम् एव वा तत् एव जीवितं यत् अक्षयायुषे महीयते। अशेषसंहरः अपि कृतान्तदुर्धराशनिः अमर्त्यसेव्यमर्त्यविक्रमे क्रमाय चेष्टते किम् ? ॥ ४२ ॥

चाहे सौ वर्ष का हो या क्षणमात्र का, वही जीवन है, जो अनन्त काल तक प्रतिष्ठित रहे। ठीक है कि यमदण्ड सब कुछ विनष्ट कर देता है, किन्तु देवताओं से सेवित मानवविक्रम पर उसका क्या वश चल सकता है ! ॥ ४२ ॥

जना हि देशसम्पदोऽभिनन्दिताध्वसाधवः
स्वदेशसिद्धये तमोमहागुहापतिष्णवः।
शुभाः शुभेन कर्मणा विगर्हितेन गर्हिताः
स्वयं न केवलं नियुञ्जते स्वसन्ततीरपि ॥ ४३ ॥

स्वदेशसिद्धये तमोमहागुहापतिष्णवः अभिनन्दिताध्वसाधवः जनाः हि देशसम्पदः। शुभेन कर्मणा शुभाः विगर्हितेन गर्हिताः न केवलं स्वयं (किन्तु) स्वसन्ततीः अपि नियुञ्जते ॥ ४३ ॥

उन्नत मार्ग पर चलनेवाली जनता ही देश की वास्तविक सम्पत्ति है। वह अपने देश के कल्याणार्थ तिमिराच्छन्न गुफा में भी गिर सकती है। अच्छे कर्मों से अच्छी तथा नीच कार्यों द्वारा नीच कही जानेवाली जनता अपने साथ ही भावी सन्तानों के भाग्य को भी बाँध लेती है ॥ ४३ ॥

शमाय दासतारुजः क्षयाय दैन्यदुष्कृतेः
स्वधर्मवर्त्मसेवनाय शासनाय विद्विषाम्।
कुलाङ्गनाचरित्ररक्षणाय देशबन्धवः
स्वदेशजीवगुप्तये स्वदेहदानमोषधिः ॥ ४४ ॥

दासतारुजः शमाय दैन्यदुष्कृतेः क्षयाय स्वधर्मवर्त्मसेवनाय विद्विषां शासनाय, कुलाङ्गनाचरित्ररक्षणाय, देशबन्धवः। स्वदेशजीवगुप्तये स्वदेहदानम् ओषधिः ॥ ४४ ॥

स्वदेशवीरों ! परतन्त्रता-रोग के शमन के लिए, दैन्य-कलंक के विनाश के लिए, स्वधर्म पथ के सेवन के लिए, शत्रुजनों के दमन के लिए, कुल-नारियों के चारित्र्य की रक्षा के लिए और देश की प्राणरक्षा के लिए, आत्मबलिदान ही एक-मात्र औषधि है ॥ ४४ ॥

हिमाद्रिवक्षसो बर्हिर्विनिर्गताऽमराऽऽपगा
वियत्पथैकदीपसप्तसप्तिदीप्तदीधितिः ।
स्वपूर्वपूरुषोद्यमस्थलीयमार्यमेदिनी
विलोकयन्ति विस्मिता भटाः सहर्षमुत्सुकाः ॥ ४५ ॥

भटाः ! हिमाद्रिवक्षसः बहिः विनिर्गता अमरापगा, वियत्पथैकदीपसप्तसप्तिदीप्तदीधितिः, इयं स्वपूर्वपूरुषोद्यमस्थली आर्यमेदिनी (सर्वे) विस्मिताः उत्सुकाः सहर्षं विलोकयन्ति ॥४५॥

सैनिको ! हिमालय के हृदय से बाहर आनेवाली देवनदी गंगा, सात घोड़ों के रथवाले आकाशमार्ग के दीप सूर्य की प्रखर किरणें तथा पूर्वजों की कर्मस्थली यह आर्यभूमि, सभी विस्मित हो उत्सुकतापूर्वक आपका यह महान् संग्राम देख रहे हैं ॥ ४५ ॥

स्वतन्त्रता गृणाति नः स्वतन्त्रता धिनोति नः
त्रिलोकलोकनन्दिनी स्वतन्त्रता वृणोति नः ।
स्वधर्मवर्त्मसिद्धये स्वजन्मलक्ष्यलब्धये
स्वतन्त्रता द्विषच्छिदः स्वतन्त्रताऽऽजुहोति नः ॥ ४६ ॥

स्वतन्त्रता नः गृणाति, स्वतन्त्रता नः धिनोति, त्रिलोकलोकनन्दिनी स्वतन्त्रता नः वृणोति ! द्विषच्छिदः ! स्वधर्मवर्त्मसिद्धये स्वजन्मलक्ष्यलब्धये स्वतन्त्रता, स्वतन्त्रता नः आजुहोति ॥ ४६ ॥

स्वतन्त्रता हमारा अभिनन्दन कर रही है, स्वतन्त्रता स्नेहवर्षण कर रही है, त्रिलोकी की मनोरथ स्वतन्त्रता हमारा वरण कर रही है। शत्रुसंहारको ! अपने धर्ममार्ग की सिद्धि के लिए, मानव जन्म की लक्ष्यप्राप्ति के लिए स्वतन्त्रता हमारा आवाहन कर रही है, बुला रही है ॥ ४६ ॥

अनच्छमम्बु गाङ्गमक्षमा कदर्थिता क्षितिः
स्रवन्निरन्तरासृगाक्तविग्रहा पयस्विनी ।
कुवर्त्मवर्त्मपातितं प्रजाव्रजं क्षतं श्रुतं
समादिशन्ति साश्रुलोचना द्विषत्कुलक्षयम् ॥ ४७ ॥

अनच्छं गाङ्गम् अम्बु, कदर्थिता अक्षमा क्षितिः, स्रवन्निरन्तरासृगाक्तविग्रहा पयस्विनी, कुवर्त्मवर्त्मपातितं प्रजाव्रजं, क्षतं श्रुतम्, (सर्वे) साश्रुलोचनाः द्विषत्कुलक्षयं समादिशन्ति ॥४७॥

गंगा का दूषित जल, असहाय विपन्न पृथ्वी, निरन्तर बहनेवाले खून से लथपथ शरीरवाली गाय, कुमार्ग में गिरी प्रजा, अपमानित वेद-शास्त्र सभी आँखों में आँसू भरकर आपको शत्रुकुल के विनाश का आदेश दे रहे हैं ॥ ४७ ॥

चरित्रशीलपद्धतिः प्रतिक्षणं विपद्यते
स्वधर्ममार्गसंस्थितिर्दुनोति वञ्चिताऽनिशम् ।
कृषीवलः क्षिणोति कातरो हसन्ति लुण्ठका
इतोऽपि का विडम्बनाऽधिका जनस्य जीवतः ॥ ४८ ॥

प्रतिक्षणं चरित्रशीलपद्धतिः विपद्यते, वञ्चिता स्वधर्ममार्गसंस्थितिः अनिशं दुनोति, कातरः कृषीवलः क्षिणोति, लुण्ठकाः हसन्ति, जीवतः जनस्य इतः अपि अधिका का विडम्बना ? ॥ ४८ ॥

चरित्रशील नष्ट हो रहा है, अनवरत प्रताडित होने से सन्मार्ग की स्थिति मन को पीड़ा पहुँचा रही है, कृषक विपन्न हो रहा है, लुटेरे हँस रहे हैं। इससे अधिक जीवित व्यक्ति की और क्या विडम्बना हो सकती है ॥ ४८ ॥

चतुष्पदोऽप्युपात्तबन्धनो न मोदते यदि
गतस्पृहः समर्पितेषु काम्यभोगवस्तुषु ।
स्वयं ब्रवीतु सा मनुष्यता स्वभावमात्मनो
न बन्धनेऽपि या क्रुधा विदीर्यते न शीर्यते ॥ ४९ ॥

यदि समर्पितेषु काम्यभोगवस्तुषु गतस्पृहः उपात्तबन्धनः चतुष्पदः अपि न मोदते (तर्हि) सा मनुष्यता आत्मनः स्वभावं स्वयं ब्रवीतु या बन्धने अपि क्रुधा न विदीर्यते न शीर्यते ॥४९॥

यदि पशु भी मनोनुकूल भोगों को पाकर भी बन्धन में दुखी ही रहता है तो वह मनुष्यता जो पराधीनता में भी क्रोध से न विदीर्ण हो जाती हो, न गल पाती हो, अपने स्वभाव की व्याख्या स्वयं करे कि वह क्या है ॥ ४९ ॥

सहस्रशस्तपन्ति दूषितव्रताः शुभाङ्गनाः
सहस्रशश्शपन्ति देशषण्डतां हतप्रियाः ।
मनुप्रसूतयः सवितृनन्दना हृता न का
विदेहजाः क्षपाचरैर्गतः क्व रामविक्रमः ॥ ५० ॥

दूषितव्रताः शुभाङ्गनाः सहस्रशः तपन्ति, हतप्रियाः देशषण्डतां सहस्रशः शपन्ति, मनुप्रसूतयः, सवितृनन्दनाः ! काः विदेहजाः क्षपाचरैः न हृताः, रामविक्रमः क्व गतः ? ॥५०॥

शत्रुओं द्वारा बलपूर्वक दूषित की गयी सुन्दरियाँ हजारों की संख्या में तड़प रही हैं, प्रियजनों की हत्या से क्षुब्ध हजारों स्त्रियाँ देश को नपुंसकता को धिक्कार

रही हैं। मनु की सन्तानो ! सूर्यकुलभूषणो ! कितनी ही जनकपुत्रियों का निशाचरों ने हठपूर्वक हरण कर लिया। राम का वह दुर्धर्ष तेज कहाँ चला गया ॥ ५० ॥

स्वभावदूषकानुदायुधाः सुरानपि क्षणाद्
विजित्य पूर्वजा ररक्षुरात्मकीर्तिपद्धतिम्।
इमे निजाघमर्दिताः परस्वमोषमूषकाः
क्षणायुषस्तदाशु निष्कृतिं विदन्तु कर्मणाम् ॥ ५१ ॥

स्वभागदूषकान् सुरान् अपि क्षणात् उदायुधाः पूर्वजाः विजित्य आत्मकीर्तिपद्धतिं ररक्षुः निजाघमर्दिताः परस्वमोषमूषकाः इमे क्षणायुषः तत् कर्मणां निष्कृतिम् आशु विदन्तु ॥ ५१ ॥

पूर्वजों ने आत्माधिकार पर कुदृष्टि डालनेवाले देवताओं को भी शस्त्र लेकर पराजित करके अपनी कीर्ति-परम्परा को सुरक्षित रखा। ये अपनी ही पापलीला से ध्वस्त, दूसरों के धन को चुरानेवाले चूहे तो स्वयं आयुशेष हो गये हैं। आज ये अपने कर्मों का फल पायें ॥ ५१ ॥

यतस्व रक्षितुं स्वदेशजीवनं निरापदं-
जयस्व रक्षितुं स्वदेशजीवनं निरापदम्।
सहस्व रक्षितुं स्वदेशजीवनं निरापदं
म्रियस्व रक्षितुं स्वदेशजीवनं निरापदम् ॥ ५२ ॥

स्वदेशजीवनं निरापदं रक्षितुं यतस्व, स्वदेशजीवनं निरापदं रक्षितुं जयस्व, स्वदेशजीवनं निरापदं रक्षितुं सहस्व, स्वदेशजीवनं निरापदं रक्षितुं म्रियस्व ॥ ५२ ॥

मातृभूमि के निरापद जीवन की रक्षा के लिए प्रयत्न करो। मातृभूमि के निरापद जीवन की रक्षा के लिए विजयी बनो। मातृभूमि के निरापद जीवन की रक्षा के लिए कष्ट सहन करो। मातृभूमि के निरापद जीवन की रक्षा के लिए मर मिटो ॥ ५२ ॥

उपत्यकापथावरोधनं तदस्तु नः स्थितिः
रुपत्यकापथावरोधनं तदस्तु नो गतिः।
उपत्यकापथावरोधनं तदस्तु नो मृतिः
रुपत्यकापथावरोधनं तदस्तु नः कृतिः ॥ ५३ ॥

तत् उपत्यकापथावरोधनं नः स्थितिः अस्तु, तत् उपत्यकापथावरोधनं नः गतिः अस्तु, तत् उपत्यकापथावरोधनं नः मृतिः अस्तु, तत् उपत्यकापथावरोधनं नः कृतिः अस्तु ॥ ५३ ॥

अतः इस घाटी का मार्गावरोध ही हमारी स्थिति की सफलता है। इस घाटी का मार्गावरोध ही हमारी गति की सफलता है। इस घाटी का मार्गावरोध

ही हमारी मृत्यु की सफलता है। इस घाटी का मार्गविरोध ही हमारे कर्तृत्व की सफलता है ॥ ५३ ॥

तदाहिमालयं पयोधिकूलतो जयस्थिराः
शितायुधा यतध्वमुग्रशत्रुमूर्धलब्धये।
स्वमातरं निबद्धविग्रहामवेक्ष्य कोऽधमो
बिभर्ति भोगभङ्गुरक्षमे क्षणायुषि स्पृहाम् ॥ ५४ ॥

तत् पयोधिकूलतः आहिमालयं शितायुधाः जयस्थिराः उग्रशत्रुमूर्धलब्धये यतध्वम्। निबद्धविग्रहाम् स्वमातरम् अवेक्ष्य कः अधमः भोगभङ्गुरक्षमे क्षणायुषि स्पृहां बिभर्ति ॥ ५४ ॥

अतः समुद्रतट से लेकर हिमालय तक विजय के लिए बद्धपरिकर हो भयंकर शत्रुकुल के विनाश के लिए प्रयत्न करो। परतन्त्रता की बेड़ी में जकड़ी अपनी माँ को देखकर भी कौन अभागा क्षणिक भोगोंवाले अनित्य जीवन की लालसा पालेगा ॥ ५४ ॥

ततापतापदीधितिः पपात हेतिसंहती
रणाङ्गणे सुषुप्तिमाप शूरसैन्यपङ्क्तिः।
ररास नागनन्दनो ममाद शत्रुकम्पनः
पुरोऽमितोऽन्तरं बहिर्जहास भानुनन्दनः ॥ ५५ ॥

तापदीधितिः ततापः, हेतिसंहतिः पपात, शूरसैन्यपङ्क्तिः रणाङ्गणे सुषुप्तिम् आप, नागनन्दनः ररास, शत्रुकम्पनः ममाद, पुरः अमितः अन्तरं बहिः भानुनन्दनः जहास ॥ ५५ ॥

सूर्यकिरणें जल उठीं, शस्त्रसंघात बरसने लगा। वीरों की पंक्ति रणभूमि में ही चिरनिद्रा में सो गयी। हाथी चिग्घाड़ उठे, शत्रुमर्दन बलाधिप उन्मत्त हो उठा, बाहर-भीतर चारों ओर भानुपुत्र यमराज की हँसी गूंजने लगी ॥ ५५ ॥

ववौ समीरणः समीरयन् विभीतवल्लरी-
र्जहौ स्वदेहमोहमुद्यतासिराजिकेसरी।
ज्वलन् स्वरोषरोचिषा भटः श्रुतासिलाघवं
पुनः स्वखड्गधारशोणिताम्बुनाऽन्वकम्पयत् ॥ ५६ ॥

विभीतवल्लरीः समीरयन् समीरणः ववौ, उद्यतासिः आजिकेसरी स्वदेहमोहं जहौ, स्वरोषरोचिषा ज्वलन् भटः श्रुतासिलाघवं (जनं) स्वखड्गधारशोणिताम्बुना पुनः अन्वकम्पयत् ॥ ५६ ॥

भयभीत लताओं को स्पन्दित करता हुआ पवन चलने लगा, देह के मोह को युद्धकेसरी तलवार के धनी वीर ने छोड़ दिया। असिलाघव में विख्यात सुनकर

अपने क्रोध में जलते हुए वीर ने फिर अपनी खड्गधारा के रक्तजल से उस पर अनुग्रह किया ॥ ५६ ॥

बभावपांसुले क्षताङ्कशोभिशौर्यदुर्मदे
महाश्मशानभस्मवर्णिनीव पांसुसच्छविः ।
असृक्प्रसिक्तरेणुकर्दमच्छटातटी तनुः
स्रवन्निसर्गरक्तभैरवापगाऽवहत् क्वचित् ॥ ५७ ॥

क्षताङ्कशोभिशौर्यदुर्मदे अपांसुले पांसुसच्छविः महाश्मशानभस्मवर्णिनी इव बभौ, असृक्-प्रसिक्तरेणुकर्दमच्छटातटी तनुः क्वचित् स्रवन्निसर्गरक्तभैरवा आपगा (इव) अवहत् ॥ ५७ ॥

घाव-लगे अंगों से शोभित शौर्य-दुर्मद निष्कलंक वीर पर पड़ती हुई धूल चिता-भस्म जैसी प्रतीत हो रही थी। खून से सनी, धूल-कीचड़ में लिपटी देह मानो बराबर बहनेवाले रक्त से भयंकर नदी ही बह रही थी ॥ ५७ ॥

करालकाललेलिहानलोललालसोल्बणः
क्षणं प्रविश्य निर्गतः परावृतः क्षणं पुनः ।
असूनुपस्पृशन् लिहन् द्विधा विपाट्य विग्रहं
मुदाऽसिराबभौ परानुरागरञ्जिताधरः ॥ ५८ ॥

करालकाललेलिहानलोललालसोल्बणः क्षणं प्रविश्य निर्गतः पुनः क्षणं परावृतः विग्रहं द्विधा विपाट्य असून् उपस्पृशन् लिहन् परानुरागरञ्जिताधरः असिः मुदा आबभौ ॥ ५८ ॥

भयंकर कालसर्प के चंचल मनोरथ के समान प्रदीप्त दूसरों के अनुराग (खून) से रञ्जित ओठों-वाला खड्ग हर्ष से चमक उठा। क्षण भर में भीतर जाकर बाहर निकल आया, फिर भीतर चला गया, शत्रुओं की देह को दो भागों में चीरकर प्राणों का स्पर्श करके उन्हें चाट गया ॥ ५८ ॥

ववर्षुरग्निवालुका ननन्दुराजिकालिका
स्ततार्ड हेतिदामिनी चकाट कालयामिनी ।
तुतोष वायसो भृशं मुमोच जम्बुकः क्षुधं
श्रुतार्यवीरजृम्भिते निरन्तरं महाहवे ॥ ५९ ॥

अग्निवालुकाः ववर्षुः आजिकालिकाः ननन्दुः हेतिदामिनी ततार्ड कालयामिनी चकाट, महाहवे श्रुतार्यवीरजृम्भिते निरन्तरं वायसः भृशं तुतोष जम्बुकः क्षुधं मुमोच ॥ ५९ ॥

गर्म बालू बरसने लगा, रणचण्डियाँ झूम उठीं, शस्त्रों की बिजली तड़तड़ा उठी, कालरात्रि घिर आयी, उस भयानक युद्ध में विख्यात वीर के उन्मद होने पर कौआ परितुष्ट हो गया, गीदड़ की भूख मिट गयी ॥ ५९ ॥

क्षरत्क्षताङ्गशोणिताक्तविग्रहश्चमूपति-
र्घनस्यदावलिप्तलोहितावनिध्रसन्निभः ।
निदेशमन्त्रयन्त्रितः समित्समुद्यमार्जुनिः
सपत्नघातमात्रचेतनाचमत्कृतो बभौ ॥ ६० ॥

क्षरत्क्षताङ्गशोणिताक्तविग्रहः घनस्यदावलिप्तलोहितावनिध्रसन्निभः निदेशमन्त्रयन्त्रितः समित्समुद्यमार्जुनिः चमूपतिः सपत्नघातमात्रचेतनाचमत्कृतः बभौ ॥ ६० ॥

वर्षा की तेज धार में नहाते गेरू पर्वत के समान, घावों से बहते हुए खून से लिप्त शरीरवाला सेनापति युद्धोद्योग में अभिमन्यु के समान पुरुषार्थ करता हुआ, तोप छूटने के (महाराज के सकुशल पहुँचने के सूचक) आदेश-मन्त्र से बँधा हुआ, शत्रु के विनाश मात्र की चेतना से चमत्कृत होता हुआ सुशोभित हो रहा था ॥ ६० ॥

पिपीलिका यथाऽनुविद्धभोगिभोगमण्डले
बलाधिपे तथा प्रतीपगा वितेनुरुद्यमम् ।
स एक एव वासुकिः सुमेरुबन्धनक्षमो
हृतापदापदन्यपक्षलक्ष्यमात्मविक्रमैः ॥ ६१ ॥

अनुविद्धभोगिभोगमण्डले यथा पिपीलिकाः बलाधिपे तथा प्रतीपगाः उद्यमं वितेनुः, सः एकः एव सुमेरुबन्धनक्षमः वासुकिः हृतापत् आत्मविक्रमैः अन्यपक्षलक्ष्यम् आपत् ॥ ६१ ॥

जिस तरह व्रणयुक्त भुजंग को चींटियाँ छाप लेती हैं, सेनापति पर वैसे ही शत्रुसेना टूट पड़ी थी । अकेले ही मन्दर को लपेटने में समर्थ वासुकि नाग के समान अपने पौरुष से बाधाओं को विचूर्णित करता हुआ वह शत्रुपक्ष का लक्ष्य बना हुआ था ॥ ६१ ॥

क्व दिग्गजोपमाश्चतुर्भटाः सदैव सम्मुख-
मसंख्यकाः क्व जम्बुकाः पलायनोद्यमत्वराः ।
मुहुर्मुहुर्द्विषोऽपि शौर्यनन्दिनः स्फुटोक्तयः
ससाधुवादमार्यविक्रमप्रभामनन्दयन् ॥ ६२ ॥

सदा एव सम्मुखं दिग्गजोपमाः चतुर्भटाः क्व, पलायनोद्यमत्वराः असङ्ख्यकाः जम्बुकाः क्व, शौर्यनन्दिनः द्विषः अपि स्फुटोक्तयः मुहुः मुहुः ससाधुवादम् आर्यविक्रमप्रभाम् अनन्दयन् ॥ ६२ ॥

कहाँ तो चार दिग्गजों के समान सदा सामने तत्पर चार वीर, कहाँ भागने की चेष्टा में कुशल असंख्य गीदड़ ! बार-बार शत्रु भी वीरों की कुशलता को स्पष्ट शब्दों में सराहना करते हुए आर्य सैनिकों के प्रखर पौरुष का गुणगान करते थे ॥ ६२ ॥

पतन्तमाशु सैनिकं विलोक्य दर्पविह्वलं
दृढं कृपाणमावहन्ति यावदुद्यता द्विषः।
विलोकयन्ति विस्मितेक्षणा द्वितीयमुत्थितं
तदीयशक्तिमेव तावदाजिरागभैरवम् ॥ ६३ ॥

दर्पविह्वलं सैनिकं पतन्तं विलोक्य यावत् उद्यताः द्विषः आशु दृढं कृपाणम् आवहन्ति तावत् विस्मितेक्षणाः आजिरागभैरवं तदीयशक्तिम् एव द्वितीयम् उत्थितं विलोकयन्ति ॥ ६३ ॥

दर्पपूर्ण एक वीर को गिरते देखकर जब तक शत्रु अपनी तलवार को तौलते हैं, तब तक विस्मित हो उसी स्थान पर दूसरे वीर को युद्धरस में मत्त खड़ा हुआ देखते हैं, मानो उस दिवंगत वीर की शक्ति ही उठ खड़ी हुई हो ॥ ६३ ॥

हरन् हरन् द्विषच्छिरः स्मरन् स्मरन् नृपस्थितिं
क्षरन् क्षरन् क्षताङ्गनिस्सरत्पयोदशोणितम्।
भ्रमन् भ्रमञ्चमूपतिर्हसन् हसन् द्विषोऽस्थिरान्
पतन् पतन्नपीष्टये प्रतीपगानपातयत् ॥ ६४ ॥

द्विषच्छिरः हरन् हरन् नृपस्थितिं स्मरन् स्मरन् क्षताङ्गनिस्सरत्पयोदशोणितं क्षरन् क्षरन् भ्रमन् भ्रमन् अस्थिरान् द्विषः हसन् हसन् पतन् पतन् अपि चमूपतिः इष्टये प्रतीपगान् अपातयत् ॥ ६४ ॥

बार-बार शत्रु मस्तकों को काटता हुआ, निरन्तर महाराज की स्थिति को स्मरण करता, शस्त्रघात से भरे अंगों से खून की धारा बहाता हुआ निरन्तर झूमता, चंचल शत्रुओं पर हँसता सेनापति समर-यज्ञ की सफलता के लिए गिरता हुआ भी शत्रुओं का संहार कर रहा था ॥ ६४ ॥

मनोबलेन विक्रमं तदेव विग्रहेण वा
महासिमात्मलाघवेन लाघवं महासिना।
स्वजीवितेन वा भटान् भटैः स्वजीवमेव वा
चमूपतिः स धारयन्नवर्धयच्चमूबलम् ॥ ६५ ॥

मनोबलेन विग्रहं विग्रहेण तत् एव वा, आत्मलाघवेन महसिं महासिना लाघवं स्वजीवितेन भटान् वा भटैः स्वजीवम् एव वा धारयन् सः चमूपतिः चमूबलम् अवर्धयत् ॥६५॥

मनोबल से युद्ध को या युद्ध द्वारा मनोबल को, कला की दक्षता से तलवार को या तलवार द्वारा कला-प्रवीणता को, अपने प्राणों से सैनिकों को या सैनिकों से प्राणों को सँभालता हुआ सेनापति सेना का उत्साह बढ़ा रहा था ॥ ६५ ॥

अनूरुसारथे रथो विराममम्बरे श्रयन्
पयः पयस्विनीचलोर्मिलोलमप्यचञ्चलम्।

समीरणोऽपिविस्मयानुलीढविस्मृतोद्यम-
स्तदद्भुतं व्यलोकयन् स्वदेशबन्धुविक्रमम् ॥ ६६ ॥

अम्बरे विरामं श्रयन् अनूरुसारथेः रथः पयस्विनीचलोर्मिलोलम् अपि अचञ्चलं पयः विस्मयानुलीढविस्मृतोद्यमः समीरणः अपि तत् अद्भुतं स्वदेशबन्धुविक्रमं व्यलोकयन् ॥ ६६ ॥

आकाशमार्ग में विश्राम करते हुए सूर्य के रथ ने चंचल तरंगों से चलायमान होकर भी निश्चल भाव से नदी के जल ने, विस्मय के कारण अपनी गति को भूलकर स्थिर पवन ने भी देशबन्धु वाजीप्रभु के अद्भुत पौरुष को देखा ॥ ६६ ॥

क्व भोगलोभलम्पटाः स्वजीवमानिनोऽरयो
विसर्गमार्गदीक्षिताः क्व देशरक्षिणो भटाः ।
पतन् पतन् भृशं क्षतप्रसूतरक्तशीकरो
धराविषादपङ्कमेव यत्नतो व्यपानयत् ॥ ६७ ॥

स्वजीवमानिनः भोगलोभलम्पटाः अरयः क्व विसर्गमार्गदीक्षिताः देशरक्षिणः भटाः क्व, क्षतप्रसूतरक्तशीकरः भृशं पतन् पतन् यत्नतः धराविषादपङ्कम् एव व्यपानयत् ॥ ६७ ॥

कहाँ तो क्षपने प्राण के मोह में ग्रस्त, भोगलम्पट शत्रु और कहाँ त्याग-मार्ग के साधक देशरक्षाव्रती सैनिक। भयंकर शस्त्रघातजन्य रक्त की एक-एक बूँद गिरकर मानों पृथ्वी के शोकपंक को ही यत्नपूर्वक दूर कर रही थी ॥ ६७ ॥

चतुर्थभागमेव जीवितं विलोक्य शस्त्रिणां
निजानुजीविनां शिवानुशिक्षितो बलेश्वरः ।
विशालदुर्गपालिनीं नभश्चियं क्षणं हठात्
प्रतीक्षमाणकर्णचुम्बिचक्षुषाऽन्वरञ्जयत् ॥ ६८ ॥

निजानुजीविनां शस्त्रिणां चतुर्थभागम् एव जीवितं विलोक्य शिवानुशिक्षितः बलेश्वरः हठात् विशालदुर्गपालिनीं नभश्चियंप्रतीक्षमाणकर्णचुम्बिचक्षुषा क्षणम् अन्वरञ्जयत् ॥ ६८ ॥

अपनी सेना के चौथे भाग मात्र को ही जीवित देखकर क्षत्रपति के आदेश-पालक सेनापति ने विशालगढ़दुर्ग की दिशा में आकाश को, प्रतीक्षा करते हुए कान तक फैली दृष्टि से देखा ॥ ६८ ॥

अलाघवं करे विविच्य शस्त्रमेति गौरवं
पतत्पदं विलोक्य रोपयन्ति ते पदं द्विषः ।
प्रभो ! निदेश एव धारयत्यसून्जहत्तनून्
प्रतीक्षितस्तथापि नैव स श्रुतिं गतो ध्वनिः ॥ ६९ ॥

करे अलाघवं विविच्य शस्त्रं गौरवम् एति पतत्पदं विलोक्य ते द्विषः पदं रोपयन्ति । प्रभो, जहत्तनून् असून् निदेशः एव धारयति तथापि सः प्रतीक्षितः ध्वनिः श्रुतिं न एव गतः ॥६९॥

हाथ में शीघ्रता नहीं रही, शस्त्र भारी प्रतीत हो रहे हैं। लड़खड़ाते पैरों को देखकर वे शत्रु पैर बढ़ा रहे हैं। हे प्रभो! शरीर को छोड़ने के लिए उतावले प्राणों को महाराज का निदेश ही रोक रहा है, फिर भी वह प्रतीक्षित ध्वनि नहीं सुनायी पड़ रही है ॥ ६९ ॥

प्रतिश्रुतं स्मरन्निव प्रतीक्षितं जयन्निव
द्विषत्कुलं हरन्निव स्वसैनिकान्नयन्निव ।
समुच्छ्रितः समुज्ज्वलन् भियो दिशां विमर्दयन्
विधूर्णयन् विदग्धवर्तिदीपको रराज सः ॥ ७० ॥

प्रतिश्रुतं स्मरन् इव प्रतीक्षितं जयन् इव द्विषत्कुलं हरन् इव स्वसैनिकान् नयन् इव समुच्छ्रितः समुज्ज्वलन् दिशां भियः विमर्दयन् विधूर्णयन् विदग्धवर्तिदीपकः सः रराज ॥ ७० ॥

अपनी प्रतिज्ञा को मानो याद करता हुआ, प्रतीक्षित लक्ष्य का विजय करता हुआ, शत्रुसमूह का विनाश करता हुआ, अपने सैनिकों को बढ़ाता हुआ, ऊपर उठा हुआ, प्रकाश से दिशाओं के अन्धकार को रौंदता हुआ, महाराष्ट्र सेनापति अन्तिम लौवाले दीपक के समान घूरता हुआ शोभित हो रहा था ॥ ७० ॥

क्षरत्क्षतः स्खलत्पदः पतत्करो भ्रमन्मना
विलोलरक्तलोचनोऽर्धचेतनोऽपि लक्ष्यवित् ।
प्रणोदयन् भटान् दृशैव तादृशोऽपि वीरहा
मुहुर्दिशं व्यलोकयद् विशालदुर्गगर्विताम् ॥ ७१ ॥

क्षरत्क्षतः स्खलत्पदः पतत्करः भ्रमन्मनाः विलोलरक्तलोचनः अर्धचेतनः अपि लक्ष्यवित् वीरहा, तादृशः अपि दृशा एव भटान् प्रणोदयन् विशालदुर्गगर्वितां दिशं मुहुः व्यलोकयत् ॥ ७१ ॥

घावों से खून बह रहा है, पैर लड़खड़ा रहे हैं, हाथ शिथिल हो रहे हैं, शून्यता का झोंका मन को छू जाता है, आँखें खून-सी लाल-लाल हो गयी हैं, चेतना लुप्त हो रही है, इस दशा में भी लक्ष्यसिद्धि के मानी, शत्रुविनाशक सेनापति ने आँखों के संकेत से सैनिकों को उत्साहित करते हुए विशालगढ़दुर्गवाली दिशा की ओर फिर देखा ॥ ७१ ॥

अहो प्रभुः क्व बाधितोऽथवा कथं विलम्बितः
शतघ्निकाध्वनिः कथं न गर्जतीद्धशासनः ।
कथं नु जीवितं कलङ्क्यते मृषोद्धतप्रणै-
र्न जीवतापि यत् स्मृतं मृतेन किं तदाप्यते ॥ ७२ ॥

अहो, प्रभुः क्व बाधितः अथवा कथं विलम्बितः, इद्धशासनः शतघ्निकाध्वनिः कथं न गर्जति । मृषोद्धतप्रणैः जीवितं कथं नु कलङ्क्यते, यत् जीवता अपि न स्मृतं तत् मृतेन आप्यते किम् ॥ ७२ ॥

अहो ! महाराज कहाँ फँस गये, क्यों विलम्ब हुआ ? भैरव आदेशवाली तोप की ध्वनि क्यों मूक है ? क्या झूठे अनर्गल प्रण से यह जीवन कलंकित होगा ? हा ! जीवित रहकर जिस प्रतिज्ञाभंग का कलंक कभी नहीं लगा, वही क्या अब मरकर प्राप्त करना होगा ? ॥ ७२ ॥

हठात् स्फुरन्नरातिकालजालकोऽग्निगोलकः
पुरः पपात यावदात्मसख्यमङ्कितुं भटे ।
सुदूरतोऽपि तावदेव कर्णपूरभैरवः
श्रुतिं न्यपूरयच्छतघ्निकाध्वनिः प्रतीक्षितः ॥ ७३ ॥

अरातिकालजालकः अग्निगोलकः हठात् स्फुटन् भटे आत्मसख्यम् अङ्कितुं यावत् पुरः पपात तावत् एव सुदूरतः अपि कर्णपूरभैरवः प्रतीक्षितः शतघ्निकाध्वनिः श्रुतिं न्यपूरयत् ॥७३॥

सहसा ज्यों ही शत्रु द्वारा फेंका गया कालपाश के समान तोप का गोला सामने फटा और खड़े सैनिक पर अपनी मित्रता की छाप छोड़ना चाहा त्यों ही सुदूर से आती हुई, चिरप्रतीक्षित तोप की आवाज ने कर्ण-कुहरों को अपनी गर्जना से भर दिया ॥ ७३ ॥

अहो, अहो, श्रुतं श्रुतं पतन्नसौ महाभटो
भटान्निदेशवर्तिनो जगाद भीष्मगौरवः ।
कृतं कृतं नृपोऽधुना निरापदं विराजते
स एव सत्वरं निषेव्यतां भवद्भिरेकराट् ॥ ७४ ॥

अहो श्रुतम्, अहो श्रुतम्—(इति) भीष्मगौरवः असौ महाभटः पतन् (सन्) निदेशवर्तिनः भटान् जगाद, कृतं कृतम्, अधुना नृपः निरापदं विराजते, भवद्भिः सः एकराड् एव सत्वरं निषेव्यताम् ॥ ७४ ॥

"अहा, सुन लिया, सुन लिया," भीष्म को अक्षय कीर्तिवाले उस महावीर ने गिरते-गिरते, सैनिकों को कहा—बस, बस, काम हो गया, अब महाराज निरापद किले में विराज रहे हैं । आप लोग उन महाराज की सेना में तत्पर रहिये ॥ ७४ ॥

असुप्रसूनमेव शोणिताम्बुधारमिश्रितं
गतस्पृहं स्वदेशमातृगुप्तये प्रयच्छता ।
अनीकनायकेन साऽर्चनासृतिः प्रचारिता
स्वतन्त्रता यदेकनिष्क्रया जनेषु गीयते ॥ ७५ ॥

शोणिताम्बुधारमिश्रितम् असुप्रसूनम् एव स्वदेशमातृगुप्तये गतस्पृहं प्रयच्छता अनीकनायकेन सा अर्चनामृतिः प्रचारिता यदेकनिष्क्रया स्वतन्त्रता जनेषु गीयते ॥ ७५ ॥

रक्त-जलधार-मिश्रित, उत्सुक प्राण, पुष्पों को निर्मम हो मातृभूमि की भेंट चढ़ानेवाली उस सेनापति ने त्याग की उस परम्परा को प्रतिष्ठित किया, जिसकी उपलब्धि को ही संसार स्वतन्त्रता के नाम से सम्मानित करता है ॥ ७५ ॥

अशेषकामनादुहः समस्तसर्गसाक्षिणः
परासुगुप्तये निजानसूननन्यसन्निभः ।
प्रदित्सवो धरैकधूर्धरा इमे दधीचयः
स्वधामदेवशाखिनः शतक्रतोरपीष्टदाः ॥ ७६ ॥

परासुगुप्तये अशेषकामनादुहः समस्तसर्गसाक्षिणः निजान् असून् प्रदित्सवः अनन्यसन्निभाः धरैकधूर्धराः स्वधामदेवशाखिनः इमे दधीचयः शतक्रतोः अपि इष्टदाः ॥ ७६ ॥

चारों ओर विभासमान विश्व के साक्षी निखिल मनोरथों के साधक, अपने प्राणों को दूसरे के जीवन की रक्षा के लिए दे देनेवाले, पृथ्वी के भार को अकेले ही धारण करने में समर्थ ये दधीचिव्रती आत्मतेज से कल्पवृक्ष के समान यशस्वी, वीर इन्द्र के भी मनोरथ को पूर्ण करनेवाले होते हैं ॥ ७६ ॥

दिवौकसोऽपि यद् विहाय वैभवोत्सवावधिं
सुरासुराङ्गनासुरद्रुमस्थलीं सुरावनिम् ।
रजोमलक्षयाय यद्रजस्सु लुण्ठनस्पृहां
सदैव बिभ्रते त्रिलोकनन्दिनीयमेव भूः ॥ ७७ ॥

यत् दिवौकसः अपि वैभवोत्सवावधिं सुरासुराङ्गनासुरद्रुमस्थलीं सुरावनिं विहाय रजोमलक्षयाय यद्रजस्सु सदा एव लुण्ठनस्पृहाम् बिभ्रते इयं एव (सा) त्रिलोकनन्दिनी भूः ॥७७॥

जिस देवलोक में सुरा, सुरसुन्दरियाँ, सुरद्रुम सभी सुलभ हैं, जो भोगों की चरम सीमा है, उसे भी छोड़कर देवगण आत्ममल को नष्ट करने के लिए जिसकी धूल में लोटने की स्पृहा को हृदय में सँजोये रहते हैं, त्रिलोक को आनन्दित करनेवाली यही वह पृथ्वी (भारतभूमि) है ॥ ७७ ॥

इत्थं नृपे श्रयति दुर्गमनापदं ते शेषा बलाधिपममर्त्ययशोऽभिरामम् ।
आदाय सत्वरपदं रिपुदुर्गमार्गैः क्षेत्रं जहुर्गतभियोऽर्जितकीर्तिधन्याः ॥७८॥

इत्थं अनापदं दुर्गं श्रयति नृपे शेषाः ते अमर्त्ययशोऽभिरामं बलाधिपम् आदाय गतभियः अर्जितकीर्तिधन्याः सत्वरपदं रिपुदुर्गमार्गैः क्षेत्रं जहुः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार विशाल गढ़दुर्ग में राजा के निरापद पहुँच जाने पर, अमर-कीर्ति-विमण्डित सेनापति को लेकर बची हुई सेना ने निर्भय महान् यश को प्राप्त करते

हुए, शत्रु के लिए दुष्कर जंगली रास्ते पर जाते हुए, उस रणभूमि को छोड़ दिया ॥ ७८ ॥

बन्धे मोक्षेऽपशङ्का विधिबलमहिताः सिद्धवर्त्मानुशिष्टा
आदेशार्हप्रयत्नास्तृणमिव सहठं जीवितं ये त्यजन्ति ।
ते येषामाञ्जनेयाः सततमनुचरा मेदिनीपालकानां
तेषां रामायणीवोल्लसति जयकथा तापपाथोधिसेतुः ॥७९॥

बन्धे मोक्षे अपशङ्काः विधिबलमहिताः सिद्धवर्त्मानुशिष्टाः आदेशार्हप्रयत्नाः ये जीवितं तृणम् इव सहठं त्यजन्ति ते आञ्जनेयाः येषां मेदिनीपालकानां सततम् अनुचराः तेषां तापपाथोधिसेतुः जयकथा रामायणी (जयकथा) इव उल्लसति ॥ ७९ ॥

आजादी या कैद की चिन्ता न करनेवाले, महान् प्रयत्नवाले, सफलता के मार्ग में दीक्षित, आदेशानुरूप चेष्टावाले वीर जो प्राणों को तिनके के समान मोह-रहित हो छोड़ देते हैं, महावीर विक्रमवाले वे जिन राजाओं की सेना में सतत उपस्थित रहते हैं, उन राजाओं की जयगाथा दुख-समुद्र के सन्तरण में सेतु रामायण-कथा के समान यशस्विनी होती है ॥ ७९ ॥

इति श्रीत्रिपाठ्युपाह्वेन उमाशङ्करशर्मणा विरचिते
क्षत्रपतिचरित-महाकाव्ये नवमः सर्गः ।

अथ दशमः सर्गः

[कृतबन्धु कुलकदनो राजलक्ष्मीविलासलक्ष्मपुलकितोरस्स्थलो दिल्लीपतिरवरङ्गजीवो दक्षिणविजये वाक्षिण्यवसतिं क्षत्रपतिं स्वमनोरथकण्टकमिवावगम्य स्वमातुलं शयिताश्वखानं बहुसमरसमाराधिताभिमानं समहाबलं वैरकण्टकशोधनाय शिवशासनाय न्ययुङ्क्त—इतीतिहासः।]

अथ बन्धुकुलं कुलाभिमानी वसुमत्या विवरेषु शाययित्वा।
अवरङ्गनृपो[1]ऽपनीतभीतिः कुटिलां याम्यदिशं दिदृक्षमाणः ॥ १ ॥

अथ कुलाभिमानी अपनीतभीतिः अवरङ्गनृपः बन्धुकुलं वसुमत्याः विवरेषु शाययित्वा कुटिलां याम्यदिशं दिदृक्षमाणः ॥ १ ॥

अपने कुल की परम्परा में विश्वास करनेवाले दिल्लीपति मुगल बादशाह आलमगीर औरंगजेब अपने विरोधी भाइयों तथा अन्य बन्धुजनों को पृथ्वी के गर्भ में सदा के लिए सुलाकर निर्भय दृष्टि से कुटिल दक्षिण दिशा को देखते हुए ॥ १ ॥

बहुधा विफलोऽपि सावमानो विनियन्तुं हठरोपितं स्वचेतः।
न शशाक कशाऽऽहतो यथाश्वः परिहर्तुं परिसंस्तुतं स्ववर्त्म ॥ २ ॥

बहुधा सावमानः विफलः अपि हठरोपितं स्वचेतः विनियन्तुं कशाहतः अश्वः यथा परिसंस्तुतं स्ववर्त्म परिहर्तुं न शशाक ॥ २ ॥

अपने प्रयत्नों द्वारा दक्षिणविजय की लालसा को पूर्ण करने के प्रयास में अनेक वार अपमानपूर्वक विफल होने पर भी अपने हठी स्वभाव को संयत करने में (दक्षिणविजय से विमुख करने में) समर्थ न हो सका [बार-बार कोड़ा (चाबुक) खाने पर भी हठी घोड़ा प्रायः पहचाने हुए रास्ते को नहीं छोड़ पाता, दिल्लीपति का हठीला स्वभाव भी दक्षिणविजय के सम्बन्ध में कुछ वैसा ही था।] ॥ २ ॥

---

१. आलमगीर-औरंगजेबः-लालकिला-ताजमहल-आदिवास्तुकलाभूयिष्ठलोकविश्रुतामर्त्य-सौन्दर्यभूमीनां प्रासादानां निर्मातुः दिल्लीपतेः शाहजहानस्य तृतीयः पुत्रोऽवरंगजेबः पितरं चिरक्लेशशय्याकदर्थितं कारागारे निक्षिप्य (१६४८) दाराशिकोह-शुजा-मुरादसंज्ञकान् स्वभ्रातॄन् युद्धे कारागारे वा विविधापदेशैः निहत्य गृहीतराज्यभारो (१६४८-१७०७) भारतभुवं पालयामास। दक्षिणदिशि वर्तमानं बीजापुर-अहमदनगरराज्यद्वयं कूटनीतिजर्जरं विधाय विजित्य च महताऽऽयासेन स्वराज्यसीमाविस्तारमकरोत्, किन्तु दक्षिणचिन्ताकुला-मवेक्ष्य दिल्लीं पश्चिमोत्तरभागे स्कन्धावार(कन्दहार)भूभागं सीमान्तं बलाद् गृहीतवान् पारसीकनृपो मुघलेभ्यः।

अतिवामतयाऽपि दक्षिणाशा रुरुचे दृप्तमनोरथाय तस्मै ।
सुदृशां ललितानुषङ्गधाम्नां ध्रुवमुन्मादकरैव वक्रताऽपि ॥ ३ ॥

अतिवामतया अपि दक्षिणाशा दृप्तमनोरथाय तस्मै रुरुचे, ललितानुषङ्गधाम्नां सुदृशां वक्रता अपि ध्रुवम् उन्मादकरा एव ॥ ३ ॥

दक्षिण दिशा ने यद्यपि अपने हठ के कारण औरंगजेब की लालसा को दीर्घ-काल तक ठुकराया, उससे कतराती रही, उसकी सब कोशिशों, साम-दाम आदि उपायों को व्यर्थ कर दिया, फिर भी गर्वपूर्ण हृदयवाला बादशाह उसे प्राप्त करने के लिए अधिकाधिक उत्कण्ठित ही होता गया। सौन्दर्य की स्वाभाविक विभूति से चमकती सुन्दरियों का हठीला, अनार्जवपूर्ण स्वभाव भी, प्रेमी की प्रार्थना को ठुकराने की हृदयहीनता भी, बड़ी आकर्षक लगती है और सच्चे प्रेमी को प्रेमास्पद की कृपा के लिए उन्मत्त बना देती है ॥ ३ ॥

नवनाथसनाथिता च दिल्ली प्रभुतोद्दीप्तमदोद्धताऽभ्यसूया ।
चकमे घनमानमर्दनाय प्रतिबीजापुरसम्पदः सपत्न्याः ॥ ४ ॥

नवनाथसनाथिता प्रभुतोद्दीप्तमदोद्धताभ्यसूया दिल्ली च सपत्न्याः प्रतिबीजापुरसम्पदः घनमानमर्दनाय चकमे ॥ ४ ॥

उत्तर में दिल्ली और दक्षिण में बीजापुर दोनों मुस्लिम रियासतों में एक दूसरी के प्रति सौतियाडाह (सपत्नीसुलभ ईर्ष्या) था। दिल्ली ने नया पति पाया था, औरंगजेब को पाकर वह प्रभुत्व के उन्माद में अचेत हो रही थी। उसकी ईर्ष्या भी निर्बन्ध उफन रही थी। अपनी सौत बीजापुर की राजलक्ष्मी के मानमर्दन के लिए, बीजापुर को नीचा दिखाने के लिए, दिल्ली तड़प उठी ॥ ४ ॥

किमु लब्धपदोऽपि लुब्धकात्मा वृणुते स्वाधमवर्त्मने न रागम् ।
मधुपूरमुखोऽपि किं मृगेन्द्रः क्षतजाऽऽस्वादमुपेक्षते कदापि ॥ ५ ॥

लब्धपदः अपि लुब्धकात्मा स्वाधमवर्त्मने रागं न वृणुते किमु, मधुपूरमुखः अपि मृगेन्द्रः कदापि क्षतजाऽऽस्वादम् उपेक्षते किम् ॥ ५ ॥

अभिलषित शिकार प्राप्त करने पर भी क्या बहेलिये का मन शिकार करने से विरत हो जायेगा ? स्वभाव वस्तुतः अलङ्घ्य होता है। यदि सिंह का मुख मधु से भर दिया जाय तब भी क्या वह रक्त पीने की इच्छा की उपेक्षा करेगा ? सिंह का स्वभाव रक्त पीना है। उसे कुछ भी, उत्तमोत्तम पदार्थ भी क्यों न दिया जाय, रक्त के आस्वादन के लिए वह सदैव सचेष्ट रहेगा [औरंगजेब भले ही दिल्ली का बादशाह हो गया, किन्तु फिर भी बीजापुर को हस्तगत करने का उसका उत्साह बढ़ता ही गया। 'असन्तुष्टाः द्विजाः नष्टाः सन्तुष्टास्तु महीभृतः' इसी सत्य का कर रहा है।] ॥ ५ ॥

निजमातुलमोतुलोललीलः सठठं धीवरमात्तसैन्यजालम् ।
निदिदेश मनोरथानुबन्धे तरसा याम्यविलोभनाय जैत्रः ॥ ६ ॥

ओतुलोललीलः जैत्रः तरसा याम्यविलोभनाय आत्तसैन्यजालं धीवरं निजमातुलं सहठं मनोरथानुबन्धे निदिदेश ॥ ६ ॥

बिडाल के अनुरूप लोभपूर्ण स्वभाववाले विजयशील दिल्लीपति ने सेनारूपी महाजालवाले धीवर (कुशल, या मल्लाह) अपने मामा शयिस्ताखान को शीघ्रता-पूर्वक दक्षिण दिशा को अपने जाल में फँसाकर मनोरथ पूरा करने के लिए (दक्षिण को अपने राज्य में मिलाने के लिए) आदेश दिया ॥ ६ ॥

बहुविग्रहकौशलानुशिष्टः सहठामित्रकुलान्तरात्मवह्निः ।
नियतं [1]शयिताश्वखानवीरः प्रथितो राज्यमहाट्टभित्तिकीर्तिः ॥ ७ ॥

बहुविग्रहकौशलानुशिष्टः सहठामित्रकुलान्तरात्मवह्निः शयिताश्वखानवीरः नियतं राज्यमहाट्टभित्तिकीर्तिः प्रथितः ॥ ७ ॥

शायिस्ताखान अनेक युद्धों में अपने युद्धकौशल के प्रदर्शन के कारण अभ्यस्त हो चुके थे। वे हठपूर्वक शत्रुकुल के अन्तरात्मा को दग्ध करने के लिए आम थे। वें मुगलसाम्राज्यरूपी विशाल सौध की नींव के रूप में विख्यात थे ॥ ७ ॥

परिताप्य शिवस्थितिं सवेगं विषमीकृत्य निवेशितैश्च सैन्यैः ।
प्रबलाननिलौजसोऽपि यत्नानरुणच्छैल इवोन्नतः समीके ॥ ८ ॥

सवेगं शिवस्थितिं परिताप्य निवेशितैः सैन्यैः च विषमीकृत्य प्रबलान् अनिलौजसः यत्नात् अपि समीके शैलः इव उन्नतः अरुणत् ॥ ८ ॥

शयिस्ताखान ने वीर शिवराज की स्थिति को संकट में डालना आरम्भ किया, सैनिक महत्त्व के स्थानों पर सेना की टुकड़ियों को नियुक्त करने से उसने महाराष्ट्र-केसरी को विषम स्थिति में डाल दिया। मराठों की ओर से महान् वायु-वेगवाले प्रत्याक्रमणों को वह विशाल पर्वत के समान युद्ध में स्थिर भाव से विफल कर रहा था ॥ ८ ॥

अथ [2]चक्कणदुर्गदुर्घटाजौ द्विषदुद्धूतबलोऽपि नारसालः ।
करिकुम्भमिदुग्रकेसरीव ददृशे छिन्नकरासिरप्यबाधः ॥ ९ ॥

अथ चक्कणदुर्गदुर्घटाजौ द्विषदुद्धूतबलः अपि छिन्नकरासिः अपि नारसालः अबाधः करिकुम्भमित् उग्रकेसरी इव ददृशे ॥ ९ ॥

१. शायिस्ताखानः—मातुलो दिल्लीपतेः लब्धयशाः युद्धेषु ।
२. चाकनदुर्गसंज्ञकः शिवराजदुर्गः ।
नारसाला—चाकनदुर्गपालो विश्वस्तः शिवभूपतेः ।

चाकन दुर्ग के भयंकर युद्ध में क्षत्रपति के सेनापति नारसाल यद्यपि शत्रु के संख्याबल के कारण पराजित हो गये थे तथापि तलवार के दो खण्डों में टूट जाने पर भी अविकल, अविचल, गजराज के मस्तक को फाड़नेवाले उग्र सिंह के समान युद्ध में दिखायी दिये। हाथ कट जाने पर भी उनके शौर्य में कोई अन्तर नहीं पड़ा ॥ ९ ॥

अतिमानवशौर्यविस्मितात्मा तरसारिर्विरमय्य सैन्यवेलाम् ।
नरसालयशो जगावपूर्वं गुणवानेव गुणादरं विधत्ते ॥ १० ॥

अतिमानवशौर्यविस्मितात्मा अरिः तरसा सैन्यवेलाम् विरमय्य अपूर्वं नरसालयशः जगौ । गुणवान् एव गुणादरं विधत्ते ॥ १० ॥

वीर नारसाल के अद्भुत अतिमानवीय पराक्रम को देखकर शत्रु दाँतों तले अँगुली दबाने लगा और तेजी के साथ बढ़ती हुई मुगलसेना को तुरत रोककर मुगल सेनापति ने मुक्तकण्ठ से वीर नारसाल के अजेय अश्रुतपूर्व शौर्य का यशोगान किया। सत्य है, गुणवान् ही गुण का आदर करना जानता है ॥ १० ॥

जितमप्यजितं जिगाय नैनं सहठस्निग्धमनोरथाऽप्यरिश्रीः ।
मधुपद्मनोज्ञगन्धमुग्धः किमु जातीमलिरीहते कदापि ॥ ११ ॥

जितम् अपि अजितम् एनं सहठस्निग्धमनोरथा अपि अरिश्रीः न जिगाय, मधुपद्मनोज्ञगन्धमुग्धः अलिः कदापि जातीम् ईहते किमु ॥ ११ ॥

यद्यपि चाकन दुर्ग का पतन हो गया था तथा दुर्गपाल नारसाल अल्पसैन्यबल के कारण पराजित हो गये थे फिर भी उनका शौर्य अजेय था। उन्हें सम्मानप्रदर्शन आदि कूटनीतिक उपायों द्वारा भी शत्रु अपनी ओर आकृष्ट न कर सका। शत्रुलक्ष्मी का प्रेमपूर्ण मनोभाव भी उन्हें मोहित न कर सका। उचित भी यही है, भला मधुपूर्ण कमल के मनोज्ञ गन्ध से मुग्ध भ्रमर कहीं जाती (चम्पा) पुष्प की ओर आकर्षित हो सकता है ॥ ११ ॥

घनमासजलप्लवः ससस्यामभिभूयापि भुवं प्रभुः किमद्रौ ।
अलकाधिपतेर्मणिप्रभा वा किमु कैलासरजस्तुलामुपैति ॥ १२ ॥

ससस्यां भुवम् अभिभूय अपि घनमासजलप्लवः अद्रौ प्रभुः किम्, वा अलकाधिपतेः मणिप्रभा कैलासरजस्तुलाम् उपैति किमु ? ॥ १२ ॥

बरसात में जल का वेग हरे-भरे खेतोंवाली पृथ्वी को भले आप्लावित कर दे पर वह पर्वत का क्या कर सकता है ? अलकापति कुबेर के रत्नों की कान्ति क्या कभी महादेव के निवास से पवित्र कैलास पर्वत की धूलि की भी बराबरी कर सकती है। उसी प्रकार क्षत्रपति की सेवा में दृढ़भक्तिवाला मन क्या दिल्ली की चमक-दमक के मिथ्या व्यापार से आकृष्ट हो सकता है ॥ १२ ॥

यदि चङ्कणशिक्षितानुभावो न रिपुः प्रायतताऽन्यदुर्गरोधे ।
पृथुकोशबलक्षयो हि नूनं तदिहाऽनन्यनिमित्ततां व्यनक्ति ॥ १३ ॥

चङ्कणशिक्षितानुभावः रिपुः यदि अन्यदुर्गरोधे न प्रायतत तत् पृथुकोशबलक्षयः हि नूनम् इह अनन्यनिमित्ततां व्यनक्ति ॥ १३ ॥

[प्रायः इतिहासकार समझ नहीं पाते कि शायस्ताखान ने इतनी बड़ी सेना लेकर भी क्षत्रपति के दुर्गों को क्यों नहीं अधिकार में ले लिया, क्यों व्यर्थ समय नष्ट किया ? उसी का कारण स्पष्ट करते हुए कवि का कथन है—] चाकन के किले पर अधिकार पाने के संघर्ष में शत्रु ने कुछ तथ्यों को भली-भाँति समझ लिया और इसीलिए अन्य किलों को जीतने की कामना को शत्रु ने बरबस दबा दिया। चाकन के किले को जीतने में शत्रु को विपुल धन तथा सैनिक खोना पड़ा, साथ ही मराठों की क्षत्रपति के प्रति निष्ठा भी परीक्षित हो गयी। यही प्रधान कारण है कि सेनापति ने धन और सैनिकों को नष्ट करके किलों पर अधिकार करने का प्रयत्न छोड़ दिया ॥ १३ ॥

द्रुतमम्बरखण्डसम्पराये[1] बलमाधूय रिपोरपीष्टधामा ।
नरसालकृतज्ञतां रिरक्षन्नहितासूनजहात् समर्थशिष्यः[2] ॥ १४ ॥

इष्टधामा समर्थशिष्यः अम्बरखण्डसम्पराये द्रुतं रिपोः बलम् आधूय अपि नरसालकृतज्ञतां रिरक्षन् अहितासून् अजहात् ॥ १४ ॥

तुरन्त अम्बरखेड़ा के युद्ध में मुगलों की सेना को पराजित करके भी कीर्तिशाली, समर्थ महाराज के शिष्य क्षत्रपति ने नरसाल (चाकन) के दुर्गपाल के प्रति की गयी उदारता के कारण कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए पराजित मुगल सैनिकों को प्राणों से वियुक्त नहीं किया ॥ १४ ॥

युधि [3]पालकरः समुद्रवेलामिव शत्रुध्वजिनीं बलान्निरुद्ध्य ।
उपसीममराजतास्ततन्द्रः प्रथितः [4]कोङ्कणरक्षितेव भूभृत् ॥ १५ ॥

पालकरः युधि समुद्रवेलाम् इव शत्रुध्वजिनीं बलात् निरुद्ध्य अस्ततन्द्रः कोङ्कणरक्षिता भूभृत् इव प्रथितः उपसीमम् अराजत ॥ १५ ॥

युद्ध में कोंकण प्रदेश की रक्षा में नियुक्त मराठा सेनापति 'पालकर' ने समुद्रवेला (ज्वारभाटा) के समान आगे बढ़ती हुई मुगल सेना को बलपूर्वक रोक दिया। आलस्यविहीन, निर्भय मुद्रा में वह सीमाक्षेत्र के पास इस तरह सुशोभित हो रहा था जैसे कोंकण प्रदेश के रक्षक के रूप में कोई अजेय पर्वत हो खड़ा हो ॥१५॥

---

१. अम्बरखेड़ा—महाराष्ट्रे स्थानविशेषः । २. समर्थशिष्यः क्षत्रपतिः ।
३. पालकरे—दुर्गपालः सेनापतिः क्षत्रपतेः ।
४. कोङ्कणो महाराष्ट्रस्य भूभागविशेषः समुद्रतटे ।

अहितैर्जलदैरिवैकदेशे प्रतिरुद्धाऽपि शिवार्कसत्प्रभा सा।
अधिकोङ्कणमावभौ समुद्रात् किमियत्तामुररीकरोति तेजः ॥ १६ ॥

जलदैः इव अहितैः एकदेशे प्रतिरुद्धा अपि सा शिवार्कसत्प्रभा समुद्रात् अधिकोङ्कणम् आबभौ, तेजः इयत्ताम् उररीकरोति किम् ॥ १६ ॥

मेघमाला के समान शत्रुसेना से किसी भागविशेष में शिवरूपी सूर्य की वह प्रभा कहीं-कहीं प्रतिरुद्ध होकर भी समुद्र से कोंकण के सम्पूर्ण प्रदेश में प्रकाशित हो रही थी। भला कहीं तेज इयत्ता को (निश्चित सीमा के भीतर रहने को) सह सकता है ॥ १६ ॥

अवधूय सपत्नयत्नबाधां शिवराजानुचराः सहेलमाजौ।
अजयन् सह दुर्गकोशसैन्यैः किल पल्ली[1]वनसङ्गमेश्व[2]रादीन् ॥ १७ ॥

सपत्नयत्नबाधाम् अवधूय शिवराजानुचराः आजौ सहेलं दुर्गकोशसैन्यैः सह पल्लीवन-सङ्गमेश्वरादीन् किल अजयन् ॥ १७ ॥

शत्रु के प्रत्येक उपाय एवं सुरक्षात्मक प्रतिरोध को छिन्न-भिन्न करके क्षत्रपति के सैनिकों ने युद्ध में हठपूर्वक पल्लीवन, संगमेश्वर आदि किलों को शत्रु की सेना, खजाना आदि के साथ ही छीन लिया। मराठों ने केवल किला ही नहीं प्राप्त किया अपितु किले में सुरक्षित कोश, बल तथा शस्त्रभाण्डार आदि भी उनके अधिकार में आ गया ॥ १७ ॥

अथ[3]भार्गवतीर्थपुण्यसेवी हृदि निध्याय तमर्जुनाद्रिवज्रम्।
परितोष्य महीसुरान् प्रजेशो नवलं तोषमिवात्मनोऽनुलेभे ॥ १८ ॥

अथ भार्गवतीर्थपुण्यसेवी प्रजेशः तम् अर्जुनाद्रिवज्रं हृदि निध्याय महीसुरान् परितोष्य आत्मनः नवलं तोषम् इव अनुलेभे ॥ १८ ॥

तदनन्तर परशुराम तीर्थ में स्नान कर भक्तिपूर्वक माहिष्मतीपुरी के सहस्र-बाहु रूमी पर्वत को नष्ट करने में वज्र के समान पराक्रमवाले उस भृगुकुलभूषण परशुराम को स्मरण कर, ब्राह्मणों को दानादि एवं विनय द्वारा सन्तुष्ट करके प्रजा-पालक क्षत्रपति ने अपने भीतर एक अभिनव परितोष का अनुभव किया ॥ १८ ॥

कृतभूरिबलोद्यमोऽपि राजा शयिताश्वाऽऽधिकदर्थितस्तताम।
किमु शत्रुभरे मुदो लवोऽपि शिखिदीप्तच्छदसीव धाम्नि राज्ये ॥ १९ ॥

१.-२. पल्लीवनं संगमेश्वरश्च स्थानविशेषौ।

३. भार्गवः परशुरामः—विरहितशास्त्रमार्गान् प्रजाकण्टकान् क्षत्रियाननाचारलिप्तान् दण्डेन सन्मार्गे नियोक्तुकामो भगवान् परशुरामः कामधेनुहर्तारं तपोबलात् माहिष्मतीनरेशं सहस्रबाहुभरं गर्वोन्मदं कुठारधारेण विच्छिद्य बाहुजालं शिरोऽपि विच्छेद। इत्थं त्रिःसप्तकृत्वो हतक्षत्रियामिवाकरोत् पृथ्वीम्।

कृतभूरिबलोद्यमः अपि शयिताश्वाऽऽधिकदर्थितः राजा तताम । शत्रुभरे राज्ये शिखिदीप्तच्छदसि धाम्नि इव मुदः लवः अपि किमु ? ॥ १९ ॥

यद्यपि क्षत्रपति ने सेना द्वारा अत्यधिक प्रयास किया फिर भी शायिस्ताखानरूपी मानसिक विकलता ने उन्हें अत्यन्त उद्विग्न कर दिया। भला शत्रु से भरे राज्य में या आग को लपटों से जलती हुई छतवाले घर में आनन्द का लेश भी किसी प्रकार मिल सकता है ॥ १९ ॥

घनघर्मनिभावुभौ सदर्पं शरदीवाविरतं मिथोऽभियुक्तौ ।
क्षणमेव मनोरथं निषेव्य पुनरापात-निपातमन्वभूताम् ॥ २० ॥

शरदि मिथः अभियुक्तौ इव घनघर्मनिभौ उभौ सदर्पं अविरतं क्षणं एव मनोरथं निषेव्य पुनः आपातनिपातं अन्वभूताम् ॥ २० ॥

शरद्ऋतु में जिस प्रकार बादल और धूप स्पर्द्धा पूर्वक वलावल का प्रदर्शन किया करते हैं तथा कभी छाया और तुरत उसके पीछे सूर्य की प्रभा (धूप) एक दूसरे के पीछे दौड़ती रहती हैं (देहाती बोली में इसे घमछहियाँ—'घर्म तथा छाया'—कहते हैं) इसी तरह क्षण भर के लिए आत्ममनोरथ को प्राप्त करके फिर दूसरे ही क्षण वे दोनों उससे वञ्चित हो जाते थे। छत्रपति और मुगलों का संघर्ष 'रस्साकशी' के समान था कभी पक्ष कभी विपक्ष सफल हो जाता था ॥ २० ॥

दिननाथशहाजिसूनुधामा द्विषदम्भोधरदुर्दिनायमाना ।
गलदम्बुदृगश्रुवर्षिणीव स्वनिकारं प्रकटीचकार पृथ्वी ॥ २१ ॥

दिननाथ शहाजिसूनुधामा द्विषदम्भोधरदुर्दिनायमाना पृथ्वी गलदम्बुदृगश्रुवर्षिणी इव स्वनिकारं प्रकटीचकार ॥ २१ ॥

शाहजी भोंसले के पुत्र छत्रपति के सूर्योपम प्रकाश से युक्त होकर भी शत्रुरूपी मेघमाला से दुर्दिनायमान (वर्षा, आँधी, गर्जना आदि से विपन्न) पृथिवी वरसते हुए जल के व्यपदेश से मानों अश्रुजल की ही वर्षा करती हुई अपने दुःख को, विपन्नता को प्रकट कर रही थी ॥ २१ ॥

नहि केवलमाजिधाम्नि शत्रुर्विषमे किन्तु नयेऽपि जेतुकामः ।
शिवमन्त्रमपक्षिपन् सदर्पं कृतिनामात्मनि विस्मयं ततान ॥ २२ ॥

शत्रुः केवलं आजिधाम्नि न हि किन्तु विषमे नये अपि जेतुकामः सदर्पं शिवमन्त्रं अपक्षिपन् कृतिनां आत्मनि विस्मयं ततान ॥ २२ ॥

केवल युद्धभूमि में ही नहीं, अपितु प्रचुर साधन सम्पन्न मुगल सेनापति ने नीतिप्रयोग में भी छत्रपति को नीचा दिखाना चाहा। शिवराज द्वारा प्रयुक्त कूटनीति को प्रतिरोधी नीतियों द्वारा विफल करता हुआ विवेकियों के हृदय में भी शयिस्ताखान ने अपने उद्योग से विस्मय उत्पन्न कर दिया (वस्तुतः सैन्यशक्ति तथा

धन के कारण मुगल अनेक प्रलोभनों एवं आतंकों के द्वारा महाराष्ट्र की जनता को प्रभावित करने में सफल हो रहे थे, सबसे बड़ी बात उनके उस प्रदेश में सेना के साथ उपस्थित रहने के कारण थी, जनता का मनोबल तोड़ने के लिए शयिस्ताखान अपने धन और बल का भरपूर उपयोग कर रहा था) ॥ २२ ॥

समये विषमे हि किन्तु धीमान् तिमिरान्धे नभसीव भानुकल्पः ।
स्वजनाभ्युदयं विधित्सुरिष्टां सहसाविष्कुरुते विभातलक्ष्मीम् ॥ २३ ॥

किन्तु धीमान् विषमे हि समये भानुकल्पः तिमिरान्धे नभसि इव स्वजनाभ्युदयं विधित्सुः सहसा इष्टां विभातलक्ष्मीं आविष्कुरुते ॥ २३ ॥

किन्तु मनस्वी बुद्धिशील प्राणी कठिन समय में ही अपनी सर्ववाधाप्रशमनी, सर्वसिद्धिमयी बुद्धि का परिचय देता है तथा आत्मपक्ष का अभीष्ट कल्याण करने की इच्छा से उन्नति का मार्ग उसी प्रकार प्रशस्त कर देता है जैसे अन्धकार से भरे आकाश में सूर्य पृथ्वी निवासियों के कल्याण के लिये सहसा प्रभात वेला का अवतरण सुलभ कर देता है ॥ २३ ॥

यदि भाविनिदर्शिनी सुमेधा विधियुक्तेन सहैव विक्रमेण ।
स्थिरलक्ष्यरमोद्यमं विधत्ते नहि तत्सिद्धिमजोऽप्यलं निरोद्धुम् ॥ २४ ॥

भाविनिदर्शिनी सुमेधा यदि विधियुक्तेन विक्रमेण सह एव स्थिरलक्ष्यरमोद्यमं विधत्ते तत् सिद्धिं हि अजः अपि निरोद्धुं न अलम् ॥ २४ ॥

यदि भविष्यार्थ दर्शिनी मति प्रयत्नपूर्वक अपेक्षित विधि विधान से विक्रम का, उत्साह का आश्रय लेकर लक्ष्य सिद्धि के महान् उद्योग में संलग्न हो जाय तो उसकी अभीष्ट सिद्धि को स्वयं ब्रह्मा भी नहीं रोक सकते। आवश्यकता है भावी का तटस्थ ज्ञान तथा उसकी सिद्धि के लिए अपेक्षित साधन एवं विधि से संकल्प पूर्वक लक्ष्य सिद्धि में प्रवृत्त होना ॥ २४ ॥

शिवशैशवनन्दितानुभावं भवने न्यासमिवावति प्रसह्य ।
प्रतिसैन्यपतेर्मदोन्मदानां युवतीनां पदमाप नैशलीला ॥ २५ ॥

शिवशैशवनन्दितानुभावं न्यासं इव अवति भवने प्रसह्य प्रतिसैन्यपतेः मदोन्मदानां युवतीनां नैशलीला पदं आप ॥ २५ ॥

जिस भवन में (पूना नगर में स्थिति भवन) छत्रपति के शैशव की स्मृतियाँ धरोहर के समान सुरक्षित थीं उसी भवन में हठपूर्वक निवास करनेवाले मुगल सेनापति शयिस्ता खान के अन्तःपुर की मद राग-विह्वल युवतियों की रात्रि कालीन मधुर केलि-लीला प्रवृत्त हुई। (ज्ञातव्य है कि मुगल सेनाओं के साथ परिवार के अतिरिक्त, पेशेवर वेश्याओं गाने बजानेवालों की भी एक लम्बी संख्या आमोद-प्रमोद का साधन प्रस्तुत करने के लिए रहती थी) ॥ २५ ॥

करकन्दुककेलिसंश्लथाङ्गी प्रमदोद्यानशिलातले निषण्णा ।
न चचाल वधूः प्रियाङ्कतल्पे प्रतिबुद्धाऽपि सुषुप्तिनिस्सहेव ॥ २६ ॥

करकन्दुककेलिसंश्लथाङ्गी प्रमदोद्यानशिलातले प्रियाङ्कतल्पे निषण्णा वधूः प्रतिबुद्धा अपि सुषुप्तिनिस्सहा इव न चचाल ॥ २६ ॥

गेंद खेलने में भाग-दौड़ के कारण थककर चूर अङ्गोंवाली, प्रमदोद्यान (अन्तः-पुर के बाग) में पत्थर की पटिया पर बैठी हुई वधू, प्रियतम की गोद में आकर भी, जगी हुई भी, चुपचाप इस प्रकार पड़ी रही मानो निद्रा के लिए निस्सह, बेहाल हो गयी हो [अतिशय श्रम ने नववधू को आलस्य से निश्चेष्ट, निस्सह बना दिया।]॥२६॥

तुहिनोत्करमण्डितान्तरात्मा कुसुमाऽऽमोदभरो निशान्तवायुः ।
रणवृत्तमिवावगन्तुमादौ प्रतिवातायनसुन्दरीं जगाम ॥ २७ ॥

तुहिनोत्करमण्डितान्तरात्मा कुसुमामोदभरः निशान्तवायुः रणवृत्तम् अवगन्तुम् इव आदौ प्रतिवातायनसुन्दरीं जगाम ॥ २७ ॥

तुषारकणों की शीतलता से सम्पृक्त, सद्यः विकसमान पुष्पगन्धसे अनुप्राणित सुगन्ध, शीतल, निशान्त-पवन मन्दगति से बहता हुआ सर्वप्रथम वातायन मार्ग से पास ही लेटी हुई सुन्दरी के पास रात्रिकालीन सुरत-युद्ध का समाचार प्राप्त करने के लिए पहुँचता था [प्रतीत होता है, ये पवन देवता युद्ध-संवाददाता की सफल भूमिका निभा रहे थे ।] ॥ २७ ॥

मृदितां हृदये स्रजं वहन्ती श्लथधम्मिल्लचयाऽलसाङ्गयष्टिः ।
शुशुभे प्रतिसुभ्रुवां पुरः स्त्री नखरेखाङ्कजयध्वजं दधाना ॥ २८ ॥

हृदये मृदितां स्रजं वहन्ती श्लथधम्मिल्लचया अलसाङ्गयष्टिः स्त्री नखरेखाङ्कजय-ध्वजं दधाना प्रतिसुभ्रुवां पुरः शुशुभे ॥ २८ ॥

[प्रातःकाल की सुखद वेला में बिस्तर से उठकर आयी हुई सुन्दरी अपने अस्त-व्यस्त परिधानों एव भाव-भंगिमा से सपत्नियों के लिए तो भयङ्कर अनुताप का कारण ही हो जाती थी—] गले में कुम्हलायी, मसली हुई पुष्पमाला डाले, ढीले-ढाले अधखुले जूड़े में आलस्य से विवश निस्सह शरीरवाली युवती अपनी देह पर नाखून की रेखाओं को, जो मानो सुरत-रण में उस नायिका के पराक्रम को व्यक्त करनेवाले विजय-चिह्न हों—धारण किये अपनी सपत्नियों (सौतों) के सामने शोभायमान हो रही थी ॥ २८ ॥

तनुवर्णसुवर्णकोशजातांशुकबन्धप्रतिबिम्बितान्तराङ्गी ।
नवचित्रकलाकृतिर्यथाङ्गे ददृशे पौरवधूजनैर्विलक्षैः ॥ २९ ॥

तनुवर्णसुवर्णकोशजातांशुकबन्धप्रतिबिम्बितान्तराङ्गी अङ्गे नवचित्रकलाकृतिः यथा विलक्षैः पौरवधूजनैः ददृशे ॥ २९ ॥

अपने शरीर के रङ्ग के ही अनुरूप रेशमी साड़ी से अलंकृत होकर भी उसकी सूक्ष्मता के कारण, पारदर्शिता के कारण, झलकते हुए अंगोंवाली, कोठे के ऊपर निश्चल खड़ी सुन्दरी नवयुवती को नगर की महिलाओं ने विस्मय-विमुग्ध होकर देखा, ऐसा प्रतीत होता था मानो कोई अभिनव कलाकृति की प्रतिमा ही खड़ी कर दी गयी हो ॥ २९ ॥

अविचिन्त्य पताकिनीं शिवस्य शयिताश्वो मनसो विनोदनाय ।
सहते स्म हृदि स्मरोत्सवानां चपलापाङ्गमिवारितीक्ष्णकुन्तम् ॥ ३० ॥

शिवस्य पताकिनीम् अविचिन्त्य मनसः विनोदनाय शयिताश्वः स्मरोत्सवानां चपलापाङ्गं हृदि अरितीक्ष्णकुन्तम् इव सहते स्म ॥ ३० ॥

क्षत्रपति की सेना की चिन्ता न करते हुए, शायिस्ताखान मनोविनोदार्थ काम-लीला-आराधन में निमग्न नवयुवतियों की चञ्चल कटाक्षवाली दृष्टि को हृदय पर इस प्रकार झेलते थे मानो शत्रु के तीखी नोकवाले भालों की ही सह रहे हों ॥ ३० ॥

मदनोत्सवविस्मृतारिबाधं घनमासावसरालसात्मयत्नम् ।
शयिताश्वगिरिं यथेन्द्रवज्रः शिवराजः कुटिलारुणं ददर्श ॥ ३१ ॥

मदनोत्सवविस्मृतारिबाधं घनमासावसरालसात्मयत्नं शयिताश्वगिरिं शिवराजः इन्द्रवज्रः यथा कुटिलारुणं ददर्श ॥ ३१ ॥

मदन-दोह के उत्सव में निमग्न होकर शत्रुबाधा को विस्मृत कर देनेवाले, वर्षाऋतु के आ जाने के कारण अपने रणोद्योग में शिथिलप्रयत्न, उस शायिस्ताखान को क्षत्रपति ने इस प्रकार रोषपूर्ण दृष्टि से देखा जैसे इन्द्र का वज्र पर्वत को देख रहा हो [वर्षाकाल आ जाने के कारण तथा आमोद-प्रमोद में व्यस्त होकर एवं मराठों की ओर से प्रतिरोध का अभाव देखकर शायिस्ताखान अपने युद्ध-प्रयासों में कुछ शिथिल हो गये थे किन्तु क्षत्रपति तो प्रतिक्षण शत्रु-कण्टक को दूर करने के लिए उपाय-चिन्तन कर रहे थे ।] ॥ ३१ ॥

रविचण्डमयूखमूर्च्छितायाः वसुधायाः विनयं ररक्ष सन्ध्या ।
अहितावितप्रचण्डतापान्नहि लोकः शरणं परं प्रपेदे ॥ ३२ ॥

रविचण्डमयूखमूर्च्छितायाः वसुधायाः विनयं सन्ध्या ररक्ष, परं अहितावित-प्रचण्डतापात् लोकः शरणं न हि प्रपेदे ॥ ३२ ॥

सूर्य की प्रखर किरणों से मूर्च्छितप्राय पृथिवी की प्रार्थना को उसके कष्ट-निवारण के लिए सन्ध्या ने सुना—सन्ध्या आयी और सन्तप्त पृथिवी को कुछ शान्ति प्राप्त हुई । किन्तु शत्रु के निरन्तर प्रचण्ड ताप से सन्तप्त जनता को कहीं भी शरण न मिली—जनता को शत्रु के उत्पीडन से मुक्ति न मिली ॥ ३२ ॥

परितो वितरत्सुधाप्रसादां विततानभ्रविहायसीन्दुलक्ष्मीम् ।
चकमे न कदुष्मनिस्सहोऽपि गृहगर्भे घनसंशयाऽऽधिधूतः ॥ ३३ ॥

परितः वितरत्सुधाप्रसादां विततानभ्रविहायसि इन्दुलक्ष्मीं गृहगर्भे कदुष्मनिस्सहः अपि घनसंशयाऽऽधिधूतः न चकमे ॥ ३३ ॥

मेघ-विहीन आकाश में चन्द्रकान्ति ज्योत्स्ना संसार में चारों ओर मुक्तहस्त चाँदनी लुटा रही थी। किन्तु घोर संशय एवं मनोवेदना से विकल प्राणी, ऊमस से बेहाल होकर भी घर के भीतर अत्यधिक निरापद गर्भगृह में छिपकर सोते थे। उन्हें चाँदनी की तनिक भी इच्छा नहीं थी। वे भय के आतंक से बाहर सोने का साहस हो नहीं कर सकते थे। फिर उनके लिए चाँदनी निष्प्रयोजन थी ॥ ३३ ॥

कुलजा ज्वलदन्तिकान्तिकोर्वीं प्रशशंस व्रतजीविता नितान्तम् ।
उपकूपमथो चरित्रपूता विजहौ साध्वसमञ्जना स्वगुप्तौ ॥ ३४ ॥

व्रतजीविता कुलजा ज्वलदन्तिकान्तिकोर्वीं नितान्तं प्रशशंस, अथो चरित्रपूता अञ्जना स्वगुप्तौ साध्वसम् उपकूपं विजहौ ॥ ३४ ॥

पातिव्रत पालन करनेवाली कुलवधू की दृष्टि में सबसे उत्तम निरापद स्थान आग से दहकती हुई अंगीठी के पास था—यदि आततायी घर में घुस ही आते तो शीलभ्रष्ट होने से पहले ही अपने वस्त्रों में आग लगाकर वह लपटों में समा जाती। शुद्ध चरित्रवाली स्त्री कुएँ के पास अपनी सुरक्षा के लिए निर्भय हो जाती थी—वह अनाचारी शत्रु के हाथ में पड़ने के पूर्व ही कुएँ में कूद पड़ती और इस प्रकार उसकी चरित्र-रक्षा हो जाती ॥ ३४ ॥

नवमारकतच्छविं न यावज्जललक्ष्मीर्गगने तनोति शय्याम् ।
व्यपनेतुमरातितापमुर्व्यामचिरं तावदकल्पयज्जनेशः ॥ ३५ ॥

जललक्ष्मीः गगने यावत् नवमारकतच्छविं शय्यां न तनोति, जनेशः तावत् उर्व्याम् अरातितापम् अचिरं व्यपनेतुम् अकल्पयत् ॥ ३५ ॥

प्रजापालक महाराज क्षत्रपति ने अपने मन में ठान लिया कि वर्षाऋतु द्वारा आकाश में मरकतमणि की कान्तिसरीखी शय्या के (काले बादलों के) बिछाने के पूर्व ही शीघ्रतापूर्वक पृथिवी पर शत्रु के प्रचण्ड ताप को दूर कर दिया जाय ॥३५॥

अरिदम्भविनाशलब्धकीर्तिर्यतमानो हृदये प्रयोगवर्त्म ।
सहसा विजहास साहिसूनुर्विदधद् विस्मयनिर्जितान् सदस्यान् ॥ ३६ ॥

अरिदम्भविनाशलब्धकीर्तिः साहिसूनुः हृदये प्रयोगवर्त्म यतमानः सदस्यान् विस्मय-निर्जितान् विदधत् सहसा विजहास ॥ ३६ ॥

शत्रु के दम्भ को नष्ट करने में यशस्वी शाहिजी के पुत्र वीर क्षत्रपति जब शत्रु-क्षय के लिए हृदय में उपाय सोच रहे थे तभी उन्होंने मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों को अपनी

उन्मुक्त हँसी से विस्मय में डाल दिया। अपने गम्भीर स्वभाव के विपरीत सहसा क्षत्रपति का हँस पड़ना सदस्यों को आश्चर्यनिमग्न करने के लिए पर्याप्त था ॥ ३६ ॥

प्रसभं विपिने यथा मृगेन्द्रो जितमेघध्वनिगर्जितेन वन्यान् ।
विदधाति जडान् तथा स हासः शिबिरे शत्रुकुलं भृशं बबाधे ॥ ३७ ॥

विपिने मृगेन्द्रः जितमेघध्वनिगर्जितेन वन्यान् यथा जडान् विदधाति तथा सः हासः शत्रुकुलं शिबिरे भृशं बबाधे ॥ ३७ ॥

वन में जिस प्रकार मेघध्वनि को पराजित करनेवाले अपने भीम गर्जन से मृगराज जङ्गली जानवरों को भय से स्तब्ध कर देता है उसी प्रकार वीर क्षत्रपति के उस हास ने छावनियों में शत्रुकुल को अत्यन्त उद्विग्न कर दिया ॥ ३७ ॥

जननाथमुखप्रसादलक्ष्मीः सुहृदो रागगुणैर्बबन्ध सर्वान् ।
नियतं निखिलात्मवृत्तिभाजः परिगृह्णन्ति जनान् निसर्गभावाः ॥ ३८ ॥

जननाथमुखप्रसादलक्ष्मीः सर्वान् सुहृदः रागगुणैः बबन्ध, निखिलात्मवृत्तिभाजः निसर्गभावाः नियतं जनान् परिगृह्णन्ति ॥ ३८ ॥

प्रजापालक क्षत्रपति महाराज की उस सहास मुख की कान्ति ने सम्पूर्ण मित्र मण्डल की उसी चिन्ताविहीन शुभाशा से हर्षमग्न कर दिया। उचित भी है, सब प्राणियों में आत्मभाव रखनेवाले सज्जनों का सहज भाव उनके पार्श्ववर्ती प्राणियों को भी अपने रंग में रँग लेता है ॥ ३८ ॥

अपरागकृशः शरद्घनोऽपि तनुते किं हृदये प्लवाऽऽधिभारम् ।
श्रुतयत्नपथे सदस्यलोके रिपवस्तेऽपि हतायुषो विषेदुः ॥ ३९ ॥

अपरागकृशः शरद्घनः अपि हृदये प्लवाऽऽधिभारं तनुते किम् ? श्रुतयत्नपथे सदस्यलोके ते रिपवः अपि हतायुषः विषेदुः ॥ ३९ ॥

अपराग-कदर्थित, पाण्डुवर्णवाला शरत्कालीन मेघ क्या किसी के हृदय में बाढ़ के भय की भावना भर सकता है ? मन्त्रिमण्डल के सदस्यों ने जब शत्रु-निवारण का निश्चित उपाय सुन लिया तो उन्हें भी मुगलों की वह सेना आयुहीन होकर विषाद में डूबी सी प्रतीत हुई ॥ ३९ ॥

व्यपदेशनिवारिताध्वबाधः शिवराजो हठरक्षितस्ववेषः ।
द्विशतेन सह स्वसैनिकानामविशत् पुण्यपुरं सपत्नरुद्धम् ॥ ४० ॥

व्यपदेशनिवारिताध्वबाधः हठरक्षितस्ववेषः शिवराजः स्वसैनिकानां द्विशतेन सह सपत्नरुद्धं पुण्यपुरम् अविशत् ॥ ४० ॥

मार्ग की शङ्का, जिज्ञासा आदि बाधाओं को व्यपदेश से (बहानेबाजी से) शान्त करके हठपूर्वक वेष बदलकर, अपने चुने हुए दो सौ सैनिकों के साथ वीर-

क्षत्रपति ने पूना में प्रवेश किया [प्रचलित किंवदन्ती एवं इतिहास का भी कथन है कि बारातियों के वेष में शिवाजी महाराज अपने सैनिकों के साथ पूना नगर में प्रविष्ट हुए थे।] ॥ ४० ॥

जितकालभियो विधेयसिद्धौ रिपुसैन्योभयपार्श्वबद्धलक्ष्याः ।
तिमिराकुलिताऽपथेऽप्यबाधं स्वनिवेशं विदधुर्भटाः शिवस्य ॥ ४१ ॥

विधेयसिद्धौ जितकालभियः रिपुसैन्योभयपार्श्वबद्धलक्ष्याः शिवस्य भटाः तिमिराकुलितापथे अपि अबाधं स्वनिवेशं विदधुः ॥ ४१ ॥

क्षत्रपति के सैनिक काल से भी नहीं डरते थे। वे अपनी कार्यसिद्धि के लिए विख्यात थे। शत्रु-सेना के दोनों बगलों को उन्होंने अपना लक्ष्य बनाया। उन शिव-सैनिकों ने रात्रि के अन्धकार से भरे हुए मार्गहीन स्थानों में भी बिना किसी बाधा की चिन्ता किये अपना आसन जमाया ॥ ४१ ॥

व्यपनीय गिरीन्द्रजानिकेते क्षणमङ्के तनयो यथा जनन्याः ।
तिमिरौघहतात्मनो मनस्वी निरगाच्छास्तुमसत्पथान् निशीथे ॥ ४२ ॥

जनन्याः अङ्के तनयः यथा गिरीन्द्रजानिकेते क्षणं व्यपनीय निशीथे असत्पथान् तिमिरौघहतात्मनः शास्तुं मनस्वी निरगात् ॥ ४२ ॥

भगवती जगदम्बा के मन्दिर में कुछ क्षण व्यतीत कर मानो कोई बच्चा माता की गोद में विश्राम करता हो, ऐसे ही वीर क्षत्रपति ने अर्द्धरात्रि को वेला में तामस भाव से कदर्थित हृदयवाले, अनाचार-पथावलम्बी शत्रुओं के दमन के लिए अपना डेरा (आवास-स्थान) छोड़ा ॥ ४२ ॥

नवशम्बरकल्पितेन्द्रजालप्रभवेवार्यनृपेण वस्त्रसृष्टिः ।
परितो ददृशे विचित्रवर्णा कृतसामन्तपरिच्छदानुरक्तिः ॥ ४३ ॥

विचित्रवर्णा कृतसामन्तपरिच्छदानुरक्तिः नवशम्बरकल्पितेन्द्रजालप्रभवा इव वस्त्रसृष्टिः आर्यनृपेण परितः ददृशे ॥ ४३ ॥

वीर शिवराज ने कपड़ों से निर्मित तम्बुओं का नया संसार सा देखा। लगता था मानो किसी नवीन शम्बरासुर ने अपने इन्द्रजाल (माया) की शक्ति से उसका निर्माण किया हो। वह दूर-दूर तक फैली हुयी थी तथा उसमें सामन्त-गण एवं उनके अनुचर-वर्ग निवास किये हुए थे ॥ ४३ ॥

मृदुदीपविभाविलोभ्यनेत्रैर्घनमानोरसमङ्गनां प्रसाद्य ।
सुसखीव गृहाधिदेवतैव रचयामास मधूत्सवप्रबन्धम् ॥ ४४ ॥

मृदुदीपविभाविलोभ्यनेत्रैः गृहाधिदेवता एव सुसखी इव घनमानोरसम् अङ्गनाम् प्रसाद्य मधूत्सवप्रबन्धं रचयामास ॥ ४४ ॥

रम्य ज्योतिवाले नेत्रों के समान दीपकों से रूठी हुई सुन्दरी के दुस्सह मान को निवारित करते हुए उसे मनाकर, अन्तरंग सखी के समान स्वयं गृहाधिदेवता ने मानो अपने ही हाथों से मधुपान आदि की साज-सज्जा का प्रबन्ध किया ॥ ४४ ॥

हठनीरवनिर्भरेऽपि देशे द्वयमेव श्रुतिसत्फलं ररक्ष ।
क्वचिदुन्मुखकिङ्किणी सतालं मणिकाञ्चीहठशिञ्जितं क्वचिद्वा ॥ ४५ ॥

हठनीरवनिर्भरे देशे अपि द्वयम् एव श्रुतिसत्फलं ररक्ष, क्वचित् सतालम् उन्मुखकिङ्किणी क्वचित् मणिकाञ्चीहठशिञ्जितं वा ॥ ४५ ॥

बड़ी निःस्तब्ध रात्रि थी। चारों ओर घोर सन्नाटा था। फिर भी कान रखने का (सुनने का) पुण्यफल केवल दो ही रूपों में चरितार्थ होता था—कहीं तो वाद्य ताल के अनुसार झनकती हुई घुँघरू और कहीं मणिकाञ्ची (कमर क बजनेवाली करधनी) का अविरत मुखरित होता हुआ शिञ्जनस्वन। (ताल के अनुरूप थिरकता हुआ घुँघरू नृत्यकला : अभ्यास में लगी हुई किसी नर्तकी का परिचायक था तथा अविरत सहठ बजती हुई करधनी नायिका द्वारा पुरुषायित आचरण को व्यक्त कर रही थी।] ॥ ४५ ॥

रमसाऽध्युषिताऽहितप्रचारैर्विवशाऽवेक्षितुमत्ययं प्रजानाम् ।
ननु भूमिभुजा व्यपेतसंज्ञा ददृशे पुण्यपुरी कुटुम्बिनीव ॥ ४६ ॥

रमसाऽध्युषिताहितप्रचारैः प्रजानाम् अत्ययम् अवेक्षितुं विवशा पुण्यपुरी भूमिभुजा ननु कुटुम्बिनी इव व्यपेतसंज्ञा ददृशे ॥ ४६ ॥

वीर क्षत्रपति ने पुण्यपुरी (पूना) को अचेत पड़ी हुई दुःखकातर कुटुम्बिनी (बड़े परिवार की स्वामिनी) के समान विपन्न देखा। उसके घर पर शत्रुओं ने बलपूर्वक अधिकार जमा लिया था और अपनी निर्बाध चहल-पहल से उसे उद्विग्न कर रहे थे। अपनी सन्तानों का उन अनाचारी शत्रुओं द्वारा निर्दय विनाश भी उसे विवश होकर प्रतिदिन देखना पड़ता था। अतः वह मूर्च्छितप्राय प्रतीत होती थी ॥ ४६ ॥

रिपुसाध्वसमार्यराष्ट्रगुप्तिं पृथुभीतारिभटाङ्गनाप्रियाशाम् ।
अतिजिह्ममतेस्तुरुष्कभर्तुर्हृदयेऽनभ्रदुरन्तवज्रपातम् ॥ ४७ ॥
घनविस्मयमश्रुतज्ञनानामवसानं दुरिताधिकालरात्रेः ।
प्रतिभूपतिकौशिकात्मतापं द्विजकण्ठस्वनजुष्टधामकीर्तिम् ॥ ४८ ॥
वणिजां निकरेऽब्धिपारगानामरुचिं दस्युजनोद्यमार्थलब्धौ ।
अचलस्थितिहर्षमार्यलक्ष्म्या विधिनैकेन बबन्ध मावलेन्द्रः ॥ ४९ ॥

रिपुसाध्वसम्, आर्यराष्ट्रगुप्तिं, पृथुभीतारिभटाङ्गनादुराशाम्, अतिजिह्ममतेः तुरुष्कभर्तुः हृदये अनभ्रदुरन्तवज्रपातम् ॥ ४७ ॥

जनानाम् अश्रुतं घनविस्मयं दुरिताधिकालरात्रेः अवसानं, प्रतिभूपतिकौशिकात्मतापं द्विजकण्ठस्वनजुष्टधामकीर्तिम् ॥ ४८ ॥

अब्धिपारगानां वणिजां निकरे दस्युजनोद्यमार्थलब्धौ अरुचिम्, आर्यलक्ष्म्याः अचल-स्थितिहर्षं मावलेन्द्रः एकेन विधिना बबन्ध ॥ ४९ ॥

वीर क्षत्रपति ने एक ही सुचिन्तित सफल उपाय से अनेक, बहुविध समस्याओं को सुलझा दिया, समाधान उपस्थित कर दिया। क्षत्रपति के इस अतिपौरुषमय साहसिक प्रयोग ने शत्रुजनों में भय उत्पन्न कर दिया, अभिनव–नवोन्मुख आर्य-राष्ट्र की सुरक्षा को सशक्त कर दिया, अत्यन्त भीरु शत्रु-सैनिकों की पत्नियों के हृदय में प्रिय-मिलन की आशा को सहसा अंकुरित कर दिया (मुगल सैनिकों की स्त्रियाँ सुदूर भूमि में लड़नेवाले अपने पतिजनों के जीवन के लिए सदैव आशंकित रहती थीं। सहसा मुगलों की पराजय के कारण सैनिकों को भागकर लौटना पड़ता अस्तु, उन्हें सहसा उपस्थित देख उनकी पत्नियाँ हर्षविभोर हो जातीं) तथा अतिशय कुटिल-बुद्धिवाले मुगल बादशाह औरंगजेब के कलेजे पर बिना बादलों के ही भयंकर वज्रपात का साज उपस्थित कर दिया ॥ ४७ ॥

प्रजाजनों के हृदय में इस शीघ्र ही होनेवाले प्रयोग के द्वारा अपूर्व–अश्रुतपूर्व आश्चर्य भर दिया, अनेकविध मानसिक अनुतापों से भरी दुश्चिन्तापूर्ण रात्रि का अन्त समीप ला दिया तथा द्विजकण्ठ (खग या ब्राह्मण के कण्ठ) से मुखरित होती हुई कलध्वनि (वेदघोष) से अनुप्राणित प्रभात काल के शुभागमन द्वारा उल्लुओं के समान शत्रु-राजाओं के हृदय में अनुताप भर दिया (क्षत्रपति से विरोध रखनेवाले छोटे-मोटे राजा बहुत प्रसन्न थे कि दिल्ली का आक्रमण क्षत्रपति को ध्वस्त कर देगा किन्तु उन्हें निराशापूर्ण वेदना ही प्राप्त हुई) ॥ ४८ ॥

समुद्रपार से (विलायत से) व्यापार करने के लिए भारत में आये हुए विदेशी बनियों (अंग्रेजों) के हृदय में डाकुओं के समान गर्हित उपायों से धन लूटने की दानवीय व्यापारिक पद्धति के प्रति अरुचि उत्पन्न करा दिया (अंग्रेजों ने समझ लिया कि महान् मुगल बादशाह को विपन्न कर देनेवाला महाराष्ट्र उनकी व्यापारिक लूट-खसोट को नहीं चलने देगा) और इस प्रकार भारतीय स्वातन्त्र्य-लक्ष्मी के हृदय में क्रमशः दृढतर होती हुई स्थिति के कारण हर्ष का सूत्रपात किया। अतः शायिस्ताखान को अपने साहसपूर्ण प्रयोग द्वारा पूना से खदेड़कर क्षत्रपति ने विभिन्न क्षेत्रों को विशेष ढग से प्रभावित किया। वस्तुतः अफजल खान की पराजय के बाद यह दूसरी महत्त्वपूर्ण सैनिक सफलता थी—प्रथम ने बीजापुर को आतंकित कर दिया, इस दूसरी घटना ने दिल्ली को सावधान कर दिया तथा दिल्ली मराठा-शक्ति के उदय से चिन्तित रहने लगी ॥ ४९ ॥

शयितेऽपि बलाधिपे तदर्थं नहि दर्वी विरराम सूदपाणौ।
परपिण्डभुषां क्षुदिग्नतापः सहते नैव दिवानिशार्गलानि ॥ ५० ॥

बलाधिपे शयिते अपि तदर्थं सूदपाणौ दर्वी नहि विरराम, परपिण्डमुषां क्षुदग्नितापः दिवानिशार्गलानि न एव सहते ॥ ५० ॥

यद्यपि निःतब्ध अर्द्धरात्रि का समय था तथापि सोये हुए सेनापति के लिए बावर्ची के हाथ की करछी (पकते हुए भोजन को बर्तन में चलाने का उपकरण विशेष–बड़ी डाँटीवाला चम्मच, कलछुल) को विश्राम नहीं था–बावर्ची भोजन पकाने में व्यस्त था। ठीक है, सम्भवतः दूसरों के भागधेय को बलपूर्वक छीनकर खानेवालों की उदर-ज्वाला दिन-रात का बन्धन स्वीकार नहीं करती। अत्याचारियों की भूख भी बड़ी बीहड़ होती है तथा भोजनादि का आयोजन दिन-रात निरन्तर चलता रहता है ॥ ५० ॥

अथ सन्धिमुखेन भित्तिसन्धामवभिद्यासिसखोऽद्भुतानुभावः ।
परितप्तशहाजहाँसुतस्य व्यभिनन्मानसमेव साहसेन्द्रः ॥ ५१ ॥

अथ अद्भुतानुभावः असिसखः साहसेन्द्रः सन्धिमुखेन भित्तिसन्धाम् अवभिद्य परितप्त-शहाजहांसुतस्य मानसम् एव व्यभिनत् ॥ ५१ ॥

उसके अनन्तर, उस मध्यरात्रि में शायिस्ताखान के निवासवाले महल की भित्तिसन्धि में दीवालों के जोड़ में सेंध लगाकर (दीवाल काटकर) विचित्र अनुभवों से उच्छ्वसित होते हुए तलवार मात्र को सङ्गिनी बनाकर, साहस के अनुपम धनी क्षत्रपति ने मानो बादशाह शाहजहाँ के पुत्र औरंगजेब के सन्तप्त हृदय में ही सेंध लगा दी—हृदय में ही छेद कर दिया ॥ ५१ ॥

घनसाध्वसवेपितावरोधप्रसभाक्रन्दनमानिशम्य रौद्रम् ।
शिबिरं शितखड्गशत्रुरुद्धं शयिताश्वः सहसोत्पपात बुद्ध्वा ॥ ५२ ॥

रौद्रं घनसाध्वसवेपितावरोधप्रसभाक्रन्दनम् आनिशम्य, शिबिरं शितखड्गशत्रुरुद्धं बुद्ध्वा शयिताश्वः सहसा उत्पपात ॥ ५२ ॥

हाथ में नंगी तलवार लिए सैनिकों को सहसा उपस्थित देखकर अन्तःपुर की महिलायें घबराकर सहसा चीत्कार, क्रन्दन कर उठीं। उनके आर्तस्वर को सुनकर एवं शस्त्रधारी शत्रुओं से शिबिर को घिरा हुआ जानकर शायिस्ताखान सहसा वेग से उछल पड़ा ॥ ५२ ॥

प्रतियूथपकुम्भभित् स तावन्मृगराजः शतहस्तिनीसमूहे ।
निजलक्ष्यमवेक्ष्य वज्रवेगस्तरसाऽधावदमोघखड्गपाणिः ॥ ५३ ॥

तावत् प्रतियूथपकुम्भभित् स मृगराजः शतहस्तिनीसमूहे निजलक्ष्यम् अवेक्ष्य अमोघ-खड्गपाणिः वज्रवेगः तरसा अधावत् ॥ ५३ ॥

विपक्षी गजराज का कुम्भस्थल विदीर्ण करनेवाले सिंहविक्रम वीर क्षत्रपति ने सैकड़ों हस्तिनी नायिकाओं (हथिनियों) के बीच में अपने लक्ष्यभूत शायिस्ताखान

को गजराज के समान देखकर, हाथ में नग्न कृपाण लेकर वज्रवेग से उस पर आक्रमण के लिए दौड़े ॥ ५३ ॥

विषमामवचिन्त्य जीविताशां परिहृत्यात्मबलं तथा कुटुम्बम् ।
चरणद्रुतिपौरुषः पुरस्तात् प्लुतगत्यैव पलायितोऽरिमुख्यः ॥ ५४ ॥

अरिमुख्यः जीविताशां विषमाम् अवचिन्त्य, आत्मबलं तथा कुटुम्बं परिहृत्य, चरण-द्रुतिपौरुषः पुरस्तात् प्लुतगत्या एव पलायितः ॥ ५४ ॥

मुगल सेनापति शायिस्ताखान ने जीवन की आशा को अत्यन्त संशयपूर्ण जानकर अपने आत्मबल और कुटुम्ब की विकलतापूर्ण चिन्ता भूलकर, तेजगति से भागनेवाले अपने पैरों पर भरोसा करके प्लुतगति से भागकर (उछलकर) प्राण बचाना चाहा ॥ ५४ ॥

परमर्कयशाः शिवोऽसिमुद्रामलिखच्छत्रुकृपाणबद्धमुष्टौ ।
कृतिशुल्कमिवाङ्गुलिद्वयं सो द्रुतमापात्य बलिस्मृतिं ररक्ष ॥ ५५ ॥

परम् अर्कयशाः शिवः शत्रुकृपाणबद्धमुष्टौ असिमुद्राम् अलिखत् । सः (शत्रुः) अङ्गुलिद्वयं कृतिशुल्कम् इव द्रुतम् आपात्य बलिस्मृतिं ररक्ष ॥ ५५ ॥

किन्तु सूर्य के समान उज्ज्वल यशवाले वीर शिवराज ने उस भगोड़े (भागते हुए) शायिस्ताखान की तलवारयुक्त मुट्ठी पर अपनी तलवार की मुद्रा (निशान) लगा ही दी । और सेनापति शायिस्ताखान ने भी उस महान् विक्रम के कर (टैक्स) के रूप में अपनी दो अंगुलियाँ देकर उस उपहार (दो अंगुलियाँ के त्याग) की स्मृति को सदा के लिए सुरक्षित कर लिया [आशय यह है कि भागते हुए मुगल सेनापति पर क्षत्रपति की तलवार का हल्का सा आघात लगा और उसकी दो अंगुलियाँ सदा के लिए कटकर अलग हो गयीं ।] ॥ ५५ ॥

प्रियजीवितसंशया द्रुतं स्त्री कुललक्ष्मीरिव भूपभीतिभीता ।
तिमिरोपहता दिशो विधातुं शमयामास सुधामदीपदृष्टिम् ॥ ५६ ॥

कुललक्ष्मीः इव स्त्री भूपभीतिभीता प्रियजीवितसंशया द्रुतं दिशः तिमिरोपहताः विधातुं सुधामदीपदृष्टिम् शमयामास ॥ ५६ ॥

शिवगणों के भय से आतंकित स्त्री ने शायिस्ताखान के प्राणों को सङ्कट में देखकर गृहलक्ष्मी के समान शीघ्रतापूर्वक दिशाओं को अन्धकार-निमग्न करने के लिए उस रमणीय महल के दीपक को ही बुझा दिया ॥ ५६ ॥

बहिरस्तमयाः मयास्थिरान् ते विविधोल्लुण्ठनवर्त्मभिर्हसन्तः ।
शिवराजभटा निवेशरक्षान् रुरुधुस्तत्क्षणमात्मघातनिष्ठान् ॥ ५७ ॥

बहिः अस्तभयाः ते शिवराजभटाः भयास्थिरान् निवेशरक्षान् विविधोल्लुण्ठनवर्त्मभिः हसन्तः तत्क्षणम् आत्मघातनिष्ठान् (तान्) रुरुधुः ॥ ५७ ॥

भीतर तो यह सब हो रहा था। बाहर निर्भय स्थित शिवराज के वीर मराठे सैनिकों ने उस महल के रक्षकों को घेर रखा था तथा भय से कम्पित उन रक्षकों का विविध प्रकार के विद्रूपपूर्ण आक्षेपों से उपहास करते हुए उन रक्षकों को आत्म-घात करने की जघन्य इच्छा से बलपूर्वक रोक दिया था ॥ ५७ ॥

कृतहुङ्कृतयोऽजिरे निपेतुर्मृगकल्पेऽरिजने मृगेन्द्रशूराः ।
अपरेऽशनिखण्डकान्यवर्षन्नुपरिष्टादनुलक्ष्य धावतस्तान् ॥ ५८ ॥

कृतहुङ्कृतयः मृगेन्द्रशूराः अजिरे मृगकल्पे अरिजने निपेतुः, अपरे तान् (रिपुभटान्) धावतः अनुलक्ष्य उपरिष्टात् अशनिखण्डकानि अवर्षन् ॥ ५८ ॥

[विचित्र स्थिति थी। मराठे सैनिकों ने केवल मुगल सेनापति के महल पर चुप-चाप आक्रमण किया था। वे महल के उपर-नीचे प्रत्येक नाके पर मौजूद थे, रक्षकों को घेरे में ले लिया था अतः वे अन्य सामन्तों को सूचना भी नहीं दे सकते थे] आँगन में एकत्र पशुओं के समान आतंकित शिविर-रक्षकों के समूह पर मराठे सैनिक शेरों के समान झपटे। इधर-उधर भागकर जानेवालों पर महल के छज्जे से मराठे फौलादी छुरे बरसा रहे थे। ऊपर-नीचे कहीं भी रक्षकों के लिए निरापद स्थान नहीं था ॥५८॥

अवचिन्त्य युगान्तमेघमूर्ध्वं कुपितं कालमधोऽपि खड्गपाणिम् ।
रुरुदुर्मुमुहुर्निपेतुरार्ता अहितानीकभटाः समीकभूमौ ॥ ५९ ॥

ऊर्ध्वं युगान्तमेघम् अधः अपि खड्गपाणिं कुपितं कालम् अवचिन्त्य आर्ताः अहितानीकभटाः समीकभूमौ रुरुदुः, मुमुहुः, निपेतुः ॥ ५९ ॥

शत्रुपक्ष के सैनिक विषम स्थिति में घबरा गये। उनको लगा कि कहीं सुरक्षा नहीं है। ऊपर से मानो प्रलयकालीन मेघ ही फौलादी छुरे बरसा रहा था। नीचे भी हाथ में नंगी तलवारें लिए क्रोधान्ध काल ही उपस्थित था। इस दोतरफा घात से आतंकित शत्रु-सैनिक क्रन्दन करने लगे, सुध-बुध-विहीन होने लगे और आर्त हो पृथ्वी पर गिर पड़े ॥ ५९ ॥

विटषण्डविलासिनीजनानां कृतकाक्रोशसमेधितो निनादः ।
रणवाद्यमिलत्स्वनानुजुष्टः प्रपुपूरे पृथिवीं नभोऽन्तरिक्षम् ॥ ६० ॥

विटषण्डविलासिनीजनानां कृतकाक्रोशसमेधितः रणवाद्यमिलत्स्वनानुजुष्टः निनादः पृथिवीं नभः अन्तरिक्षं प्रपुपूरे ॥ ६० ॥

हँसोड़ियों, हिंजड़ों और बाँदियों आदि की झूठमूठ को चीख-पुकार से पूर्ण वह कोलाहल रणवाद्यों की ध्वनि से मिलकर और अधिक बढ़ गया तथा उसने पृथ्वी, आकाश और अन्तरिक्ष को अपनी ध्वनि से भर दिया ॥ ६० ॥

रणवाद्यभुवं प्रविश्य वीराः परिहासेन बलाधिपापदेशात् ।
तुमुलोद्धततूर्यढक्कघोषैर्हरितां श्रोत्रमकारयन् निरुद्धम् ॥ ६१ ॥

वीराः (शिवभटाः) रणवाद्यभुवं प्रविश्य परिहासेन बलाधिपापदेशात् तुमुलोद्धततूर्य-ढक्कघोषैः हरिता श्रोत्रं निरुद्धम् अकारयन् ॥ ६१ ॥

कुछ मराठे सैनिकों ने नक्कारखाने में घुसकर सेनापति की आज्ञा का बहाना बनाकर युद्धवाद्य बजाने का आदेश दे दिया। यद्यपि उन्होंने परिहास ही किया फिर भी तुरही, ढाँक आदि बाजों की तुमुल ध्वनि ने दिशाओं के कर्णकुहरों को सर्वथा भर दिया ॥ ६१ ॥

अपयातमवेक्ष्य वाहिनीशं हसतोऽरातिभटांश्च वीक्ष्य कोपात् ।
शयिताश्वसुतो ह्रियं विवर्णां निजकण्ठक्षतजारुणां व्यधत्त ॥ ६२ ॥

वाहिनीशम् अपयातम् अवेक्ष्य, अरिभटान् च हसतः वीक्ष्य शयिताश्वसुतः कोपात् विवर्णां ह्रियं निजकण्ठक्षतजारुणाम् व्यधत्त ॥ ६२ ॥

सेनापति को भागते तथा शत्रु मराठे सैनिकों को हँसते देखकर क्रोधपूर्वक शायिस्ताखान के युवक पुत्र ने अपमान से पीली पड़ी लज्जा को अपने गले के खून से लाल कर दिया [लज्जा का प्रभाव चेहरे का लाल हो जाना है किन्तु सेनापति के कायर के समान भागने के कारण लज्जा स्वयं आतंक एवं अपमान से पीतवर्णा हो गयी थी। सेनापति का युवक पुत्र इस अपमान को (बेइज्जती को) सहन न कर सका अतः मुठभेड़ में अपनी जान गवाँकर मानो उसने अपने गले के खून से लज्जा को फिर रक्तमुखी बना दिया।] ॥ ६२ ॥

ज्वलदुग्ररणानले सवेगं शलभाभा बहवो भटा निपत्य ।
निजपक्षविनाशशोकदीनं विजहुर्जीवितमप्यनर्थवृत्ति ॥ ६३ ॥

ज्वलदुग्ररणानले बहवः शलभाभाः भटाः सवेगं निपत्य निजपक्षविनाशशोकदीनम् अनर्थ-वृत्ति जीवितम् अपि विजहुः ॥ ६३ ॥

जलती हुई प्रचण्ड युद्धज्वाला में पतिंगों के समान वेगपूर्वक अनेक सैनिक कूद पड़े और अपने पक्ष (पंख या दल) के विनाश से (पंख जल जाने के कारण या स्वपक्षी सैनिकों के वध से) शोकपूर्ण होकर उन्होंने अनर्थपूर्ण अपने जीवन को भी त्याग दिया [आग की लपटों में पङ्ख जल जाने के कारण भाग्यवश बचे हुए भी पतिंगे अन्य मांसभक्षी पक्षियों या चीटियों द्वारा समाप्त कर दिये जाते हैं। अस्तु, यहाँ 'पक्ष' शब्द में श्लेष-विधान द्वारा यही स्पष्ट किया गया है।] ॥ ६३ ॥

रणवाद्यनिशीथकालतालैः शिविराक्रन्दकुतूहलैश्च बुद्धाः ।
परितोऽभिबलाधिपं सुवीराः सहसा दुद्रुवुरर्धमीलिताक्षाः ॥ ६४ ॥

रणवाद्यनिशीथकालतालैः शिविराक्रन्दकुतूहलैः च सहसा बुद्धाः अर्द्धमीलिताक्षाः सुवीराः परितः अभिबलाधिपं दुद्रुवुः ॥ ६४ ॥

अँधेरी आधीरात, युद्धवाद्यों की ध्वनि तथा सेनापति के निवासस्थान से उठती हुई रोने-चिल्लाने की आवाज—इन कोलाहलों के प्रयास से जगे हुए, सेनापति के चारों ओर अपने शिविरों में रहनेवाले सामन्त तथा सैनिक अर्द्धनिद्रित मुद्रा में ही शायिस्ताखान के महल की ओर दौड़ पड़े ॥ ६४ ॥

निपतत्परिगृह्य पाणिनाधोवसनं कोशमुपाददत् परेण ।
न शशाक भटः पुरः प्रयातुं करवालं शयने धृतं विचिन्त्य ॥ ६५ ॥

निपतत् अधोवसनं पाणिना परिगृह्य परेण कोशम् उपाददत् भटः करवालं शयने धृतं विचिन्त्य पुरः प्रयातुं न शशाक ॥ ६५ ॥

विचित्र अर्द्धनिद्रित मुद्रा में वीरगण सेनापति के निवास की ओर दौड़ पड़े। एक सामन्त शीघ्रता से बिस्तर छोड़कर, शिथिल होते हुए अधखुले अधोवस्त्र को एक हाथ से सँभाले, म्यान को दूसरे हाथ में पकड़े हुए भी आगे न बढ़ सके। उन्हें याद आया कि म्यान में तलवार नहीं है, वह तो उन्होंने निकालकर बिस्तर के नीचे रख दिया था ॥ ६५ ॥

परिवेष्ट्य शिरस्यनावृताया वलिनोष्णीषमिवांशुकं प्रियायाः ।
परिपार्श्ववतां कृते भटानां विदधेऽन्योक्तिभरावहाससर्गः ॥ ६६ ॥

(केनचित्) बलिना अनावृतायाः प्रियायाः अंशुकम् उष्णीषम् इव शिरसि परिवेष्ट्य परिपार्श्ववतां भटानां कृते अन्योक्तिभरावहाससर्गः विदधे ॥ ६६ ॥

झटके से उठनेवाले एक वीर ने बगल मे लेटी हुई वस्त्रहीन प्रिया की साड़ी को ही पगड़ी के समान शिर पर जल्दी में लपेटकर रास्ते में अपने साथ चलनेवाले अगल-बगल के वीरों के लिए विभिन्न उक्तियों से पूर्ण हास का विधान ही प्रस्तुत कर दिया [स्वयं अपनी पगड़ी को वह तो देख नहीं सकता था किन्तु मशाल आदि की रोशनी में अन्य सैनिकों के लिए वह हँसी का फौवारा ही बन गया।] ॥ ६६ ॥

अपहाय तुरङ्गमाशु कश्चिच्चरणे कञ्चुकसङ्गतिं दधानः ।
खरमेव खलीनसज्जवक्त्रं प्लुतधारां परिशिक्षयन् ततान ॥ ६७ ॥

चरणे कञ्चुकसङ्गतिं दधानः कश्चित् आशु तुरङ्गम् अपहाय खलीनसज्जवक्त्रम् खरम् एव प्लुतधारां परिशिक्षयन् ततान ॥ ६७ ॥

और किसी ने पाजामे के स्थान पर कुरते को ही अँधेरे में पहनकर घोड़े के स्थान पर गधे के ही मुँह में लगाम देकर उसे जल्दी-जल्दी प्लुतगति से चलने के लिए कशाघात द्वारा शिक्षा देते हुए विचित्र क्षोभ का अनुभव किया [खच्चरों की कुछ अच्छी नस्लें सामान्य घोड़ों के ही डील-डौल की होती हैं।] ॥ ६७ ॥

नववारवधूसखो विवेकी परिहृत्याहवनिष्ठुरात्मघातम् ।
जविवाजिनमारुरोह तूर्णं शिबिरादन्यदिशं प्रपित्सुकामः ॥ ६८ ॥

(कश्चित्) नववारवधूसखः विवेकी आहवनिष्ठुरात्मघातं परिहृत्य शिबिरात् अन्यदिशं प्रपित्सुकामः तूर्णं जविवाजिनम् आरुरोह ॥ ३८ ॥

तथा किसी बुद्धिमान् ने, जिनका एक नवयौवना से अत्यन्त प्रेम था, युद्धभूमि में निष्ठुर आत्मघात की मूर्खता छोड़कर, तुरन्त शिविर छोड़कर कहीं निकल भागने के लिए अत्यन्त तीव्रगामी घोड़े की पीठ पर अपना आसन जमाया ॥ ६८ ॥

प्रसरद्विषमाजिविप्लवेऽन्यं विनयन्तं भयकीर्तनैर्दुरापा ।
शठ वेत्सि न किं शिवप्रतिज्ञामिति विस्रम्भमराऽक्षिपन्नताङ्गी ॥ ६९ ॥

प्रसरद्विषमाजिविप्लवे भयकीर्तनैः विनयन्तम् अन्यं (काचित्) दुरापा विस्रम्भमरा नताङ्गी 'शठ ! शिवप्रतिज्ञां न वेत्सि किम्' इति आक्षिपत् ॥ ६९ ॥

सहसा फैलते हुए इस रात्रिकालीन आक्रमण की भाग-दौड़ में एक प्रेमी हृदय को अच्छा सुयोग मिला। आपने एक दुर्लभ नवयुवती को शीघ्रतापूर्वक अनेक प्रकार का भय दिखाकर (कि 'मुगल सेना भाग रही है, बहुत से कट गये, अब तुम्हारे पति समाप्त हो गये, मराठे तुम्हें अपमानित करेंगे' आदि वाक्यों द्वारा उसे भयार्त करके) अपने साथ चलने के लिए बाध्य करना आरम्भ किया। किन्तु उस नवयुवती ने मियाँ जी को धत्ता बताते हुए, डाँटकर विश्वासपूर्वक कहा, 'बेहया, तुमको क्षत्रपति की प्रतिज्ञा का पता है ? उनके सैनिक स्त्रियों-बच्चों-बूढ़ों का सम्मान करते हैं ॥ ६९ ॥

बहुमूल्यमणिप्रभान्धदृष्टिः समवेक्ष्य प्रभुमाजिमार्गमेकः ।
निजभाग्यमिव प्रविश्य कोषं निशि नीवीमिव सञ्चकर्ष नीवीम् ॥ ७० ॥

प्रभुम् आजिमार्गं समवेक्ष्य, बहुमूल्यमणिप्रभान्धदृष्टिः एकः निशि निजभाग्यम् इव कोषं प्रविश्य नीवीम् इव नीवीं सञ्चकर्ष ॥ ७० ॥

मालिक के बहुमूल्य मणि-रत्नों की चमक से लोभग्रस्त व्यक्ति ने उन्हें युद्धस्थल की ओर जाते हुए मार्ग पर देखकर, शिविर को अस्त व्यस्त देख भाग्य के समान कोषगृह में पहुँचकर नीवी के समान नीवी (धन की थैली, या स्त्रियों को कमर में साड़ी आदि परिधान को व्यवस्थित करने के लिए बाँधी गयी गाँठ—फुफती) को ही अपनी ओर खींचने लगा ॥ ७० ॥

विततोच्चतरूर्ध्वशाखलीनो घनकोलाहलकम्पितान्तरात्मा ।
अवकाशमिव प्रतीक्षमाणो विषमेऽक्षोभयदण्डजान् जनोऽन्यः ॥ ७१ ॥

विततोच्चतरूर्ध्वशाखलीनः घनकोलाहलकम्पितान्तरात्मा अवकाशम् इव प्रतीक्षमाणः अन्यः जनः अण्डजान् विषमे अक्षोभयत् ॥ ७१ ॥

भयंकर रण-कोलाहल से कम्पित हृदयवाले एक मनस्वी ने फैले हुए ऊँचे वृक्ष की ऊपरवालो डालियों में अपने को छिपा लिया। उचित अवसर की प्रतीक्षा करते हुए उन्होंने उस वृक्ष पर बसेरा लेनेवाले पक्षियों को अपनो गति-विधि से उस विषम घड़ी में क्षुब्ध कर दिया ॥ ७१ ॥

सितभूतिवपुर्जटाभरार्तः शितशूलो मृगराजकृत्तिवासाः ।
सजवं बहिरस्पृहः प्रतस्थे वृतरुद्राक्षगलोऽपरस्तपस्वी ॥ ७२ ॥

सितभूतिवपुः जटाभरार्तः शितशूलः मृगराजकृत्तिवासाः वृतरुद्राक्षगलः अपरः तपस्वी सजवम् अस्पृहः (सन्) बहिः प्रतस्थे ॥ ७२ ॥

एक दूसरे अवसरवादी वीर ने झट विभूति रमाया, सिर पर जटाजूट का अम्बार धारण किया, शेर की खाल लपेटी और चमकता हुआ त्रिशूल हाथ में ले लिया। गले में रुद्राक्ष की लम्बी माला धारण किये ये तपस्वी अनासक्त भाव से शिविर छोड़कर द्रुतगति से बाहर निकल पड़े ॥ ७२ ॥

कुलजाः सुतवल्लभाऽऽधितप्ताः सुभटाश्चाश्रितबन्धना विषेदुः ।
द्वयमेव परं ररक्ष धैर्यं गणिका षण्डजनश्च वीतभीतिः ॥ ७३ ॥

सुतवल्लभाऽऽधितप्ताः कुलजाः आश्रितबन्धनाः सुभटाः च विषेदुः । परं वीतभीतिः गणिका षण्डजनः च द्वयम् एव धैर्यं ररक्ष ॥ ७३ ॥

कुलीन स्त्रियाँ पति एवं पुत्र की चिन्ता से कातर हो रही थीं, वीर सैनिक भी आश्रितों को चिन्ता से शोकाकुल ही रहे थे। इस प्रकार सभी घबराये थे, अधीर थे। केवल दो तरह के व्यक्ति ही उस मुगल सेना में धैर्य से युक्त तथा भय से सर्वथा मुक्त थे। प्रथम तो वेश्यायें तथा दूसरे हिजड़े ॥ ७३ ॥

अनवाप्तशरव्यवाहिनीशः शिविरञ्चारिबलाकुलं विचिन्त्य ।
अनुजीविभटैस्सहात्मदर्शी शिवराजः स्वपथोद्यमं बबन्ध ॥ ७४ ॥

अनवाप्तशरव्यवाहिनीशः शिबिरम् अरिबलाकुलं विचिन्त्य च आत्मदर्शी शिवराजः अनुजीविभटैः सह स्वपथोद्यमं बबन्ध ॥ ७४ ॥

आक्रमण का लक्ष्य सेनापति शायिस्ताखान बाल बाल बच गया। शिविर भी शत्रु-सैनिकों की हलचल से भर गया। ऐसी स्थिति में आत्मदर्शी क्षत्रपति ने अपने अनुगामी सैनिकों के साथ अपने मार्ग के प्रति अपने मन को नियोजित किया ॥ ७४ ॥

अवधूय गृहान् निपात्य शूरानवकम्प्योद्धतशाखिदर्परागम् ।
अनुषिच्य धरामकीर्तिदग्धां नवझञ्झानिलविक्रमोऽगमत् सः ॥ ७५ ॥

गृहान् अवधूय शूरान् निपात्य उद्धतशाखिदर्परागम् अवकम्प्य अकीर्तिदग्धां धराम् अनुषिच्य नवझञ्झानिलविक्रमः सः अगमत् ॥ ७५ ॥

क्षत्रपति नवीन झञ्झावात के समान आये, काम किया और निकल गये (आँधी-पानी के साथ आनेवाले तूफान को झञ्झानिल कहते हैं); घरों को प्रकम्पित कर दिया, वीरों को गिरा दिया, गर्वोन्मत्त वृक्ष के दर्प को भी चूर्ण कर दिया। तथा कलंकदग्ध पृथ्वी को अभिषिक्त करके आँधी-तूफान के समानचलते बने॥७५॥

किमिदं कथमस्ति कुत्र कोऽसौ प्रतिकण्ठं श्रुतिनिर्मराऽपि पृच्छा।
परमात्मविवेककामनेव नहि सन्देहहरं वचोऽनुलेभे ॥ ७६ ॥

इदं किं ? कथम् अस्ति ? कुत्र ? असौ कः ? प्रतिकण्ठं श्रुतिनिर्मरा अपि पृच्छा परमात्मविवेककामना इव सन्देहहरं वचः न हि अनुलेभे ॥ ७६ ॥

'यह क्या है, क्यों है, कहाँ है, कौन है' इस प्रकार की कान को परितुष्ट करनेवाली जिज्ञासा प्रत्येक कण्ठ से स्फुट हो रही थी किन्तु आत्मविवेक की (जानकारी प्राप्त करने को) इस कामना को संशय दूर करनेवाली वाणी नही प्राप्त हो सकी। कोई भी यथार्थ न बतला सका। अथवा—वेदों में सर्वथा निहित यह जिज्ञासा कि यह दृश्यमान विश्व क्या है, किस प्रकार यह प्रवर्तित होता है, इसका स्रोत कहाँ है, वह कौन है जो इसे परिचालित करता है, ये अनेकविध विचार प्रत्येक व्यक्ति के मुँह से मुखरित हुए किन्तु परम आत्मतत्त्व को जानने की इस कामना को शान्त करने के लिए सन्देह-निवारण करनेवाला अभीष्ट उत्तर नहीं हो प्राप्त हुआ ॥ ७६ ॥

पटवेश्म कृपीटयोनिदग्धंपरितो विक्षतमूर्धसङ्कुलोर्वी।
गलदश्रुभरा स्त्रियश्च भीता अगमन् भीषणसम्परायसाक्ष्यम् ॥ ७७ ॥

परितः कृपीटयोनिदग्धं पटवेश्म, विक्षतमूर्धसङ्कुला उर्वी, गलदश्रुभरा भीताः स्त्रियः च भीषणसम्परायसाक्ष्यम् अगमन् ॥ ७७ ॥

आग से जले हुए तम्बू-कनात, कटे हुए शिरों से भरी हुई पृथिवी, तथा आँसू बहाती हुई भयभीत स्त्रियाँ—ये ही रात्रि कालीन भयंकर युद्धलीला का साक्ष्य उपस्थित कर रहे थे ॥ ७७ ॥

अवलोक्य हुताशनप्रदीप्तान् पथि वृक्षान् रिपुशङ्किनः सपत्नाः।
कुशलारिसमीहितप्रयोगे पतिता मोघपरिश्रमा विषेदुः ॥ ७८ ॥

पथि हुताशनप्रदीप्तान् वृक्षान् अवलोक्य रिपुशङ्किनः सपत्नाः कुशलारिसमीहितप्रयोगे पतिताः मोघपरिश्रमाः विषेदुः ॥ ७८ ॥

शत्रु को भ्रान्ति में डालने के लिए मराठों ने विभिन्न दिशाओं के वृक्षों में शीघ्र जलनेवाले तैलसिक्त वस्त्र आदि बाँध रखे थे जाते-जाते उन्हें प्रज्वलित कर दिया। अब वृक्षों पर जलते हुए मार्गदर्शक के समान वस्त्रों को देखकर उसी दिशा में शत्रु का पता लगाने की मूर्खता करनेवाले मुगल सैनिक, चालाक शत्रु द्वारा बिछाये गये जाल में फँसकर विफलमनोरथ होकर चिन्ता से भर गये। उनको रात्रि कालीन अभियान सम्बन्धी कोई सूत्र न मिला ॥ ७८ ॥

अपरेण पथा स्वदेशवीराः स्वनिवेशं हतबाधमाशु लब्ध्वा ।
द्विषदामनुकीर्तितुं दुराशां स्वशतघ्नीः समताडयन् सहेलम् ॥ ७९ ॥

स्वदेशवीराः अपरेण पथा हतबाधं स्वनिवेशम् आशु लब्ध्वा, द्विषदां दुराशाम् अनुकीर्तितुं सहेलं स्वशतघ्नीः समताडयन् ॥ ७९ ॥

क्षत्रपति के स्वदेशरक्षक सैनिक दूसरे मार्ग से अपने सुरक्षित दुर्ग में बिना किसी मार्ग-बाधा के पहुँच गये। शत्रुओं की दुराशा की दुर्दशा को ही प्रचारित करने के लिए वे हठपूर्वक तोपों से गोलों की बौछार करने लगे ॥ ७९ ॥

उपतोरणमाशु सिंहदुर्गे शिवबालार्कमवेक्ष्य पौरलोकः ।
विततान मुदं यथा प्रयत्नः सफलं वीक्ष्य मनोरथं स्वमार्गे ॥ ८० ॥

आशु सिंहदुर्गे उपतोरणं पौरलोकः शिवबालार्कम् अवेक्ष्य मुदं विततान यथा प्रयत्नः स्वमार्गे मनोरथं सफलं वीक्ष्य मुदं (तनोति) ॥ ८० ॥

सिंहगढ़ के किले में तोरण के पास ही वीर क्षत्रपति को नवोदित सूर्य के समान उपस्थित देखकर हर्षनिर्भर पुरजनों के आनन्द की सीमा न रही। ऐसा प्रतीत होता था मानो प्रयत्न ने मार्ग में ही मनोरथ को सफल प्राप्त कर लिया हो ॥ ८० ॥

प्रतिपक्षबलं बलोत्तमौजाः सहसा साहससम्पदा विभिद्य ।
तदभिक्रमणावशोषिताये निजकोशे नृपतिर्बबन्ध चित्तम् ॥ ८१ ॥

बलोत्तमौजाः नृपतिः साहससम्पदा सहसा प्रतिपक्षबलं विभिद्य, तदभिक्रमणाव-शोषिताये निजकोशे चित्तम् बबन्ध ॥ ८१ ॥

इस प्रकार उत्तम विक्रमवाले महाराज शिवाजी ने आत्म-पराक्रम से सहसा शत्रुदल को आक्रान्त कर, शत्रु द्वारा किये गये आक्रमणों में अपनी विपुल धन-सम्पत्ति के व्यय से रिक्त कोश को समृद्ध करने के लिए विचार करना आरम्भ किया [कोषहीन राजा के अच्छे संकल्प भी धनाभाव के कारण पूर्ण नहीं होते। अस्तु, कोषसञ्चय राजा का प्रधान कर्तव्य है। साधन-सम्पन्नता के कारण मुगल अनायास ही क्षत्रपति के आय-स्रोतों पर प्रतिबन्ध लगाने में सफल हो जाते थे। विशेषतः शायिस्ताखान तो सैनिक-अभियानों से अधिक आर्थिक नाकेबन्दी को ही महत्त्व देता था ॥ ८१ ॥

बलकोषपरिक्षयं विपक्षी समवाप्यापि निरन्तरप्रयोगे ।
अरुणाम्बरक्तबीजकल्प[1]ः पुनरेवाश्रमवृंहितात्मशक्तिः ॥ ८२ ॥

---

१. पुरा शुम्भासुरश्चमूपतिः रक्तबीजनामासुरो दुर्गां भगवतीं विरुन्धन् सर्वान् देवान् संशये न्यपातयत्। रक्तबिन्दुपातेन सहैवास्य शरीरात् तद्रूपाः तत्पराक्रमाः तत्क्षणं समुद्भूताः प्रारभन्त ततश्चामुण्डां रक्तपाने नियुज्य भगवती तं समरे जघान दुर्गासप्तशती ।

विपक्षी निरन्तरप्रयोगे बलकोषपरिक्षयं समवाप्य अपि नवरक्तबीजकल्पः अश्रम-वृंहितात्मशक्तिः पुनः एव अरुणत् ॥ ८२ ॥

निरन्तर युद्ध आदि में फँसने के कारण सैनिकों तथा धन का विशाल अपव्यय करके भी नये रक्तबीज के समान यह दिल्ली फिर बिना प्रयास ही अपनी शक्ति और अधिक बढ़ा लेती है और फिर उसी उत्साह से विरोध करती है ॥ ८२ ॥

ध्रुवमाजिविडम्बनैकसूतावपि दिल्ली व्यथते न दक्षिणस्याम् ।
कनकैश्च भटैरिहैव लब्धैरिह भग्नैरपि सा निराधिरेव ॥ ८३ ॥

ध्रुवं आजिविडम्बनैकसूतौ अपि दक्षिणस्यां दिल्ली न व्यथते । इव एव लब्धैः कनकैः भटैः च इह भग्नैः अपि सा निराधिः एव ॥ ८३ ॥

दक्षिण भारत में दिल्ली को निश्चय ही युद्धजन्य विडम्बना भोगनी ही पड़ती है फिर भी दिल्ली व्यथित नहीं होती । स्पष्ट है कि यहीं पर धन-जन (सैनिक और सुवर्ण) प्राप्तकर यहीं विनष्ट करके भी दिल्ली को तनिक भी चिन्ता नहीं होती ॥८३॥

नहि केवलमत्र वाहिनीनामपि गान्धारजुषाञ्च युद्धसज्जाम् ।
सहजार्पितपुष्कलात्मशुल्कै रचितुं सूरतनैगमाः समर्थाः ॥ ८४ ॥

नहि केवलं अत्र वाहिनीनां गान्धारजुषाम् अपि च युद्धसज्जाम् रचितुं सहजार्पित-पुष्कलात्मशुल्कैः समर्थाः सूरतनैगमाः ॥ ८४ ॥

केवल यहीं की सेनाओं के लिए ही नहीं अपितु अफगानिस्तान में लड़नेवाली मुगल फौजों के लिए भी धन-जन का प्रबन्ध करने में अपने कर दान (टैक्स) द्वारा अकेले सूरत के व्यापारी ही समर्थ हैं । (सूरत, आधुनिक गुजरात प्रान्त का एक समृद्ध व्यापारिक नगर है । उस समय भी सूरत व्यापार का केन्द्र था । अंग्रेजों की अपनी व्यापारिक कोठियाँ भी वहीं स्थापित थीं । मुगलों को वहाँ से प्रचुर टैक्स उपलब्ध होता था) ॥ ८४ ॥

बहुधा विजितापि पारसीकैर्यदि गान्धाररणाग्रहैव दिल्ली ।
नियतं तदनर्गलं हिरण्यं निखिलं सूरतराजकोषलक्ष्म्याः ॥ ८५ ॥

यदि बहुधा पारसीकैः विजिता अपि दिल्ली गान्धाररणाग्रहा एव तत् नियतं सूरत-राजकोषलक्ष्म्याः अनर्गलं निखिलं हिरण्यम् ॥ ८५ ॥

इरानियों से बार-बार युद्ध में पराजित होने पर भी यदि दिल्ली अफगा-निस्तान (गान्धार) में युद्ध का मोह, उद्योग नहीं छोड़ती तो निश्चय ही यह सूरत के राजकोष से प्राप्त होनेवाली निस्सीम सुवर्णराशि के ही कारण है ॥ ८५ ॥

अहितैस्सह पश्चिमोत्तरस्यां हठसंघर्षवतो ध्रुवं वराकी ।
अपनिष्ठमपि स्वसैन्यसङ्घम् क्षमते सूरतकाञ्चनैर्नियोक्तुम् ॥ ८६ ॥

पश्चिमोत्तरस्यां अहितैः सह हठसंघर्षवती वराकी ध्रुवं अपनिष्ठं अपि स्वसैन्यसंघम् सूरतकाञ्चनैः नियोक्तुं क्षमते ॥ ८६ ॥

अभागी दिल्ली पश्चिमोत्तर दिशा में शत्रुओं से हठपूर्वक युद्ध करती हुई भी, निष्ठाविहीन सैनिकों को सूरत के सुवर्ण से खरीदकर, सेवा में नियुक्त करने में समर्थ है (दिल्ली की सेना में सैनिक बिना निष्ठा के ही भरती होते हैं कारण यह है कि वेतन आदि का मोह ही उन्हें आकृष्ट करता है राजभक्ति नहीं) ॥ ८६ ॥

विषमाहवमूर्ध्नि मूर्च्छितानां ननु सञ्जीवनवल्लरी रिपूणाम् ।
अमृतद्रववर्तिकैव दिल्लीं प्रथितर्द्धिः श्रयतीव विक्षताङ्गीम् ॥ ८७ ॥

विषमाहवमूर्ध्नि मूर्च्छितानां रिपूणां ननु सञ्जीवनवल्लरिः । विक्षताङ्गीं दिल्लीं प्रथितर्द्धिः अमृतद्रववर्तिका एव श्रयति इव ॥ ८७ ॥

सूरत की सम्पत्ति भयंकर रणक्षेत्र में मूर्च्छित महाराष्ट्र के शत्रुओं के लिए सञ्जीवनी लता के समान है। युद्ध में अतिशय आहत क्षत विक्षत अंगो वाली दिल्ली के घावों के लिए यह विशाल सम्पत्ति वाली सूरत श्री, अमृत सिक्त वर्तिका (वत्ती) है। सूरत के सहारे दिल्ली भयंकर युद्धों में विपन्न होकर भी फिर स्वस्थ, सम्पन्न हो जाती है ॥ ८७ ॥

अतिचित्रमये ! रणद्रुता यद् भयभीतानुचरापि नामशेषा ।
निजपूर्वजगौरवप्रसादं परिगृह्णाति विमर्दितापि दिल्ली ॥ ८८ ॥

अये, अतिचित्रं यत् रणद्रुता भयभीतानुचरा नामशेषा अपि, विमर्दिता अपि दिल्ली निजपूर्वजगौरवप्रसादं परिगृह्णाति ॥ ८८ ॥

अहो ! बड़ा ही आश्चर्य है कि युद्धभूमि से पलायित हो जाने पर भी, सैनिकों के भर्यात हो जाने पर भी विमर्दित, पराजित होकर भी दिल्ली पुरानी प्रतिष्ठा के नाम पर, पूर्वजों की गौरवपूर्ण कीर्ति का लाभ उठा रही है। चित्रसिंह के समान दिल्ली अपनी दिखावटी चमक-दमक से प्रतिष्ठा प्राप्त कर रही है, वस्तुतः भीतर से वह विपन्न हो चुकी है ॥ ८८ ॥

शिथिलान्तरसंहतावपीत्थं वसतौ बाह्यचमत्कृतिं निरूप्य ।
अयथार्थधियो मुधा सभीतं प्रणिपत्यार्जववृत्तयस्तपन्ति ॥ ८९ ॥

इत्थं शिथिलान्तरसंहतौ अपि वसतौ बाह्यचमत्कृतिं निरूप्य अयथार्थधियः आर्जववृत्तयः सभीतं प्रणिपत्य मुधा तपन्ति ॥ ८९ ॥

भीतर का ताना-बाना तो सर्वथा ढीला हो गया है, केवल बाहरी चमत्कार (चमक-दमक) के बल पर दिल्ली प्रतिष्ठा पा रही है। यथार्थ ज्ञान से शून्य जनता व्यर्थ में भयभीत होकर अपनी सरलता, भोलेपन के कारण झुककर आदर करती है तथा बदले में दिल्ली विभिन्न प्रयत्नों से उस जनता को विपन्न करती है ॥ ८९ ॥

रजतोपधिसंविदेव शुक्तावथ रज्जौ भुजगभ्रमाश्रयेण ।
अनुकारधियानुलेख्यसिंहे परदेश्योऽपि तनोति साध्वसास्थाम् ॥ ९० ॥

परदेश्यः अपि शुक्तौ रजतोपधिसंविदा इव अथ रज्जौ भुजगभ्रमाश्रयेण अनुलेख्यसिंहे अनुकारधिया साध्वसास्थां तनोति ॥ ९० ॥

सीपी में चाँदी के भ्रमसे, था रस्सी के टुकड़े में सर्प प्रतीति के भ्रम का आश्रय लेकर, चित्रलिखित सिंह में अनुकृति-सादृश्य की भ्रान्ति के कारण विदेशी भी दिल्ली के प्रति भयपूर्ण आदर का भाव रखते हैं। वस्तुतः दिल्ली भीतर से जर्जर हो गयी है ॥ ९० ॥

प्रतिकर्तुमलं न कोऽपि तावन्न हठाद् यावदपैति शर्वरीयम् ।
नवविक्रमभानुमद्विभीता सहितं शार्वरबृंहितैर्विलासैः ॥ ९१ ॥

यावत् इयं शर्वरी शार्वरबृंहितैः विलासैः सहितं नवविक्रमभानुमद्विभीता हठात् न अपैति तावत् कः अपि प्रतिकर्तुं न अलम् ॥ ९१ ॥

पूरा देश विशेषतः सुदूरवर्ती सूरत आदि नगर केवल भ्रान्ति के कारण दिल्ली का झण्डा ढो रहे हैं। दिल्ली उनकी रक्षा नहीं कर सकती। दिल्ली के मिथ्या दबदबे की यह काली रात, किसी नवपराक्रमशाली सूर्य के प्रकाश से भयार्त होकर अपने सम्पूर्ण रात्रिकालीन जगमगाते वैभव-विलास एवं प्रदर्शन के साथ जबतक विनष्ट नहीं होगी तबतक दिल्ली का प्रतीकार करना सरल न होगा [दिल्ली के विरुद्ध देश को उभारने का उपाय यही है कि दिल्ली की शक्तिहीनता का स्थान-स्थान पर प्रमाणपूर्वक उदाहरण दिया जाय।] ॥ ९१ ॥

हतवीर्यसुखाध्वसैन्यपङ्क्तिः शठलालाटिकदुर्गपापरक्ता ।
क्षणरागपुरस्कृतौजसेऽपि न दुरापा स्वयमुत्सुका पुरीयम् ॥ ९२ ॥

शठलालाटिकदुर्गपापरक्ता हतवीर्यसुखाध्वसैन्यपङ्क्तिः स्वयम् उत्सुका इयं पुरी क्षणराग-पुरस्कृतौजसे अपि न दुरापा ॥ ९२ ॥

इस सूरत में नियुक्त मुगल सेना आरामतलब और हीनपराक्रम है, चाटुकार, स्वार्थी किलेदार (दुर्गपाल) में उसकी रत्ती भर भी आस्था नहीं है। यह नगरी तो स्वयं उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा-निमग्न है। यदि कोई थोड़ा भी पराक्रम का प्रदर्शन करे तो ये प्रतिरोध तो अपने आप नष्ट हो जायेंगे तथा सूरत पर अधिकार करना तनिक भी कठिन न होगा ॥ ९२ ॥

अलकेशवरैर्दवीयसीं तामपि दिल्लीं समयं निषेवमाणा ।
अपि दक्षिणदिग्ललाटबिन्दुर्न भुजिष्येव हितं निबोधतीयम् ॥ ९३ ॥

अलकेशवरैः दवीयसीम् अपि तां दिल्लीं समयं निषेवमाणा दक्षिणदिग्ललाटबिन्दुः अपि इयं भुजिष्या इव हितं न निबोधति ॥ ९३ ॥

धन-सम्पत्ति आदि के सम्बन्ध में कुबेर ने दिल्ली की अपेक्षा सूरतलक्ष्मी को ही महत्त्व दिया है। फिर भी सूरतलक्ष्मी भयपूर्वक, दिल्ली की सेवा में लगी रहती है। वास्तविकता तो यह है कि दक्षिण दिशा के ललाट पर मोहक सौभाग्यबिन्दु के समान सूरत नगरी अपना हित भूलकर दासी के समान दिल्ली की सेवा करती है। यह अपना हितचिन्तन जानती तक नहीं ॥ ९३ ॥

शतयुद्धपयोधिसेतुहेतुं नवसौन्दर्यविलोभि कण्ठनालम्।
विनिकृन्तति बाहुमप्यनिष्टं परिसर्पद्विषमान्मजीवरक्षी ॥ ९४ ॥

आत्मजीवरक्षी शतयुद्धपयोधिसेतुहेतुं नवसौन्दर्यविलोभिकण्ठनालं बाहुम् अपि अनिष्टम् परिसर्पद्विषं विनिकृन्तति ॥ ९४ ॥

अस्तु, दिल्ली के निस्सार भ्रामक मायाजाल के प्रभाव को नष्ट करने के लिए सूरत पर अभियान अनिवार्य है। बिना सूरत को विपन्न किये जनता के हृदय से दिल्ली का भूत नहीं उतरेगा। अतः यद्यपि सूरतअद्वितीय नगर है फिर भी इसकी सम्पत्ति दिल्ली को उन्मत्त बना रही है। दिल्ली की कोषपूर्ति में सूरत का महत्त्वपूर्ण योगदान है। दिल्ली को विपन्न करने के लिए सूरत का विपन्न होना प्रथम चरण है। अपनी प्राणरक्षा के लिए मनुष्य को सब कुछ करना पड़ता है। जिस भुजा के द्वारा अनेक युद्धसमुद्रों को पार करने के लिए पुल का काम लिया गया (जिसके बल पर युद्धों में विजयलाभ हुआ), जो अभिनवयौवना प्रियतमा के गले में सुन्दर माला के समान शोभित होती रही, फैलते हुए जहर से कदर्थित उसी भुजा को शेष शरीर की रक्षा के लिए काटना भी पड़ता है [अतः देश-स्वातन्त्र्य के लिए सूरत की समृद्धि विपन्न हो।] ॥ ९४ ॥

तदलब्धनिजोपमापि भूमौ स्वपरोत्कर्षविवेकवीतदृष्टिः।
वितनोतु तुरुष्कभूभृदार्धिं सहठोत्सादितनैगमप्रतीतिः ॥ ९५ ॥

तत् भूमौ अलब्धनिजोपमा अपि स्वपरोत्कर्षविवेकवीतदृष्टिः सठोत्सादितनैगम-प्रतीतिः (सूरतलक्ष्मीः) तुरुष्कभूभृदार्धिं वितनोतु ॥ ९५ ॥

अतः यद्यपि सूरतनगर की वैभव-सम्पत्ति सम्पूर्ण जगत् में अतुलनीय है तथापि अपने-पराये विवेक से यह सर्वथा शून्य है (यह अनजान में ही दिल्ली को रणोन्मद बना रहा है)। अतः इस पर आक्रमण द्वारा इसके व्यापारियों की दिल्ली-विषयक अन्धभक्ति को अवश्य नष्ट करना है यतः मुगल बादशाह की मानसिक वेदना असह्य हो जाय ॥ ९५ ॥

अवगच्छतु साध्वसाध्वपान्थान् प्रकृतिर्वीक्ष्य भटानसारभर्तुः।
निजभाग्यनिकारवर्णलेखं विवशाविष्कृतपौरुषान्तराशा ॥ ९६ ॥

असारभर्तुः साध्वसाध्वपान्थान् भटान् वीक्ष्य विवशा प्रकृतिः आविष्कृतपौरुषान्तराशा निजभाग्यनिकारवर्णलेखम् अवगच्छतु ॥ ९६ ॥

अतः भयपूर्वक रास्ते में भागते हुए, निर्वीर्य मुगल बादशाह के भगोड़े सिपाहियों को देखकर सूरत जनपद की प्रजा वास्तविकता से सर्वथा परिचित होकर अपने दुर्भाग्य की विडम्बना का लेखपत्र पढ़े और दिल्ली के स्थान पर किसी अन्य पराक्रमशील पौरुष का आश्रय ग्रहण करे ॥ ९६ ॥

द्विगुणद्विसहस्रसादिसैन्यं जितविद्युज्जवमागतं निशम्य ।
स्ववधूरपि रक्षिणो विमुच्य न्यविशन् षण्डधियोऽपसृत्य दुर्गे ॥ ९७ ॥

जितविद्युज्जवं द्विगुणद्विसहस्रसादिसैन्यम् आगतं निशम्य षण्डधियः रक्षिणः स्ववधूः अपि विमुच्य अपसृत्य दुर्गे न्यविशन् ॥ ९७ ॥

सूरत की रक्षा में नियुक्त सेना ने जैसे ही सुना कि चार हजार मराठे घुड़सवार बिजली के वेग से नगर पर आ रहे हैं कि हड़बड़ी में अपनी स्त्रियों तक को अरक्षित छोड़कर वे नपुंसक सैनिक भागकर सुरक्षार्थ किले के भीतर पहुँच गये ॥ ९७ ॥

परिखामिव सन्निपात्य लज्जां पुरलक्ष्म्या नवसङ्गमप्रयोगे ।
शिवमावलविक्रमो हठात्तां विदधे लोलविधेयनिस्सहाङ्गीम् ॥ ९८ ॥

शिवमावलविक्रमः नवसङ्गमप्रयोगे पुरलक्ष्म्या. लज्जां परिखाम् इव सन्निपात्य तां हठात् लोलविधेयनिस्सहाङ्गीं विदधे ॥ ९८ ॥

मराठों के इस आकस्मिक अभियान ने परिखा परकोटे को तोड़ दिया। क्षत्रपति के मावले सैनिकों ने हठपूर्वक अपने बलप्रयोग से सूरत को मथ डाला। अथवा—इस अभिनव-सङ्गमजन्य मधुमय प्रयोग में नगरश्री की नव-संगमोचित लज्जा को परिखा के समान दूर कर क्षत्रपति के पौरुषनिर्भर विक्रम ने हठपूर्वक रमणीय चञ्चल लीला-व्यापार में नगरलक्ष्मी को श्रम-निस्सहार्त, विवश शरीरवाली बना दिया ॥ ९८ ॥

जनकल्मषसाध्वसक्षमायै पुरतो दृष्टशुभायतिश्च जोष्टुम् ।
अधरीकृतदैवकल्पनानां परितोषाय च मावलेभटानाम् ॥ ९९ ॥
परिभूय हठान्मदावलिप्तान् धनदंमेरुगिरिश्च रत्नसिन्धुम् ।
वसुधैव ववर्ष हेमधारं जयिनो विस्मयवारिधौ क्षिपन्ती ॥१००॥

जनकल्मषसाध्वसक्षमायै पुरतः दृष्टशुभायतिं जोष्टुं च अधरीकृतदैवकल्पनानां मावलेभटानां परितोषाय च वसुधा एव हठात् मदावलिप्तान् धनदं मेरुगिरिं रत्नसिन्धुं च परिभूय जयिनः विस्मयवारिधौ क्षिपन्ती हेमधारं ववर्ष ॥ ९९ १०० ॥

दिल्ली के प्रति अन्धभक्तिरूपी जनापराध के परिमार्जन, क्षमापन के लिए तथा सम्मुख उपस्थित घटना के अनुसार अभ्युदयपूर्ण भविष्य की आराधना के लिए एवं दैव की उपेक्षा करनेवाले साहसप्राण 'मावले' सैनिकों के परितोष के लिए, धन के गर्व में उन्मत्त रहनेवाले अलकाधिप कुबेर, सुमेरु गिरि एवं रत्नों के

आदिस्थान रत्नाकर को लज्जित करते हुए, स्वयं वसुन्धरा ने (सूरत की भूमि ने) सुवर्ण की वृष्टि करके विजेता मावले सैनिकों को विस्मय के समुद्र में निमज्जित कर दिया ॥ ९९-१०० ॥

व्यवसायनिपीतसन्मतीनां परिलोच्याग्रहमध्वरान्तरायम् ।
दुरिताढ्यपथप्रतिक्रियायै धनमग्नौ निधनं हिताय मेने ॥१०१॥

व्यवसायनिपीतसन्मतीनाम् अध्वरान्तरायम् आग्रहं परिलोच्य धनं दुरिताढ्यपथप्रतिक्रियायै अग्नौ निधनं हिताय मेने ॥ १०१ ॥

व्यापार में अहर्निश निमग्न रहने के कारण, धन को ही एक मात्र लक्ष्य मानकर, उसकी सिद्धि के लिए लज्जा, सम्मान, धर्म, देशप्रेम आदि सद्गुणों की उपेक्षा करनेवाले मतिभ्रष्ट धनी व्यापारियों के दुराग्रह को देशहित के यज्ञ में विघ्नस्वरूप जानकर, पापमय, लक्ष्मीवानों के स्वार्थमय मार्ग की प्रतिक्रिया के लिए धन ने अग्नि में निधन ही कल्याणकारी माना [धन अग्नि में जलकर राख हो गया । मराठों को धन देने के स्थान पर अपनी कोठियों तथा गुप्त स्थानों में धन हटाकर लोग भाग गये, बहुतों ने असमर्थता प्रकट की, फलतः नगर का समृद्ध भाग अग्नि की लपटों में धधक उठा ।] ॥ १०१ ॥

चलवारवधूकटाक्षविद्धा चिरभूगर्भधृताऽऽसवोन्मदिष्णून् ।
प्रतिकर्तुमिवाक्षमात्मगोप्तॄन् हतधैर्याभिससार दुर्गलक्ष्मीः ॥१०२॥

दुर्गलक्ष्मीः चलवारवधूकटाक्षविद्धान् चिरभूगर्भधृतासवोन्मदिष्णून् अक्षमात्मगोप्तॄन् प्रतिकर्तुम् इव हतधैर्या अभिससार ॥ १०२ ॥

दुर्गलक्ष्मी (सूरत दुर्ग की अधिष्ठात्री देवी) ने वेश्याओं के चञ्चल कटाक्षों से विद्धहृदय, चिरकाल तक जमीन में सुरक्षित शराब के आस्वादन से उन्मत्त, आचारहीन, अपनी मर्यादा के रक्षकों से मानो प्रतिशोध की भावना से ही धैर्यहीन हो स्वयं अभीष्ट आश्रय में अभिसारिका के समान चली गयी [सूरत का किला लूट लिया गया ।] ॥ १०२ ॥

क्षणमात्रमसौ हि सूरतश्रीर्घनधूमायितसंस्तरं दधाना ।
हतवीर्यकलङ्कपङ्कदिग्धं विदधौ सन्ततदेहलीमुखेन्दुम् ॥१०३॥

असौ सूरतश्रीः हि क्षणमात्रं घनधूमायितसंस्तरं दधाना सन्ततदेहलीमुखेन्दुं हतवीर्यकलङ्कपङ्कदिग्धं विदधौ ॥ १०३ ॥

क्षण भर में ही धूएँ के बादलों के बीच बैठी हुई सूरत नगर की उस लक्ष्मी (शोभा) ने दिल्ली के मुखचन्द्र को नपुंसकता के पापपङ्क से जुगुप्सित बना दिया । प्रकट हो गया कि दिल्ली अशक्त है नपुंसक है, तथा व्यर्थ ही डींग हाँकती है ॥ १०३ ॥

अवरङ्गनृपाहवाभिलाषं परितर्प्यार्य्यवरस्तदीयकोषैः ।
सह सूरतसम्पदैव दिल्लीं विषमेऽमर्दयदुत्कटोन्मदिष्णुम् ॥१०४॥

आर्यवरः अवरङ्गनृपाहवाभिलाषं तदीयकोषैः परितर्प्य सूरतसम्पदा सह एव उत्कटोन्मदिष्णुं दिल्लीं विषमे अमर्दयत् ॥ १०४ ॥

इस प्रकार शायिस्ताखान और सूरत के मानमर्दन द्वारा मुगल बादशाह अवरंगजेब की युद्धाभिलाषा को उसी की सम्पत्ति से तृप्त करके, सूरत के साथ ही मदोत्कट दिल्ली को भी वीर क्षत्रपति ने ग्लानि से मूर्च्छित कर दिया ॥ १०४ ॥

तामित्थमाहवरमां नृपतिर्विनेतुं
प्राज्यं यदर्पयदुदारबलर्द्धियोगम् ।
आनन्त्यनिघ्नमनुरागवती निनाय
सा तत् प्रियाय रुचियौतुकमेव सर्वम् ॥१०५॥

इत्थं ताम् आहवरमां विनेतुं नृपतिः यत् प्राज्यं उदारबलर्द्धियोगम् अर्पयत् तत् सर्वम् अनुरागवती सा आनन्त्यनिघ्नं रुचियौतुकम् एव प्रियाय निनाय ॥ १०५ ॥

इस प्रकार युद्धलक्ष्मी को प्रसन्न करने के लिए (मनाने के लिए) राजेन्द्र क्षत्रपति ने पुष्कल धन-सम्पत्ति आदि समर्पित किया और अनुरागमयी उस रणलक्ष्मी ने राजा को अनन्त गुनी धन-सम्पत्ति दहेजरूप से अपने प्रियतम क्षत्रपति को प्रत्यर्पित किया ॥ १०५ ॥

इति श्रीत्रिपाठचुपाह्वेन उमाशङ्करशर्मणा विरचिते
क्षत्रपतिचरित-महाकाव्ये दशमः सर्गः ।

अथ एकादशः सर्गः

[इस एकादश सर्ग का, काव्यगत वैशिष्ट्य अथवा प्रबन्धात्मक सन्निवेश के अतिरिक्त भी, एक अपना महत्व है। यथार्थ तो यह है कि इस सर्ग की घटना को ही इस महाकाव्य का मुख्य प्रेरणा-स्रोत कहा जा सकता है। घटना पुरानी है। उस समय कवि मिडल स्कूल के विद्यार्थी थे। घर पर छुट्टियों में आते थे। एक दिन उन्हें प्राइमरी कक्षा के विद्यार्थी की हिन्दी पाठ्य-पुस्तक पड़ी हुई मिल गयी। उलटते-पुलटते उन्होंने एक पाठ 'शिवाजी की गुरु-भक्ति' को ध्यानपूर्वक पढ़ा और कतिपय बार पढ़ा। उसका प्रभाव निरन्तर बढ़ता ही गया। घटना यूं थी कि बीर शिवराज के अदम्य उत्साह, परोपकार तथा अन्याय-विनाश आदि सहज गुणों के कारण महाराज समर्थ उनपर विशेष कृपालु रहा करते थे। अन्य शिष्यों को यह बहुत उचित नहीं प्रतीत होता था। उनके विचार से समर्थ महाराज की कृपा के अधिकारी प्रथम तो उनके नैष्ठिक (घर-बार छोड़कर उन्हीं की सेवा में लगे रहने वाले) शिष्य ही थे। किन्तु समर्थ महाराज केवल बाहरी वेष आदि को नहीं अपितु शिक्षा को व्यवहार में लाने को ही प्रधानता देते थे। यही कारण था कि वे शिवा पर विशेष कृपा करते थे। पर एकाध शिष्यों ने तो दबे स्वर में यहाँ तक कह दिया कि शिवराज के पार्थिव वैभव के कारण उनका विशेष सम्मान था। महाराज समर्थ ने भी सुना पर अनसुनी कर गये।

महाराज समर्थ अलौकिक विभूति थे। बस एक दिन उन्हें मर्मान्तिक पीड़ा हुई, शिष्यों का सारा उपचार व्यर्थ हुआ महाराज ने बताया कि वघिनी का दूध ही उन्हें पीड़ा-मुक्त कर सकता हैं अन्य कोई ओषध नहीं। शिष्य मण्डली के हाथ-पाँव फूल गये। क्रमशः शिवराज को बात मालूम हुई, गुरु के लिए प्राणों की बाजी लगाने वाले शिवाजी को इसमें आगा-पीछा नहीं सोचना था। तुरन्त एक छोटा पात्र लेकर उसी क्षण रात में बीहड़ बन में प्रविष्ट हुए। प्रकृति का रौद्र ताण्डव भी आरम्भ हुआ किन्तु वृक्ष के नीचे पानी से बचने के लिए आयी हुई, अपने एक सप्ताह के शावक के साथ वघिनी उनके पास आकर खड़ी हो गयी। शिवाजी ने प्रार्थना पूर्वक दूधके लिए याञ्चा किया और दूध लेकर वीर शिवा तपोवन में आये। गुरु ने उन्हें हृदय से लगा लिया। बिना कुछ कहे ही शिष्यों को अपनी भूल ज्ञात हो गयी। यह सर्ग उसी घटना पर आधारित है।]

अथ श्रिया मुक्तचलस्वभावया सनिर्दयश्लेषनिखातमुद्रया।
निषेवितो भारतभाग्यमण्डनः शिवोऽश्रयन्नीतिमनीतिदर्पभित् ॥ १ ॥

अथ मुक्तचलस्वभावया सनिर्दयश्लेषनिखातमुद्रया श्रिया निषेवितः भारत-भाग्य मण्डनः अनीतिदर्पभित् शिवः नीतिम् अश्रयत् ॥ १ ॥

वीर शिवराज को सर्वथा मनोऽनुरूप अभिलषित मनोरथ के रूप में पाकर लक्ष्मी ने अपनी स्वभावगत चञ्चलता को छोड़कर उनमें अपना अक्षय अनुराग जोड़ा तथा लक्ष्मी के सहठ निर्दयघन श्लेष ने शिवराज पर दृढ़आलिङ्गनजन्य

लक्ष्ममुद्रा (दृढ़ आलिङ्गन के कारण देह पर अलंकारों आदि की छाप) अङ्कित कर दिया। भारत के सौभाग्य-मण्डन वीर शिवराज भी अन्यायियों का दर्प दलन करते हुए न्याय को आधारशिला बनाकर अपने उद्योग में तत्पर हुए ॥ १ ॥

स चारवर्त्माऽपि विचारदर्शनो विविच्य लोकप्रकृतिं स्वतन्त्रवित्।
न्यसेवतेष्टं नृपधर्मनन्दितं मनो जनानामनुरञ्जयन् प्रभुः ॥ २ ॥

चारवर्त्मा अपि विचारदर्शनः स्वतन्त्रवित् सः प्रभुः लोकप्रकृतिं विविच्य जनानां मनः अनुरञ्जयन् नृपधर्मनन्दितम् इष्टं न्यसेवत ॥ २ ॥

वीर शिवराज के पास गुप्तचरों का अति उत्कृष्ट विभाग था जो उन्हें स्वपक्ष तथा-परपक्ष सम्बन्धी तथ्यों से अवगत करता रहता था तथापि उनका कार्य, विचार से निर्दिष्ट होता था। स्वतन्त्रचेता होकर भी वे प्रजा की भावनाओं का आदर करते थे। इस प्रकार प्रजाजनों का अनुरञ्जन (राजा प्रकृतिरञ्जनात्) करते हुए वे राजधर्म से अनुमोदित अभीष्ट पथ का अनुसरण करते थे ॥ २ ॥

गभीरराष्ट्रोद्यमधाम बिभ्रतस्तदैकदा धैर्यवतोऽपि भूपतेः।
नियोजयन्नान्तर एव विप्लवो विवेकमन्याग्रहचञ्चलं व्यधात् ॥ ३ ॥

तदा एकदा गभीरराष्ट्रोद्यमधाम बिभ्रतः धैर्यवतः अपि भूपतेः आन्तरः एव विप्लवः विवेकं नियोजयन् (तमेव) अन्याग्रहचञ्चलं व्यधात् ॥ ३ ॥

राज्य की गम्भीर समस्याओं के समाधान में गौरवपूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त करने-वाले उस धैर्यशील राजा शिवाजी का अन्तर्मन एक दिन अपने आप शोकाकुल हो उठा। वह आन्तरिक क्षोभ उनके विवेक पर प्रभावी होने लगा। ऐसा प्रतीत होता था मानो उन्हें कोई आग्रहपूर्वक आकृष्ट कर रहा है ॥ ३ ॥

प्रतिष्ठिते न्यस्तपदोऽपि वर्त्मनि मनोरथोऽनूह्यनिमित्तचञ्चलः।
हयो यथा दृष्टिमनन्दितक्षणां नियोक्तुमिष्टे शतधा व्यचेष्टत ॥ ४ ॥

प्रतिष्ठिते वर्त्मनि न्यस्तपदः अपि अनूह्यनिमित्तचञ्चलः मनोरथः हयः यथा अनन्दित-क्षणां दृष्टिं इष्टे नियोक्तुं शतधा व्यचेष्टत ॥ ४ ॥

वीर शिवराज यद्यपि अपना कर्तव्य यथाविधि समुचित ढङ्ग से सम्पन्न कर रहे थे, उनका प्रत्येक पद सन्मार्ग में ही पड़ रहा था फिर भी उनका सङ्कल्प किसी अज्ञात अज्ञेय कारण से उद्विग्न हो उठता था तथा उस घोड़े के समान, जिसकी दृष्टि को कुछ भी अपनी ओर आकृष्ट करके प्रसन्न न कर पावे तथा वह अपनी दृष्टि को अभीष्ट मार्ग में लगाने के लिए अनेक तरह से चेष्टा करे महाराज भी किसी विषय में चित्त को एकाग्र नहीं कर पा रहे थे और मन को उद्वेगविहीन करने के लिए अनेक प्रकार से सचेष्ट थे ॥ ४ ॥

विधिं विविच्याऽपि विचारपद्धतौ प्रकल्प्य दृष्टे करणं सकारणम् ।
निगूढचारामतिलङ्घितानुमां चिदीश्वरीमात्मनि कोऽनुविन्दति ॥ ५ ॥

विचारपद्धतौ विधिं विविच्य, दृष्टे सकारणं करणं प्रकल्प्य अपि आत्मनि अतिलङ्घितानुमां निगूढचारां चिदीश्वरीं कः अनुविन्दति ॥ ५ ॥

अत्यन्त विवेकी प्राणी भी चित्स्वरूपा परमेश्वरी (विश्व-नियामक शक्ति) की इच्छा को यथार्थतः नहीं जान सकता है। सर्वथा विवेक की कसौटी पर कार्य का विनिर्णय करके कार्य-कारणभाव की प्रकल्पना करके भी अत्यन्त सूक्ष्म रहस्यात्मिका अनुमिति आदि प्रमाणों से सर्वथा अनूह्य अज्ञेय चित्शक्ति को जानने में कौन समर्थ हो सकता है [चित्शक्ति ही सम्पूर्ण दृश्य एव अदृश्य जगत् का कारण है। वेदान्तियों ने जिसे विष्णुमाया कहकर निखिल प्रपञ्च में कारण माना है, जिसमें प्रकृति अथवा प्रधान का उपलक्षण प्रतिष्ठित करके विकास का मूल स्रोत कहा गया है, शैव आगमों (काश्मीरीय) में वह चित् शक्ति के नाम से अभिहित होती है।] ॥ ५ ॥

जगत्यसङ्ख्येयपदार्थनिर्भरे शरीरिणः स्वप्नवतोऽथ जाग्रतः ।
अनूह्यसंस्कारनिरूपितोदया प्रवर्तमानाऽऽन्तरवासना ननु ॥ ६ ॥

असङ्ख्येयपदार्थनिर्भरे जगति स्वप्नवतः अथ जाग्रतः शरीरिणः अनूह्यसंस्कारनिरूपितोदया आन्तरवासना प्रवर्तमाना ननु (अस्ति) ॥ ६ ॥

यह संसार अनन्त पदार्थों तथा तद्भावों से परिपूर्ण है। इसमें रहनेवाला प्राणी चाहे वह जगा हुआ हो अथवा स्वप्नावस्था में हो, विचित्र मनःस्थितियों से सम्बद्ध होता रहता है। मनुष्य के प्राक्तन अनूह्य अज्ञेय संस्कारों द्वारा अथवा देश-काल-सापेक्ष्य कभी जीवन में यों ही प्राप्त सम्बन्धों द्वारा उत्पन्न (निष्पन्न) वासना अपने ढङ्ग से मन में प्रवर्तित होती रहती है। बहुधा स्वप्नावस्था में भी व्यक्ति विचित्र स्वप्नों को देखता है। जाग्रत् अवस्था में भी बिना कारणादि के संयोग के अन्तःकरण में भावना उठती है तथा क्रमशः बलवती होती हुई इच्छाशक्ति पर प्रभावी हो जाती है। इसे संस्कारपरक वासना कह सकते हैं ॥ ६ ॥

मनोऽन्तरादर्शतलाद्रजःकणानिवापनीय व्यवहारसम्भरान् ।
समर्थमूर्तिः सहठं महीभृते मुहुर्मुहुः प्रत्यफलज्जगद्धिता ॥ ७ ॥

मनोऽन्तरादर्शतलात् रजःकणान् इव व्यवहारसम्भरान् अपनीय जगद्धिता समर्थमूर्तिः महीभृते सहठं प्रत्यफलत् ॥ ७ ॥

जिस प्रकार शीशे के ऊपर पड़ी हुई धूल को साफ कर देने पर प्रतिबिम्ब बड़ा स्पष्ट प्रतिभासित होने लगता है उसी प्रकार दैनन्दिन-व्यवहार-सकुल राज-कार्यादि को शीशे के समान अन्तःकरण पर से धूलकणों के समान दूर कर देने पर शिवराज के उस मानस में विश्वकल्याण की भावनावाली समर्थ महाराज की मूर्ति बार-बार प्रतिफलित होने लगी [कार्यादि प्रपञ्चों के कारण वह स्वरूप स्पष्ट नहीं

हो रहा था, किन्तु ज्योंही मन इनसे विरत हुआ, वीर शिवराज को समर्थ महाराज का स्वरूप झलकता हुआ प्रतीत होने लगा।] ॥ ७ ॥

क्रमाद् व्रजन्त्या सह वासरश्रिया धृतिर्नृपस्यापि बबन्ध सङ्गतिम् ।
व्रजन् पुरोऽप्यात्मनिवेदितं क्षणः क्षणेऽनुगच्छत्यधिकं न्यवेशयत् ॥ ८ ॥

क्रमात् व्रजन्त्या वासरश्रिया सह नृपस्य अपि धृतिः सङ्गतिं बबन्ध। पुरः व्रजन् क्षणः अनुगच्छति क्षणे आत्मनिवेदितम् अधिकं न्यवेशयत् ॥ ८ ॥

ज्यों-ज्यों सूर्य की प्रभा अस्ताचल की ओर बढ़ती गयी, राजा की धीरता भी उसी के साथ राजा का साथ छोड़ने लगी। दिनान्त होते-होते राजा अपनी आन्तरिक चिन्ता से अत्यन्त खिन्न हो गये तथा प्रत्येक पहले आनेवाले (बीतनेवाले) क्षण ने अपनी मनोगत भावना को अपने बाद आनेवाले क्षण में अधिकाधिक भर दिया। ज्यों-ज्यों क्षण बीतते गये, आन्तरिक विकलता अधिकाधिक गुरुतर होती गयी। [जिस प्रकार पिता का अंश पुत्र का भागधेय होता है तथा वंशानुगत क्रम से पुत्र में सङ्क्रान्त होता है वैसे ही बीतनेवाले क्षण ने अपना दायित्व-बोध आनेवाले क्षण में प्रतिष्ठित किया।] ॥ ८ ॥

मनोऽपरागं विनियम्य भावयन् प्रतीक्षमाणान् सहजेक्षिताग्रहैः ।
शनैः समुत्थाय नृपो नृपासनात् स्ववाजिनं द्रष्टुमियेष सत्वरम् ॥ ९ ॥

मनोपरागं विनियम्य प्रतीक्षमाणान् सहजेक्षिताग्रहैः भावयन्, नृपासनात् शनैः समुत्थाय नृपः सत्वरं स्ववाजिनं द्रष्टु इयेष ॥ ९ ॥

फिर भी मन की विरक्ति को संयत करके प्रतीक्षा कर रहे जनसमुदाय को दृष्टि से सत्कृत करते हुए राजकार्य सम्पन्न करके अपने सिंहासन से धीरे से उठकर राजा ने अपने प्रिय अश्व को देखने की इच्छा की ॥ ९ ॥

स्वयम्भुवादर्श इव प्रकल्पितस्तुरङ्गसृष्टौ जनलोचनोत्सवः ।
स मन्द्रहेषाभिमतात्मसत्क्रियो वहन्नृपं वाहनतामिवावहत् ॥ १० ॥

जनलोचनोत्सवः तुरङ्गसृष्टौ स्वयम्भुवा आदर्श इव प्रकल्पितः, मन्द्रहेषाभिमतात्मसत्क्रियः सः नृपं वहन् वाहनताम् इव अवहत् ॥ १० ॥

महाराज का वह निजी अश्व भी बेजोड़ था। ऐसा प्रतीत होता था, मानो स्वयम्भू ब्रह्माजी ने घोड़ों के निर्माण करने में उसी को आदर्श माना था। वह लोगों की आँखों के लिए उत्सव के समान था। देखनेवाला उसे देखता ही रह जाता था। उसने भी महाराज को देखकर मन्द्र स्वर से हिनहिनाकर अपनी सम्मति एवं सत्कार व्यक्त किया तथा महाराज को अपनी पीठ पर बैठाकर सचमुच ही वाहनत्व-धर्म में प्रतिष्ठित हो गया ॥ १० ॥

कशाभियोगं सहजेङ्गितार्थवित् स्वरंहसा निष्फलयन्निवाध्वनि ।
प्रपालयन्नेव मनोरथं हयो धराभृतोऽव्यक्तमपि व्यबुध्यत ॥ ११ ॥

सहजेङ्गितार्थवित् अध्वनि स्वरंहसा कशाभियोगं निष्फलयन् इव मनोरथं प्रपालयन् हयः धराभृतः अव्यक्तम् अपि (भावं) व्यबुध्यत एव ॥ ११ ॥

सहज ही सकेत को (इंगितार्थ को) समझनेवाले उस अश्वरत्न ने चाबुक के प्रयोग का एक भी अवसर नहीं दिया। अपने तीव्र वेग से उसने चाबुक को व्यर्थ कर दिया। महाराज के सङ्केत का यथाविधि अनुगमन करनेवाला वह अश्व मानो उनके अव्यक्त मनोरथ को भी जानता ही था (वह घोड़ा मन की गति को भी मात कर रहा था) ॥ ११ ॥

स्खलत्करोऽसौ चरमाद्रिगह्वरे विलोक्य सन्ध्यां तमसेऽर्पितोरसम् ।
शुचोऽपनोदाय मधुक्रमस्पृहो जगत्प्रतिष्ठोऽपि चकर्ष वारुणीम् ॥ १२ ॥

चरमाद्रिगह्वरे स्खलत्करः असौ (सूर्यः) सन्ध्यां तमसे अर्पितोरसं विलोक्य, शुचः अपनोदाय मधुक्रमस्पृहः जगत्प्रतिष्ठः अपि वारुणीं चकर्ष ॥ १२ ॥

अब दिन डूब रहा था—क्षीण किरणोंवाले सूर्य ने अस्तगिरि की गुफा में सन्ध्या को क्रमशः अन्धकार में परिवर्तित होते देखा। खेद और दिनभर का श्रम भूलने के लिए कुछ पीने की इच्छा से जगत् को आचरण की शिक्षा देनेवाले सूर्य ने भी वारुणी को (पश्चिम दिशा को) अपनी ओर खींचा। यहाँ पर सूर्य एक ऐसे व्यक्ति के रूप में है जिसके हाथ बुढ़ापे से काँप रहे हैं। देखता है कि सन्ध्या नामक, युवती (परिवार की सदस्या) अन्धकार में आशक्त हो रही है। वह स्वयं भी पीने की आदत का गुलाम है तथा उससे चाहकर भी छुटकारा नहीं पाता ॥ १२ ॥

दिगन्तरादाव्रजताम् तरूनभि विवर्धमानो वयसां कलस्वनः ।
अचूचुदत् स्वेदलवाक्तपक्ष्मलान् गृहाय लोकानपि सोत्सुकोरसः ॥ १३ ॥

तरून् अभि दिगन्तरात् आव्रजतां वयसां विवर्धमानः कलस्वनः स्वेदलवाक्तपक्ष्मलान् सोत्सुकोरसः लोकान् अपि गृहाय अचूचुदत् ॥ १३ ॥

विभिन्न दिशाओं से अपने आवास वृक्षों की ओर लौटते हुए पक्षियों की क्रमशः बढ़ती हुई कलध्वनि (चहचहाहट) ने खेतों-खलिहानों में काम करनेवाले, पसीनों की बूँदों से गुँथी हुयी पपनियों वाले, उत्कण्ठित हृदयवाले श्रमिक लोगों को शाम के समय घर जाने के लिए प्रेरित किया ॥ १३ ॥

बलाहकानामभिवर्षतां नवे पृषन्मये सद्मनि सागराम्बरा ।
परिस्फुरत्स्नेहभरैरिवाङ्कुरैस्ततान रोमाञ्चततिं समुत्सुकाम् ॥ १४ ॥

अभिवर्षतां बलाहकानां नवे पृषन्मये सद्मनि सागराम्बरा परिस्फुरत्स्नेहभरैः अङ्कुरैः समुत्सुकां रोमाञ्चततिम् इव ततान ॥ १४ ॥

बरसते हुए बादलो ने बूदों की झड़ी लगा कर पृथ्वी-आकाश को मानों मिला दिया। ऐसा प्रतीत होता था कि बूँदों से पृथ्वी देवी के रहने के लिए एक महल ही निर्मित हो गया। पृथ्वीने भी स्नेह निर्झर जलसिक्त अंकुरों द्वारा मानो उत्कण्ठा मिश्रित रोमाञ्च की परम्परा ही स्थापित कर दिया। आशय यह है कि वर्षा की झड़ी से ऐसा ज्ञात होता था मानो बूँदों का महल खड़ा हो गया हो, घास पात, जल के बूँदों से भर गये थे। प्रतीत होता था मानों पृथ्वी रोम हर्ष से कण्टकित हो गयी हो। सन्ध्या के समय बरसते हुए बादलों से विचित्र दृश्य उपस्थित हो जाता है॥ १४॥

दुरन्तसूर्येऽस्तमितेऽपि शङ्किता कुमुद्वती कम्पित-पत्र-मण्डना।
रहस्यदूतीमिव साश्रुलोचना व्यपेतधैर्या चकमेऽन्तिकं निशम्॥ १५॥

अस्तमिते अपि दुरन्तसूर्ये शङ्किता कम्पितपत्रमण्डना व्यपेतधैर्या साश्रुलोचना कुमुद्वती निशं रहस्यदूतीं इव अन्तिकं चकमे॥ १५॥

तिग्मरश्मि सूर्य के अस्ताचल में छिप जाने पर भी काँपते हुए पत्र-मण्डन वाली कुमुदिनी ने आँखों में आँसू भर कर सशङ्कित होते हुए, धैर्यहीन होकर अपनी रहस्य दूती के समान रात्रि की अपने पास आने की कामना किया। यहाँ कुमुदिनी विरहातुरा नायिका है रात्रि ही रहस्य दूती है। चन्द्रमा से मिलना ही अभिष्ट है दिन का प्रकाश ही बाधा स्वरूप था वह भी समाप्त हो गया तब भी (स्नेहः पाप-शङ्की) उसे आशङ्का है कि कहीं कुछ व्यवधान उपस्थित न हो जाय॥ १५॥

क्षणेन गाढारुणवारुणाम्बरं तनुच्छटैः पुष्करलक्षितैरपि।
तमोऽङ्कुरैराप्रसरद्भिरावृतम् महीरुहश्रेणिघनैर्वनैरिव॥ १६॥

क्षणेन गाढारुणं अम्बरं तनुच्छटैः पुष्करलक्षितैः अपि आप्रसरद्भिः तमोऽङ्कुरैः महीरुह-श्रेणिघनैः वनैः इव आवृतम्॥ १६॥

थोड़ी ही देर में गाढ़ी लालिमा से भरा हुआ पश्चिमी आकाश, अत्यन्त विरल, कहीं-कहीं लक्षित होनेवाले अन्धकार के अंकुरों से जो तीव्रता से फैल रहे थे, भर गया मानो वृक्ष लताओं से पूर्ण काले वनों से ही भर गया हो। द्रुमों से भरे वन का उपमेय तमोऽङ्कुर है॥ १६॥

विभिन्नशाखाः तरवो विपाटिताः प्रभञ्जनेनाधिपथं स्वरंहसा।
निरुध्य पद्यामपि सादिनोऽधिकां स्पृहां स्वलक्ष्ये समवर्धयन्निव॥ १७॥

अधिपथं प्रभञ्जनेन स्वरंहसा विभिन्नशाखाः विपाटिताः तरवः पद्यां निरुध्य अपि सादिनः स्वलक्ष्ये स्पृहां अधिकां समवर्धयन् इव॥ १७॥

तेज हवा ने अपने वेग से रास्ते में पेड़ों की डालियों को छिन्न-भिन्न करके बिखेर दिया था स्वं उन टूटे हुए वृक्षों की डालियों से मार्ग अवरुद्ध हो गया था।

फिर भी इन बाधाओं ने उस घुड़सवार के उत्साह को कम नहीं किया अपितु उसकी कामना को अधिकाधिक तीव्र ही किया ॥ १७ ॥

असत्कृताध्वोभयपार्श्वसम्पदो महीभृतश्चेतसि सैव केवलम् ।
द्युतिः समाधाविव सत्त्ववत्सला बभौ गुरोः पर्णकुटी वनौकसः ॥ १८ ॥

असत्कृताध्वोभयपार्श्वसम्पदः महीभृतः चेतसि केवलं वनौकसः गुरोः सा एव सत्त्ववत्सला पर्णकुटी समाधौ द्युतिः इवबभौ ॥ १८ ॥

राजा अपने घोड़े पर चले जा रहे थे मार्ग के दोनों ओर वृक्ष लतायें झाड़ियाँ तथा अनेक प्रकार की ऊँचीं-नींची जमीन थी किन्तु राजा इन दृश्यों से निस्पृह थे, अनके हृदय में केवल एक भावना जग रही थी। जैसे समाधि में विश्वकल्याणमयी द्युति प्रकाशित रहती है उसी प्रकार वनवासी गुरुदेव समर्थ की पर्णकुटी राजा के मानस में प्रकाशित हो रही थी ॥ १८ ॥

समुद्विगरत्फेनमुखो जलाञ्चितस्तनूरुहोल्लासित-रोमहर्षणः ।
श्रमस्नुतप्रान्तयुगस्तुरङ्गमो मुदा स्फुरत्प्रोथमपश्यदाश्रमम् ॥ १९ ॥

समुद्विगरत्फेनमुखः जलाञ्चितः तनूरुहोल्लासितरोमहर्षणः श्रमस्नुतप्रान्तयुगः तुरङ्गमः आश्रमं मुदा स्फुरत्प्रोथं अपश्यत् ॥ १९ ॥

मुँह से फेन उगलता हुआ श्रमजल-अञ्चित, शरीर की रौमराजि द्वारा रोमाञ्च को उल्लसित करता हुआ, पसीने से भींगे हुए बगलोंवाला, वह अश्व राज नथुनों को फड़फड़ा कर स्नेह व्यक्त करता हुआ आश्रम के पास पहुँच गया। ॥ १९ ॥

प्रशान्तबाधेऽपि तपोधनाश्रमे विशङ्कमाना किमपि प्रियेतरम् ।
प्रबोधशिष्टाऽपि धृतिर्धराभृतो ननन्द विस्रम्भधुरं न निःसहा ॥ २० ॥

तपोधनाश्रमे प्रशान्तबाधे अपि किम् अपि प्रियेतरं विशङ्कमाना प्रबोधशिष्टा अपि धराभृतः धृतिः निस्सहा (सती) विस्रम्भधुरं न ननन्द २० ॥

यद्यपि समर्थ महाराज का वह पवित्र आश्रम सर्वथा निर्बाध था फिर भी विवेक शासित वीर शिवराज की धैर्यशक्ति किसी अप्रिय अमंगलजन्य घटना को आशंका से आन्दोलित होकर अपनी विश्वास पूर्ण निष्ठा को संभालने में समर्थ न हो पारही थी ॥ २० ॥

विविक्तदेशेऽपि तमःपरिच्छदे समीरणान्दोलितपल्लवा अपि ।
महीरुहाः कृच्छ्रतरं न्यरोधयन् मनोरथं मुग्धलतानिवेदितम् ॥ २१ ॥

तमः परिच्छदे विविक्तदेशे अपि समीरणान्दोलितपल्लवाः महीरुहाः अपि मुग्धलतानिवेदितं मनोरथं कृच्छ्रतरं न्यरोधयन् ॥ २१ ॥

आश्रम में कहीं कोई हलचल न थो। तरु एवम् लतायें भी उस शान्ति-परक मर्यादा का ध्यान रखती थीं। सर्वथा निर्जनता थी, सबकुछ अन्धकाराच्छन्न

था, वायु द्वारा पल्लवों के उत्साहित करने पर भी वृक्ष अत्यन्त कठिनता पूर्वक भोली मुग्धा लता के आत्मनिवेदित मनोरथ को निरुद्ध करते थे। लता का तरु को अपने आलिंगन पाश में बाँधना, विशेषतः जब एकान्त हो तथा तमसाच्छन्न हो एवं पवन भी तरु को प्रेरित कर रहा हो, अत्यन्त स्वाभाविक है तथापि उस समय पत्ते तक नहीं खड़खड़ा रहे थे ॥ २१ ॥

जलाक्तपर्णप्रचये धरातले शनैः शनैर्दत्तपदक्रमाः क्रमात्।
नियम्य सत्त्वाः गतिलाघवं हठादशब्दसञ्चारविधिं सषेविरे ॥ २२ ॥

जलाक्तपर्णप्रचये धरातले हठात् गतिलाघवं नियम्य क्रमात् शनैः शनैः दत्तपदक्रमाः सत्त्वाः अशब्दसञ्चारविधिं सिषेविरे ॥ २२ ॥

पानी बरसने के कारण पृथ्वी पर गिरे हुए पत्ते जल से सिक्त हो गये थे तब भी कहीं तेजी से चलने पर पदध्वनि निर्जनता भङ्ग कर देगी इस भय से जगली पशु भी अपने पैरों को एक के बाद दूसरा इस क्रम से धीरे-धीरे रखते थे तथा अपने गतिलाघव को संयत करके अशब्द (विनाशब्द उत्पन्न किये) सञ्चरण पद्धति अपना रहे थे। (इस प्रकार श्लोक २१-२२ द्वारा वनस्पति एवं वनपशुओं में भी आश्रम की मर्यादा का उल्लेख स्पष्ट किया गया है।) ॥ २२ ॥

बटुं मुखारोपिततर्जनीङ्गितैस्तडित्क्षणालोकपथेऽनुमन्त्रयन्।
तुरङ्गमाश्वास्य तरोरधः शनैः विवेद सर्वां तदुदीरितां स्थितिम् ॥ २३ ॥

मुखारोपिततर्जनोङ्गितैः तडित्क्षणालोकपथे बटुं अनुमन्त्रयन् तुरङ्गमं तरोः अधः शनैः आश्वास्य तदुदीरतां सर्वां स्थितिं विवेद ॥ २३ ॥

क्षण भर के लिए बिजली चमकी और उसी के प्रकाश में सामने एक बटु को देखकर महाराज ने मुँह पर तर्जनी उँगली रखकर सङ्केत से चुप रहने को कहा फिर घोड़े को पेड़ के नीचे बाँधकर उस विद्यार्थी से ही सम्पूर्ण ज्ञातव्य स्थिति को जान गये ॥ २३ ॥

यथोपदिष्टामुपचर्य पद्धतिम् दिदृक्षुरम्भोजपदं तपस्विनः।
समाविशद् गर्भगृहं नराधिपो निवातदैपार्चिरलङ्कृतान्तरम् ॥ २४ ॥

यथोपदिष्टां पद्धतिं उपचर्य तपस्विनः अम्भोजपदं दिदृक्षुः नराधिपः निवातदैपार्चिरलङ्कृतान्तरं गर्भगृहं समाविशत् ॥ २४ ॥

उस बटु के निर्देशानुसार आश्रम सम्बन्धी पद्धति का यथा विधि निर्वाह करते हुए तपस्विराज समर्थ महाराज के चरण कमलों के दर्शन की इच्छा से वात विहीन उज्ज्वल प्रभावाले दीपक के प्रकाश से उद्भासित गर्भगृह में राजा ने प्रवेश किया। (वीर शिवराज जब भी समर्थ महाराज के पास आते थे आश्रमोचित नियमों का यथा विधि पालन करते थे तथा राजपरिच्छद से सर्वथा रहित एक शिष्य के रूप में ही आते थे) ॥ २४ ॥

दुराधिशुष्यत्परिशङ्कितात्मभिर्दुरन्तदैवव्यवहारघातितैः ।
समूलमुन्मूलयितुं गदोरगं जनैर्विविच्यापि मुधा परिस्थितम् ॥ २५ ॥

दुरन्तदैवव्यवहारघातितैः दुराधिशुष्यत्परिशङ्कितात्मभिः गदोरगं समूलं उन्मूलयितुं विविच्य अपि जनैः मुधा परिस्थितं (गुरुं ददर्श) ॥ २५ ॥

वीर शिवराज ने देखा कि महाराज समर्थ के पास कुछ शिष्य बैठे हुए हैं, उनका हृदय घोर मानसिक चिन्ता से आशङ्का के मारे कुण्ठित हो गया है, अदृष्ट के अचिन्त्य दुर्योग से वे मृतप्राय हो रहे हैं। वे बहुत प्रयत्न करते हैं कि उस व्याधिरूपी सर्प को समूल नष्ट कर दें फिर भी कुछ भी नहीं कर पा रहे हैं ॥ २५ ॥

व्यथाकथामूकशकुन्तमण्डले शुभप्रभार्चिष्पटलप्रकाशिते ।
अनेकजुष्टेऽपि नितान्तनीरवे तपोवने शीलितवर्हिषासनम् ॥ २६ ॥

व्यथाकथामूककुन्तमण्डले शुभप्रभाचिष्पटलप्रकाशिते अनेकजुष्टे अपि नितान्तनीरवे तपोवने शीलितवर्हिषासन् (गुरुं ददर्श) ॥ २६ ॥

उस भयङ्कर कष्ट को जानकर ही मानों पक्षिगण एकदम चुप हो गया था, दुःख से सूक हो गया था। अनेक व्यक्ति वहाँ उपस्थित थे फिर भी गहन नीरवता का साम्राज्य था। दीपक के उज्ज्वल प्रकाश से वह कक्ष प्रकाशित था तथा महाराज समर्थ उस तपोवन, उस गर्वगृह में कुशासन पर पड़े थे ॥ २६ ॥

स पार्श्वतः पार्श्वमुपेतविग्रहम् व्यथाविवर्णीकृतवारिजाननम् ।
समन्ततः पश्यदधीरलोचनम् गुरुं ददर्शास्तकलं विधुं यथा ॥ २७ ॥

सः पार्श्वतः पार्श्वं उपेतविग्रहं व्यथाविवर्णीकृतवारिजाननं समन्ततः पश्यदधीरलोचनं अस्तकलं विधं गुरुं ददर्श ॥ २७ ॥

छत्रपति ने देखा कि गुरुदेव समर्थ महाराज अत्यन्त पीड़ा में करवटें बदल रहे हैं। घनी भूत पीड़ा ने उनके मुख कमल की कान्ति को म्लान कर दिया है। वे चारों ओर अधीरता पूर्वक देख रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानों अपनी सम्पूर्ण कलाओं से हीन चन्द्रमा ही गुरुदेव के रूप में दुःखाभिभूत हो रहा हो। [इन उपर्युक्त तीनों श्लोकों (२५,२६,२७) का अन्वय एक साथ होगा, 'ददर्श' क्रियापद तीनों को समन्वित कर रहा है] ॥ २७ ॥

कृतानतिं मङ्गलसर्गपद्मभूर्विषादकुण्ठापरिकर्शिताऽऽकृतिम् ।
नृपंतमार्तस्वरवाष्पगद्गदम् जगाद कृच्छात् परिसान्त्वयन् मुनिः ॥ २८ ॥

मङ्गलसर्गपद्मभूः मुनिः विषादकुण्ठापरिकर्शिताकृतिं कृतानतिं आर्तस्वरवाष्पगद्गदं तं नृपं परिसान्त्वयन् कृच्छात् जगाद ॥ २८ ॥

राजा ने मुनि को—कल्याण सर्गका निर्माण करनेवाले उस ब्रह्मा को—प्रणाम किया। महाराज समर्थ ने विषाद एवं कुण्ठा से अत्यन्त कातर दुःखपूर्ण

आर्त गद्गद स्वरवाले उस वीर शिवराज को किसी प्रकार सान्त्वना देते हुए कहा ॥ २८ ॥

जहीहि शोकं प्रियवत्स मा शुचः प्रसादलक्ष्मीर्वदनं बिभर्तु ते ।
अनेहसा निर्मथिते कलेवरे लयो हि पन्थाः परमात्मवेदिनाम् ॥ २९ ॥

प्रिय वत्स, मा शुचः, शोकं जहीहि, प्रसादलक्ष्मीः ते वदनं बिभर्तु, कलेवरे अनेहसा निर्मथिते लयः हि परमात्मवेदिनां पन्थाः ॥ २९ ॥

प्रिय वत्स शिव ! शोक छोड़ो, खेद मत करो । तुम्हारे मुखमण्डल पर प्रसन्नता की शोभा होनी चाहिए । सुनो, जब शरीर काल द्वारा सर्वथा निश्शक्त कर दिया जाता है तब परमतत्त्व के चिन्तकों के लिए इस शरीर का लय ही उत्तम मार्ग है ॥ २९ ॥

स्वदेशशक्तिर्विवशाऽपि सोत्सुकं सपत्नबन्धे विकला विमुक्तये ।
दधाति चेतो दशकण्ठतापिता विदेहजातेव रघूद्वहे त्वयि ॥ ३० ॥

सपत्नबन्धे विकला विवशा अपि स्वदेशशक्तिः सोत्सुकं विमुक्तये दशकण्ठतापिता विदेहजाता इव त्वयि रघूद्वहे चेतः दधाति ॥ ३० ॥

वत्स शिवा, स्वदेश की शक्ति कुण्ठित है, विवश हो गयी है, फिर भी शत्रु के बन्धन से मुक्त होने के लिए उत्सुकतापूर्वक तुम्हारी ओर उसी प्रकार आशाभरी दृष्टि से देख रही है जैसे रावण द्वारा अशोकवन में निरुद्ध विदेहपुत्री सीताजी रघुनन्दन भगवान् की ओर अपनी दृष्टि लगाये थीं ॥ ३० ॥

ममायमात्मा भवतां विभूतये लये विलीनोऽपि वशंवदः सदा ।
जयालवालाङ्कुरितार्यमण्डले प्रसादसेकं सविधं विधास्यति ॥ ३१ ॥

भवतां विभूतये मम अयम् आत्मा लये विलीनः अपि सदा वशंवदः जयालवालाङ्कुरितार्यमण्डले सविधं प्रसादसेकं विधास्यति ॥ ३१ ॥

निश्चिन्त रहो, तुम लोगों के सर्वविध कल्याण के लिए इस पार्थिव शरीर के पञ्चमहाभूतों में मिल जाने पर भी मेरा यह (अविनश्वर) आत्मा, तुम्हारे उत्साहपूर्ण विजयरूपी थाले (आलवाल) में अंकुरित आर्य राष्ट्र के लिए सर्वथा अभिषिञ्चन (पानी देने) का कार्य करता रहेगा [हमारी शुभाकांक्षा इसे सदैव पल्लवित एवं पुष्पित करती हुई सफल बनायेगी ।] ॥ ३१ ॥

अरातिदर्पान्धबलाऽधरीकृता क्षमा न वर्णाश्रमरक्षणे प्रजा ।
द्विजावलीजुष्टयशोमरीचिभिस्तमोविभेदे भव भानुमानिव ॥ ३२ ॥

अरातिदर्पान्धबलाधरीकृता प्रजा वर्णाश्रमरक्षणे क्षमा न, द्विजावलीजुष्टयशोमरीचिभिः तमोविभेदे भानुमान् इव भव ॥ ३२ ॥

प्रिय वत्स ! प्रजा विपन्न है, शत्रु की उद्दण्ड पाशवशक्ति ने अन्धकार के समान उसे ग्रस्त कर दिया है, वह अपने वर्णाश्रम धर्म का पालन तक नहीं कर सकती। तुम्हारा उद्योग यशस्वी हो, तुम द्विजों द्वारा प्रशंसित अपनी यशोमयी किरणों के प्रसार से इस शत्रुरूपी अन्धकार को दूर करने के लिए प्रातःकालीन सूर्य के समान प्रकाशित होओ यतः प्रजा निर्भयतापूर्वक अपने धर्म का पालन कर सके ॥ ३२ ॥

अनन्तशर्माम्बरशोभिविग्रहा यशःप्रसादा निरुपद्रवाश्रमा ।
त्रिवर्गलक्ष्मीर्जगतीजुषां कृते तवासितेजोमुकुरे प्रकाशताम् ॥ ३३ ॥

अनन्तशर्माम्बरशोभिविग्रहा यशःप्रसादा निरुपद्रवाश्रमा त्रिवर्गलक्ष्मीः जगतीजुषां कृते तव असितेजोमुकुरे प्रकाशताम् ॥ ३३ ॥

निर्बाध आनन्दरूपी आकाश को अपनी छटा से अलंकृत करनेवाली, यश से समुज्ज्वल, वर्णाश्रमों एवं तपोवनों को उपद्रवरहित स्थिति में प्रवर्तित करनेवाली त्रिवर्गलक्ष्मी (धर्म, अर्थ, काम) जगत् के प्राणियों के कल्याण के लिए तुम्हारी तलवार के प्रकाशरूपी दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखे [तुम्हारा अमोघ पराक्रम सुख, शान्ति एवं प्रजाकुल की समृद्धि के उत्पादन के लिए उचित भूमिका उत्पन्न करे। तुमसे सुरक्षा स्थायी बने।] ॥ ३३ ॥

कृशावताराः परिकुण्ठिता धृतिः समाकुलन्यायतुलाऽबलो विधिः ।
सशङ्किताशाश्च लसन्तु निर्भयं त्वयि स्थिरार्था भुजविक्रमौकसि ॥ ३४ ॥

कृशावताराः धृतिः परिकुण्ठिता, समाकुलन्यायतुला, विधिः अबलः, सशङ्किताशाः च त्वयि भुजविक्रमौकसि स्थिरार्थाः निर्भयं लसन्तु ॥ ३४ ॥

इस समय स्वदेश की दुरवस्था है। अवतारों का महत्त्व क्षीण हो रहा है। धैर्य कुण्ठित हो चला है। न्याय की प्रतिष्ठा संकटापन्न हो गयी है। दैव (अदृष्ट) भी दुर्बल हो गया है। आशा धूमिल हो गयी है। निराशा बढ़ती जा रही है (दिशाएँ भी अन्धकारपूर्ण हो गयी हैं)। तुम्हारे बाहुबल के आश्रय में ये निर्भय होकर समृद्धि को, अपने उचित भागधेय को प्राप्त करें। तुम्हारा पराक्रम ही इनकी पुनः प्रतिष्ठा कर सकता है ॥ ३४ ॥

त्वदुग्रधामानिलभिन्नशत्रुताऽम्बुदोपरोधोद्धृतभारताम्बरे ।
विमातु भूयो जगदिष्टवैभवो नयार्जवस्यन्दननन्दनो रविः ॥ ३५ ॥

त्वदुग्रधामानिलभिन्नशत्रुताम्बुदोपरोधोद्धृतभारताम्बरे भूयः जगदिष्टवैभवः नयार्जवस्यन्दनन्दनः रविः विमातु ॥ ३५ ॥

तुम्हारे पराक्रमरूपी प्रभञ्जन के महान् वेग से छिन्न-भिन्न होकर विनष्ट होनेवाले शत्रुरूपी काले बादलों से निर्मुक्त इस भारत के आकाश में फिर से लोकहित की कीर्ति से विमण्डित नीति के रथ पर विहार करनेवाला सूर्य अपने प्रकाश से विभूषित होवे ॥ ३५ ॥

गिरां विरामो मितभाषिणीश्वरे शिवाय युक्तं व्यतनोन्निवेदितुम्।
वनप्रिये मौनकलस्वनक्षणः तनोति केकां शिखिने यथोत्तरम् ॥ ३६ ॥

मितभाषिणि ईश्वरे गिरां विरामः शिवाय युक्तं निवेदितुं व्यतनोत्, वनप्रिये मौनकलस्वनक्षणः यथा उत्तरं शिखिने केकां तनोति ॥ ३६ ॥

मितभाषी (आवश्यकतानुसार बोलनेवाले) गुरु समर्थ महाराज के मौनावलम्बन ने वीर शिवराज को कुछ कहने का अवसर दिया। जिस प्रकार वसन्त की समाप्ति पर कोयल की कलध्वनि के शान्त हो जाने पर मोर की केका के लिए घनमास-सुलभ अवसर मिल जाता है ॥ ३६ ॥

शुचाभिभूतोऽपि नियम्य वैक्लवं निरुद्धवाष्पाकुललोललोचनः।
तमाह राजा प्रथितात्मनिश्चयो वपुर्धरं योगमिवास्तसंशयम् ॥ ३७ ॥

शुचा अभिभूतः अपि वैक्लवं नियम्य निरुद्धवाष्पाकुललोललोचनः प्रथितात्मनिश्चयः राजा वपुर्धरं योगम् इव अस्तसंशयं तम् आह ॥ ३७ ॥

शोक से अत्यन्त कातर होते हुए, आँसुओं के बरबस रोकने के कारण अश्रुकणों द्वारा बाधित दृष्टिवाले तथा आत्मनिश्चय पर सुदृढ़ रहनेवाले राजा शिवाजी ने अपनी विकल वेदना को नियन्त्रित करके महाराज समर्थ से, जो संशयरहित योग के मूर्तिमान स्वरूप के समान प्रतीत हो रहे थे, कहा ॥ ३७ ॥

शरीरसंस्था हि रुजस्तथापि ते जयन्तु तापत्रयशासनव्रताः।
सदैव पारे रजसामपि स्थिरं विभाति येषां पुरतो दृशां महः ॥ ३८ ॥

शरीरसंस्थाः हि रुजः, तथापि तापत्रयशासनव्रताः ते जयन्तु येषां दृशां पुरतः सदा एव रजसां पारे अपि महः स्थिरं विभाति ॥ ३८ ॥

महात्मन् ! यह सर्वथा सत्य है कि यह देह ही रोगों का घर है तथापि त्रिविध (दैहिक, दैविक, भौतिक) तापों को जीतनेवाले उन यतीश्वरों की जय हो जिनकी दृष्टि के सामने इस प्रपञ्चात्मक विश्व से परे उद्भासित होनेवाला प्रकाश भी, स्पष्ट परिलक्षित होता है ॥ ३८ ॥

निमित्तजा एव गदास्तपोनिधे ! निमित्तबाधे विरमन्ति निर्जिताः।
इमामनुज्ञां मयि दर्शय प्रभो ! किमौषधं वाञ्छति शूलनिष्कृतिः ॥ ३९ ॥

तपोनिधे ! निमित्तजाः एव गदाः (अतः) निमित्तबाधे निर्जिताः विरमन्ति, प्रभो, मयि इमाम् अनुज्ञां दर्शय, शूलनिष्कृतिः किम् औषधं वाञ्छति ॥ ३९ ॥

महाराज ! रोग किसी कारणविशेष से ही उत्पन्न होते हैं, उस कारण के उपशमन हो जाने पर वे भी शान्त हो जाते हैं। अतः मुझ पर केवल एक अनुग्रह करें। कृपा कर इतना बतलायें कि यह शूलकष्ट अपनी शान्ति के लिए कौन-सी औषध चाहता है ॥ ३९ ॥

विलोक्य कोऽयं गुरुमप्यनुद्यमो जिजीविषत्येव भृशं व्यथातुरम् ।
इतीदृशं मां परिवादपङ्किलं स्पृशन् समुत्तापमिवैति मारुतः ॥ ४० ॥

'भृशं व्यथातुरम् अपि गुरुं विलोक्य अयं कः अनुद्यमः एव जिजीविषति' इति ईदृशं परिवादपङ्किलं मां स्पृशन् मारुतः समुत्तापम् इव एति ॥ ४० ॥

'अरे, यह कौन है जो भयंकर पीड़ा से अवसन्न गुरुदेव को देखकर भी, निरुद्यम बैठा रहकर भी जीने की कामना कर रहा है !' इस प्रकार अधिक्षेप से कलङ्कित मुझ भाग्यहीन का स्पर्श करके पवन भी सन्तप्त हो रहा है [ठण्डी हवा जो मनुष्यों को शीतलता प्रदान करती है, मुझे छूकर मेरे पाप के कारण स्वयं ही उत्तप्त हो रही है ।] ॥ ४० ॥

व्यपेततापत्रय तन्मयि प्रभो दयस्व तेनैव पथाऽऽधितापिते ।
प्रसीद वक्तुं मुनिराज भेषजं न पारये सोढुमिमां दुरापदम् ॥ ४१ ॥

तत् व्यपेततापत्रय, प्रभो, तेन एव पथा आधितापिते मयि दयस्व । मुनिराज, भेषजं वक्तुं प्रसीद, इमां दुरापदं सोढुं न पारये ॥ ४१ ॥

मुनिराज ! आपको भले सुख-दुख दोनों समान प्रतीत हों पर मुझे तो यह कष्ट असह्य लग रहा है । आप तापत्रय-विनिर्मुक्त हैं । अस्तु, मुझ पर दयालु हों तथा इस पीड़ा का उपचार शीघ्र बताने की दया करें । मुझमें इस भयंकर पीड़ा को निठल्ला बैठकर देखने की तनिक भी शक्ति नहीं है ॥ ४१ ॥

तदेङ्गितज्ञेन सतीर्थ्यवर्त्मना शनैर्महीपाय निवेदितो विधिः ।
मृगेन्द्रकान्तास्तननिस्सृतं पयोऽथवा गदैकान्तकरा विदेहता ॥ ४२ ॥

तदा इङ्गितज्ञेन सतीर्थ्यवर्त्मना महीपाय शनैः मृगेन्द्रकान्तास्तननिस्सृतं पयः अथवा गदैकान्तकरा विदेहता (इति) विधिः निवेदितः ॥ ४२ ॥

तब, सकेतग्राही विद्यार्थी (गुरुभ्राता) ने राजा से धीरे से रोग दूर करने का उपाय बतलाया । वह यह था कि सिंहिनी के स्तन से निकला हुआ दूध उस शूल को शान्त कर सकता था नहीं तो देहत्याग ही उस पीड़ा से मुक्त होने का एकमात्र उपाय था ॥ ४२ ॥

अहो प्रसन्ना मयि लोकदेवता जवेन राजा निजगाद गत्वरः ।
वने सवत्सा मृगराजयोषिनो गुरुप्रसादादयमुत्सुकोऽप्यहम् ॥ ४३ ॥

जवेन गत्वरः राजा निजगाद—अहो लोकदेवताः मयि प्रसन्नाः, वने सवत्सा मृगराजयोषिनी, गुरुप्रसादात् अयम् अहम् अपि उत्सुकः ॥ ४३ ॥

वन में प्रवेश करने के लिए तैयार वीर शिवा ने कहा—अहा, मुझ पर लोक-देवता सचमुच कृपालु हैं । वन में अपने नवजात बच्चे के साथ सिंहवधू दुर्लभ नहीं है तथा गुरु महाराज की कृपा से उनका सेवक मैं भी उत्सुकतापूर्वक तैयार ही हूँ ॥४३॥

उपस्थितान् संशयसम्भराम्बुधौ परिक्षिपन् दुर्गवनाध्वपद्धतिः ।
जगाम वर्धिष्णुतमस्यनाकुलो मनोबलानामपदं कुतोऽथवा ॥ ४४ ॥

दुर्गवनाध्वपद्धतिः उपस्थितान् संशयसम्भराम्बुधौ परिक्षिपन् अनाकुलः वर्धिष्णुतमसि जगाम । अथवा मनोबलानां कुतः अपदम् ॥ ४४ ॥

इस प्रकार वहाँ उपस्थित जनसमूह को संशय के समुद्र में छोड़कर भयंकर जंगल में अकेले, उस बढ़ते हुए रात्रिकालीन अन्धकार में शस्त्रविहीन वीर शिवराज प्रवेश कर गये। ठीक ही है, अडिग सङ्कल्पवाले व्यक्ति के लिए हर जगह रास्ता है ॥ ४४ ॥

अये! क्व यासीति निशम्य कानने तपस्विनं कीर्णजटं विलोक्य सः ।
प्रणामपूर्वं विनिवेदितस्थितिस्त्वराकुलो गन्तुमना नृपोऽभवत् ॥ ४५ ॥

'अये, क्व यासि' इति कानने निशम्य सः कीर्णजटं तपस्विनं विलोक्य प्रणामपूर्वं विनिवेदितस्थितिः गन्तुमनाः नृपः त्वराकुलः अभवत् ॥ ४५ ॥

'अरे ! कहाँ जा रहा है' जंगल में यह ध्वनि सुनकर राजा ने बिखरे हुए जटाजूटवाले एक तपस्वी को देखा और प्रणामपूर्वक शीघ्रता से स्थिति को बतलाकर शीघ्र ही वहाँ से आगे चलने की इच्छा की ॥ ४५ ॥

परं न गन्तुं प्रबभूव भूपतिर्नदप्रवाहो मरुबाधितो यथा ।
मनोरथाराधनयत्नकुण्ठितो व्यलोकयत्तं मुनिमेव निश्चलः ॥ ४६ ॥

परं मरुबाधितः नदप्रवाहः यथा भूपतिः गन्तुं न प्रबभूव । निश्चलः मनोरथाराधनयत्नकुण्ठितः तं मुनिम् एव व्यलोकयत् ॥ ४६ ॥

किन्तु जिस प्रकार नदी का प्रवाह बालूवाली मरुभूमि में आकर रुक जाता है उसी प्रकार राजा भी वहाँ से जाने में समर्थ न हो सके। अपनी अभिलषित वस्तु की प्राप्ति के प्रयत्न में कुण्ठितगति होकर वे निश्चल हो उस मुनि को देखने लगे ॥ ४६ ॥

तदीयहासप्रभया भयादिव तमोऽवरोधोऽपससार कातरः ।
स्वभावगाम्भीर्यविलासघोषया गिरा विरागी समबोधयन्नृपम् ॥ ४७ ॥

भयात् इव तदीयहासप्रभया तमोऽवरोधः कातरः (सन्) अपससार, स्वभावगाम्भीर्यविलासघोषया गिरा विरागी नृपं समबोधयत् ॥ ४७ ॥

उस महात्मा की उज्ज्वल हँसी के प्रकाश से भयभीत होकर कातर वह निविड अन्धकार मानो भाग गया। स्वभावतः गम्भीरतापूर्ण तेज स्वर में राजा को सम्बोधित करते हुए उस वीतराग महात्मा ने कहा ॥ ४७ ॥

गुरुव्रतोऽसि व्रतिनां वर त्वया परोपकाराय निवेद्यते तनुः ।
अलीकलीलाकलुषे धरातले प्रकृष्टपुण्यप्रभवा भवादृशाः ॥ ४८ ॥

व्रतिनां वर, गुरुव्रतः असि, त्वया परोपकाराय तनुः निवेद्यते, अलीकलीलाकलुषे धरातले भवादृशाः प्रकृष्टपुण्यप्रभवाः ॥ ४८ ॥

व्रतधारियों में श्रेष्ठ युवक ! तुम सचमुच गुरुव्रती हो । तुम अपना शरीर दूसरे के लिए समर्पित कर रहे हो । असत्य के प्रपञ्च से कलुषित इस पृथ्वी पर तुम्हारे जैसे विशिष्ट व्यक्तियों का प्रादुर्भाव बिना किसी उत्कृष्ट पुण्य के सम्भव नहीं है ॥ ४८ ॥

परं बुभूषौ त्वयि राष्ट्रनायके विवेकवैलक्ष्यमवेक्ष्य योगिनः ।
ममापि चेतो यतते निवेदितुं हितस्थिरां विश्वजनीनपद्धतिम् ॥ ४९ ॥

परं बुभूषौ राष्ट्रनायके त्वयि विवेकवैलक्ष्यम् अवेक्ष्य मम योगिनः अपि चेतः हितस्थिरां विश्वजनीनपद्धतिं निवेदितुं यतते ॥ ४९ ॥

किन्तु (भविष्य में) राष्ट्रनायक होनेवाले तुम में विवेकमूलक भ्रान्ति देख-कर, वीतराग होने पर भी मेरे भीतर यह भावना बलवती हो रही है कि मैं भी विश्वजनहिताय स्थिर कल्याण से युक्त कुछ परामर्श तुम्हें अवश्य दे दूँ [तुम अव्यावहारिक हो, केवल आदर्श के पीछे मिटना जानते हो । राष्ट्रनायक में समन्वय का होना नितान्त आवश्यक है ।] ॥ ४९ ॥

विधौ निषेधे गहनस्य कर्मणः प्रमाणमाद्यैरिह शास्त्रमीशितम् ।
अथापवादे सदसद्विवेकिनः प्रवृत्तिरन्तःकरणप्रतिष्ठिता ॥ ५० ॥

गहनस्य कर्मणः विधौ निषेधे (च) आद्यैः इह शास्त्रं प्रमाणम् ईशितम्, अथ अपवादे (सति) सदसद्विवेकिनः अन्तःकरणप्रतिष्ठिता प्रवृत्तिः (प्रमाणम्) ॥ ५० ॥

अतिरहस्यपूर्ण कर्ममार्ग का चिन्तन अत्यन्त कठिन है । अस्तु, कर्मविचिकित्सा (कर्तव्याकर्तव्य-निर्णय) में 'विधि तथा निषेध' ये दो आदेश शास्त्र के रूप में पूर्वजों द्वारा उपदिष्ट हमारे समक्ष उपस्थित हैं । शास्त्र-सम्मत कार्य उत्तम होता है । किन्तु जहाँ विरोधमूलक विचारधाराओं के कारण शास्त्र निर्णय में कुण्ठित हो जाते हैं, किसी एक मार्ग का विनिश्चय नहीं कर पाते हैं, तब सत्-असत् का विवेक रखनेवाला पुरुष अपनी अन्तःकरण की प्रवृत्ति को ही प्रमाण मानता है ॥ ५० ॥

प्रभाजयार्हाऽतनुनीलिमच्छटानिशाकशाघातविचेष्टितावनौ ।
घनेषु तारारमणे तिरोहिते भियोऽपि भीमामटवीमटाट्यसे ? ॥ ५१ ॥

प्रभाजयार्हातनुनीलिमच्छटानिशाकशाघातविचेष्टितावनौ, घनेषु तिरोहिते तारारमणे, भियः अपि भीमाम् अटवीम् अटाट्यसे ॥ ५१ ॥

इस समय प्रकाश को धराशायी कर देनेवाली, प्रगाढ नीली कान्तिवाली रात्रि का साम्राज्य है, उसके कशाघात (चाबुक) से सम्पूर्ण जीवधारी सुध-बुध

खोकर निश्चेष्ट निद्रा की गोद में पड़े हैं। तारापति चन्द्रमा भी बादलों में छिप गये हैं और भय को भी भयभीत करनेवाले इस दुष्प्रवेश्य जंगल में तुम घूम रहे हो ॥५१॥

निशाचरिष्णुश्चरणैकवाहनो दयाद्वितीयो विनयास्त्ररक्षितः।
क्षमोऽसि नूनं पयसः कृते व्रतिञ्ज्वलच्छिखाग्नेः पटबन्धलीलया ॥ ५२ ॥

व्रतिन् निशाचरिष्णुः चरणैकवाहनः दयाद्वितीयः विनयास्त्ररक्षितः (सन्) पयसः कृते ज्वलत्प्रभाग्नेः पटबन्धलीलया नूनं क्षमः असि ॥ ५२ ॥

रात में घूम रहे हो, सवारी भी नहीं, अपने पैरों का ही भरोसा है। साथी के नाम पर दूसरे से प्राप्त होनेवाली दया ही है। आत्मरक्षा के लिए सबसे बड़ा अस्त्र तुम्हारा विनय है। सचमुच इस प्रकार रात में, पैदल, अकेले, निरायुध होकर वन में शेरनी का दूध प्राप्त करने के लिए उपयुक्त पात्र हो। तुम जलती हुई आग को कपड़े में बाँधकर ला सकते हो ॥ ५२ ॥

करालजृम्भाविकचास्यदन्तुरप्रभांशुराजद्रसनां दधानया।
तवाञ्जलीकृत्य करौ निवेदनं तयाऽपि धीमन्नुररीकरिष्यते ॥ ५३ ॥

धीमन्, करालजृम्भाविकचास्यदन्तुरप्रभांशुराजद्रसनां दधानया तया अपि तव करौ अञ्जलीकृत्य निवेदनम् उररीकरिष्यते ॥ ५३ ॥

भयंकर जँभाई लेने से फैल जानेवाले मुँह में बड़े-बड़े तीखे दाँतों की कान्ति से प्रतिबिम्बित लपलपाती जीभवाली शेरनी से जब तुम विनयपूर्वक हाथ को जोड़कर दूध के लिए प्रार्थना करोगे तो बुद्धिमान् युवक! निस्सन्देह तुम्हारी याचना को वह स्वीकार करेगी [आशय यह है कि एक तो शेरनी का दूध प्राप्त करना ही असम्भव है। दूसरे, तुम सर्वथा अरक्षित हो, तीसरे हिंस्र पशु से दया की आशा करना परले दरजे की मूर्खता है।] ॥ ५३ ॥

बुधा विभातेन विदन्त्यहःप्रभां जडा ललाटन्तपभानुरोचिषा।
उपेक्षमाणो नियतिं भवान् कथं प्रयाति जानन्निति मे कुतूहलम् ॥ ५४ ॥

बुधाः विभातेन अहःप्रभां विदन्ति, जडाः ललाटन्तपभानुरोचिषा (विदन्ति), भवान् जानन् (अपि) नियतिम् उपेक्षमाणः कथं प्रयाति, इति मे कुतूहलम् ॥ ५४ ॥

बुद्धिमान् पुरुष सबेरा देखकर ही दिन में होनेवाली गर्मी को समझ जाते हैं। मन्दबुद्धि प्राणी सूर्य की तीक्ष्णता को तब जान पाता है जब गर्मी से उसका माथा जलने लगता है। आप जानकार हैं, बुद्धिमान् हैं, फिर भी इस असम्भव कार्य के लिए नियति (अदृष्ट) की सर्वथा उपेक्षा करके वन में भटक रहे हैं, यह मुझे विस्मित कर रहा है ॥ ५४ ॥

अये विविच्यात्मफलं मनीषिणः क्रियासु रक्ताः विरता भवन्ति वा।
असूनशक्ताऽऽर्यमनोरथप्रदान् प्रदित्सुना लोभिफलं किमिष्यते ॥ ५५ ॥

अये ! मनीषिणः आत्मफलं विविच्य क्रियासु रक्ताः विरताः वा भवन्ति । अशक्तार्य-मनोरथप्रदान् असून् प्रदित्सुना किं लोभिफलम् इष्यते ॥ ५५ ॥

अरे, विवेकी मनुष्य आत्मलाभ का विचार करके ही किसी कार्य में आसक्त या अनासक्त होता है। निर्बल पददलित देशवासियों के मनोरथ के केन्द्रबिन्दु इन अपने प्राणों को शेरनी के दूध के लिए विनष्ट करके किस विशेष लोभनीय फल को प्राप्त करोगे] इस कार्य में आत्म-कल्याण की तो बात ही व्यर्थ है, हाँ प्राणनाश अवश्य हो जायेगा ।] ॥ ५५ ॥

तदस्तु कार्यव्यतिपातनिर्णये न मोहनिघ्नं हृदयं तवानघ ।
त्यजाशु भूत्यै मृगराजगेहिनीपयोनिनीषां नरराज ! घातिनीम् ॥ ५६ ॥

अनघ, तत् कार्यव्यतिपातनिर्णये तव हृदयं मोहनिघ्नं न अस्तु, नरराज, घातिनीं मृग-राजगेहिनीपयोनिनीषां भूत्यै आशु त्यज ॥ ५६ ॥

तो इस कार्य के हानि-लाभ के विचार में निष्कलंक चरित्रवाले आपकी बुद्धि मोहग्रस्त न होवे। प्रजानाथ ! आप मेरा कहना मानें, मृगराज-वधू से दूध ले आनेवाली इस आत्मघाती इच्छा को अविलम्ब त्याग दें ॥ ५६ ॥

स्वयं क्षयिष्णुर्गुरुमीहसेऽवितुं क्षयात् क्षयान्तप्रभवाः शरीरिणः ।
अजीवता जीववता च सेव्यते गुरूपदिष्टा जगतः परम्परा ॥ ५७ ॥

स्वयं क्षयिष्णुः गुरुं क्षयात् अवितुम् ईहसे, शरीरिणः क्षयान्तप्रभवाः, अजीवता जीववता च गुरूपदिष्टा जगतः परम्परा सेव्यते ॥ ५७ ॥

सुनो, आदर्श व्यवहार के कन्धे पर चलता है। स्वयं मरणधर्मा होकर भी गुरु को किस प्रकार मृत्यु से बचाने के लिए उतावले हो रहे हो। भाई, सभी प्राणी जन्म लेकर अन्त में मरते हैं। जन्मप्राप्ति का अर्थ ही अन्त में मृत्यु वरण करना है। ब्रह्मा ने संसार की परम्परा निश्चित कर दी है, जोवित या जीवविहीन दोनों ही अवस्थाओं में विधि की उस परम्परा का कोई भी व्यक्ति तिरस्कार नहीं कर सकता ॥ ५७ ॥

गुरोरुदारस्य दया दुनोतु ते न मानसं निष्क्रयविक्लवं नृप ।
नते वटावौरसबुद्धिशालिनः प्रणामतुष्टा गुरवः सदाशिषः ॥ ५८ ॥

नृप, उदारस्य गुरोः दया निष्क्रयविक्लवं ते मानसं न दुनोतु । नते वटौ औरसबुद्धि-शालिनः प्रणामतुष्टाः गुरवः सदाशिषः ॥ ५८ ॥

यदि ऐसा सोचते हो कि गुरुजी मुझ पर सदा कृपालु रहे तथा मैं प्रतिदान-स्वरूप कुछ भी न कर सका, मैं आनृण्य न प्राप्त कर सका, तो यह सोचना भी उचित नहीं। गुरु की कृपा प्रतिदान नहीं चाहती। गुरु तो विनयशील शिष्य को सदैव औरस सन्तान ही मानता है तथा प्रणाम मात्र से सन्तुष्ट होकर शुभाशंसा की वृष्टि करता रहता है ॥ ५८ ॥

कलङ्कपङ्को विमुखस्य कर्मणः पदन्न ते स्प्रष्टुमपि क्षमोऽथवा।
यतो हि सम्भाव्यविधौ व्यवस्थितिः कृताकृतानामुदयेऽथवाऽत्यये ॥ ५६ ॥

अथवा कर्मणः विमुखस्य ते पदं स्प्रष्टुम् अपि कलङ्कपङ्कः न क्षमः। यतः कृताकृतानाम् उदये अथवा अत्यये सम्भाव्यविधौ हि व्यवस्थितिः ॥ ५९ ॥

और यह सोचना भी ठीक नहीं कि मैंने दूध लाने की प्रतिज्ञा की तथा अब कार्यविमुख हो रहा हूँ, अवश्य मैं कलंक का भागी बनूँगा। सत्य तो यह है कि कलंक-पंक तुम्हारे चरणों को छू भी नहीं सकता क्योंकि मनुष्य गुण-दोष का भागी उन्हीं कार्यों के करने या न करने से होता है जो सम्भव हैं, जिन्हें कोई मनुष्य कर सकता है। किन्तु जहाँ मनुष्य का क्षेत्र हो न हो वहाँ पर कलंक लगने की बात निराधार है [मनुष्य की शक्ति भी सीमा का उल्लंघन नहीं कर सकती। अतः अतिमानवीय कर्तव्य दैवी पुरुष का ही अधिकार-क्षेत्र है वहाँ मनुष्य नगण्य है।]॥५९॥

जनार्तिनाशाय समर्प्य जीवितं तदेव हर्तुं यतसेऽधुना कथम्।
अनल्पतापाऽऽकुललोककल्पना स्वसिद्धये प्राणितु कुत्र वा वद ॥ ६० ॥

जनार्तिनाशाय जीवितं समर्प्य अधुना तत् एव हर्तुं कथं यतसे। वद, स्वसिद्धये अनल्पतापाकुललोककल्पना कुत्र वा प्राणितु ॥ ६० ॥

और यह क्यों भूल रहे हो कि तुमने देशवासियों के कष्ट दूर करने के लिए अपने जीवन को समर्पित कर रखा है। उसी समर्पित जीवन को अब किस प्रकार नष्ट करना चाह रहे हो (एक बार दान की गयी वस्तु पर प्रदाता का अधिकार ही कहाँ रहता है!) घोर कष्ट से प्रतप्त स्वदेशवासियों की कल्पना (शुभाशा) आत्मसिद्धि के लिए किस अवलम्ब के सहारे जीवन धारण करे, तुम्हीं कहो [तुम ही विपन्न प्रजा के आशाकेन्द्र हो। एक व्यक्ति के लिए स्वयं को संकटापन्न करने के लिए उद्यत होकर अन्ततः इन असंख्य दुखी देशवासियों को किसके भरोसे छोड़ जाते हो।] ॥ ६० ॥

शरीरभाजां महदिष्टसाधनं व्रतं विधात्रा भुवने प्रकल्पितम्।
मुनेः कृते त्यक्तुमना महीयसीं धुरं ध्रुवं तत्कलुषीकरिष्यसि ॥ ६१ ॥

विधात्रा शरीरभाजां महत् इष्टसाधनं व्रतं भुवने प्रकल्पितं, मुनेः कृते महीयसीं धुरं त्यक्तुमनाः ध्रुवं तत् (व्रतं) कलुषीकरिष्यसि ॥ ६१ ॥

सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने देहधारियों के लिए इस संसार में अभीष्टतम सिद्धि के लिए विधान निश्चित किया है। अपने गुरुदेव के लिए गुरुतर भार की (दायित्व की) उपेक्षा करके तुम ब्रह्मा जी के उस विधान को कलङ्कित करने जा रहे हो [तुम्हें महान् दायित्व की उपेक्षा करके छोटे-मोटे भावनात्मक कार्यों में इस साधनभूत शरीर का विनाश करना कथमपि उचित नहीं है।] ॥ ६१ ॥

वनाद्वनं जुष्टगणस्य गच्छतो न ते दुरापं भविता पयोऽथवा ।
अलम्भविष्णोः सुमतेर्भवद्गुरुः प्रसन्नतां नूनमुपाहरिष्यति ॥ ६२ ॥

अथवा वनात् वनं जुष्टगणस्य गच्छतः ते पयः दुरापं न भविता । अलंभविष्णोः सुमतेः भवद्गुरुः नूनं प्रसन्नतां उपाहरिष्यति ॥ ६२ ॥

और यदि शेरनी का दूध अनिवार्यतः प्राप्त ही करना है तो यह भी उस अवस्था में कठिन न होगा जब तुम अपने पीछे सेवकों का एक कार्यपटु बल लेकर एक वन से दूसरे वन में शेरनी का अन्वेषण करके उद्देश्य में सफल होओगे। कार्य सिद्ध हो जाने पर आप जैसे विवेकी पर आपके गुरुदेव अवश्य ही प्रसन्न होंगे ॥ ६२ ॥

जलर्तुसन्ध्येव मनोहरच्छविः सहासरागाऽपि धृतान्तराशनिः ।
मनोरथश्रीस्तव धीमतो न्वियं गृहाद्बहिर्लोभयतीति चिन्तये ॥ ६३ ॥

जलर्तुसन्ध्या इव मनोहरच्छविः सहासरागा अपि धृतान्तराशनिः धीमतः तव इयं मनोरथश्रीः नु गृहात् बहिः लोभयति—इति चिन्तये ॥ ६३ ॥

प्रायः वर्षाकालीन सन्ध्या देखने में बहुत मनोहर होती है। प्रतीत होता है है कि हास से रँग गयी है किन्तु उसके भीतर वज्र निहित रहता है तथा अकस्मात् बिजली गिरती है। राजन्! मुझे चिन्ता हो रही है कि कहीं आपके अनिष्ट के लिये ही तो आपका भावनाप्रवण मन कहीं घर से बाहर आपको आकृष्ट करके न ले जा रहा हो [इस समय रात्रि है। प्रत्येक विवेकी मनुष्य वर्षा, अन्धकार आदि से बचने के लिए सुरक्षित निवास चाहता है। किन्तु आप उल्टा ही आचरण कर रहे हैं।] ॥ ६३ ॥

यथार्थलोकव्यवहारपण्डिता दुरापदाराधनमात्रवर्तिनीम् ।
अचक्षुषं श्रद्दधते न कल्पनामपीष्टकामां विषकन्यकामिव ॥ ६४ ॥

यथार्थलोकव्यवहारपण्डिताः दुरापदाराधनमात्रवर्तिनीम् अचक्षुषम् इष्टकामाम् अपि कल्पनां विषकन्यकाम् इव न श्रद्दधते ॥ ६४ ॥

जो लोग लोक-व्यवहार में वस्तुतः कुशल होते हैं वे कल्पना को विषकन्या के समान दूर से ही प्रणाम कर लेते हैं, कल्पना के वशीभूत होकर अपना विनाश नहीं करते। जिस प्रकार विषकन्या केवल भयङ्कर विपत्ति ही अपने संसर्ग द्वारा दे सकती है (प्राणनाश कर देती है), 'अपनी संगतिजन्य स्थिति को नहीं देखती तथा आकर्षण द्वारा सहज ही व्यक्ति को वशीभूत (अपनी ओर सकाम) कर लेती है उसी प्रकार कल्पना भी यथार्थ के प्रति आँख बन्द रखती है, उसका संग केवल विपत्ति का आवाहन करता है तथा वह मन को अच्छी भी लगती है किन्तु उसका साहचर्य व्यक्ति के विनाश का द्वार है ॥ ६४ ॥

अबोधजन्याभयसम्पदाऽपि वा निवार्यते किं व्यसनक्रमः क्वचित् ।
वटुर्न किं ज्यामनधीत्य सीदति ध्रुवं वयोहानिदुरर्थकश्मले ॥ ६५ ॥

वा, अबोधजन्याभयसम्पदा अपि व्यसनक्रमः निवार्यते किम् ? ज्यां (ज्या वयोहानौ) अनधीत्य (अपि) ध्रुवं वयोहानिदुरर्थकश्मले वटुः न सीदति किम् ॥ ६५ ॥

और यह कहना कि मैं भय को मानता ही नहीं, जानता ही नहीं, फिर मैं क्यों विकल होऊँ—यह भी उचित नहीं है। मान लें किसी बालक ने 'ज्या वयोहानौ' धातु नहीं पढ़ा—नहीं जानता, तो क्या इस अज्ञानजन्य निश्चिन्तता के कारण वह वृद्ध होने (बुढ़ापे) से बच जायेगा ? उसे भी तो वयोहानि के दुःखद अर्थ का भोग करना ही होगा। अतः अज्ञान पर आधारित निर्भयता भय का निवारण नहीं कर सकती। यथार्थ को न मानने से यथार्थ का कुछ अहित न होगा, प्रत्युत न मानने का दुराग्रह करनेवाला ही संकट में पड़ जायेगा। अस्तु, आपको मानना चाहिए कि आपका यह भावनात्मक उत्साह भयंकर संकटों का कारण बन जायेगा ॥ ६९ ॥

अजर्यमाराधितसत्समीहितं तदेतदल्पक्षणमावयोरपि ।
समुन्मिषन्मातृधरास्वतन्त्रतां सुधाम्भसा सिञ्चतु सङ्गतं श्रिये ॥ ६६ ॥

तत् आवयोः एतत् अजर्यम् आराधितसत्समीहितम् अल्पक्षणं सङ्गतम् अपि श्रिये समुन्मिषन्मातृधरास्वतन्त्रतां सुधाम्भसा सिञ्चतु ॥ ६६ ॥

तो हम दोनों का यह क्षणिक सत्संग, जो सज्जनों के मनोरथ (सर्वलोक-हित) का अनुरागी है तथा क्षीण नहीं होनेवाला है, मातृ-भूमि की क्रमशः अंकुरित हो रही स्वतन्त्रता को सींचने के लिए अमृत-जल के समान हितकारी हो [सत्संग की यही महिमा है कि लोक-कल्याण हो, संकट, संशय तिरोहित हों। अतः आप मेरी बात मानें तथा घर को लौटें।] ॥ ६६ ॥

ध्रुवाऽपि निष्ठा विधिवर्तिनी श्रिये परीक्षिता शक्तिरिवारिघातिनी ।
खमुत्पतिष्णुर्भुवनेषु कोऽथवा न शोच्यते जीवनभङ्गकातरः ॥ ६७ ॥

ध्रुवा अपि परीक्षिता निष्ठा विधिवर्तिनी शक्तिः इव अरिघातिनी श्रिये । अथवा, भुवनेषु खम् उत्पतिष्णुः (सन्) जीवनभङ्गकातरः कः न शोच्यते ॥ ६७ ॥

निष्ठा (सङ्कल्प) असन्दिग्ध, निस्संशय भले हो, यदि वह सुपरीक्षित है, कार्यान्वयन में सक्षम है तो वह शक्ति (वज्र या सामर्थ्य) के समान शत्रु का विनाश कर कल्याण की सृष्टि करेगी (किन्तु जो निष्ठा अपरीक्षित है तथा अव्यावहारिक है उस निष्ठा से तो जीवन ही संशयापन्न हो जायेगा)। मान लें किसी की निष्ठा है कि मैं भी हनूमान जी के समान आकाश में उछलकर सूर्य की ओर चलूँगा तो यह भले ही संशयरहित निष्ठा हो, इसका फल केवल यही होगा कि उछलने की चेष्टा करनेवाला बेचारा व्यर्थ में अपने हाथ-पाँव तोड़ेगा तथा हो सकता है कि उसको जीवन से भी हाथ धोना पड़े ॥ ६७ ॥

निवातदीपार्चिरिव स्फुरत्प्रभं किमीहसे जीवनमार्यजीवनम् ।
मुखोद्गिरन्निश्वसितैरिवोद्यमैः स्वयं निहन्तुं सहसोदितक्षणैः ॥ ६८ ॥

निवातदीपार्चिः इव स्फुरत्प्रभम् आर्यजीवनं जीवनं सहसोदितक्षणैः मुखोद्गिरन्निःश्वसितैः इव उद्यमैः स्वयं निहन्तुं किम् ईहसे ॥ ६८ ॥

ध्यान दें, आपका जीवन इस आर्यदेश का जीवन हो चला है। आपके जीवन पर ही देश अपने सुन्दर भविष्य की नींव रख रहा है। इस जीवन को, जो पवन-रहित स्थान में रखे हुए दीपक की उज्ज्वल प्रभा के समान प्रकाशित हो रहा है, क्यों उन अविचारित अकस्मात् क्षणविशेष द्वारा प्रेरित होनेवाले कार्यों से बुझा देना चाहते हैं जैसे अपने ही मुँह के श्वासों से फूँक मारकर बुझा दिया जाय ॥६८॥

अकृत्रिमक्रौर्यभरे दयालुता मता नु किं हिंस्रकुलेऽसृगुत्सवे ।
द्विषः सहन्ते किमु सत्त्वसम्पदं विशेषतः सत्त्वरमा वनौकसः ॥ ६९ ॥

अकृत्रिमक्रौर्यभरे असृगुत्सवे हिंस्रकुले दयालुता मता नु किम् ? द्विषः विशेषतः सत्त्वरमाः वनौकसः सत्त्वसम्पदं सहन्ते किम् ॥ ६९ ॥

एक बात और भी सर्वथा स्पष्ट है। भला यह कहाँ उचित है कि स्वभावतः ही क्रूरता से युक्त हिंस्र जन्तुओं से भी दया की आशा की जाय। कहीं शत्रु भी, विशेषतः प्राणियों को फाड़कर खा जानेवाले रक्तपायी पशु भी अपने वध्य के सद्गुणों की चिन्ता करते हैं ? [आपका विचार भले ही अत्यन्त लोकोपकारी हो, शेरनी को या किसी भी हिंसक पशु को आपके सद्गुणों से क्या लेना-देना है ! उसे तो पेट भरने के लिये कोई प्राणी चाहिये। चाहे आप जैसा परोपकारी हो या कोई अधम प्राणी है, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ सकता।] ॥ ६९ ॥

रविर्यथोष्णः सहिमः सुधाकरो गरोऽथवा प्राणधनापहारकः ।
तथैव सिंहोऽपि करालकेसरः शरीरिवृत्तिः प्रकृतिं न मुञ्चति ॥ ७० ॥

यथा रविः उष्णः सुधाकरः सहिमः अथवा गरः प्राणधनापहारकः तथा एव करालकेसरः शरीरिवृत्तिः सिंहः अपि प्रकृतिं न विमुञ्चति ॥ ७० ॥

जिस प्रकार सूर्य उष्ण है, चन्द्रमा शीतल है तथा विष का स्वभाव है कि वह उसे पान करनेवाले का प्राण-नाश कर दे उसी प्रकार विकराल गर्दन के बालोंवाले सिंह का भी स्वभाव है कि वह जीवों को मारकर खाये। शेर अपना स्वभाव नहीं छोड़ सकता ॥ ७० ॥

नृपेषु वीर्यातिशयं हि गुप्तये प्रजात्रजानां नयरक्षणाय च ।
त्वया तदाद्यं दधतापि रक्ष्यतां शुभा द्वितीयापि नयाध्वसम्मतिः ॥ ७१ ॥

नृपेषु वीर्यातिशयं हि प्रजात्रजानां गुप्तये, नयरक्षणाय च, तत् आद्यं दधता अपि त्वया द्वितीया अपि शुभा नयाध्वसम्मतिः रक्ष्यताम् ॥ ७१ ॥

राजाओं में शौर्य की उत्कृष्टता जब नीतिप्रतिष्ठ होती है तो उससे प्रजाजन सुरक्षित होते हैं, समृद्धि प्राप्त करते हैं। भाग्य की बात है कि आप में उत्कृष्ट शौर्य एवं उत्साह है। अच्छा हो, आप नीतिमार्ग की सम्मति को भी अपना सहज धर्म बना लें ॥ ७१ ॥

यतस्व वीरोचितशौर्यदीक्षितो जयाधिलक्ष्मीरभिसारमेष्यति ।
प्रसादबुद्धिं दधती चिरोत्सुका वधूरिवोढा चपलाऽपि निश्चला ॥ ७२ ॥

वीरोचितशौर्यदीक्षितः यतस्व, प्रसादबुद्धिं दधती चपला अपि निश्चला ऊढा वधूः इव चिरोत्सुका जयाधिलक्ष्मीः अभिसारम् एष्यति ॥ ७२ ॥

वीरोचित शौर्य एवं उत्साह से पूर्ण होकर उद्योग करें। विजयलक्ष्मी अवश्य संकेतस्थल पर स्वयं उपस्थित होकर आपको कृतार्थ करेंगी, चिर-उत्कण्ठिता नवोढा वधू के समान चञ्चल होते हुए भी आपमें निश्चल प्रेम-भाव रखकर आपको प्रसन्न करेंगी ॥ ७२ ॥

शिवोऽस्तु पन्था व्रज राजमन्दिरं विमुच्यतात्मदुरापदायतिः ।
स्वराज्यकल्पाङ्कुर चिन्तयात्मनो नितान्तगुर्वीं धुरमार्यचेतसाम् ॥ ७३ ॥

आत्मदुरापदायतिः विमुच्यतां, राजमन्दिरं व्रज, पन्थाः शिवः अस्तु। स्वराज्यकल्पाङ्कुर, आर्यचेतसां नितान्तगुर्वीम् आत्मनः धुरं चिन्तय ॥ ७३ ॥

आपका मार्ग कल्याणमय हो, आप राजभवन को वापस जायँ। अपने लिये घोर संकटमय भविष्य को मत निमन्त्रित करें (शेरनी का दूध पाने की चेष्टा आत्मघात करने के समान है)। आप स्वतन्त्रता के बीज के अंकुर हैं। आप स्वयं सोचें कि आर्यदेशवासियों के हृदय का कितना महान् दायित्वभार आपके कन्धों पर टिका है ॥ ७३ ॥

विलम्बिकीर्णाम्बुदगर्जितं नभो गिरः प्रमाणीकरणे मुनेरिव ।
सुवर्णविद्युच्चलरेखपङ्क्तिभिर्लिलेख वर्षाक्षरवर्जनं मुहुः ॥ ७४ ॥

मुनेः गिरः प्रमाणीकरणे इव विलम्बिकीर्णाम्बुदगर्जितं नभः सुवर्णविद्युच्चलरेखपङ्क्तिभिः वर्षाक्षरवर्जनं मुहुः लिलेख ॥ ७४ ॥

उसी क्षण छाये हुए काले बादलों के गर्जन से मानो उस मुनि के विचारों का आकाश ने अनुमोदन ही कर दिया। यही नहीं, सुवर्णकान्तिवाली बिजली ने चमकती हुई तिरछी रेखाओं की पंक्तियों पर वर्षा के अक्षरों से बार-बार 'निषेध' ही लिखा [जिस प्रकार किसी व्यक्ति के कथन के प्रमाण में साक्ष्य देनेवाला पहले मौखिक गवाही देता है, फिर उसी को लिपिबद्ध कर देता है उसी प्रकार आकाश ने मुनि के कथन के अनुमोदन में प्रथम तो गर्जन द्वारा मौखिक साक्ष्य दिया फिर उसी को वर्षाक्षरों में लिख भी दिया।] ॥ ७४ ॥

परं मनोहारि वचोऽपि मानसे पदं न लेभे गुरुभाजि वादिनः ।
पतिव्रतान्तःकरणे पराऽर्पितं यथेङ्गितं कान्तमपीष्टकश्मलम् ॥ ७५ ॥

परं पतिव्रतान्तःकरणे परार्पितं कान्तम् अपि इष्टकश्मलम् इङ्गितं यथा गुरुभाजि मानसे वादिनः मनोहारि अपि वचः पदं न लेभे ॥ ७५ ॥

किन्तु गुरु में अनुरागी शिवराज के हृदय में उस मुनि की मनोहर उक्ति वैसे ही स्थान न पा सकी जैसे पतिप्राणा, पतिव्रता स्त्री के अन्तःकरण में परपुरुष द्वारा किया गया मनोहर संकेत भी पापपूर्ण होने के कारण स्थान नहीं पाता है ॥ ७५ ॥

उदाहरन्नर्थगरीयसीं गिरं स शास्त्रसम्पादितबुद्धिवारिधिम् ।
क्रियान्तरायं तमनूनविक्रमो विनीतविद्याविभवो व्यभाषत ॥ ७६ ॥

अनूनविक्रमः विनीतविद्याविभवः सः शास्त्रसम्पादितबुद्धिवारिधिं क्रियान्तरायं तम् अर्थ-गरीयसीं गिरम् उदाहरन् व्यभाषत ॥ ७६ ॥

शास्त्र-चिन्तन द्वारा बुद्धि के अनन्त समुद्र के समान प्रगल्भ, उद्देश्य-सिद्धि में विघ्नस्वरूप उस मुनि से उत्तम विक्रमवाले विद्या-विनयशील वीर शिवराज ने अर्थ-गाम्भीर्य से युक्त वाणी द्वारा आत्मपक्ष स्पष्ट करते हुए कहा ॥ ७६ ॥

श्रुतिश्रमोत्पादनलब्धसत्क्रिया श्रुतैव वाचंयम वागुदीरिता ।
परं प्रणामाञ्जलिपूर्वमीहते जनोऽयमारब्धुमुपस्थितोद्यमम् ॥ ७७ ॥

वाचंयम ! श्रुतिश्रमोत्पादनलब्धसत्क्रिया उदीरिता वाक् श्रुता एव । परं प्रणामाञ्जलि-पूर्वम् अयं जनः उपस्थितोद्यमम् आरब्धुम् ईहते ॥ ७७ ॥

मितभाषी मुनिदेव ! वेदों को श्रमपूर्वक पढ़कर जिस महत्त्वपूर्ण सम्मान एवं विद्याबुद्धि को आपने प्राप्त किया है उस वाणी को मैंने सुना । किन्तु हाथ जोड़कर प्रणाम करते हुए मैं इस समय उपस्थित कार्य के ही लिये प्रयत्न करना चाहता हूँ ॥७७॥

मुने सदाराध्यगुरोः कृशाननं निरीक्ष्य किम्मे भुवनेषु दुष्करम् ।
विभावरीयं न समा मनागपि ममान्धकारस्य विसर्पतो हृदि ॥ ७८ ॥

मुने, सदाराध्यगुरोः कृशाननं निरीक्ष्य भुवनेषु मे किं दुष्करम् । इयं विभावरी मम हृदि विसर्पतः अन्धकारस्य मनाक् अपि समा न ॥ ७८ ॥

मुनि महाराज ! सदैव वन्दनीय गुरु समर्थ महाराज के दुःख से म्लान मुख को देखकर इस संसार में मैं कौन-सा काम उस दुःख से छुटकारे के लिए नहीं कर सकता । और इस काली रात की भयंकरता की बात क्या करते हैं ! मेरे हृदय में दुःख की जो काली रात फैली हुई है उसकी तुलना में यह कुछ भी नहीं है ॥ ७८ ॥

तपोवने यत्सहजावलोकनैश्चरन्ति वन्या हृतहिंस्रवृत्तयः ।
मया तदालोकजुषाऽनुभूयते वनाध्वभाजाऽपि तदेव दर्शनम् ॥ ७९ ॥

यत्सहजावलोकनैः हृतहिंस्रवृत्तयः वन्याः तपोवने चरन्ति, तदालोकजुषा वनाध्वगाजा अपि मया तत् एव दर्शनम् अनुभूयते ॥ ७९ ॥

जिनकी सहज दृष्टि ही तपोवन में निर्वैरता उत्पन्न कर देती है तथा हिंसक पशु भी द्रोहमुक्त हो एक साथ आत्मीयतापूर्वक रहते हैं, गुरुदेव की उसी सर्वस्नेहमयी दृष्टि को मैं जंगल के रास्ते पर चलता हुआ भी सर्वत्र अनुभव करता हूँ ॥ ७९ ॥

व्यपेतकृत्यस्य जगद्धितात्मनो मनोरथं स्नेहमिवानुबिभ्रताम् ।
वनौकसामेककुटुम्बवर्तिनां विकाररागः समुदेति नाश्रमे ॥ ८० ॥

व्यपेतकृत्यस्य जगद्धितात्मनः मनोरथं स्नेहम् इव अनुबिभ्रताम् एककुटुम्बवर्तिनां वनौकसाम् आश्रमे विकाररागः न समुदेति ॥ ८० ॥

अनासक्त कर्म बुद्धिवाले, विश्वमात्र के हितचिन्तक, गुरुदेव के आश्रम-प्रदेश में एक परिवार से रूप में वनचारी, मनुष्य, पशु आदि सभी जीवधारी रहते हैं। वे पारस्परिक सौहार्द को ही अपना मनोरथ मानते हैं तथा उनके हृदय में विकार की भावना (द्रोहबुद्धि) उदित हो नहीं होती ॥ ८० ॥

निरीक्ष्य शुष्काधररागमाकुला मृगेन्द्रकान्ता मृगशावकं स्वयम् ।
परिस्नुतस्तन्यरसैरिवामृतैरपत्यसामान्यधियाऽनुकम्पते ॥ ८१ ॥

शुष्काधररागं मृगशावकं निरीक्ष्य आकुला मृगेन्द्रकान्ता स्वयम् अमृतैः इव परिस्नुतस्तन्यरसैः अपत्यसामान्यधिया अनुकम्पते ॥ ८१ ॥

गुरुदेव के आश्रम में सम्पूर्ण जीवलोक निर्वैर रहता है। मृग-शिशु के सूखे ओष्ठपुटों को देखकर व्याकुलहृदया मृगराजवधू (शेरनी) स्वयं अमृत के समान अपने स्तन के दूध द्वारा सुतनिर्विशेष दृष्टि से वात्सल्य विह्वल हो जाती है। अपने भक्ष्य-कल्प मृग-शिशु पर भी शेरनी का वात्सल्यभाव एवं उसे दूध पिलाना आश्रम की निर्वैरता का सामान्य प्रमाण है ॥ ८१ ॥

अनूह्यकल्पाय भविष्यवर्तिने क्रियाधिरूढाः न फलाय चिन्वते ।
मयाऽपि भावैकसमेधितो विधिः शरीरमापातयताऽपि सेव्यते ॥ ८२ ॥

अनूह्यकल्पाय भविष्यवर्तिने फलाय क्रियामिरूढाः न चिन्वते। मया अपि शरीरं आपातयता अपि भावैकसमेधितः विधिः सेव्यते ॥ ८२ ॥

संकल्प चेताः उद्यमी व्यक्ति जब कार्यनिष्ठ होता है तो वह भविष्य में फल देनेवाले, अतर्क्य परिणामी फल की चिन्ता से उद्विग्न नहीं होते। उनके लिए इतना ही पर्याप्त है कि उनका कार्य शास्त्रोचित है तथा जन-कल्याण कारी। मैंने भी इस कार्य को अपनी सम्पूर्ण निष्ठा से स्वीकार किया है और शरीर देकर भी इस कार्य को करूँगा ॥ ८२ ॥

अदृष्टपूर्वेऽपि जगत्पतौ जगन् मुधैव बध्नाति किमात्मनिर्वृतिम् ।
नियम्य लुब्धेन्द्रियवाजिनोऽथवा किमर्थमार्येण वृता यतिस्थितिः ॥ ८३ ॥

अदृष्टपूर्वे अपि जगत्पतौ जगत् मुधा एव आत्मनिर्वृतिं बध्नाति किम् ? अथवा लुब्धेन्द्रियवाजिनः नियम्य आर्येण (त्वया) किं अर्थं यतिस्थितिः वृता ॥ ८३ ॥

ईश्वर को पहले से न देखकर भी उस ईश्वर में संसार क्यों व्यर्थ ही अपनी आत्मनिष्ठा को केन्द्रित करता है ? अथवा आपही घोड़ो के समान चञ्चल अपनी इन्द्रियों का निग्रह करके क्यों यतिव्रत धारण किये हुए है ॥ ८३ ॥

अनल्पविघ्नोपचये मितायुषि कदा क्व कः शास्तुमलं जनः क्षणम् ।
क्व वा क्षमाऽऽराधितुमैश्वरं महो विहाय विस्रम्भशिलां मनुष्यता ॥ ८४ ॥

अनल्पविघ्नोपचये मितायुषि कः जनः कदा क्व क्षणं शास्तुं अलम् ? विस्रम्भशिलां विहाय मनुष्यता ऐश्वरं महः आराधितुं क्व वा क्षमा ॥ ८४ ॥

अनेक विघ्नों से भरे अल्पकालीन इस जीवन में कौन मनुष्य कहाँ, कब किसी भी क्षण पर (समय के क्षुद्र अंश पर भी) प्रभुत्व रख सका है ? मनुष्य अपने आप में इतना नियन्त्रित है कि वह समय पर शासन करने का दर्प नहीं रख सकता अथवा विश्वास शिला को छोड़कर मानवता ईश्वरीय ज्योति की किस आधार पर, किस अवलम्ब पर आराधना करे। विश्वास, श्रद्धा या शुभ भावना ही वह भित्ति है जिस पर जीवन तथा जीवन के आदर्श टिके हैं। विना श्रद्धा विश्वास के इस संसार में कोई भी महान् कार्य सिद्ध नहीं हो सकता ॥ ८४ ॥

अबुद्धशास्त्रः स्वजनानपेक्षितो विपत्पताकोऽप्ययमापदां पथि ।
यदेकचेताः न विभेमि संशयात् कृतं न विश्वासबलेन किं वद ॥ ८५ ॥

अबुद्धशास्त्रः स्वजनानपेक्षितः विपत्पताकः अपि अयम् (अहम्) आपदां पथि एकचेताः यत् संशयात् न विभेमि, (तत्) बद, विश्वासबलेन किं न कृतम् ॥ ८५ ॥

मेरा ही उदाहरण लें। मेरे पास शास्त्रों का प्रगल्भ पाण्डित्य नहीं, कुल परिवार जनों की भी उपेक्षा ही मुझे मिली। विपत्तियाँ ही हमारी सङ्गिनी हैं। इस अवस्था में भी यदि मैं इन विपत्तियों से दो-दो हाथ करता हुआ भी आशंका आदि से भयभीत नहीं होता तथा कर्तव्य को ही सब कुछ मानता हूँ तो आपही कहें विश्वास-बल के अतिरिक्त और क्या कारण है। श्रद्धा ने क्या नहीं किया। अतः विश्वास को कोरी भावुकता न कहें ॥ ८५ ॥

न चापलैर्नापि यशोऽभिलिप्सया वशीकृतं मे हृदयं यशोनिधे ।
जयक्षयद्वन्द्वनिरस्तबन्धनो भजामि कर्तव्यपथं यथास्थिरम् ॥ ८६ ॥

यशोनिधे, मे हृदयं चापलैः न यशोऽभिलिप्सया अपि न वशीकृतम् । यथास्थिरं कर्तव्यपथं जयक्षयद्वन्द्वनिरस्तबन्धनः भजामि ॥ ८६ ॥

कीर्ति के समुद्र, महात्मन् ! मैंने मन की चञ्चलावश या यश प्राप्ति के लिए यह संकटपूर्ण मार्ग नहीं चुना है विश्वास करें। मेरा हृदय इन भावनाओं से प्रभावित नहीं है। मैं लाभ-हानि, जप-पराजय के प्रपञ्च से सर्वथा मुक्त होकर ही केवल कर्तव्य पथ पर यथा शक्ति आरूढ़ होने की चेष्टा कर रहा हूँ! (कर्तव्य पालन ही व्यक्ति का सर्वोत्तम धर्म-गुण या योग्यता है) ॥ ८६ ॥

न वेत्ति लोकः क्षणमप्यनागतम् च चापि जीवो निजजीवने प्रभुः।
तदेकचेताः प्रयते यते विधिं भवस्वभावो ननु धर्मदर्शनम् ॥ ८७ ॥

लोकः अनागतं क्षणं अपि न वेत्ति, जीवः च अपि निजजीवने न प्रभुः, यते। तत् एकचेताः प्रयते, भवस्वभावः धर्मदर्शनं ननु ॥ ८७ ॥

महाराज, भविष्य में आनेवाले एक क्षण के सम्बन्ध में भी यह मनुष्य-लोक निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं जानता। साथ ही यह भी सत्य है कि कोई भी प्राणी अपने जीवन में इच्छानुसार स्वतन्त्र नहीं है। कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्—करना, नहीं करना, किसी अन्य प्रकार से करना, यह केवल ईश्वर का ही स्वभाव है मनुष्य तो अपनी सीमाओं में निबद्ध है। इसीलिए एकाग्रमना होकर मैं कर्तव्य-मार्ग का अनुसरण कर रहा हूँ। संसार का स्वभाव (उचित दृष्टि) धर्म-दर्शन है, कर्तव्य-पालन ही है ॥ ८७ ॥

भुवोऽधिराज्यं यशसश्चमत्कृतिर्ध्रुवा निबध्नाति जगन्मनोरथम्।
गुरुप्रसादामृततृप्तचेतसो ममाऽऽगमाऽपायसुखेऽपि का रतिः ॥ ८८ ॥

यशसः चमत्कृतिः भुवः अधिराज्यं जगन्मनोरथं ध्रुवा निबध्नाति, गुरुप्रसादामृततृप्तचेतसः मम आगमाऽपायसुखे अपि का रतिः ॥ ८८ ॥

यह सत्य है कि अधिकार सुख तथा यश की कामना संसार के हृदय में निवास करती है। सब चाहते हैं कि वे दूसरों पर शासन करें (उनकी इच्छा का व्याघात न हो) तथा यशस्वी बनें। किन्तु गुरुदेव के कृपा-अमृत से परितृप्त हृदयवाले मुझे जन्म-मृत्यु के बन्धन से मुक्ति देनेवाले मोक्ष में भी क्या रुचि हो सकती है! गुरुकृपा के सामने मुक्ति भी व्यर्थ ही है ॥ ८८ ॥

असम्भवं नाम हतोद्यमेऽखिलं क्रियारमाणां न किमप्यसम्भवम्।
हिनस्त्यचेष्टस्य मतिं यदेव तत् क्रियाधिरूढे तनुते नवोदयम् ॥ ८९ ॥

हतोद्यमे अखिलं नाम असम्भवम्, क्रियारमाणां किमपि असम्भवं न। यत् अचेष्टस्य मतिं निहन्ति तत् एव क्रियाधिरूढे नवोदयं तनुते ॥ ८९ ॥

उद्यम-हीन आलसी व्यक्ति के लिए सब कुछ असम्भव ही है तथा कर्मठ व्यक्ति के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है। चेष्टारहित व्यक्ति के विचार को जो भाव नष्ट कर देता है वही कर्तव्यारूढ़ प्राणी के लिए अभ्युदय का नया द्वार खोल देता है [कर्मठता तथा अकर्मण्यता परस्पर विरोधी हैं। अकर्मण्यता केवल बाह्य दोष ही नहीं है। यह बुद्धि को भी कुण्ठित कर देती है। वैसे ही कर्मठता जीवन का

प्रतीक है क्योंकि कर्मठता व्यक्ति को गतिशील बनाती है तथा उस व्यक्ति के लिए ही जगत् की सृष्टि है। अस्तु, उससे लिए कुछ भी असम्भव नहीं है।] ॥ ८९ ॥

पुरा हि सिंहाय तनुं प्रयच्छता रिरक्षुणा धेनुमनन्तकीर्तिना।
प्रतिष्ठिता किं न मनुप्रसूतये मदाद्यपुंसा पदवी धराभृता ॥ ९० ॥

पुरा धेनुं रिरक्षुणा अनन्तकीर्तिना धराभृता मदाद्यपुंसा सिंहाय हि तनुं प्रयच्छता मनुप्रसूतये किं पदवी न प्रतिष्ठिता ॥ ९० ॥

पूर्वकाल में गाय की रक्षा करने के लिए उसके बदले में सिंह के लिए अपना शरीर देनेवाले निस्सीम कीर्तिशाली हमारे आदिपूर्वज ने क्या मनु की सन्तानों के लिए उचित मार्ग का निर्देश नहीं कर दिया ? [सूर्यवंशी राजा दिलीप ने नन्दिनी (कामधेनुपुत्री) गाय के लिए अपना शरीर देकर किसी प्रकार सिंह को उसे छोड़ देने के लिए सहमत किया। महाकवि कालिदास ने रघुवंश के द्वितीय सर्ग में इसका अत्यन्त हृदयग्राही सजीव वर्णन किया है।] ॥ ९० ॥

बिभेमि नान्तादपि धर्मनिश्चयो न वाऽपि विघ्नं कलयेऽचलोपमम्।
पथः पराघ्र्यान्न मनो निवर्तये धृतव्रतानां विपदोऽप्यलङ्क्रिया ॥ ९१ ॥

धर्मनिश्चयः अन्तात् अपि न बिभेमि, वा अचलोपमं विघ्नम् अपि न कलये, पराघ्र्यात् पथः मनः न निवर्तये, विपदः अपि धृतव्रतानाम् अलङ्क्रिया ॥ ९१ ॥

धर्मोचित पथ पर चलता हुआ मैं मरने से भी नहीं डरता, बाधायें यदि पर्वत के समान भी हों तो मुझे विकल नहीं कर सकतीं, मैं बाधाओं को नहीं गिनता। मैं उत्तम, सज्जनानुसेवित मार्ग से मन को नहीं हटा सकता। व्रत पर (निष्ठा पर) अटल रहनेवालों के लिए विपत्तियाँ भी आभूषण ही हैं [निश्चयपूर्वक उत्तम पथ पर चलनेवालों को विपत्तियों की प्राप्ति अनिवार्य ही है। वे तो अलङ्कार ही हो जाती हैं।] ॥ ९१ ॥

निवारितुं भूधरनिम्नगास्यदं भवस्वभावं परिवर्तितुं बलात्।
विधौ समारोपितनिश्चयं शिवं प्रसह्य रोद्धुं न शरीरिणः क्षमाः ॥ ९२ ॥

भूधरनिम्नगास्यदं निवारितुं, बलात् भवस्वभावं परिवर्तितुं, विधौ समारोपितनिश्चयं शिवं प्रसह्य रोदधुं शरीरिणः न क्षमाः ॥ ९२ ॥

पर्वतीय सरिता की तीव्र धार को रोकने में, संसार के स्वभाव को बदलने में तथा उसी प्रकार कर्तव्य में निश्चयपूर्वक तत्पर शिवाजी को रोकने में शरीरधारी समर्थ नहीं हो सकता [पहाड़ी नदी की धारा का नीचे की ओर बहना ही स्वभाव है, संसार का स्वभाव बदला नहीं जा सकता 'स्वभावो दुरतिक्रमः' इसीलिए कहा गया है। वैसे ही शिवराज को उनके निश्चय से नहीं डिगाया जा सकता। इसमें दम्भ नहीं अपितु केवल स्वभाव का वर्णन है।] ॥ ९२ ॥

मदेकनाथः परितापतापितो विपद्यते विश्वमना गुरुर्यदि ।
अतः परं दुःखतरं किमस्ति मे ममोद्यमा यद्विरमन्ति निष्फलाः ॥ ९३ ॥

परितापतापितः मदेकनाथः विश्वमनाः गुरुः यदि विपद्यते अतः परं मे किं दुःखतरम् अस्ति यत् मम उद्यमाः निष्फलाः विरमन्ति ॥ ९३ ॥

पीडा से कातर होकर विश्वमना मेरे एक मात्र प्रभु गुरु समर्थ महाराज यदि कष्ट में पड़े हों तो मेरे लिए इससे बढ़कर अधिक दुःखपूर्ण और क्या हो सकता है कि उस पीड़ा के निवारणार्थ मेरे प्रयत्न निष्फल होकर कुण्ठित हो जायँ [मेरे लिए विशेष कष्ट इस बात का है कि मैं अपने प्रयत्न में रोका जा रहा हूँ ।] ॥ ९३ ॥

न यत्र वाचः प्रविशन्ति कुण्ठिता मनोरथैर्यत्र न लभ्यते पदम् ।
स भक्तिजुष्यः किमु लभ्यतेऽन्यथा न तर्कबुद्धेः परमार्थसंस्तुतिः ॥ ९४ ॥

यत्र कुण्ठिताः वाचः न प्रविशन्ति, यत्र मनोरथैः पदं न लभ्यते भक्तिजुष्यः सः अन्यथा कथम् आप्यते, तर्कबुद्धेः परमार्थसंस्तुतिः न ॥ ९४ ॥

जो भक्ति का, केवल भक्ति का, श्रद्धा का विषय है उसे प्राप्त करने का मार्ग केवल भक्ति ही है । वह वाणी का विषय नहीं । शब्द वहाँ कुण्ठित हो जाते हैं । मन भी वहाँ पहुँच नहीं सकता क्योंकि मन संशयपूर्ण तथा प्रमाथी है । शास्त्रीय पाण्डित्य की प्रगल्भता भी शास्त्रार्थ-विजय भले कर ले, उसे परम अर्थ से परिचय नहीं होता । तर्कबुद्धि को परमार्थतत्त्व अज्ञात रहता है । तात्पर्य यह कि गुरु में भक्ति, निष्ठा, तर्क का, विवाद का विषय नहीं है ॥ ९४ ॥

तपोनिधे नूनमनापदोऽधुना क्रियाः फलिष्यन्ति तवाशिषा मम ।
अनुग्रहैरादिश मां तदध्वनि विधेयसिद्धिः समये हि शोभते ॥ ९५ ॥

तपोनिधे, तव आशिषा नूनम् अनापदः मम क्रियाः अधुना फलिष्यन्ति, तत् अनुग्रहैः अध्वनि माम् आदिश, विधेयसिद्धिः हि समये शोभते ॥ ९५ ॥

तपोधन ! आपके शुभाशीर्वाद से अब मेरा कार्य अवश्य फलीभूत होगा । अब कृपा कर मुझे अपने पथ पर चलने की आज्ञा दे । कार्यसिद्धि का यही महत्त्व है कि वह समय पर सम्पन्न हो जाय, अवसर बीत जाने पर कार्यसिद्धि महत्त्वहीन हो जाती है [अब आप हमें मत रोकें ।] ॥ ९५ ॥

समाहितश्वासमसौ विलोक्य तं पुनर्विवक्षुं विधिरक्षिता हठात् ।
सदण्डकायं न्यपतत् पदाम्बुजे गुरोः परिक्षाममुखोत्पलं स्मरन् ॥ ९६ ॥

विधिरक्षिता असौ समाहितश्वासं हठात् पुनः विवक्षुं तं विलोक्य, गुरोः परिक्षाम-मुखोत्पलं स्मरन् पदाम्बुजे सदण्डकायं न्यपतत् ॥ ९६ ॥

वीर शिवराज ने मुनि की ओर देखा । वे अपने श्वास को समाहित कर ऐसे प्रतीत हुए जैसे फिर कुछ बोलनेवाले हों । कार्यगौरव को जाननेवाले वीर शिवराज

ने अपने गुरु समर्थ महाराज के पीड़ा से कुम्हलाये मुखकमल का स्मरण करते हुए इस जटाधारी मुनि महाराज के चरणों को दण्डवत् गिरकर पकड़ लिया। [शिवराज ने विवाद में समय का अपव्यय तथा कार्यहानि का विचार करके विनयपूर्वक मुनि के चरणों को ग्रहण किया]॥ ९६ ॥

समुत्थितो लब्धवरो यथाऽभितो ददर्श कान्तारमसौ न वादिनम्।
सुविस्मितस्तल्लघु दृष्टवान् पदं महामृगावासनिसर्गनिर्मितम् ॥ ९७ ॥

लब्धवरः यथा समुत्थितः असौ अभितः कान्तारं ददर्श वादिनं न, सुविस्मितः (सन्) महामृगावासनिसर्गनिर्मितं तत् पदं लघु दृष्टवान् ॥ ९७ ॥

मुनि के चरणों में से शिवराज उठे, ऐसा लगा मानो उन्हें वरदान मिला है। उठने पर उन्होंने भयानक जंगल को चारों ओर देखा किन्तु मुनि महाराज को नहीं देख पाये। और अत्यन्त आश्चर्य में भरकर उन्होंने उस स्थान को देखा जिसे सृष्टिकर्ता ने सहज ही भयंकर वनचारी जीवों के निवास के ही लिए निर्मित किया हो ॥ ९७ ॥

ररास मेघो घनवृष्टिसङ्कुलस्ततान विद्युत् क्षणविक्रमा त्वराम्।
बभञ्ज शाखाः कुपितः प्रभञ्जनो युगान्तरौद्रः प्रकृतेः क्रमोऽभवत् ॥ ९८ ॥

घनवृष्टिसङ्कुलः मेघः ररास, क्षणविक्रमा विद्युत् त्वरां ततान, कुपितः प्रभञ्जनः शाखाः बभञ्ज, प्रकृतेः क्रमः युगान्तरौद्रः अभवत् ॥ ९८ ॥

बादल घोर वृष्टि करता हुआ गर्जने लगा। क्षण भर के लिए अपनी चमक दिखानेवाली बिजली भी चमकने में शीघ्रता करने लगी। कुपित होकर वेगवती आँधी ने पेड़ों की डालियों को तोड़ डाला। सम्पूर्ण प्रकृति ही युगान्तकालीन भयंकरता में निमग्न हो गयी। स्थिति यह है कि विकारों के रहते हुए भी यदि संयम बना रहे तो वही संयम संयम है! ऐसे ही भयंकर बाधाओं के सम्मुख रहते हुए भी यदि सिद्धि मिले तो वही वास्तविक सिद्धि है ॥ ९८ ॥

अपास्य वैरं सहजं भयाकुलाः शरीररक्षाकृपणा हि जन्तवः।
समन्ततश्छादितशाखपञ्जरं सिषेविरे ते वटमाश्रयाकुलाः ॥ ९९ ॥

शरीररक्षाकृपणाः भयाकुलाः जन्तवः हि सहजं वैरम् अपास्य आश्रयाकुलाः ते समन्ततः छादितशाखपञ्जरं वटं सिषेविरे ॥ ९९ ॥

अपने शरीर को आँधी-तूफान से बचाने के लिए कातर, भय से विकल जंगली पशु उस रात्रि में अपना सहज स्वाभाविक विरोध भुलाकर उस बरगद के नीचे एकत्र हो गये जो चारों ओर अपनी शाखाओं को फैलाकर शरण देने के लिए सन्नद्ध था ॥ ९९ ॥

तदैव वर्षद्घनविस्मितेक्षणं निजास्यलग्नं नवशावकं प्रभुः ।
महातरुस्कन्धतले वनेश्वरी निनाय मेघस्यदभिन्नकेसरा ॥१००॥

तदा एव वर्षद्घनविस्मितेक्षणं निजास्यलग्नं नवशावकं मेघस्यदभिन्नकेसरा वनेश्वरी प्रभूः महातरुस्कन्धतले निनाय ॥ १०० ॥

उसी समय शेरनी अपने नवजात शिशु को दाँतों से दबाये उस बरगद के नीचे आँधी-पानी से सुरक्षा के लिए ले आयी। तेज पानी बरसने के कारण उसका शरीर भींग गया था तथा उसका नया बच्चा पहली बार वर्षा को देखकर विस्मित हो रहा था ॥ १०० ॥

परिस्फुरद्विक्रमकृष्णपङ्क्तिभिर्वपुर्निबद्धं दधती मनस्विनी ।
दृशा ज्वलत्तारकनिर्निमेषया निरीक्षमाणा नवजातशावकम् ॥१०१॥

परिस्फुरद्विक्रमकृष्णपङ्क्तिभिः निबद्धं वपुः दधती ज्वलत्तारकनिर्निमेषया दृशा नवजात-शावकं निरीक्षमाणा मनस्विनी (आसीत्) ॥ १०१ ॥

उस सिंहवध का शरीर अत्यन्त पुष्ट था। उसके कद्दावर शरीर पर काली धारियाँ पड़ी हुई थीं, मानो काले रंग की रस्सियों से देह को कसकर बाँध दिया गया हो। चमकती हुई पुतलियोंवाली निर्निमेष दृष्टि से अपने नवजात बच्चे को वह स्नेहपूर्वक देख रही थी ॥ १०१ ॥

निरीक्ष्य तां प्रार्थितकामनामिव प्रहृष्टरोमा गुरुमूर्तिमानसः ।
नवाम्बुवाहस्तनितार्थनिर्भरामकल्पयद्वाचममोघनिश्चयः ॥१०२॥

अमोघनिश्चयः गुरुमूर्तिमानसः प्रहृष्टरोमाः (सः) प्रार्थितकामनाम् इव तां निरीक्ष्य नवाम्बुवाहस्तनितार्थनिर्भरां वाचम् अकल्पयत् ॥ १०२ ॥

उस शेरनी को मनोरथ के फल के समान उपस्थित देखकर, महाराज समर्थ की मूर्ति को हृदय में धारण करनेवाले शिवराज हर्ष से रोमाञ्चित हो गये। तब उस दृढ़संकल्पधारी राजा ने नये बादल के मन्द्रगर्जनतुल्य अर्थगाम्भीर्यपूर्ण वाणी द्वारा उस शेरनी से कहा ॥ १०२ ॥

अशेषसत्त्वार्जवृत्तिसत्क्रियो जगद्गुरुर्जीवितसंशयच्छिदः ।
ममापदेशेन पयोऽमृतस्य ते स्थितोऽस्ति पात्राभिमतोऽतिथिः शुभे ॥१०३॥

शुभे, अशेषसत्त्वार्जववृत्तिसत्क्रियः जगद्गुरुः मम अपदेशेन जीवितसंशयच्छिदः ते पयोऽमृतस्य पात्राभिमतः अतिथिः स्थितः अस्ति ॥ १०३ ॥

कल्याणी ! सम्पूर्ण जीवधारियों के प्रति आत्मीय भाव रखनेवाले, संसार के गुरु महाराज समर्थ, अपने जीवन-संशय को नष्ट करनेवाले, जीवन को निश्चित बनानेवाले, तुम्हारे दुग्धामृत की मेरे बहाने (मेरे द्वारा) याच्ञा कर रहे हैं तथा तुम्हारे उत्कृष्टतम अतिथि के रूप में तुम्हारी कृपा के अभीष्टतम पात्र हैं ॥ १०३ ॥

क्षणं स तस्थौ विनतः कृतार्थनो न सापि चक्राम वनेश्वरी क्षणम् ।
प्रबोध्य वत्सं घनराजिनन्दिनी क्षणे द्वितीये शुशुभे पुरोऽर्थिनः ॥१०४॥

कृतार्थनः सः विनतः क्षणं तस्थौ, सा वनेश्वरी अपि क्षणं न चक्राम । द्वितीये क्षणे वत्सं प्रबोध्य घनराजिनन्दिनी अर्थिनः पुरः शुशुभे ॥ १०४ ॥

वीर शिवराज प्रार्थना करके क्षणभर विनयपूर्वक खड़े रहे, वह वनाधीश्वरी शेरनी भी क्षणभरतक अपने स्थान से नहीं हिली । किन्तु दूसरे ही क्षण बादलों की सघनता से प्रसन्न होती हुई, अपने छोटे शिशु को पुचकारकर आश्वस्त कर, दूध की याच्ञा करनेवाले शिवराज के सम्मुख आकर खड़ी हो गयी ॥ १०४ ॥

शशाम वृष्टिर्विरराम कम्पनो दिशः प्रसेदुर्विधुरम्बरं श्रितः ।
तमोव्यपायोऽपगतोऽमदर्थवत् परीक्षितानां सहजा हि सम्पदः ॥१०५॥

वृष्टिः शशाम, कम्पनः विरराम, दिशः प्रसेदुः, विधुः अम्बरं श्रितः, असदर्थवत् तमोव्यपायः अपगतः परीक्षितानां हि सम्पदः सहजाः ॥ १०५ ॥

और फिर एक विचित्र बात हुई । मूसलाधार वृष्टि शान्त हो गयी । आँधी-तूफान का जोर रुक गया । दिशाओं से काला मेघ छंट गया । वे स्वच्छ, प्रसन्न हो गयीं । चन्द्रमा आकाश में प्रकाशित हो गया । सचमुच जो जीवन की परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाते हैं उनके लिए सारी मनोवाञ्छित सम्पत्तियाँ सुलभ, सहज हो जाती हैं [यह जीवन एक परीक्षा है । प्रतिक्षण व्यक्ति की निष्ठा, कर्तव्य-भावना, कर्मठता मानसिक एकाग्रता आदि की परीक्षा होती रहती है । कभी-कभी ऐसे विचित्र अवसर आ जाते हैं जब परस्पर विरोधी भावनायें व्यक्ति के मन को उद्विग्न, क्षुब्ध बना देती हैं, उसे अपने निश्चय में अनास्था होने लगती है तथा वह संशय में नष्ट हो जाता है । किन्तु वीर शिव जीवन की इस परीक्षा में सर्वथा उत्तीर्ण रहे ।] ॥ १०५ ॥

कृतज्ञताभारनतो जवक्रमः स पूर्णकामो विगणय्य शर्वरीम् ।
ययौ गुरोरन्तिकमाशु सोत्सुकं मृगेन्द्रकान्तामृदुगर्जिताज्ञया ॥१०६॥

कृतज्ञताभारनतः जवक्रमः पूर्णकामः सः शर्वरीं विगणय्य, मृगेन्द्रकान्तामृदुगर्जिताज्ञया सोत्सुकम् आशु गुरोः अन्तिकं ययौ ॥ १०६ ॥

वीर शिवाजी का मस्तक कृतज्ञता के भार से झुक गया । उनकी गति में तीव्रता आ गयी । मृगेन्द्रवधू उस शेरनी ने मानो अपने मन्द गर्जन से उन्हें जाने की आज्ञा ही प्रदान कर दी । गुरुदेव की पीड़ा उन्हें क्षण भर भी विश्राम नहीं दे रही थी । सफल मनोरथ होकर (बघिनी का दूध लेकर) उस काली रात की कुछ भी परवाह न करते हुए वे वीर शिवराज उत्सुकतापूर्वक गुरुदेव के पास शीघ्रता से प्रस्थित हुए [बघिनी का दूध पीडा-निवारण में साधनभूत था । मूल उद्देश्य गुरुदेव को पीडा-मुक्त करना था, अतः वे शीघ्रतापूर्वक गुरु के आश्रम की ओर चले ।] ॥ १०६ ॥

अये किमेतद् गुरुविग्रहे कथं मुनिर्वनस्थः स वनेश्वरी च सा ।
इति स्थिरं यावदसौ व्यलोकयद् ददर्श तावत् पुरतः स्थितं गुरुम् ॥१०७॥

'अये, किं एतत्, गुरुविग्रहे कथं स वनस्थः मुनिः सा वनेश्वरी च', इति यावत् असौ स्थिरं व्यलोकयत् तावत् पुरतः स्थितं गुरुं ददर्श ॥ १०७ ॥

[वीर शिवराज आश्रम में आ गये। दुग्ध के द्वारा अभीष्ट फलप्राप्ति का आयोजन हुआ] तबतक सहसा वीर शिवा ने कुछ अद्भुत चमत्कार-सा देखा और बोल पड़े 'अरे यह क्या !' गुरुदेव के शरीर में वे जटाजूटवाले जंगल के महात्मा कैसे दिखायी पड़ रहे हैं ! साथ ही वह दूध देनेवाली सिंहिनी भी स्पष्ट अपनी झलक दिखा रही है। ऐसा कहकर जब उन्होंने ध्यानपूर्वक देखा तो श्री समर्थ महाराज को अपने सम्मुख उपस्थित पाया ॥ १०७ ॥

क्षणेन तत्रैव तदन्तिकं स्वयं मनोरथश्रीरिव काननेश्वरी ।
स्वभावसिद्धा कपिलेव नन्दिनी मुदे सवत्सा शुशुभे सकौतुकम् ॥१०८॥

तत्र एव क्षणेन तदन्तिकं स्वयं मनोरथश्रीः इव काननेश्वरी स्वभावसिद्धा नन्दिनी कपिला इव सवत्सा सकौतुकं मुदे शुशुभे ॥ १०८ ॥

और वहीं पर क्षण भर में वीर शिवराज के पास मनोरथसिद्धि के समान जंगल की राजरानी वह सिंहिनी सरल सोधी गाय के समान अपने नवजात शिशु को साथ लिये हुए, कौतूहल-सा उत्पन्न करती हुई आनन्दपूर्ण मुद्रा में उपस्थित हो गयी ॥ १०८ ॥

बहिश्चरप्राण ! ममैकवत्सल ! तवाद्भुतेनातिमनुष्यकर्मणा ।
भवत्सतीर्थ्या हतसंशया इति ब्रुवन् समर्थः परिषस्वजे शिवम् ॥१०९॥

'बहिश्चरप्राण, मम एकवत्सल, तव अद्भुतेन अतिमनुष्यकर्मणा भवत्सतीर्थ्याः हत-संशयाः'—इति ब्रुवन् समर्थः शिवं परिषस्वजे ॥ १०९ ॥

गुरुदेव समर्थ महाराज ने वीर शिव को कहा—मेरे शरीर से बाहर रहने पर भी मेरे प्राण, मुझ में अनन्य स्नेह एवं श्रद्धा करनेवाले वीर शिवा ! आज तुम्हारे सहपाठी बन्धु, तुम्हारे अतिमानवीय (मानव की सीमाओं को लाँघ जानेवाले) कार्य से संशयविहीन हो गये (स्पष्ट संकेत है कि समर्थ महाराज ने भी शिष्यों की इस भ्रान्ति को सुन लिया था कि शिवाजी की पार्थिव प्रभुता के कारण गुरु की दृष्टि में शिवाजी का विशेष स्थान है) इतना कहते हुए गुरु ने शिवाजी को वरबस गले से लगा लिया ॥ १०९ ॥

कृपाभरास्रस्यदबिन्दुसिञ्चितो विवेद राजा सफलं मनोरथम् ।
उपस्थितानां नयनोत्सवं परं बभार दिव्या गुरुशिष्यपद्धतिः ॥११०॥

कृपामरान्नस्यदविन्दुसिञ्चितः राजा मनोरथं सफलं विवेद, दिव्या गुरुशिष्यपद्धतिः उपस्थितानां परं नयनोत्सवं बभार ॥ ११० ॥

भावातिरेक में समर्थ महाराज की आँखों से प्रेमाश्रु छलक पड़े तथा कतिपय बूँदें शिवाजी के ऊपर भी चू पड़ीं। गुरुकृपा से भरी हुई उन बूँदों से अभिषिक्त हो शिवाजी को ऐसी प्रतीत हुआ मानो उनका मनोरथ सफल हो गया। गुरु-शिष्य की इस दिव्य अलौकिक परम्परा को देखकर उपस्थित जनसमूह ने ऐसा अनुभव किया मानो उन्हें आँख पाने का फल मिल गया। आँखों के लिए गुरु-शिष्य का वह सम्बन्ध उत्कृष्टतम दृश्य था ॥ ११० ॥

इत्थं स्वभावपरिषेवितसर्वजीवो राजा परीक्षितगुणोपि विनीतचेताः।
नालं बभूव जनकौतुकहर्षवर्षं सोढुं श्रुतस्वचरितस्तवभारखिन्नः ॥१११॥

इत्थं परीक्षितगुणः अपि विनीतचेताः स्वभावपरिषेवितसर्वजीवः राजा श्रुतस्वचरित-स्तवभारखिन्नः जनकौतुकहर्षवर्षं सोढुम् अलं न बभूव ॥ १११ ॥

इस प्रकार निष्कारण, स्वभावतः ही सम्पूर्ण जीव-जगत् का कल्याण चाहने-वाले राजा शिवाजी अपनी स्वाभाविक वृत्तियों से लोकसेवा के मार्ग में सर्वथा परीक्षित होकर भी सदा विनयपूर्ण आचरण करते हुए, जनता की कौतुकपूर्ण हर्षवृष्टि के बोझ को उठा न सके, क्योंकि अपनी चारित्र्य-सम्बन्धी प्रशंसा के भार के कारण उनका हृदय खिन्न हो गया था [आशय यह है कि कोई भी शीलवान् व्यक्ति स्वयं अपनी प्रशंसा सुनकर संकुचित ही होता है। केवल अधम प्रकृति का मनुष्य ही स्वयश को सुनकर गर्व से उद्धत होता है। अतः शिवराज तो स्वयं ही आत्मप्रशंसा को सुनना उचित नहीं समझते थे। अब बघिनी का दूध लाने पर शतगुणित वेग से उसी प्रशंसा की पुनरावृत्ति आरम्भ हुई। भला छत्रपति जैसा शीलवान् व्यक्ति उस प्रशंसा-भार को कैसे ढो पाता। एक बात और, 'परीक्षितगुणोऽपि विनीतचेताः' द्वारा कवि ने सम्भवतः राजा परीक्षित को सम्बद्ध किया है। राजा परीक्षित प्रजापालक, शत्रु-हन्ता तथा परम न्यायी थे किन्तु विनयशीलता छोड़ देने के कारण उन्हें बालक ऋषिपुत्र का शापभाजन होना पड़ा। अतः शिवराज के विषय में उचित ही है कि परीक्षित के समान सद्गुणों के अशेष भाजन होने के साथ ही राजा शिवाजी परीक्षित के समान असहिष्णु नहीं थे अपितु अत्यन्त ही विनयशील थे।] ॥ १११ ॥

इति श्रीत्रिपाठ्युपाह्वेन उमाशङ्करशर्मणा विरचिते
क्षत्रपतिचरित-महाकाव्ये एकादशः सर्गः।

अथ द्वादशः सर्गः

[पराजिते शायिस्ताश्वखाने विपद्यमाने च जशवन्तसिंहे कुपितो दिल्लीपतिः शिवराज-शासनाय जयसिंहम्—आमेरभूपतिं—स्वसेनापतिं दक्षिणापथे प्राहिणोत् । विपुलबलसनाथितं तं विज्ञाय सन्धिद्वारेण शिवराजः स्वस्थितिं ररक्ष । तेनाऽभ्यनुज्ञातो दिल्लीपतिमवरङ्गजेबं द्रष्टु-मागरामभिजगाम क्षत्रपतिः इतीतिहासः ।]

अभ्रंलिहोर्मिसम्पातघातैरिव शिवक्रमैः ।
दिल्लीदक्षिणराज्यश्रीर्नौरिवाब्धौ व्यपद्यत ॥ १ ॥

अभ्रंलिहोर्मिसम्पातघातैः इव शिवक्रमैः दिल्लीदक्षिणराज्यश्रीः अब्धौ नौः इव व्यपद्यत ॥ १ ॥

शिवराज के अप्रत्याशित एवं सफल अभियानों से दिल्ली साम्राज्य की दक्षिणापथवर्तिनी राज्यश्री, आकाश को छूनेवाली उत्ताल लहरों से आन्दोलित नौका के समान डगमगाने लगी [मराठों के निरन्तर अभियानों से विपन्न दक्षिणी मुगल साम्राज्य अपनी प्रतिष्ठा एवं प्रभाव सुरक्षित रखने में असहाय सा विकल हो उठा ।] ॥ १ ॥

तत्र यौवनसौन्दर्यमदार्पितमधूत्सवः ।
दिल्लीपतिसुतो मेने जगत् सर्वं तरङ्गितम् ॥ २ ॥

तत्र यौवनसौन्दर्यमदार्पितमधूत्सवः दिल्लीपतिसुतः सर्वं जगत् तरङ्गितं मेने ॥ २ ॥

दक्षिणाञ्चल में, यौवनोन्मद सौन्दर्य द्वारा अर्पित चषकासवपान की रंगरेलियों में उन्मत्त दिल्लीपति के पुत्र को प्रतीत होता था कि सम्पूर्ण विश्व ही तरङ्गायमान हो रहा है [दिल्लीपति औरंगजेब ने अपने मँझले पुत्र शाहजादा मुअज्जम को दक्षिण का सूबेदार बनाया । नयी जवानी, अयाचित ऐश्वर्य, अधिकार का बल एवं अवस्थासुलभ विलासप्रियता—इन सब कारणों ने शाहजादे को विलास-वैभव में आकण्ठ निमग्न कर दिया । शासन का ध्यान छोड़कर शाहजादा सुरा-सुन्दरी का आराधक बन गया और रात-दिन उसी रंगीन दुनिया के स्वप्नालोक में डूबने लगा । तभी मराठों ने अपना साहसिक अभियान तीव्रतर कर दिया ।] ॥ २ ॥

निनीषुर्जशवन्तोऽपि[1] पन्हलागैरिकध्वजम् ।
उल्लिलेख स्वकातर्यं लज्जितो हरितां मुखे ॥ ३ ॥

पन्हलागैरिकध्वजं निनीषुः जशवन्तः अपि हरितां मुखे लज्जितः स्वकातर्यम् उल्लिलेख ॥ ३ ॥

---

१. महाराज-जशवन्तसिंहः—मुगलसेनापतिः शिथिलोद्यमः सखा दिल्लीपतेः । पन्हला—महाराष्ट्रे लब्धयशाः दुर्गः । तत्रैव बाजीप्रभुः स्वजीवितेन शिवराजं ररक्ष शत्रुभ्यः ।

महाराज जशवन्तसिंह—मुगलसेनापति ने पन्हला दुर्ग के भगवाध्वज को प्राप्त करने की इच्छा से आक्रमण किया किन्तु परिणामस्वरूप अपनी कायरतापूर्ण पराजय को दिशाओं के मुख पर अङ्कित कर दिया ॥ ३ ॥

पितरि स्वरिते खिन्नं तं श्रियो राज्यवर्धनाः ।
सान्त्वयितुमिवाजग्मुर्ब्रह्मदेवमृचः शिवम् ॥ ४ ॥

पितरि स्वर् इते खिन्नं तं शिवं ब्रह्मदेवम् इव सान्त्वयितुं राज्यवर्धनाः श्रियः ऋचः इव आजग्मुः ॥ ४ ॥

उसी समय वीर शिवराज को दुस्सह पितृवियोग का शोक झेलना पड़ा। पिता शहाजि भोसले के दिवङ्गत हो जाने पर दुःखकातर क्षत्रपति को सान्त्वना देने के लिए राज्य को समृद्धि करनेवाली सम्पत्तियाँ उनके पास इस प्रकार उपस्थित हुईं जैसे पद्मयोनि ब्रह्माजी के पास ऋचायें उपस्थित हुई थीं ॥ ४ ॥

दिवसे निष्फलारम्भैर्निशि निद्राक्षयैर्हतः ।
दिल्लीशो नाविदच्छर्म मुमूर्षुरिव विह्वलः ॥ ५ ॥

निष्फलारम्भैः दिवसे निद्राक्षयैः निशि हतः मुमुर्षुः इव विह्वलः दिल्लीशः शर्म न अविदत् ॥ ५ ॥

दिल्लीपति अवरगजेब की मानसिक विकलता बहुत बढ़ गयी थी। दिन तो निष्फल उद्योगों के प्रयोगों के सञ्चालन में चला जाता था, रात को चिन्ता के मारे नींद ही नहीं आती थी, मुमूर्षु व्यक्ति के समान दिल्लीपति को सुख स्वप्न हो गया था तथा वे कातर हो गये थे ॥ ५ ॥

जयसिंहं महायुद्धकीर्तिमाम्बेरभूपतिम् ।
असौ पोतमिवापश्यद् दुस्तराऽऽवर्तकम्पितः ॥ ६ ॥

दुस्तरावर्तकम्पितः असौ महायुद्धकीर्तिम् आम्बेरभूपतिं जयसिंहं पोतम् इव अपश्यत् ॥६॥

आमेर नरेश महाराज जयसिंह को, दुस्तर भँवरजाल में फँसकर कम्पित-प्राण दिल्लीपति ने जहाज के समान देखा। महाराज जयसिंह अनेक महायुद्धों में अपनी उद्दाम शौर्यकीर्ति के लिए सर्वत्र विख्यात थे ॥ ६ ॥

विश्वासभूः शिवारातेः शस्त्रशास्त्रपरावधिः ।
सुधालेप इवानन्यः शयिताश्वक्षतोरसः ॥ ७ ॥

शयिताश्वक्षतोरसः शिवारातेः अनन्यः सुधालेपः इव, विश्वासभूः शस्त्रशास्त्र-परावधिः ॥ ७ ॥

महाराज जयसिंह शिवराज के शत्रु दिल्लीपति के परम विश्वासभाजन थे, शस्त्र और शास्त्र की पराकाष्ठा थे तथा शायिस्ताखान के विक्षत हृदय के लिए अनुपम अमृतलेप थे ॥ ८ ॥

कूटनीतिरनार्याणामार्याणाञ्चेष्टविक्रमः ।
द्वयं सहस्थितिं भेजे जयसिंहे यशस्विनि ॥ ८ ॥

अनार्याणां कूटनीतिः आर्याणाम् इष्टविक्रमः च द्वयं यशस्विनि जयसिंहे सहस्थितिं भेजे ॥ ८ ॥

अनार्यों (आर्येतर—अभारतीय जातियों) की कूटनीति तथा आर्यों का अभीष्ट पराक्रम—ये दोनों भाव यशस्वी राजा जयसिंह में एक साथ विराजमान थे। वे कूटनीतिधुरीण एवं अत्यन्त पराक्रमी थे ॥ ८ ॥

षाड्गुण्यप्रभवा शक्तिर्युक्तावसरवेदिने ।
तस्मै महत्फलोत्कर्षं प्रेष्येव समुपाहरत् ॥ ९ ॥

युक्तावसरवेदिने तस्मै षाड्गुण्यप्रभवा शक्तिः प्रेष्या इव महत्फलोत्कर्षं समुपाहरत् ॥ ९ ॥

अनुकूल अवसर को जाननेवाले उस जयसिंह के लिए, साम-दाम आदि षड्गुणों के उचित प्रयोग से उत्पन्न होनेवाली शक्ति, दासी के समान महान् सिद्धि की सम्पन्नता स्वयं उपस्थित करती थी ॥ ९ ॥

विदार्योद्योगटङ्केन दुर्दैवदुर्गमोपलम् ।
कूटसंस्थो लिलेखासौ मनुजातशुभायतिम् ॥ १० ॥

उद्योगटङ्केन दुर्दैवदुर्गमोपलं विदार्य कूटसंस्थः असौ मनुजातशुभायतिं लिलेख ॥ १० ॥

निरन्तर उद्योगरूपी छेनी से दुर्दैव की दुर्भेद्य शिला को काटकर उन्नति के शिखर पर आरूढ़ होकर जयसिंह ने मानव जाति के अभ्युदय-सम्भर भविष्य का स्वरूप अङ्कित किया [महाराज जयसिंह ने सामान्य स्थिति से अपने उत्साह, संकल्प एवं अनवरत उद्योग द्वारा अभ्युदय प्राप्त किया था। उन्होंने अपने उदाहरण से स्पष्ट कर दिया कि दुर्दैव को प्रयत्न की टाँकी से काटकर विनष्ट किया जा सकता है तथा मानव जाति के प्रगति का रहस्य इसी उद्योग, अनवरत अध्यवसाय में निहित है।] ॥ १० ॥

आकैलासमुपाम्भोधि क्व नारातिकुलाङ्गनाः ।
यौवनाग्निज्वलत्क्षेत्रमसिञ्चन्नेत्रवर्षणैः ॥ ११ ॥

आकैलासम् उपाम्भोधि अरातिकुलाङ्गनाः नेत्रवर्षणैः यौवनाग्निज्वलत्क्षेत्रं क्व न असिञ्चन् ॥ ११ ॥

हिमालय से समुद्रतट तक कहाँ शत्रुकुल की सुन्दरियों ने (जयसिंह के कारण) यौवनाग्नि से जलते हुए क्षेत्रों को अपनी अश्रुवर्षा से नहीं सींचा ? (क्षेत्र—खेत, आत्मा, शरीर) [आशय यह है कि युद्ध में जयसिंह द्वारा निहत प्रियपति के कारण वैधव्यग्रस्त नवयुवतियाँ पतिवियोग में यौवन की धधकती ज्वाला में जलते हुए प्राण एवं देह की रक्षा में निरुपाय, विवश होकर अश्रुवर्षण करने लगती थीं, मानो

इसी जलवृष्टि के कारण, सिंचाई के कारण, यौवनाग्नि का दुस्सह वेग उनके क्षेत्र को (शरीर को) भस्म नहीं कर पाता था ।] ॥ ११ ॥

[1]यज्जयोद्घोषसन्त्रस्ताः सकुभाः ककुभो दश ।
शिक्षयन्ति स्म गान्धारानानम्यस्तशिरोनतिम् ॥ १२ ॥

यज्जयोद्घोषसन्त्रस्ताः सकुभाः दश ककुभः गान्धारान् अनभ्यस्तशिरोनतिं शिक्षयन्ति स्म ॥ १२ ॥

अफगानिस्तान की रणभूमि में जिस के गर्जन से अतिशय भयभीत कुभा के साथ ही दशों दिशाओं ने गान्धार-निवासियों को शिरोऽवनति (सिर झुकाने) के अनभ्यस्त पथ में प्रवृत्त किया [जयसिंह ने पठानों को अफगानिस्तान में इस तरह दबाया कि वे भी अपनी अकड़ छोड़कर सिर झुकाने के लिए बाध्य हो गये ।] ॥ १२ ॥

जयोदयाद्रिशिखराऽऽरोपितस्यन्दनस्थितिम् ।
सैंहिकेयः शिवादित्यं जयसिंहोऽभ्युपागमत् ॥ १३ ॥

जयोदयाद्रिशिखरारोपितस्यन्दनस्थितिं शिवादित्यं सैंहिकेयः जयसिंहः अभ्युपागमत् ॥१३॥

विजय के उदयगिरि पर दृढ़ रथस्थितिवाले शिवसूर्य को जयसिंह ने सिंहिका-सुत राहु के समान रोका । शास्त्रीय मान्यता है कि राहु नामक असुर ही चक्र-विच्छिन्न होकर राहु तथा केतु के रूप में जीवित हो गया । अमावस्या को वही केतु सूर्यमण्डल को ग्रस्त करने की चेष्टा करता है ॥ १३ ॥

[2]दिल्लेरादित्रिभिर्युक्ता त्रिशिरा सा पताकिनी ।
खरोग्रदूषणवती जनस्थानमबाधत ॥ १४ ॥

दिल्लेरादित्रिभिः युक्ता त्रिशिरा सा पताकिनी जनस्थानम् अबाधत ॥१४॥

दिलेरखान आदि तीन सेनाधिपों से युक्त वह सेना 'त्रिशिरा' थी तथा तीव्र उग्र 'दूषणों' से भरी थी। उसने जनस्थान को प्रजा-बहुल नगरों एवं कस्बों को उत्पीड़ित करना आरम्भ किया [खर, दूषण एवं त्रिशिरा इन्हीं तीन सेनापतियों के नेतृत्व में शूर्पणखा के उत्तेजित करने पर राक्षस सेना भगवान राम को पराजित करने आयी थी । दण्डकारण्य को ही 'जनस्थान' कहते हैं । जनस्थान रावण के सैनिकों से आतंकित था । रामायणीय नामों के निर्देशन का संकेत स्पष्ट है ।] ॥ १४ ॥

चतुर्दशसहस्राणां सादिनामेकनायकः ।
द्वितीयां स्वमतिश्चक्रे केवलां शिवशासने ॥ १५ ॥

१. मुगलसाम्राज्ये अफगानिस्तानप्रदेशः सीमान्त आसीत् । इदानीं स्वतन्त्रदेशः सः । तत्रैव कुभाऽभिधा नदी, काबुलनदीति ख्याताऽद्य ।

२. दिलेरखानः—शौर्यालङ्कृतः पठानसेनापतिः ।

चतुर्दशसहस्राणां सादिनाम् एकनायकः शिवशासने केवलां स्वमतिं द्वितीयां चक्रे ॥१५॥

चौदह हजार घुड़सवार फौज के सर्वोच्च सेनापति जयसिंह ने वीर शिवराज को वश में करने के लिए सेना के साथ केवल अपनी बुद्धि का आश्रय लिया ॥ १५ ॥

[1]शिवाभिभूतसामन्तान् वैरशोधाय भावयन् ।
तन्नौबलविनाशाय पोर्तुकालानवर्धयत् ॥ १६ ॥

शिवाभिभूतसामन्तान् वैरशोधाय भावयन् तन्नौबलविनाशाय पोर्तुकालान् अवर्धयत् ॥१६॥

जयसिंह छत्रपति को पराजित करने के लिए केवल रणभूमि को ही नहीं अपितु राज्याश्रय के प्रत्येक अंग को विपन्न करके विजय प्राप्त करना चाहते थे। अतएव उन्होंने क्षत्रपति द्वारा पूर्व-पराजित सामन्तों को बदला लेने के लिए उत्साहित करके अपने पक्ष में मिलाने की चेष्टा की, क्षत्रपति की नौसेना को नष्ट करने के लिए पुर्तगालियों को प्रोत्साहित किया ॥ १६ ॥

तुरुष्कपृतनास्तूर्णं शिवराज्ये यथेतयः ।
सर्वग्रासं समानिन्युः संक्षयाभिनवक्षणम् ॥ १७ ॥

तूर्णं शिवराज्ये तुरुष्कपृतनाः ईतयः यथा संक्षयाभिनवक्षणं सर्वग्रासं समानिन्युः ॥१७॥

क्षत्रपति के राज्य में मुगल सेना ईति (संक्रामक विपत्ति—महामारी, अवर्षण आदि) के समान तीव्रता से फैल गयी तथा प्रलय की अभिनव भूमिका उपस्थित करते हुए सब कुछ नष्ट करना आरम्भ किया ॥ १७ ॥

विजिगीषुर्महाराष्ट्रजीवितं पुण्यपत्तनम् ।
न ननन्द बलाधीशो दिल्लीशकोंकणस्पृहाम् ॥ १८ ॥

महाराष्ट्रजीवितं पुण्यपत्तनं विजिगीषुः बलाधीशः दिल्लीशकोंकणस्पृहां न ननन्द ॥ १८ ॥

जयसिंह की दृष्टि में पूना महाराष्ट्र का जीवनकेन्द्र था इसीलिए पूना को हस्तगत करने के लिए उन्होंने दिल्लीपति अवरंगजेब के प्रस्ताव (कोंकण-विजय) को महत्त्व नहीं दिया ॥ १८॥

ऐरावताचलासीनं वृत्रकल्पो महाबलैः ।
पुरन्दरमिवाजेयं रुरोधारिः पुरन्दरम् ॥ १९ ॥

ऐरावताचलासीनं पुरन्दरम् इव अजेयं पुरन्दरं वृत्रकल्पः अरिः महाबलैः रुरोध ॥ १९ ॥

ऐरावतरूपी पर्वत पर स्थित इन्द्र के समान अपराजेय पुरन्दर नामक किले को विशाल सेना से युक्त शत्रु ने वृत्रासुर के समान बलपूर्वक घेर लिया [पुरन्दर का दुर्ग अत्यन्त ही अजेय था तथा उसकी सुरक्षा के लिए पार्श्वदुर्गों का निर्माण किया गया था ।] ॥ १९ ॥

१. पोर्तुकालः—यूरोपमहाद्वीपीयपुर्तगालदेशनिवासिनः ये समुद्रवर्त्मना सर्वप्रथमं भारतमागताः ।

प्राकारैर्वेष्टितं पक्षैः स्वैरिवारातिदुर्जयम् ।
पुरन्दरमिषेणैव कृतदुर्गं धराधरम् ॥ २० ॥
उच्छ्रायहसितानन्तं बलवत्पौरुषावधिम् ।
महाराष्ट्रधरालक्ष्म्याः शिरोभूषणमुत्तमम् ॥ २१ ॥
रुद्रमालोपदुर्गेण रुद्रेणेव निषेवितम् ।
अन्तरायतमस्विन्यामाशाबन्धमिवापदि ॥ २२ ॥

पक्षैः इव स्वैः प्राकारैः वेष्टितम् अरातिदुर्जयं धराधरम् एव पुरन्दरमिषेण कृतदुर्गम् ॥२०॥
उच्छ्रायहसितानन्तं बलवत्पौरुषावधिं महाराष्ट्रधरालक्ष्म्याः उत्तमं शिरोभूषणम् ॥२ ॥
रुद्रेण इव रुद्रमालोपदुर्गेण निषेवितम् अन्तरायतमस्विन्याम् इव आपदि आशाबन्धम् ॥२२॥

वह पुरन्दर दुर्ग अत्यन्त ही सुदृढ पर्वतखण्ड के समान था। प्रतीत होता था कि स्वयं पर्वत ने ही पुरन्दर नाम से अपने दुर्ग का निर्माण किया है। वह दुर्ग सुदृढ़ परकोटे से वेष्टित था मानो पहाड़ अपने पंखों से युक्त हो ॥ २० ॥

अपनी ऊँचाई से आकाश को लज्जित करता हुआ, वीरों के पुरुषार्थ की अन्तिम सीमा, वह पुरन्दर दुर्ग महाराष्ट्र की वसुधा-सुन्दरी का उत्तम शिरोरत्न था ॥ १२ ॥

पुरन्दर दुर्ग की सुरक्षा के लिए रुद्र (शंकर) के समान रुद्रमाल नामक उप-दुर्ग निर्मित था। यह पुरन्दर दुर्ग विपत्तिरूपी काली रात्रि में भी आशाबन्ध के समान अवस्थित था ॥ २२ ॥

द्वितीयार्द्धबलोद्योगैर्महाराष्ट्रे प्रतीपगाः ।
विदधुर्यत्तदाख्यातुमिदानीमपि कः क्षमः ॥ २३ ॥

महाराष्ट्रे प्रतीपगाः द्वितीयार्द्धबलोद्योगैः यत् विदधुः तत् आख्यातुम् इदानीम् अपि कः क्षमः ॥ २३ ॥

मुगलों ने अपनी सेना के आधे भाग से महाराष्ट्र के लोगों पर जो भयंकर अत्याचार किया उसे आज भी वर्णन करने में कौन समर्थ हो सकता है ॥ २३ ॥

समं शीलेन सुदृशो वैभवेन गृहाः पुरः ।
स्वर्णक्षेत्रैः प्रजालोकाः ग्रसिता वाहिनीजुषा ॥ २४ ॥

शीलेन समं सुदृशः, पुरः वैभवेन गृहाः स्वर्णक्षेत्रैः प्रजालोकः, वाहिनीजुषा ग्रसिताः ॥२४॥

मुगलसेना के सैनिकों ने महिलाओं को शीलभ्रष्ट किया, धन-सम्पत्ति से पूर्ण नगरों एवं घरों को लूटकर अग्नि को समर्पित कर दिया तथा किसानों की आशा उनकी खेती के साथ ही नष्ट कर दी ॥ २४ ॥

अपि स्वपक्षसम्पातपूरितान्तकरौकसः ।
द्विषो नाजिभुवश्चेलुर्भूनिखातपदा इव ॥ २५ ॥

स्वपक्षसम्पातपूरितान्तकरौकसः अपि द्विषः भूनिखातपदा इव आजिभुवः न चेलुः ॥२५॥

यद्यपि मुगलों के पक्ष के सैनिकों का भीषण संहार हो रहा था तथा वे यमराज का घर भर रहे थे फिर भी शत्रु युद्धभूमि ने टस से मस न हुआ। लगता था शत्रुओं के पैरों को पृथ्वी में गाड़ दिया गया हो॥ २५॥

रुद्रमालं न शेकुस्ते कीर्तिमालमिवावशाः।
स्फुरदुग्रपदाघातैर्मर्दितुं विषमे रणे॥ २६॥

कीर्तिमालम् इव रुद्रमालं विषमे रणे स्फुरदुग्रपदाघातैः मर्दितुम् अवशाः ते न शेकुः ॥२६॥

कीर्तिमाल के समान यशस्वी रुद्रमाल नामक उपदुर्ग पर अधिकार करने में शत्रु समर्थ न हो सका। भयंकर युद्ध में पैरों तले उसे मर्दित करने का शत्रु का मनोरथ पूर्ण न हो सका॥ २६॥

अयुद्ध्वैव वशीकर्तुमुत्कोचेनार्यभूभटान्।
मनोरथं निनिन्दैव दिल्लीशे पृतनापतिः॥ २७॥

अयुद्ध्वा एव उत्कोचेन आर्यभूभटान् वशीकर्तुं मनोरथं पृतनापतिः दिल्लीशे निनिन्द एव॥ २७॥

औवरंगजेब ने मिर्जा राजा जयसिंह को परामर्श दिया था कि किलेदारों या उनके पहरेदारों को घूस आदि के प्रलोभन द्वारा उन्हें फोड़कर बिना युद्ध के ही किलों पर अधिकार कर लिया जिया जाय किन्तु सेनापति राजा जयसिंह ने इस कायरतापूर्ण प्रस्ताव को ठुकरा दिया॥ २७॥

कृतकार्जवविन्यासा देशलक्ष्मीमनोरमान्।
नैवोत्सेहेऽरिधीः शूरान् जेतुं वारवधूरिव॥ २८॥

कृतकार्जवविन्यासा वारवधूः इव अरिधीः देशलक्ष्मीमनोरमान् शूरान् जेतुं न एव उत्सेहे॥ २८॥

बनावटी, नकली ओदार्य एवं अनुराग का स्वाँग करनेवाली शत्रु की बुद्धि कोठेवाली वेश्या के समान, देशलक्ष्मी में प्रेम करनेवाले आर्य सैनिकों को जीतने में (फोड़ने में) समर्थ न हो सकी॥ २८॥

रुद्रमालं विमुच्यान्ते कृतान्तनिर्गमोद्यमाः।
वपुः प्राणाः यथा कण्ठे दुर्गेऽवापुर्भटाः स्थितिम्॥ २९॥

अन्ते कृतान्तनिर्गमोद्यमाः भटाः रुद्रमालं विमुच्य वपुः प्राणाः यथा दुर्गे कण्ठे स्थितिं अवापुः॥ २९॥

अन्त में रुग्रमाल उपदुर्ग से निकल जाने का प्रयत्न करनेवाले (यमराज के यहाँ जाने का निश्चय करनेवाले) उन मराठा सैनिकों ने उपदुर्ग को छोड़ कर

किले में अपनी स्थिति जमाया। मानों शरीर को क्रमशः छोड़ता हुआ प्राण, कण्ठ में स्थित हो गया हो ॥ २९ ॥

दिदर्शयिषुरुद्दामयुद्धलीलोत्सवं रिपून् ।
इन्द्रजालमिवाऽऽतेने मुरारिर्दुर्गरक्षिता ॥ ३० ॥

दुर्गरक्षिता मुरारिः रिपून् उद्दामयुद्धलीलोत्सवं दिदर्शयिषुः इन्द्रजालं इव आतेने ॥३०॥

शत्रुओं को उत्कृष्टतम युद्ध-लीला दिखाने की इच्छावाले दुर्गाध्यक्ष मुरारप्रभु ने इन्द्रजाल-सा फैला दिया ॥ ३० ॥

वनस्पतिनिभान् शत्रून् दिधक्षुरसिवह्निना ।
तृणम्मेनेऽरिसम्पातधारावर्षमपि ज्वलन् ॥ ३१ ॥

वनस्पतिनिभान् शत्रून् असिवह्निना दिधक्षुः ज्वलन् अरिसम्पातधारावर्षं अपि तृणं मेने ॥ ३१ ॥

घास-फूस के समान शत्रुओं को तलवार की लपटों में भस्म कर देने को इच्छावाले मुरार प्रभु ने उस शत्रुओं की सम्मिलित शस्त्रवर्षा को भी तृण से अधिक महत्त्व नहीं दिया। शत्रुओं की शस्त्रवर्षा भी उनको अधिकाधिक प्रदीप्त होने में सहायक ही हुई ॥ ३१ ॥

मातरिश्वा यथा तूलमिक्षुक्षेत्रं मतङ्गजः ।
वाजीप्रभुमुरारोऽसौ भेजेऽरातिचमूं तथा ॥ ३२ ॥

यथा मातरिश्वा तूलं मतङ्गजः इक्षुक्षेत्रं तथा असौ वाजीप्रभुमुरारः अरातिचमूं भेजे॥३२॥

जिस प्रकार वेगशाली पवन रुई के कतरे को उड़ा देता है, हाथी गन्ने के खेत को विध्वंस कर डालता है, उसी प्रकार वाजी प्रभु मुरार ने शत्रुसेना को नष्ट करना आरम्भ किया ॥ ३२ ॥

भ्रमत्पाणिकृपाणाग्रसंस्पृष्टवपुषो भटाः ।
के नार्कमण्डलोद्भेददक्षतामापुरद्भुताम् ॥ ३३ ॥

भ्रमत्पाणिकृपाणाग्रसंस्पृष्टवपुषः के भटाः अद्भुतां अर्कमण्डलोद्भेददक्षताम् न आपुः॥३३॥

हाथ में चक्र-सी घूमती हुई तलवार के अग्रभाग का स्पर्श करके किस शत्रु-सैनिक ने सूर्यमण्डल का भेदन करने में अपूर्व दक्षता को प्राप्त नहीं कर लिया? युद्ध में वीरगति पानेवाले वीर सूर्यमण्डल का भेदन करके अभीष्ट पुण्यमय लोंको को चले जाते हैं ॥ ३३ ॥

भग्नद्वारो यथा सौधाः लूनहस्ता इभा भिया ।
विदधुः पृष्टगान् तूर्णम् स्वोत्तानशयनासनम् ॥ ३४ ॥

भग्नद्वारः सौधाः यथा लूनहस्ताः इभा भिया तूर्णं पृष्टगान् स्वोत्तानशयनासनं विदधुः ॥३४॥

टूटे हुए दरवाजोंवाले महलों के समान, शुण्डविहीन, भयार्त हाथी पीछे भागते हुए, पीछेवाली सेना को उत्तान सोने के लिए बिस्तर बना दिये। हाथियों के गिरने से उनके नीचे कुचल कर सैनिक पिस गये ॥ ३४ ॥

स्वेदसंश्लिष्टरोमाणः कबन्धैरपि सादिभिः ।
स्वामिभक्ता इवार्वन्तः सिक्ताः कीलालवर्षणैः ॥ ३५ ॥

स्वेदसंश्लिष्टरोमाणः स्वामिभक्ताः इव अर्वन्तः कीलालवर्षणैः कबन्धैः अपि सादिभिः सिक्ताः ॥ ३५ ॥

वाजी प्रभु मुरार का पराक्रम बड़ा ही विस्मयकारी था। कटे गले वाले घुड़सवार सैनिक कबन्ध शेष होकर भी घोड़ों की पीठ पर आसीन थे तथा पसीने से चिपके हुए रोयेंवाले स्वामिभक्त अरबी घोड़े उन सवारों के बहते हुए खून से नहा उठे थे ॥ ३५ ॥

क्वचित् पङ्क्तिकदम्बेषु सादिमूर्धोदयाग्रहैः ।
रणभूर्विस्मयं तेने तत्संज्ञावेदिनां हृदि ॥ ३६ ॥

क्वचित् पंक्तिकदम्बेषु सादिमूर्धोदयाग्रहैः तत्संज्ञावेदिनां हृदि रणभूः विस्मयं तेने ॥३६॥

कहीं पर पैदल सेना के बीच सहसा घुड़सवार सैनिक के कटे हुए सिर के गिरने से रणभूमि ने उस सैनिक के नाम-गुण आदि जाननेवालों के हृदय में महान् विस्मय उत्पन्न कर दिया ॥ ३६ ॥

भटैर्वृत्तः कतिपयैरन्तकातिथिभिर्बली ।
रामाशुग इवावार्यो दुद्रावाभि प्रतिस्थितान् ॥ ३७ ॥

अन्तकातिथिभिः कतिपयैः भटैः वृतः अवार्यः रामाशुगः इव बली प्रतिस्थितान् अभिदुद्राव ॥ ३७ ॥

मृत्यु देवता का हठपूर्वक अतिथि होने का संकल्प लिए हुए थोड़े से सैनिकों से युक्त होकर बाजीप्रभु मुरार शत्रुसेना की ओर इस प्रकार दौड़े जैसे लक्ष्यभेद के लिए भगवान् राम का अमोघ बाण जा रहा हो ॥ ३७ ॥

वपुष्मन्तमिवालोच्य रौद्रभावं तमेकलम् ।
सेनानीर्विस्मयालीढो न शशाकाक्षिमीलनम् ॥ ३८ ॥

तम् एकलं वपुष्मन्तं रौद्रभावम् इव आलोच्य विस्मयालीढः सेनानीः अक्षिमीलनं न शशाक ॥ ३८ ॥

वीर रस को ही बाजीप्रभु मुरार के रूप में अवतरित देख, मुगल सेनापति उस अकेले वीर को विस्मयमग्न होकर देखता हो रह गया, आँख भी न झपका सका ॥ ३८ ॥

जीवितं तं समादातुमादिष्टा अपि सैनिकाः ।
अवलोक्यैव तं कालं लोलजीवस्पृहां जहुः ॥ ३९ ॥

तं जीवितं समादातुम् आदिष्टाः अपि सैनिकाः तं कालम् अवलोक्य एव लोलजीवस्पृहां जहुः ॥ ३९ ॥

मुगल सेनाधिप ने बाजीप्रभु मुरार को जीवित ही पकड़ लेने का आदेश दिया किन्तु उस कालरूप मुरार को देखकर ही सैनिकों ने अपने चञ्चल जीवन की आशा छोड़ दी ॥ ३९ ॥

दुर्निवारदुराधर्षपरलोकव्रजे पथि ।
प्रवेश्य गा इवान्तेऽसौ गोपोऽसङ्ख्यान् भटान् गतः॥४०॥

दुर्निवारदुराधर्षपरलोकव्रजे पथि गाः इव असङ्ख्यान् भटान् प्रवेश्य अन्ते असौ गोपः गतः ॥ ४० ॥

जिस प्रकार गोठ के भीतर अगणित गौओं को अन्दर करके अन्त में चरवाहा घुसता है उसी प्रकार बाजीप्रभु मुरार ने अगणित सैनिकों को आगे भेजकर अन्त में उस दुर्निवार, दुराधर्ष, परलोकरूपी बाड़े में प्रवेश किया ॥ ४० ॥

दस्युमायान्तमाचिन्त्य सतीत्वविभवाः स्त्रियः ।
आबबन्धुस्तदुद्योगमियं येनाचला चला ॥ ४१ ॥

सतीत्वविभवाः स्त्रियः दस्युम् आयान्तम् आचिन्त्य तदुद्योगम् आबबन्धुः येन इयं चला अचला ॥ ४१ ॥

लुटेरों (मुगल सैनिकों) को आते हुए देखकर सतीत्वधनवाली स्त्रियों ने उसी उद्योग का आश्रय लिया जिसके कारण यह चञ्चला पृथ्वी भी अचला कहलाती है [स्त्रियों ने निर्भय आत्मबलिदान द्वारा उन कामलोलुप शत्रुसैनिकों को विफल-मनोरथ कर दिया ।] ॥ ४१ ॥

अवलोक्य तदुत्साहसमुद्योगं नतभ्रुवाम् ।
शून्येऽपि हृदये तूर्णं मन्युना निदधे पदम् ॥ ४२ ॥

नतभ्रुवां तदुत्साहसमुद्योगम् अवलोक्य शून्ये अपि हृदये तूर्णं मन्युना पदं निदधे ॥४२॥

महाराष्ट्र वधूजनों के उस आत्मबलिदानरूपी महान् उद्योग ने सूने हृदयों को भी क्रोध से झकझोर डाला ॥ ४२ ॥

शून्येऽरिसुभ्रुवां चित्ते द्वयमेवाश्रयत् स्मृतिम् ।
यौवनाराधितः प्रेयान् मुरारश्च तदन्तकः ॥ ४३ ॥

अरिसुभ्रुवां शून्ये चित्ते द्वयम् एव स्मृतिम् आश्रयत्, यौवनाराधितः प्रेयान् तदन्तकः मुरारः च ॥ ४३ ॥

शत्रु-कामिनियों के राग-विरहित शून्य मानस ने दो घटनाओं को ही अपनी स्मृति में स्थान दिया। पहले तो अपने यौवन से सेवित प्रिय पति को तथा दूसरे उसके जीवन को समाप्त करनेवाले बाजीप्रभु मुरार को ॥ ४३ ॥

धरां विजहताऽप्येवं स्वर्लोकाय मुरारिणा।
स्वबलोत्साहसंरम्भो न्यस्त एवात्मशस्त्रिषु ॥ ४४ ॥

एवं स्वर्लोकाय धरां विजहता अपि मुरारिणा आत्मशस्त्रिषु स्वबलोत्साहसंरम्भः न्यस्तः एव ॥ ४४ ॥

इस प्रकार देवताओं का लोक प्राप्त करने के लिए पृथ्वी को छोड़नेवाले दुर्गाध्यक्ष मुरार ने अपने अतिमानवीय अद्भुत शौर्य को अपने सैनिकों के हृदय में आरोपित कर दिया ॥ ४४ ॥

तदुद्योगविवृद्धास्ते बद्धकक्ष्याः पुरन्दरे।
जहसुर्हेलयाऽरातिदुर्गलाभमनोरथम् ॥ ४५ ॥

तदुद्योगविवृद्धाः पुरन्दरे बद्धकक्ष्याः ते अरातिदुर्गलाभमनोरथं हेलया जहसुः ॥ ४५ ॥

दुर्गपाल मुरार के शौर्य से उत्साहित विक्रमवाले पुरन्दर दुर्ग के सैनिकों ने दुर्गरक्षा के लिए कमर कस ली तथा आक्षेपपूर्वक शत्रु की दुर्गविजय की लालसा का उपहास किया ॥ ४५ ॥

मुरारसदृशा यत्र शतशोऽथ सहस्रशः।
स किं पुरन्दरः शत्रूनक्षतान् क्षमताम् युधि ॥ ४६ ॥

शतशः अथ सहस्रशः यत्र मुरारसदृशाः सः पुरन्दरः युधि शत्रून् अक्षतान् क्षमताम् किम् ॥ ४६ ॥

जिसकी सुरक्षा में मुरार जैसे सैकड़ों, हजारों वीर सन्नद्ध हों वह पुरन्दर दुर्ग शत्रुओं को क्षत-विक्षत किये बिना युद्ध में उन्हें किस प्रकार सहन कर सकता है॥४६॥

स्थिते कृपाणहस्तेऽपि सोत्सुके को नु जीवितः।
दिदक्षति पराक्रान्तां दुर्गद्वारान्तरावनिम् ॥ ४७ ॥

सोत्सुके कृपाणहस्ते स्थिते अपि कः जीवितः दुर्गद्वारान्तरावनिं पराक्रान्तां दिदक्षति नु ॥ ४७ ॥

उत्सुकतापूर्वक हाथ में तलवार लिए हुए मराठा सैनिक के रहते हुए भी भला कौन जीवित प्राणी दुर्गद्वार के पासवाली भूमि को मुगलों से आक्रान्त देखने की कामना कर सकता था ॥ ४७ ॥

चमच्चक्रेऽसिचपला ववर्ष क्षतजाम्बुदः।
नित्याभिषेकधवला बभूर्नीरजसो भटाः ॥ ४८ ॥

असिचपला चमच्चक्रे, क्षतजाम्बुदः ववर्ष, नित्याभिषेकधवला। भटाः नीरजसः बभुः ॥ ४८ ॥

तलवाररूपी बिजली चमक उठी, खून का बादल बरस पड़ा। अनवरत अभिषेक से शुभ्रकान्ति सैनिक निर्मल (रजोगुणरहित) हो सुशोभित हो उठे ॥ ४८ ॥

वाह्लीकविजयोन्मादं त्रपमानमवेक्ष्य सः।
सेहे नादर्शवैवर्ण्यं जयसिंहो जयन्नपि ॥ ४९ ॥

जयन् अपि सः जयसिंहः वाह्लीकविजयोन्मादं त्रपमानम् अवेक्ष्य आदर्शवैवर्ण्यं न सेहे॥४९॥

विजयी होते हुए भी, अनेक स्थानों पर मराठा सेना को पीछे हटाने में समर्थ होते हुए भी पुरन्दर के किले पर अपनी वाह्लीक(वलख)विजय की कीर्ति को लज्जित होते हुए देखकर, जयसिंह अपने आदर्श (विजयशीलता) की दुर्दशा को सहन न कर सके ॥ ४९ ॥

वासरा निष्फलं याता मासास्तेनुर्ह्रिया त्वराम्।
दिल्लीपतिचमू कृत्स्ना दुर्गद्वारि मुधाऽतपत् ॥ ५० ॥

वासराः निष्फलं याताः मासाः ह्रिया त्वराम् तेनुः कृत्स्ना दिल्लीपतिचमूः दुर्गद्वारि मुधाऽतपत् ॥ ५० ॥

दिन-पर-दिन निष्फल बीतते गये, महीने लज्जा के मारे तेजी से भागने लगे। दिल्ली के बादशाह की पूरी सेना पुरन्दर दुर्ग के दरवाजे पर व्यर्थ तड़पती रही। महीने बीत गये पर पुरन्दर दुर्ग पर घेरा डालनेवाली मुगल सेना कुछ भी न कर सकी ॥ ५० ॥

चिन्तयानः शिवः सर्वां पुरन्दररणस्थितिम्।
नात्मशौर्यसमुच्छेदं सेहे मोघमरातिभिः ॥ ५१ ॥

सर्वां पुरन्दररणस्थितिं चिन्तयानः शिवः अरातिभिः मोघम् आत्मशौर्यसमुच्छेदं न सेहे ॥ ५१ ॥

क्षत्रपति ने पुरन्दर दुर्ग की सम्पूर्ण युद्धस्थिति का आकलन विचारपूर्वक करके, अपने सैनिकों के शौर्य एवं पराक्रम का शत्रुओं द्वारा व्यर्थ में विध्वंस कराना श्रेयस्कर न समझा [पुरन्दर के युद्ध में पराक्रम प्रदर्शित करती हुई भी मराठा सेना क्रमशः क्षीण हो रही थी तथा मुगलों का घेरा दृढ़तर होता जा रहा था। यह स्थिति अत्यन्त आत्मघाती तथा असह्य थी।] ॥ ५१ ॥

मन्त्रभूमिं ददर्शाऽथ सुधर्मामिव वासवः।
सहितो नीतिनिष्णातैः सचिवैर्वसुसन्निभैः ॥ ५२ ॥

अथ नीतिनिष्णातैः वसुसन्निभैः सचिवैः सहितः वासवः सुधर्माम् इव मन्त्रभूमिं ददर्श ॥ ५२ ॥

क्षत्रपति इस स्थिति में भावी नीतिनिर्धारण के लिए सुधर्मा (इन्द्रसभा) के समान गौरवपूर्ण मन्त्रणागृह में नीतिनिपुण वसुगण के समान पराक्रम एवं विवेक से युक्त सचिवों के साथ इन्द्र के समान प्रविष्ट हुए ॥ ५२ ॥

महाबलाधिपो वाग्मी समवेक्ष्य सभासदः ।
स्पृशन्नसिलतां मन्दं व्याजहाराप्तभारतीम् ॥ ५३ ॥

वाग्मी महाबलाधिपः सभासदः समवेक्ष्य असिलतां स्पृशन् आप्तभारतीं मन्दं व्याजहार ॥ ५३ ॥

वक्ताओं में श्रेष्ठ सेनापति ने सभासदों को देखकर तथा अपनी तलवार को स्पर्श करते हुए धीरे-धीरे यथार्थ बुद्धिमयी वाणी में कहा ॥ ५३ ॥

अर्थानर्थपरिज्ञातुः स्वपरौजोविदो ध्रुवा ।
फलिनी विधिसम्पत्तिः सर्वदोदयमश्नुते ॥ ५४ ॥

अर्थानर्थपरिज्ञातुः ध्रुवा स्वपरौजोविदः फलिनी विधिसम्पत्तिः सर्वदा उदयम् अश्नुते॥५४॥

अर्थ और अनर्थ का विवेक रखनेवाले, पक्ष एवं विपक्ष की शक्ति को जाननेवाले, नीतिमान् व्यक्ति की सुनिश्चित फलवती क्रिया-पद्धति सर्वदा अभ्युदय प्राप्त करती है ॥ ५४ ॥

सदुत्साहसहायस्य साधुपद्यातिथेः स्वयम् ।
निश्चितैव क्रियासिद्धिर्धत्ते श्रीरिव सत्फलम् ॥ ५५ ॥

सदुत्साहसहायस्य साधुपद्यातिथेः क्रियासिद्धिः स्वयम् एव निश्चिता श्रीः इव सत्फलं धत्ते ॥ ५५ ॥

उत्तम उत्साह-सम्पन्न, सन्मार्ग पर चलनेवाले व्यक्ति की बुद्धि-प्रतिपादित क्रियासिद्धि लक्ष्मी के समान अभीष्ट फल धारण करती है ॥ ५५ ॥

षाड्गुण्यप्रपञ्चेषु द्वयोरेवात्मवर्त्मनोः ।
विग्रहो वाऽथ सन्धिर्वा कतमः श्रेयसेऽधुना ॥ ५६ ॥

षाड्गुण्यप्रपञ्चेषु द्वयोः एव आत्मवर्त्मनोः अधुना कतमः विग्रहः अथवा सन्धिः वा श्रेयसे ॥ ५६ ॥

साम, दाम आदि षड्गुण के प्रपञ्च में अपने इन दो मार्गों—युद्ध या सन्धि—में इस समय, परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए कौन पथ श्रेयस्कर है ॥ ५६ ॥

बलीयान् देहलीभूपः सर्वभारतशासिता ।
जयसिंहोऽपि विक्रान्तो नात्मसाम्यमपेक्षते ॥ ५७ ॥

सर्वभारतशासिता देहलीभूपः बलीयान् विक्रान्तः जयसिंहः अपि आत्मसाम्यं न अपेक्षते ॥ ५७ ॥

दिल्लीपति औरंगजेब निश्चय ही बलवान् है तथा पूरे भारत का शासक है। जयसिंह भी वीरश्रेष्ठ हैं तथा शौर्य में कोई उनकी समता नहीं कर सकता ॥ ५७ ॥

वयमल्पोपकरणा नवाङ्कुरितशाखिनः ।
न विसोढुं क्षमास्तावद् दिल्लीस्तम्बेरमस्पृहाम् ॥ ५८ ॥

अल्पोपकरणाः नवाङ्कुरितशाखिनः वयं दिल्लीस्तम्बेरमस्पृहां विसोढुं तावत् न क्षमाः ॥ ५८ ॥

हम अल्पसाधन हैं और नये वृक्षों के समान अंकुरित हो रहे हैं अतः दिल्ली-रूपी गजराज की स्पृहा को हम लोग इस समय कथमपि युद्ध द्वारा सन्तुष्ट नहीं कर सकते ॥ ५८ ॥

सन्धिर्बलवता सार्धं निश्चिनोति शुभायतिम् ।
मत्त एव रुचिं दध्याद् विग्रहे सर्वहारिणि ॥ ५९ ॥

बलवता सार्धं सन्धिः शुभायतिं निश्चिनोति सर्वहारिणि विग्रहे मत्तः एव रुचिं दध्यात् ॥ ५९ ॥

बलवान् के साथ सन्धि शुभ भविष्य को निश्चितप्राय कर देती है। सर्व-ग्रासी विग्रह में तो कोई मद्यप ही अनुराग रख सकता है ॥ ५९ ॥

स्वच्छन्दाः स्वस्थितौ प्रायः सन्धिलेपपरिष्कृताः ।
अश्मखण्डनिभा भित्तौ मिथोऽच्छिद्रा नृपोत्तमाः ॥ ६० ॥

सन्धिलेपपरिष्कृताः स्वस्थितौ स्वच्छन्दाः नृपोत्तमाः प्रायः भित्तौ अश्मखण्डनिभाः मिथः अच्छिद्राः ॥ ६० ॥

सन्धिरूपी लेप से परिष्कृत-परिमार्जित होकर, दीवार में लगे हुए पत्थर के टुकड़ों के समान स्थिर अपने उद्देश्य में सर्वथा स्वतन्त्र नृपोत्तम प्रायः अच्छिद्र (दोषरहित) दिखायी देते हैं [संधि, दीवार को दृढ़ बनाने का प्रयास करती है। वह दीवार के पत्थरों को परस्पर सम्बद्ध करने में मसाले (जोड़ाई की सीमेण्ट) का काम करती है।] ॥ ६० ॥

संस्पृशन् रोधसो भूमिं सन्धिरात्मप्रकल्पनैः ।
ध्रुवं सेतुरिव श्रेयान् सदृशे धरणीतले ॥ ६१ ॥

रोधसः भूमिं संस्पृशन् सन्धिः सदृशे धरणीतले आत्मप्रकल्पनैः इव ध्रुवं श्रेयान् ॥६१॥

उचित नियमादि की मर्यादा से प्रतिष्ठित सन्धि तटभूमि का स्पर्श करते हुए (तादस्म्य वृत्ति) समान धरातलवाले पक्षों के बीच सेतु का काम करती है। यदि उभय पक्ष अयुद्धक मर्यादा की प्रतिष्ठा के लिए समान रूप में तत्पर रहे तो तटस्थ

होती हुई भी सन्धि दोनों पक्षों (किनारों) के बीच सेतु के समान उपयोगी होती है ॥ ६१ ॥

दैर्घ्यं गुणोऽथ वृद्धिर्वा स्वत्वस्यैवास्तु वाऽवनम् ।
नैव सन्धिः परं क्वापि विनिपाताय शस्यते ॥ ६२ ॥

दैर्घ्यं गुणः वृद्धिः वा अथवा स्वत्वस्य अवनम् एव परं क्व अपि सन्धिः विनिपाताय न एव शस्यते ॥ ६२ ॥

सन्धि द्वारा दैर्घ्य, गुणवत्ता, वृद्धि या आत्मस्थिति का यथातथ्य रक्षण होना ही उचित है (सन्धि से राज्यसीमा बढ़ जाये, गुणाधिक्य प्रकट हो, व्यापारादि की वृद्धि हो या आत्मस्थिति ही अक्षुण्ण रहे) यही सन्धि का उचित स्वरूप है। किन्तु कहीं भी संधि द्वारा अधःपतन को उचित नहीं कहा गया है। जिस सन्धि से पतन होता हो वह समबल सन्धि नहीं कहला सकती ॥ ६२ ॥

सन्धित्सति महाराष्ट्रः परं दिल्ली युयुत्सति ।
विषमाधिकरण्येऽस्मिन् कथमेतत् प्रकल्प्यताम् ॥ ६३ ॥

महाराष्ट्रः सन्धित्सति परं दिल्ली युयुत्सति अस्मिन् विषमाधिकरण्ये एतत् कथं प्रकल्प्यताम् ॥ ६३ ॥

महाराष्ट्र सन्धि करना चाहता है किन्तु दिल्ली युद्ध चाहती है। विभिन्न कामनावाले इन दो पक्षों में सन्धि कैसे सम्पन्न हो सकेगी ॥ ६३ ॥

को वराको नरो नाम नेहते नित्यमङ्गलम् ।
अनुरागवती किन्तु पौरुषे सम्पदुत्सुका ॥ ६४ ॥

कः वराकः नरः नाम नित्यमङ्गलं न ईहते किन्तु अनुरागवती सम्पत् पौरुषे उत्सुका ॥६४॥

कौन मनुष्य संसार में सदा सर्वदा-अपना मंगल नहीं चाहता किन्तु यह सर्वविदित तथ्य है कि वैभवशीलता प्रायः पौरुष में ही उत्सुकतापूर्वक आत्मप्रेम प्रकट करती है [पुरुषार्थी के पास ही लक्ष्मी रहती है। शक्तिहीन अभ्युदय का पात्र नहीं हो सकता।] ॥ ६४ ॥

चिन्तयानः सुखे साध्ये जीवलोको निरन्तरम् ।
अन्तरायालसः प्रायो नोदीते काङ्क्षितेऽध्वनि ॥ ६५ ॥

साध्ये सुखे निरन्तरं चिन्तयानः जीवलोकः प्रायः अन्तरायालसः काङ्क्षिते अध्वनि न उदीते ॥ ६५ ॥

जीवलोक का यह स्वभाव ही है कि वह सुख को साध्य मानकर निरन्तर तदर्थ चिन्तन किया करता है किन्तु विघ्नों को दूर करने में अनुत्साह, आलस्य आदि के कारण वह अभिलषित मार्ग में आत्मोदय नहीं कर पाता ॥ ६५ ॥

न देयोऽवसरो जातु द्विषदे शोषणोन्मुखः ।
तृप्तोऽप्युत्क्रमते जाल्मो रक्तपायीव केसरी ॥ ६६ ॥

द्विषदे शोषणोन्मुखः अवसरः न देयः जातु, तृप्तः अपि जाल्मः रक्तपायी केसरी इव उत्क्रमते ॥ ६६ ॥

शत्रु के लिए कभी भी शोषणोन्मुख अवसर नहीं देना चाहिए। यदि शत्रु को शोषण करने का अवसर दिया गया तो एक बार तृप्त होकर भी वह चुपचाप नहीं बैठेगा अपि तु रक्तपायी सिंह के समान वह नृशंस फिर वैसी ही चेष्टा (शोषण) करेगा ॥६६॥

कौटिल्यवर्त्मनां हेतुर्नोक्तिमार्दवमार्जवे ।
विषोरसो हि प्रायेण वारनार्यः कलस्वनाः ॥ ६७ ॥

कौटिल्यवर्त्मनाम् उक्तिमार्दवम् आर्जवे न हेतुः प्रायेण विषोरसः हि वारनार्यः कलस्वनाः ॥ ६७ ॥

कुटिल नीति के उपासकों की उक्तिमृदुता (मीठी बोली) सरलता में कारण नहीं मानी जा सकती। प्रायः विषमय हृदयवाली (कुटिलहृदया) वाराङ्गनायें तो बहुत ही मिष्टभाषिणी होती हैं [अतः दिल्लो का दिखावटी मधुर स्वर दिल्ली का स्वरूप नहीं स्पष्ट करेगा। दिल्ली मायाविनी है, कूटनीतिकुशल है।] ॥ ६७ ॥

वृतदिल्लीशसख्यस्य विषमोदयकल्पना ।
पीतहालाहलस्येव व्यस्तबुद्धेर्जिजीविषा ॥ ६८ ॥

वृतदिल्लीशसख्यस्य उदयकल्पना पीतहालाहलस्य व्यस्तबुद्धेः जिजीविषा इव विषमा ॥६८॥

दिल्ली से मित्रता के सूत्र में बँधनेवाले का अभ्युदय की कल्पना करना भी विडम्बना है। वह कुछ वैसा ही है जैसे विषपान करके कोई मूढ़चेता जीवित रहने की इच्छा करे ॥ ६८ ॥

द्रुमस्थोऽधिक्षिपन् सिंहान् भुवि भीतः कपिः शुनः ।
एक एव स्थितेर्भेदाद् विदधाति बलाबलम् ॥ ६९ ॥

द्रुमस्थः सिंहान् अधिक्षिपन् भुवि शुनः भीतः कपिः एकः एव स्थितेः भेदात् बलाबलं विदधाति ॥ ६९ ॥

वृक्ष की ऊँची डाल पर बैठा हुआ बन्दर शेरों को भी मुँह चिढ़ाता है, अपमानित करता है किन्तु जमीन पर जाकर वही बन्दर कुत्ते के भय से भी काँपता रहता है। अतः यद्यपि दोनों स्थानों पर एक ही बन्दर है फिर भी स्थितिभेद से वह सबल या निर्बल हो जाता है ॥ ६९ ॥

बध्ये प्रतीच्यप्रणयो रिपौ जिह्मोरसो ननु ।
वितनोति बलाच्चिन्तां परिणामभयावहाम् ॥ ७० ॥

जिह्मोरसः वध्ये रिपौ प्रतीक्ष्यप्रणयः बलात् परिणाममयावहां चिन्तां वितनोति ननु ॥७०॥

कुटिल हृदयवाले दिल्लीपति का अपने वध्यभूत शत्रु में भी प्रणय की प्रतीक्षा करना—बरबस हमारे मन में अन्ततः (परिणाम में) अति भयंकर चिन्ता उत्पन्न कर रहा है ॥ ७० ॥

लक्ष्यबद्धदृशा येन बान्धवा एककुक्षिजाः ।
चूर्णिता वर्त्मनि क्षामा निस्त्रपं लेष्टवो यथा ॥ ७१ ॥

लक्ष्यबद्धदृशा येन एककुक्षिजाः बान्धवाः वर्त्मनि क्षामाः लेष्टवः यथा निस्त्रपं चूर्णिताः ॥७१॥

आत्मलक्ष्य पर दृष्टि केन्द्रित करनेवाले जिस बादशाह अवरंगजेब ने एक कोख से उत्पन्न अपने सगे भाइयों को भी मार्ग (आत्म-अभ्युदय के मार्ग) में पड़े हुए मिट्टी के ढेलों के समान निर्लज्जतापूर्वक पीस डाला ॥ ७१ ॥

मूर्च्छन् क्षुत्क्षामकण्ठोऽपि भूतग्रस्त इवास्तवाक् ।
दुर्गभित्तिं पितैवास्य दैन्यचेताः समैक्षत ॥ ७२ ॥

क्षुत्क्षामकण्ठः अस्तवाक् मूर्च्छन् अपि भूतग्रस्तः इव दैन्यचेताः अस्य पिता एव दुर्गभित्तिं समैक्षत ॥ ७२ ॥

कारागार में प्रक्षिप्त, पिशाचग्रस्त प्राणी के समान रुद्धवाक्, भूख की ज्वाला में दग्धकण्ठ, मूर्च्छित होता हुआ इस बादशाह का पिता ही ग्लानिपूर्ण हृदय से किले की दीवार को निहारा करता था ॥ ७२ ॥

तदीयघोरप्रसवक्षणोत्फुल्लात्मनन्दिनीम् ।
करुणं विषमे प्राप्तां निनिन्द केवलां स्मृतिम् ॥ ७३ ॥

(पिता) तदीयघोरप्रसवक्षणोत्फुल्लात्मनन्दिनीं विषमे प्राप्तां केवलां स्मृतिं करुणं निनिन्द ॥ ७३ ॥

बन्धन में पड़े बादशाह शाहजहाँ ने अपनी उस स्मृति की निन्दा ही की जिसने इस औरङ्गजेब की भयंकर उत्पत्ति के क्षण को समीप देखकर मलका मुमताजमहल को हर्षाविह्वल अवस्था में मानसपटल पर चित्रित कर दिया [शाहजहाँ का पत्नीप्रेम जगद्विख्यात है, उसी तरह मुमताजमहल का सन्तानप्रेम भी प्रसिद्ध था। मरते समय मल्का ने अपनी सन्तानों को बादशाह को सुपुर्द करते हुए उनके प्रति पूर्ववत् प्रेम करने की भीख माँगी थी। किन्तु कैदखाने में जब बादशाह की स्मृति ने मानस पर वह चित्र अंकित किया जब यह अवरंगजेब पैदा होनेवाला था तथा मलका हर्ष से विह्वल हो उठीं थी तब बादशाह ने अपनी स्मृति को ही धिक्कारा जिसने उस कुसमय में भी उसी दृश्य को अंकित किया ॥ ७३ ॥

बद्धद्रोहोऽस्मदस्तित्वे दिल्लीशो विदिता वयम् ।
विचित्रसख्यपर्वेदमुभयोः समुपस्थितम् ॥ ७४ ॥

अस्मदस्तित्वे बद्धद्रोहः दिल्लीशः वयं विदिताः इदम् उभयोः विचित्रसख्यपर्व समुपस्थितम् ॥ ७४ ॥

दिल्ली का बादशाह हम लोगों के अस्तित्व में ही द्रोहबुद्धि रखता है। हम लोग भी अपने आचरण द्वारा सर्वथा अपने विचारों के लिए विदित ही हैं। ऐसी स्थिति में दोनों के ही लिए यह विचित्र मैत्रीपर्व उपस्थित हुआ है ॥ ७४ ॥

व्यक्तिद्रोहो दुरूहोऽपि विसोढुं शक्यते जनैः ।
समाजवैरबन्धस्तु मूलमेव निकृन्तति ॥ ७५ ॥

दुरूहः अपि व्यक्तिद्रोहः जनैः विसोढुं शक्यते, समाजवैरबन्धः तु मूलम् एव निकृन्तति॥ ७५॥

व्यक्तिविशेष के प्रति यदि अत्यन्त विषम भी द्रोहभावना हो तो लोग सहन कर लेते हैं क्योंकि उसका सम्बन्ध केवल एक व्यक्ति से है। किन्तु जहाँ पूरे समाज के साथ द्रोहबुद्धि हो और वैर बाँधा जाय तो यह अतिशय असह्य स्थिति है क्योंकि यह तो समूल नष्ट करने का अभियान है। दिल्ली केवल व्यक्तिविशेष से नहीं अपितु समूची हिन्दू जाति के प्रति द्रोहबुद्धि रखती है ॥ ७५ ॥

आर्याभिधाग्रहत्यागो देवश्रुतिनिषूदनम् ।
म्लेच्छवर्णाभिरक्तिश्च दिल्ली सख्याद्यपङ्क्तयः ॥ ७६ ॥

आर्याभिधाग्रहत्यागः देवश्रुतिनिषूदनं म्लेच्छवर्णाभिरक्तिः च दिल्लीसख्याद्यपङ्क्तयः ॥ ७६ ॥

हिन्दुत्व के आग्रह का परित्याग, देवताओं, शास्त्रों एवं वेदों का उन्मूलन तथा अभारतीय म्लेच्छ वर्णों से अनुराग—यही तीन दिल्ली के मैत्रीपत्र की आदि की पंक्तियाँ हैं ॥ ७६ ॥

किं न राजन्यलोकोऽसौ तद्दयाक्रीतजीवनः ।
चित्रसिंहो यथा लोके दूष्यते शत्रुबालकैः ॥ ७७ ॥

तद्दयाक्रीतजीवनः असौ राजन्यलोकः लोके चित्रसिंहः यथा शत्रुबालकैः न दूष्यते किम् ॥ ७७ ॥

दिल्ली की दया पर गुलामी की जिन्दगी जीनेवाले वे सामन्त राजा लोग चित्र में अंकित सिंहों के समान, क्या शत्रु कुल के बालकों के विद्रूप उपहास, अपमान आदि द्वारा दूषित नहीं किये जाते ॥ ७७ ॥

प्रसादिताऽपि बहुशो भूषिता तोषिता भृशम् ।
पण्याङ्गनाऽथवा दिल्ली न त्यक्तुमसदाग्रहम् ॥ ७८ ॥

बहुशः प्रसादिता, भूषिता, भृशं तोषिता अपि दिल्ली अथवा पण्याङ्गना असदाग्रहं त्यक्तुं न ॥ ७८ ॥

निरन्तर प्रसन्न करने, अलङ्कृत करने तथा सन्तुष्ट करने पर भी वारवधू या दिल्ली अपनी दुर्भावनापूर्ण नीचता को छोड़ नहीं सकतीं [जिस प्रकार वारवधू निश्छल प्रेम नहीं कर सकती, दिल्ली भी अपनी कुटिलता नहीं छोड़ सकती।] ॥७८॥

स्तोकमेव कृती दीपो निशीथे दर्शितक्रमः ।
सवितुश्छन्नभासोऽपि महतो नैति सत्क्रियाम् ॥ ७९ ॥

निशीथे दर्शितक्रमः स्तोकम् एव कृती दीपः छन्नभासः अपि महतः सवितुः सत्क्रियां न एति ॥ ७९ ॥

रात्रि के अन्धकार में पथ-प्रदर्शन करनेवाला दीपक कुछ थोड़ी मात्रा में भले ही उपकारक हो, मेघाच्छन्न प्रभावाले सूर्य का महत्त्व तो नहीं ही पा सकता [दीपक और सूर्य की तुलना ही क्या ? दीपक उपकारक है, अन्धकार में उपयोगी भी है पर वह एक सीमित क्षेत्र में सीमित मात्रा में ही अपनी उपयोगिता चरितार्थ कर सकता है। सूर्य के साथ उसकी समता हास्यास्पद है। वैसे ही हमारा नवोदित राज्य अभी दिल्ली से समत्व कैसे प्राप्त कर सकता है। अतः सन्धि भी बेमेल ही, असन्तुलित ही होगी।] ॥ ७९ ॥

लक्ष्यभ्रष्टा विषीदन्ति प्रायशः स्वपराश्रयाः ।
लोकात्मनस्तु महतो विपदोऽपि पुरस्क्रिया ॥ ८० ॥

स्वपराश्रयाः लक्ष्यभ्रष्टाः प्रायशः विषीदन्ति लोकात्मनः महतः तु विपदः अपि पुरस्क्रिया ॥ ८० ॥

उद्देश्यविरहित प्राणी कभी अपना कभी दूसरे पक्ष का आश्रय लेता हुआ दूरदर्शी लक्ष्य के अभाव में अन्ततः शोक में ही पड़ता है। किन्तु सार्वजनीन वृत्ति-वाले महापुरुष उद्देश्य के लिए यदि विपन्न भी होते हैं तो वह विपत्ति भी उनके लिए पुरस्कारस्वरूप ही है [यदि नवराष्ट्र अपने उद्देश्यविशेष को लेकर दुर्गति में पड़ता है तो वह दुर्गति भी अलंकार ही होगी किन्तु उचित नहीं। आज दिल्ली से युद्ध करें, कल मेल कर लें, फिर बिगाड़ कर लें—आदि, इन कार्यों से नवराष्ट्र को सम्मानपूर्ण स्थिति नहीं मिल पाती और अन्ततः उसे शोकाकुल ही होना पड़ता है।] ॥ ८० ॥

को नु विज्ञाय प्रकृतिं वह्नेर्धर्मजिहीर्षया ।
सेवते बत तं धीमान् दुर्दैवो यन्न वञ्चकः ॥ ८१ ॥

यत् दुर्दैवः न वञ्चकः, कः धीमान् वह्नेः प्रकृतिं विज्ञाय तं धर्मजिहीर्षया सेवते नु ॥८१॥

अग्नि का स्वभाव (तापशीलता) जानकर भी कौन विवेकी पुरुष सूर्य के घाम (तेज) से बचने के लिए अग्नि का सेवन करेगा ? हाँ यदि दुर्दैव ही वञ्चक हो, दुर्भाग्य ही कुचक्र रचे तो बात दूसरी है [दिल्ली को भली-भाँति परखने के बाद भी दिल्ली से मैत्री बढ़ाने का प्रश्न ही नहीं है।] ॥ ८१ ॥

समर्थः पुरुषस्तावद् विधिव्यापारचिन्तने ।
प्रायशो भिन्नमर्यादो ग्लानिमेति फलेऽप्रभुः ॥ ८२ ॥

विधिव्यापारचिन्तने तावत् समर्थः पुरुषः प्रायशः भिन्नमर्यादः फले अप्रभुः ग्लानिम् एति ॥ ८२ ॥

कार्य-व्यापार आदि में समर्थ एवं कुशल व्यक्ति भी भिन्नमर्याद होने के कारण, सज्जनोचित मार्ग न अपनाने के कारण ग्लानि ही प्राप्त करता है क्योंकि कार्य द्वारा अभीष्ट फलप्राप्ति में कर्ता तो स्वतन्त्र नहीं है अतः यदि दुर्भाग्यवश अपेक्षित फल न मिला तो उसे ग्लानि ही प्राप्ति होती है जबकि सन्मार्ग का अनुगमन करनेवाले को यदि फलाप्ति न हुई तब भी अपने कार्य से ही एक आन्तरिक परितोष मिलता है कि कार्य सदाशयपूर्ण एवं सज्जनोचित था [अस्तु, हम लोगों को यह अमर्यादित सन्धि नहीं करनी चाहिए ।] ॥ ८२ ॥

अनुत्पाद्यापि वैराणि स्वरमास्तृप्तवृत्तयः ।
हीनसत्त्वा निहन्यन्ते वने हिंस्रैर्यथा मृगाः ॥ ८३ ॥

वैराणि अनुत्पाद्य अपि स्वरमाः तृप्तवृत्तयः हीनसत्त्वाः वने मृगाः यथा हिंस्रैः निहन्यन्ते॥८३॥

यदि यह कहा जाय कि सन्धि के कारण मुगल हम पर आक्रमण न करेंगे तथा हम अपने ढंग से आत्मोद्देश्य के लिए यथाशक्ति प्रयत्नशील रहेंगे तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि निर्बल जन यदि वैर-विरोध के लिए कोई अवसर न भी दें, अपने व्यापार में लगे रहें तथा तोष का अनुभव करें तब भी उन्हें सबल से प्रताडित एवं विपन्न होना ही पड़ेगा । जैसे वन में उद्वेग का कारण न देकर भी सर्वथा घास आदि चरते हुए सरल स्वभाववाले मृग हिंसक पशुओं द्वारा अकारण ही मारे जाते हैं ॥ ८३ ॥

अनन्यमनसो लोके सोत्साहस्येष्टवर्त्मनः ।
उद्योगिनस्तु लक्ष्याप्तिर्न दुरापा कथञ्चन ॥ ८४ ॥

लोके अनन्यमनसः सोत्साहस्य इष्टवर्त्मनः उद्योगिनः लक्ष्याप्तिः तु कथञ्चन दुरापा न ॥ ८४ ॥

किन्तु जो उत्साहप्रवण है, जिसका मार्ग सुचिन्तित है तथा जो लक्ष्यसिद्धि के लिए एकाग्रमना है एवं उसके लिए प्रयत्न भी कर रहा है उसकी लक्ष्यसिद्धि किसी प्रकार भी सन्दिग्ध नहीं रह सकती । अस्तु, नवीन आर्यराष्ट्र के लिए यही मार्ग उचित है ॥ ८४ ॥

व्यवहाराविदः प्रायो निगृह्णन्ति मनोरथम् ।
प्रयोगकुण्ठिता किन्तु केवलं धीर्मनोमुदे ॥ ८५ ॥

प्रायः व्यवहाराविदः मनोरथं निगृह्णन्ति किन्तु प्रयोगकुण्ठिता धीः केवलं मनोमुदे ॥८५॥

प्रायः व्यवहार में अदक्ष प्राणी मनोरथ पर आक्षेप लगाते हैं, उसका निग्रह करते हैं। उनके विचार से मनोरथ अनेकविध सन्ताप का कारण है। किन्तु इस कर्म-क्षेत्र में प्रयोगहीन बुद्धि व्यर्थ है, वह केवल मनोविनोद मात्र है। उस मनोमोदक से कल्याण नहीं हो सकता। अतः यदि यह कहा जाय कि हम क्यों ऊँचा मनोरथ रखें अथवा रखें भी तो वह केवल बुद्धि तक सीमित रहे, उचित नहीं है। आर्यराष्ट्र के स्वप्न को चरितार्थ करने के लिए अनवरत उद्योग करना ही चाहिए॥ ८५॥

धन्या वनेचरास्तावद् दोर्दण्डप्रथिताश्रयाः।
सुखं प्राणान् विमुच्यापि यान्ति ये स्वकुलोचितम्॥ ८६॥

दोर्दण्डप्रथिताश्रयाः वनेचराः तावत् धन्याः ये प्राणान् सुखं विमुच्य अपि स्वकुलोचितं यान्ति॥ ८६॥

अपने भुजबल के आश्रय पर निर्भर रहनेवाले वे वनचारी कोल-किरात आदि धन्य हैं जो सुखपूर्वक प्राण देकर भी आत्मकुलोचित मार्ग की ही रक्षा करते हैं। उन्हें कुलादर्श प्राणों से बढ़कर प्यारा है। हम अपने आदर्श से गिरकर अधमतर स्थिति में आ जायेंगे॥ ८६॥

आत्मश्रेयःप्रतिष्ठायै जीवनं जीवनं मतम्।
अथवा किन्न जीवन्ति पशवः पक्षिणोऽधमाः॥ ८७॥

जीवनं आत्मश्रेयःप्रतिष्ठायै जीवनं मतम् अथवा अधमाः पशवः पक्षिणः किं न जीवन्ति॥ ८७॥

जीवन तभी जीवन है जब आत्मकल्याण की प्रतिष्ठा में वह उपयोगी सिद्ध हो। यों तो अधम पशु-पक्षी भी जीते ही हैं॥ ८७॥

विचित्रे सर्गबन्धेऽस्मिन् शमत्वं परिचिन्वताम्।
कृतित्वविफला बुद्धिर्वेत्ति स्वात्मानमीश्वरम्॥ ८८॥

अस्मिन् विचित्रे सर्गबन्धे शमत्वं परिचिन्वतां कृतित्वविफला बुद्धिः स्वात्मानम् ईश्वरं वेत्ति॥ ८८॥

इस विचित्र संसार में शम (शान्ति) का अन्वेषण करनेवालों की कर्महीन बुद्धि अपने आपको ईश्वर समझने का दम्भ करने लगती है॥ ८८॥

पदार्थे द्रव्यजाते वा गुणे जीवे चलेऽचले।
कृतौ भावे स्वभावेऽपि वैषम्यं सर्गपद्धतिः॥ ८९॥

पदार्थे द्रव्यजाते वा गुणे जीवे चले अचले कृतौ भावे स्वभावे अपि वैषम्यं सर्गपद्धतिः॥ ८९॥

वैषम्य तो सृष्टि का सहज धर्म है। यहाँ कर्ममूलक शान्ति प्रलापमात्र है। पदार्थ, द्रव्यजात, गुण, जीव, चल-अचल, (स्थावर-जङ्गम), निर्मिति, भाव और स्वभाव, प्रत्येक स्थिति में वैषम्य भरा हुआ है ॥ ८९ ॥

स्वार्थिनः काकुवाचस्तु सौहार्दं निष्फलायतिः ।
असंस्कृतात्मनः शिक्षासाचिव्यमिव भारते ॥ ९० ॥

स्वार्थिनः काकुवाचः सौहार्दं तु भारते असंस्कृतात्मनः शिक्षासाचिव्यम् इव निष्फलायतिः ॥ ९० ॥

स्वार्थी एवं वक्रभणितिवाले व्यक्ति का सौहार्द भी फलहीन भविष्य का ही द्योतक है, जिस प्रकार संस्कृतभाषारहित व्यक्ति का भारतवर्ष में शिक्षामन्त्री होना ॥९०॥

मनोहराक्षरस्यूतः किं निकारो मनोमुदे ।
चामीकरकशाघातैः किं न क्लिश्यन्ति देहिनः ॥ ९१ ॥

मनोहराक्षरस्यूतः निकारः मनोमुदे किं, चामीकरकशाघातैः देहिनः न क्लिश्यन्ति किम् ? ॥ ९१ ॥

अत्यन्त मोहक अक्षरों में पिरोया हुआ भी निकार (दुःख, अपमान) क्या कष्टदायी नहीं होगा ? सोने के चाबुक के आघात से क्या किसी प्राणी को कष्ट न होगा ? [सन्धि के नियम-उपनियम बाह्य कलेवर आदि भले ही श्रवण-सुखद एवं नेत्र-मनोहर हों उसका आन्तरिक स्वरूप तो विनाशकारी ही होगा।] ॥ ९१ ॥

सुरत्नखचितद्वारि सख्यकारान्तरे किमु ।
स्वतन्त्रता कुलस्त्रीव रंस्यते जारमन्दिरे ॥ ९२ ॥

सुरत्नखचितद्वारि सख्यकारान्तरे कुलस्त्री इव स्वतन्त्रता जारमन्दिरे रंस्यते किमु ॥९२॥

यदि किसी लम्पट, कामुक पुरुष का महल बड़ा सुन्दर हो, दरवाजे सुरत्नखचित हों तथा वह भोग-वैभव से सर्वथा पूर्ण हो तो क्या कुलवधू उससे आकृष्ट होकर आत्मशील नष्ट करेगी ? वैसे ही शत्रु बड़ा ऐश्वर्य-समृद्ध हो तो क्या स्वतन्त्रता उसके हाथों बिक जायेगी ? ॥ ९२ ॥

निहत्य निहता वाऽपि वरेण्ययशसि स्थिताः ।
इहामुत्र भटाः स्तब्धं वीक्षन्तेऽस्मानरिच्छिदः ॥ ९३ ॥

निहत्य निहताः वा अपि वरेण्ययशसि स्थिताः इह अमुत्र अरिच्छिदः भटाः स्तब्धम् अस्मान् वीक्षन्ते ॥ ९३ ॥

शत्रु का संहार करनेवाले हम सभासदों को वे सभी लोग जो युद्ध में मरकर या मारकर अभिलषित यश प्राप्त कर चुके हैं वे यहाँ तथा वहाँ (परलोक) दोनों ही स्थानों पर श्वास रोके हम लोगों को देख रहे हैं ॥ ९३ ॥

याऽरिशीर्षच्छिदुद्दामधामदृक्षा दृगाहवे ।
सा कथं विनता पादौ वीक्षितुं वैरिणः क्षमा ॥ ९४ ॥

आहवे या दृक् अरिशीर्षच्छित् उद्दामधामदृक्षा सा वैरिणः पादौ विनता वीक्षितुं कथं क्षमा ॥ ९४ ॥

युद्धभूमि में शत्रुओं के मस्तक को निर्मम प्रहार से काटकर भास्वर तेज से चमकनेवाली सम्मानपूर्ण दृष्टि अब किस प्रकार उन्हीं शत्रुओं के चरणों को झुककर देखने में समर्थ होगी ? ॥ ९४ ॥

असङ्ख्या नरसालास्ते वाजीप्रभुमुरारयः ।
यत्कृते विजहुः प्राणान् स किं विस्मार्यतेऽध्वरः ॥ ९५ ॥

यत्कृते ते असङ्ख्याः नरसालाः वाजीप्रभुमुरारयः प्राणान् विजहुः सः अध्वरः विस्मार्यते किम् ? ॥ ९५ ॥

उन सहस्रों नरसालों एवं वाजीप्रभु मुरार जैसे महावीरों ने जिसके लिए प्राणों का बलिदान कर दिया उस महायज्ञ (स्वतन्त्रता के संघर्ष) को क्या भुला दिया जायेगा ॥ ९५ ॥

त्यागादृते स्वभावस्य वयन्नालं मुदे द्विषः ।
जयाध्वगा तदधुना श्रेयो दिशतु धीः सताम् ॥ ९६ ॥

स्वभावस्य त्यागात् ऋते वयं द्विषः मुदे न अलं तत् अधुना सतां धीः जयाध्वना श्रेयः दिशतु ॥ ९५ ॥

अतः स्पष्ट है कि जब तक हम अपना स्वभाव न छोड़ दें, न बदलें, तब तक हम शत्रु को आनन्दित नहीं कर सकते । अब इस विषय में आज शिष्टजनों की विजय मार्गगामिनी मति राष्ट्रकल्याण का निर्देशन उपस्थित करे ॥ ९६ ॥

साधुवादैः स्थिते तस्मिन् वक्तरि जोषमासने ।
पन्तप्रधानमुर्वीशः सविशेषमुदैक्षत ॥ ९७ ॥

साधुवादै. तस्मिन् वक्तरि जोषं आसने स्थिते उर्वीशः पन्तप्रधानं सविशेषम् उदेक्षत ॥९७॥

सदस्यों के साधुवाद से मण्डित वक्ता ने जब अपना स्थान अन्त में ग्रहण कर लिया तब महाराज छत्रपति ने पन्तप्रधान की ओर आग्रहपूर्वक देखा ॥ ९७ ॥

यदिङ्गितानुगा नीतिर्मनः क्षोणीभृतामपि ।
मर्दयन्ती पदन्यासे नर्तकीवाहरद् भृशम् ॥ ९८ ॥

यदिङ्गितानुगा नीतिः नर्तकी इव क्षोणीभृतां अपि मनः पदन्यासे मर्दयन्ती भृशं अहरत् ॥ ९८ ॥

पन्त प्रधान—जिनके सङ्केत का अनुगमन करती हुई नीति पृथिवीपतियों के मन को अपने पैरों के नीचे मर्दित करती हुई भी नर्तकी के समान उन्हें अधिकाधिक आकृष्ट करती है ॥ ९८ ॥

स्रोतश्शैलपुरारण्यम् यद्धृदि भूतलं महत् ।
प्रावर्तत यथा कृत्स्नं सर्गजालं विधातरि ॥ ९९ ॥

यद्धृदि स्रोतश्शैलपुरारण्यं महत् भूतलं विधातरि कृत्स्नं सर्गजालं यथा प्रावर्तत ॥९९॥

जिनके हृदय में जलाशयों, पर्वतों, नगरों, वनों समेत सम्पूर्ण पृथ्वीतल इस प्रकार प्रवर्तित होता था जैसे विधाता के हृदय में सम्पूर्ण जड जङ्गम सृष्टि प्रवर्तित होती रहती है ॥ ९९ ॥

यद्विवेको निरलसो जये वाऽथ पराजये ।
स्वराज्योद्योगमातेने सदुद्देश्यफलोदितम् ॥१००॥

जये अथवा पराजये निरलसः यद्विवेकः सदुद्देश्यफलोदितं स्वराज्योद्योगं आतेने ॥१००॥

जिस पन्तप्रधान का अबाधित विवेक जय अथवा पराजय में भी सदैव सदुद्दिष्ट सुचिन्तित फल से सम्पन्न स्वराज्य का प्रयत्न विस्तारित कर रहा था ॥ १०० ॥

सूत्रधारो यथा चित्ते वस्तुजातं विविच्य यः ।
आयुधाभिनयैः पश्चात्तदेवादर्शयज्जनान् ॥१०१॥

यः सूत्रधारः यथा चित्ते वस्तुजातं विविच्य पश्चात् आयुधाभिनयैः तत् एव जनान् अदर्शयत् ॥ १०१ ॥

जिस पन्तप्रधान ने सूत्रधार के समान वस्तु जात (कथानक) को हृदय में सुविचारित कर, धारण कर, पश्चात् शस्त्रप्रयोग के अभिनय द्वारा उसी वस्तु तत्त्व को संसार के सम्मुख उपस्थित कर दिया ॥ १०१ ॥

शिवखड्गासना साऽपि बहुधा सङ्गरेन्दिरा ।
तं ददर्श विधौ व्यग्रा सोत्सुका रहसि स्थितम् ॥१०२॥

शिवखड्गासना अपि विधौ व्यग्रा सोत्सुका सा सङ्गरेन्दिरा रहसि स्थितं तं बहुधा ददर्श ॥ १०२ ॥

क्षत्रपति की तलवार पर निवास करनेवाली युद्धलक्ष्मी भी बहुधा कार्य को यथानुकूल सम्पन्न करने में व्यग्र होकर, विकल होकर, उत्कण्ठा पूर्वक उस पन्त प्रधान के सम्मुख, उनके एकान्त क्षणों में सहायतार्थ (दिशा निर्देशन प्राप्त करने के लिए) उपस्थित होती थीं ॥ १०२ ॥

बृहस्पतिः स विदुषां शस्त्रिणां शिवनन्दनः ।
विवेकप्रवणां वाचम् विनतोऽवसरेऽस्मरत् ॥१०३॥

विदुषां वृहस्पतिः शस्त्रिणां शिवनन्दनः सः अवसरे विनतः विवेकप्रवणां वाचं अस्मरत् ॥ १०३ ॥

विद्वानों में देवगुरु-तुल्य, शस्त्रधारियों में शङ्कर पुत्र देवसेनापति के समान उस पन्त प्रधान ने अवसरोचित विवेक भूयिष्ठ सरस्वती को स्मरण किया ॥ १०३ ॥

निवेदितव्यमधुना न परं विद्यते मम ।
निवेदितं यथाशास्त्रम् वलाधीशेन वाग्मिना ॥१०४॥

अधुना परं निवेदितव्यं मम न विद्यते, वाग्मिना वलाधीशेन यथाशास्त्रं निवेदितम् ॥ १०४ ॥

इस प्रस्तुत विषय कुछ भी अधिक कहने के लिए निवेदित करने योग्य मेरे पास नहीं है। वस्तुतः शास्त्रोचित विधि से वक्ता सेनापति ने इस विषय सब कुछ निवेदित ही कर दिया ॥ १०४ ॥

माम्मुखरीकरोत्यत्र विवक्षैव स्पृहावती ।
सुधियो निश्चितं यूयं युक्तवर्त्मावधारणे ॥१०५॥

अत्र स्पृहावती विवक्षा एव माम् मुखरीकरोति युक्तवर्त्मावधारणे यूयं निश्चितं सुधियः ॥ १०५ ॥

कुछ कहना ही चाहिए—यही स्पृहा मुझे बोलने के लिए प्रेरित कर रही है आप सब विवेक निष्णात हैं तथा उचित मार्गाश्रय में निश्चय ही समर्थ हैं ॥ १०५ ॥

असतस्सदिवोत्पन्नमेतन्नो राज्यमण्डलम् ।
बुद्धिशक्त्योर्द्वयोर्लब्धिः बुद्धेरेव विशेषतः ॥१०६॥

असतः सत् इव उत्पन्नं नः एतत् राज्यमण्डलम् बुद्धिशक्त्योः द्वयोः विशेषतः बुद्धेः एव लब्धिः ॥ १०६ ॥

असत् से सत् के समान अन्धकार के गर्भ से प्रकाश के समान उत्पन्न यह हमारा नवोदित राज्य, बुद्धि तथा शक्ति, दोनों की सम्मिलित उपलब्धि है मुख्यतः बुद्धि का ही योग है ॥ १०६ ॥

वलोद्धतो न महिषो जम्बुकोऽपि न वञ्चकः ।
सिंह एव मृगाधीशो बुद्धिशक्त्योर्मिथः स्थितिः ॥१०७॥

वलोद्धतः महिषः न वञ्चकः जम्बुकः अपि न, बुद्धिशक्त्योः मिथः स्थितिः सिंहः एव मृगाधीशः ॥ १०७ ॥

भैसा बलोन्मत्त है, गीदड़ प्रवञ्चक शिरोमणि है किन्तु ये दोनों ही मृगराज नहीं कहलाते। वस्तुतः बुद्धि तथा शक्ति, दोनों का उत्तम समन्वय ही मृगराज पद का भागी है यही कारण है कि सिंह मृगराज कहलाता है ॥ १०७ ॥

भविष्णुरपि वलिनां विद्विषां हृदये वसन् ।
चेष्टते वलसम्पत्त्यै निर्वलः पालयन् स्थितिम् ॥१०८॥

वलिनां विद्विषां हृदये वसन् निर्वलः अपि भविष्णुः स्थितिं पालयन् वलसम्पत्त्यै चेष्टते ॥ १०८ ॥

बलशाली शत्रुओं के बीच रहता हुआ, निर्बल किन्तु भविष्य में अपनी सत्ता को प्रतिष्ठित करनेवाला प्राणी समय, स्थान, बल आदि का विचार करते हुए यथा साध्य अपनी स्थिति को बचाता हुआ गतिशील रहता है। तथा आत्म-बल-सम्पत्ति आदि का सञ्चय करता रहता है ॥ १०८ ॥

स्वगुणैरेव संग्राह्यौ साधनस्थौ जयाजयौ ।
सिद्धिवर्त्मदृशां शश्वदस्माकं तत्त्वचिन्तने ॥१०९॥

सिद्धिवर्त्मदृशाम् अस्माकं शश्वत् तत्त्वचिन्तने साधनस्थौ जयाजयौ स्वगुणैः एव संग्राह्यौ ॥ १०९ ॥

हमारा लक्ष्य निश्चित है, उद्देश्य अत्यन्त ही स्पष्ट है, अतः सिद्धि के मार्ग पर दृष्टि रखे हुए हम लोग सदैव तत्त्व-चिन्तन में (घटनाक्रम के सन्दर्भ में) जय तथा पराजय को साधन के रूप में स्वीकार करें तथा वे हमारे लक्ष्य को किस अंश तक प्रभावित करते हैं इसका ध्यान रखें। हमारे लिये सद्यः हानि-लाभ से बढ़कर विशेष महत्त्व सुदूरगामी हानि-लाभ का है ॥ १०९ ॥

दाशरथिः क्वचिद्युद्धे क्वचिच्छौरिर्विधिक्षमः ।
पारदृश्वा वृणोत्येव युक्तदृष्टिरुभावपि ॥११०॥

क्वचित् युद्धे दाशरथिः क्वचित् विधिक्षमः शौरिः, युक्तदृष्टिः पारदृश्वा उभौ अपि वृणोति एव ॥ ११० ॥

घटनाओं के सुदूरगामी प्रभाव को भलीभाँति परखनेवाला युक्तदृष्टि व्यक्ति कभी युद्धभूमि में शत्रुओं को पराजित करनेवाले राम के समान, कभी लक्ष्यसिद्धि के लिए युद्धेतर उपायों के द्वारा, या युद्धभूमि को त्यागकर भी कृष्णजी के समान, विजय या पलायन दोनों ही स्थितियों को लक्ष्यसिद्धि के लिए स्वीकार करता है ॥११०॥

निर्जिता न रणे नेति तुरुष्कास्तदपि स्थिरम् ।
लक्ष्याध्वानः प्रयत्नेन भुञ्जन्ति वसुधामिमाम् ॥१११॥

तुरुष्काः रणे न निर्जिताः इति न तदपि लक्ष्याध्वानः प्रयत्नेन स्थिरम् इमाम् वसुधाम् भुञ्जन्ति ॥ १११ ॥

ऐसा नहीं है कि तुर्क इस देश में पराजित ही नहीं हुए—हुए हैं, अनेक बार हुए हैं। फिर भी प्रयत्नपूर्वक लक्ष्यमार्गी होने के कारण वे स्थिर होकर वे इस भरत-वसुन्धरा का उपयोग कर रहे हैं ॥ १११ ॥

स्वच्छिद्रमपि संवेद्य भूपतिसाधकावुभौ ।
भ्रष्टसिद्धी विपद्येते तदुपेक्षाभरौ ध्रुवम् ॥११२॥

स्वच्छिद्रं संवेद्य अपि तदुपेक्षाभरौ उभौ भूपतिसाधकौ ध्रुवं भ्रष्टसिद्धी विपद्येते ॥११२॥

राजा तथा साधक यदि अपने दोष को ठीक से जानकर भी उपेक्षा करते हैं, उसका निवारण नहीं करते तो वे दोनों ही सिद्धिभ्रष्ट होकर विपत्ति के मुँह में पड़ जाते हैं ॥ ११२ ॥

अरातिबलमालोच्य साम्नैव नवलाङ्कुरः ।
समयज्ञो हि समये राष्ट्रः शाखीव राजते ॥११३॥

समयज्ञः नवलाङ्कुरः राष्ट्रः अरातिबलम् आलोच्य साम्ना एव हि समये शाखी इव राजते ॥ ११३ ॥

शत्रु के बल को उत्कृष्ट समझकर नवांकुरित राष्ट्र सामनीति का आश्रय लेकर समय का यथार्थ ज्ञान रखता हुआ समय पर वृक्ष के समान फल, छाया आदि से सम्पन्न होकर सुशोभित होता है ॥ ११३ ॥

युक्त्या विदार्यते प्रायो महीध्रोऽपि बलावधिः ।
निर्मिताऽपि तृणै रज्जुर्नायुक्त्या किन्तु खण्ड्यते ॥११४॥

प्रायः बलावधिः महीध्रः अपि युक्त्या विदार्यते किन्तु तृणैः निर्मिता अपि रज्जुः अयुक्त्या न खण्ड्यते ॥ ११४ ॥

महाबलशाली वृक्ष भी उपाय द्वारा काट दिया जाता है किन्तु तृणों से निर्मित रस्सी भी बिना उपाय खण्डित नहीं की जा सकती ॥ ११४ ॥

दुर्गनाशे प्रजाच्छेदे वर्धिष्णौ द्विषदुद्यमे ।
दुरपायानुबन्धेऽस्मिन् पथ्यमस्तित्वरक्षणम् ॥११५॥

अस्मिन् दुरपायानुबन्धे दुर्गनाशे प्रजाच्छेदे वर्धिष्णौ द्विषदुद्यमे अस्तित्वरक्षणं पथ्यम् ॥११५॥

जब दुर्गनाश हो रहा हो, प्रजा जन पर अत्याचार का मेघ बरस रहा हो, शत्रु का उत्पात बढ़ रहा हो तथा शत्रु प्रबलतर पड़ रहा हो तो इस प्रकार विध्वंसमय अवसर पर अपने अस्तित्व की रक्षा करना ही सर्वप्रथम कर्तव्य है ॥११५॥

पृतना यत्र युद्ध्यन्ते तामभितोऽवनिं हठात् ।
जयाजयफलात्पूर्वं हन्ति पितृवनस्थितिः ॥११६॥

यत्र पृतनाः युध्यन्ते ताम् अवनिम् अभितः जयाजयफलात् पूर्वं हठात् पितृवनस्थितिः हन्ति ॥ ११६ ॥

जहाँ सेनायें युद्ध करती हैं वहाँ जय-पराजयरूपी फल की प्राप्ति के पहले ही उस पृथ्वी को चारों ओर श्मशान की दुरवस्था आत्मसात् कर लेती है

[पृथ्वी लाशों से पट जाती है तथा समीपवर्ती अञ्चल वीरान, निर्जन हो जाता है।] ॥ ११६ ॥

युद्धसीमावधिर्नैव क्षात्रधर्मः कदाचन ।
लोकरक्षाविधौ नूनं तदुद्योगो महीयते ॥११७॥

क्षात्रधर्मः कदाचन युद्धसीमावधिः न एव नूनं तदुद्योगः लोकरक्षाविधौ महीयते ॥११७॥

क्षात्रधर्म की सीमावधि, पराकाष्ठा युद्ध मात्र ही कभी भी नहीं है। वास्तव में क्षात्रधर्म का महान् योगदान तो प्रजाजन की स्थिति को निरापद करने में, सम्पन्न करने में है। क्षात्रधर्म शब्द मूलतः 'क्षतात् त्रायते' नष्ट होने से बचाने में है ॥ ११७ ॥

युद्धेतरविकल्पेषु मोघीभूतेषु वाग्मिनः ।
आदिशन्ति प्रयोगाय ब्रह्मास्त्रमिव विग्रहम् ॥११८॥

मोघीभूतेषु युद्धेतरविकल्पेषु वाग्मिनः ब्रह्मास्त्रम् इव विग्रहं प्रयोगाय आदिशन्ति॥११८॥

आप्त पुरुष प्रायः युद्ध को अपना अस्त्र नहीं बनाते किन्तु जब अन्य सभी विकल्प व्यर्थ हो जाते हैं तथा युद्ध के अतिरिक्त कोई उपाय, कोई विकल्प शेष नहीं बचता तब अन्तिम उपाय के रूप में ब्रह्मास्त्र के समान युद्ध का प्रयोग करने के लिए विवेकी जन आदेश देते हैं ॥ ११८ ॥

न सहजं तदस्माकं रणानुद्योगनिश्चयः ।
शिशिराङ्कगलत्कान्तिः कालापेक्षी परं रविः ॥११९॥

तत् अस्माकं रणानुद्योगनिश्चयः न सहजं परं शिशिराङ्कगलत्कान्तिः रविः कालापेक्षी ॥ ११९ ॥

अतः युद्धोद्योग से विरत होने का हमारा निश्चय सहज, सामान्य स्थिति का द्योतक नहीं है। ऐसी विषम परिस्थिति उत्पन्न हो गयी है कि ऐसा निश्चय करना पड़ा है। आप स्वयं देखें, शीतकाल के पंजे में फँसकर क्रमशः क्षीणकान्ति होता हुआ सूर्य भी समय बिताता हुआ, अपने अवसर की प्रतीक्षा में रहता है ॥ ११९ ॥

आत्मगुप्त्यै समर्थ्योऽपि न क्षयाय रणाग्रहः ।
यागरक्षा विधिः तस्मान्निर्माणसवनर्त्विजाम् ॥१२०॥

आत्मगुप्त्यै समर्थ्यः अपि रणाग्रहः क्षयाय न, तस्मात् निर्माणसवनर्त्विजां यागरक्षा विधिः ॥ १२० ॥

आत्मरक्षा के लिए रणोद्योग को भले ही उचित माना जाय, समर्थन किया जाय किन्तु विनाश के लिए, अपनी बरबादी के लिए तो यह कभी भी प्रशंसनीय

नहीं कहा जा सकता। इसलिए निर्माणरूपी यज्ञ के पुरोहितों—कृषक, मजदूर, शिल्पकार आदि—की यज्ञरक्षा (संहार से त्राण) ही आज का महत्त्वपूर्ण विषय है। हमें आज राज्य के प्रजावर्ग को बचाना है, भयमुक्त करना है ॥ १२० ॥

बहुगर्जनशीलोऽपि राजा चाब्दोऽल्पजीवनः।
नानुनेतुमलं लोके प्रजा दग्धमनोरथाः ॥१२१॥

बहुगर्जनशीलः अपि अल्पजीवनः राजा अब्दः च लोके दग्धमनोरथाः प्रजाः अनुनेतुं न अलम् ॥ १२१ ॥

अधिक गर्जन (डींग) करनेवाला राजा तथा बादल भी यदि अल्पप्राण (जलहीन) हैं, पुरुषार्थविरहित हैं तो दग्धमनोरथ, सूखी कृषिवाली दुर्भिक्षग्रस्त प्रजा को (झूठे वादों से) परितुष्ट नहीं कर सकते। प्रजा आत्मलाभ को सद्यः चाहती है, आदर्शवादिता के नाम पर वह थोड़े समय तक चुप भले रहे, शीघ्र ही ऊब जाती है ॥ १२१ ॥

वारस्त्रीव प्रजा वीतं नैव स्मर्तुं मनागपि।
भव्यञ्चापि तिरस्कृत्य वर्तमानेन जीवति ॥१२२॥

वीतं स्मर्तुं प्रजा वारस्त्री इव मनाक् अपि न एव, भव्यम् अपि तिरस्कृत्य च वर्तमानेन जीवति ॥ १२२ ॥

वाराङ्गना के समान प्रजा प्रायः भूतकाल को स्मरण नहीं करती। आनेवाले भविष्य को भी तिरस्कृत कर केवल वर्तमानपरक दृष्टि को महत्त्व देती है। प्रजा यदि वर्तमान को अपने अनुकूल पाती है तो सब कुछ ठीक है। वह वर्तमान की उपेक्षा करके भूतकालीन गौरव या भावी सुख के नाम पर शान्त नहीं रह सकती। वेश्या भी वर्तमानदृष्टि होती है। भूतकालीन सम्बन्ध अथवा भविष्य का वादा उसे वर्तमान से नहीं हटा सकता ॥ १२२ ॥

किन्तु कर्म परं हेतुः प्रायो माने विगर्हणे।
वर्तमानकृती राजा भव्यदृष्टिर्भवेदतः ॥१२३॥

किन्तु प्रायः माने विगर्हणे कर्म एव परं हेतुः अतः वर्तमानकृती राजा भव्यदृष्टिः भवेत्॥१२३॥

किन्तु मान अथवा अपमान, निन्दा में कर्म ही हेतु है। प्रजा भले वर्तमान को ही महत्त्व दे, राजा को वर्तमान में यशस्वी होते हुए भी भविष्यपरक दृष्टि रखनी ही पड़ेगी। राजा को दूरगामी प्रभाव का ध्यान रखना ही पड़ेगा ॥ १२३ ॥

लोकानुवर्तिनी सम्पत् कल्याणी सकलग्रहा।
प्रेयः श्रेयो द्वयं कल्पवल्लरीव प्रयच्छति ॥१२४॥

लोकानुवर्तिनी कल्याणी सकलग्रहा सम्पत् कल्पवल्लरी इव श्रेयः प्रेयः द्वयं प्रयच्छति॥१२४॥

लोकाराधन में संल्लग्न, कल्याणमयी सार्वजनीन दृष्टिवाली सम्पत्ति कल्पलता के समान प्रेय और श्रेय, पार्थिव तथा आध्यात्मिक, दोनों प्रकार का अभ्युदय सम्पन्न करती है ॥ १२४ ॥

वरोऽपि भुवने पन्थाः संस्कार्यो देशकालतः ।
स्तुत्यं मुक्तये भस्म क्षोणीं दहति साम्प्रतम् ॥१२५॥

भुवने वरः अपि पन्थाः देशकालतः संस्कार्यः, मुक्तये स्तुत्यं भस्म साम्प्रतं क्षोणीं दहति ॥ १२५ ॥

अत्यन्त उत्तम राजपथ (मार्ग) का भी समय-समय पर संस्कार-परिष्कार करना ही चाहिए, ऐसा न करने से कालान्तर में वह अनुपयोगी तथा कष्टदायी हो जायेगा। विचार करें, कभी भस्म मुक्ति के लिए बड़ा श्लाघ्य था किन्तु आज यह पृथ्वी को जला रहा है [कभी भस्मविभूपित साधु-महात्मा को देखकर श्रद्धा होती थी क्योंकि वे भस्मांगरागमण्डित व्यक्ति आत्म-मुक्ति के लिए यह स्वरूप धारण करते थे। इसको साधन बनाकर समाज को ठगते नहीं थे। किन्तु आज भस्म, छापा, माला आदि के बल पर साधु का वेष बनाये अनेक असमाजिक तत्त्व समाज को धोखा देकर अवाञ्छनीय कामनाओं की तृप्ति करते हैं।] ॥ १२५ ॥

शशशृङ्गायितं शर्म दृश्यते शासनेऽपि चेत् ।
त्वरितं त्यजतु तल्लोको लोकभृत्यं हि शासनम् ॥१२६॥

शासने अपि शर्म शशशृङ्गायितं दृश्यते चेत् लोकः तत् त्वरितं त्यजतु शासनं लोकभृत्यं हि ॥ १२६ ॥

यदि शासन प्रजारञ्जन में असफल है, सुख-शान्ति उस शासन में शशशृंग के समान असम्भाव्य कल्पना है तो प्रजा ऐसे शासन से शीघ्र मुक्ति पाये, क्योंकि शासन तो लोक का सेवक है। यदि सेवा नहीं कर सकता तो ऐसे शासन को रहने का कोई नैतिक अधिकार नहीं है ॥ १२६ ॥

धर्मो नीतिः सदाचारः शास्त्रं पूर्वानुकीर्तनम् ।
साधनानि महीलोके प्रयोक्तुर्व्यवसायिनः ॥१२७॥

धर्मः नीतिः सदाचारः शास्त्रं पूर्वानुकीर्तनं महीलोके व्यवसायिनः प्रयोक्तुः साधनानि १२७॥

धर्म, नीति, सदाचार, शास्त्र, पूर्वजों की गौरवगाथा आदि शासनसूत्र सँभालनेवाले प्रयोक्ता के लिए अथवा कार्यनिष्ठ व्यक्ति के लिए संसार में साधन के समान हैं ॥ १२७ ॥

फलानपेक्ष्यवर्त्माऽपि सदुद्योगपरायणः ।
न विवेकमनादृत्य शुभंयुर्वर्तते क्वचित् ॥१२८॥

सदुद्योगपरायणः फलानपेक्ष्यवर्त्मा अपि शुभंयुः विवेकम् अनादृत्य क्वचित् न वर्तते॥१२८॥

सदुद्योग में लगा हुआ, फलनिरपेक्ष भाववाला व्यक्ति भी यदि कल्याणकामी है तो वह विवेक की उपेक्षा नहीं कर सकता। बिना विवेक के भविष्यमूलक प्रकल्पना निराधार होगी ॥ १२८ ॥

भविष्यमेव रक्षन्तः सहन्ते मानवा व्यथाम् ।
वृद्धो मृत्युगृहीतोऽपि फलारामे प्रयत्नवान् ॥१२९॥

भविष्यं रक्षन्तः एव मानवाः व्यथां सहन्ते मृत्युगृहीतः अपि वृद्धः फलारामे प्रयत्नवान् ॥ १२९ ॥

भविष्यपरक दृष्टि रखने के कारण ही समाज सब तरह की व्यथा सहन करता है। भविष्य के लिए, उसे सुन्दर बनाने के लिए वह वर्तमान का भी अंशतः उपयोग करता है। मृत्यु के कगार पर खड़ा हुआ वृद्ध भी यदि आम का बाग लगाते हुए सूर्य की प्रचण्ड किरणों में पसीने से नहा जाता है तो कहना ही होगा कि भविष्य के लिए प्राणी व्यथा सहता है और परितुष्ट मन से सहता है ॥ १२९ ॥

पशुचारेण विधिना वर्तयन्तोऽपि बाहुजाः ।
उपेक्ष्यानागतं सर्वान् वंश्यैः साधमपातयन् ॥१३०॥

बाहुजाः पशुचारेण विधिना वर्तयन्तः अपि अनागतम् उपेक्ष्य वंश्यैः सार्धं सर्वान् अपातयन् ॥ १३० ॥

पशु निर्विशेष ढंग से केवल क्षुद्र दृष्टि का आश्रय लेकर क्षणिक स्वभाव से आक्रान्त तथा भविष्य की सर्वथा उपेक्षा करने के कारण देश के राजागण अपने ही साथ सबको ले डूबे ॥ १३० ॥

असंख्यकुलजातानां द्रौपदीनां कृतेऽधुना ।
बुद्धिक्षेत्रे कुरुक्षेत्रमपूर्वं कल्प्यतां बुधाः ॥१३१॥

बुधाः ! अधुना असङ्ख्यकुलजातानां द्रौपदीनां कृते बुद्धिक्षेत्रे अपूर्वं कुरुक्षेत्रं कल्प्यताम् ॥ १३१ ॥

भद्र सज्जनों, भद्र कुलों की अगणित द्रौपदियों की लाज बचाने के लिए, उनके अपमान का प्रतीकार करने के लिए, आज अपने बुद्धिक्षेत्र में अपूर्व कुरुक्षेत्र की रचना कीजिये [आज बुद्धिक्षेत्र में ही शत्रु को पराजित करने का प्रयत्न कीजिये।] ॥ १३१ ॥

वीक्षितुं न सहन्ते नो दिल्लीबीजापुरादयः ।
उपरागोऽयमुदये मा द्विषामुत्सवाय भूत् ॥१३२॥

दिल्लीबीजापुरादयः नः वीक्षितुं न सहन्ते उदये अयम् उपरागः द्विषाम् उत्सवाय मा भूत् ॥ १३२ ॥

दिल्ली तथा बीजापुर आदि हम लोगों को देखना भी नहीं चाहते। अतः उदयपर्व में ही यह ग्रहण का साज कहीं हम लोगों के शत्रुओं के उत्सव का कारण न बन जाय ॥ १३२ ॥

प्रतार्य धियमावेगो दुर्गमाध्वानमाश्रयन् ।
करीव व्यथते नूनं गर्तभ्रष्टस्ततोऽनिशम् ॥१३३॥

आवेगः धियं प्रतार्य दुर्गमाध्वानम् आश्रयन् नूनं ततः गर्तभ्रष्टः करी इव अनिशं व्यथते ॥ १३३ ॥

क्षणिक आवेश, बुद्धि, विवेक को भ्रान्ति में डालकर, भयंकर मार्ग पर चलता हुआ निश्चय ही मत्त गजराज के समान कीचड़भरे गर्त में गिरकर सदा के लिए विपन्न हो जाता है। अतः सहसा भावना के वशीभूत होकर कार्य करना श्रेयस्कर नहीं है। विवेक ही हमारे प्रयत्नों को सञ्चालित करे ॥ १३३ ॥

अभिष्टौति नरो नाम कोऽरातिमघदूषितम् ।
पारतन्त्र्यापदः किन्तु नाद्यापि यदि विस्मृताः ॥१३४॥

कः नाम नरः अघदूषितम् अरातिम् अभिष्टौति यदि अद्य अपि पारतन्त्र्यापदः किन्तु न विस्मृताः ॥ १३४ ॥

यदि गुलामी की दुर्दशा को आज भी हम भूले नही हैं तो हममें से कौन व्यक्ति पाप-कलङ्क से दूषित शत्रुकुल की अभ्यर्थना करना चाहेगा (हम गुलामी के काँटे से सर्वथा परिचित हैं भला हमलोग शत्रु की स्तुति क्यों करने लगेंगे)। अतः हमारा उद्योग परतन्त्रता को लाने में सहायक न हो ॥ १३४ ॥

गर्ह्याऽपि वेतसी वृत्तिरापद्धर्मानुवर्तिनी ।
नानन्द्या भाविसंसिद्ध्यै सम्मुखं वायुरंहसः ॥१३५॥

वेतसी वृत्तिः गर्ह्या अपि आपद्धर्मानुवर्तिनी, वायुरंहसः सम्मुखं भाविसंसिद्ध्यै अनन्द्या न ॥ १३५ ॥

ठीक है कि वेतसी वृत्ति निन्दनीय है किन्तु आपत्ति में कभी-कभी उसका आश्रय लेना ही पड़ता है। भविष्य संकल्प की सिद्धि के लिए, विशेषतः जब पवन का भयंकर वेग सम्मुख हो तो उसे निन्दनीय नहीं कहा जा सकता ॥ १३५ ॥

सर्वप्लोषं समालोच्य पञ्चषाणां बलिर्हठात् ।
वेश्मनां ग्रामरक्षायै नाश्लाघ्यो विषमे विधौ ॥१३६॥

विषमे विधौ सर्वप्लोषं समालोच्य ग्रामरक्षायै पञ्चषाणां वेश्मनां हठात् बलिः अश्लाघ्यः न ॥ १३६ ॥

यदि समूचे गाँव के जल जाने का संकट उपस्थित हो गया हो तो गाँव को बचाने के लिए यदि पाँच-छः घरों को उजाड़ना भी पड़े तो उस विषम परिस्थिति को देखते हुए इस कार्य की निन्दा, भर्त्सना नहीं करनी चाहिए ॥ १३६ ॥

सन्धित्सा नौरिवास्माकं सर्वसंप्लवसंशये ।
सर्गसद्भावबीजानां गुप्तये लभतां त्वराम् ॥१३७॥

सर्वसंप्लवसंशये अस्माकं सन्धित्सा नौः इव सर्गसद्भावबीजानां गुप्तये त्वरां लभताम् ॥१३७॥

सब कुछ (हमारी अब तक की सम्पूर्ण उपलब्धियों) के बाढ़ में बह जाने का संकट उपस्थित होने पर हमारी यह सन्धि नौका के समान सृष्टि (आत्मनिर्माण) के उपयुक्त बीजों की रक्षा के लिए शीघ्रता से सम्पन्न हो ॥ १३७ ॥

घनासारनिरुद्धांशुः सविताऽतीत्य दुर्दिनम् ।
समये नन्द्यते भूयः शरदम्भोजपङ्क्तिभिः ॥१३८॥

घनासारनिरुद्धांशुः सविता दुर्दिनम् अतीत्य भूयः समये शरदम्भोजपंक्तिभिः नन्द्यते ॥१३८॥

वर्षाकाल में मेघों की मूसलाधार वृष्टि से छिपी कान्तिवाला सूर्य, दुर्दिन (आँधी-पानी या दुरवस्था) को पार कर अनुकूल अवसर आने पर शरत्कालीन कमल-पंक्तियों से अभिनन्दित होता है ॥ १३८ ॥

राजन्यजयसिंहेन सिंहेनेव समं प्रभोः ।
सिंहसूनोरयं सन्धिर्नात्मगौरवघातने ॥१३९॥

सिंहेन इव राजन्यजयसिंहेन समं सिंहसूनोः प्रभोः अयं सन्धिः आत्मगौरवघातने न ॥१३९॥

सिंह के समान राजा जयसिंह से सिंहपुत्र-सदृश महाराज क्षत्रपति की यह सन्धि किसी प्रकार भी गौरव-प्रतिकूल नहीं है ॥ १३९ ॥

सन्धिनेपथ्यसंकल्पा वयं सीमस्थान् विद्विषो वयम् ।
सुखं घातयितुं शक्ता दिल्लीशेन बलीयसा ॥१४०॥

सन्धिनेपथ्यसंकल्पाः वयं बलीयसा दिल्लीशेन सीमस्थान् विद्विषः सुखं घातयितुं शक्ताः ॥ १४० ॥

इस सन्धि द्वारा सम्पन्न होकर हम लोग अपने सीमावर्ती शत्रुओं को बलोन्मद दिल्ली की सैन्यशक्ति द्वारा सहज ही नष्ट कराने में समर्थ हो जायेंगे ॥ १४० ॥

वैरान्तकसमुद्योगे रणेऽस्मच्छत्रुघातिनी ।
सङ्ग्रहं बलकोषाणां स्वयं दिल्ली विधास्यति ॥१४१॥

---

१. हिब्रू-इस्लामादिमतान्तरेषु खण्डप्रलयः वर्णितोऽस्ति । मनूपाख्यानमेव नोवा-हजरतनूह-आदि नाम्ना संकलितं प्रतिभाति । जानन्ति हि भारतीयाः वेदपुराणादिवर्णितं खण्ड-प्रलयकथाम् । इहापि बीज-संप्लवादिपदैः तत् ध्वन्यते ।

वैरान्तकसमुद्योगे रणे अस्मच्छत्रुघातिनी दिल्ली बलकोषाणां संग्रहं स्वयं विधास्यति ॥ १४१ ॥

इस सन्धि के फलस्वरूप वैरशोधन के लिए सन्नद्ध दिल्ली हम लोगों के शत्रुओं (जो दिल्ली के भी शत्रु हो हैं, जैसे बीजापुर) के विनाश के लिए प्रयुक्त युद्ध में सैन्य तथा धन आदि का प्रबन्ध स्वयं ही करेगी ॥ १४१ ॥

युद्धशौर्येण सन्नद्धाः सम्मुखं रणमूर्धनि ।
व्रतस्था यद्वयं कर्तुं दिल्ली तत्कुरुतेऽधुना ॥१४२॥

रणमूर्धनि युद्धशौर्येण सम्मुखं सन्नद्धाः यत् कर्तुं वयं व्रतस्थाः अधुना दिल्ली तत् कुरुते ॥ १४२ ॥

युद्धभूमि में तत्पर होकर वीरोचित शौर्य के साथ जो कुछ करने के लिए हम प्रतिश्रुत हैं, भाग्यवश दिल्ली आज वही कर रही है [दिल्ली का अभियान इस समय हमारे शत्रुओं के विरुद्ध है अतः प्रकारान्तर से दिल्ली हमारा उद्देश्य ही सफल कर रही है ।] ॥ १४२ ॥

सन्ध्योषधप्रयोगेण बलोग्रज्वरनिर्गमे ।
क्षीणोऽप्येषो महाराष्ट्रो दिष्ट्या स्वास्थ्येन वर्धताम् ॥१४३॥

सन्ध्योषधप्रयोगेण बलोग्रज्वरनिर्गमे एषः क्षीणः अपि महाराष्ट्रः दिष्ट्या स्वास्थ्येन वर्धताम् ॥ १४३ ॥

सन्धिरूपी दवा के प्रयोग से सेनारूपी उग्र ज्वर के उतर जाने पर (मुगल सेना के सञ्चरण के रुक जाने पर) दुर्बल शरीर भी यह महाराष्ट्र ज्वरमुक्त होने के कारण फिर सौभाग्य-स्वास्थ्य से सम्पन्न हो जायेगा ॥ १४३ ॥

सहसा साहसोत्कर्षो वात्याचक्र इवोत्थितः ।
अयं दिल्लीशसंरम्भो नैकदेशचिरस्थितिः ॥१४४॥

सहसा साहसोत्कर्षः वात्याचक्रः इव उत्थितः अयं दिल्लीशसंरम्भः एकदेशचिरस्थितिः न ॥ १४४ ॥

भयंकर आँधी के समान अकस्मात् उठा हुआ दिल्ली के क्रोध का यह साहसपूर्ण उपक्रम किसी भी देशविशेष में दीर्घ काल तक नहीं रहेगा ॥ १४४ ॥

दिल्लीबीजापुरौ युद्धे समानारी शुभाय नः ।
संक्षयमेव राज्यश्रीर्द्वयोरूनस्य यास्यति ॥१४५॥

समानारी दिल्लीबीजापुरौ युद्धे नः शुभाय, द्वयोः ऊनस्य राज्यश्रीः संक्षयम् एव यास्यति ॥ १४५ ॥

दिल्ली तथा बीजापुर दोनों ही हम लोगों के लिए समान विरोधी हैं । इनका

परस्पर युद्ध हम लोगों के लिए कल्याणकारी ही होगा। युद्धरत इन दोनों राज्यों में जो निर्बल होगा उसकी राज्यलक्ष्मी का विनाश ही होगा। इस प्रकार किसी एक शत्रु से छुटकारा ही मिलेगा ॥ १४५ ॥

बलकोषापचायेन विफलोद्योगवर्तिना।
अन्तश्छिद्रो न दिल्लीशो दुर्जयो दक्षिणापथे ॥१४६॥

विफलोद्योगवर्तिना बलकोशापचायेन अन्तश्छिद्रः दिल्लीशः दक्षिणापथे दुर्जयः न ॥१४६॥

अनेकविध युद्धोद्योगों में विपुल धन-जन की हानि के कारण आन्तरिक दुर्बलतावाला दिल्लीपति दक्षिणाञ्चल में अजेय न हो सकेगा। प्रयत्नपूर्वक आन्तरिक दुर्बलतावाले इस शत्रु को सीमित तथा दुर्गम दणिणापथ में पराजित किया जा सकेगा ॥ १४६ ॥

प्रत्यूहवज्रसम्पातः पश्चिमोत्तरमण्डले।
मुख्यदिल्लीबलं तूर्णमुत्तरामभि नेष्यति ॥१४७॥

पश्चिमोत्तरमण्डले प्रत्यूहवज्रसम्पातः तूर्णं मुख्यदिल्लीबलम् उत्तराम् अभि नेष्यति॥१४७॥

दिल्ली साम्राज्य के पश्चिमोत्तर सीमांत में विघ्नों का भयंकर वज्रपात हो रहा है (ईरान की सेना अफगानिस्तान को आक्रान्त कर रही है)। शीघ्र ही दिल्ली की प्रमुख सेना उत्तर-पश्चिम की ओर बढ़ेगी ॥ १४७ ॥

पौरुषं बलसम्पत्तिरथवा नीतिविस्तरः।
सङ्कल्पमनुगच्छन्ति परिणामदृशा वृताः ॥१४८॥

पौरुषं बलसम्पत्तिः अथवा नीतिविस्तरः परिणामदृशा वृताः सङ्कल्पम् अनुगच्छन्ति ॥१४८॥

पौरुष, शक्ति, वैभव या नीति का विस्तार, परिणामदर्शी व्यक्ति द्वारा प्रयुक्त होकर उसके संकल्पों का अनुगमन करते हैं। प्रत्येक सम्भाव्य परिस्थिति एवं घटना का विवेचन कर निश्चित लक्ष्य के लिए जब व्यक्ति प्रयोगोन्मुख होता है तो पुरुषार्थ आदि उसके संकल्प का अनुगमन करते हैं ॥ १४८ ॥

श्रेयानरातिबन्धोऽपि लोकाराधनहेतवे।
आत्महन्त्री परम्मुक्तिर्नाधुनाहवकाङ्क्षिणी ॥१४९॥

लोकाराधनहेतवे अरातिबन्धः अपि श्रेयान् परम् अधुना आत्महन्त्री आहवकाङ्क्षिणी मुक्तिः न ॥ १४९ ॥

लोकाराधन के लिए शत्रु के बन्धन में पड़ना भी श्रेयस्कर है किन्तु इस समय इस विषम परिस्थिति में, युद्ध की कामना करनेवाली मुक्ति आत्मघातिनी होगी ॥ १४९ ॥

अतो विजयसम्पृक्तमनोरथपुरस्कृतः ।
मा विवेकः प्रयोगेऽस्मिन्नुद्योगविफलो भवेत् ॥१५०॥

अतः विजयसम्पृक्तमनोरथपुरस्कृतः विवेकः अस्मिन् प्रयोगे उद्योगविफलः मा भवेत् ॥१५०॥

अतः विजय की अभिलाषावाले मनोरथ से पुरस्कृत इस परिषद् का विवेक इस अति सूक्ष्म प्रयोग में उद्योग से विरहित न होवे ॥ १५० ॥

सङ्ग्रहायात्मसम्पत्तेः शमायारिहविर्भुजः ।
विधिविन्यस्तमार्गोऽयं श्रेयसे नः प्रपद्यताम् ॥१५१॥

आत्मसम्पत्तेः संग्रहाय अरिहविर्भुजः शमाय अयं विधिविन्यस्तमार्गः नः श्रेयसे प्रपद्यताम् ॥ १५१ ॥

आत्मसम्पत्ति, (सैन्य, धन, राज्यविस्तार आदि) के संग्रह के लिए तथा शत्रुरूपी अग्नि के उपशमन के लिए, दैव द्वारा विन्यस्त, निरूपित यह मार्ग हम लोगों के अभ्युदय के लिए कल्याणकारी हो ॥ १५१ ॥

परितुष्टा यथा दिल्ली न तिष्ठेद् दक्षिणाञ्चले ।
तथैव नीतिनैपुण्यं भूयान्नोऽवधिवेदिनाम् ॥१५२॥

परितुष्टा दिल्ली दक्षिणाञ्चले यथा न तिष्ठेत् अवधिवेदिनां नः नीतिनैपुण्यं तथा एव भूयात् ॥ १५२ ॥

अतः परितुष्ट होकर जिस किसी प्रकार दिल्ली की सेना दक्षिणाञ्चल को छोड़कर चली जाय, यहाँ न रहे, वही समय की गति समझनेवाले हम लोगों को करना चाहिए। यही आज सबसे उपयुक्त नीति-कौशल है ॥ १५२ ॥

अजातकेसरं तावद् हसन्त्यो जम्बुकाङ्गनाः ।
पञ्चास्यं किं हसिष्यन्ति क्ष्वेडापूरितदिङ्मुखम् ॥१५३॥

तावत् अजातकेसरंहसन्त्यः जम्बुकाङ्गनाः क्ष्वेडापूरितदिङ्मुखं पञ्चास्यं हसिष्यन्ति किम ॥ १५३ ॥

सद्यःजात केसरविहीन सिंहशावक को देखकर गीदड़ियाँ (सियारिनें) भले हँसी उड़ायें किन्तु अपने गर्जन से दिशाओं के मुख को भर देनेवाले पञ्चानन, मृगराज पर भी क्या वे हँस सकेंगी ॥ १५३ ॥

विकल्पविरहे तावत् तितीर्षोर्वाहिनीपतिम् ।
भारतार्यश्रिये सैषा युक्तिर्नौरिव जायताम् ॥१५४॥

वाहिनीपतिं तितीर्षोः तावत् विकल्पविरहे सा एषा युक्तिः भारतार्यश्रिये नौः इव जायताम् ॥ १५४ ॥

अतः अन्य किसी सम्भावित कल्याणकारी विकल्प के अभाव में, वाहिनीपति (समुद्र या सेना के अध्यक्ष) को पार करने के अभिलाषी को भारतीय प्रजा के कल्याणार्थ यह युक्ति (सन्धि) नौका के समान उपयोगी हो ॥ १५४ ॥

विवेकिजनजुष्टाऽपि विविक्ता सा सभास्थली ।
अवधानभरा वाणीं तां शुश्रावात्मदर्शिनीम् ॥१५५॥

विवेकिजनजुष्टा अपि विविक्ता सा सभास्थली अवधानभरा (सती) ताम् आत्मदर्शिनीं वाणीं शुश्राव ॥ १५५ ॥

विवेक-परिनिष्ठित श्रेष्ठ जनों से सेवित भी विविक्त (पवित्र, या निर्जन) सभास्थली ने अवधानपूर्ण होकर उस आत्मनिरीक्षण-प्रवण वाणी को सुना ॥१५५॥

वाढमित्याप्तवचसा भूभृता समभिष्टुता ।
परिषत्तोषमापन्ना प्रशशंस नयार्णवम् ॥१५६॥

'वाढम्' इति आप्तवचसा भूभृता समभिष्टुता तोषम् आपन्ना परिषत् नयार्णवं प्रशशंस ॥ १५६ ॥

'अत्युत्तम' कहकर श्रेष्ठ सारपूर्ण वाणीवाले महाराज क्षत्रपति ने परिषद् की शुभाशंसा की तथा उस परिषद् ने नीति के समुद्र पन्तप्रधान का सादर सम्मान किया ॥ १५६ ॥

रघुनाथनिदानेन ततो दिल्लीमहाज्वरः ।
जयसिंहः शिवक्षेत्रे सन्तापविधुरोऽभवत् ॥१५७॥

ततः रघुनाथनिदानेन दिल्लीमहाज्वरः जयसिंहः शिवक्षेत्रे सन्तापविधुरः अभवत् ॥१५७॥

इस प्रकार रघुनाथ पन्त के निदान (रोग की पहचान) करने से जयसिंह-रूपी, दिल्लीवाले महाज्वर ने शिवाजी के क्षेत्र (राज्य, शरीर) में सन्ताप देना त्याग दिया ॥ १५७ ॥

समयज्ञो नरेन्द्रोऽपि सन्धिकमौषधंयथा ।
कटु पथ्यतमं मेने विषोपद्रवहारकम् ॥१५८॥

समयज्ञः नरेन्द्रः अपि कटु सन्धिकमौषधं पथ्यतमं यथा विषोपद्रवहारकं मेने ॥ १५८ ॥

कालज्ञ नरेन्द्र (विषवैद्य) क्षत्रपति ने भी सन्धि-वार्ता को औषधि के समान कटु होते हुए भी विषकल्प उपद्रव (मुगलसेना के उपद्रव) के निवारण के लिए पथ्यकारी, गुणकारी माना ॥ १५८ ॥

सहितः पञ्चषैः शिष्टैर्नक्षत्रैर्भूसुरैरिव ।
अम्बरेशाम्बरावासे रेजे द्विजपतिः शिवः ॥१५९॥

द्विजपतिः शिवः नक्षत्रैः इव पञ्चषैः शिष्टैः भूसुरैः सहितः अम्बरेशाम्बरावासे रेजे ॥ १५९ ॥

पाँच-छः विनयशील नक्षत्रों के समान ब्राह्मणों के साथ द्विजराज चन्द्रमा के समान क्षत्रपति आमेर के अधिपति जयसिंह के अम्बरावास (तम्बू या आकाश-रूपी निवास) में शोभित हुए ॥ १५९ ॥

बलाधीशोपचरितं तं विलोक्य निरायुधम् ।
लज्जयेव प्रहरिणो निनिन्दुः संशयत्वराम् ॥१६०॥

बलाधीशोपचरितं तं निरायुधं विलोक्य प्रहरिणः संशयत्वरां लज्जया निनिन्दुः इव ॥ १६० ॥

बलाधीश से समादृत उस क्षत्रपति को शस्त्रविहीन देखकर प्रहरियों ने लज्जित होकर अपनी संशयपूर्ण बौखलाहट को धिक्कारा। वस्तुतः अफजलखाँ तथा शायिस्ता-खान की दुर्गति के कारण प्रहरी सशंकित थे तथा अस्त्र-शस्त्रों से सन्नद्ध हो भावी दुर्घटना को रोकने के लिए दृढ़ थे ॥ १६० ॥

कीनाशभटसंकाशदिल्लीशबलधर्षितः ।
पुरन्दरः शिवालोके व्यथां जीवो यथाऽमुचत् ॥१६१॥

कीनाशभटसंकाशदिल्लीशबलधर्षितः पुरन्दरः शिवालोके जीवः यथा व्यथाम् अमुचत् ॥ १६१ ॥

यमराज के दूतों के समान दिल्लीपति के सैनिकों से आक्रान्त पुरन्दर ने शिवाजी महाराज (शंकर के आलोक) को देखकर जीव के समान व्यथा से त्राण सा प्राप्त किया ॥ १६१ ॥

सर्वथाहिमुखाग्रेऽपि रिरक्षुः संस्थितिं सताम् ।
खण्डोपरागमासेव्य राजा दुर्योगमातरत् ॥१६२॥

सर्वथा हि मुखाग्रे (सर्वथाऽहिमुखाग्रे) अपि सतां सस्थितिं रिरक्षुः राजा खण्डोप-रागम् आसेव्य दुर्योगम् आतरत् ॥ १६२ ॥

सब प्रकार से अहि (सर्प, राहु) के मुख के सामने होते हुए भी सज्जनों की रक्षा के लिए राजा (चन्द्रमा) ने खण्डग्रहण स्वीकार करके किसी प्रकार उस भयंकर दुर्योग को, स्थिति को पार किया। जयसिंह की शर्तें सर्वग्रासी थीं किन्तु क्षत्रपति ने कुछ किलों को सौंपकर तथा बीजापुर के विरुद्ध दिल्ली की सहायता करना स्वीकार कर जयसिंह को सन्तुष्ट किया ॥ १६२ ॥

सहायमानः सबलां दिल्लीं बीजापुरासहाम् ।
बलवद्विषदोरेकां विवशामकरोच्छ्रियम् ॥१६३॥

बीजापुरासहां सबलां दिल्लीं सहायमानः बलवद्द्विषदोः एकां श्रियं विवशाम् अकरोत् ॥ १६३ ॥

इस प्रकार बीजापुर की राज्यस्थिति को न सहनेवाली सबल, शक्तिपूर्ण दिल्ली की सहायता करते हुए क्षत्रपति ने दो बलवान् शत्रुओं में से एक की राज्यलक्ष्मी को अतिशय विकल, विवश कर दिया ॥ १६३ ॥

धुरीणोऽखिलशस्त्राणां प्रष्ठोऽरातिनिषूदने ।
स्वकृतैः फलयामास जयसिंहमनोरथम् ॥१६४॥

अखिलशस्त्राणां धुरीणः अरातिनिषूदने प्रष्ठः स्वकृतैः जयसिंहमनोरथं फलयामास ॥१६४॥

हर तरह के शस्त्र-सञ्चालन में सर्वथा निपुण, शत्रु के विनाश में प्रथितकीर्ति क्षत्रपति ने अपने शौर्यपूर्ण कार्यों से मिर्जा राजा जयसिंह के मनोरथ को सफल बना दिया ॥ १६४ ॥

तस्मिन् प्रसादभूयिष्ठं जयसिंहमनर्गलाः ।
तुन्दपरिमृजो वीक्ष्य सेर्ष्याक्षमुपतस्थिरे ॥१६५॥

जयसिंहं तस्मिन् प्रसादभूयिष्ठं वीक्ष्य अनर्गलाः तुन्दपरिमृजः सेर्ष्याक्षम् उपतस्थिरे ॥१६५॥

[दिलेर खान आदि जयसिंह के अधीन रहनेवाले सेनापति चाहते थे कि जयसिंह शिवाजी महाराज के प्रति कड़ाई करें किन्तु क्षत्रपति के गुणों से परितुष्ट जयसिंह ने उनका सदा ही सम्मान किया। इसीलिए मुसलमान अधिकारी जयसिंह से रुष्ट थे तथा अधीन रहते हुए भी वे भलीभाँति जानते थे कि दिल्ली दरबार उनकी उद्दण्डता के लिए उन्हें दण्डित नहीं करेगा। इसीलिए वे जयसिंह से विशेष भयभीत भी नहीं थे।] गुणग्राही जयसिंह को क्षत्रपति के प्रति विशेष औदार्यपूर्ण देखकर तोंद पर हाथ फेरनेवाले उद्दण्ड मुसलमान सेनापतियों ने ईर्ष्यापूर्ण दृष्टि से जयसिंह का आदेश माना। अनिच्छापूर्वक आज्ञापालन करते रहे।] ॥ १६५ ॥

आसनस्थितयोऽप्येनं वाजिनोऽनृजवो यथा ।
कशाभिघातमर्मज्ञं कृच्छ्रेणैव सिषेविरे ॥१६६॥

आसनस्थितयः अपि अनृजवः वाजिनः यथा कशाभिघातमर्मज्ञम् एनं कृच्छ्रेण एव सिषेविरे ॥ १६६ ॥

अड़ियल घोड़ों के अनेक समान वे अधीनस्थ सेनापति अपने विशिष्ट पदों पर रहकर भी (सवारी करनेयोग्य होकर भी, आसनस्य आरोहणस्य स्थितिः येषु ते) जयसिंह के दृढ़ स्वभाव के (चाबुक प्रताडित करने में दक्षतापूर्ण स्वभाव के) कारण ही किसी प्रकार अनिच्छापूर्वक आज्ञापालन कर रहे थे [महाराज शिवाजी का बढ़ता प्रभाव उन्हें ईर्ष्या से दग्ध कर रहा था। वे इस स्थिति से असन्तुष्ट थे तथा अधीनस्थ सैन्य कर्मचारियों में भी इस विष के फैलने का संकट बढ़ता जा रहा था।] ॥ १६६ ॥

विप्लवावर्तवशगां वाहिनीं वीक्ष्य वाहुजः ।
शिवस्य स्वबलस्यापि श्रद्दधे न मिथः स्थितिम् ॥१६७॥

बाहुजः वाहिनीं विप्लवावर्तवशगां वीक्ष्य शिवस्य स्वबलस्य अपि मिथः स्थितिं न श्रद्दधे ॥ १६७ ॥

राजा जयसिंह ने अपनी सेना में अन्तर्विस्फोट, वैमनस्य की दरार को बढ़ते देखकर उसके शमन के लिए क्षत्रपति तथा अपनी सेना को एक साथ रखना उचित न समझा। उन्होंने दूरदर्शितापूर्वक क्षत्रपति का उनकी सेना के साथ अलग प्रबन्ध कर दिया ॥ १६७ ॥

निरन्तरायविजयक्रतुसम्भारपूर्तये ।
दक्षिणाशाप्रजाधीशमैच्छद् दिल्लीशसम्मुखम् ॥१६८॥

निरन्तरायविजयक्रतुसम्भारपूर्तये दक्षिणाशाप्रजाधीशं दिल्लीशसम्मुखम् ऐच्छत् ॥१६८॥

यहीं नहीं, जयसिंह को ऐसा प्रतीत हुआ कि क्षत्रपति की उपस्थिति मात्र से ही उनके अधीनस्थ मुसलमान सेनापति बौखला जाते हैं तथा अनर्थ का संशय भी था (कहीं तुर्क सेनापति शिवाजी पर ही आक्रमण न कर दें) इसलिए अपने दक्षिण-सम्बन्धी विजय-यज्ञ की समुचित पूर्णता के लिए, उसे निर्विघ्न बनाने की इच्छा से राजा जयसिंह ने आग्रह किया कि क्षत्रपति आगरा दरबार में जाकर बादशाह औरङ्गजेब से मुलाकात कर लें [इस प्रकार दोनों कार्य सम्पन्न हो जाते—शिवाजी की अनुपस्थिति में एक कमाण्ड के अन्दर सम्पूर्ण सेनायें बीजापुर का विनाश करतीं तथा क्षत्रपति के आगरा जाने के कारण बादशाह भी उनके प्रति सद्भावनापूर्ण हो जाता।] ॥ १६८ ॥

जयसिंहानुशिष्टोऽसौ दिल्लीशोऽपि शिवस्थितिम्।
मेने कौतूहलोत्फुल्लः छायामिव जयश्रियः ॥१६९॥

जयसिंहानुशिष्टः असौ कौतूहलोत्फुल्लः दिल्लीशः अपि शिवस्थितिं जयश्रियः छायाम् इव मेने ॥ १६९ ॥

जयसिंह के समझाने-बुझाने पर कौतूहल से विकसित दिल्लीपति उस अवरङ्गजेब ने भी क्षत्रपति की स्थिति को विजयलक्ष्मी के प्रतिबिम्ब के समान, प्रतिकृति के समान माना। अवरङ्गजेब को प्रतीत हुआ कि जिसके पक्ष में महाराष्ट्र वीर क्षत्रपति रहेंगे उसी की विजय होगी [जयसिंह ने अपने पत्रों में क्षत्रपति की निष्ठा का बखान भी किया था।] ॥ १६९ ॥

शतशः शपथैर्वीरं समाश्वास्य बलाधिपः ।
जयसिंहोऽहरच्छङ्कां दिल्लीशे शिववर्तिनाम् ॥१७०॥

बलाधिपः जयसिंहः वीरं शतशः शपथैः समाश्वास्य दिल्लीधे शिववर्तिनां शङ्काम् अहरत् ॥ १७० ॥

सैकड़ों तरह से शपथों द्वारा सेनापति राजा जयसिंह ने वीर क्षत्रपति को आश्वस्त करके कल्याणकामियों (शिवाजी के अनुगामियों) की दिल्लीपति अवरंगजेब में उनकी आशंका, अविश्वास को दूर किया। जयसिंह ने विश्वास दिलाया कि दिल्ली क्षत्रपति के प्रति साधुबुद्धि रहेगी ॥ १७० ॥

अकालजलदस्तब्धाः कर्षका इव मन्त्रिणः ।
करकायोगसङ्घातं महाराष्ट्रे व्यचिन्तयन् ॥१७१॥

अकालजलदस्तब्धाः कर्षकाः इव मन्त्रिणः महाराष्ट्रे करकायोगसङ्घातं व्यचिन्तयन्॥१७१॥

क्षत्रपति के मन्त्रियों ने इस अप्रत्याशित राजनीतिक मोड़ को देखकर भयंकर अमंगल की आशंका की। जिस प्रकार असमय में आसमान को सहसा मेघाच्छादित देखकर किसान स्तब्ध हो जाता है तथा ओलों के गिरने को आशंका से अपनी हरी-भरी खेती के विध्वंस होने के भय से चिन्ता-सन्तप्त हो जाता है उसी प्रकार मन्त्रियों का हृदय भी महाराष्ट्र में आनेवाली विपत्ति की चिन्ता से सन्तप्त हो उठा ॥ १७१ ॥

एकपुत्राऽपि जननी देवी जीजावती स्वयम् ।
विरूढसंशयं छेत्तुं श्रद्धेवाभिदधौ पुरः ॥१७२॥

एकपुत्रा अपि जननी देवी जीजावती स्वयं श्रद्धा इव विरूढसंशयं छेत्तुं पुरः अभिदधौ ॥ १७२ ॥

यद्यपि माता जीजावती को (क्षत्रपति के रूप में) एक ही औरस पुत्र था फिर भी इस आशंका को (आगरा जाने में क्षत्रपति के जीवन के संशय को) उखाड़ फेकने के लिए वे स्वयं श्रद्धा की प्रतिमूर्ति के समान बोलीं ॥ १७२ ॥

भवद्भिः सन्धिसम्बद्धैः सपत्नवशगैरपि ।
कथं सन्दिह्यते दिल्लीपतिर्निर्हेतुशङ्किभिः ॥१७३॥

सन्धिसम्बद्धैः सपत्नवशगैः अपि निर्हेतुशङ्किभिः भवद्भिः दिल्लीपतिः कथं सन्दिह्यते ॥ १७३ ॥

आप लोगोंने सन्धि की है, नियमों से सम्बद्ध हैं और प्रबल शत्रु के वशवर्ती हैं, फिर अकारण दिल्लीपति को सन्देह की दृष्टि से क्यों देख रहे हैं ॥ १७३ ॥

किं तत्कर्तुं क्षमो नाऽसौ भवतामत्र यत्नवान् ।
यत्कृते स्वान्तिकं द्रष्टुमीहते यमुनातटे ॥१७४॥

किं यत्नवान् असौ अत्र भवतां तत्कर्तुं न क्षमः यत्कृते स्वान्तिकं यमुनातटे (युष्मान्) द्रष्टुम् ईहते ? ॥ १७४ ॥

यथार्थ दृष्टि से देखें। शक्तिशाली दिल्लीपति यदि क्षत्रपति का अनिष्ट करना ही चाहता है और इसीलिए यमुना के तट पर बसे आगरा में बुलाता है तो वह कार्य तो यहीं पर इस महाराष्ट्र में भी शक्ति के बल पर वह कर ही सकता है। [केवल क्षत्रपति का अमगल ही दिल्ली को अभीष्ट हो तो वह यहाँ भी दिल्ली कर सकती है, आगरा में अपने पास बुलाने की कोई आवश्यकता न थी। अतः अकारण आशंका उचित नहीं।] ॥ १७४ ॥

स्वीकार्यैव व्यवहारे श्रद्धा कल्याणजीवितैः।
निर्निमित्ताश्रितातङ्का नातुराः स्वास्थ्यसेवने ॥१७५॥

कल्याणजीवितैः व्यवहारे श्रद्धा स्वीकार्या एव, निर्निमित्ताश्रितातङ्काः आतुराः स्वास्थ्य-सेवने न (क्षमाः) ॥ १७५ ॥

कल्याणकामी को व्यवहार-क्षेत्र में श्रद्धा को स्वीकार करना ही चाहिए। अकारण आशंका करनेवाले आतुर स्वभाववाले प्राणी कभी स्वस्थचेता नहीं हो सकते [ऐसे प्राणी जो अकारण ही यह सोचकर कि, मैं बीमार हूँ' चिन्ता-ग्रस्त रहते हैं, सचमुच आन्तरिकदृष्ट्या रोगी हो जाते हैं तथा स्वस्थ नहीं रह पाते ॥ १७५ ॥

स्वसहायिप्रतिष्ठोऽपि शङ्कितोऽपि क्षमः किमु।
विरोद्धुं देहलीभर्ता जयसिंहं मनस्विनम् ॥१७६॥

स्वसहायिप्रतिष्ठः अपि शङ्कितः अपि देहलीभर्ता मनस्विनं जयसिंहं विरोद्धुं क्षमः किमु ? ॥ १७६ ॥

अपने सहायकों की प्रतिष्ठा करनेवाला दिल्लीपति यदि क्षत्रपति से शंकित है, असाधुबुद्धि रखता है, तब भी क्या वह मनस्वी राजा जयसिंह का विरोध कर सकेगा ॥ १७६ ॥

विदूरादद्रिशिखरं दुर्गमं यद्विभाव्यते।
बद्धकक्ष्याय सहठं तदर्पयति पद्धतिम् ॥१७७॥

यत् अद्रिशिखरं विदूरात् दुर्गमं विभाव्यते तत् एव बद्धकक्ष्ये हठात् पद्धतिम् अर्पयति ॥ १७७ ॥

दूर से देखने पर जो पर्वतशिखर दुर्गम, दुर्लंघ्य दिखायी पड़ता है वही संकल्पवान् प्राणी के लिए, चढ़ने के लिए बद्धपरिकर व्यक्ति के लिए तुरत मार्ग दिखाने लगता है [अतः दूर से औरंगजेब भले निष्ठुर प्रतीत होते हों, पास जाने पर उनमें भी शालीनता एवं उदारता का अभाव न होगा।] ॥ १७७ ॥

प्रत्येकस्य लोकेऽपि सर्वैरेवात्र पुत्रिणी।
शिवं प्रतिदिशं भद्राः पश्यामीवार्यभूसुते ॥१७८॥

भद्राः ! लोके एकस्य अपि प्रसूः सर्वैः एव पुत्रिणी (अहं) आर्यभूसुते प्रतिदिशं शिवम् इव पश्यामि ॥ १७८ ॥

संसार में यद्यपि मैं एक ही पुत्र की प्रसू हूँ तथापि मैं सबको ही सुतनिर्विशेष भाव से मानती हूँ। भद्रजनो, मैं आर्यभूमि की सन्तानों में सर्वत्र अपने क्षत्रपति को ही उपस्थित पाती हूँ। [आशय यह है कि मेरा एक ही पुत्र है, यह सोचकर भी मैं मिथ्या मोह में पड़कर इस अकारण शङ्का को अपने हृदय में स्थान नहीं देती। सन्मार्ग पर पैर रखनेवाले को श्रद्धा में प्रतिष्ठित होना ही पड़ेगा और क्षत्रपति ही क्यों, आर्य देश का प्रत्येक युवक उतना ही मूल्यवान् है। फिर हम कबतक शंकित रहकर यथार्थ से कतराते रहेंगे।] ॥ १७८ ॥

स्वराष्ट्रस्य प्रतिष्ठाता परावृत्य द्विषद्गृहात् ।
विवेककौशलोत्साहैर्बिभर्तु वसुधाश्रियम् ॥१७९॥

द्विषद्गृहात् परावृत्य स्वराष्ट्रस्य प्रतिष्ठाता विवेककौशलोत्साहैः वसुधाश्रियं बिभर्तु ॥ १७९ ॥

शत्रु के गृह से वापस आकर स्वाराष्ट्र का संस्थापक क्षत्रपति अभिनव विवेक, कौशल तथा उत्साह की अनुभूति से समृद्ध होकर इस देशलक्ष्मी का संवर्धन, सुरक्षा एवं प्रतिष्ठा करे ॥ १७९ ॥

शिरसा ववन्दे मातुश्चरणावदितेरिव ।
वर्धयन्ननुगाञ्जिष्णुर्मुक्तशङ्कः सुरप्रभान् ॥१८०॥

सुरप्रभान् अनुगान् वर्धयन् मुक्तशङ्कः जिष्णुः अदितेः इव मातुः चरणौ शिरसा ववन्दे ॥ १८० ॥

विजयशील क्षत्रपति ने अदिति के समान पूजनीया जननी के चरणों में शिर रखकर वन्दना की। तथा शङ्कारहित होकर देवताओं के समान यशस्वी अनुजीवियों का उत्साह-संवर्धन किया ॥ १८० ॥

सिंहः सिंहानुनीतोऽसौ प्रच्छन्नमपि जालकम् ।
न शशङ्के प्रतीतिस्थो मन्यमानः तृणं यथा ॥१८१॥

सिंहानुनीतः प्रतीतिस्थः असौ सिंहः प्रच्छन्नं जालकम् अपि तृणं यथा मन्यमानः न शशङ्के ॥ १८१ ॥

सिंह द्वारा आदरपूर्वक निमन्त्रित होकर उस सिंह ने (क्षत्रपति ने) उस प्रच्छन्न जाल को भी तृण के समान ही माना और तनिक भी शङ्का न की। [क्षत्रपति के मानस में कहीं न कहीं यह भावना तो थी ही कि भले ही मिर्जा राजा जयसिंह सर्वथा शुद्धचेता हैं तथा मर्यादा का ध्यान रखते हैं किन्तु बादशाह पर उन्हें भरोसा नहीं ही था। फिर भी अनागत की चिन्ता से उद्विग्न न होकर उन्होंने अपने विवेक एवं श्रद्धा आदि पर भरोसा किया।] ॥ १८१ ॥

बलोत्साहनिधानस्तं शम्बरं शम्बरालये ।
रौक्मिणेयो यथा द्रष्टुं तेनेऽपूर्वमनोरथम् ॥१८२॥

रौक्मिणेयः यथा तं शम्बरं शम्बरालये द्रष्टुम् (असौ) बलोत्साहनिधानः अपूर्व-मनोरथं तेने ॥ १८२ ॥

शक्ति एवं उत्साह के धनी, रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न के समान उस क्षत्रपति ने शम्बरासुर (मायावी औरंगजेब) को शम्बरालय (राजधानी आगरा) में ही देखने के लिए मन में अपूर्व मनोरथ को प्रतिष्ठित किया [शम्बरासुर अत्यन्त मायावी था। उसने प्रद्युम्न को आत्महन्ता समझकर पैदा होते ही सूतिका गृह से उठा लिया तथा समुद्र में फेंककर निश्शंक हो गया कि शत्रु मर गया। किन्तु मछली द्वारा निगल लिए जाने पर बालक उसके पेट में पलता रहा। मछली के साथ ही वह शम्बरासुर के रसाइयों को मछली का पेट फाड़ने पर मिला शम्बरासुर के यहाँ ही पलकर उसने समय आने पर उसे ललकारकर द्वन्द्वयुद्ध में मार डाला तथा द्वारकापुरी लौटकर माता-पिता को आनन्दित किया।] ॥ १८२ ॥

महाराष्ट्रे मितारम्भात् सन्धिबद्धो वसन्नपि ।
अनुद्यमकृशो राजा न ननन्द निजां स्थितिम् ॥१८३॥

महाराष्ट्रे वसन् अपि सन्धिबद्धः मितारम्भात् अनुद्यमकृशः राजा निजां स्थितिं न ननन्द ॥ १८३ ॥

[आगरा के लिए प्रस्थित होने में भी एक उचित मनोवैज्ञानिक कारण था।] सन्धिबद्ध हो जाने के कारण क्षत्रपति महाराष्ट्र में रहते हुए भी अपनी शौर्यमूलक गतिविधि में पहले के समान स्वतन्त्र नहीं थे। उनका कार्यक्षेत्र संकुचित हो गया था। सन्धि के ही कारण उन पर अनुद्यमजन्य कुण्ठा प्रभावी हो रही थी इसलिए भी महाराष्ट्र में क्षत्रपति अपनी स्थिति से सन्तुष्ट न थे। यह भी कारण है कि वे आगरा जाने के लिए विशेष उत्सुक हो गये ॥ १८३ ॥

राजलोकान् दिदृक्षुः सः करदानार्यमानिनः ।
आकृष्टः कौतुकात् सेहे न निरोद्धुं मनोरथम् ॥१८४॥

आर्यमानिनः करदान् राजलोकान् दिदृक्षुः कौतुकात् आकृष्टः सः मनोरथं निरोद्धुं न सेहे ॥ १८४ ॥

क्षत्रपति के मन में उत्तरभारत के उस राजकुल को देखने की बड़ी लालसा थी जो अपने को आर्य सन्तान कहता था फिर भी कर देकर गुलामों के समान दरबारी बनकर गर्व करता था। इसी कौतूहल से आकृष्ट होकर वे आगरा जाने के मनोरथ को नियन्त्रित न कर सके ॥ १८४ ॥

अनन्दितानुबन्धां तां दुर्गलक्ष्मीं जलाम्बराम् ।
जञ्जीरामपि मेनेऽसौ दिल्लीशोपायनीकृताम् ॥१८५॥

अनन्दितानुबन्धां जलाम्बरां दुर्गलक्ष्मीं जञ्जीराम् अपि असौ दिल्लीद्योपायनीकृतां मेने ॥ १८५ ॥

जंजीरा का टापू क्षत्रपति की नौसेना का दुर्ग था। चारों ओर पानी से घिरे उस दुर्जय द्वीप में एक दुर्ग भी था। जंजीरा के दुर्गपाल ने सन्धि को नहीं माना तथा मुगलों की नौसेना से लोहा लेता रहा। जाने के पूर्व सद्भाव-प्रदर्शन के लिए क्षत्रपति ने जंजीरा के किले को भी दिल्ली के लिए भेंट के रूप में अर्पित कर दिया ॥ १८५ ॥

राष्ट्रपीठे प्रतिष्ठाप्य जीजादेवीं स्वमातरम् ।
मन्त्रिणामिव देवानां त्रयीं तद्विधिवर्तिनीम् ॥१८६॥
नियोज्य धुरि राष्ट्रस्य स्वविरहाकुलात्मनः ।
दुर्गपान् सैनिकांश्चारानाश्वास्य रहसि स्थिरम् ॥१८७॥

स्वमातरं जीजादेवीं राष्ट्रपीठे प्रतिष्ठाप्य तद्विधिवर्तिनीं देवानाम् इव मन्त्रिणां त्रयीम् ॥ १८६ ॥

स्वविरहाकुलात्मनः राष्ट्रस्य धुरि नियोज्य रहसि दुर्गपान् सैनिकान् चारान् स्थिरम् आश्वास्य ॥ १८७ ॥

राष्ट्र के मुख्यासन पर माता जीजाबाई को प्रतिष्ठित करके उनकी सहायता के लिए देवताओं के समान यशस्वी तीन मन्त्रियों को अपने (क्षत्रपति के) वियोग में व्याकुल आत्माबाले राष्ट्र के शासन में नियोजित कर दुर्गपालों, सैनिकों एवं गुप्तप्रणिधियों को एकान्त में भलीभाँति आश्वस्त करके ॥ १८६-१८७ ॥

मुख्यद्वित्रिसहस्रेण देशकालार्हबुद्धिना ।
शस्त्रशास्त्रैकतीर्थेन सेव्यमानो नराधिपः ॥१८८॥

देशकालार्हबुद्धिना शस्त्रशास्त्रैकतीर्थेन मुख्यद्वित्रिसहस्रेण सेव्यमानः नराधिपः ॥१८८॥

देश-काल के अनुरूप बुद्धिवाले, शस्त्र एवं शास्त्र, दोनों में सर्वथा सम्मानित दो-तीन हजार अन्तरङ्ग राज्यभक्त अधिकारियों एवं सैनिकों से सेवित प्रजानाथ क्षत्रपति, ॥ १८८ ॥

शिबिराच्छिबिरं गच्छन् नव्याध्वपुरकौतुकी ।
निजासनं विरचयन् लोकानां स्निग्धमानसे ॥१८९॥

नव्याध्वपुरकौतुकी शिबिरात् शिबिरं गच्छन् लोकानां स्निग्धमानसे निजासनं विरचयन् ॥ १८९ ॥

मार्ग में पड़नेवाले नये-नये मार्गों-नगरों को कौतूहलपूर्वक देखते हुए, एक पड़ाव से दूसरे पर चलते, लोगों के सरल अनुरागपूर्ण हृदय में अपना स्थान बनाते हुए, ॥ १८९ ॥

सुवर्णविभवाम्बुर्वीं पूर्वजस्मृतिनन्दिनीम् ।
निगूढं परितः पश्यन् वनशैलपुराकराम् ॥१९०॥

वनशैलपुराकरां पूर्वजस्मृतिनन्दिनीं सुवर्णविभवाम् उर्वीं परितः निगूढं पश्यन् ॥१९०॥

पूर्वजों की स्मृति को पुनरुज्जीवित करनेवाली, उत्तम धन-सम्पत्ति से परिपूर्ण नगरों, जंगलों, पर्वतों से भरी पृथ्वी को सूक्ष्म दृष्टि से चारों ओर देखते हुए, ॥ १९० ॥

प्रणिपातेन वचसा श्लक्ष्णेन विदुषः कृती ।
उत्साहैर्नन्दयन् यूनो हेमवृष्ट्याऽऽपदातपान् ॥१९१॥

कृती प्रणिपातेन श्लक्ष्णेन वचसा विदुषः उत्साहैः यूनः हेमवृष्ट्या आपदातपान् नन्दयन् ॥ १९१ ॥

यशस्वी क्षत्रपति ने प्रणाम एवं मधुर वाणी से विद्वानों को, उत्साहपूर्ण भावों से युवकों को तथा सुवर्णवृष्टि से आपद्ग्रस्त जनों को आनन्दित करते हुए, ॥ १९१ ॥

प्रविविक्षुः स्वदुर्गेऽपि रुद्धद्वारि नियन्त्रितः ।
विभाते वर्धयन् हृष्टो दुर्गपालं हृतं ह्रिया ॥१९२॥

प्रविविक्षुः अपि रुद्धद्वारि स्वदुर्गे नियन्त्रितः, हृष्टः विभाते ह्रिया हृतं दुर्गपालं वर्धयन् ॥ १९२ ॥

बन्द फाटकवाले अपने किले में भी प्रवेश करने की इच्छा रखते हुए भी बाहर ही रोक दिये जाने पर सबेरे उन्हें पहचानकर लज्जा से नीचे मुख किये दुर्गपाल का उसके कर्तव्यपालन के लिए मानवर्धन करते हुए, [क्षत्रपति दुर्ग का प्रधान द्वार बन्द हो जाने पर अपने किले के पास पहुँचे, किन्तु पूर्वसूचना के अभाव में रक्षकों ने फाटक नहीं खोला तथा उन्हें बाहर ही रात बितानी पड़ी। प्रातःकाल जब दुर्गपाल ने उन्हें देखा तो उसे घोर लज्जा एवं ग्लानि हुई किन्तु क्षत्रपति महाराज उसकी कर्तव्य-निष्ठा पर अत्यत प्रसन्न थे। उन्होंने कर्तव्यनिष्ठा के लिए दुर्गपाल को पुरस्कार द्वारा सम्मानित किया।] ॥ १९२ ॥

महितो मातृतपसा वर्मणेवाक्षतेन सः ।
आशीर्वचनसम्भारमलङ्कारमिवाश्रयन् ॥१९३॥

अक्षतेन वर्मणा इव मातृतपसा महितः सः आशीर्वचनसम्भारम् अलङ्कारम् इव आश्रयन् ॥ १९३ ॥

अक्षय कवच के समान माँ जीजाबाई की तपस्या से मण्डित, आशीर्वादपूर्ण वचनों के सम्भार को अलंकार के समान श्रद्धापूर्वक धारण करते हुए, ॥ १९३ ॥

चारार्पितवचस्साक्ष्यमाबिभ्रत् पार्थिवोत्तमः ।
उपकण्ठं पुरः प्राप दिल्लीसापत्न्यरोचिषः ॥१९४॥

चारार्पितवचस्साक्ष्यम् बाबिभ्रत् पार्थिवोत्तमः दिल्लीसापत्न्यरोचिषः पुरः उपकण्ठं प्राप ॥ १९४ ॥

अपने गुप्तचरों द्वारा प्रेषित सन्देश के साक्ष्य को सविधि ग्रहण करते हुए इस प्रकार महाराज क्षत्रपति, अपने तेजपूर्ण वैभव से दिल्ली की स्पर्द्धा करनेवाली पुरी के समीप पहुँच गये ॥ १९४ ॥

[1]जयसिंहसुतस्निग्धविनयाचारनन्दिनः ।
ग्रीष्मतापोऽपि शैथिल्यमतिथेरन्वभूदिव ॥१९५॥

जयसिंहसुतस्निग्धविनयाचारनन्दिनः अतिथेः ग्रीष्मतापः अपि शैथिल्यम् इव अन्वभूत् ॥ १९५ ॥

[मिर्जा राजा जयसिंह ने पत्र द्वारा अपने पुत्र रामसिंह को क्षत्रपति के यथोचित आतिथ्य के लिए नियुक्त कर रखा था। युवक रामसिंह ने विधिपूर्वक आगरा से दो कोस आगे बढ़कर महाराज शिवाजी की अगवानी की तथा उनको लेकर उनके ठहरने के स्थान पर आये। उनके विनय-सत्कार आदि ने क्षत्रपति को मार्गश्रम से सर्वथा मुक्त कर दिया।] राजा जयसिंह के पुत्र के प्रेमपूर्ण, विनयशील व्यवहार ने राजेन्द्र क्षत्रपति को इतना प्रसन्न किया कि उनके आतिथ्य से अतिथि के ग्रीष्मताप ने (रास्ते की थकान तथा आगरे की गर्मी ने) अत्यन्त शैथिल्य का अनुभव किया—ग्रीष्म ताप दूर हो गया ॥ १९५ ॥

वैजयन्तप्रभावर्षिनिकेतरचितावलिम् ।
प्रजाव्रजबलोत्सङ्गां यमुनाकूलसेविनीम् ॥१९६॥
आगरां वीक्षमाणोऽसौ देवावनिमिवोदिताम् ।
स्ववासेनेतिहासार्हामकरोद्वसतिं नृपः ॥१९७॥

वैजयन्तप्रभावर्षिनिकेतरचितावलिं प्रजाव्रजबलोत्सङ्गां यमुनाकूलसेविनीम् ॥ १९६ ॥
देवावनिम् इव उदिताम् आगरां वीक्षमाणः असौ नृपः स्ववासेन इतिहासार्हां वसतिम् अकरोत् ॥ १९७ ॥

वैजयन्त (इन्द्र के भवन) की कान्ति विकीर्ण करनेवाली अट्टालिकाओं की पंक्तियों से सुशोभित प्रजागण एवं सेना से सनाथित गोदवाली यमुना की तटवर्ती भूमि में बसी हुई ॥ १९६ ॥

पृथिवी पर स्वर्ग के समान उदित आगरा नगरी को देखते हुए महाराज क्षत्रपति ने अपने निवास द्वारा अपने निवासस्थल को ऐतिहासिक गौरव से अलंकृत कर दिया ॥ १९७ ॥

१. दिल्लीपतेः सभायाम् रामसिंहाभिधो जयसिंहसुतः द्विसाहस्रिकपदस्थितिधरः (दो-हजारी मनसबदार) आसीत्। स एव जयसिंहेन क्षत्रपतेरातिथेयो नियुक्तः। रामसिंहः स्वविनयसम्भरेण व्यवहारेण क्षत्रपतिं परितोष्य निवासस्थाने ससम्मानं न्यवासयत्।

इत्थं प्रविश्य नगरीमवरङ्गजुष्टां
मातुर्गुरोश्च चरणौ हृदये निधाय ।
शौरिर्यथा कुटिलनीतिभृतः समायाः
प्रत्यैक्षतेष्टसमयं शिवराजभूपः ॥१९८॥

इत्थम् अवरङ्गजुष्टां नगरीं प्रविश्य मातुः गुरोः च चरणौ हृदि निधाय शौरिः यथा शिवराजभूपः कुटिलनीतिभृतः समायाः इष्टसमयं प्रत्येक्षत ॥ १९८ ॥

इस प्रकार माता जीजाबाई तथा गुरु समर्थ महाराज के चरणों को हृदय में धारण कर, औरंगजेब बादशाह से सेवित आगरा नगरी में प्रवेश करके, कुटिल नीतिवाले दिल्लीपति की सभा के उचित समय की महात्मा कृष्ण के समान राजेन्द्र क्षत्रपति प्रतीक्षा करने लगे [दुर्योधन अत्यन्त कुटिल अन्यायपूर्ण नीति का उपासक था। पाण्डवों को ओर से दूत बनकर भगवान् कृष्ण दुर्योधन की सभा में उपस्थित हुए थे।]॥ १९८ ॥

इति श्रोत्रिपाठचुपाह्वेन उमाशङ्करशर्मणा विरचिते
क्षत्रपतिचरित-महाकाव्ये द्वादशः सर्गः ।

अथ त्रयोदशः सर्गः

[इस सर्ग की विशेष स्थिति है। प्रायः संस्कृत काव्यों में परम्परा के अनुसार अथवा महाकाव्य-लक्षण को सार्थक करने के लिए कवि महानुभावों ने सायं प्रातःवर्णन, पुष्पावचयन, जलकेलि, शृङ्गार आदि का वर्णन किया है। काव्य को चतुर्वर्गफलप्राप्ति का साधन मानकर परवर्तियों ने बहुधा इन वर्णनों का सन्निवेश कुरुचिपूर्ण ढंग से किया है। आदिकवि, कालिदास, अश्वघोष आदि को आदर्श न मानकर भारवि, माघ आदि की अनुकृति में ही कविजनों ने अस्तित्व-रक्षा का सरल उपाय देखा। फलस्वरूप अकाण्ड-प्रथन में तीन-चार सर्गों का अपव्यय हो जाता है तथा काव्य-लक्ष्य विस्मृत सा प्रतीत होने लगता है। कवि ने चेष्टापूर्वक उन दोषों की पुनरावृत्ति से 'क्षत्रपति' को मुक्त रखा है। विनोद, परिहास का जीवन से अटूट सम्बन्ध है तथा कविकृति में उसे समुचित स्थान मिलना ही चाहिए। हाँ, यह अवश्य है कि वह अस्वाभाविक न हो। आगरा नगर मुगलकाल में अपने वैभव के लिए विख्यात था। आगरा की गलियाँ कुबेरपुरी-सी प्रतीत होती थीं। नगर-भ्रमण के माध्यम से परिहास-विनोद का सुरुचिपूर्ण आयोजन प्रस्तुत है। यथार्थतः आधुनिक समाज के कुछ नानारूपधर आडम्बरी दम्भियों को ही उस समाज पर आरोपित कर दिया गया है। समाज के ये मिथ्याचारी प्रत्येक युग में रहते हैं तथा देश-काल-निरपेक्ष हैं। मानना चाहिए कि मुगल-काल में भी ये सुलभ रहे होंगे। हाँ, आज के समाज में ये सफेदपोश किसी भी गली में नुक्कड़ पर कहीं भी आपको अनायास मिल जायेंगे। इस प्रकार मध्यकालीन परम्परा की अवहेलना करके परिहास के लिए दूसरा उपाय अपनाया गया है। फलस्वरूप हास के क्षेत्र का विस्तार हुआ है तथा उत्कृष्टता में भी यह हास पूर्ववर्तियों से अधिक तीखा, व्यंग्यपूर्ण एवं प्रभावकारी है। यही नहीं, स्वाभाविकता के कारण हास्य के साथ ही साथ अन्य विषय भी अंगभाव से वर्णित हैं। ताजमहल, कोयल, यमुना, मराठे आदि की स्थिति इसी तरह की है। जलकुम्भ लेकर जाती हुई स्त्रियाँ, कन्धे पर हल लिए हलवाहे आदि ऐसे दृश्य हैं जो बरबस स्वाभाविकता उपस्थित कर देते हैं। संस्कृत साहित्य में इस तरह हास्यादि के लिए अभिनव अवतारणायें स्वागतार्ह हैं।]

पूज्यातिथेः पथपरिक्लमनोदनाय
रात्रिर्निषेवितुमनाः स्वयमेव तावत्।
सन्ध्यामुखेन नवरागविजृम्भितेन
स्वोपस्थितिं कथयतिस्म नवानुभावाम् ॥ १ ॥

पूज्यातिथेः पथपरिक्लमनोदनाय निषेवितुमनाः रात्रिः तावत् स्वयम् एव नवराग-विजृम्भितेन सन्ध्यामुखेन नवानुभावां स्वोपस्थितिं कथयति स्म ॥ १ ॥

सम्माननीय अतिथि महाराज शिवाजी की रास्ते की थकान को दूर करने के लिए स्वयमेव सेवा के लिए नवीन अनुराग से उत्फुल्ल सन्ध्यारूपी मुख द्वारा रात्रि ने अपनी नवानुभावपूर्ण उपस्थिति को व्यक्त किया ॥ १ ॥

मूलं त्रिलोकमहसामपि वन्द्यपादः
सन्ध्यामुपासितुमिवाश्रयदस्तशैलम् ।
रावैर्विहङ्गकलितैरवकाशवेलां
युक्तोद्यमाय जगते प्रकृतिस्ततान ॥ २ ॥

वन्द्यपादः त्रिलोकमहसां मूलम् अपि सन्ध्याम् उपासितुम् इव अस्तशैलम् आश्रयत्, प्रकृतिः विहङ्गकलितैः रावैः युक्तोद्यमाय जगते अवकाशवेलां ततान ॥ २ ॥

तीनों लोकों के प्रकाश के एक मात्र हेतु, पवित्र किरणोंवाले सूर्य भगवान् ने सायंकालीन सन्ध्याकर्म सम्पन्न करने के लिए अस्तगिरि का आश्रय लिया। प्रकृति ने भी अपेक्षित उपयुक्त उद्यम करनेवाले संसार को अवकाश वेला की सूचना पक्षिकुल के मधुर उत्सुक कूजन द्वारा सुना दिया ॥ २ ॥

उच्छ्वासवातचलितैरभितो रजोभि-
र्यद् दिग्वधूसुवदनानि यथाङ्गरागैः ।
आपूर्य धूसररुचीनि करोति धात्री
गोधूलिमित्यभिदधाति तदेव लोकः ॥ ३ ॥

अभितः उच्छ्वासवातचलितैः अङ्गरागैः यथा रजोभिः दिग्वधूसुवदनानि आपूर्य यत् धात्री धूसररुचीनि करोति तत् एव लोकः गोधूलिम् इति अभिदधाति ॥ ३ ॥

चञ्चल पवन के सञ्चरण से चारों ओर उड़ती हुई धूलि को पृथिवी ने (पालने-वाली धाय ने) अंगराग के रूप में दिग्वधुओं के सुन्दर मुखों को उबटन से धूसर वर्ण का कर दिया। उसी को यह संसार गोधूलि के नाम से पुकारता है [प्रायः आजकल भी ग्रामाञ्चलों में सम्पन्न परिवारों की कुलवधुओं को नाइन या अन्य कोई परिचारिका विशेष अवसरों पर सन्ध्या समय उबटन, अभिषेक आदि से सजाया करती है।] ॥ ३ ॥

अन्तर्बहिः प्रतिदिशं शतदीपराजिः
संहर्तुमिच्छति तमः प्रसृतं प्रसह्य ।
उद्योगवर्त्ममनसो विनिहत्य बाधां
नूनं विधेरनुपमा मनुजावतारः ॥ ४ ॥

अन्तः बहिः प्रतिदिशं शतदीपराजिः प्रसह्य प्रसृतं तमः संहर्तुम् इच्छति, नूनं बाधां विनिहत्य उद्योगवर्त्ममनसः विधेः अनुपमाः मनुजावतारः ॥ ४ ॥

फैले हुए अन्धकार को नष्ट करने के लिए चारों ओर बाहर-भीतर, सैकड़ों दीपमालायें अपना प्रकाश फैला रही हैं। ब्रह्मा की सृष्टि में सचमुच मनुष्य का निर्माण अनुपम है, क्योंकि मानवजाति स्वभावतः ही परिश्रमपूर्ण उद्योग में मन लगाकर भयंकर से भयंकर विघ्न-बाधा को नष्ट कर देती है ॥ ४ ॥

सौधेषु दीप - हसितेषु नरेन्द्रमार्गे
नाह्नो निशश्च खलु कापि विभेददृष्टिः ।
प्रायेण वीतविभवान् हि विडम्बयन्ति
व्याधिर्विधिश्च निखिलाः प्रकृतेर्विकाराः ॥ ५ ॥

नरेन्द्रमार्गे दीपहसितेषु सौधेषु निशः अह्नः च न खलु का अपि विभेददृष्टिः । प्रायेण व्याधिः विधिः प्रकृतेः निखिलाः विकाराः च वीतविभवान् हि विडम्बयन्ति ॥ ५ ॥

राजमार्ग (चौड़ी सड़क) के दोनों ओर दीपमालाओं के स्निग्ध प्रकाश में जगमगाते हुए महलों में रात-दिन का कोई भेद नहीं है, वहाँ कभी अन्धकार-पूर्ण रात्रि नहीं फटकने पाती। वस्तुतः बाधायें, कठिनाइयाँ गरीबों को ही विकल करती हैं, धनवान् व्यक्ति तरह-तरह के उपायों से उन बाधाओं को व्यर्थ कर देते हैं। दैव, रोग या अनेकविध प्रकृति के विकार केवल दीन-दुखियों को ही कष्ट देते हैं ॥ ५ ॥

भानुःसहस्रकिरणैरपि नेत्रकल्पैर्नोद्वीक्षते यदखिलं तदियं तमिस्रा ।
दीपप्रदर्शितपथैस्तिमिरान्तरापि स्वान्तःप्रवृत्तिरिव पश्यति सर्वदिक्षु ॥६॥

नेत्रकल्पैः सहस्रकिरणैः अपि भानुः यत् न उद्वीक्षते तत् अखिलं तिमिरान्तरा अपि इयं तमिस्रा स्वान्तःप्रवृत्तिः इव सर्वदिक्षु दीपप्रदर्शितपथैः पश्यति ॥ ६ ॥

आँखों के समान हजारों किरणोंवाला होने पर भी सूर्य जिन बहुत सी घटनाओं को नहीं देख पाते उन सबको काली रात तिमिरहृदया होती हुई भी दीपदर्शित मार्गों से अन्तःप्रकृति के समान प्रत्येक दिशा में देख लेती है [अनेक रहस्यपूर्ण कार्य दिन के प्रकाश में सम्भव नहीं होते किन्तु रात का सर्वत्र प्रसरित अन्धकार उनके लिए अपेक्षित सुअवसर उपस्थित कर देता है। रात्रि के गर्भ में अनेक भले-बुरे कार्य छिपे रहते हैं जिन्हें रात ही जानती है।] ॥ ६ ॥

प्रेक्षा - कुतूहल - निबद्ध - मनोरथाना-
मालक्ष्य लक्ष्यविषयं प्रणतानुरागी ।
याच्ञानुबन्धविरहेऽपि समादिदेश
द्रष्टुं गणान् पुरमपूर्वकलाभिरामाम् ॥ ७ ॥

प्रेक्षाकुतूहलनिबद्धमनोरथानां लक्ष्यविषयम् आलक्ष्य प्रणतानुरागी याच्ञानुबन्धविरहे अपि अपूर्वकलाभिरामां पुरम् द्रष्टुं गणान् समादिदेश ॥ ७ ॥

दृश्यावलोकन की लालसा से उत्कण्ठित मनोरथवाले अपने अनुचरों के उद्देश्य को जानकर अपने आश्रित जनों के अनुरागी महाराज क्षत्रपति ने उनकी प्रार्थना के बिना ही उन्हें अपूर्व कला से सुसज्जित नगरी को देखने के लिए अपनी आज्ञा देकर अनुगृहीत किया ॥ ७ ॥

ते रामसिंहजनदर्शितराजमार्गं
पार्श्वोदिताट्टपटलावलिमुग्ध - नेत्राः ।
रात्रौ विकासिकमलोत्करमत्तभृङ्गान्
कोकान् वियोगविधुरान् ददृशुर्दिने च ॥८॥

रामसिंहजनदर्शितराजमार्गपार्श्वोदिताट्टपटलावलिमुग्धनेत्राः ते रात्रौ विकासि-कमलोत्करमत्तभृङ्गान् दिने च वियोगविधुरान् कोकान् ददृशुः ॥ ८ ॥

युवराज रामसिंह के अनुचर ने उनका नेतृत्व किया (उन्हें नगर दिखाने ले गया) । उन लोगों ने राजमार्ग के दोनों ओर उठी हुई महलों की मनोहर पंक्ति को मुग्ध दृष्टि से देखा । आगरा नगरी सब प्रकार से सुषमापूर्ण थी । रात्रि में भी कमलों के समूहों पर मँडराते हुए भौरों को उन लोगों ने देखा (अत्यधिक प्रकाश की व्यवस्था के कारण भौंरों या कमलपुष्पों को रात्रि की प्रतीति ही नहीं होती थी) तथा दिन में भी चक्रवाकों को शोकसन्तप्त रहते देखा [दिन के प्रकाश को इस प्रकार दूर किया गया था कि चक्रवाकों के जोड़ों को रात्रि का ही अनुभव होता था ।] ॥ ८ ॥

नक्तंदिनेन शिशिरेण च घर्ममासः
श्रीशान् सहस्थितिजुषः समुपासमानाः ।
अन्यर्तुदेशपरिबन्धमुपेक्ष्य नित्य-
मत्रानयन्ति सुरपादपकामदोहम् ॥ ९ ॥

नक्तं दिनेन घर्ममासः च शिशिरेण सहस्थितिजुषः श्रीशान् समुपासमानाः अत्र अन्यर्तु-देशपरिबन्धम् उपेक्ष्य नित्यं सुरपादपकामदोहम् आनयन्ति ॥ ९ ॥

रात और दिन, जाड़ा और गर्मी आदि परस्पर-विरोधी तत्त्व साथ-साथ रहकर (अपने सहज विरोध को भुलाकर) लक्ष्मीसम्पन्न लोगों की सेवा में तत्पर रहकर, अन्य ऋतु, देश, आदि के बन्धन को मिटाकर इस नगरी में सुख-वैभव का सामान इस प्रकार एकत्र करते हैं मानो स्वयं कल्पवृक्ष ही मनोरथ फल उपस्थित कर रहा हो ॥ ९ ॥

रात्रौ दिनेश - तनयासलिलेषु ताजं
सङ्क्रान्तबिम्बमवलोक्य फणीन्द्रकन्याः ।
हित्वा रसातलममर्त्यगिरा विनम्राः
स्तामर्थयन्ति चलदुर्मिततिं निरोद्धुम् ॥ १० ॥

रात्रौ सवितृतनयासलिलेषु ताजं सङ्क्रान्तबिम्बम् अवलोक्य फणीन्द्रकन्याः रसातलं हित्वा विनम्राः अमर्त्यगिरा चलदुर्मिततिं निरोद्धुं ताम् अर्थयन्ति ॥ १० ॥

चाँदनी रातों में सूर्यपुत्री यमुना के जल में प्रतिबिम्बित होती हुई 'ताज' की शोभा देखकर, नागकन्यायें रसातल छोड़कर दैवी वाणी में यमुना जी से प्रार्थना करती हैं कि अपनी चञ्चल लहरों को थोड़ी देर रोक लें यतः वे उस दिव्य सुषमा को निर्निमेष निहार सकें [दिव्य लोकों की कन्यायें भी ताज के सौन्दर्य से प्रभावित हैं यह ताज के सौन्दर्य की पराकाष्ठा है।] ॥ १० ॥

यं कालपाणिरपि वैभवकल्पशाखं
हृत्वापि नाक्षमत तत्प्रणयं निहन्तुम् ।
तीर्त्वा जगत्परिभवं स्फटिकान्तराले
पार्श्वं परासुरपि स श्रयति प्रियायाः ॥ ११ ॥

वैभवकल्पशाखं यं कालपाणिः अपि हृत्वा अपि तत्प्रणयं निहन्तुं न अक्षमत, सः जगत्परिभवं तीर्त्वा परासुः अपि स्फटिकान्तराले प्रियायाः पार्श्वं श्रयति ॥ ११ ॥

काल के हाथ ने जिस वैभव के कल्पतरु को (शाहजहाँ को) नष्ट करके भी उसके प्रणय को नष्ट करने का साहस न किया, वह सम्राट् शाहजहाँ, संसार के समस्त दुःख-दैन्य को पार कर निर्जीव होकर भी स्फटिक के गर्भ में अपनी प्रियतमा के पार्श्व भाग में आज भी लेटा हुआ है [बादशाह शाहजहाँ को उनकी बेगम मुमताजमहल की कब्र के बगल में ही दफनाया गया।] ॥ ११ ॥

यो जीवनेऽखिलधरातिलकोऽपि यस्याः
स्वप्नेऽपि वीक्षितुममर्षदृशं न सेहे ।
प्राणान् तदध्वपथिकानुपकल्प्य सोऽयं
तत्सन्निधिस्थितिजुषा वपुषाऽपि शेते ॥ १२ ॥

जीवने अखिलधरातिलकः अपि यः स्वप्ने अपि यस्याः अमर्षदृशं वीक्षितुं न सेहे सः अयं प्राणान् तदध्वपथिकान् उपकल्प्य वपुषा अपि तत्सन्निधिस्थितिजुषा शेते ॥ १२ ॥

जो शाहजहाँ जीवन में सम्पूर्ण भारत भूमि का एकच्छत्र सम्राट् होते हुए भी जिस मुमताजमहल की क्रुद्ध दृष्टि को स्वप्न में भी नहीं सँभाल सकता था वही आज अपनी प्रियतमा के मार्ग पर अपने प्राणों को बिछाकर (पथिक बनाकर) अपने पार्थिव शरीर से भी उसी प्रिया के पास निर्जीव होते हुए भी सो रहा है ॥ १२ ॥

कान्या नरेन्द्रमहिषी जगतीतलेऽस्मिन्
सौभाग्यमित्थमुपयाति दिवङ्गताऽपि ।
प्राणान् विहातुमपि का न वृतप्रतिज्ञा
प्रेयान् स्मरेद्यदि जनं सदृशानुबन्धैः ॥ १३ ॥

अस्मिन् जगतीतले का अन्या नरेन्द्रमहिषी दिवङ्गता अपि इत्थं सौभाग्यम् उपयाति । यदि प्रेयान् सदृशानुबन्धैः जनं स्मरेत् प्राणान् अपि विहातुं का वृतप्रतिज्ञा न ॥ १३ ॥

इस पृथ्वी तलपर दूसरी कौन ऐसी राजरानी है जिसे दिवंगत हो जाने पर भी ऐसा उत्कृष्ट सौभाग्य मिला हो, और कौन सुन्दरी अभी प्रतिज्ञापूर्वक अपना प्राण त्यागने को तैयार न हो जायगी यदि उसका प्रियतम भी इसी प्रकार के अनुभावों द्वारा (ताजमहल बनवाकर) उसे स्मरण करने के लिए उत्साहवान् हो ॥ १३ ॥

नव्यावनीशचपला यदि जातु दिल्ली
हित्वा तुरुष्ककुलमन्यकुले रमेत ।
प्रेम्णः कथाऽनिशमियं जनलोचनाना-
मासेचनं तदपि शारदकौमुदीव ॥ १४ ।

नव्यावनीशचपला दिल्ली यदि तुरुष्ककुलं हित्वा जातु अन्यकुले रमेत तदपि प्रेम्णः इयं कथा शारदकौमुदी इव जनलोचनानाम् अनिशम् आसेचनम् ॥ १४ ॥

सम्भव है यह स्वभावचपला दिल्ली कभी किसी नये व्यक्ति में अनुरागवती हो जाने के कारण मुगलवंश से विरत होकर दूसरे वंश में चली जाय। किन्तु शाश्वत प्रेम की यह गाथा तो अनन्त काल तक ससार की आँखों को शरत्काल की चाँदनी के समान सदैव शीतल ही करती रहेगी ॥ १४ ॥

प्रेमा मृदूपकरणो मृदुलोऽपि चित्र-
मात्माकृतिं लिखति वज्रकठोरभित्तौ ।
स्पृष्टोऽथवा कृतिकलाधरपाणिनाऽयं
ग्रावाऽपि पुष्पमृदुतामुररीकरोति ॥ १५ ॥

चित्रम्, (यत्) मृदुलः मृदूपकरणः अपि प्रेमा आत्माकृतिं वज्रकठोरभित्तौ लिखति अथवा कृतिकलाधरपाणिना स्पृष्टः अयं ग्रावा अपि पुष्पमृदुताम् उररीकरोति ॥ १५ ॥

आश्चर्य है, प्रेम तो स्वभावतः अति कोमल होता है तथा प्रेमोपकरण भी मृदुल ही होते हैं, फिर भी प्रेम ने आत्मछवि को वज्र के समान कठोर भित्ति पर अंकित किया। अथवा यह कहें कि अमर कलाकार के हाथ से स्पर्श हो जाने के कारण पत्थर भी कुसुम-कोमल हो गया, नहीं तो पत्थर में ऐसा सुकोमल सौन्दर्य भाव किस प्रकार व्यञ्जित हो पाता ॥ १५ ॥

पाथोधिनेमिभरणे रिपुभिः स्तुतोऽपि
श्रीमान् महीपनिकुलाब्जविकासिहासः ।
शुष्यत्स्वकण्ठशमनाय जलाभिलाषी
सेहे न कं परिभवाङ्कुशमात्मजात् सः ॥ १६ ॥

रिपुभिः अपि पाथोधिनेमिभरणे स्तुतः महीपतिकुलाब्जविकासिहासः श्रीमान् सः शुष्यत्स्वकण्ठशमनाय जलाभिलाषी आत्मजात् कं परिभवाङ्कुशं न सेहे ॥ १६ ॥

समुद्रनेमि वसुधा के पालन में शत्रुओं ने भी शाहजहाँ की शासन-पटुता की प्रशंसा ही की थी। उस शाहजहाँ की प्रसन्नता से अधीनस्थ नृप-कुल कमल के समान विकसित हो जाता था। वही शाहजहाँ पुत्र द्वारा जेल में डाले जाने पर सूखे गले को तर करने के लिए जल की इच्छा से अपने ही पुत्र द्वारा किस प्रकार वाग्बाणों से व्यथित किये जाते थे ॥ १६ ॥

यो दुर्विनीतसुतपीडित - मानसोऽपि
वातायनोदितनिकेतसुषुप्तिभाजः ।
वात्सल्यगद्गदवचो वदनं प्रियाया
राजा स्मरन्निव मुमोच रुषं सहास्रैः ॥ १७ ॥

दुर्विनीतसुतपीडितमानसः अपि यः राजा वातायनोदितनिकेतसुषुप्तिभाजः प्रियायाः वात्सल्यगद्गदवचः वदनं स्मरन् इव अस्रैः सह रुषं मुमोच ॥ १७ ॥

[बादशाह शाहजहाँ को अपने कैदखाने की कोठरी के झरोखे से ताजमहल दिखाई देता था जहाँ उनकी बेगम मुमताजमहल दफनायी गयी थी—] जो शाहजहाँ अपने उद्दण्ड पुत्र औरंगजेब के दुर्व्यवहार से उद्विग्न-चित्त होकर भी अपनी खिड़की से दिखाई देनेवाले मकबरे में अनन्त निद्रा में सोई हुई प्रियतमा के पुत्रप्रेम से गद्गद वाणीवाले मुख को स्मरण कर अपने क्रोध को अपनी आँखों के आँसुओं के साथ ही गिरा देता था ॥ १७ ॥

पाथेयममृतमिदं प्रणयाध्वगानां
दीपार्चिरक्षतशिखं कुटिलान्धकारे ।
आदर्श एव समवेक्षितुमात्मरूपं
प्रेम्णो निसर्गवसतिर्हृदयैकसोऽपि ॥ १८ ॥

इदं प्रणयाध्वगानाम् अमृतं पाथेयं, कुटिलान्धकारे अक्षतशिखं दीपार्चिः, आत्मरूपं समवेक्षितुम् आदर्शः एव हृदयैकसः अपि प्रेम्णः निसर्गवसतिः ॥ १८ ॥

यह ताजमहल, प्रेममार्ग पर चलनेवालों के लिए अमृत पाथेय है, स्वार्थपूर्ण कुटिल अन्धकार में कभी न बुझनेवाली दीपशिखा है। आत्मस्वरूप देखने के लिए (हमारे भीतर आत्मोत्सर्ग की कितनी भावना है यह देखने के लिए) आइना है तथा यद्यपि प्रेम हृदयरूपी महल में ही रहता है तथापि उस अनन्य प्रेम का सहज निवास मन्दिर है ॥ १८ ॥

यत्राव्यलीकमिव लोकमनःस्वरूपं
मुक्ताङ्गरागपरिधानमुदेति दृष्टौ ।
वेशं विकारमिव को न बुधस्तदेनं
वीक्ष्यावगच्छति यथार्थजगत्प्रतीतिम् ॥ १९ ॥

यत्र मुक्ताङ्गरागपरिधानं लोकमनस्स्वरूपम् अव्यलीकम् इव दृष्ट्वा उदेति तत् एनं वेशं विकारम् इव वीक्ष्य कः बुधः यथार्थंजगत्प्रतीतिं न अवगच्छति ॥ १९ ॥

जहाँ पर समाज का स्वरूप अपनी सम्पूर्ण कृत्रिमता, अङ्गराग, परिधान, प्रदर्शन आदि से मुक्त होकर अपने यथार्थ नग्नरूप में उपस्थित होता है यह वही वेश-भूमि (वेश्याओं का बाजार) है। विकार के समान इस वेश को अच्छी तरह जान लेने पर, इसे ठीक से देखकर कौन बुद्धिमान् संसार की यथार्थ प्रतीति से परिचित नहीं हो जाता ॥ १९ ॥

[वेशभुवं वर्णयति]

यत्रास्फुटाऽपि कलिका म्रियतेऽवमर्दैः
पुष्पाण्यनाप्तसुरभीण्यपि निष्पतन्ति ।
वृन्तच्युतानि विरसानि दलान्यलज्जं
छद्मस्मितैः रमयितुं भुजगान् यतन्ते ॥ २० ॥

यत्र अस्फुटा अपि कलिका अवमर्दैः म्रियते अनाप्तसुरभीणि अपि पुष्पाणि निष्पतन्ति, वृन्तच्युतानि विरसानि दलानि छद्मस्मितैः अलज्जं भुजगान् रमयितुं यतन्ते ॥ २० ॥

जहाँ अधखिली कली विमर्दित होकर समय से पूर्व ही अकालमृत्यु को प्राप्त हो जाती है, गन्धपूर्ण होने के पहले ही फूल कुम्हलाकर गिर पड़ते हैं, जहाँ डाल से टूटे विवर्ण पत्ते निर्लज्जतापूर्वक झूठ-मूठ की हँसी से भुजगों (कामियों, सर्पों) को रमण करने के लिए निलज्जतापूर्वक आग्रह करते हैं ॥ २० ॥

शीलं विनाश्य विवशा जठराय बाला
भुक्ताः शरीरमनुजैर्मनुजादकृत्यैः ।
वेशे वसन्ति कृतकप्रणयैर्हरन्त्य-
श्छद्मस्मितोदितकलैरवशप्रवृत्तीन् ॥ २१ ॥

जठराय विवशाः बालाः शीलं विनाश्य मनुजादकृत्यैः शरीरमनुजैः भुक्ताः छद्मस्मितोदितकलैः कृतकप्रणयैः अवशप्रवृत्तीन् हरन्त्यः वेशे वसन्ति ॥ २१ ॥

दो मुट्ठी अन्न के लिए (अर्थप्राप्ति के लिए) परवश युवतियाँ अपने शील-धर्म को नष्ट करके मनुष्य-शरीरधारी किन्तु दानवीय आचरणवाले पुरुषों को शरीर सौंपकर वेश (बाजार) में रहती हैं तथा झूठे प्रेम का अभिनय करती हुई बनावटी मुस्कान आदि आकर्षक भङ्गिमाओं द्वारा उच्छृङ्खल प्रवृत्तिवाले मनुष्यों के हृदय को अपनी ओर खींचती हैं ॥ २१ ॥

लोकेषु शास्त्रवचसो विजने पिशाचा
नग्ना नवाम्बरजुषोऽपि सुवर्णमत्ताः ।

जीवन्ति यावदधमाः परशीलकामाः
का सभ्यता, पशुकुलं किमतोऽपि चिन्त्यम् ॥ २२ ॥

लोकेषु शास्त्रवचसः विजने पिशाचाः नवाम्बरजुषः अपि नग्नाः सुवर्णमत्ताः परशील-कामाः अधमाः यावत् जीवन्ति (तावत्) सभ्यता का, अतः अपि चिन्त्यं पशुकुलं किम् ?॥२२॥

समाज में शास्त्र-विवेकी कहलाकर भी एकान्त में पिशाच का आचरण करने-वाले, नवीन परिधान से ढंके रहने पर भी सर्वथा नग्न, सुवर्ण से उन्मत्त चेतनावाले, दूसरों को शीलभ्रष्ट करने के लिए आतुर, अधम मनुष्य जबतक जीवित रहेंगे तबतक सभ्यता का अर्थ क्या है, वह केवल नाममात्र के लिए है। पशु-आचरण भी इससे अधिक निन्द्य नहीं है। पशु तो विवेकहीन है अतः प्रवृत्ति द्वारा सञ्चालित होता है किन्तु मनुष्य तो विवेकी है, फिर भी पशु-सुलभ आचरण करता है ॥ २२ ॥

बुद्धेर्विलोकय फलं बुधवन्दितायाः
ऐन्द्रे पदेऽपि मधुवारवधूविलासः ।
नूनं जगत्पतिरपि स्थितयेऽस्वतन्त्रो
मानुष्यकीमनुकरोति रुचिं विपन्नः ॥ २३ ॥

बुधवन्दितायाः बुद्धेः फलं विलोकय (यत्) ऐन्द्रे पदे अपि मधुवारवधूविलासः, नूनं स्थितये अस्वतन्त्रः जगत्पतिः अपि विपन्नः मानुष्यकीं रुचिम् अनुकरोति ॥ २३ ॥

विद्वानों से समादृत इस बुद्धि का कार्यकलाप देखिये। मनुष्य की बुद्धि ने अपनी स्वर्गसम्बन्धी कल्पना में भी सुरा तथा वारवधू का प्रबन्ध कर ही लिया, (स्वर्ग में अप्सराओं तथा सुरापान का विधान कर दिया गया)। सचमुच मनुष्य-समाज में अपनी यथार्थ स्थिति के लिए ईश्वर भी स्वतन्त्र नहीं है, ईश्वर को भी अपनी स्थिति के लिए हमारे विवेक पर अवलम्बित होना पड़ेगा। ईश्वर को मान-वीय रुचि के अनुसार ही आत्मस्वरूप स्वीकार करना होगा। हम अपनी मान्य-ताओं, परम्पराओं को ईश्वर में भी आरोपित करेंगे। हमारा ईश्वर हमारे साँचे के अनुसार होगा ॥ २३ ॥

नेपथ्यकञ्चुकमपास्य यथाभिनेता
मञ्चाद्बहिः सहजभावमुरीकरोति ।
लोकस्तथैव निरुपाधिमना यथार्थ-
मत्र स्वभावमनुगच्छति मुक्तबाधः ॥ २४ ॥

नेपथ्यकञ्चुकम् अपास्य मञ्चात् बहिः यथा अभिनेता सहजभावम् उरीकरोति तथा एव निरुपाधिमनाः मुक्तबाधः लोकः अत्र यथार्थं स्वभावम् अनुगच्छति ॥ २४ ॥

जिस प्रकार नाटक के मञ्च से बाहर आकर अपना नाटकीय परिधान उतार अभिनेता सहज भाव में आ जाता है, वैसे ही वेशभूमि में (वेश्याबाजार में) समाज

भी अपने आरोपित सम्मान, उदारता, शिष्टता आदि को फेंककर स्वतन्त्रमना हो अपने स्वभाव का अनुगमन करता है ॥ २४ ॥

एकं वयो लसति यौवनमेव यस्मि-
न्नेकव्रतं मदिरवारवधूविलासः ।
एकं फलं विषमपुष्पशरानुतोषो
वेशस्तथामरधरा द्वयमेव सर्गे ॥ २५ ॥

यस्मिन् एकं वयः यौवनम् एव लसति, मदिरवारवधूविलासः एकं व्रतम्, विषम-पुष्पशरानुतोषः एकं फलम्, सर्गे वेशः तथा अमरधरा द्वयम् एव ॥ २५ ॥

जहाँ अवस्था के नाम पर केवल यौवन ही सुशोभित होता है। जहाँ केवल एक ही व्यापार—मधु-उन्मत्त वाराङ्गनाओं के साथ केलि-विलास ही चलता है, जहाँ केवल एक ही फलोपलब्धि—पुष्पबाण कामदेव की अर्चना ही प्राप्य है, इस सृष्टि में दो ही वे ऐसे स्थान हैं—स्वर्ग तथा वेश-भूमि ॥ २५ ॥

चित्राः कथाः प्रणयपेशलनर्मगोष्ठी
लालित्यलोभि विनयं सहजं सुवेषः ।
हर्म्यं सुरेन्द्रभवनं सुरतानि चर्या
स्वर्गं नयन्ति गणिका भुवनेऽप्ययत्नम् ॥ २६ ॥

चित्राः कथाः प्रणयपेशलनर्मगोष्ठी लालित्यलोभि विनयं सहजं सुवेषः, हर्म्यं सुरेन्द्रभवनं सुरतानि चर्या, गणिकाः अयत्नं भुवने स्वर्गं नयन्ति ॥ २६ ॥

विचित्र कथाओं, घटनाओं का श्रवण, प्रेम-मसृण सुखद हास-परिहास-पूर्ण गोष्ठी, बात-बात पर सहज बाँकपन से भरी नम्रता का वातावरण, स्वाभाविक सुरुचिपूर्ण वेषभूषा, इन्द्रभवन के समान सुखोपभोग के साधनों से सम्पन्न भवन, यौवनोपभोग ही केवल एक व्यवसाय—संक्षेप में, इस पृथ्वी पर भी वेश्यायें अनायास ही स्वर्ग को उपस्थित कर देती हैं ॥ २६ ॥

प्रायेण नाकिभुवने भुवनाद्विरक्ता
लब्ध्वाऽप्यनङ्ग - मधुराः मधुरागमत्ताः ।
वामास्तपस्विवृषभाः स्मरवर्त्मवामा
गच्छन्ति कुण्ठितधियोऽप्सरसां निकारम् ॥ २७ ॥

प्रायेण भुवनात् विरक्ताः नाकिभुवने मधुरागमत्ताः अनङ्गमधुराः वामाः लब्ध्वा अपि स्मरवर्त्मवामाः तपस्विवृषभाः कुण्ठितधियः अप्सरसां निकारं गच्छन्ति ॥ २७ ॥

प्रायः संसार में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करनेवाले अनेक तपस्वि-वृषभ संसार से विरक्त होकर जब देवताओं के लोक में पुण्य के कारण पहुँचते हैं तथा मधुपान-मत्ता, काम-राग-विह्वला नवयौवना अप्सराओं के सन्निध्य में आते हैं तब काम-

मार्ग से सर्वथा अनभ्यस्त, अनभिज्ञ (मृत्युलोक में तो ब्रह्मचर्य ही साधते रहे) होने के कारण वे काम-रीति-नीति-कुण्ठित तपस्वी लोग परिहासरसिका उन अप्सराओं को अनायास ही प्राप्त करके भी अपने अनाड़ीपन के कारण उपहास-कदर्थित हो आत्म-विडम्बना कराते हैं ॥ २७ ॥

भोगारतिर्यदि विलोभ्यवपुष्षु मोक्षो
यद्वा सुखोपकरणातिशयप्रणाशः ।
षण्डो दरिद्रपरमो नु तदेकपात्रं
मुक्तिः स्थितिः शमविवेकभरात्मदृष्टेः ॥ २८ ॥

यदि विलोभ्यवपुष्षु भोगारतिः यत् वा सुखोपकरणातिशयप्रणाशः मोक्षः तदेकपात्रं नु षण्डः दरिद्रपरमः (वा), मुक्तिः शमविवेकभरात्मदृष्टेः स्थितिः ॥ २८ ॥

संसार में ऐसे विचित्र बुद्धिमानों की कमी नहीं है जिनकी विमल बुद्धि के अनुसार 'मोक्ष' का अर्थ सब प्रकार की सुन्दर वस्तुओं कलाओं में रागविहीनता है अथवा, मोक्ष से उनका तात्पर्य है सुख-सुविधा के समस्त उपकरणों का अत्यन्ताभाव, सर्वथा नष्ट हो जाना । यदि ऐसा ही है तब तो केवल हिजड़े या परम दरिद्र व्यक्ति ही मोक्ष के एक मात्र पात्र होंगे । वास्तविकता तो यह है कि शान्ति एवं विवेक-निर्भर आत्मदृष्टि की स्थिति का ही नाम मोक्ष है । मोक्ष एक आध्यात्मिक मनः-स्थिति है ॥ २८ ॥

पेयं निसर्गरमणीयसुधोन्मदिष्णु
भोगाः स्पृहोल्लसितकामदुघानुभावाः ।
फुल्लारविन्दमुखलुब्धतिलोत्तमा त्वं
पुण्यर्षभा वयमये किमतोऽधिकं द्यौः ॥ २९ ॥

निसर्गरमणीयसुधोन्मदिष्णु पेयं स्पृहोल्लसितकामदुघानुभावाः भोगाः त्वं फुल्लारविन्दमुखलुब्धतिलोत्तमा, वयं पुण्यर्षभाः, अये ! द्यौः अतः अधिकं किम् ? ॥ २९ ॥

निसर्गरमणीय सुधा के समान उन्मादकारी पेय है, स्पृहा को भी उल्लसित कर देनेवाले मनोरथों को उपलब्धि की अनुभूति से पूर्ण भोग हैं, तथा कमल के समान उत्फुल्ल मुखशोभा पर बरबस आकृष्ट कर लेनेवाले तिल से मोहक स्वरूप द्वारा तिलोत्तमा को भी लज्जित करनेवाली तुम हो और पुण्यवान् देवताओं के समान स्वयं हम लोग तुम्हारे उपासक हैं । भला इससे बढ़कर स्वर्ग में क्या है ! पेय, भोग, सौन्दर्य और उपभोक्ता—सचमुच स्वर्ग में इससे अधिक कुछ भी नहीं है ॥ २९ ॥

सर्वं हि नाम परिवर्तनभाजि दृश्यं
यैर्धोषितं तव मुखं न निरीक्षितं तैः ।

धाताऽपि विस्मरति यत्पुरतः स्वभावं
कालः कथं तदनुगः प्रभवेदसौ त्वाम् ॥ ३० ॥

सर्वं हि नाम दृश्यं परिवर्तनभाजि—यैः घोषितं तैः तव मुखं न निरीक्षितम्, यत्पुरतः धाता अपि स्वभावं विस्मरति तदनुगः असौ कालः त्वां कथं प्रभवेत् ॥ ३० ॥

जिन महानुभावों का उद्घोष है कि—संसार परिवर्तनशील है, सम्पूर्ण वस्तुएँ क्रमशः आरम्भ, मध्य तथा अन्त अवस्था को प्राप्त होती हैं, काल सबका नियामक है आदि—निश्चित है कि उन लोगों ने तुम्हारे मुख को देखे बिना ही ऐसी घोषणा कर दो। भला, ब्रह्मा भी जिस मुख-सौन्दर्य के सामने अपना स्वभाव भूल जाते हैं, आत्मविस्मृत हो जाते हैं उस मुख-सौन्दर्य को बेचारा काल, ब्रह्मा का अनुचर—किस प्रकार प्रभावित कर सकता है—अस्तु, तुम्हारे सौन्दर्य को देखकर काल आत्मविस्मृत हो अपना कर्तव्य भूल जायेगा। तुम सदाबहार हो ॥३०॥

ताम्बूलिकेऽलमलमेभिरतिप्रयासै-
र्नूनं कलावति कलाऽभ्यसिता त्वयैव।
दृष्ट्यैव रागि हृदयं प्रथमं विधाय
पश्चाद्विडम्बयसि नागलतार्पितेन ॥ ३१ ॥

ताम्बूलिके, एभिः अतिप्रयासैः अलम् अलम्, कलावति ! त्वया एव नूनं कला अभ्यसिता, प्रथमं दृष्ट्या एव हृदयं रागि विधाय पश्चात् नागलतार्पितेन विडम्बयसि ॥ ३१ ॥

पानवाली-बस बस, रहने दो, इतना आयास क्यों। कलावति, तुमने सचमुच कला का अभ्यास किया है, तुम्हारी कला की कोई तुलना नहीं। पहले तो केवल अपनी दृष्टि से ही (केवल देखने मात्र से) हृदय को रागपूर्ण (स्पृहा से लाल) करके बाद में पान का बीड़ा देकर आगन्तुकों को विडम्बित, विकलहृदय कर देती हो ॥ ३१ ॥

आश्चर्यमेतदयि, यच्चरणाविमौ मे
देवालयाभिमुखमेव बलान्नियुक्तौ।
अश्वौ यथा समवलङ्घ्य कशोपदेशं
त्वत्पुण्यधाम्नि वहतो मम देहयानम् ॥ ३२ ॥

अयि, एतत् आश्चर्यं यत् मे इमौ चरणौ बलात् देवालयाभिमुखम् एव नियुक्तौ अश्वौ यथा कशोपदेशं समवलङ्घ्य मम देहयानं त्वत्पुण्यधाम्नि वहतः ॥ ३२ ॥

किसी वारवनिता के यहाँ पहुँचनेवाले की चाटु उक्ति है—सुन्दरी, ! बड़ा आश्चर्य है, मैंने चाहा था, संकल्प किया था कि इन अपने पैरों से देवमन्दिर की ओर चलूँ और उसी दिशा में चल पड़ा। किन्तु जैसे मनचले घोड़े चाबुकों की परवाह छोड़ देते हैं वैसे ही मेरे पैर इस शरीर को देवमन्दिर के बदले तुम्हारे इस पुण्य धाम (तीर्थ) में मुझे खींच लाये ॥ ३२ ॥

कोई अकिञ्चन व्यक्ति किसी वारवधू की चाटुकारिता कर रहा है—

चर्चासु तन्वि, वसुदेवपरासु यासां
चेतः प्रसीदति भृशं गणिकाः ध्रुवन्ताः।
हृद्यानुरागगुणमात्ररता त्वमत्र
मन्ये स्वजातिदुरितोपशमाय सृष्टा ॥ ३३ ॥

तन्वि ! वसुदेवपरासु चर्चासु यासां चेतः भृशं प्रसीदति ताः ध्रुवं गणिकाः, मन्ये अत्र हृद्यानुरागगुणमात्ररता त्वं स्वजातिदुरितोपशमाय सृष्टा ॥ ३३ ॥

जिन युवतियों का मन धन-सम्पत्ति की चर्चा में बहुत लगता है वे वास्तव में गणिकायें (गिननेवाली) ही हैं। किन्तु तुम—केवल तुम ही अपवादस्वरूप हो। तुम सचमुच हार्दिक प्रेम गुण में ही अनुरागवती हो, विधाता ने गणिका जाति के लोभरूपी कलङ्क को दूर करने के लिए ही तुम जैसी लोभहीन, प्रेम-गुण-आकृष्ट सुन्दरी का निर्माण किया। सब वेश्यायें पैसे पर अपना शरीर बेचती हैं, केवल तुम ही स्नेहशुल्का हो ॥ ३३ ॥

[सामान्य में विशेष बताकर कोई किसी रूपाजीवा के प्रति अपनी निष्ठा जतला रहा है—]

वेशोऽयमत्र बहुशो जितरूपदर्पाः
शुल्कोरसो रसकथाकृतकानुरागाः।
जाने तथापि भवतीं एलमप्यदृष्ट्वा
चेतः कथं किमपि नेच्छति नैव जाने ॥ ३४ ॥

अयं वेशः अत्रः बहुशः जितरूपदर्पाः शुल्कोरसः रसकथाकृतकानुरागाः (सन्ति) जाने, तथापि भवतीं पलम् अपि अदृष्ट्वा चेतः कथं किम् अपि न इच्छति, न एव जाने ॥ ३४ ॥

मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ कि यह वेश है—रूप का बाजार है, यहाँ अनिन्द्य सौन्दर्यवाली युवतियाँ पैसे के लिए झूठ-मूठ का प्रेम-प्रपञ्च, दिखावटी अनुराग प्रकट करती हैं, सारा नाटक पैसे के लिए होता है। फिर भी तुम्हारी बात और है, तुमको एक क्षण के लिए यदि नहीं देख पाता हूँ तो मन को कुछ भी, क्यों नहीं अच्छा लगता है मैं नहीं जानता (तुम्हारे प्रति मेरी निष्ठा बड़ी प्रगाढ़ है, तुम्हारे बिना मैं एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता।)॥ ३४ ॥

[कोई कह रहा है कि प्रेम को—शुद्ध सत्य प्रेम को—रुपये-पैसे से नहीं आँका जा सकता।]—

स्नेहप्रकर्षममलं यदि पार्थिवस्य
ताजो निरूपयति पार्थिवजातसङ्घः।

युक्तं हि तत् प्रकृतिसिद्धगुणानुबन्धं
लोकः क्षमोऽपि परवान् वितथं विधातुम् ॥ ३५ ॥

यदि पार्थिवजातसंघः ताजः पार्थिवस्य अमलं स्नेहप्रकर्षं निरूपयति, तत् युक्तं हि क्षमः अपि लोकः प्रकृतिसिद्धगुणानुबन्धं वितथं विधातुं परवान् ॥ ३५ ॥

लोग कहते हैं कि ताज, बादशाह शाहजहाँ के अमर प्रेम की निशानी है। हो सकता है, यह उचित ही है कि पार्थिव (राजा) पार्थिव उपकरणों द्वारा आत्माभिव्यक्ति करे। ठीक है, स्वभाव एवं स्वाभाविक गुण-गौरव को कोई भी व्यक्ति, चाहे वह कितना ही समर्थ क्यों न हो, छिपाने में असफल ही होगा। तभी तो राजा ने राजसी ठाट द्वारा प्रेम का भी परिचय दिया। उनको क्या पता कि वैभव की गरिमा सच्चे प्रेम को छू भी नहीं सकती ॥ ३५ ॥

क्वेमे सुवर्णरजतस्फटिकप्ररोहाः
क्वासावचिन्त्यमहिमा प्रणयावतारः।
द्रव्यैर्वधू भजतु दानतुलार्पितेशं
भेदं द्वयोर्नियतमज्ञतमोऽपि वेत्ति ॥ ३६ ॥

इमे सुवर्णरजतस्फटिकप्ररोहाः क्व, अचिन्त्यमहिमा असौ प्रणयावतारः क्व, वधूः द्रव्यैः दानतुलार्पितेशं भजतु अज्ञतमः अपि नियतं द्वयोः भेदं वेत्ति ॥ ३६ ॥

कहाँ ये सोने-चाँदी और स्फटिक के स्तूप और कहाँ अचिन्त्य, दिव्य प्रभाव-वाला वह प्रेम का स्वरूप, भला दोनों में कहीं दूर का भी सम्बन्ध होता ? पति पर सर्वथा एकाधिपत्य रखने की स्पृहावाली वधू भले ही अपने पति को दान में किसी ब्राह्मण को देकर फिर प्रियतम के तौल के बराबर सोना-चाँदी, वस्त्र आदि द्वारा ब्राह्मण देवता को सन्तुष्ट कर उसी धन द्वारा अपने पति को वापस खरीद ले तथा समझे कि उसने अपने पति को अपने लिए मोल खरीद लिया है। किन्तु मूर्ख आदमी भी इस सौदे में महान् अन्तर को समझता है। कहाँ तो प्रेममय प्रियतम, और कहाँ पार्थिव वैभव के प्रतीक कुछ सोने-चाँदी आदि के टुकड़े—कौन सी तुलना है। प्रेम को सोना चाँदी से खरीद पाना असम्भव है ॥ ३६ ॥

यदि प्रेम का आदर्श प्रासाद बनाना ही है तो उसके उपकरण कुछ और ही होंगे–

स्वर्गं खनिर्हृदयसौरभसूति रत्नं
नीरं सुधा सुकृतिदारु च देवदारु।
कर्ताऽतनुः स्वयमचञ्चलचित्तवृत्ति-
स्तन्निर्मितं तदपि किं प्रणयोपमं स्यात् ॥ ३७ ॥

(यदि) स्वर्गं खनिः हृदयसौरभसूति रत्नं सुधा नीरं देवदारु च सुकृतदारु अचञ्चल-चित्तवृत्तिः अतनुः स्वयं कर्ता तदपि तन्निर्मितं प्रणयोपमं स्यात् किम् ॥ ३७ ॥

यदि स्वर्ग ही खान हो (उसी से सोना-चाँदी, स्फटिक आदि निकाला जाय) तथा प्रयुक्त होनेवाले रत्नों से भी हृदय को उल्लसित करनेवाली खुशबू (सुगन्ध) निकलती हो, जल के स्थान पर अमृत का प्रयोग किया गया हो, लकड़ी भी देव-लोक की लकड़ी हो—तथा इन उपकरणों से स्वयं चञ्चलताहीन होकर स्थिर चित्त-वृत्ति से अतनु (विना शरीरवाला) कामदेव ही स्वयं भवन का निर्माण करें तब भी वह भवन क्या प्रेमोपम हो सकेगा ? (इस प्रेम-मन्दिर के निर्माण में सभी वस्तुयें अलभ्य हैं—स्वर्ग, सुगन्धित रत्न, अमृत, देवलोक की लकड़ी आदि—और सबसे बढ़कर कारीगर है तनुरहित कामदेव, वह भी जब अचञ्चल चित्तवृत्ति में हो। तब भी क्या गारण्टी है कि वह निर्माण प्रेम-देवता के अनुरूप ही होगा) इन चादुपूर्ण उक्तियों द्वारा पण्यक्रीता उस वारवधू को बिना दक्षिणा लिये ही महाशयजी को कृतार्थ करने का संकेत है।] ॥ ३७ ॥

धन की निन्दा सुनकर भी चतुर वारवधू सरलतापूर्वक उस वकोल महोदय को प्रत्युत्तर में अपनी विवशता निवेदित कर रही है—

अस्मत्कुलं सशपथं प्रतिषिद्धशुल्कं
मूर्ध्ना शपामि तव, माऽस्तु तदत्र खेदः ।
यद्गृह्यतेऽत्रचरणैरवशं सुवर्णं
तद्वर्णशोधनविधौ प्रथमो हि कल्पः ॥ ३८ ॥

सशपथम् अस्मत्कुलं प्रतिषिद्धशुल्कं, तवमूर्ध्ना शपामि तत् अत्र खेदः मा अस्तु अत्रचरणैः यत् अवशं सुवर्णं गृह्यते तत् हि वर्णशोधनविधौ प्रथमः कल्पः ॥ ३८ ॥

चिन्ता न करो, हमारे कुल की यह शपथपूर्ण प्रतिज्ञा है कि हम लोग रुपया-पैसा लेकर प्रेम को कलंकित न करेंगी। तुम्हारे सिर की सौगन्ध खाकर कहती हूँ, इस विषय में खेद न करो। यहाँ पर आनेवाले महानुभावो ! यदि हम 'सुवर्ण' ही लेती हैं तो इसमें हमारी विवशता है। ऐसा समझ लो कि 'वर्णशुद्धि' की दिशा में वह हमारा प्रथम आग्रह है [हम लोग खानदानी हैं। नीचों, लम्पटों से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। हम तो 'सुवर्ण' विशिष्ट (अच्छे) उच्च वर्णवाले, या सोने से भरपूर) व्यक्ति कों ही आत्मसर्मपण करती हैं ॥ ३८ ॥

उसी कथन को स्पष्ट करती हुई यह उक्ति है—

प्रायः कुवर्णपरुषा भणितिः शठाश्च
वेशे चरन्ति शुचयोऽपि महानुभावाः ।
वश्याः सुवर्णरतयो वयमात्तसन्धा-
स्तस्मात् सुवर्णमहितान् हि जनान् भजामः ॥ ३९ ॥

वेशे प्रायः कुवर्णपरुषा भणितिः शठाः च महानुभावाः शुचयः अपि चरन्ति वयम् आत्तसन्धाः सुवर्णरतयः वश्याः तस्मात् सुवर्णमहितान् जनान् हि भजामः ॥ ३९ ॥

जानते ही हो, यह तो रूप का बाजार है। इसमें सब तरह के लोग चक्कर लगाते हैं। कुवर्ण, परुषा उक्तिवाले दुष्टजन तो घूमते ही हैं। भद्र 'सुवर्ण' सज्जन भी कृपावश आ जाते हैं, हम लोग (विशेषतः मैं) तो कुल की प्रतिज्ञा से बँधे हैं। हम तो 'सुवर्णरति' (उच्चकुलीन से प्रेम-सम्बन्ध) ही कर सकती हैं। यही कारण है कि 'सुवर्ण' प्रतिष्ठित व्यक्ति ही हमारी सेवा प्राप्त कर सकता है [अतः यहाँ आनेवाले को सुवर्ण से ही अपने सुवर्णत्व का परिचय देना होगा।] ॥ ३९ ॥

प्रसंगवश कोई शिवाजी महाराज के आने की खबर पर प्रतिक्रिया व्यक्त कर रहा है—

मेधा प्रसादविधुराऽपि समुत्सुकेव
यातैव हन्त नृपमस्तसमस्तरागम्।
आहूयते यमदिशो यमनानुकार-
स्तच्छ्रूयते सविनयं विजितः शिवाजिः ॥ ४० ॥

हन्त! अस्तसमस्तरागं नृपं समुत्सुका इव प्रसादविधुरा अपि मेधा याता एव। यमदिशः यमनानुकारः विजितः शिवाजिः सविनयम् आहूयते तत् श्रूयते ॥ ४० ॥

प्रतीत होता है कि समस्त रागों से (आमोद-प्रमोद की रुचि से) रहित बादशाह पर आखिर सद्बुद्धि ने कृपा कर ही दी, यों तो वह रूठी ही थी। सुना है यम (दक्षिण) दिशा से यमराज के समान शिवाजी को युद्ध में हरा देने के बाद हमारे बादशाह ने अपने दरबार में बुलाया है। ॥ ४० ॥

[क्या कारण हो सकता है? क्यों बुलाया गया है? किसी का विचार है—]

प्रायो द्विषं नयमना यमनाय दित्सुः
शस्त्रक्रियाशतमखं तमखण्डवीर्यम्।
आहूय सत्कृतिपथेन नृपः शिवाजिं
तस्याचरिष्यति वयोऽवधिबन्धमोक्षम् ॥ ४१ ॥

शस्त्रक्रियाशतमखम् अखण्डवीर्यं तं द्विषं प्रायः यमनाय दित्सुः नयमनाः नृपः शिवाजिं सत्कृतिपथेन आहूय तस्य वयोऽवधिबन्धमोक्षम् आचरिष्यति ॥ ४१ ॥

हमारे बादशाह नीतिज्ञ हैं। शत्रु को यमराज के हवाले करना ही उनका प्रधान उद्देश्य रहता है। अतः शस्त्र-कौशल में इन्द्र के समान प्रतापी उस अक्षत विक्रमवाले शिवाजी को सत्कारपूर्वक बुलाकर हमारे बादशाह उन्हें सारी उम्र जेल में रखकर उनके मोक्ष का उपाय कर देंगे ॥ ४१ ॥

[या यह भी हो सकता है कि—]

आहोस्विदप्रतिहताहवदर्पकीर्तेः
प्रायोऽनुषङ्गमधुरेष्वपि विभ्रमेषु।

धीमानसंस्तवमवेक्ष्य सुमित्रधर्मा
तं शिक्षयेन्नु ललितानि सह प्रयोगैः ॥ ४२ ॥

आहोस्वित् अप्रतिहताहवदर्पकीर्तेः प्रायः अनुषङ्गमधुरेषु विभ्रमेषु अपि असंस्तवम् अवेक्ष्य सुमित्रधर्मा धीमान् तं प्रयोगैः सह ललितानि शिक्षयेत् नु ॥ ४२ ॥

अथवा यह भी हो सकता है कि हमारे बुद्धिमान् बादशाह ने युद्ध में अद्वितीय पराक्रमवाले शिवाजी को स्वभावतः मधुर आकर्षक रंगीनियों में बिल्कुल अपरिचित देखकर मित्रतावश उन्हें जीवन की रंगीनियों की व्यवहार-परक शिक्षा देने के लिए ही यह प्रयास किया हो। मराठा राजा यहाँ केलि-कला में सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनों पक्षों का पण्डित हो जायेगा ॥ ४२ ॥

[किसी को शिवाजी महाराज के आने से अपने कार्य में बाधा की आशंका हो रही है—]

प्राणा भटे भटरमासु नवाभिलाषः
कीर्तिर्नृपे स्तुतिततिर्जडमागधेषु ।
स्वास्थ्यं प्रजासु कनकर्द्धिचयश्च कोषे
प्राप्ते शिवेऽखिलशिवं वयमेव नष्टाः ॥ ४३ ॥

भटे प्राणाः भटरमासु नवाभिलाषः नृपे कीर्तिः जडमागधेषु स्तुतिततिः प्रजासु स्वास्थ्यं कोषे कनकर्द्धिचयः च शिवे प्राप्ते अखिलशिवं वयम् एव नष्टाः ॥ ४३ ॥

शिवाजी के यहाँ आ जाने से सैनिकों को प्राणदान मिल गया (युद्ध नहीं होगा, सैनिक नहीं मरेंगे)। सैनिकों की सुन्दरियों में नयी अभिलाषाओं को स्थान मिल गया (अब निश्शंक होकर वे पतिमिलन की कल्पना में उत्कण्ठित रहेंगी)। राजा को विजयकीर्ति मिला, मूर्ख बन्दीजनों में विजयकीर्ति गाने का, स्तुति करने का उत्साह मिला, प्रजा जन में स्वस्थचित्तता आ गयी (अब वे युद्धजन्य उथल-पुथल से मुक्त रहकर स्वस्थचित्त से अपना उद्यम चलायेंगे) खजाने में सोने की वृद्धि हुई (युद्धजन्य अपव्यय रुक गया)। आशय यह है कि शिवाजी के आगमन से सबको सब कुछ मिला, केवल हमीं लोग मारे गये—उनके आने से हम लोगों का तो अकल्याण ही हुआ। ॥ ४३ ॥

अपने काल्पनिक कष्ट का विवरण दे रहे हैं—

वन्यातिथीन् वितथरागरमान् विधाय
हेमालयं जितहिमालयमाशु लब्ध्वा ।
एतानकिञ्चनविधीन् कथमाश्रयेन्नः
सामन्तमौलिमणिमण्डितपल्लवाग्रा ॥ ४४ ॥

वन्यातिथीन् वितथरागरमान् विधाय जितहिमालयं हेमालयम् आशु लब्ध्वा सामन्त-मौलिमणिमण्डितपल्लवाग्रा एतान् अकिञ्चनविधीन् नः कथम् आश्रयेत् ॥ ४४ ॥

मराठे तो जंगली हैं। उन्हें ये वाराङ्गनायें अपने झूठे अनुराग और हाव-भाव से सहज ही वश में कर लेंगी। फिर तो उनके पास धन की कमी है ही नहीं, वे भोले-भाले जंगली इनको सोने के हिमालय से भर देंगे। वैसी स्थिति में सामन्तों के उत्तम मणि-रत्नों से सुशोभित चरणोंवाली ये रमणियाँ हम जैसे भाग्यहीन भिक्षुओं को अपने पास कब फटकने देंगी ॥ ४४ ॥

शिवाजी भी क्या करते, आखिर मनुष्य ही तो हैं, फिसल गये—

यः सम्मतः पविकठोरतरः स एव
जातः प्रसूनमृदुलो हतदैवदष्टः।
लोकेऽथवा नमति को न गृहीतमूल्यः
को वा न संस्खलति पिच्छिलमुक्तिमार्गे ॥ ४५ ॥

यः पविकठोरतरः सम्मतः सः एव हतदैवदष्टः प्रसूनमृदुलः जातः, अथवा लोके गृहीत-मूल्यः कः न नमति पिच्छिलमुक्तिमार्गे कः वा न संस्खलति ॥ ४५ ॥

जिसे (शिवाजी को) वज्र से भी अधिक कठोर सुना जाता था वही दुर्दैव द्वारा डँस लिए जाने के कारण फूल से भी कोमल हो गया। अथवा यह भी क्यों कहा जाय, संसार में कौन है जो मुँह-माँगा दाम पाकर झुक न जाय, या ऐसा कौन है जो देशमुक्ति के फिसलनवाले मार्ग पर फिसल न जाये। शिवाजी को बादशाह ने खरीद लिया, अथवा शिवाजी भी तो मनुष्य हैं, कबतक आजादी के लिए मिटते, फिसल गये ॥ ४५ ॥

नूनं नृपेण परिणामदृशा विधत्तं
यद्दक्षिणाञ्चलरमाः स्पृहणीयवीर्याः।
आमन्त्रिता युधि परीक्षितकीर्तयोऽपि
निर्जेतुमत्र कुटिलालकपाशबद्धाः ॥ ४६ ॥

यत् दक्षिणाञ्चलरमाः स्पृहणीयवीर्याः युधि परीक्षितकीर्तयः अपि कुटिलालकपाशबद्धाः अत्र निर्जेतुम् आमन्त्रिताः (तत्) परिणामदृशा नृपेण नूनं विधत्तम् ॥ ४६ ॥

परिणामदर्शी हमारे बादशाह ने यह बड़ा ही अच्छा किया कि अत्यन्त प्रतापी, युद्धभूमि में भलीभाँति परीक्षित पराक्रमवाले, इन दक्षिणी वीरों को यहाँ आदरपूर्वक बुलवा लिया। युद्ध भूमि में जो कुछ बचा-खुचा शौर्य इनके पास होगा उसे भी घुँघराले केशों की कैद में डालकर इन्हें सदा-सर्वदा के लिए पराजित कर देना ही उचित है। शत्रु को विषय-भोगों में अनुरक्त करा देना भी राजनीति का महान् अस्त्र है ॥ ४६ ॥

वारांगनाओं से मराठे बच नहीं सकते—

निर्हेतुहासशकलीकृतशूलिधैर्यं
सूक्ष्मांशुकाकुलकुचं वलिताक्षिकोणम् ।
रूपंनिरीक्ष्य रणमूर्धनि ते त्वदीयं
मूढा वनेचरमृगा निहताः पतेयुः ॥ ४७ ॥

निर्हेतुहासशकलीकृतशूलिधैर्यं सूक्ष्मांशुकाकुलकुचं वलिताक्षिकोणं त्वदीयं रूपं निरीक्ष्य रणमूर्धनि ते मूढाः वनेचरमृगाः निहताः पतेयुः ॥ ४७ ॥

अकारण, यों ही हँसने के कारण शंकर के धैर्य को भी विचलित कर देनेवाले, रेशमी साड़ी के भीतर से कसमसाते स्तन से युक्त, तथा कटाक्षपूर्ण दृष्टिवाले तुम्हारे सौन्दर्य को एक बार भी निहार लेने पर विलासलीला के रणक्षेत्र में जंगली वनचारी हरिण—वे मराठे—अवश्य ही विद्ध होकर गिर पड़ेंगे ॥ ४७ ॥

द्यूतक्रीडा—

यो लोष्टवत्त्यजति निस्स्पृहमर्थराशीन्
स्वस्थो वशी जयपराजयमोहमुक्तः ।
एकान्तरागि कुरुते बलवन्मनोऽपि
सोऽसौ दुरोदरवरो मुनिवर्त्मसिद्धः ॥ ४८ ॥

यः निस्स्पृहम् अर्थराशीन् लोष्टवत् त्यजति जयपराजयमोहमुक्तः वशी बलवत् मनः अपि स्वस्थः (सन्) एकान्तरागि कुरुते असौ मुनिवर्त्मसिद्धः सः दुरोदरवरः ॥ ४८ ॥

जो अत्यन्त निस्पृह होकर मिट्टी के ढेले के समान धन-सम्पत्ति फेंक रहा है, स्वस्थचित्त है, अतिशय संयमपूर्ण है, जय-पराजय के मिथ्या बन्धन से सर्वथा मुक्त है, यहाँ तक कि अत्यन्त प्रमाथी उद्दण्ड मन को भी एकान्तप्रिय बना दिया है, मुनिजनों के समान सिद्धाचारवाला वह जुआरियों का सरदार है [मँजे हुए जुआड़ी बहुधा राजभय के मारे किसी एकान्त निरापद स्थान में जुआ खेलते हैं। उनकी मुद्रा अतिशय शान्त संयत होती है, मुँह तक नहीं खोलते, हार-जीत में व्यग्र नहीं होते तथा दाँव पर मुक्तहस्त बाजी लगाते हैं। लगता है जुआरी न होकर कोई साधक बैठा है।] ॥ ४८ ॥

[जिसने त्रिवर्ग-अर्थ धर्म काम को वश में कर लिया वही मुक्ति को भी वश में कर सकता है—]

आमुष्मिकञ्च महतः कृतकृत्यसिद्धे-
स्तस्यैव येन नियतं विजितस्त्रिवर्गः ।
अर्थेन काममभिषिच्य निषेव्य धर्मं
जीवन्निहैव भजते पुरुषोऽपवर्गम् ॥ ४९ ॥

आमुष्मिकं च कृतकृत्यसिद्धेः महतः तस्य एव येन त्रिवर्गः नियतं विजितः अर्थेन कामम् अभिषिच्य धर्मं निषेव्य जीवन् पुरुषः इह एव जीवन् अपवर्गं भजते ॥ ४९ ॥

प्रायः इस संसार में रहता हुआ व्यक्ति परलोक के सम्बन्ध में चिन्ता किया करता है किन्तु जो अपने मनोरथ को यहाँ इस पृथ्वी पर भलीभाँति पूर्ण करता है तथा त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की सम्यक् आराधना करता है वही परलोक में भी शुभगति का अधिकारी होता है। अर्थ के द्वारा काम का समुचित अभिषेक, तृप्ति करके ऐहिक (इस पृथ्वी पर) धर्म, कामतृप्तिजन्य प्रसन्नता को भोगनेवाला पुरुष जीवित रहता हुआ ही यहीं पर स्वर्ग का फल प्राप्त करता है। ॥ ४९ ॥

[भद्रे ! जल शरीर-ताप शान्त करता है। तुम आत्मदाह को भी शान्त कर देती हो—]

प्रायो जलानि शमयन्ति शरीरतापं
साधौ जने तदपि निष्फलमेव वर्त्म।
दिव्यं त्वदीयतनुतीर्थमवाप्य कोऽसौ
यस्यात्मदाहविरहं न बिभर्ति चेतः ॥ ५० ॥

जलानि प्रायः शरीरतापं शमयन्ति तत् वर्त्म अपि साधौ (स + आधिः = साधिः, तस्मिन् साधौ) जने निष्फलम् एव, दिव्यं त्वदीयतनुतीर्थम् अवाप्य असौ कः यस्य चेतः आत्मदाहविरहं न बिभर्ति ॥ ५० ॥

अनुभव है कि ठण्डा जल शरीर-ताप को शान्त करता है किन्तु यदि व्यक्ति मानसिक व्यथा से सन्तप्त (साऽऽधि) हो तो यह उपाय (ठण्डा जल) निष्फल ही होता है। परन्तु इस संसार में ऐसा कौन है जिसे तुम्हारे दिव्य अलौकिक तनु-तीर्थ का सेवन करने पर भी उसके चित्त ने आत्मदाह से मुक्त होने का सुफल नहीं प्राप्त किया [तुम्हारे शरीररूपी तीर्थ के भक्त का केवल देहताप ही नहीं अपितु आत्म-दाह तक शान्त हो जाता है।] ॥ ५० ॥

[गुलाब का फूल तुम्हारे ओठों की लालिमा के सामने व्यर्थ है।]

व्रीडाविशीर्णविभवोऽपि निशि प्रलीनः
प्रातस्तनोत्यनुदिनं नवरागलक्ष्मीम्।
मोघाग्रहः सुमुखि पाटलपुष्पबन्धः
त्वद्विद्रुमौष्ठपदमाप्तुमपि क्षमः किम् ॥ ५१ ॥

सुमुखि, निशि प्रलीनः व्रीडाविशीर्णविभवः अपि अनुदिनं पाटलपुष्पबन्धः प्रातः नव-रागलक्ष्मीं तनोति मोघाग्रहः त्वद्विद्रुमौष्ठपदम् आप्तुम् अपि क्षमः किम् ॥ ५१ ॥

जो लाज से ही सब कुछ खोकर, म्लानकान्ति हो रात के अन्धकार में विलीन हो जानेवाला, पर फिर दूसरे दिन प्रातःकाल ही नवीन सजधज से अपनी रागच्छवि

(लालिमा) का विस्तार करता है, अप्रतिम मुख-सौन्दर्यवाली, सुन्दरी, भला, व्यर्थ की स्पर्द्धावाला यह गुलाब का फूल, तुम्हारे मूँगे के समान लाल खिले हुए अधरों के स्थान को प्राप्त करने में कभी समर्थ हो सकता है ॥ ५१ ॥

प्रशंसक—असाधारण उपकरणों द्वारा तुम्हारा असाधारण निर्माण हुआ है—]

ज्योत्स्नां सुहासधवलां मदिरां स्खलन्तीं
गन्धाञ्जलीनि कुसुमानि मिथः समेत्य ।
कामो दिदर्शयिषुरात्मकलां वसन्ते
त्वामालिलेख नवयौवनलोलभित्तौ ॥ ५२ ॥

सुहासधवलां ज्योत्स्नां स्खलन्तीं मदिरां गन्धाञ्जलीनि कुसुमानि मिथः समेत्य वसन्ते आत्मकलां दिदर्शयिषुः कामः नवयौवनलालभित्तौ त्वाम् आलिलेख ॥ ५२ ॥

सुहास जैसी शुभ्र कान्तिवाली चाँदनी, विह्वल, चञ्चल शराब तथा गन्धपूर्ण अञ्जलिवाले कुसुमों को एक साथ लेकर; अपनी निर्माण कला को लोक में प्रदर्शित करने की इच्छा से, स्वयं कामदेव ने वसन्त ऋतु में नवयौवन की चञ्चल पट्टिका पर तुम्हारी छवि का अंकन किया—यही कारण है कि तुम असामान्य-सौन्दर्यवती हो ॥५२॥

किसी मानिनी को प्रसन्न करने की चेष्टावाले की उक्ति है—

यन्मामनागसमपि क्षमसे न पातुं
त्वद्बुद्धिसूक्तपटवो वटवो हतास्तत् ।
सुस्नेहपिच्छिलपथे सरलस्वभावाः
प्रायः स्खलन्ति निपतन्ति न मादृशाः के ॥ ५३ ॥

यत् अनागसम् अपि मां पातुं न क्षमसे तत् त्वद्बुद्धिसूक्तपटवः वटवः हताः मादृशाः के सरलस्वभावाः सुस्नेहपिच्छिलपथे प्रायः न स्खलन्ति निपतन्ति ॥ ५३ ॥

सुनो, ऐसे अनेक प्राणी हैं जो निर्बाध कण्ठ से तुम्हारी सुबुद्धि, उदारता तथा कृपाशीलता की प्रशंसा करते नहीं थकते। यदि मुझ निरपराध को भी अपनी क्षमाशीलता से तुम अनुगृहीत न करोगी तो उन प्रशंसकों को झूठा बनना पड़ेगा, उनके हृदय को ठेस लगेगी। स्निग्ध होने के कारण स्नेह का मार्ग तो फिसलन-वाला है ही (तेल भी यदि फर्श आदि पर गिर जाय तो पैर फिसलता है) और मेरे जैसा सरल स्वभाववाला भला कौन प्राणी उस मार्ग पर फिसलने से, गिरने से बच सकता है, तो यदि कभी फिसल ही गया, कुछ प्रमाद हो ही गया तो क्षमा कर दो ॥ ५३ ॥

मा मा रुषाऽपनय दृष्टिमुदीर्णरागां
दासात् कृशोदरि, सहेलमदष्टदष्टात् ।

देशं जिहासुमधमं तव कोपशान्त्यै
को मामिहानयति वीतधियं न जाने ॥ ५४ ॥

कृशोदरि, अदृष्टदष्टात् दासात् उदीर्णरागां दृष्टिं रुषा सहेलं मा मा अपनय, तव कोपशान्त्यै देशं जिहासुम् अधमं वीतधियं माम् इह कः आनयति न जाने ॥ ५४ ॥

कृशोदरि, दुर्भाग्य-दष्ट इस दास को देखकर अपनी रागोन्मद दृष्टि से क्रोधपूर्वक दूसरी ओर मत देखो मैं तो तुम्हारी कोप-शान्ति के लिए इस देश को ही छोड़कर दूर निकल जाना चाहता था, किन्तु न जाने कौन मुझ अचेतप्राय मन्दभाग्य को यहाँ बरबस खींच लाता है ॥ ५४ ॥

किसी वृद्धा वेश्या के प्रति—

द्वित्रिद्विजा[1] विरलवर्णवचाः स्खलन्ती
वीतादरा वपुषि कौतुकलुब्धचित्ता ।
स्तोकाम्बराऽविदितयौवनलक्ष्मदेहा
कन्यागुणाऽपि जरती न जहाति वेशम् ॥ ५५ ॥

द्वित्रिद्विजा विरलवर्णवचाः स्खलन्ती वपुषि वीतादरा कौतुकलुब्धचित्ता स्तोकाम्बरा अविदितयौवनलक्ष्मदेहा—कन्यागुणा अपि जरती वेशं न जहाति ॥ ५५ ॥

यह देखिये, अपने स्वभाव-गुण आदि से यह बुढ़िया छोटी बालिका सी है किन्तु फिर भी इस रूप के बाजार को छोड़कर नहीं जाती—

मुँह में दो-तीन ही दाँत हैं (सब टूट गये हैं), तुतलाकर अस्पष्ट बोलती है (बुढ़ापे तथा बीमारी के कारण बोली लटपटा गयी है), गिरती-पड़ती चलती है (बुढ़ापे से पैरों की गति कुण्ठित हो गयी है), शरीर का सजाने के प्रति कोई आदर-भाव नहीं है ; अब यह सब निष्फल है), खेल-तमाशों में दौड़कर पहुँचती है (यह बुढ़ियों का स्वभाव है), पूरा वस्त्र भी नहीं पहनती (दरिद्रता ही कारण है) तथा शरीर में कोई यौवन का लेक्षण भी नहीं है (वृद्धावस्था के कारण रूप गल गया है, यौवनोदय, सन्ध्या के कारण अस्त हो गया है) छोटी बालिका भी तुतलाकर बोलती है, मुँह में दो-तीन दँतुलियाँ होती हैं, गिरती-पड़ती दौड़ती है, देह को सजाना जानती भी नहीं, खेल-तमाशे में रुचि रखती है, वस्त्रों के लिए भी उत्सुकता नहीं—कुछ भी पहन लिया, तथा शरीर में यौवन के चिह्न का उदय भी नहीं रहता ॥ ५५ ॥

---

१. प्रायेण वेशभूमौ अतिभुक्तयौवनाः शीर्णदन्तनखकचाः कम्पितमूर्धानः स्थविराः मृत्युप्रान्तलग्ना वृद्धाः वेश्याः इतस्ततः चरन्त्यः दृश्यन्ते । तास्तु अतिवाहितजीवनाः वेशं विहाय कुत्रापि मनोरतिं न लभन्ते । नूनं परिणामविषं गाणकम् ।

नर्मोक्तिभिः परिचितेषु विनोदयन्ती
नव्यासु चित्रचरितं परिकीर्तयन्ती ।
मिथ्याग्रहैस्समदशासु रुषा दहन्ती
सर्वंसहाऽपि चषकं न जहाति वृद्धा ॥ ५६ ॥

परिचितेषु नर्मोक्तिभिः विनोदयन्ती नव्यासु चित्रचरितं परिकीर्तयन्ती समदशासु मिथ्याग्रहैः रुषा दहन्ती सर्वंसहा अपि वृद्धा चषकं न जहाति ॥ ५६ ॥

यह बुढ़िया, पूर्व-परिचितों के बीच हास-परिहास में रस लेती हुई, नव-युवतियों में विस्मयपूर्ण कहानियाँ सुनाती हुई, अपनी उम्र की वेश्याओं में अकारण झूठ-मूठ, क्रोधपूर्वक झगड़ा करती हुई, सब कुछ पृथ्वी के समान सहती है, फिर भी कहीं भी, किसी प्रकार भी एक घूँट शराब की लालसा को नहीं छोड़ती—शराब के लिए कुछ भी कर सकती है ॥ ५६ ॥

कोई उपेक्षिता (सम्भवतः प्रौढावस्था के कारण) अपने काल्पनिक रोग को ही कारण मान रही है—

रोगो हि नाम हतदैवपराभिधानं
यो जीवयन्नपि मृतेरधिकं दुनोति ।
मामेव पश्य मदपाङ्गनिलीनचेता
अम्बां सहेलमभिधाय जनोऽपयाति ॥ ५७ ॥

रोगः यः जीवयन् अपि मृतेः अधिकं दुनोति हतदैवपराभिधानं नाम, माम् एव पश्य मदपाङ्गनिलीनचेताः जनः सहेलम् 'अम्बाम्' अभिधाय अपयाति ॥ ५७ ॥

रोग दुर्दैव का, दुर्भाग्य का ही दूसरा नाम है। रोग जिलाता हुआ भी मृत्यु से अधिक दुखदायी होता है। मुझे ही देखिये, जो कभी मेरी कटाक्षपूर्ण दृष्टि पर सुध बुध खोकर विह्वल हो जाता था वही व्यक्ति आज मुझे रोग से जर्जरितयौवना देखकर, अवहेलनापूर्वक मुझे 'अम्माँ' के सम्बोधन से अपमानित कर दूसरी ओर खिसक जाता है ॥ ५७ ॥

कच्चिद्युगस्थितिरियं समयाग्रहो वा
हृद्येऽनुरागविषये यदियं प्रवृत्तिः ।
चित्रोद्यमः क्व निखिलोपधिमित्प्रसङ्गः
क्वेमे विकारिविभवास्तनुपक्षपाताः ॥ ५८ ॥

कच्चित् इयं युगस्थितिः समयाग्रहः वा यत् हृद्ये अनुरागविषये इयं प्रवृत्तिः, चित्रोद्यमः निखिलोपधिमित् प्रसङ्गः क्व इमे विकारिविभवाः तनुपक्षपाताः क्व ॥ ५८ ॥

और किसी अन्य रूपसम्पद्दरिद्रा ने उसके समर्थन में कहा—

पता नहीं यह युगधर्म है या समय का प्रभाव है कि अतिशय सहृदयपूर्ण अनुराग स्नेह के सम्बन्ध में भी समाज ऐसी हीन भावना को मन में स्थान देता है। कहाँ तो अलौकिक उद्यमवाला, सर्वविध व्यवधानों एवं द्वन्द्वों के बन्धन को विलीन कर देनेवाला प्रेम प्रसंग, और कहाँ विकारजन्य वैभववाले शरीर में पक्षपात-बुद्धि [वस्तुतः जिसे शैशव, यौवन या वृद्धता के नाम से जाना जाता है वह शरीर नहीं अपितु अवस्थाप्रदत्त विशेषण है, तथा विशेषता भी शाश्वत नहीं, विकार-जन्य है, शरीर को छोड़कर उसमें उपस्थित होनेवाले परिवर्तनों को महत्त्व देना बुद्धि का अपमान करना है, इसके विपरीत स्नेह दिव्यभावापन्न है, स्थिर है, समस्त प्रपञ्चों का संहारक है, अद्वैतनिर्भर है—अतः स्नेह की आधारशिला के रूप में शरीर के बाह्य आकर्षण को प्रतिष्ठित करना, विवेक की विडम्बना है। प्रेम निरवधि है, वह आन्तरिक हृदयस्थिति को ही आधार मानता है, आदि।] ॥ ५८ ॥

व्यापारहेतुविषमे पशुनिर्विशेषे
रागे तनूत्सवहृतो रमतां विमूढः।
स्नेहप्रभावविदनन्यरसप्रवीणः
सिद्धान्तरक्षमतनुं सुमना धिनोति ॥ ५९ ॥

व्यापारहेतुविषमे पशुनिर्विशेषे रागे तनूत्सवहृतः विमूढः रमताम्, (किन्तु) स्नेहप्रभाव-वित् अनन्यरसप्रवीणः सुमनाः सिद्धान्तरक्षम् अतनुं (सिद्ध + अन्तरक्षम + तनुं, अथवा, सिद्ध + अन्तरक्षं + अतनुम्) धिनोति ॥ ५९ ॥

व्यापारमूलक, अतएव विषम, पशु-सामान्य-प्रवृत्तिवाले राग में तो कोई मन्दबुद्धि ही निमग्न हो सकता है क्योंकि वह बाह्य शरीर के वैभव में ही आसक्त है। किन्तु जो विवेकी स्नेह की अचिन्त्य महिमा को जानता है तथा सर्वोत्कृष्ट रस का अभिलाषी है वही सिद्धान्त की रक्षा करनेवाले, शास्त्रोचित पद्धति के उपासक काम को यथार्थ आराधना करता है।

'सिद्धान्तरक्षमतनुं'—के अनेक अर्थ हैं—

(सिद्धान्त+रक्षम्+अतनुम्)—सिद्धान्तरक्षक कामदेव।

(सिद्ध+अन्तरक्षम+तनुम् = भीतर से सर्वथा अनुकूल शरीर के कारण अभीष्ट कामदोह में सर्वथा उपयुक्त स्थितिवाली को)

(सिद्ध+अन्तरक्षम्+अतनुम् = कामदेव जिसकी अन्तर्दृष्टि सर्वथा निर्बाध है।) ॥ ५९ ॥

[यह सब सुनकर कोई परिहासपूर्वक कहता है—]

भद्रे ! विलासवसताविह धर्मवर्त्मा
बाल्यं विटेषु नवयौवनमिष्टदेषु।

सम्भुज्य वृद्ध—परमेष्वधुना चरन्ती
निष्ठावती त्वमिव तापसि ! राजसे त्वम् ॥ ६० ॥

भद्रे ! इह विलासवसतौ धर्मवर्त्मा विटेषु बाल्यम् इष्टदेषु नवयौवनं सम्भुज्य अधुना वृद्धपरमेषु चरन्ती, तापसि, त्वम् इव निष्ठावती त्वम् (एव) राजसे ॥ ६० ॥

देवि, वास्तव में इस विलासभूमि में केवल तुम्हीं धर्मचारिणी हो, तुम कुल-धर्म का यथार्थ पालन करती रही हो। धर्म-भावना के ही कारण तुमने अपने बचपन को बाल्य-बन्धुओं में, यौवन को उचित परितोष करनेवाले (शुल्क आदि देकर अनुग्रह चाहनेवाले) युवकों एवं प्रौढ़ों में वितरित किया। अब वृद्धों के बीच चरती हुई, पूर्णनिष्ठासम्पन्न तुम अकेली ही हो। तपस्विनि ! कुलधर्म के लिए मर-मिटनेवाली तुम्हारी समता वास्तव में कोई नहीं कर सकती, तुम बेजोड़ हो। संक्षेप में, तुम्हारे समान बस तुम्हीं हो ॥ ६० ॥

[सुरापान की प्रशस्ति—]

यत्सङ्गतो हि सुखदुःखविभेदमुक्तः
स्वान्तःप्रतीतिपरमो मनसः समाधिः।
कालत्रिदोषमवजित्य धिनोति कोऽपि
तत्सूतिरस्तु चषकः सततं गतिर्नः ॥ ६१ ॥

यत्सङ्गतः हि सुखदुःखविभेदमुक्तः स्वान्तःप्रतीतिपरमः कः अपि मनसः समाधिः कालत्रिदोषम् अवजित्य धिनोति तत्सूतिः चषकः नः सततं गतिः अस्तु ॥ ६१ ॥

जिस स्थितिविशेष में अवस्थित व्यक्ति को, सुख-दुःखादि-भेदरहित स्वान्तः-प्रतीति-निर्भर, कालगत त्रिदोष (भूत-वर्तमान-भविष्य-मूलक चिन्ता-शोक आदि) को नष्ट कर, कोई मन की समाधि आह्लादित करती है, उस स्थितिविशेष का जनक, कारण, पानपात्र (पानपात्र में स्थित मदिरा) हम लोगों का सदैव कल्याण करे ॥ ६१ ॥

दासो धनेन रहितः प्रवयाः श्लथाङ्गः
सद्यःफलां भगवतीं मदिरामुपास्य।
वीतं निहत्य रमते नवसर्गकल्पः
स्वामी धनी नवयुवा त्वरयानुलीढः ॥ ६२ ॥

दासः धनेन रहितः प्रवयाः श्लथाङ्गः सद्यःफलां भगवतीं मदिराम् उपास्य वीतं निहत्य स्वामी धनी नवयुवा त्वरया अनुलीढः नवसर्गकल्पः रमते ॥ ६२ ॥

तुरन्त फल देनेवाली भगवती मदिरा की आराधना से, दास भी उसी क्षण स्वामी हो जाता है, निर्धन कुबेर हो जाता है, बुड्ढा, नवयुवक बन जाता है तथा

शिथिलांग व्यक्ति भी स्फूर्ति से छलक पड़ता है तथा भूतकाल को भूलकर नवीन कायाकल्प से सम्पन्न होकर आनन्द-मग्न हो जाता है ॥ ६२ ॥

आरोपिताऽऽधिविषमोद्यमनिस्सहार्ति-
स्वेदोत्करश्लथगतिस्थगितानुभावम् ।
लब्ध्वा चिरावनिनिखातसुराभिषेकं
सद्यो मनः सहजलाघवमभ्युपैति ॥ ६३ ॥

आरोपिताऽऽधिविषमोद्यमनिस्सहार्तिस्वेदोत्करश्लथगतिस्थगितानुभावं मनः चिरावनिनिखातसुराभिषेकं लब्ध्वा सद्यः सहजलाघवम् अभ्युपैति ॥ ६३ ॥

गले पड़ी हुई अनेकविध मानसिक-चिन्ताजन्य व्यवसाय में तत्पर होने से सर्वथा दुःखपूर्ण स्वेदप्रवाह द्वारा समुद्भूत शैथिल्य के कारण अनुभाव-कुण्ठित होनेवाला मन यदि भाग्यवश सुचिर काल से पृथिवी के अन्तराल में रखी हुई द्राक्षा-सुधा का यथावत् पान कर ले तो तत्क्षण ही अपने में नवीन स्फूर्ति अनुभव करने लगता है तथा सारी कुण्ठा, शिथिलता, अवसाद आदि नष्ट हो जाते हैं ॥ ६३ ॥

(कोई अपनी सफाई देता हुआ मानिनी वारवधू को मना रहा है—)

दण्डं निरागसि कृपा चपलेऽपपात्रे
भक्तेऽपरागनिचयो विमुखेऽनुरागः ।
भिक्षुं मनोरथ--कथेव जनं दिधक्षु-
स्त्वं वर्धसे हतविधेर्विधिरेव वामे ॥ ६४ ॥

निरागसि दण्डम्, अपपात्रे चपले कृपा, भक्ते अपरागनिचयः विमुखे अनुरागः, भिक्षुं मनोरथकथा इव जनं दिधक्षुः वामे ! त्वं हतविधेः विधिः एव वर्धसे ॥ ६४ ॥

विचित्र स्थिति है, निरपराध को दण्डित करती हो, चञ्चल स्वभाववाले कुपात्र पर कृपा करती हो, भक्तों के प्रति विराग भाव है किन्तु जो तुमसे सर्वथा विमुख है उसके लिए जान तक देने को तैयार हो। कठोर हृदयवाली सुन्दरी, जिस प्रकार अनेक कल्पनाओंवाला भिक्षुक विडम्बना ही प्राप्त करता है उसी प्रकार मुझे जलाने के लिए ही दुर्दैव ने तुम्हें अपना अस्त्र बना लिया है ॥ ६४ ॥

सूक्ष्मैव काऽपि सरणिस्तव दण्डतन्त्रे
स्वस्थे वपुष्यपि जनो विकलान्तरात्मा ।
मूढोऽवसीदति करीव निलीनपङ्को
हित्वा मनोज्ञविषयानकुतोऽभिरक्तिः ॥ ६५ ॥

तव दण्डतन्त्रे का अपि सूक्ष्मा एव सरणिः (यत्) स्वस्थे वपुषि अपि विकलान्तरात्मा मूढः जनः करी इव निलीनपङ्कः मनोज्ञविषयान् हित्वा अकुतोऽभिरक्तिः अवसीदति ॥ ६५ ॥

तुम्हारी दण्डसंहिता में दण्डित करने की विचित्र पद्धतियाँ हैं। तुम जिसे दण्डित करती हो वह भाग्यहीन प्राणी शरीर के सर्वथा स्वस्थ रहने पर भी, शारीरिक दृष्ट्या अदण्ड्य होकर भी विकलचित्त होकर मूढतापूर्वक हाथी के समान कीचड़ के गड्ढे में धँसा हुआ, विषयों (लालित्यपूर्ण विषयों) से सर्वथा निःस्पृह हो, कहीं भी चैन न पाता हुआ घोर संकट में पड़ जाता है ॥ ६५ ॥

कोपो दुरागसि वरं जनशासनाय
सोढव्य एव हृदयं परमेजते मे।
श्यालः स्वसारमिव वीक्ष्य रुषारुणां त्वा-
मेषो ममान्तकविधिं विधुरातनोति ॥ ६६ ॥

जनशासनाय दुरागसि कोपः वरं सोढव्यः एव परं मे हृदयम् एजते, त्वां रुषा अरुणां वीक्ष्य श्यालः स्वसारम् इव एषः विधुः मम अन्तकविधिम् आतनोति ॥ ६६ ॥

अपने अनुचरों को अनुशासन में रखने के लिए यह उचित ही है कि अपराध करनेवाले पर क्रोध किया जाय, इसे सहन करना ही चाहिए। किन्तु मेरा हृदय इस कारण काँप जाता है कि तुम्हें मेरे ऊपर क्रोध से लाल आँखें किये देखकर यह चन्द्रमा साले के समान मेरी अन्तिम गति करने को (मार डालने को) तैयार हो जाता है [प्रायः जब स्त्रियाँ पति पर क्रुद्ध होती हैं तो उनका भाई भी बहन की तरफदारी करता हुआ क्रोध में चार कदम आगे बढ़कर अपने बहनोई पर आक्रोश प्रकट करता है।] ॥ ६६ ॥

म्भवति किं वृणुषे विषादं
कोपैः प्रसादहृदयेऽलमनात्मशीलैः।
मानोऽपमानकठिनासु तनोतु वर्त्म
क्वेमे क्व वाऽत्रभवती भवतीर्थकीर्तिः ॥ ६७ ॥

पीयूषकुम्भवति, विषादं किं वृणुषे, प्रसादहृदये अनात्मशीलैः कोपैः अलम्, मानः अपमानकठिनासु वर्त्म तनोतु क्व इमे भवतीर्थकीर्तिः अत्रभवती वा क्व ॥ ६७ ॥

अमृत-पूर्ण कुम्भस्तनवाली, यह क्या, तुम विषाद का वरण क्यों कर रही हो, तुम्हारा हृदय प्रसादमय है (प्रसन्नता ही तुम्हारे हृदय का स्वभाव है) वहाँ भला शीलरहित क्रोध का क्या प्रयोजन है। और मान तो वह युवती करती है जिसे अपमान की कड़वी घूँट पीनी पड़ी हो। भला देखो तो, क्रोध, शोक तथा तुममें दूर का भी कोई सम्बन्ध है ? तुम तो इस संसार का पुण्यमय तीर्थ हो ॥ ६७ ॥

ज्योत्स्ना स्वरूपमिव पश्यति दीर्घिकासु
सम्मन्त्रयन्निव शनैरनिलोऽभ्युपैति।

कोलाहलः स्वपिति पौरपथे विपन्नः
कान्ते ! स्मरस्थितिरियं किमुपेक्षणीया ॥ ६८ ॥

ज्योत्स्ना दीर्घिकासु स्वरूपम् इव पश्यति, सम्मन्त्रयन् इव अनिलः शनैः अभ्युपैति, विपन्नः कोलाहलः पौरपथे स्वपिति, कान्ते स्मर इयं स्थितिः उपेक्षणीया किम् ? ॥ ६८ ॥

बावलियों के शान्त स्निग्ध जल में चाँदनी अपना स्वरूप देख रही है, पवन भी धीरे-धीरे कुछ मन्त्रणा करता हुआ सा मन्दगति से चल रहा है। नगर के चौराहे पर कोलाहल विकल होकर सो गया। सोचो, कितनी निःस्तब्ध, शान्त सुखद रात्रि है ! क्या यह उपेक्षा करनेयोग्य है ? ॥ ६८ ॥

लावण्यगन्धकुटिला वसुमत्प्रतिष्ठा
भिक्षुव्रतान् मधुकरानवमत्य दिक्षु ।
सन्तापयन्ति करुणं कमलश्रियो मा-
मस्तावलम्बिनि दिने स्वकृतं स्मरन्त्यः ॥ ६९ ॥

भिक्षुव्रतान् मधुकरान् दिक्षु अवमत्य लावण्यगन्धकुटिलाः वसुमत्प्रतिष्ठाः कमलश्रियः अस्तावलम्बिनि दिने स्वकृतं स्मरन्त्यः मां करुणं सन्तापयन्ति ॥ ६९ ॥

सौन्दर्यपूर्ण सुगन्ध से उन्मत्त, वैभव-समृद्धि से पूर्ण पद्मश्री ने भिक्षा व्रत-वाले मधुप-कुल को अपमानपूर्वक चारों दिशाओं में भगा दिया, किन्तु सूर्य के अस्ताचल पर जाने के समय अपने किये पर पश्चात्ताप करती हुई पद्मलक्ष्मी की स्मृति मुझे अब भी सन्ताप से भर देती है ! [जिस प्रकार पद्मश्री को भिक्षुक भ्रमर-कुल को अपमानित करने से अन्त में पछताना पड़ा वैसा आचरण तुम न करो अपितु उदारतापूर्वक समय का वरदान स्वीकार करो ॥ ६९ ॥

[किसी वेदपाठीजी को यह सब कुछ यज्ञकर्म सा प्रतीत हो रहा है—]

यज्ञस्थली तव वपुर्वयमृत्विजोऽत्र
स्नेहो हविः सुरतकूजितमेव साम ।
वह्निर्मनोरथकथा रतिरेव यागो
मुक्तिः फलं त्रिविधकालविवर्तमुक्तिः ॥ ७० ॥

तव वपुः यज्ञस्थली वयम् अत्र ऋत्विजः स्नेहं हविः सुरतकूजितम् एव साम वह्निः मनोरथकथा रतिः एव यागः फलं त्रिविधकालविवर्तमुक्तिः मुक्तिः ॥ ७० ॥

यह तुम्हारी कमनीय देहयष्टि ही यज्ञभूमि है, हम लोग ही यज्ञकर्ता पुरोहित हैं, स्नेह ही हवनीय द्रव्य है, सुरतकूजित, मणित आदि ही सामगान है, मनोरथ ही हवनकुण्ड की अग्नि है, रतिकर्म ही यज्ञ है तथा तीन प्रकार के विकारोंवाले (भूत, वर्तमान, भविष्य) काल से मुक्ति (विस्मृति) ही मुक्ति है ॥ ७० ॥

किसी बूढ़े सेठ के प्रति—सेठ अतिशय लम्बी तोंदवाले हैं—किसी युवती की उक्ति है—

अन्योऽभिनन्दतु ममार्जवकौशलादी-
ञ्श्चित्ते गुणान् स्मरतु वाऽभिमतान् वियोगे ।
धीमन् त्वमेव मम पार्थिवजातमेकः
सङ्कृष्टवक्षसि बिभर्ष्युदरे शरीरम् ॥ ७१ ॥

ममार्जवकौशलादीन् अन्यः अभिनन्दतु, वियोगे अभिमतान् गुणान् वा चित्ते स्मरतु, धीमन् एकः त्वम् एव मम पार्थिवजातं शरीरं सङ्कृष्टवक्षसि उदरे बिभर्षि ॥ ७१ ॥

दूसरे प्रेमीजन भले ही मेरी सरलता, कौशल आदि अपार्थिव विशेषताओं की प्रशंसा करें, वियोग में मेरी विशिष्ट गुणराशि को स्मृति में स्थान दें—ये अपार्थिव भाव हैं। किन्तु सेठजी, अपने इस विशाल उदर पर, जिसने आपके वक्षःस्थल का अधिकांश भाग हड़प लिया है, केवल आप ही हमारे पार्थिव शरीर को भी धारण करते हैं। अपार्थिव गुणादि को तो कोई भी स्मरण कर सकता है पर मेरे इस पार्थिव शरीर को तो केवल आप ही अपने विशाल उदर पर धारण करते हैं ॥ ७१ ॥

तत् स्वागतं फलितमेव ममाद्य पुण्यै-
र्धिङ्मां यदर्थमयि ! सङ्कुचितं त्वयाऽपि ।
श्रेष्ठिन् त्वदीयजठरे परिरम्भसुप्ता
मत्प्राण, तुन्दिल—पितामहमास्मरामि ॥ ७२ ॥

तत् स्वागतम् अद्य मम पुण्यैः फलितम् एव अयि ! मां धिक् यदर्थं त्वया अपि सङ्कुचितम, श्रेष्ठिन्, मत्प्राण, त्वदीयजठरे परिरम्भसुप्ता तुन्दिलपितामहम् आस्मरामि ॥ ७२ ॥

अस्तु, सेठजी ! स्वागत है। सचमुच मेरे पुण्यफल पूर्ण हैं, मुझे दुःख है कि मेरे लिए आपको इतना संकुचित होना पड़ा (सिकुड़ना पड़ा, सेठ बहुत मोटा है) सेठजी, मेरे प्राणवल्लभ, जब मैं आपके भुजपाश में बँधकर आपके पेट पर सो जाती हूँ तो तुझे ऐसी अनुभूति होती है मानो मैं अपने पितामह के पेट पर लेटी हूँ [आपको देखकर मेरे प्रिय पितामह स्मृति में चित्रित हो जाते हैं।] ॥ ७२ ॥

कोई अन्य युवती परिहासपूर्वक अपनी सङ्गिनी में अनुरक्त सेठ से कहती है—

क्षोणीव भीषणवराहरदाग्रलग्ना
शक्राद्विपोल्लसितदन्तधृतेव माला ।
त्वत्तुन्दिलोदरनभस्युदितेन्दुलेखा-
मायुष्मती पततु हेमगिरे ! गृहाण ॥ ७३ ॥

भीषणवराहरदाग्रलग्ना क्षोणी इव, शक्रद्विपोल्लसितदन्तधृता माला इव, त्वत्तुन्दिलोदर-नभसि उदिता इन्दुलेखा, आयुष्मती मा पततु, हेमगिरे गृहाण ॥ ७३ ॥

भीषण वराह के विशाल दन्त के अग्रभाग पर लगी पृथिवी के समान, देवराज इन्द्र के ऐरावत के दन्त पर रखी हुई माला जैसी, आपके विशाल तोंदरूपी आकाश में उदित चन्द्रलेखा के समान, यह चिरञ्जीविनी मेरी सखी कहीं उस पर से फिसल कर गिर न पड़े, इसलिए हे हेमकूट (सोने के पहाड़) सेठजी, इसे सँभालो ॥ ७३ ॥

कामं सदुद्यमरता रमयन्तु लक्ष्मीं
प्रीताऽथ पौरुषवशाऽभिसरेत् स्वयं सा ।
त्रीण्येव वासभवनानि तथापि तस्याः
पाथोनिधिश्च भगवांश्च महाजनश्च ॥ ७४ ॥

सदुद्यमरताः लक्ष्मीं कामं रमयन्तु अथ पौरुषवशा प्रीता सा स्वयम् अभिसरेत् तथापि तस्याः त्रीणि एव वासभवनानि पाथोनिधिः च भगवान् च महाजनः च ॥ ७४ ॥

सम्भव है उद्यमशील प्राणी लक्ष्मी को अपनी ओर आलस्यरहित उद्योग-शीलता के कारण आकृष्ट कर लें अथवा पौरुष के वशीभूत रहनेवाली वह स्वयं भी अभिसारिका के समान पुरुषार्थी व्यक्ति के पास चली जायँ। फिर भी लक्ष्मी के तीन निवासस्थान अति विख्यात हैं—समुद्र, विष्णु भगवान् तथा सेठ महाजन ॥ ७४ ॥

किसी सेठ के सम्बन्ध में जिज्ञासा है—सेठ को केवल दृष्टि-विलास का ही प्रयोजन है—

नित्यातिथिर्न कृपणो न परासु रक्तः
श्रेष्ठी तथापि रमते त्वयि नेति चित्रम् ।
किंस्वित् स्वयं शुक[1] इवाभिमुखं विकाराञ्-
जेतुं व्यवस्यति चलेन्द्रियवाजिकल्पान् ॥ ७५ ॥

नित्यातिथिः, न कृपणः न परासु रक्तः तथापि श्रेष्ठी त्वयि न रमते इति चित्रम्, किंस्वित् चलेन्द्रियवाजिकल्पान् विकारान् स्वयं शुकः इव अभिमुखं जेतुं व्यवस्यति ॥ ७५ ॥

यह सेठ प्रति रात्रि आता है, कृपण भी नहीं है, धन बहाता है, किसी अन्य युवती में इसकी आसक्ति भी नहीं है, फिर भी बड़ा आश्चर्य है कि तुम जैसी सुन्दरी में यह रुपया आदि देकर भी कोई रुचि नहीं लेता, केवल बैठा रहता है। ऐसा तो

---

१. शुकः—मिथिलेश्वरमुपगतो वैयासकिः शुको ब्रह्मज्ञानलब्धये। तत्र विविधवैभव-विभाविते समुदितसौन्दर्यकल्पलताऽङ्गनासेविते निखिल मनोभवबलसज्जिते राजप्रासादे मनोरथ-विह्वलां निशं विकारशून्यो वटुः ससुखमत्यवाहयत्। प्रातर्भृता पूजितः पितुरन्तिकमाजगाम।

नहीं है कि शुकदेव मुनि के समान, चञ्चल अश्वों की प्रवृत्तिवाले इन्द्रियजन्य विकारों को सामने देखकर उन्हें जीतना, दमन करना चाहता हो ॥ ७५ ॥

दृष्ट्वा व्यपेतवसनोरसमर्कतेजा
गाधेः सुतोऽपि न शशाक मनो नियन्तुम् ।
अद्यापि मोहिनि तवाञ्चलबद्धकण्ठाः
स्वस्थाः महाजनसुता इति विस्मयो मे ॥ ७६ ॥

व्यपेतवसनोरसं दृष्ट्वा अर्कतेजाः गाधेः सुतः अपि मनः नियन्तुं न शशाक, मोहिनि, तव अञ्चलबद्धकण्ठाः महाजनसुताः अद्य अपि स्वस्थाः इति मे विस्मयः ॥ ७६ ॥

प्रसिद्ध है कि सूर्य के समान तेजस्वी गाधिनन्दन विश्वामित्र ने अपने साधन-काल में किसी सुन्दरी (मेनका) के अनावृत वक्षःस्थल के देखने मात्र से ही मन को वश में करने का उद्योग शिथिल कर दिया। और फिर भी ये सुवर्णपुत्र तुम्हारे चञ्चल अञ्चल से बद्धकण्ठ होकर भी निर्विकार ही रहते हैं—मुझे अतिशय विस्मय है [आशय यह है कि अनेक धनी-मानी लोग तृतीयाप्रकृति होते हुए भी केवल दूसरों को दिखाने के लिए इस प्रकार के पौरुष का अभिनय करते हैं।] ॥ ७६ ॥

रत्नाधिपाः प्रसभरत्नमुषो मिथस्त्वां
वीतागसश्च कलुषाधमवर्त्मभाजः ।
मूढा विदग्धचरिताश्च भजन्ति नित्यं
सृष्टिं विधेरिव विरोधिगुणानुबद्धाम् ॥ ७७ ॥

रत्नाधिपाः प्रसभरत्नमुषः वीतागसः कलुषाधमवर्त्मभाजः च, मूढाः विदग्धचरिताः च मिथः नित्यं विधेः सृष्टिम् इव विरोधिगुणानुबद्धां त्वां भजन्ति ॥ ७७ ॥

तुम्हारे दरबार में विविध स्वभाववाले प्रशंसकों का जमघट है, कहीं रत्नाधीश कुबेर हैं तो बगल में ही हठपूर्वक रत्नों को चुरा लेनेवाला चोर भी वहीं बैठा है। निष्पाप या सरल भाववाले प्राणियों के पास ही अत्यन्त कलुषित आचरणवाले कुमार्गी भी बैठे हैं, सीधे-सादे लोग भी हैं तथा अतिकुशल प्राणी भी हैं—ये सभी तुम्हारी सेवा में उपस्थित रहते हैं। जिस प्रकार ब्रह्माजी की सृष्टि में परस्पर विरोधी गुणों तथा स्वभावों का दर्शन होता है उसी प्रकार तुम भी उसी सृष्टि के समान हो जहाँ हर प्रकार के प्राणी अपने ढंग से तुम्हारा आश्रय प्राप्त करते हैं ॥ ७७ ॥

किसी वकदाम्भिक के प्रति—

चारित्र्यचारुविभवैरभितर्प्य लोकं
बद्धास्यगौरिव बलादवरुद्धचेष्टः ।

सम्प्रीणयत्यपभयं स्वमनः खलोऽसौ
क्षेत्रे चरन् तिमिरबन्धविमुद्रिताक्षे ॥ ७८ ॥

बद्धास्यगोः इव बलात् अवरुद्धचेष्टः चारित्र्यचारुविभवैः लोकम् अभितर्प्य असौ खलः अपभयं तिमिरबन्धविमुद्रिताक्षे क्षेत्रे चरन् स्वमनः सम्प्रीणयति ॥ ७८ ॥

समाज को अपने उत्तम चरित्र की प्रशंसनीय विभूति से दिन के प्रकाश में सन्तुष्ट करके यह शठात्मा बँधे हुए मुँहवाले बैल के समान रात के समय बन्धनमुक्त होकर निर्भय, अन्धकार (काम, मोह, लोभ आदि) के बन्धन द्वारा नियन्त्रित दृष्टि-वाले (क्षेत्र—खेत या स्त्री) खेतों में घुसकर अपनी मनमानी करता हुआ प्रसन्न हो रहा है ॥ ७८ ॥

कभी-कभी बादशाह की कुदृष्टि शराबबन्दी करा देती थी, उसी पर कोई मद्यप कहता है—

यन्नामसंस्मरणदग्धसमस्तबन्धो
मत्तो विलङ्घ्य विभुशास्त्रकृतान्तसन्धाम् ।
त्वामेकशासनबलां श्रयतेऽस्तशङ्कः
किं तत्कृते नृपरुषोऽपि विशङ्कनीयाः ॥ ७९ ॥

यन्नामसंस्मरणदग्धसमस्तबन्धः विभुशास्त्रकृतान्तसन्धां विलङ्घ्य अस्तशङ्कः मत्तः एकशासनबलां त्वां श्रयते तत्कृते नृपरुषः अपि विशङ्कनीयाः किम् ॥ ७९ ॥

जिसके (शराब) नाम के स्मरण मात्र से समस्त बन्धनों-विघ्नों से मुक्त होकर, प्रभाव शास्त्र, काल, लोक आदि की मर्यादा का सहज ही उल्लंघन करके, निर्भयतापूर्वक व्यक्ति केवल तुम्हारे शासन को मानता है, तुम्हारी आराधना करता है, उसके आसेवन में राजा के क्रोध की कौन चिन्ता करता है। बादशाह को नाराज होना है हो, हमें पीना है पीयेंगे ॥ ७९ ॥

कामं निषेधतु वृको मधुपानगोष्ठीं
शूलेन निर्दहतु वा विटषण्डचेटान् ।
कम्रस्तनार्पितकरेण शपेऽङ्कपीठे
नामैव ते त्रिदिवदुर्लभवारुणी मे ॥ ८० ॥

वृकः मधुपानगोष्ठीं कामं निषेधतु विटषण्डचेटान् शूलेन निर्दहतु वा, अङ्कपीठे ! कम्र-स्तनार्पितकरेण शपे ते नाम एव मे त्रिदिवदुर्लभवारुणी ॥ ८० ॥

वह भेड़िया भले ही आदेश निकालकर मधुपान-गोष्ठी पर रोक लगा दे या खोजों, हंसेड़ियों, भांड़ों को शूली पर टँगवा दे। गोद में बैठी हुई सुन्दरी ! इन स्पृह-णीय स्तनों को छूकर शपथ से कहता हूँ कि तुम्हारा नाम ही हमारे लिए स्वर्ग-दुर्लभ सुरा का काम करता है। तुम्हारा नामोच्चारण सुना और उन्मद हुए ॥ ८० ॥

[तुम्हारी आँखों में और ही शराब है, और ही नशा है—]

पीता सुरा हरतु विस्मृतवर्त्म चित्तम्
नृत्यन्तु पामरधियः क्षणमात्रमत्ताः ।
कापि स्थिरा तव दृशोर्मदिरेव कान्ते !
यद्वीक्षिता हि सुधियोऽपि हठात् पतन्ति ॥ ८१ ॥

पीता सुरा चित्तं विस्मृतवर्त्म हरतु क्षणमात्रमत्ताः पामरधियः नृत्यन्तु, कान्ते ! तव दृशोः का अपि स्थिरा मदिरा इव यद्वीक्षिता सुधियः अपि हठात् पतन्ति हि ॥ ८१ ॥

भुलक्कड़, क्षीणस्मृतिवाले को पी हुई शराब भले ही विक्षिप्त कर दे तथा मूढ़ बुद्धिवाले भले ही सूँघने के साथ ही मस्त होकर झूमने लगें परन्तु तुम्हारी आँखों में कोई और ही अलौकिक प्रभाववाली शराब है। अगर अत्यन्त उत्कृष्ट विद्वान् पर भी ये नजरें पड़ जायँ तो गरीब उसी वक्त जमीन सूँघने लगे। सामान्यतः शराब का नशा पीने पर ही होता है किन्तु सुन्दरी की आँखों में जो नशा है उसे वह कमाल हासिल है कि वे जिसपर पड़ जायँ वह तुरत होश-हवास खो बैठे ॥ ८१ ॥

प्रीतिर्निबद्धनियमा गृहमेधिनीषु
भावादृतेऽपि हठमूढविधेः प्रबन्धः ।
मुक्तस्यदस्तु कनकासवमर्दितासु
स्नेहो दधाति पदवीं परमाममर्त्याम् ॥ ८२ ॥

भावात् ऋते अपि गृहमेधिनीषु निबद्धनियमा प्रीतिः हतमूढविधेः प्रबन्धः कनकासवमर्दितासु मुक्तस्यदः स्नेहः तु परमाम् अमर्त्यां पदवीं दधाति ॥ ८२ ॥

विवाहिता, घर-गृहस्थी में निमग्न रहनेवाली अपनी पत्नी में इच्छा या अनिच्छापूर्वक हो नियमपालन की दृष्टि से भी प्रेम-प्रपञ्च करना पड़ता है—यह कुछ बूढ़े ब्रह्मा ने ही अपनी नादानी से किया है। सच्ची बात तो यह है कि धनादि द्वारा तुष्ट शराब से उन्मद सुन्दरियों के निर्बाध मर्दन करने में प्रेम उत्कृष्ट देवोपम स्वर्गीय प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है [लक्ता के विचार से प्रेम में आकर्षण की मुख्य भूमिका होती है, परांगना, परकाया में यह आकर्षण, उत्सुकता विशिष्ट मात्रा में उपलब्ध होती है, विवाहिता में स्नेह परम्परा-रक्षणार्थ भी होता है।] ॥ ८२ ॥

[किसी तुन्दिला नायिका के प्रति उक्ति है—]

वेल्लत्तरङ्गभवतीर्य पयोधिपूरं
शक्तोऽधिरोहतु तटाद्रिशिरःस्थलीषु ।
श्वासोच्छलत्पतद्वीचि - कुलाकुलं ते
सन्तीर्य कोऽलमुदरं श्रयितुं स्तनाद्रिम् ॥ ८३ ॥

वेल्लत्तरङ्गं पयोधिपूरम् अवतीर्य तटाद्रिशिरःस्थलीषु शक्तः अधिरोहतु श्वासोच्छलत्पतद्वीचिकुलाकुलं ते उदरं सन्तीर्य स्तनाद्रिं श्रयितुं कः अलम् ? ॥ ८३ ॥

गरजती हुई चञ्चल लहरों से उफनते हुए पयोधि को पारकर कोई विशिष्ट पराक्रमशाली व्यक्ति भले ही तटभूमि पर स्थित महान् भूधर के उत्तुङ्ग शिखरों पर पहुँच जाय (सम्भव हो सकता है, यद्यपि अतिशय दुस्साहसपूर्ण है) किन्तु श्वास की गति के अनुसार ऊँचे-नीचे गिरनेवाली लहरों से भरे हुए तुम्हारे इस उदर-विस्तार को पारकर कौन भाग्यशाली स्तनगिरि के सेवन में समर्थ हो सकता है ? ॥ ८३ ॥

घोरस्वनोत्सुकजगन्नयनोत्सवं ते
वक्षोग्रहं जठरमाहतजानु वीक्ष्य ।
त्रैलोक्यजातमुदरे यदि विश्वमूर्तिः
पूर्वं दधौ कथय काऽतिशयोक्तिरत्र ॥ ८४ ॥

घोरस्वनोत्सुकजगन्नयनोत्सवं वक्षोग्रहम् आहतजानु ते जठरं वीक्ष्य कथय अत्र का अतिशयोक्तिः यदि विश्वमूर्तिः त्रैलोक्यजातं पूर्वम् उदरे दधौ ॥ ८४ ॥

किसी सुन्दरी के यहाँ अकारण नाक-भौं सिकोड़नेवाली प्रौढ़ा प्रबन्धिका पर उक्ति है—अपनी गड़गड़ाहट के कारण लोगों की दृष्टि को बरबस अपनी ओर आकृष्ट करनेवाले, वक्षःस्थल को ग्रस्त करने में ग्रह के समान तथा घुटनों को टक्कर मारने वाले तुम्हारे इस महान् उदर को देख लेने पर, यदि यह उक्ति कि विराट् पुरुष के उदर में त्रैलोक्य अवस्थित था, प्रचलित है तो इसमें अतिशयोक्ति कहाँ है ॥ ८४ ॥

कुक्कुटाण्ड एवं मांस का कोई प्रेमी अपनी अनादि रुचि का निरूपण कर रहा है—

प्राक् प्रस्थितुं भुवनमब्जभुवाऽनुनीते
स्वेष्टार्थनाय मयि भावनिरुद्धवाचि ।
दिष्ट्यैव गद्गदगलात् 'कु कु हूँ कु' युक्त्या
वाग्देवता मम मनोरथमाततान ॥ ८५ ॥

प्राक् भुवनं प्रस्थितुम् अब्जभुवा स्वेष्टार्थनाय अनुनीते भावनिरुद्धवाचि मयि दिष्ट्या एव वाग्देवता गद्गदगलात् 'कु कु हूं कु' युक्त्या मम मनोरथम् आततान ॥ ८५ ॥

भाई, मेरी तो एक ही रुचि है और वह इस जन्म की ही नहीं अपितु तबसे है जब हमें ब्रह्माजी ने पहली बार इस लोक में भेजा था। पृथिवी पर भेजने के पहले जब मुझे बनानेवाले ब्रह्माजी ने मुझसे अभीष्ट वर माँगने को कहा तब भावोद्रेक के कारण मैं कुछ बोल न सका, गला भर गया, तब मेरे सौभाग्य से माँ सरस्वती देवी ने युक्तिपूर्वक मेरे गले से 'कुकुहूँकृ'के उद्घोष द्वारा मानों मेरे मनोरथ को ही प्रकाशित कर दिया [लगता है कि वक्ता में कुछ हकलाने की आदत थी। बस 'कुछ'

भी यदि कहना चाहा होगा तो 'कुकुहूँकू' जैसी ध्वनि निकल गयी होगी और लक्षणया मुर्ग के प्रति उसकी रुचि मान ली गयी होगी।] ॥ ८५ ॥

[किसी सुन्दरी की मोहिनी रूपराशि को देखकर उक्ति है—]

आह्लादपूरमधरीकृतसोमवक्त्रे
हाला दृशोरमृत - मोष्ठयुग - प्रवाले।
लावण्य - निर्मित - तनौ सुषमैकसीमा
कोऽसौ हरोऽस्ति भुवि नैव हृतोऽधुनाऽपि ॥ ८६ ॥

अधरीकृतसोमवक्त्रे आह्लादपूरं दृशोः हाला ओष्ठयुगप्रवाले अमृतं लावण्यनिर्मिततनौ सुषमैकसीमा अधुना अपि भुवने कः असौ हरः न हृतः एव अस्ति ॥ ८६ ॥

चन्द्रमा को तिरस्कृत करनेवाले तुम्हारे इस मुख का आह्लाद, आँखों का गुलाबी नशा, मूँगे जैसे लाल ओष्ठाधर का अमृत और लावण्य द्वारा निर्मित, सुषमा की पराकाष्ठा यह शरीर—और अब इस पृथ्वी पर कौन 'शंकर' है जिसे तुम्हारी मोहिनी ने विजित नहीं किया है ॥ ८६ ॥

स्वर्गेऽपि सर्गसुषमेऽप्सरसो रसार्द्रा
नित्यं प्रसादितसुरा विहरन्ति भोगैः।
मर्त्या वयं तदवनौ विरलोपचारै-
रभ्यासपाटवकलां परिशीलयामः ॥ ८७ ॥

सर्गसुषमे स्वर्गे अपि नित्यं प्रसादितसुराः रसार्द्राः अप्सरसः भोगैः विहरन्ति, तत् मर्त्याः वयं विरलोपचारैः अवनौ अभ्यासपाटवकलां परिशीलयामः ॥ ८७ ॥

इस पृथिवी पर सुरा-सुन्दरी का सेवन करनेवाले हम लोग एक प्रकार से अभ्यासपटुता ही प्राप्त कर रहे हैं क्योंकि स्वर्ग में इसकी विशेष आवश्यकता पड़ेगी—

सृष्टि की उत्कृष्टतर सौन्दर्य-निर्मिति स्वर्ग में रसपूर्ण अप्सरायें देवताओं को नित्य अपने विलास से परितुष्ट करती हुई (सदा शराब के नशे में उन्मद रहती हुई) भोगों से बिहार करती हैं। अतः मनुष्य होने के कारण अपने सीमित साधनों द्वारा हम भी उसी स्वर्गीय भूमिका के अभ्यास की पटुता प्राप्त कर रहे हैं ॥ ८७ ॥

देवाजिरे परिषदि स्तवने प्रसह्य
चित्तं निरूपितवतो मम चित्तजन्मा।
आकस्मिकं वितनुते विजयं परास्ता
धर्म्या मतिः सपदि नश्यति कांदिशीका ॥ ८८ ॥

देवाजिरे परिषदि स्तवने प्रसह्य चित्तं निरूपितवतः मम चित्तजन्मा आकस्मिकं विजयं वितनुते परास्ता धर्म्या मतिः सपदि कांदिशीका नश्यति ॥ ८८ ॥

कोई साधक अपनी विवशता को व्यक्त करता हुआ वेशभूमि की आसक्ति का औचित्य प्रतिपादित कर रहा है—

मन्दिर में, परिषदों में स्तुति करते हुए सब जगह मैं चित्त को वश में करने का प्रयत्न करता रहा हूँ किन्तु होता यह रहा है कि एक ओर तो मैं मन के निग्रह के लिए आग्रह करता था तथा दूसरी ओर चित्तजन्मा (कामदेव) सहसा मेरे सब किये-कराये पर पानी फेर देता था और मेरे सकल्पों की विडम्बना कर देता था तथा धर्मबुद्धि परास्त होकर अपना मुँह छिपाकर भाग जाती थी। अतएव मैंने स्वाभाविक मार्ग को ही महत्त्व दिया और यहाँ पर हूँ ॥ ८८ ॥

किसी कठोरहृदया के प्रति उपालम्भ है—

कल्पप्रसूनमृदुतामुपकल्प्य यत्नाद्
वेधा दिदर्शयिषुरात्मकलाप्रकर्षम् ।
गात्रं निरस्थि सुषमायतनं विरच्य
मूढो न्यधान्मनसि तेऽस्थिकठोरतां किम् ॥ ८९ ॥

आत्मकलाप्रकर्षं दिदर्शयिषुः वेधाः यत्नात् कल्पप्रसूनमृदुताम् उपकल्प्य निरस्थि सुषमायतनं ते गात्रं विरच्य मूढः मनसि अस्थिकठोरतां किं न्यधात् ? ॥ ८९ ॥

किसी मानवती सुन्दरी को मनाते हुए कोई भक्त कह रहा है—ब्रह्मा ने यत्नपूर्वक कल्पपुष्प की कोमलता द्वारा अपनी निर्माण कला की पराकाष्ठा दिखलाने की इच्छा से तुम्हारी इस परम सौन्दर्यमयी, अस्थिविहीन मृदुलतानिर्भर देहलता का निर्माण किया पर उस मूढ़ ने तुम्हारे हृदय में हड्डी को कठोरता क्यों स्थापित कर दी ? तुम्हारी देह अतिशय कोमल एवं नयनाभिराम है किन्तु हृदय क्यों इतना कठोर हो गया ॥ ८९ ॥

अपनी वाक्चातुरी द्वारा कोई अकिञ्चन किसी सुन्दरी को प्रणय-निवेदन करता हुआ कहता है—

वीक्षोत्सुकेन सततं जगदापणेऽस्मिन्
नूनं मनोऽभिलषितं निपुणं परीक्ष्य ।
लब्धं मया विदितमेव विनार्थदर्पं
तत् त्वं गुणैकगणिकेव भवातिथेयी ॥ ९० ॥

अस्मिन् जगदापणे सततं वीक्षोत्सुकेन मया निपुणं निरीक्ष्य अर्थदर्पं विना मनोऽभिलषितं नूनं लब्धं (तत्) विदितम् एव तत् त्वं गुणैकगणिका इव आतिथेयी भव ॥ ९० ॥

सभी जानते हैं कि इस संसाररूपी बाजार को भलीभाँति देखने की उत्सुकता से घूमते हुए मैंने सदैव मनोभिलषित वस्तु अच्छी तरह समझ-बूझकर निःशुल्क प्राप्त किया। सचमुच मैंने कभी रुपये-पैसे को व्यर्थ महत्त्व नहीं दिया। अतः सुन्दरी!

आज तुम गुण का आदर करो, द्रव्य-गणिका न होकर गुण-गणिका बनो और मुझ अतिथि को अपने आतिथ्य से अनुगृहीत करो ॥ ९० ॥

किसी पोपले मुँहवाली वृद्धा कुट्टनी के प्रति परिहास-उक्ति है—

वार्धक्यमेव नियतिर्यदि यौवनस्य
तत्त्वाबुधो हसतु वीक्ष्य तवाद्विजास्यम् ।
बाह्यानुबन्धविरतेर्हृदयैकधाम्नः
प्रीतेर्मनो न तु वपुर्निकषः कदाचित् ॥ ९१ ॥

यदि वार्धक्यम् एव यौवनस्य नियतिः तत्त्वाबुधः तव अद्विजास्यं वीक्ष्य हसतु, बाह्यानुबन्धविरतेः हृदयैकधाम्नः प्रीतेः कदाचित् मनः निकषः न तु वपुः ॥ ९१ ॥

यदि यौवन की नियति (परिणाम) बुढ़ापा है तो तत्त्वज्ञानरहित कोई मूर्ख तुम्हारे इस दन्तहीन मुख को देखकर भले हँसे, पर वास्तविकता कुछ और ही है। प्रेम तो बाहरी अनुबन्धों से सर्वथा रहित होता है तथा केवल हृदय से ही सम्बन्ध रखता है। अब ऐसे दिव्य स्वभाववाले लोकोत्तर स्नेह की कसौटी मन ही हो सकता है, शरीर नहीं। प्रेम की कसौटी मन है, शरीर नहीं। अतः शरीर से प्रेम का आकलन करना मूर्खता है ॥ ९१ ॥

अभ्यासपाटवकलाव्यवहारशून्या
तन्वी दधातु चपलेषु रतिं यथार्हम् ।
नूनं सुपक्वसहकारनिभे त्वदास्ये
द्वित्रिद्विजेऽपि परमोत्सवमेति दृष्टिः ॥ ९२ ॥

अभ्यासपाटवकलाव्यवहारशून्या तन्वी यथार्हं चपलेषु रतिं दधातु, नूनं द्वित्रिद्विजे अपि सुपक्वसहकारनिभे त्वदास्ये दृष्टिः परमोत्सवम् एति ॥ ९२ ॥

चपलेषुरति—चपलेषु+रतिं, चञ्चल स्वभाववालों में अनुराग।
चपल+इषु+रति, = चञ्चल बाणोंवाले कामदेव में आसक्ति।

रति—अभ्यासपटुता तथा व्यवहार-ज्ञान आदि से रहित कोई नवयुवती भले ही चञ्चलचित्त प्राणियों में या काम-लीला में आसक्ति रखे। किन्तु पके आम के समान तुम्हारे दो-तीन दाँतवाले (या दो-तीन पछियों से सेवित) इस मुँह से अब भी आँखों को अतिशय आनन्द ही मिलता है ॥ ९२ ॥

देहे विकारिणि वयोऽनुचरे भवत्या
निर्लिप्तचित्तमनुलोच्य सतां विवेके ।
भूयो नवीक्रियत एव वचोऽच्युतस्य
कृत्वाऽपि यत् किमपि नैव करोति योगी ॥ ९३ ॥

वयोऽनुचरे विकारिणि देहे भवत्याः निर्लिप्तचित्तम् अनुलोच्य सतां विवेके भूयः अच्युतस्य वचः नवीक्रियते एव यत् कृत्वा अपि योगी किं मपि न करोति एव ॥ ९३ ॥

वृद्धा के ही प्रति यह सान्त्वनापरक परिहास भी है—

उम्र के पीछे चलनेवाले विकारशील, परिवर्तनपरक (जिसमें शैशव, यौवन, वृद्धता, कृशता, स्थूलता, स्वास्थ्य, रोग आदि से परिवर्तन होता हो) इस शरीर में तुम्हारी अनासक्त बुद्धि को देखकर गीता में कथित श्रीकृष्ण की वह उक्ति पुनः नवीन हो उठती है कि कर्मयोगी सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता क्योंकि निर्लिप्तचेता रहता है, उसे पाप नहीं लगता—"कृत्वाऽपि न निबद्ध्यते" ॥ ९३ ॥

वायुः शुभे ! तव नवस्फुटयौवनोष्म-
वक्षोविलोकनसमेधितसाहसः किम् ।
कुम्भद्वये हठचलाञ्चलरक्षितेऽस्मिन्
स्पर्शैर्जडोऽनुभवतीव रसस्वभावम् ॥ ९४ ॥

शुभे ! तव नवस्फुटयौवनोष्मवक्षोविलोकनसमेधितसाहसः जडः वायुः अस्मिन् हठचलाञ्चलरक्षिते कुम्भद्वये स्पर्शैः रसस्वभावम् अनुभवति इव किम् ? ॥ ९४ ॥

नवाङ्गना के प्रति चाटुकारिता से पूर्ण प्रशंसापूर्ण उक्ति है—

उत्कलित यौवनवाली सुन्दरी, यह क्या बात है, रह-रहकर यह पवन तुम्हारे वक्षःस्थल से अञ्चल को क्यों उड़ा रहा है ?

तुम्हारे नवोल्लसित यौवन की गर्माहटवाले वक्षःस्थल को देखने के लिए साहस करनेवाला यह पवन, लहराते हुए आँचल से रक्षित (ढँके हुए) इन दोनों सुधाकुम्भों को (कुचकुम्भों को) स्पर्श द्वारा रसस्वभाव (प्रकृति) का अनुभव तो नहीं करना चाहता [रसस्वभाव का निरूपण प्रायः साहित्य के सभी आचार्यों ने किया है । 'रसो वै सः' कह कर श्रुति भी रस-निरूपण कर रही है । इसी क्रम में यथार्थ ज्ञान की अनुभूति के लिए हो सकता है वायु भी उन अमृत-कलशों के स्पर्श-द्वारा रसस्वभाव के निरूपण की जिज्ञासा को शान्त कर रहा हो ।] ॥ ९४ ॥

मध्यागमं नवनवस्पृहमस्तधैर्यं
नूनं न जन्मसहजं न वयोऽन्त्यगामि ।
एतत्तदेभिरुपभुक्तमनन्यदासैः
स्वास्थ्यं तवादिशतु यौवनमुत्सुकाङ्गि ॥ ९५ ॥

मध्यागमं नवनवस्पृहम् अस्तधैर्यं नूनं न जन्मसहितं न वयोऽन्त्यगामि एतत् यौवनं तत् एभिः अनन्यदासैः उपभुक्तम् उत्सुकाङ्गि ! तव स्वास्थ्यम् आदिशतु ॥ ९५ ॥

सुन्दरी, इस यौवन ने तुम्हें अतिशय विकल कर रखा है और विचित्र ही है इस यौवन का स्वभाव भी । यह सदा साथ देनेवाला नहीं, न तो जन्म के साथ पैदा

हुआ है और न तो अवस्था की परिणति में ही रहेगा। यह केवल बीच में कुछ समय के लिए आ जाता है, सदैव इसकी नयी-नयी स्पृहाएँ बढ़ती जाती हैं तथा बड़ा धैर्यहीन है, चञ्चल है। अतः तुम हम सरीखे अपने अनन्य सेवकों को आदेश दो कि हमारे द्वारा उपभुक्त होकर यह यौवन, उत्सुक अंगोंवाली तुम्हें कुछ शान्ति दे, तुम्हें विकलता से मुक्त होने के फलस्वरूप चित्तस्वास्थ्य प्राप्त हो ॥ ९५ ॥

भित्तिस्त्रपा निपतिता जनविश्रुताऽसौ
धैर्यं बलं निहतमेव चरित्रचारु।
भग्नं त्वदाश्रयमिदं ननु दुर्गचित्तं
किं क्षोभयस्यतनुजिष्णुमतो विलम्बैः ॥ ९६ ॥

असौ जनविश्रुता त्रपा भित्तिः निपतिता चरित्रचारु धैर्यं बलं निहतम् एव त्वदाश्रयम् इदं दुर्गचित्तं ननु भग्नम् अतः विलम्बैः अतनु—जिष्णुं किं क्षोभयसि ? ॥ ९६ ॥

सुन्दरी, महान् विजेता, धनुर्धर मीनकेतु ने अपने बाणों से सर्वत्र अपनी दृढ़ता के लिए प्रसिद्ध 'लज्जा' नामवाली दीवाल को तोड़कर गिरा दिया। चरित्र के धनी धैर्य और शक्ति दोनों ही उस बाणवृष्टि से समाप्त हो गये, तुम्हारा आश्रयस्थल वह हृदयदुर्ग भी भग्न हो गया। इस प्रकार किले की दीवार टूट गयी, धैर्य तथा शक्ति भी नष्ट हो गयी। अब किला भी धराशायी हो गया। अतः विलम्ब के द्वारा इस पराक्रमी पञ्चबाण को क्यों और क्षुब्ध कर रही हो। अब विलम्ब मत करो ॥ ९६ ॥

भूयः श्रियो मुमुदिरे मुदिरेक्षणानां
घर्मानुतप्तमनसः सरितां घनतौ।
संस्मृत्य किन्तु नवपल्लवपुष्पयष्टिं
भृङ्गा मुधाऽभिजरतीव्रतितिं विचेरुः ॥ ९७ ॥

मुदिरेक्षणानां सरितां घर्मानुतप्तमनसः श्रियः घनतौ भूयः मुमुदिरे किन्तु नवपल्लव-पुष्पयष्टिं संस्मृत्य भृङ्गाः अभिजरतीव्रतितिं मुधा विचेरुः ॥ ९७ ॥

किसी अतिप्रौढा पूर्वप्रेमिका के चारों ओर चक्कर काटनेवाले रसिकों के प्रति किसी परिचित की अन्योक्तिपरक उक्ति है—

समय आया और बादलों की ओर निर्निमेष दृष्टि बाँधनेवाली नदियों की ग्रीष्म से सन्तप्त हृदयवाली कान्ति वर्षा ऋतु में फिर से विकसित हो उठी। ग्रीष्म के प्रचण्ड ताप से शुष्कप्राय नदियों की शोभा मेघमास में जलाप्लावित होकर निखर गयी। किन्तु अभिनव पल्लवों और पुष्पों से कभी लदी हुई लता की पुरानी स्मृति को हृदय में सँजोये भौंरे व्यर्थ ही पुरानी (बुढ़िया) लता के चारों ओर मँडराते रहे। नदियाँ सूखकर भर सकती हैं किन्तु प्रौढा लता तो अपना पूर्वयौवन नहीं ही प्राप्त कर सकती ॥ ९७ ॥

शास्त्राणि विश्वसिमि नूनमतः पिबामि
नासक्तिरामृशति मां चषकोदितौष्ठम् ।
दोषाविलेऽपि भगवान् किमसौ न सर्गे
लोकस्थितिं द्रढयति त्रिगुणारमोऽपि ॥ ९८ ॥

नूनं शास्त्राणि विश्वसिमि अतः पिबामि चषकोदितौष्ठं माम् आसक्तिः न आमृशति दोषाविले अपि सर्गे असौ भगवान् त्रिगुणारमः अपि लोकस्थितिं न द्रढयति किम् ॥ ९८ ॥

कोई शास्त्र-व्यवसायी अपनी भोगवादिता का औचित्य प्रतिपादित कर रहा हैं। आज ही नहीं, पहले भी ऐसे लम्पटों की कमी न थी जो पढ़-लिखकर भी अनाचार में प्रवृत्त होते थे तथा अपने कुकृत्यों को शास्त्रसम्मत उद्घोषित करते थे—

में शास्त्रों में विश्वास करता हूँ इसीलिए पीता हूँ, पानपात्र को होठों से लगाता हूँ, छकता हूँ, किन्तु मैं उसमें आसक्त नहीं रहता, मैं अनासक्त भाव से पीता हूँ। स्वयं ईश्वर, जो त्रिगुणात्मक प्रपञ्चों से रहित है वह भी इस दोष-कलुषित संसार में अवतरित होकर लोकाराधन के लिए व्यवस्था के अनुरूप ही सांसारिक व्यक्ति के समान आचरण करते हैं। अन्तर केवल यही है कि वे सब कुछ अनासक्त बुद्धि से करते हैं, तटस्थ रहते हैं, वे उसमें लिप्त नहीं होते। मैं भी पीता हूँ पर अनासक्त भाव से, क्योंकि मैं शास्त्रविधि को मानता हूँ। कोई कर्म अच्छा या बुरा नहीं है, बन्धन तो आसक्ति के कारण होता है अतः मैं निर्बन्ध होकर पीता हूँ ॥ ९८ ॥

चित्तेन शौण्डिकभुवं सततं व्रजन्तो
व्यक्तं निरुद्धगतयोऽपि तदेकभावाः ।
यद् द्रष्टुमीशमपि सर्वदृशं क्षमन्ते
नास्माकमेकमनसामलभः स देवः ॥ ९९ ॥

व्यक्तं निरुद्धगतयः अपि चित्तेन सततं शौण्डिकभुवं व्रजन्तः तदेकभावाः यत् सर्वदृशम् अपि ईशं द्रष्टुं क्षमन्ते एकमनसाम् अस्माकं सः देवः अलभः न ॥ ९९ ॥

ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो स्पष्टतः शरीर से कलवरिया में जाने का साहस तो नहीं करते पर मन से सदा वहीं विराजते हैं। वे आडम्बरों ऊपर से तो पवित्रता का ढोंग करते हैं पर उनका मन सदा ही सुरा-सुन्दरी में लीन रहता है। यदि ऐसे कपटियों को भी वह सर्वदर्शी, अन्तर्यामी ईश्वर अपने यहाँ शरण दे सकता है तो हम लोग भी उस गति से उत्कृष्टतर गति के अधिकारी हैं क्योंकि हम लोग धोखा देकर, ईश्वर को ठगने का दुस्साहस नहीं करते। हम एकाग्र मन से इन कामों को करते हैं। ईश्वर इस बात को खूब समझता है ॥ ९९ ॥

स्रष्टुः कलावधिकृतौ त्वयि बद्धभावः
स्वप्नेऽपि यो मृगयते न परां शरीरीं ।

तच्छिल्पमुग्धहृदयः प्रणयानुवर्ती
संसेवते न किमसौ तमुदारमीशम् ॥१००॥

स्रष्टुः कलावधिकृतौ त्वयि बद्धभावः यः शरीरी स्वप्ने अपि परां न मृगयते तच्छिल्प-मुग्धहृदयः प्रणयानुवर्ती असौ तम् उदारम् ईशं न संसेवते किम् ? ॥ १०० ॥

कोई भक्तराज किसी सुन्दरी को समझा रहे हैं कि भगवान् की विभूति मानकर ही वे उसकी आराधना कर रहे हैं। उससे प्रेम करना उसके निर्माता ईश्वर से प्रेम करना है—

तुम ब्रह्मा की निर्माणकला की पराकाष्ठा हो, आदर्श सौन्दर्य कृति हो, तुम में मेरा ऐकान्तिक प्रेम है, निश्छल भावानुरक्ति है, मैं स्वप्न में भी किसी दूसरी की स्पृहा नहीं करता। अब उस ईश्वर की सौन्दर्य-महिमालकृत कलाकृति पर जो व्यक्ति मुग्ध होकर उसमें प्रेम करता है वह तो प्रकारान्तर से उस उदार परमेश्वर की ही उपासना कर रहा है [कलाकार तो कला की प्रतिष्ठा चाहता है। कला के प्रति अनुराग ही कलाकार के प्रति भी अनुराग है। कवि की कविता का प्रेमी, कवि का प्रेमी ही हुआ, क्योंकि कवि भी तो अपनी कविता को सम्मानित हुआ देखना चाहता है। सौन्दर्य की चाह, उसमें अनुरक्ति सौन्दर्य-निर्माता की इच्छा की ही सत्कृति है—इस सिद्धान्त को पाश्चात्य जगत् नियो-प्लेटॉनिक नाम से व्यक्त करता है।] ॥ १०० ॥

देशाग्रहः प्रकृतिधीर्धिषणाधिकारो
वासो वयो वसु कुलं विधिरात्मकीर्तिः।
यस्यां मिथः स्थितिजुषां सहसा स्खलन्ति
साऽऽदर्शभूर्विजयतां मधुतीर्थपुण्या ॥१०१॥

यस्यां स्थितिजुषां देशाग्रहः प्रकृतिधीः धिषणाधिकारः वासः वयः वसु कुलं विधिः आत्मकीर्तिः मिथः सहसा स्खलन्ति सा मधुतीर्थपुण्या आदर्शभूः विजयताम् ॥ १०१ ॥

देश-विशेष का गौरव, प्रकृति-ज्ञान, विवेक-प्रसक्ति, वेष-भूषा, अवस्था, धन-वैभव, वंश-स्थिति, पद्धति तथा यश आदि का अवलेप जिस पुण्यमय मधुतीर्थ (मदिरालय) में आने पर सहसा स्खलित हो जाते हैं उस आदर्शतम स्थान की जय हो [शुद्ध चैतन्यसम्भर विवेक की प्रतिष्ठा के लिए संस्कार, उपाधियों एवं आग्रहों से मुक्त होना परम आवश्यक है।] ॥ १०१ ॥

अक्षस्पृहां कृतकमुद्रिकयाऽयमेष-
स्ताम्बूलरागमसकृत् करलाघवेन।
पानोत्सवं ग्लहवतां स्तवनैर्निषेव्य
वन्ध्योद्यमां तव निशं सफलीकरोतु ॥१०२॥

एषः अयम् अक्षस्पृहां कृतकमुद्रिकया ताम्बूलरागम् असकृत् करलाघवेन पानोत्सवं ग्लहवतां स्तवनैः निषेव्य तव वन्ध्योद्यमां निशं सफलीकरोतु ॥ १०२ ॥

किसी धूर्त के प्रति किसी की परिचयात्मक उक्ति है—सुन्दरी ! इनसे मिलो। ये अपनी नकली अंगूठी को बन्धक रखकर अपने द्यूत-प्रेम को दो-चार दाँव खेलकर तुष्ट कर लेते हैं। पान की आवश्यकता होते ही कर-लाघव (हाथ की सफाई) से काम चला लेते हैं। जुआरियों की चापलूसी द्वारा दो-एक पेग पीने का डौल भी लगा ही लेते हैं। अच्छा है, इनको अपनाओ, तुम्हारी निष्फल रात्रि को (किसी अभीष्ट असामी के अभाव में) ये सफल बनायें ॥ १०२ ॥

किसी निठल्ले के प्रति उक्ति है—

साङ्ख्ये यमाप्तवचसः पुरुषेति नाम्ना
निष्कर्मनिर्गुणनिराशमुदाहरन्ति ।
पैत्र्यं वसु प्रकृतिजालमिवापहाय
सोऽयं विवेकिवृषभो रतये तवाऽस्तु ॥१०३॥

साङ्ख्ये आप्तवचसः यं निष्कर्मनिर्गुणनिराशं 'पुरुष' इति नाम्ना उदाहरन्ति पैत्र्यं वसु प्रकृतिजालम् इव अपहाय सः अयं विवेकिवृषभः तव रतये अस्तु ॥ १०३ ॥

सांख्य शास्त्र के आचार्य जिसे 'पुरुष' नाम से सम्बोधित करते हैं तथा जिसके स्वभावादि-वर्णन में उसे निष्कर्म, निर्गुण, निराश, अकर्ता आदि गुणों से युक्त बताकर प्रपञ्चात्मिका सृष्टि को प्रकृति का खिलवाड़, प्रसार, मानते हैं वही वह, बाप-दादों की पैतृक सम्पत्ति को प्रकृतिजाल के समान त्यागकर, छोड़कर विवेकी-वृषभ (ज्ञानि-श्रेष्ठ) आज तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करें ! [कपिल, ईश्वरकृष्ण आदि आचार्यों ने 'पुरुष' में 'अकर्तृत्व' को स्वभाव माना है, वस्तुतः पुरुष द्रष्टा मात्र है। ज्योंही प्रकृति को ज्ञात हो जाता है कि पुरुष ने उसे देख लिया, आत्मस्वरूप में स्थित हो गया, वह अपना प्रसार बन्द कर देती है और पुरुष के सामने फिर नहीं आती।] ॥ १०३ ॥

किसी अत्यन्त मितभाषी व्यक्ति के प्रति किसी की उक्ति है—

लब्ध्वा यमेकमयि नीरवताऽपि दिष्ट्या
सौभाग्यमावहति वल्लभसत्कृतानाम् ।
सोऽसौ तटस्थमनसैव जगद्विकारं
सोढुं महार्णव इवार्हति तेऽभिशंसाम् ॥१०४॥

अयि ! नीरवता अपि दिष्ट्या यम् एकं लब्ध्वा वल्लभसत्कृतानां सौभाग्यम् आवहति महार्णवः इव तटस्थमनसा एव जगद्विकारं सोढुं सः असौ ते अभिशंसाम् अर्हति ॥ १०४ ॥

सुन्दरी, सचमुच तुम भाग्यवती हो, नीरवता भी भाग्यवश जिन्हें प्राप्त कर प्रियतम से सम्मानित, प्रशंसित युवतियों में अपने को सत्कृत मानती है, जिस

नीरवता-वल्लभ (अत्यन्त कम बोलने के कारण वे नीरवता-वल्लभ हैं) को पाकर ही निःस्तब्धता सौभाग्यवती हुई है, जो संसार के कार्य-कलाप को भी बिना उसमें लिप्त हुए, तटस्थ भाव से अगाध समुद्र के समान बिना अपनी मर्यादा छोड़े स्वीकारते हैं वह तुम्हारी मधुरवाणी के समुचित पात्र हैं। तुम्हारा स्नेह इन्हें पाकर आज कृतार्थ हो ॥ १०४ ॥

धावन् पुरोऽपि यदवार्यनिदेशबद्धः
शब्दोऽनुनासिकमुपैति हठात् स्ववर्त्म ।
छद्मक्षपाच्छलितलोकदृगर्थनक्रः
सोऽयं गुरूनपि तृणादगुरूनवैति ॥१०५॥

यदवार्यनिदेशबद्धः पुरः धावन् अपि शब्दः अनुनासिकं स्ववर्त्म हठात् उपैति छद्मक्षपाच्छलितलोकदृक् अर्थनक्रः सः अयं गुरून् अपि तृणात् अगुरून् अवैति ॥ १०५ ॥

किसी अत्यन्त धूर्त, संसार की आँखों में धूल झोंकनेवाले अर्थलोलुप को देखकर कोई कह रहा है—

मुँह से बाहर निकलता हुआ शब्द भी जिनके अमोघ शासन (आदेश) के कारण विवश होकर अनुनासिक हो जाता है। (सम्भवतः "प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः" के विशेष प्रेमी हैं), जिनकी धूर्ततारूपी रात दुनिया की आँखों को अशक्त बना देती है, अर्थ (रुपया-पैसा, विशेषतः अन्यायपरक) निगलने के लिए जो घाड़याल के समान हैं वही ये अपने गुरुजनों को भी तिनके से भी तुच्छ मानते हैं, इनकी सद्गति तुम्हारा कल्याण करे ॥ १०५ ॥

दुर्वाससं क्षिपति यः कुपिताक्षिपातैः
स्वद्रुं मुमूर्षति विलोक्य यदीयलिप्साम् ।
वन्द्याङ्घ्रिपङ्कपरिचुम्बनपङ्किलास्यः
सैषो विवेकमपि किं सहतेऽरिमेकम् ॥१०६॥

यः कुपिताक्षिपातैः दुर्वाससं क्षिपति यदीयलिप्सां विलोक्य स्वद्रुं मुमूर्षति वन्द्याङ्घ्रिपङ्कपरिचुम्बनपङ्किलास्यः एषः सः एकम् अरिं विवेकम् अपि सहते किम् ? ॥ १०६ ॥

क्रोध, लोभ, चाटुकारिता तथा अविवेक से सम्पन्न किसी सामर्थ्यवान् व्यक्ति के प्रति किसी की उक्ति—

इनकी क्रोधपूर्ण दृष्टि दुर्वासा मुनि (परमक्रोधी मुनि) को भी तिरस्कृत करती है, इनकी लोभवृत्ति को देख कल्पवृक्ष भी भय से मर जाने की इच्छा करता है, अधिकारपूर्ण व्यक्तियों के चरण-कीच का चुम्बन करने से जिनका मुँह पंक से सन गया है, पंकिल हो गया है, ये इस संसार में अपने शत्रु नम्बर एक, विवेक को कभी भी नहीं सह सकते। इनका एक ही विरोधी है और वह है 'विवेक' ॥ १०६ ॥

नत्वा गुरून् बुधकुलं वचनादरेण
भूपं स्तवेन परिहाय रुषा जनांश्च ।
युक्त्या दुरापमपि भोगमुपासमानः
सोऽयं त्वदङ्घ्रिपतितां कुरुतात् स्वलक्ष्मीम् ॥१०७॥

गुरून् नत्वा बुधकुलं वचनादरेण भूपं स्तवेन जनान् च रुषा परिहाय दुरापम् अपि भोगं युक्त्या उपासमानः सः अयं स्वलक्ष्मीं त्वदङ्घ्रिपतितां कुरुतात् ॥ १०७ ॥

आप से मिलो, आप गुरुजनों को भक्तिपूर्ण प्रणाम द्वारा, विद्वानों को शाब्दिक गौरव प्रदान करके, राजा, प्रभुओं को स्तुति से तथा सामान्य प्राणियों को क्रोध से दूर भगाकर, दुर्लभ भोगों को तरह-तरह के उपायों से भोगते हुए जल में कमलपत्र के समान निर्लिप्त भाव से आनन्दोपभोग करते हैं। यह आज तुम्हारे चरणों में अपनी लक्ष्मी की भेंट समर्पित करें ॥ १०७ ॥

एनं शरण्यमवलम्ब्य जनाधयोऽपि
दुर्वार्यदण्डमनिषेव्य कृतान्तकल्पाः ।
व्यक्तं समाजहृदय परिताडयन्तः
साशीर्वचोभिरवशैः किल सत्क्रियन्ते ॥१०८॥

कृतान्तकल्पाः जनाधयः अपि एनं शरण्यम् अवलम्ब्य दुर्वार्यदण्डम् अनिषेव्य व्यक्तं समाजहृदयं परिताडयन्तः अवशैः साशीर्वचोभिः किल सत्क्रियन्ते ॥ १०८ ॥

भद्रे ! इस महामानव का दर्शन करो—

सामाजिक जीवन को, समाज को विपत्तिवर्षा द्वारा उत्पीड़ित करनेवाले, यमराज के समान कष्ट देनेवाले नीच भी इनको शरण में पहुँचकर भयंकर दण्ड से भी सहज ही बचकर स्पष्ट रूप में समाज के चित्त को सन्तप्त करते हैं फिर भी अशक्त समाज किंकर्तव्यविमूढ होकर उनकी अभ्यर्थना करता है ॥ १०८ ॥

[उस्तादी बाने में किसी बुढ्ढे को देखकर उक्ति है]

विद्या गुणा वसुमती प्रमदोत्तमेव
निन्दन्ति वेधसमनिर्मितयोग्यपात्रम् ।
तत्तानसेनगुरुबन्धुमिमं दुरापं
कोणीकुरुष्व विधये ककुभायिताङ्गि ॥१०९॥

विद्या, गुणाः वसुमती अनिर्मितयोग्यपात्रं वेधसं प्रमदोत्तमा इव निन्दन्ति तत् दुरापम् इमं तानसेनगुरुबन्धुं ककुभायिताङ्गि ! विधये कोणीकुरुष्व ॥ १०९ ॥

तानसेन, अकबर के समकालीन थे। (१५५६-१६०५) अकबर का शासन-काल था। अवरंगजेब (१६४८-१७०७) अकबर के प्रपौत्र हैं अतः तानसेन के गुरुभाई 'शतायु' होंगे। अतिशयोक्ति का आस्वादन करें—

सच है, यदि दुर्भाग्यवश उचित पात्र, गुणग्राही न मिले तो विद्या, गुण, पृथ्वी, सुन्दरी नवयुवती के समान उचित पात्र का विधान न करनेवाले बूढ़े ब्रह्मा की निन्दा करती हैं। भद्रे, तुम्हारा कल्याण हो, आज इस परम दुर्लभ, संगीतसम्राट् तानसेन के गुरुभाई को विलासकक्ष में वीणा की तूँबी के समान अपने वर्तुल अंगों के लिए, धनुही (वीणा बजाने के साधन) के समान प्रयुक्त करा ॥ १०९ ॥

पुष्पेषुसंस्तवमगात् प्रपितामहस्ते
यस्याः पदे तदधिकं हि तदीयजातः ।
मोहं विभिद्य विदुषोऽपि भवत्पितुः सा
तीर्णार्णवेयमधुनाऽपि तवोत्सवाय ॥११०॥

यस्याः पदे ते प्रपितामहः पुष्पेषुसंस्तवम् अगात्, तदीयजातः हि तदधिकम्, विदुषः भवत्पितुः अपि मोहं विभिद्य सा तीर्णार्णवा इयम् अधुना अपि तव उत्सवाय ॥ ११० ॥

कोई विदग्धा किसी अनाड़ी युवक को अनुपयुक्त स्थान पर जाते देखकर उसे कहती है—

तुम्हारा मंगल हो, भाई तुम ठीक स्थान पर पहुँचे। यहीं पर इन्हीं के साथ तुम्हारे प्रपितामह ने पुष्पशय्या का परिचय (पुष्पबाणवाले कामदेव का परिचय) प्राप्त किया, इन्हीं चरणों में तुम्हारे पितामह ने अपने पिता से भी अधिक साधना की, इन्हीं की कृपा से तुम्हारे विद्वान् पिता का मोह-भङ्ग हुआ। आज संसार-समुद्र को सर्वथा पार करके भी यह तुम्हारे उत्सव (मनोरञ्जन) के लिए सर्वथा तैयार बैठी है ॥ ११० ॥

विद्वानों को टुकड़े फेंककर वश में करनेवाले किसी धनी के प्रति उक्ति है—

एषः सहेलमधरीकृतराजराजो
वागीशमप्यशरणं परितर्प्य हेम्ना ।
ज्ञानावलेपपरुषां मनसापि वाणीं
श्रोतुं मनागपि न संसहते विवेकी ॥१११॥

सहेलम् अधरीकृतराजराजः अशरणं वागीशम् अपि हेम्ना परितर्प्य एषः विवेकी ज्ञानावलेपपरुषां वाणीं मनसा अपि श्रोतुं मनाक् अपि न संसहते ॥ १११ ॥

अवज्ञापूर्वक, धन के द्वारा कुबेर को भी तिरस्कृत करनेवाले, आश्रयविहीन बृहस्पति जैसे विद्वानों को भी कुछ चाँदी के टुकड़ों पर अपना सेवक बनानेवाले ये महाशय ज्ञानगन्ध से कर्कश वाणी को सुनना, सहना तनिक भी पसन्द नहीं करते ॥ १११ ॥

शक्तोऽङ्गनाभिरपि निष्ठुरवञ्चिताभि-
र्गीतो द्विजैः श्रुतिवचोभिरपङ्क्तवर्त्मा ।

सर्वं ग्रसिष्णुरपि वाञ्छितकर्णकीर्ति-
राप्तामपि क्षिपति बुद्धिमयं कुतर्कैः ॥११२॥

निष्ठुरवञ्चिताभिः अङ्गनाभिः शप्तः अपि श्रुतिवचोभिः द्विजैः अपङ्कवर्त्मा गीतः सर्वं ग्रसिष्णुः अपि वाञ्छितकर्णकीर्तिः अयं कुतर्कैः आप्ताम् अपि बुद्धिं क्षिपति ॥ ११२ ॥

विरोधात्मक प्रवृत्तियों के समवाय इस ऐन्द्रजालिक को देखिये—

प्रेम-व्यापार में सहठ निष्ठुरतापूर्वक छली गयी कामिनियाँ इन्हें आज भी शाप ही देती हैं, विद्वज्जन वेद-शास्त्रों की उदाहृतियों द्वारा इनकी स्तुति करता हुआ इन्हें अनासक्त योगी कहता है, सब कुछ आत्मसात् करने की प्रवृत्तिवाले ये सज्जन चापलूसी सुनने के लिए सदैव उत्कण्ठित रहते हैं तथा अत्यन्त शास्त्रसम्मत विचार को भी अपने कुतर्क द्वारा खण्डित करने की चेष्टा से विरत होना तो जानते ही नहीं ॥ ११२ ॥

वैधव्यवह्निपतिताऽपि तपस्विनी यं
वत्सं जलाञ्जलिहिताय गतस्य भर्तुः ।
वीतेऽपि वत्सरयुगे सुषुवे व्रतस्था
प्रीत्या भजस्व तमानन्दितमायताक्षि ॥११३॥

गतस्य भर्तुः जलाञ्जलिहिताय वैधव्यवह्निपतिता अपि व्रतस्था तपस्विनी वत्सरयुगे वीते अपि यं वत्सं सुषुवे, आयताक्षि ! तम् आनन्दितं प्रीत्या भजस्व ॥ ११३ ॥

पति के दिवंगत होनेपर वैधव्य-ज्वाला में मूर्च्छित तपस्विनी (दुखिया) ने मृत पति को जलाञ्जलि देने के लिए नियम-व्रतपूर्वक जिस पुत्र को वैधव्य के दो वर्ष पश्चात् उत्पन्न किया उस प्रतिष्ठाभाजन वंशधर को, ऐ बड़ी आँखोंवाली, तुम प्रेमपूर्वक अपनावो ॥ ११३ ॥

एनं सहस्व वृतसप्ततिमाप्तवाचं
जीर्णोऽपि यौवनमयं हृदये बिभर्ति ।
लोकोऽपराध्यति मनोरथदीर्घसूत्री
नानर्च योऽस्य युवतिं प्रतिभां सुपीठे ॥११४॥

वृतसप्ततिम् आप्तवाचम् एनं सहस्व अयं जीर्णः अपि हृदये यौवनं बिभर्ति मनोरथदीर्घसूत्री लोकः यः अस्य युवतिं प्रतिभां सुपीठे न आनर्च अपराध्यति ॥ ११४ ॥

सुन्दरी, इन सत्तरवर्षीय ऋषिकल्प को आज सहन करो ! जर्जर हो जाने पर भी इनका हृदय अभी भी जवान है। वस्तुतः यह समाज ही अपराधी है जिसने मनोरथ-प्राप्ति में आलस के कारण विलम्ब किया तथा इनकी युवती प्रतिभा को (यौवन में विकसित इनकी प्रतिभापूर्ण योग्यता को) उचित स्थान देकर सम्मान न किया ॥ ११४ ॥

स्वाध्वस्थिरः समुदयन्तमुपासतेऽर्कं-
मङ्गीकरोति विजहाति जनं स्वसिद्ध्यै ।
प्राचीं प्रगे नमति रात्रिमुखे प्रतीचीं
नायं हिताहितपथे व्यथते मनस्वी ॥११५॥

स्वाध्वस्थिरः अयं मनस्वी समुदयन्तम् अर्कम् उपासते स्वसिद्ध्यै जनम् अङ्गीकरोति, विजहाति, प्रगे प्राचीं रात्रिमुखे प्रतीचीं नमति, हिताहितपथे न व्यथते ॥ ११५ ॥

इस व्यवहार-कुशल व्यक्ति की सत्संगति का लाभ उठायें—

अपने अभीष्ट पथपर सदा स्थिर रहनेवाले ये महाशय उगते हुये सूर्य की ही उपासना करते हैं। आत्मसिद्धि को ही लक्ष्य में रखकर किसी का स्वीकार या त्याग निरपेक्ष भाव से करते हैं। प्रातःकाल पूर्व को प्रणाम करते हैं, सन्ध्या के समय पश्चिम की वन्दना करते हैं, अपने लाभ-हानि के मार्ग पर इन्हें कहीं कोई व्यथा नहीं होती [ऐसा प्रतीत होता है कि यह कोई आधुनिक 'दलबदलू' है। सम्भवतः उस समय भी 'दलबदलू' का अभाव न रहा होगा।] ॥ ११५ ॥

दण्डं पतिष्णुमवलोक्य हितं विधत्ते
श्रद्धां स्तुतिं न मनुते हठरुद्धमार्गः ।
क्षेत्रान्तरार्पितमना नवभक्ष्यगृध्नो
मूढो वृषस्तदपि सत्क्रियतेऽन्धलोकैः ॥११६॥

पतिष्णुं दण्डम् अवलोक्य हितं विधत्ते हठरुद्धमार्गः श्रद्धां स्तुतिं न मनुते नवभक्ष्यगृध्नः क्षेत्रान्तरार्पितमनाः मूढः वृषः तदपि अन्धलोकैः सत्क्रियते ॥ ११६ ॥

ये श्रद्धा-स्तुति आदि को महत्त्व नहीं देते, हठपूर्वक न्याय का मार्ग रोककर खड़े हो जाते हैं। किन्तु मार खाने के डर से तुरन्त अभीष्ट हित-सिद्धि कर देते हैं। नये पकवानों के लिए गृध्रों के समान उतावले हो जाते हैं तथा इनका हृदय सदैव परकीय क्षेत्र (दूसरों की स्त्रियों) के लिए उत्कण्ठित रहता है। बैल के समान जड़ हैं फिर भी अन्धा समाज पद के कारण इनका सत्कार करता है [यह उक्ति तो आधुनिक शिक्षासंस्थाओं के नियामकों पर विशेष जँचती है। सम्भव है उस समय भी ऐसे अधिकारियों की कमी न रही हो।] ॥ ११६ ॥

आयुर्यथा गलति मूर्च्छति चात्मबोधः
कामस्तथैनमधिकं परिविध्यतीव ।
धन्वन्तरिं मृगयतेऽथ तिलोत्तमां वा
शिष्यं प्रपन्नमयि शाधि तदेनमार्ये ! ॥११७॥

यथा आयुः गलति आत्मबोधः च मूर्च्छति तथा कामः एनम् अधिकं परिविध्यति इव धन्वन्तरिम् अथ तिलोत्तमां वा मृगयते अयि, आर्ये ! तत् एनं प्रपन्नं शिष्यं शाधि ॥११७॥

देवि ! इन्हें सँभालो। जैसे-जैसे अवस्था ढल रही है तथा आत्मविवेक विस्मृत होता जा रहा है वैसे ही उसी मात्रा में पुष्पधन्वा भी इन्हें अधिकाधिक सन्तप्त करता जा रहा है। ये समझ नहीं पाते कि ये क्या चाहते हैं, इन्हें किसी धन्वन्तरि की इच्छा है (जो इन्हें नीरोग कर दे) या किसी तिलोत्तमा की (जो इनके तीव्र मनोराग को सन्तुष्ट कर सके)। तो आज शरण में आये इस शिष्य का तुम यथावत् बोध करके इसे संशयविमुक्त कर दो ॥ ११८ ॥

आत्मोत्तरं जनमवेक्ष्य धनेऽथ माने
सोऽयं भृशं ज्वलति कुप्यति दैन्यमेति।
दीने कृपापरवशोऽपि तमेव दैवाद्
वीक्ष्यास्तदैन्यमनिशं शपतीशमेव ॥११८॥

अयं सः धने अथ माने आत्मोत्तरं जनम् अवेक्ष्य भृशं ज्वलति कुप्यति दैन्यम् एति दीने कृपापरवशः अपि तम् एव दैवात् अस्तदैन्यं वीक्ष्य अनिशम् ईशम् एव शपति ॥ ११८ ॥

विधि की इस विडम्बना को देखो। इस भले आदमी को कैसा विचित्र स्वभाव दे डाला है—

अपने परिचितों में किसी को भी धन या प्रतिष्ठा में अपने से बढ़ा हुआ देखकर ये क्रोध से भभक उठते हैं, जल जाते हैं तथा उसका अनिष्ट करने में असमर्थ हो मन ही मन दैन्य एवं ग्लानि से भर जाते हैं। गरीब को देखकर कृपा-परवश हो जाते हैं किन्तु उसी को भाग्यवश दैन्यमुक्त देखकर भगवान् को ही गाली देते हैं कि ऐसा अनर्थ क्यों किया ॥ ११९ ॥

सङ्कीर्त्य नास्तिकधियां जगतीशसत्तां
युक्त्या तदस्थितिमपीशजुषां समाजे।
सूत्रं सिसाधयिषुरद्य नवप्रयोगैः
स्त्रीप्रत्ययं गुरुरवैतु तवाङ्घ्रिमूले ॥११९॥

नास्तिकधियां समाजे जगदीशसत्तां सङ्कीर्त्य युक्त्या ईशजुषां तदस्थितिम् अपि (सङ्कीर्त्य) अद्य नवप्रयोगैः सूत्रं सिसाधयिषुः गुरुः तव अङ्घ्रिमूले स्त्रीप्रत्ययम् अवैतु ॥११९॥

किसी शास्त्र-व्यवसायी के प्रति उक्ति है—

ये नास्तिकों की सभा में ईश्वर की सत्ता का प्रतिपादन करते हैं, ईश्वरभक्तों की परिषद् में युक्तिपूर्वक ईश्वर का निराकरण कर देते हैं। लगता है कि अभिनव प्रयोगों द्वारा (वात्स्यायनोदित प्रयोगों के अतिरिक्त) सूत्र सिद्ध करने की इच्छा से ये देवता इस गली में आये हैं तो तुम्हारी चरणसेवा में आज इन्हें 'स्त्रीप्रत्यय' स्पष्ट हो जाय [स्त्रीप्रत्यय—व्याकरण का अध्यायविशेष, जिसके द्वारा पुंल्लिग शब्दों से स्त्रीवाची शब्द बनते हैं—या स्त्रीत्व का प्रत्यय, विश्वास—स्त्री किसे कहते हैं इसका ज्ञान तो स्त्रीजाति के सान्निध्य में आने पर ही सम्भव है।] ॥ ११९ ॥

इस धुरन्धर शास्त्री पर कृपा करो—

वात्स्यायने प्रथितशास्त्रिमदाद्रिवज्रो
यूनो नियन्तुमुपदेशवचस्सु वाग्मी ।
ज्यायानपि प्रवयसां नवचातकोऽयं
प्राग्यत्पयोधरकृपां लभतां वराकः ॥१२०॥

वात्स्यायने पथितशास्त्रिमदाद्रिवज्रः यूनः नियन्तुम् उपदेशवचस्सु वाग्मी प्रवयसां ज्यायान् अपि अयं वराकः नवचातकः प्राग्यत्पयोधरकृपां लभताम् ॥ १२० ॥

वात्स्यायनसूत्र (कामसूत्र) के विख्यात विद्वानों के गर्वमूलक पर्वत को विदीर्ण करने में इन्द्र के वज्र के समान प्रभावशाली ये विद्वान्, युवकों को सदाचार का उपदेश करने में बृहस्पति के समान अबाध गति से बोलते हैं। वृद्धों में भी ज्येष्ठ होते हुए ये युवतियों की ओर नवीन चातक की तरह निर्निमेष दृष्टि से देखते हैं अतः आज उठा हुआ बादल (उन्नत पयोधर, स्तन) इस बेचारे को अपनी कृपा से सनाथ कर दे ॥ १२० ॥

वार्ताऽपि सञ्चरति नाद्य मनोरमायाः
सा कौमुदी व्यपरता क्व सती न जाने ।
लीलावती रजसि साऽन्तमिता वराकी
नाद्यापि विश्वसिषि नन्दिनि ! मामधन्यम् ॥१२१॥

अद्य मनोरमाया वार्ता अपि न सञ्चरति, सा सती कौमुदी क्व व्यपरता न जाने सा वराकी लीलावती रजसि अन्तम् इता, नन्दिनि ! अद्य अपि माम् अधन्यं न विश्वसिषि॥१२१॥

प्रतीत होता है कि ये कोई मेधावी पण्डित जी रहे हैं, व्याकरण तथा ज्योतिष दोनों में समान गति रही है, घर पर गृहिणी भी थीं किन्तु इनके शुभ कार्यों को सुनकर इस पृथिवी से चली गयीं—)

मनोरमा—मन को प्रसन्न करनेवाली या व्याकरण का एक टीकाग्रन्थ ।
कौमुदी – चाँदनी या अष्टाध्यायी सूत्रों की नवीन क्रम से वृत्ति ।
लीलावती—विलासकेलि से युक्त या ज्योतिष (गणित) का एक ग्रन्थ ।
(बड़ा अनुताप है पण्डित को ! 'माया मिले न राम' की मनःस्थिति है) ।

अब मनोरमा की बात भी नहीं चलती, विस्मृत हो गयी, नहीं जानता कि कौमुदी कहाँ नष्ट हो गयी, और वह लीलावती भी धूल में पड़कर नष्ट हो गयी, तुम्हारे लिए मैंने सब कुछ भुला दिया, किन्तु नन्दिनी, आज भी तुम मुझ अभागे का विश्वास नहीं करती, आज भी मैं तुम्हारी कृपादृष्टि से वञ्चित ही हूँ ॥ १२१ ॥

अर्थापरक्तिरयि ! निष्फलतां ममाद्य
त्वय्यिनग्धरात्रिरपि हन्तुमिमां प्रतीक्षाम् ।

अन्योन्यमुत्सुकमनाः परिषेवमाना
शब्दार्थसङ्गतिमुपैतु विधौ गिरीव ॥१२२॥

अयि ! अद्य मम अर्थापरक्तिः निष्फलतां हन्तुं त्वत्स्निग्धरात्रिः अपि इमां प्रतीक्षां (हन्तुं) उत्सुकमनाः अन्योन्यं परिषेवमाना विधौ गिरि इव शब्दार्थसङ्गतिम् पैतु ॥ १२२ ॥

(कोई फक्कड़ धूर्त किसी प्रतीक्षारत नायिका से अनुरोध कर रहा है—)

सुन्दरी, यह रात कितनी मनोहर है। किन्तु विचित्र विडम्बना है, धन के प्रति आसक्ति न रखने के कारण (दरिद्र होने के कारण) मेरी कामनायें विफल हो जाती हैं, तुम भी प्रतीक्षा करती हुई थक गयी हो। एक बात हो सकती है। हम एक दूसरे के पूरक बन जायँ तो यह सुन्दर रात्रि धन्य हो जाय। आज हमारी अर्थ-हीनता निष्फलता से तथा तुम्हारी यह रात प्रतीक्षा से, सर्वथा मुक्त हो जायँ और उत्कण्ठित चित्त से एक दूसरे का आश्रय लेते हुए हम दोनों अपनी विलास क्रीड़ा में इस प्रकार सम्बद्ध हो जायँ जैसे वाणी में शब्द तथा अर्थ की सङ्गति होती है ॥ १२२ ॥

स्निग्धा द्विजाः स्मितरुचोऽमृतसूतिवाचः
पूर्णेन्दुरिष्टशकुनस्य पुरो ममाद्य ।
हस्तो मधूत्सवरमस्तिथिरातिथेयी
तत्किं रुषा दहति शाकुनिकेव दासी ॥१२३॥

इष्टशकुनस्य अद्य मम पुरः स्मितरुचः स्निग्धाः द्विजाः अमृतसूतिवाचः पूर्णेन्दुः मधूत्सवरमः हस्तः आतिथेयी तिथिः तत् शाकुनिका इव दासी रुषा किं दहति ? ॥ १२३ ॥

[स्वामिनो के प्रति अनुरक्त तथा स्वामिनी द्वारा समादृत किसी रसिक से उचित पारितोषिक आदि न पाने के कारण या कम पाने के कारण कोई परिचारिका उस नायक से रुष्ट है किन्तु वह उस पर ध्यान न देकर उसकी स्थिति की नगण्यता स्पष्ट कर रही है—]

शकुन विचारनेवाले तथा मौहूर्तिकों के मतानुसार कुछ वस्तुओं का सम्मुख पड़ना कार्यसिद्धि की सूचना देता है। रूपसी नायिका सम्मुख बैठी है, मधुवार आरम्भ है अतः वह कहता है—

आज मैं शुभमुहूर्त में शकुन का विचार कर निकला हूँ। मेरे सम्मुख मुस्कराते हुए द्विज (ब्राह्मण, दाँत—नायिका की मुस्कान से दाँत झलक जाते हैं) हैं, वे मधुर अमृत-वाणी मुखरित कर रहे हैं (नायिका के शब्द ही सुधारस में घुले हैं), सामने ही पूर्ण चन्द्रमा उदित है (चन्द्रमुखी नायिका शोभायमान है), मधु उत्सव से भरा हुआ हस्त (हस्त नक्षत्र या मधुपात्र बढ़ाता हुआ हाथ) है, स्वयं आज की तिथि ही आतिथेयी है, मेरा आतिथ्य कर रही है। फिर यह दुष्ट दासी भीलनी (चिड़िया मारनेवाली) के समान मेरी ओर कुपित दृष्टि से क्यों देख रही है ॥१२३॥

चित्रं चतुर्दशमितेष्वपि गोलकेषु
सृष्टाननन्तवपुषो वपुषोऽतिधाम्नः ।
वक्षःस्थगोलकयुगैकपदे नियम्य
पङ्के विडम्बयसि धातुरपि प्रतिष्ठाम् ॥१२४॥

चित्रम् ! चतुर्दशमितेषु गोलकेषु अपि सृष्टान् अनन्तवपुषः अतिधाम्नः वपुषः वक्षः-स्थगोलकयुगैकपदे नियम्य धातुः अपि प्रतिष्ठां पङ्के विडम्बयसि ॥ १२४ ॥

(नवयौवना के उद्दाम कुचयुगल पर उक्ति है—)

आश्चर्य है, सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने चौदह गोलकों (भुवनों) का निर्माण किया तथा उनमें अनन्त जीवों का निर्माण किया। किन्तु अलौकिक यौवनवती सुन्दरी, तुमने अपने अत्यन्त कान्तिपूर्ण इस शरीर के वक्षःस्थल पर उदीयमान इन युगल गोलकों (स्तनद्वन्द्व) के किसी भी भाग में उन चौदहों गोलकों के प्राणियों को बाँधते हुए (स्तनयुगल के किसी भाग में लगी दृष्टि वहीं टिक जाती है, सौन्दर्यातिशय के कारण वहाँ से हटती ही नहीं) जगत्स्रष्टा विधाता की प्रतिष्ठा को धूल में मिलाकर विडम्बित कर दिया है ॥ १२४ ॥

एनं मयोभुवमलक्षितमध्यभागे !
प्रीत्या भजातिथिमयाचितकामदोहम् ।
वर्षद्विमर्दकलिकोत्तमगन्धयष्टि-
मुक्तं शचीमपि हसामरपुष्पवेणीम् ॥१२५॥

अलक्षितवाममागे ! एनं मयोभुवम् अयाचितकामदोहम् अतिथिं प्रीत्या भज, अमर-पुष्पवेणीं शचीम् अपि वर्षद्विमर्दकलिकोत्तमगन्धयष्टिः मुक्तं हस ॥ १२५ ॥

अत्यन्त सूक्ष्म मध्यभागवाली कृशोदरि, भाग्यवश उपस्थित इस हेमपुत्र, कुबेररूपी अतिथि की अभ्यर्थना से अयाचित कामदोह का सुख प्राप्त करो। विलासकेलिजन्य विमर्द में दबती हुई नवकली के बरसते हुए गन्ध से पुलकित होकर, अपने जूड़े में कल्पपुष्प बाँधनेवाली शची (इन्द्राणी) का भी मुक्तकण्ठ उपहास करो ॥ १२५ ॥

स्वर्णैः प्रणाशपथिकैरथ यौवनैर्वा
सन्तृप्यता निरतिशायिरसक्षणार्धम् ।
संस्पृश्यते किमु भविष्यमवार्यशङ्कं
तापज्वराकुलमतीतविचेष्टितं वा ॥१२६॥

प्रणाशपथिकैः स्वर्णैः अथ वा यौवनैः निरतिशायिरसक्षणार्धं सन्तृप्यता अवार्यशङ्कं भविष्यं तापज्वराकुलम् अतीतविचेष्टितं वा संस्पृश्यते किमु ॥ १२६ ॥

(धन एवं यौवन के क्षय पर उँगली उठानेवाले आलोचकों के प्रति उक्ति है—)

सभी जानते हैं कि धन चञ्चल है, स्वयं लक्ष्मी ही चञ्चला हैं, यौवन नश्वर है, उपभोग न भी करें तब भी यह विनष्ट हो जायेगा। यह भी ठीक है कि भविष्य की आशंका सबको विकल करती रहती है तथा अतीत, प्राणियों को, यदि उन्होंने कुछ अनुचित किया है तो, पश्चात्ताप के ज्वर से विकल किये रहता है। ऐसी स्थिति में यदि किसी प्रकार एक क्षण के लिए भी भूत-भविष्य को विस्मृत किया जा सके, क्षणविशेष में ही त्रिस्कन्ध काल को बाँध दिया जाय तो यही जीवन की परम उपलब्धि है।

नश्वर सम्पत्ति एवं यौवन से रसपूर्ण निरतिशायी एक क्षण के लिए भी परितोष अनुभव करता हुआ व्यक्ति उस क्षणविशेष में अनिवार्य शंकावाले भविष्य से या पश्चात्तापपूर्ण आकुल भूतकालीन कार्यों से कहाँ सम्पृक्त होता है! उस क्षण-विशेष में तो वह कालजित् हो जाता है॥ १२६॥

लोकान्तरं गतवतः पितुरश्रुगर्भां
हर्तुं शुचं सशपथोज्झितवेशरागः।
मुण्डी दशाहमनुतप्य पुनर्यदेषो
जोष्टुं तदत्र तव तन्वि विविक्ततीर्थम्॥१२७॥

लोकान्तरं गतवतः पितुः अश्रुगर्भां शुचं हर्तुं सशपथोज्झितवेशरागः यत् एषः पुनः अत्र तत् तन्वि! दशाहम् अनुतप्य तव विविक्ततीर्थं जोष्टुम् (एव)॥ १२७॥

[अश्रुपूरित मृत्युशय्या पर पड़े पिता की चिन्ता को दूर करने के लिए किसी युवक ने प्रतिज्ञा की कि वह अब वेश-भूमि में नहीं जायेगा किन्तु पिता का दशगात्र करके वह दसवें दिन ही मुण्डितमस्तक होकर पहुँच गया—रूपसी नायिका को भी आश्चर्य हुआ—उसी का समाधान कोई परिचित कर रहा है]

परलोक-पथिक शास्त्री पिता की अश्रुपूर्ण दुश्चिन्ता को दूर करने के लिए युवक पुत्र ने शपथपूर्वक कहा कि वह कभी भी वेश की ओर नहीं जायगा, उसके विद्वान् पिता सन्तुष्ट होकर दिवङ्गत, हों किन्तु दशगात्र के दिन (मृतक के दशवें दिन) ही मुण्डित होकर युवक रूप-गली में पहुँच गया। किसी परिचित ने कहा कि कमनीय शरीरवाली सुन्दरी, आज इन्हें यहाँ उपस्थित देख आश्चर्य न करो। वस्तुतः दस दिन तक अनुतप्त रहकर, सर्वतोभद्र होकर अब ये तुम्हारे पुण्यतीर्थ (एकान्त तीर्थ) का सेवन कर चित्त-शुद्धि के ही लिए उपस्थित हैं। इसमें आसक्ति या मोह कारण नहीं हैं॥ १२७॥

[उक्ति है कि तुम्हारे सान्निध्य में मुक्ति भी व्यर्थ है—]

स्मर्तुं मनागपि खरांशुमथामृतांशुं
भास्वत्प्रदीपवसतिर्यतते जनः किम्।

द्वन्द्वप्रपञ्चविलयस्तुतमोहिनीं त्वा-
माराध्य मुक्तिमपि नन्दतु को विवेकी ॥१२८॥

भास्वत्प्रदीपवसतिः जनः करांशुम् अथ अमृतांशुं मनाक् अपि स्मर्तुं यतते किम्, द्वन्द्वप्रपञ्चविलयस्तुतमोहिनीं त्वाम् आराध्य मुक्तिम् अपि कः विवेकी नन्दतु । १२८ ॥

कल्याणी, तुम में सहज हो वह शक्ति, वह मोहिनी है कि तुम्हें देखते ही यह विश्वात्मक प्रपञ्च दुःख-सुखादि द्वन्द्व तिरोहित हो जाते हैं, साधक का मनोऽधिराज्य तुम्हारी उपस्थिति से भर जाता है, शोक-मोह आदि से सर्वथा रहित स्थिति में किसे कोई कामना शेष रह जाती है ! उस स्थिति में मुक्ति की भी चिन्ता कौन करेगा ? यथार्थ भी यही है । जिस भवन में बिजलियों का प्रकाश जगमगा रहा है उसे सूर्य या चन्द्र से क्या प्रयोजन ? ॥ १२८ ॥

[तुम्हीं परम तत्त्व हो—]

गेहं विहाय परिहृत्य कुटुम्बचिन्तां
लोकाग्रहं हठमपास्य विपश्चितोऽपि ।
यामेकशेषपरमां द्युतिमाश्रयन्ते
सैवाऽसि नः सततमात्ममणिर्मनोज्ञे ॥१२९॥

विपश्चितः अपि गेहं विहाय कुटुम्बचिन्तां परिहृत्य लोकाग्रहं हठम् अपास्य याम् एकशेषपरमां द्युतिम् आश्रयन्ते मनोज्ञे ! नः सततं सा एव आत्ममणिः असि ॥ १२९ ॥

हृदयमोहिनि, बहुधा देखा जाता है कि अनेक शास्त्रपारंगत विद्वान् अपने अनेकविध भौतिक सुखों, उपलब्धियों को त्यागकर, घर को छोड़कर, कुटुम्ब, स्त्री-पुत्र, परिवार आदि की चिन्ता त्यागकर, समाज का आग्रह अनसुना कर—संसार का प्रपञ्च छोड़कर किसी अमोघ, दिव्य, अविनश्वर ईश्वरीय ज्योति की अनुभूति के लिए निकल पड़ते हैं । हम भक्तों के लिए भी तुम कुछ वैसी ही हो । हमारे आत्मा में मणि के समान प्रकाशित हो । तुम्हारे लिए घर-बार, सगे-सम्बन्धियों को त्याग देना कौन बड़ी बात है ॥ १२९ ॥

[किसी पुराने महात्मा के प्रति उक्ति है ।—]

गोस्वामितां वहति गोरसभोगिनां यो
वेशाङ्गनाचरणपल्लवपूतमौलिः ।
वाचां गुरुः मदवतां नवनागराजः
सोऽम्भोजभूः प्रवयसामयमीहते त्वाम् ॥१३०॥

वेशाङ्गनाचरणपल्लवपूतमौलिः यः गोरसभोगिनां गोस्वामितां वहति वाचां गुरुः मदवतां नवनागराजः प्रवयसाम् अम्भोजभूः सः त्वाम् ईहते ॥ १३० ॥

गोरस-भोगियों में (इन्द्रिय-लम्पटों में) जो गोस्वामी हैं, साँड़ के समान हैं तथा वेश्याजन के सतत पादप्रहार से जिनका सिर पवित्र हो गया है, अत्यन्त ओजस्वी भाषणवाले तथा मदोन्मत्तों में नवीन गजराज के समान मदान्ध, बूढ़ों के बीच लम्बी उम्रवाले ब्रह्माजी के समान, ये आज तुम्हारी कृपा से धन्य होना चाहते हैं, इन्हें कृतार्थ होना ही चाहिए ॥ १३० ॥

[किसी 'दुनियादार' के प्रति उक्ति है—]

साधुर्वचोभिरचलः परमार्गबाधे
मोघस्तवैः पदभृतां परमातिथेयः ।
आत्मानुवादरसिको व्यपनीतदैवः
स्त्वामद्य रञ्जयतु विस्मयजृम्भिताक्षीम् ॥१३१॥

वचोभिः साधुः परमार्गबाधे अचलः मोघस्तवैः पदभृतां परमातिथेयः आत्मानुवाद रसिकः व्यपनीतदैवः (अयम्) अद्य विस्मयजृम्भिताक्षीं त्वां रञ्जयतु ॥ १३१ ॥

आयुष्मति, आज तुम्हारे ये अतिथि तुम्हें विस्मय विमुग्ध बनाकर तुम्हारा मनोरञ्जन करें—

शब्दो, वचनों द्वारा ये परम साधु परोपकारी प्रतीत होते हैं। दूसरों के अभ्युदय-मार्ग में ये पर्वत के समान अड़ जाते हैं। आत्मश्लाघा, अपनी प्रशंसा करने में बेजोड़ हैं। अधिकारी व्यक्ति की अभ्यर्थना, आतिथ्य इनका सहज गुण है, अपनी दक्षता के कारण ये दैव की भी परवाह नहीं करते। दैव को अनुकूल होना ही पड़ता है॥१३१॥

[एक चरित्र—]

क्षात्रं कुलेन मनसा वणिजां वरेण्यो
विद्यालयेऽवनिसुरः स्मृतिदुर्बलोऽपि ।
स्वार्थं सिसाधयिषुरर्चति पामराङ्घ्रि
सम्पत्तिसञ्चयपथेऽर्थपिशाच एव ॥१३२॥

कुलेन क्षात्रं मनसा वणिजां वरेण्यः स्मृतिदुर्बलः अपि विद्यालये अवनिसुरः स्वार्थं सिसाधयिषुः पामराङ्घ्रिम् अर्चति सम्पत्तिसञ्चयपथे अर्थपिशाच एव ॥ १३२ ॥

(इनसे मिलो, कितने गुणवान् हैं ये !)

कुल से क्षत्रिय, मन से वणिक्श्रेष्ठ तथा शिथिलस्मृति होने पर भी ये विद्यालय में ब्राह्मण हैं। अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए नीचतम व्यक्ति का भी चरण-संवाहन करते हैं तथा अर्थसंग्रह में तो पूरे अर्थ पिशाच हैं ॥ १३२ ॥

[यह भी—]

अस्मिन् त्वदुन्नतपयोधरचातकाशे
नान्यावकाशसुलभे विहर त्वमेव ।

साक्ष्यं बिभर्तु रजनिर्विरतप्रतीक्षा
नानोत्सवान्तरितदस्युविभातदृष्टिः ॥१३३॥

न अन्यावकाशसुलभे त्वदुन्नतपयोधरचातकाशे अस्मिन् त्वम् एव विहर, विरत-प्रतीक्षा नानोत्सवान्तरितदस्युविभातदृष्टिः रजनिः साक्ष्यं बिभर्तु ॥ १३३ ॥

तो सुन्दरी, तुम्हारे समुन्नत पयोधर में चातक की आशावाला इनका हृदय केवल तुम्हारे लिए ही उन्मुक्त है। दूसरा स्त्रियों के लिए उसमें कहीं भी अवकाश नहीं है। अतः तुम्हारी विलास-लीला में अनेक प्रकार के एकान्तसुलभ मिथुन-प्रयोगों में आसक्त होने के कारण दस्युतुल्य प्रभात के आगमन से सर्वथा बेखबर, अनवधान, रात्रि तुम्हारी केलिक्रीडा की साक्षिणी बने। तुम्हारी रात विविध स्पृहाओं में इस प्रकार व्यस्त हो जाय कि प्रातःकाल का ध्यान ही भूल जाय ॥ १३३ ॥

आत्मार्पणेन सुभगाः प्रणयोन्मिषेण
नित्योन्मदेन च वयो नवयौवनेन।
यं नन्दयन्ति सुषमोपवनद्विरेफं
मौलौ हठार्पितपदा जय तं वराङ्गि ॥१३४॥

वराङ्गि! यं सुषमोपवनद्विरेफं सुभगाः प्रणयोन्मिषेण आत्मार्पणेन वयःनित्योन्मदेन नवयौवनेन च नन्दयन्ति तं मौलौ हठार्पितपदा जय ॥ १३४ ॥

मनोहर अंगोंवाली, परम सौन्दर्यमय उपवन के चञ्चरीक, जिस युवक को सुन्दरियाँ अपने प्रणय-स्निग्ध समर्पण से तथा आयु नित्य मदोन्मत्त नवयौवन के समर्पण से सदैव आनन्दित किया करती हैं उस प्रिय अतिथि के सिर पर हठपूर्वक अपना पैर रखकर (सुरतोचित प्रयोग विशेष से) विजय प्राप्त करो ॥ १३४ ॥

बाह्यान्तरङ्गनिखिलाग्रहबन्धमुक्तः
स्विद्यत्तनुः स्तिमितदृक् परिकम्पदूरुः।
उद्दामयत्नचपलः क्षतलेखशौण्डः
पर्यस्तमण्डनरुचिः श्रयतां क्षणस्त्वाम् ॥१३५॥

बाह्यान्तरङ्गनिखिलाग्रहबन्धमुक्तः स्विद्यत्तनुः स्तिमितदृक् परिकम्पदूरुः उद्दामयत्न-चपलः क्षतलेखशौण्डः पर्यस्तमण्डनरुचिः क्षणः त्वां श्रयताम् ॥ १३५ ॥

सुरत-पराक्रम-नन्दिनि! बाह्य एवं आन्तरिक सब प्रकार के आग्रह, विधि-निषेध आदि से सर्वथा मुक्त, स्वेदकणाञ्चित शरीरवाला, अर्धमीलित-दृष्टि-नन्दित, अतिकम्पमान जाँघों से विलसित, उत्कृष्ट-चेष्टा से चञ्चल, नख-दन्तक्षत की पंक्ति के कौशल से मनोहर क्षण तुम्हें अनुगृहीत करे ॥ १३५ ॥

यस्याक्षिणी विलसतोऽनिशमक्षसाक्ष्ये
निर्बन्धचाटुचटुलाभ्यसने वचांसि ।
कामो द्विरेफ इव रूपलताञ्चलेषु
सोऽयं मुदेऽस्तु तव नन्दितवेशरथ्यः ॥१३६॥

यस्य अक्षिणी अनिशम् अक्षसाक्ष्ये विलसतः वचांसि निर्बन्धचाटुचटुलाभ्यसने (विलसन्ति) कामः द्विरेफः इव रूपलताञ्चलेषु (विलसति) नन्दितवेशरथ्यः सः अयं तव मुदे अस्तु ॥ १३१ ॥

मनस्विनि ! यह रसिक-शिरोमणि जिसकी आँखें निरन्तर द्यूतक्रीडा में साक्षी रहती हैं, जिसकी वाणी सदैव निर्बाध चापलूसी का अभ्यास करती रहती है, तथा जिसका काम-मनोरथ, रूपसी-कमनीय-लता-अञ्चल में मधुप के समान मँडराता रहता है, वेशमार्ग को अपनी पदपंक्तियों से धन्य करनेवाला यह भाग्यवान् आज तुम्हें हर्षोत्फुल्ल करे ॥ १३६ ॥

के नागता व्यपगताश्च निवृष्टसारा
मेघाः सदम्बररुचश्चपलाभिरामाः ।
एकस्थितिर्विरहिताङ्कुरबाललीला
वन्ध्येयमूषरधरेव तथापि वामा ॥१३७॥

सदम्बररुचः चपलाभिरामाः के मेघाः न आगताः निवृष्टसाराः च (न) व्यपगताः, तथापि विरहिताङ्कुरबाललीला एकस्थितिः ऊषरधरा इव वन्ध्या इयं वामा (वर्तते) ॥१३७॥

मनोहर, अम्बर-सुभग, चपल चरित्रवाले कितने बादल आये, हृदय खोलकर बरसे, सब कुछ समर्पित कर चलते बने किन्तु आज भी बाल-अंकुर-लीला-रहित (अंकुर के समान उत्पन्न होनेवाले शिशु की किलकारी से रहित) ऊषर भूमि के समान यह सुन्दरी अकेली पड़ी हुई है ॥ १३७ ॥

स्त्रीजातिरेव सकला मम शक्तिभेद
इत्यक्षरं समवधाय कुतोऽपि वाक्यम् ।
पण्याङ्गनाचरणयावकरागमुद्रं
भालं सरञ्जनमयं मनुते तपस्वी ॥१३८॥

'सकला स्त्रीजातिः एव मम शक्तिभेदः' इति अक्षरं वाक्यं कुतः अपि समवधाय अयं तपस्वी पण्याङ्गनाचरणयावकरागमुद्रं भालं सरञ्जनं मनुते ॥ १३८ ॥

ललाट पर लाल तिलक लगाये इस महात्मा को देखो। इन्होंने दुर्भाग्यवश कहीं पढ़ लिया कि "स्त्रियः समस्तास्तव देवि भेदाः" (सब स्त्रियाँ देवी दुर्गा का ही स्वरूप हैं—दुर्गा० स०) अतः इस वाक्य के अनुसार वारवधू-कुल के पद-पल्लवों को

अलङ्कृत करनेवाले अलक्तक के छाप से मण्डित ललाट को ऐसा मानते हैं मानो देवी का प्रिय लाल चन्दन ही लगाया हो ॥ १३८ ॥

[इन पुराने शास्त्री जी से मिलिये—]

एनं विलोकय वचोरचनाधुरीणं
सारस्वतप्रथिततीर्थनिगूढनक्रम् ।
भोगेषु मुक्तमनसैव निमग्नकण्ठो
मालेव योऽहिरपि भाति सुदर्शनांसे ॥१३९॥

वचोरचनाधुरीणं सारस्वतप्रथिततीर्थनिगूढनक्रम् एनं विलोकय यः भोगेषु मुक्तमनसा एव निमग्नकण्ठः अहिः अपि सुदर्शनांसे माला इव भाति ॥ १३९ ॥

वचनचातुरी में धुरीण (वाग्जाल में कुशल) इस परम धूर्त को देखो, सरस्वती के विश्वप्रतिष्ठ तीर्थ में यह छिपे हुए ग्राह के समान है। अनासक्ति का अभिनय करता हुआ यह भोगों में आकण्ठ मग्न रहता है तथा सर्प होकर भी यह माला के समान किसी सुदर्शना के गले में लिपटा रहता है ॥ १३९ ॥

प्राणाः कृशोदरि सुखं मम निर्ज्वलन्तु
दृष्टिर्निमज्जतु निवापजलास्रपूरे ।
विद्युल्लते ! परमपैषि कथं परोक्षं
दग्धुं प्रसीद शलभान् क्षणमात्मदीप्तौ ॥१४०॥

कृशोदरि, मम प्राणाः सुखं निर्ज्वलन्तु निवापजलास्रपूरे दृष्टिः निमज्जतु । विद्युल्लते, परं परोक्षं कथम् अपैषि आत्मदीप्तौ शलभान् क्षणं दग्धुं प्रसीद ॥ १४० ॥

(मानिनी की अभ्यर्थना करता हुआ कोई निवेदन कर रहा है—)

पतली कमरवाली, बिजली, हमारे प्राण भले ही जल जायँ तथा भले ही दृष्टि शोकाश्रु के कुण्ड में डूब जाय। किन्तु मेरी बिजली, यूँ रूठकर आँखों से दूर कहाँ जा रही हो। देखो रोष छोड़ो, अपनी रूप-ज्योति में इन पतिंगों को क्षण भर के लिए जल जाने दो ॥ १४० ॥

निःश्वासकम्पि हृदयं परिशुष्यदास्यं
चित्तं सशङ्कि चरणं स्खलदक्षि मन्दम् ।
नैवान्तमेति हतभाग्यनिभा प्रतीक्षा
स्निग्धा निशाऽपि विधुरा करुणं प्रयाति ॥१४१॥

हृदयं निश्श्वासकम्पि आस्यं परिशुष्यत् चित्तं सशङ्कि चरणं स्खलत् अक्षि मन्दम् (जातम्) हतभाग्यनिभा प्रतीक्षा अन्तं न एव एति एषा स्निग्धा निशा अपि करुणं विधुरा प्रयाति ॥ १४१ ॥

[निर्वेद-विगलित स्वर में कोई भक्त अपनी विडम्बना का रोना रोता हुआ किसी मानिनी से कह रहा है—]

निःश्वास से काँपता हृदय अचेतप्राय हो रहा है, मेरा मुख सूख गया, चित्त में शंका बढ़ रही है, पैर लड़खड़ा रहे हैं, आँखों की ज्योति मन्द पड़ गयी (बड़ी कठिन तपस्या है बेचारे की)। किन्तु मेरे दुर्भाग्य के समान प्रतीक्षा समाप्त ही नहीं हो रही है और यह स्निग्ध मधुयामिनी भी वञ्चिता होकर करुणापूर्वक जा रही है फिर भी तुम्हारा पाषाणहृदय दयार्द्र नहीं होता ॥ १४१ ॥

आयुष्मति प्रतिदिनं मयि निर्दयापि
फुल्लल्लतेव विकसोद्घवकोरकश्रीः ।
एषः प्रसादमनुलब्धुमनन्तधैर्यः
कालं सनातनमपि प्रयतः प्रतीक्षे ॥१४२॥

आयुष्मति ! मयि निर्दया अपि प्रतिदिनम् उद्घवकोरकश्रीः फुल्लल्लता इव विकस, प्रसादम् अनुलब्धुम् अनन्तधैर्यः एषः (अहम्) प्रयतः सनातनम् अपि कालं प्रतीक्षे ॥ १४२ ॥

[अपनी भीष्मप्रतिज्ञा की घोषणा द्वारा सम्भवतः कोई तपस्वी किसी मानवती को पुनर्विचार के लिए बाध्य करना चाहता है —]

आयुष्मती, तुम्हारा कल्याण हो। ठीक है, तुम प्रतिदिन मुझ पर निर्दय, कठोर बनी रहो। फिर भी मेरी अभिलाषा यही है कि तुम सदैव पुष्पराशि से लदी नवकोरकवाली लता के समान सजी रहो। मेरी यह प्रतिज्ञा है कि मैं निस्सीम धैर्य के साथ अनन्तकाल तक तुम्हारे अनुग्रह को प्राप्त करने के लिए मूक प्रतीक्षा करता रहूँगा ॥ १४२ ॥

१४३-१४४ दोनों श्लोक एक-क्रियान्वयी हैं।

ऐन्द्रं भ्रुवा धनुरपाङ्गदृशा पृषत्कान्
नागेन्द्रकुम्भहठदर्पमुरोजलक्ष्म्या ।
पीयूषपुण्यमधरोष्ठरसायनेन
कल्पद्रुमश्रियमभीप्सितकामदोहैः ॥१४३॥

ऐन्द्रं धनुः भ्रुवा पृषत्कान् अपाङ्गदृशा नागेन्द्रकुम्भहठदर्पम् उरोजलक्ष्म्या पीयूषपुण्यम् अधरोष्ठरसायनेन कल्पद्रुमश्रियम् अभीप्सितकामदोहैः ॥ १४३ ॥

यह नवयौवना अपने भ्रू-भंग से इन्द्रधनुष को, कटाक्षपूर्ण दृष्टि से बाणों को, स्तनकलश की कान्ति से गजयूथप के उन्नत कुम्भ के दर्प को, अधरासव से अमृत के पुण्य को तथा अभीष्ट कामदोह से कल्प वृक्ष की कीर्ति को विफल करती हुई ॥ १४३ ॥

कामेष्टिभिर्गणकलाघवलङ्घिनीभिः
सद्यःफलाभिरवधूय शतक्रतुत्वम् ।
दृष्टा निमेषमपि दुस्सहयौवनेयं
सर्गं सहस्रनयनायितमातनोति ॥१४४॥

शतक्रतुत्वं सद्यःफलाभिः गणकलाघवलङ्घिनीभिः कामेष्टिभिः अवधूय निमेषम् अपि दृष्टा इयं दुस्सहयौवना सर्गं सहस्रनयनायितम् आतनोति ॥ १४४ ॥

दुस्सह यौवनवती यह सुन्दरी, अच्छे गणितज्ञ की गिनने की कुशलता को भी अपने काम-यज्ञों की संख्या से तिरस्कृत करती हुई उनके तुरन्त फलदायी होने के कारण इन्द्र के शतक्रतुत्व (शत यज्ञ पूर्ण करने की उपाधि) को चुनौती देती हुई, अपनी सौन्दर्यपूर्ण छवि से [एक क्षण के लिए भी यदि समाज की दृष्टि में पड़ जाती है तो समाज हजार आँखोंवाले इन्द्र के समान उसे देखने के लिए सहस्र नेत्रों को खोल देता है] समाज को ही सहस्रनेत्र इन्द्र के रूप में बदल देती है ॥ १४४ ॥

[तुम सावन भादों हो—]

अर्थागमं हरति वर्त्म रुणद्धि कान्तं
स्वच्छाम्बरञ्च सहठं कलुषीकरोति ।
सोल्लुण्ठनं हसति पीनपयोधरश्री-
र्वर्षेव नन्दयति वारवधूस्तथापि ॥१४५॥

अर्थागमं हरति कान्तं वर्त्म रुणद्धि स्वच्छाम्बरं च सहठं मलिनीकरोति सोल्लुण्ठनं हसति तथापि पीनपयोधरश्रीः वारवधूः वर्षा इव नन्दयति ॥ १४५ ॥

जिस प्रकार वर्षाऋतु व्यापार-मार्गों को आप्लावित करके अर्थागम को नष्ट कर देती है, सुन्दर मार्गों में भी अवरोध उपस्थित कर देती है, स्वच्छ आकाश को सहठ कृष्णवर्ण बनाकर बादलों की शोभा से इठलाती हुई बिजली की चमक उत्पन्न करती है, फिर भी जल बरसाकर आनन्दित ही करती है—उसी प्रकार युवती वारांगना भी अर्थशोषण करती है, सन्मार्ग को अवरुद्ध कर देती है, निष्कलंक चरित्र को भी मलिन, कलुषित कर देती है, अपने सुडौल पयोधरों (स्तनों) को छटा पर इतराती हुई हँसती है, फिर भी विलास-केलि द्वारा अत्यन्त परितोष देती है ॥ १४५ ॥

वासः प्रसाधनमलङ्कृतिरङ्गरागो
लब्ध्वा प्रयोजनफलातिथिमिष्टवर्षम् ।
प्रीतोरसोऽचिरमनोरथयागसिद्ध्यै
[ः पदे तरलतारकलोचनायाः ॥ १४६ ॥

वासः प्रसाधनम् अलङ्कृतिः अङ्गरागः इष्टवर्षं प्रयोजनफलातिथिं लब्ध्वा अचिर-मनोरथयागसिद्ध्यै प्रीतोरसः तरलतारकलोचनायाः पदे पेतुः ॥ १४६ ॥

प्रयोजन के अनुरूप, अभीष्टवर्षी अतिथि को पाकर, शीघ्र ही अभिलषित यज्ञ (कामदोह) की सिद्धि के लिए, सुरुचिपूर्णपरिधान, अलंकार, अंगराग आदि प्रसन्नतापूर्वक चञ्चल पुतलियोंवाली सुन्दरी के चरणों में गिर पड़े [परिधान, पुष्पाभरण, अंगराग, केशपाश आदि का प्रयोजन उद्देश्यविशेष के लिए सुरतोन्मुख करने के लिए है। विलासक्रीडा के चपल उद्यम में इन्हें क्षतविक्षत, विमर्दित होना ही पड़ता है। वस्त्रादि को भी स्थिति-त्यागपूर्वक अभीष्टदोह में योगदान करना ही पड़ता है।] ॥ १४६ ॥

दोनों श्लोक (१४७-४८) एक क्रियापदान्वयी हैं।

विभ्रंशदंशुकमपाकृतबन्धचोलं
सन्दष्टविद्रुमनवाधरमस्तरागम् ।
चण्डोद्यमेषु विगणय्य सुकेशपाशं
प्रस्वेदबिन्दुकणिकाञ्चितदेहयष्टिः ॥ १४७ ॥

विभ्रंशत् अंशुकम् अपाकृतबन्धचोलम् अस्तरागं सन्दष्टविद्रुमनवाधरं सुकेशपाशं चण्डोद्यमेषु विगणय्य प्रस्वेदबिन्दुकणिकाञ्चितदेहयष्टिः ॥ १४७ ॥

खुलकर खिसकती हुई साड़ी, टूटते हुए बन्धनवाली चोली, रदक्षत से पीड़ित होते हुए व्यस्त राग, मूगे के समान लाल रंगवाले नवीन अधरोष्ठ, सुन्दर केशपाश आदि का, प्रचण्ड उद्यम में (सरभस काम-आराधना में) तनिक भी ध्यान न रखती हुई, पसीने की बूँदों से सजे हुए शरीरवाली ॥ १४७ ॥

यत्सम्भृताऽल्पविकलाक्षरमालपन्ती
प्रोज्जृम्भितस्तनघटा नवलाऽबलाऽपि ।
नेत्रोत्सवं वितनुते रभसोद्यमेन
वन्दे मनोभुवमुरोजजुषं तमेकम् ॥१४८॥

अल्पविकलाक्षरम् आलपन्ती प्रोज्जृम्भितस्तनघटा नवला अबला अपि यत्सम्भृता रभसोद्यमेन नेत्रोत्सवं वितनुते तम् उरोजजुषम् एकं मनोभुवं वन्दे ॥ १४८ ॥

जिससे उत्साहित एवं उत्प्रेरित होनेवाली नवयुवती अबला होकर भी आवेश में कुछ अस्फुट शब्द मुखरित करती हुई, उल्लसित होती हुई पयोधर घटावाली, अत्यन्त आवेग से विकट पराक्रम करती हुई आँखों के सामने अति मनोहर अविस्मरणीय उत्सव सा प्रस्तुत करती है, उस कुचकलश के सेवक मनोजन्मा काम को नमस्कार है ॥ १४८ ॥

दोषागमे फलति याऽपगमेऽस्तमेति
वेशस्थितिर्ध्रुवमियं प्रकृतेर्विकारः ।
पश्याभितः प्रतिदिशं विनिपातभग्नैः
पात्रैः रुणद्धि पदपङ्क्तिमशोभि वर्त्म ॥१४९॥

या दोषागमे फलति आगमे अस्तम् एति ध्रुवं (सा) इयं वेशस्थितिः प्रकृतेः विकारः, अभितः पश्य विनिपातभग्नैः पात्रैः अशोभि वर्त्म प्रतिदिशं पदपङ्क्तिं रुणद्धि ॥१४९॥

वेशभूमि (रूप का बाजार) प्रकृति का विकार है। यह रात (दोषा) के आगमन के साथ आरम्भ होता है तथा रात की समाप्ति के साथ ही बाजार उजड़ जाता है (या दोषों के प्रबल होने पर, काम आदि दोष से आरम्भ होकर दोषशमन के साथ ही समाप्त हो जाता है। देखिये, चारों ओर प्रत्येक दिशा में फेंकने से टूटे हुए पात्रों के कारण कूड़े-कचरे से दूषित मार्ग पदपंक्ति को आगे बढ़ने से रोक रहा है (यह भी हो सकता है कि विनिपात से, आत्मपतन से उच्छृङ्खल व्यक्ति (पात्र) के आचरण से मार्ग, सामाजिक पथ विपन्न हो गया है) [दोषागम—दोषा (रात्रि)+ आगम, रात्रि का आगमन, अथवा दोष+आगम, दोषों की उपस्थिति।] ॥ १४९ ॥

वातायने विरलतामुपयान्ति दीपा
लुप्यत्प्रभा वसतिरस्तमिवैति दृष्टा ।
दूरं शशी श्रयति पश्चिमदिग्विभागं
शेते शुनां ततिरियं सुलभावबोधा ॥१५०॥

दीपाः वातायने विरलताम् उपयान्ति दृष्टा (सती) लुप्यत्प्रभावसतिः अस्तम् इव एति दूरं पश्चिमदिग्विभागं शशी श्रयति सुलभावबोधा इयं शुनां ततिः शेते ॥ १५० ॥

झरोखों में रखे दीपों की संख्या विरलतर (बुझा देने से) होती जा रही है। देखने पर प्रकाशहीनता के कारण ऐसा लगता है जैसे मुहल्ले ही अस्त हो गये हों। दूर पश्चिम-आकाश में चन्द्रमा दिखाई पड़ रहा है, आहट पर तुरन्त जग जानेवाले कुत्तों की कतार सोयी हुई है ॥ १५० ॥

कादम्बनिश्चलतनुः शिथिलांशुकाङ्गी
शुष्यद्रदच्छदतटी विषमप्रतीक्षा ।
निद्रालसा विरहितोचिततल्परागा
शेते निरर्गलकपाटसमीपभूमौ ॥१५१॥

कादम्बनिश्चलतनुः शिथिलांशुकाङ्गी शुष्यद्रदच्छदतटी विषमप्रतीक्षा निद्रालसा विरहितोचिततल्परागा निरर्गलकपाटसमीपभूमौ (कापि) शेते ॥ १५१ ॥

सुरापान के कारण निश्चेष्ट शरीर तथा साड़ी से खिसक जाने अस्तव्यस्त अंगोंवाली, सूखे हुए ओष्ठप्रान्तवाली कोई वारवधू लम्बी प्रतीक्षा, नींद से विवश

हो जाने के कारण, उचित शय्या आदि से निस्पृह से वहीं खुले हुए दरवाजे के पास की जमीन पर ही सो रही है (प्रतीक्षा करते-करते नींद में आ गयी है) ॥ १५१ ॥

यातं क्व सर्वमचिरं जननेत्ररम्यं
सौन्दर्यसृष्टिरुदिता क्व गता हृताऽसौ ।
द्रागिन्द्रजालमिव यौवनमुग्धसर्ग-
मन्तर्दधाति निखिलं नियतिर्नटीव ॥१५२॥

पथि प्रचलतां रक्षकानां मन्दम् अपि पदध्वनिः प्रतीति दिशन् व्यक्तम् उदेति अचिरं नियतिः नटी इव द्राक् इन्द्रजालम् इव निखिलं यौवनमुग्धसर्गम् अन्तर्दधाति ॥ १५२ ॥

लोगों की आँखों को सुख देनेवाला वह सब कुछ इतने शीघ्र कहाँ चला गया, सौन्दर्य की वह उदीयमान सृष्टि लुप्त होकर कहाँ छिप गयी। अभिनेत्री के समान प्रकृति ने यौवन की उस मुग्धकारी सृष्टि को इन्द्रजाल के समान (जादू के समान) तिरोहित कर दिया ॥ १५२ ॥

मन्दं पथि प्रचलतामपि रक्षकानां
व्यक्तं पदध्वनिरुदेति दिशन् प्रतीतिम् ।
जृम्भां जहाति कृतगात्रविकर्षणोऽसौ
श्यामाविरामममचिरं कलयन् प्रबुद्धः ॥१५३॥

पथि प्रचलतां रक्षकानां मन्दम् अपि पदध्वनिः प्रतीति दिशन् व्यक्तम् उदेति अचिरं श्यामाविरामं कलयन् कृतगात्रविकर्षणः प्रबुद्धः असौ जृम्भां जहाति ॥ १५३ ॥

राजमार्ग में गश्त लगाते हुए पहरेदारों की पदध्वनि स्पष्ट सुनाई दे रही है तथा उससे सुरक्षा के प्रति विश्वास प्रतिष्ठित हो रहा है। वह आदमी (कोई व्यक्ति) रात की समाप्ति एवं प्रभात के आगमन को जानकर अँगड़ाई लेता हुआ (देह तोड़ता हुआ) जम्हाई ले रहा है ॥ १५३॥

एषः क्रमेलकगणः परिधूय तन्द्रां
ग्रीवां प्रवर्तयति सोत्सुकवल्गितेन ।
प्रोथस्फुरत्तृणदलं परिमन्दहेषा
पुच्छं मुहुः क्षिपति ताजिकवाजिराजिः ॥१५४॥

तन्द्रां परिधूय एषः क्रमेलकगणः सोत्सुकवल्गितेन ग्रीवां प्रवर्तयति प्रोथस्फुरत्तृणदलं परिमन्दहेषा ताजिकवाजिराजिः पुच्छं मुहुः क्षिपति ॥ १५४ ॥

ऊँटों का यह समूह तन्द्रा त्यागकर उत्सुकतापूर्वक होठों को बलबलाता हुआ अपनी गर्दन को मोड़ रहा है, परिचालित कर रहा है। ताजी घोड़ों की यह पंक्ति नथुनों की फड़फड़ाहट से घास के टुकड़ों, तिनकों को उड़ाती हुई धीमी

हिनहिनाहट के साथ पूँछ को इधर-उधर फटकार रही है [प्रभात के धुँधलके में इन पालतू पशुओं की ये स्वाभाविक क्रियायें हैं।] ॥ १५४ ॥

बिभ्रन् मनोज्ञमधुभारघटं विभाते
वातायनच्छदपटान्तरलब्धवर्त्मा ।
लीलागृहे श्रियमिव श्रियमेव सिन्धौ
वीक्ष्यावकीर्य गतिलाघवमेति वायुः ॥१५५॥

मनोज्ञमधुभारघटं बिभ्रत् विभाते वातायनच्छदपटान्तरलब्धवर्त्मा वायुः लीलागृहे श्रियम् इव श्रियम् एव सिन्धौ वीक्ष्य अवकीर्य गतिलाघवम् एति ॥ १५५ ॥

प्रभात के दूधिया उजाले में मनोमोहक मधुगन्धी कलश के भार को ढोता हुआ, केलिगृह में खिड़की के परदों के बीच से भीतर प्रवेश कर, समुद्र में स्थित लक्ष्मी सी, रूप-लता नायिका को देखकर, गन्धवाही पवन अपना गन्धभारयुक्त घट उँडेलकर, भारमुक्त होने से कुछ अधिक गतिशील हो रहा है [बोझ हल्का हो जाने से गतिशीलता बढ़ जाती है तथा मन्द पवन क्रमशः चञ्चल हो ही जाता है] ॥ १५५ ॥

स्वच्छाम्बरोदिततनुर्धृतपुष्पमालः
पुष्पान्तरोल्लसित-रेणु-भरानिलाध्वा ।
मत्तालिविष्किर-कल-स्वन-गीतकीर्ति-
र्मन्ये मधुर्विहरतीव विभातकाले ॥१५६॥

स्वच्छाम्बरोदिततनुः धृतपुष्पमालः पुष्पान्तरोल्लसित-रेणु भरानिलाध्वा मत्तालि-विष्किर-कल-स्वन-गीतकीर्तिः विभातकाले मन्ये मधुः विहरति इव ॥ १५६ ॥

प्रातः की इस मनोहर वेला में प्रतीत होता है कि मधुमास अपनी राजसी मुद्रा में वायु सेवन कर रहा है। वह स्वच्छ अम्बर (निर्मल आकाश या स्वच्छ वस्त्र) धारण किये है, पुष्पमाल पहिने है (तरु-लतायें फूलों से लदी हैं)। फूलों के अन्दर से आते पुष्परेणु के प्रवाह से मार्ग गन्धमय हो गया है, आनन्दमग्न अलिकुल तथा खगसमूह अपनी कलध्वनि से मधुमास की कीर्ति का गान कर रहा है। मधुमास राजा के समान है अतः वायु-सेवन में भी राजोचित व्यवस्था है ॥ १५६ ॥

मुग्धं स्पृशन् सरिदुरो नमयन् द्रुमाग्र-
मुत्साहयन्नलिकुलं मधुगन्धलोलम् ।
आकर्णयन्निव खगस्वरसिद्धकण्ठं
मन्दानिलो मलयतीर्थचरोऽयमेति ॥१५७॥

सरिदुरः मुग्धं स्पृशन् द्रुमाग्रं नमयन् मधुगन्धलोलम् अलिकुलम् उत्साहयन् खगस्वर-सिद्धकण्ठम् आकर्णयन् इव अयं मलयतीर्थचरः मन्दानिलः एति ॥ १५७ ॥

प्रातःवेला में, मलयाचल का निवासी यह मलयपवन, सरिताओं के हृदय को मुग्ध भाव से गुदगुदाता हुआ, वृक्षों की टहनियों को झुकाता, मधु एवं गन्ध के लोभी भ्रमरसमूह को उत्साहित करता हुआ, पंछियों के स्वरपूर्ण कण्ठ को सुनता हुआ धीरे-धीरे बह रहा है ॥ १५७ ॥

सैवावनिः परिचितं भुवनं तदेव
सर्वं तथा वयमये ! वयमेव नान्ये ।
वेगान्मनोरथपथातिथि किन्तु चेतो
व्यालोकयत्यभिनवं परितः किमेतत् ॥१५८॥

सा एव अवनिः तत् एव परिचितं भुवनं सर्वं तथा, अये ! वयं वयम् एव न अन्ये, किन्तु मनोरथपथातिथि चेतः वेगात् परितः अभिनवं व्यालोकयति, एतत् किम् ? ॥ १५८ ॥

यह पृथिवी वैसी ही है, यह परिचित संसार भी वही है, सब कुछ वैसे ही हैं, हम भी हम ही हैं, कहीं कोई परिवर्तन नहीं है फिर भी मनोरथ की तरङ्गों में प्रवाहित होता हुआ मन, अपने चारों ओर कुछ नवीन-सा अनुभव कर रहा है—यह क्या बात है ? [प्रकृति के राज्य में कहीं भी कुछ पुराना, अनाकर्षक नहीं है ।] ॥ १५८ ॥

संवाहयन् निधुवनोदधिमन्थनार्त-
लीलैकभूमिवनिताश्रमकर्शिताङ्गम् ।
लास्योपदेशमवनीव्रतति-प्रताने
संशिक्षयन् वहति हैमनमातरिश्वा ॥१५९॥

निधुवनोदधिमन्थनार्तलीलैकभूमिवनिताश्रमकर्शिताङ्गं संवाहयन् अवनीव्रततिप्रताने लास्योपदेशं संशिक्षयन् हैमनमातरिश्वा वहति ॥ १५९ ॥

सुरत-समुद्र के मन्थन में विकल, लीलामयी रमणी के श्रम-निस्सह अंगों को दबाता (थकान दूर करने के लिए) हुआ तथा संसार के लता-समूहों को नृत्यकला में प्रवीणता की शिक्षा देता हुआ शीतल पवन बह रहा है ॥ १५९ ॥

हस्तैक-कान्तकर-कृष्ट-धृतोत्तरीया
नीवीं करेण दधती शिथिलां परेण ।
व्रीडैव काऽपि नयनोत्सवमातनोति
बद्धोरु-मूल-नखलक्ष्म-निलीन-दृष्टेः ॥१६०॥

हस्तैक-कान्त-कर-कृष्टधृतोत्तरीया परेण करेण शिथिलां नीवीं दधती व्रीडा एव का अपि बद्धोरुमूल-नख-लक्ष्म-निलीनदृष्टेः नयनोत्सवम् आतनोति ॥ १६० ॥

प्रभात हो रहा है, सुरत-मृदिता रमणी अस्तव्यस्त वस्त्रों को सँभालने की चेष्टा करती हुई शय्या से उतर चुकी है, प्रियतम द्वारा आकृष्ट उत्तरीय को एक हाथ से पकड़े है (नहीं तो वक्षःप्रदेश अनावृत हो जायेगा), तबतक सहसा खुलती हुई नीवी को दूसरे हाथ से सँभालने की असफल चेष्टा करती है, एवं इस व्यस्तता में वस्त्र हट जाने के कारण खुली हुई जाँघ के मूल में उभरी हुई नखपंक्ति के निशान में प्रिय की अनुरागमयी दृष्टि रम जाती है। इस प्रकार वह नवयौवना इतनी हतप्रभ, संकुचित हो जाती है मानो लज्जा ही स्वरूप धारण कर उपस्थित हो गयी है और प्रियतम के लिए तो मानो नेत्रोत्सव का महान् पर्व ही उपस्थित हो गया है ॥ १६० ॥

मृष्टाञ्जनालसकषायविघूर्णिताक्षं
रागावगाढदशनक्षतपाटलोष्ठम् ।
स्रस्तालकं श्रमजलाञ्चितपत्रशोभं
वध्वा मुखं तदपि चन्द्रमधःकरोति ॥१६१॥

मृष्टाञ्जनालस-कषाय-विघूर्णिताक्षं रागावगाढ-दशन-क्षत-पाटलोष्ठम् स्रस्तालकं श्रम-जलाञ्चितपत्रशोभं वध्वाः मुखं तदपि चन्द्रम् अधःकरोति ॥ १६१ ॥

प्रातःकाल केलिगृह से शय्या छोड़कर उठी हुई मदालसा युवती का मुख-मण्डल, मिटे (पुँछे) हुए अञ्जनों तथा आलस से उनीदी तथा कड़वाहटभरी आँखों (रागोन्मद चुम्बन के कारण आँखों का काजल फैल गया है तथा पुँछ गया है) के अतिशय राग के कारण दन्तक्षत के गहरे निशानों से युक्त गुलाबी ओष्ठों, खुले हुए अस्तव्यस्त केशों एवं पसीने की बूँदों से बहकर फैली हुई पत्रशोभा के कारण यद्यपि प्रसाधनों से विरहित हो गया है फिर भी अपनी सहज सुषमा से यह चन्द्रमा को तिरस्कृत कर रहा है ॥ १६१ ॥

क्षीणे तमिस्रपटले वनराजिनीले
याते वधूसहचरेऽलसमुग्धदृष्टौ ।
लीलामनोरथशतोदितपर्वसाक्ष्यै-
र्दीपोऽस्तमेति सफलः सह रश्मिजालैः ॥१६२॥

वनराजिनीले तमिस्रपटले क्षीणे अलसमुग्धदृष्टौ वधूसहचरे याते लीलामनोरथ-शतोदित पर्व-साक्ष्यैः रश्मिजालैः सह सफलः दीपः अस्तम् एति ॥ १६२ ॥

वन-समूह के समान नील कान्तिवाले अन्धकार-पटल के तिरोहित होने पर, आलस्य से भारी पलकोंवाले प्रियतम के बाहर (शय्या से उठकर) चले जाने पर, रात भर विविध प्रकार के केलि-विलासपूर्ण सैकड़ों स्नेह-निर्भर उत्सव-पर्वों का

साक्ष्य (गवाही) देनेवाले अपने प्रकाशमय किरणोंवाला दीपक सफलमनोरथ होकर प्रातःकाल अस्त हो गया (दीपक बुझा दिया गया) ॥ १६२ ॥

व्यग्रं मनः स्मृतिरसेषु निमज्जयन्ती
निद्रालसाऽपि नयने दधती कपाटे ।
पाणौ समर्पितकपोलतला विभातं
विश्लेषदूतमपि नैव वधूर्बिभेति ॥१६३॥

स्मृतिरसेषु व्यग्रं मनः निमज्जयन्ती निद्रालसा अपि नयने कपाटे दधती पाणौ समर्पितकपोलतला वधूः विश्लेषदूतं विभातम् अपि न बिभेति एव ॥ १६३ ॥

[कोई वासकसज्जा है—प्रतीक्षानिमग्न रूपसी दरवाजे पर दृष्टि जमाये नींद से बेहाल है फिर भी प्रिय की प्रतीक्षा में जग रही है—]

हथेली पर कपोल तल को टिकाये अतिस्नेह एवं विश्वास के कारण प्रिय के आगमन में निश्शंक कोई नवयुवती, निद्रा-विकल होती हुई भी दृष्टि को दरवाजे पर केन्द्रित करके मन को, स्मृति में सुरक्षित पूर्व प्रेमप्रसंगों में डुबोती हुई, वियोग की सूचना देने के लिए उपस्थित प्रातःकाल से भी आत्मविभोर होने के कारण, नहीं डर रही है [ऐसा प्रतीत होता है कि नायिका ने गवाक्षों पर परदा लगा रखा है तथा दरवाजा भी बन्द ही है फलतः दीपक के प्रकाश में उन उनींदी आँखों को प्रभात की आशंका नहीं हो रही है ।] ॥ १६३ ॥

अप्राप्तभानुविभवामपि वासवाशां
पीतांशुरिन्दुरवलोक्य बिभर्ति दैन्यम् ।
व्यस्ताम्बरा गलति नष्टरुचिः क्षपाऽपि
हासोन्मुखं त्यजति तत्क्षणमिष्टलक्ष्मीः ॥१६४॥

अप्राप्तभानुविभवाम् अपि वासवाशाम् अवलोक्य पीतांशुः इन्दुः दैन्यं बिभर्ति नष्टरुचिः क्षपा अपि व्यस्ताम्बरा गलति इष्टलक्ष्मीः हासोन्मुखं तत्क्षणं त्यजति ॥ १६४ ॥

अभी सूर्योदय नहीं हुआ है तथा पूर्व दिशा को सूर्य का उज्ज्वल वरदान नहीं मिला है फिर भी उसे (पूर्व दिशा को) देखकर पीली कान्ति (पीले मुख) वाला चन्द्रमा अपने आप में दीन-हीन हो गया है । अस्तव्यस्त वस्त्रोंवाली शोभा (शृङ्गार) रहित रात्रि भी गल रही है । हासोन्मुख (कलुषित-आचरण) व्यक्तियों को सौभाग्य-लक्ष्मी तुरन्त छोड़ देती हैं । जिस प्रकार किसी पतिप्राणा को शीघ्र ही प्राप्त होनेवाले पति-दर्शन की लालसा में चिर वियोग के पश्चात् आशा से विह्वल देखकर लम्पट पुरुष तथा स्वैरिणी रमणी नष्टकान्ति एव दैन्यपूर्ण हो जाते हैं वही स्थिति चन्द्रमा तथा रात्रि की है । पूर्वदिशा ही पतिप्राणा साध्वी है । उसका प्रियतम सूर्य आने ही वाला है ॥ १६४ ॥

स्निग्धं लताद्रुमकुलं परिरभ्य रागात्
श्यामाविरामपिशुनो हरिदन्तरङ्गः ।
ज्योत्स्नावगाह-जड-मन्थर-मन्थराङ्गः
स्वास्थ्यं तथापि जगतेऽर्पयतीव वायुः ॥१६५॥

लताद्रुमकुलं रागात् स्निग्धं परिरभ्य श्यामाविरामपिशुनः हरिदन्तरङ्गः ज्योत्स्नावगाह-जड-मन्थर-मन्थराङ्गः वायुः तथापि जगते स्वास्थ्यम् अर्पयति इव ॥ १६५ ॥

लताओं वृक्षों के कुञ्जों को सस्नेह भेंटता हुआ, रात्रि के समाप्त होने की सूचना देता हुआ, दिशाओं का अनन्य बन्धु चाँदनी के द्रव से पूर्ण सरोवर में अवगाहन (स्नान) करने से शीतल अंगोंवाला होकर भी पवन इस प्रातःकाल में संसार के लिए स्वास्थ्य प्रदान कर रहा है ॥ १६५ ॥

धीरं प्रगे विरहितोषरभूमिशय्याः
क्रोडान्तधूसरतनूरुहकृष्णसाराः ।
क्षेत्रेषु यान्ति सजवं सहिता मृगीभि-
र्लीलाविलोकनकलाललितोत्सवाभिः ॥१६६॥

प्रगे धीरं विरहितोषरभूमिशय्याः क्रोडान्तधूसरतनूरुहकृष्णसाराः सजवं लीलाविलोकन-कला-ललितोत्सवाभिः मृगीभिः सहिताः क्षेत्रेषु यान्ति ॥ १६६ ॥

प्रातःकाल के झुटपुटे में ऊषर भूमि में रात्रि को बितानेवाले अतएव उदर-प्रान्त के रोमों के (मिट्टी आदि लग जाने के कारण) धूसर वर्णवाले कृष्णसार मृग, लीलापूर्ण अवलोकन की ललित कला में उत्सव जैसा आनन्द उत्पन्न करने-वाली हरिणियों के साथ खेतों की ओर (चरने के लिए) तेजी से जा रहे हैं ॥१६६॥

द्वन्द्वं विभिद्य सहसा सुख-दुःख-कल्पं
कालं त्रिशाखमपि नित्यफलं विजित्य ।
चेतः सुधाद्रवमये कलकण्ठसृष्टे
सिन्धौ निमज्जयति सिद्धकलः पिकोऽयम् ॥१६७॥

अयं सिद्धकलः पिकः सहसा सुखदुःखकल्पं द्वन्द्वं विभिद्य नित्यफलं त्रिशाखं कालम् अपि विजित्य कलकण्ठसृष्टे सुधाद्रवमये सिन्धौ चेतः निमज्जयति ॥ १६७ ॥

कोयल के कण्ठ से निकली यह मधुधार, कितना मादक प्रभाव है। इस कुहू-कुहू की ध्वनि ने सुख-दुःखमय द्वन्द्वात्मक स्थिति को सहसा व्यर्थ करते हुए तीन (भूत, वर्तमान तथा भविष्य) शाखाओंवाले अमोघ काल को भी पराजित करके निष्प्रभ कर दिया। अपने मधुकण्ठ द्वारा निर्मित सुधाद्रव से भरे समुद्र में परम कलावान् यह कोकिल लोक-चेतना को ही निमज्जित कर रहा है ॥ १६७ ॥

इच्छामि पातुमयि तन्मधु मोहमूलं
यत्पीतपूतमनसोऽखिलमुद्धवाय ।
मानावमान - विषमाशनिमुक्तचेता
आरण्यकव्रतचरो भवतः सतीर्थ्यः ॥१६८॥

अयि ! यत्पीतपूतमनसः अखिलम् उद्धवाय तत् मोहमूलं मधु पातुम् इच्छामि, मानावमानविषमाशनिमुक्तचेताः आरण्यकव्रतचरः भवतः सतीर्थ्यः (भवितुम् इच्छामि ॥ १६८ ॥

बन्धु कोकिल ! मैं स्वयं उस मोहमय मधु को पीना चाहता हूँ जिसे पीकर पवित्रचेता हो जानेवाले के लिए सब कुछ आनन्दमय हो जाता है। मैं चाहता हूँ कि यश तथा निन्दा के भयंकर अशनि से (वज्र से) सर्वथा मुक्तहृदय होकर मैं भी काननचारी (जंगल में रहनेवाला) वृत्ति को ग्रहण करके तुम्हारा गुरुभाई बन जाऊँ ॥ १६८ ॥

किं निश्चितं मकरकेतुदुरन्तलक्ष्या-
लक्ष्येष्टचित्त - घनदर्पविभेदवर्त्म ।
किं मन्त्रितं वद सखे मधुमाधवाभ्यां
येनास्तधीर्वमसि निस्सहकालकूटम् ॥१६९॥

किं मकरकेतु दुरन्त-लक्ष्यालक्ष्येष्टचित्त-घन-दर्प-विभेदवर्त्म निश्चितम्, सखे ! वद, मधुमाधवाभ्यां किं मन्त्रितं येन अस्तधीः निस्सहकालकूटं वमसि ? ॥ १६९ ॥

अरे वसन्तगायक, यह क्या कर रहे हो, क्या तुमने तय कर लिया है कि पुष्पबाण काम के अमोघ लक्ष्यवाले बाणों से अलक्ष्य किन्तु दण्डनीय हृदयों के श्लाघापूर्ण दर्प को चूर्ण करने का मार्ग ही तुम्हारा मार्ग होगा (जहाँ पुष्पबाण विफल हो गये उन्हीं स्थलों को तुमने अपने मधु-कण्ठ का लक्ष्य तो नहीं बना लिया है)। बताओ तो, मधुमास एवं मीनकेतु के परम बन्धु माधव (वसन्त) ने तुमसे क्या मन्त्रणा की है कि तुम इस प्रकार उन्मत्त होकर असह्य कालकूट ही अपने कण्ठ से बरसा रहे हो ॥ १६९ ॥

अतिमुक्तलतया सरसं रसाल
श्लिष्टे सरोजतति रोलम्बसम्पदि श्रितायाम् ।
वाते च वाति सुमनोमधुगन्धबन्धौ
पूर्णीकरोषि कथयाधिपरम्परां किम् ॥१७०॥

कथय, अतिमुक्तलतया रसाले सरसं श्लिष्टे सरोजतति रोलम्बसम्पदि श्रितायां सुमनोमधु-गन्ध-बन्धौ वायौ च वाति आधिपरम्परां पूर्णीकरोषि किम् ? ॥ १७० ॥

अतिमुक्त लता ने स्नेहपूर्वक रसाल तरु को अपने आलिंगन-पाश में बाँध लिया, मधुलोभी भ्रमर कमल पुष्पों पर मँडराने लगे, पुष्पराशि के मधुगन्ध का वितरक शीतल पवन चलने लगा। यही क्या कम था कि उन्मत्त बनाने के लिए तुमने भी अपना कल-कण्ठरूपी शस्त्र सँभाल लिया। कहीं मानसिक संताप की परम्परा में अपनी कलध्वनि-माधुरी द्वारा तुम पूर्णाहुति डालने का उपक्रम तो नहीं कर रहे हो ।। १७० ।।

मोघोद्यमाः शशिरुचः स्वयमेव यस्यां
धायुर्जहाति घनमानहरं स्वदर्पम् ।
व्यग्रा नतिः क्षतिरुदारगिरां प्रबन्धः
सा मुह्यतीष्टहृदये पिक ! कोऽस्ति मन्त्रः ॥१७१॥

यस्यां शशिरुचः स्वयम् एव मोघोद्यमाः, वायुः घनमानहरं स्वदर्पं जहाति, नतिः व्यग्रा, उदारगिरां प्रबन्धः क्षतिः सा इष्टहृदये मुह्यति, पिक, कः मन्त्रः अस्ति ? ॥ १७१ ॥

जिस मानिनी को प्रसन्न करने में, शशिकला विफल-मनोरथ हो गयी, दुर्वह-दुरन्त मान को भंग करने का अपना विश्वास गन्धवह पवन ने त्याग दिया, प्रणति से उसकी व्यग्रता ही बढ़ती थी, अनुराग-सिक्त वाणी से उसे चोट ही लगती थी, (चाँदनी, उन्मत्त पवन, प्रणाम-विनय आदि सब निष्फल हो गये, मान-भंग न कर सके) वही मानवती अब स्वयं प्रियतम के हृदय पर अर्धचेतन मुद्रा में पड़ी हुई है, प्रिय मित्र, तुमने कौन सा मन्त्र, कौन जादू डाल दिया ॥ ७१ ॥

नीलोत्पलानृजुशरप्रचयैर्यतीनां
क्षिप्तैः परीक्षितमये ! प्रसभं मनोऽपि ।
मुग्धेव संशयपथे सहसा क्षिपन्ती
त्वत्कण्ठकीर्तिरपि वेत्ति किमात्मकृत्यम् ॥१७२॥

अये, त्वत्कण्ठकीर्तिः क्षिप्तैः नीलोत्पलानृजुशरप्रचयैः यतीनां परीक्षितम् अपि मनः मुग्धा इव प्रसभं सहसा संशयपथे क्षिपन्ती आत्मकृत्यं वेत्ति अपि किम् ? ॥ १७२ ॥

नीलकमल से बरसाये गये विषम बाण-समूहों (किशोरियों एवं मदोन्मत्त नवयुवतियों की नीलकमल जैसी आँखों द्वारा चलाये गये अगणित कटाक्ष-बाणों) द्वारा यति-मुनियों, संयत आचरणवाले व्यक्तियों के सर्वथा परीक्षित अचञ्चल निर्विकार हृदय को भी मुग्धा के समान अकृत्रिम सहज ढंग से संशय में कदर्थित, विडम्बित करनेवाली तुम्हारी मधुकण्ठ-कीर्ति कहीं जान पाती कि वह कैसी विनाश-लीला उपस्थित कर रही है [नवयुवतियों के कौशलपूर्ण कटाक्ष एवं मोहक रूप-सम्पत्ति तथा अन्यान्य क्षोमकारक व्यापारों से भले ही बचकर कोई अपने संयम को सँभालने में सफल हो जाय किन्तु किसी अविदितयौवना वयःसन्धिवाली

मुग्धा के सहज-सरल आकर्षण से बच पाना तो सर्वथा असम्भव ही है ! उसी प्रकार युवतियों के कटाक्षपात से अप्रतिहत चित्तवाले संयमी भी कोयल की मीठी तान से अपनी सुध-बुध खोकर उद्विग्न, विवश हो जाते हैं।] ॥ १७२ ॥

तामिस्रदिग्धमुखमण्डलमेव यत्नात्
सर्वा दिशः शुचि विधाय निरस्तदोषम् ।
आलोकयन्ति परिबिम्बितमात्मरूप-
मादर्शनिर्मलजलेषु जलाशयेषु ॥१७३॥

सर्वाः दिशः तामिस्रदिग्धमुखमण्डलम् एव यत्नात् निरस्तदोषं शुचि विधाय आदर्श-निर्मलजलेषु जलाशयेषु परिबिम्बितम् आत्मरूपम् आलोकयन्ति ॥ १७३ ॥

(निरस्तदोषम्—रात बीत जाने पर या दोषहीन–दोषा = रात्रि, दुर्गुण)

दिग्वधुओं ने (रात्रिजन्य) कालिमा से भरे अपने मुखमण्डल को यत्नपूर्वक सर्वथा निष्कलंक, पवित्र बनाकर दर्पण के समान स्वच्छ जलवाले जलाशयों में प्रतिबिम्बित अपने रूप को देखना आरम्भ कर दिया है [स्वच्छ जलाशयों में आकाश प्रतिबिम्बित हो रहा है।] ॥ १७३ ॥

प्रातः [1]दिनेशकरनन्दितनीलकान्तिः
कन्याऽनुषङ्गचपलाऽपि नियम्य चित्तम् ।
हेमांशुरागपरिचित्रितमुत्सवाय
रूपं निसर्गसुषमं प्रकटीकरोति ॥१७४॥

प्रातः दिनेशकरनन्दितनीलकान्तिः अनुषङ्गचपला अपि कन्या चित्तं नियम्य उत्सवाय हेमांशुरागपरिचित्रितं निसर्गसुषमं रूपं प्रकटीकरोति ॥ १७४ ॥

प्रातःकाल, पिता (सूर्य) के हाथों (किरणों) उत्साहित, नील कान्तिवाली पुत्री (यमुना नदी) स्वभावतः चपल होती हुई भी चित्त को मर्यादित करके स्वर्ण-प्रकाश से अनुरञ्जित अपने निसर्ग-रमणीय रूप को प्रकट कर रही हैं [यमुना नदी सूर्यपुत्री हैं, यमुना का जल नीलकान्ति है। प्रातःकाल उदित होते हुए सूर्य की स्वर्णिम किरणों से सङ्क्रान्त होता हुआ यमुना का जल शोभा से पूर्ण हो जाता है।] ॥ १७४ ॥

धन्या दिनेशतनयापुलिने जले च
स्निग्धस्फुरन्नवविभातवरं लभन्ते ।

१. यमुना नदी पुराणेषु सूर्यदुहितेति गीयते। यमः पुत्रः यमुना च पुत्री, सन्ततिद्वयं भगवानंशुमाली लेभे संज्ञायाम् स्वभार्यायाम्। अत एव कार्तिके मासि दीपदानप्रसादितयमुना-हृदयाः प्राणिनो भगिनीस्नेहभरेण न पीड्यन्ते यमेन।

शाखाकरैस्तटरुहास्तरवः सपुष्पान्
प्रीत्याऽञ्जलीनसितपाथसि पातयन्ति ॥१७५॥

दिनेशतनयापुलिने जले च धन्याः स्निग्धस्फुरन्नवविभातवरं लभन्ते तटरुहाः तरवः प्रीत्या शाखाकरैः सपुष्पान् अञ्जलीन् असितपाथसि पातयन्ति ॥ १७५ ॥

सूर्यपुत्री यमुना के तट पर एवं जल में जो लोग स्नेह-पुलकित प्रभात के सेवन का अवसर पाते हैं वे सचमुच धन्य हैं। किनारे पर उगे हुए वृक्ष भी अपने शाखारूपी हाथों से यमुना के नील कान्तिवाले जल में प्रेमपूर्वक पुष्पाञ्जलि समर्पित करते हैं [नदी के किनारे उत्पन्न वृक्षों से यमुना की धारा में फूल गिरते हैं।] ॥ १७५ ॥

यात्येकतो हलधरो वृषमानुवर्ती
चन्द्राननाः शिरसि वारिघटं वहन्ति।
कुल्यासु पौरुषरसं हि कृषीवलास्ते
सम्पूर्य जीवनधरां परितर्पयन्ति ॥१७६॥

वृषमानुवर्ती हलधरः एकतः याति चन्द्राननाः वारिघटं शिरसि वहन्ति ते कृषीवलाः पौरुषरसं हि कुल्यासु सम्पूर्य जीवनधरां परितर्पयन्ति ॥ १७६ ॥

एक ओर कन्धे पर हल लिए किसान बैलों के पीछे खेत पर जा रहा है। दूसरी ओर सुन्दरी बालायें, शिर पर पानी से भरे घड़े ले जा रही हैं, नालियों में किसान पानी चला रहे हैं, ऐसा लगता है मानो पानी के स्थान पर उनका पुरुषार्थ ही जलरूप में बह रहा हो। और इस प्रकार पानी चलाकर वे जीवनदात्री पृथ्वी को परितृप्त कर रहे हैं ॥ १७६ ॥

इत्थं विलोक्य तिमिरे पुरकौतुकानि
विज्ञाय रत्नविपणिव्यवहारवार्ताम्।
रोचद्द्युतीः समवतीर्य च सौधपङ्क्तीः
प्रातर्जना मुमुदिरे शिववीक्षितास्ते ॥१७७॥

इत्थं तिमिरे पुरकौतुकानि विलोक्य रत्नविपणिव्यवहारवार्तां विज्ञाय रोचद्द्युतीः सौधपङ्क्तीः च समवतीर्य प्रातः शिववीक्षिताः ते जनाः मुमुदिरे ॥ १७७ ॥

इस प्रकार रात में अनेक प्रकार का नगर-कौतुक देखकर, जौहरी-बाजार की लेन-देन की बातें (रत्नों का खरीद-फरोख्त) सुन-समझकर, क्रमशः चमकते हुए राजप्रासादों, महलों की पंक्ति पारकर, महाराज क्षत्रपति के अनुचर प्रातःकाल निवासस्थान पर लौट आये। महाराज शिवाजी द्वारा प्रेमपूर्वक देखे जाने पर (महाराज की कृपा दृष्टि को अपने ऊपर पड़ती देख) वे अति प्रसन्न हुए ॥ १७७ ॥

ग्रीष्मं निर्धूय धात्रीं हरिततृणजलां मेघमाला विधत्ते
रात्रिं घोरान्धकारां प्रभवति विषमां तिग्मरश्मिर्मयूखैः ।
द्वन्द्वोदन्तेऽपि लोके निकृतिनिरवधिं दुर्दशां ये विभेत्तुं
नात्मोद्योगं स्वसिद्ध्यै विदधति कृपणास्तेऽपि किं प्राणवन्तः ॥१७८॥

मेघमाला ग्रीष्मं निर्धूय धात्रीं हरिततृणजलां विधत्ते, तिग्मरश्मिः मयूखैः विषमां घोरान्धकारां रात्रिं प्रभवति, द्वन्द्वोदन्ते अपि लोके निकृतिनिरवधिं दुर्दशां विभेत्तुं ये कृपणाः स्वसिद्ध्यै आत्मोद्योगं न विदधति ते अपि प्राणवन्तः किम् ? ॥ १७८ ॥

भीषण ग्रीष्मकाल को निर्मूल कर मेघमाला पृथिवी को जल तथा हरियाली से सम्पन्न कर देती है, घोर अन्धकारवाली भयंकर रात्रि पर तीव्र किरणोंवाला सूर्य प्रभावी (हावी) हो जाता है। विविध प्रकार के सुख-दुःखादि द्वन्द्ववाले इस संसार में अनन्त-अपमानपूर्ण दुर्दशा को नष्ट करके आत्मसिद्धि के लिए जो अभागे प्राणी आत्मोद्योग नहीं करते वे भी क्या जीवित कहलाने के अधिकारी हैं ॥ १७८ ॥

इति श्रीत्रिपाठचुपाह्वेन उमाशङ्करशर्मणा विरचिते
क्षत्रपतिचरित-महाकाव्ये त्रयोदशः सर्गः ।

अथ चतुर्दशः सर्गः

[देहलीपतिमवरञ्जजीवं विदृक्षुः समाभुवमुपस्थितो विरचितनृपसत्क्रियो महाराजोऽनधिगतसद्भावसम्बन्धो जिह्मनृपप्रदर्शितानवधानभरोपेक्षानिकृतः सभाभवनान्निष्क्रम्य सगणः शिवराजो निवासभुवमाजगाम । प्रातः समुत्थितः सः स्ववासभवनं दिल्लीपतिसैनिकैः सायुधैः परिवृतं समवेक्ष्य सचिन्तो राजधानीसमागमनरूपमात्मनिर्णयं बहुशो निनिन्द । आधिग्लपितकलेवरो ज्वराक्रान्तश्चाऽव्यथत । छद्माचारो देहलीशो लोकपरितोषाय चिकित्सकान् शिवसमीपं प्रैषयत् । एवमेव बालसखः शिवभूपतेः तानाजिमालसुरे वैद्यलिङ्गी भवनमागतः । तदनन्तरं रचितोपायः समुतः शिवराजः कारावासात् मिष्टान्नभाण्डरक्षितवपुः निष्क्रम्य सयत्नं दक्षिणापथपथिको बभूव ।]

अथैकचक्रेऽपि रथे धृतस्थितिस्तमस्तदुत्पादितसंशयैः सह ।
सहस्ररश्मिर्विनिकृत्य तेजसा न्ययोजयच्छ्लाघ्यसमुद्यमे भुवम् ॥ १ ॥

अथ एकचक्रे रथे अपि धृतस्थितिः सहस्ररश्मिः तेजसा तमः तदुत्पादितसंशयैः सह विनिकृत्य भुवं श्लाघ्यसमुद्यमे न्ययोजयत् ॥ १ ॥

अब एक पहियेवाले ही रथ पर आरूढ़ सहस्ररश्मि सूर्य ने अन्धकार को उसके सम्पूर्ण संशयात्मक आडम्बर के साथ, अपने तेज से विनष्ट कर ससार के प्राणियों को श्लाघनीय समुद्यम में नियुक्त कर दिया ॥ १ ॥

सबन्धुजीवोऽप्यतिवाहितक्षपो नवप्रभातोदितकौतुकातिथिः ।
नवारुणस्निग्धदिनेशवैभवं शुभाम्बरक्लृप्तवपुर्न्यसेवत ॥ २ ॥

नवप्रभातोदितकौतुकातिथिः अतिवाहितक्षपः सः बन्धुजीवः शुभांम्बरक्लृप्तवपुः नवारुणस्निग्धदिनेशवैभवं न्यसेवत ॥ २ ॥

बन्धुप्राण क्षत्रपति ने भी रात को सुखपूर्वक व्यतीत करके अभिनव प्रभात में अनेकविध कौतूहल उत्पन्न करनेवाले अतिथि के रूप में शुद्ध स्वच्छ परिधान से अलंकृत होकर लाल किरणोंवाले सूर्य देवता के वैभव का अभिनन्दन किया। [बन्धुजीव या गुलदुपहरिया विविध रंगों के फूलोंवाला पौधा है जो धूप में खूब खिलता है ।] ॥ २ ॥

तमद्भुतारम्भनिमित्तमध्वनि हठश्रुतोदन्तरसायनामृतम् ।
स्पृहां दृशां पूरयितुं चिरोत्सुकां ददर्श पौरश्चिरदुर्लभातिथिम् ॥ ३ ॥

हठश्रुतोदन्तरसायनामृतं अद्भुतारम्भनिमित्तं चिरदुर्लभातिथिं तम् अध्वनि दृशां चिरोत्सुकां स्पृहां पूरयितुं पौरः ददर्श ॥ ३ ॥

क्षत्रपति के सम्बन्ध में अनेक तरह की सुखद रहस्यपूर्ण कथाओं को जानने-वाली राजधानी की जनता ने अपनी आँखों की चिरकालिक अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए, अनेक अद्भुत अतिमानवीय कृत्यों के विधाता उस दुर्लभ अतिथि को मार्ग में देखा ॥ ३ ॥

स्वसन्निभाकारधरं निरीक्ष्य तं नितान्तविस्मापितचेतसोऽपि ते ।
जनाः प्रतीयुः सहसा न तत्कृतं क्षतानुरक्ताजिनटीप्रसाधनम् ॥ ४ ॥

स्वसन्निभाकारधरं तं निरीक्ष्य नितान्तविस्मापितचेतसः अपि ते जनाः क्षतानुरक्ताजिनटी-प्रसाधनं तत्कृतं सहसा न प्रतीयुः ॥ ४ ॥

शिवाजी को अपने ही समान शरीरवाला देखकर उनके द्वारा अनेक युद्धों में रक्तप्रिय युद्ध नटी की आराधनावाली घटनाओं पर विश्वास करना उन अत्यन्त विस्मयपूर्ण (शिवाजी के अतिमानवीय कार्यों के कारण) भावनावाले लोगों के लिए सहसा सरल न था [विश्वास नहीं होता था कि यह सामान्य आकृतिवाला प्राणी इतने भयंकर काम कर सकता है ।] ॥ ४ ॥

[1]अपज्जलोत्साहहविर्हुताशनः पुरः पुरो गच्छति यः स एव सः ।
अयं चमत्कृत्य निशि व्यबाधत ससैनिकं तं [2]शयिताश्वमेकलः ॥ ५ ॥

यः पुरः पुरः गच्छति अपज्जलोत्साहहविर्हुताशनः सः एव सः, अयं निशि एकलः चमत्कृत्य ससैनिकं तं शयिताश्वं व्यबाधत ॥ ५ ॥

(क्षत्रपति को मार्ग में जाते हुए देखकर नगरवासी आपस में कह रहे हैं—)

वह जो आगे-आगे जा रहे हैं वही वह हैं । ये अफजलखानरूपी हव्य (हवन सामग्री) के लिए प्रदीप्त अग्नि हो गये । इन्होंने सैनिकों से रक्षित शायिस्ता खाँ को अकेले ही चमत्कारपूर्वक रात में आक्रान्त कर दिया ॥ ५ ॥

अकृत्रिमोदारपरिच्छदोऽप्ययं बिभर्ति सिद्धामिव गौरवश्रियम् ।
व्यपेतरक्षापरिखोऽपि निर्भयं सुखं प्रयातीति नवायुषोऽवदन् ॥ ६ ॥

नवायुषः अवदन्—'अकृत्रिमोदारपरिच्छदः अपि अयं सिद्धाम् इव गौरवश्रियं बिभर्ति व्यपेतरक्षापरिखः अपि निर्भयं सुखं प्रयाति' इति ॥ ६ ॥

"बिना तड़क-भड़कवाली वेष-भूषा के भी यह गौरवलक्ष्मी को स्वभाव-सिद्ध गुण के समान धारण करते हैं। बिना किसी प्रकार की सुदृढ़ रक्षा-व्यवस्था के भी यह निर्भय चले जा रहे हैं"—ऐसा मार्ग में नवयुवकों ने कहा ॥ ६ ॥

---

१. अफजलखानः—चमूपतिर्बीजापुरस्य निहतः शिवराजेन ।

२. शायिस्ताखानः—मातुलोऽवरंगजीवस्य निशि सहसाऽऽक्रान्तः छिन्नकरद्वयांगुलिः पलायितः ।

युवा सुशीलो नवराष्ट्रपद्मभूरजस्रवर्धिष्णुमहत्त्वमण्डितः ।
स्वदारनिर्व्याजमनास्तथाप्ययं सुविस्मिताः पौरमृगीदृशो जगुः ॥ ७ ॥

सुविस्मिताः पौरमृगीदृशः जगुः युवा सुशीलः नवराष्ट्रपद्मभूः अजस्रवर्धिष्णुमहत्त्वमण्डितः तथापि अयं स्वदारनिर्व्याजमनाः ॥ ७ ॥

अत्यन्त विस्मित होकर नगर की मृगनयनी युवतियों ने कहा—

ये युवक हैं, शीलवान् हैं, नये राष्ट्र के निर्माता हैं, निरन्तर बढ़ते हुए महत्त्व से विभूषित हैं, फिर भी यह केवल अपनी ही पत्नियों में अनन्य स्नेह रखते हैं। [नगर की महिलायें विस्मित हैं कि अनेक मोहक गुणों से यशस्वी यह युवक अन्य सुन्दरियों में आमोद-प्रमोद, विलास-केलि के लिए आकृष्ट क्यों नहीं होता ?] ॥७॥

निरीक्षमाणोऽध्वनि रोचितश्रियं प्रसाधितक्ष्मापतिजन्मवासराम् ।
पुरीं रविस्यन्दनचक्रचुम्बिनीं नवातिथी राजसभां व्यलोकयत् ॥ ८ ॥

प्रसाधितक्ष्मापतिजन्मवासरां रोचितश्रियं रविस्यन्दनचक्रचुम्बिनीं पुरीम् अध्वनि निरीक्षमाणः नवातिथिः राजसभां व्यलोकयत् ॥ ८ ॥

अत्यन्त उन्नत महलों के कारण सूर्य के रथ के पहिये को छूती हुई, बादशाह की सालगिरह (जन्मदिन) के उत्सव के उपलक्ष्य में सजी हुई सुन्दर नगरशोभा को मार्ग में देखते हुए उस नवीन अतिथि ने राजसभा को देखा ॥ ८ ॥

गृहीभवत्स्फाटिकशैलमुत्तमां शरीरिणीं त्वाष्ट्रकलामिवोदिताम् ।
अनन्वयोत्पत्तिनिमित्तमुज्ज्वलं यशो हि सौन्दर्यनिसर्गवेधसः ॥ ९ ॥

गृहीभवत्स्फाटिकशैलम् उत्तमां शरीरिणीं त्वाष्ट्रकलाम् उदिताम् इव उज्ज्वलम् अनन्वयोत्पत्तिनिमित्तं सौन्दर्यनिसर्गवेधसः यशः हि (व्यलोकयत्) ॥ ९ ॥

राजसभा ऐसी प्रतीत होती थी मानो उत्तम स्फटिक-शैल ही भवन के रूप में परिवर्तित हो गया हो। अथवा विश्वकर्मा की निर्माण-कला ही स्वरूप धारण कर अवतरित हो गयी हो। वह सभा अनन्वय अलंकार की उत्पत्ति का कारण ज्ञात होती थी (जहाँ एक ही वस्तु उपमान तथा उपमेय दोनों हो वहीं अनन्वय अलङ्कार होता है, उत्कृष्टतम सौन्दर्य या गुणद्योतन के लिए यह अलङ्कार प्रतिष्ठित है— 'इन्दुरिन्दुरिव श्रीमान्' चन्द्रमा, चन्द्रमा के ही समान सुन्दर है। यहाँ राजसभा अतुलनीय सौन्दर्यपूर्ण है अतः स्वयं में उपमानोपमेय होने के कारण वह अनन्वय अलंकार की प्रसवस्थली है) तथा अनायास ही सौन्दर्य का निर्माण करनेवाले ब्रह्मा शिल्पी का मूर्तिमान यश है ॥ ९ ॥

महार्हनिस्स्यूतसुरत्नरञ्जितप्रभांशुभासत्परिधानवर्ष्मभिः ।
प्रकल्पिताचारनियन्त्रितक्रमैर्महीपपुत्रैः परितो निषेवितम् ॥ १० ॥

महार्हनिस्स्यूतसुरत्नरञ्जितप्रभांशुमासत्परिधानवर्ष्मभिः प्रकल्पिताचारनियन्त्रितक्रमैः महीपपुत्रैः परितः निषेवितम् ॥ १० ॥

अब अवरंगजेब का वर्णन है (१०-१२)

टँके हुए बहुमूल्य रत्नों की प्रभा से जगमगाती पोशाक में अलंकृत शरीरवाले दरबार के अदब-कायदे के अनुसार स्थिर खड़े राजपुत्रों द्वारा चारों ओर से निषेवित (घिरे हुए) (अवरंगजेब को छत्रपति ने देखा) ॥ १० ॥

अलक्षितामोघनिदेशसाध्वसस्थिरप्रवृत्तानपि राजपूरुषान् ।
प्रतिक्षणं स्मारयदिष्टपद्धतिं स्वभावसिद्धेन विकासितेजसा ॥ ११ ॥

अलक्षितामोघनिदेशसाध्वसस्थिरप्रवृत्तान् राजपूरुषान् अपि प्रतिक्षणं स्वभावसिद्धेन विकासितेजसा स्मारयदिष्टपद्धतिम् ॥ ११ ॥

अलक्ष्य तथा अप्रतिहत राजाज्ञा के आतंक से दृढ़तापूर्वक अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक राजपुरुषों, सामन्तों को, प्रकाशपूर्ण तेजवाले स्वभावोचित अपने प्रभाव से निरन्तर कर्तव्य-बोध का स्मरण करानेवाले (प्रतापी दिल्लीपति को शिवराज ने देखा) ॥ ११ ॥

मनोज्ञसम्भारपरिच्छदच्छविप्रकाशसङ्क्रान्तनृपासनोदितम् ।
नृपो नृपं कौतुक दृष्टिरैक्षत शताध्वरो गूढचरो बलिं यथा ॥ १२ ॥

मनोज्ञसम्भारपरिच्छदच्छविप्रकाशसङ्क्रान्तनृपासनोदितं नृपं कौतुकदृष्टिः गूढचरः शताध्वरः नृपः बलिं यथा ऐक्षत ॥ १२ ॥

अत्युष्कृष्ट राजोचित छत्र-दण्ड आदि परिच्छदों के रत्नमय प्रकाश से जगमगाते राजसिंहासन पर आसीन नृप को (औरंगजेब को) नृप ने (छत्रपति ने) कौतूहलपूर्ण दृष्टि से इस प्रकार देखा जैसे गुप्तवेष में शताध्वर (सौ यज्ञ करनेवाले) इन्द्र, राजा बलि को देख रहे हों ॥ १२ ॥

मनोरथोपासित-कल्पनोद्भवं वसेदिहैन्द्रं यदि धाम सप्रभु ।
तुरुष्कभूपाधिकृतासनं तदा तुलामुपेयान्नियतं सभागृहम् ॥ १३ ॥

यदि मनोरथोपासितकल्पनोद्भवम् ऐन्द्रं धाम सप्रभु इह वसेत् तदा तुरुष्कभूपाधिकृतासनं सभागृहम् नियतं तुलाम् उपेयात् ॥ १३ ॥

सभागृह की तुलना अति कठिन है। हाँ, एक बात हो सकती है, यदि मनोरथ में उद्भासित होनेवाला कल्पनाप्रसूत इन्द्र का वैभवपूर्ण स्वर्गलोक अपने स्वामी इन्द्र के साथ यहाँ पर उपस्थित हो तब कहीं मुगल बादशाह अवरंगजेब से अलंकृत सिंहासनवाले सभागृह की तुलना सुलभ हो सकती है ॥ १३ ॥

नमन्महाराष्ट्रबलाहकस्ततः सुवर्णवृष्ट्याऽभरदागराजिरम् ।
तथापि न स्निग्धनवाङ्कुरोद्भवा नभोमुखं दृष्टिरुदैदनार्जवा ॥ १४ ॥

ततः महाराष्ट्रबलाहकः नमन् सुवर्णवृष्ट्या आगराजिरम् अभरत् तथापि अनार्जवा दृष्टिः नभोमुखं स्निग्धनवाङ्कुरोद्भवा न उदैत् ॥ १४ ॥

तब कुछ झुककर महाराष्ट्र के मेघ ने सुवर्ण-वृष्टि से आगरा के आँगन को भर दिया। फिर भी वह कठोरदृष्टि नवांकुर की आशा से स्निग्ध होकर कृतज्ञतावश आकाश की ओर न उठी [क्षत्रपति ने बादशाह पर सोना-चाँदी न्योछावर करके उपायन, प्राभृतक, भेंट किया किन्तु बादशाह की कठोर दृष्टि उन पर आदरपूर्वक न पड़ी।] ॥ १४ ॥

'यथा निदिष्टेन ततः पथाऽतिथिं जनो नयन् पञ्चसहस्रकासने।
अमोघगूढस्मितलक्ष्यलक्षितं तदुत्तरोत्कर्षजुषामकल्पयत् ॥ १५ ॥

ततः यथानिर्दिष्टेन पथा अतिथिं पञ्चसहस्रकासने नयन् तदुत्तरोत्कर्षजुषाम् अमोघगूढस्मितलक्ष्यलक्षितम् अकल्पयत् ॥ १५ ॥

तब निर्दिष्ट मार्ग से क्षत्रपति को पँचहजारी सामन्तों के लिए नियत आसन पर ले जाते हुए दरबारी ने पञ्चहजारी दरजे से ऊपर के सामन्तों (दसहजारी, बीसहजारी आदि) द्वारा रहस्यपूर्वक मुस्करा कर गूढ़ दृष्टि से क्षत्रपति की ओर घूरते हुए देखा [मुगलदरबार में सामन्तों के पद एकहजारी से लेकर ऊपर तीसहजारी तक बने हुए थे। क्षत्रपति को पञ्चहजारी पद दिया गया, जो अत्यन्त अपमानजनक था क्योंकि शिवाजी से पराजित जशवन्त सिंह आदि दसहजारी, बीसहजारी आदि पदों पर आसीन थे। ये दरबारी क्षत्रपति की दुर्दशा पर व्यङ्ग्यपूर्वक हँस रहे थे।] ॥ १५ ॥

यदीयशूराभिधयाऽपि नायकाः स्वपृष्ठदेशेन सिषेविरे युधम्।
त एव जश्वन्तमुखाः सभासदो दधुः सभायां शिवपूर्वमासनम् ॥ १६ ॥

नायकाः यदीयशूराभिधया अपि युधम् स्वपृष्ठदेशेन सिषेविरे जश्वन्तमुखाः ते एव सभासदः सभायां शिवपूर्वम् आसनं दधुः ॥ १६ ॥

जिस क्षत्रपति के वीरों के नाम मात्र से घबराकर मुगल-सेनानायक अपनी पीठ से (भागते हुए) युद्ध का सेवन करते थे वे ही जशवन्त सिंह आदि दरबारी राजदरबार में क्षत्रपति से उच्च आसनों पर विराजमान थे ॥ १६ ॥

महीश्वरोपायनसत्क्रियाऽपि सा प्रसादकल्पा शिववर्जमादृतान्।
निषेवमाणाऽऽत्मवते न्यवेदयत् प्रतीत्यमानिथ्यमिवार्यभूभृते ॥ १७ ॥

१. पञ्चसाहस्री—सामन्त श्रेणी विभाजिका पद्धतिः एकतः प्रारभ्य त्रिंशत् सहस्रपर्यन्ता—पञ्चसाहस्री दशसाहस्री-आदयः। संख्यानुरूपसैन्यं स्वाधिकारे रक्षितुं राजाज्ञयाऽधिकृताः सामान्ताः।

२. उपायनम्—परिधानादिः, राजपुत्रसामन्तादिभ्यः विशिष्टावसरे प्रदीयते नृपेण प्रसादमुखेन। महाराष्ट्रे चमूपतिर्जयसिंहः सन्धिमुखेन शिवराजं समाश्वास्य सशपथं सम्मानार्थं औरङ्गजेबसमीपं प्राहिणोत् किन्तु दिल्लीपतिना सामान्यसत्क्रियापद्धतिरपि लङ्घितैव।

प्रसादकल्पा सा महीश्वरोपायनसत्क्रिया अपि शिववर्जम् आहृतान् निषेव्यमाना आत्मवते आर्यभूभृते प्रतीक्ष्यम् आतिथ्यम् इव न्यवेदयत् ॥ १७ ॥

बादशाह की ओर से ऐसे (जन्मदिवस आदि) अवसरों पर दरबारियों, सामन्तों तथा सेनापतियों को दी जानेवाली पुरस्क्रिया (खिलकत—पोशाक आदि) शिवाजी को छोड़कर अन्य दरबारियों को मिली। इस व्यवहार ने आत्म-सम्मानवाले आर्य नरेश को अभिलषित आतिथ्य एव सम्मान के बारे में सब कुछ स्पष्ट कर दिया ॥१७॥

गृहं विदूरं वसतिर्द्विषन्पुरे व्यपेतरक्षा स्थितिरत्रपो रिपुः।
असत्फलाऽसौ जयसिंहवागपि हठादद्दष्टव्यसनेऽपतन् नृपः ॥१८॥

विदूरं गृहं, द्विषत्पुरे वसतिः व्यपेतरक्षा स्थितिः अत्रपः रिपुः असौ जयसिंहवाक् अपि असत्फला, नृपः हठात् अदृष्टव्यसने अपतत् ॥ १८ ॥

अपना घर बहुत दूर है, शत्रुपुरी में निवास है, अपनी स्थिति सर्वथा अरक्षित है तथा शत्रु भी निर्लज्ज है, जयसिंह का वह आश्वासन भी निष्फल हो रहा है—महाराज क्षत्रपति दुर्दैव के जाल में सहसा फँस गये ॥ १८ ॥

तथापि तद्धाम विधूय संशयं स्वरूपमादर्शयदेव जिह्मगान्।
युगान्तरौद्रामवलोक्य तद्दृशं शशङ्किरे स्वायुषि पार्श्वभाजिनः ॥ १९ ॥

तथापि संशयं विधूव तद्धाम जिह्मगान् स्वरूपम् आदर्शयत् एव युगान्तरौद्रां तद्दृशम् अवलोक्य पार्श्वभाजिनः स्वायुषि शशङ्किरे ॥ १९ ॥

फिर भी संशय को दूर भगाकर क्षत्रपति के तेजस्वी प्रभाव ने धूर्तों को अपना परिचय दे ही डाला। युगान्तकालीन उनकी क्रोधरक्त दृष्टि को देखकर अगल-बगल में बैठे सामन्तगण अपनी आयु (जीवन) के बारे में सशकित हो उठे ॥ १९ ॥

ततो ज्वलत्तारकनिश्चलत्विषा दृशाऽऽतिथेयस्य दृशं समीक्ष्य सः।
हुताशनेऽसह्यनिकारकश्मले दहन्नवोचद्दज्जयसिंहपुत्रकम् ॥ २० ॥

ततः ज्वलत्तारकनिश्चलत्विषा दृशा सः आतिथेयस्य दृशं समीक्ष्य असह्यनिकारकश्मले हुताशने दहन् जयसिंहपुत्रकम् अवोचत् ॥ २० ॥

तब क्रोध से जलती पुतलियों की निर्निमेष प्रभावाली दृष्टि से आतिथेय (बादशाह) की आँखों को देखते हुए असह्य अपमान की ज्वाला में जलते हुए क्षत्रपति ने जयसिंह के युवक पुत्र रामसिंह से कहा ॥ २० ॥

अये त्वया त्वज्जनकेन वाऽपरैरदृष्टपूर्वा न ममार्यसम्पदः।
वदेदृशीमर्हति किं मम स्थितिर्विडम्बनां त्वन्नरपालदर्शिताम् ॥ २१ ॥

अये, त्वया त्वज्जनकेन अपरैः वा मम आर्यसम्पदः अदृष्टपूर्वाः न, वद त्वं नरपाल-दर्शिताम् ईदृशीं विडम्बनां मम स्थितिः अर्हति किम् ॥ २१ ॥

अरे, तुमसे, तुम्हारे बाप से, या औरों से मेरी स्थिति छिपी नहीं है, तुम लोग मेरी स्थिति से सर्वथा पूर्व-परिचित हो। कहो, तुम्हारे बादशाह ने जो अवज्ञा, अपमान प्रदर्शित किया है, क्या मैं इसी का पात्र हूँ ॥ २१ ॥

विचित्रमातिथ्यमिदं स्वधामनि तदातिथेयस्य तनोतु गौरवम् ।
इयं क्षणं सोढुमपीह मे धृतिरशीलिताभ्यासजडा विमुह्यति ॥ २२ ॥

तत् स्वधामनि इदं विचित्रम् आतिथ्यम् आतिथेयस्य गौरवं तनोतु इह क्षणं सोढुम् अपि इयम् अशीलिताभ्यासजडा मे धृतिः विमुह्यति ॥ २२ ॥

अपने घर में बुलाकर इस तरह का विचित्र आतिथ्य (अपमानजनक व्यवहार) अभूतपूर्व है। इससे आतिथ्य करनेवाले (औरंगजेब) की ही गौरववृद्धि (निन्दा) हो। इस प्रकार के सत्कार से सर्वथा अपरिचित, अनभ्यस्त रहने के कारण मेरा धैर्य ऐसी स्थिति को सहन करने में अचेत हो रहा है ॥ २२॥

स्वलक्ष्यसिद्धानतिलक्षसैनिकाँश्चमूपतिः पाति यदाज्ञयाऽनिशम् ।
इहावसीदामि दुराधिकर्दमे स पञ्चसाहस्रपदार्थमर्थितुम् ॥ २३

यदाज्ञया चमूपतिः अनिशं स्वलक्षयसिद्धान् अतिलक्षसैनिकान् पाति सः इह दुराधिकर्दमे पञ्चसाहस्रपदार्थम् अर्थितुम् अवसीदामि ॥ २३ ॥

जिसकी आज्ञा से सेनापति निरन्तर आत्मलक्ष्यसिद्धि में विख्यात लाखों से अधिक सैनिकों को अपने नियन्त्रिण में रखता है वह मैं यह पंचहजारी मनसब की भिक्षा माँगता हुआ विपत्ति एवं चिन्ता के पङ्क में विपन्न हो रहा हूँ ? ॥ २३ ॥

अलं प्रसादीकृतकञ्चुकेन तत् स्वविक्रमोपार्जितसत्क्रिया वयम् ।
इयं न मे पङ्क्तिरुपस्थिता पुनर्निकारगर्ह्यामवलोकितुं क्षमा ॥ २४ ॥

तत् प्रसादीकृतकञ्चुकेन अलम्, वयं स्वविक्रमोपार्जितसत्क्रियाः इयं पङ्क्तिः निकारगर्ह्यां मे उपस्थिता पुनः अवलोकितुं न क्षमा ॥ २४ ॥

अतः इस खिलअत अता करने की मेहरबानी की कोई जरूरत नहीं। यह औरों को मुबारक रहे। हम तो अपने पराक्रम से अपना सम्मान अर्जित करते हैं। अपमान से घृणित मनसबदारों की यह श्रेणी अब मुझे यहाँ पर फिर कभी न देख सकेगी॥२४॥

अतः सुखं गच्छतु मामकं शिरः प्रणन्दितुं त्वन्नृपतेर्मनोरथम् ।
ध्रुवं ममापुण्यसमीरितापदो बलादिहाकृष्य कदर्थयन्ति माम् ॥ २५ ॥

अतः त्वन्नृपतेः मनोरथं प्रणन्दितुं मामकं शिरः सुखं गच्छतु मम अपुण्यसमीरितापदः इह बलात् आकृष्य मां ध्रुवं कदर्थयन्ति ॥ २५ ॥

तो ठीक है, तुम्हारे बादशाह की मनोरथ-पूर्ति के लिए हमारे शिर को ही जाना हो तो जाय। निश्चय ही हमारे दुर्भाग्य से प्रेरित विपत्तियाँ हमें बरबस यहाँ लाकर विडम्बित कर रही हैं ॥ २५ ॥

तमित्थमाभाष्य विशन्निवात्मनि भिया भरन् शङ्कि सभासदां मनः।
दधौ स्थितिं दूरमधिक्षिपन् विधिं स्वबिम्बसक्तस्फटिकानुसेवितः ॥ २६ ॥

तम् इत्थम् आभाष्य आत्मनि विशन् इव सभासदां शङ्कि मनः भिया भरन् विधिम् अधिक्षिपन् दूरं स्वबिम्बसक्तस्फटिकानुसेवितः स्थितिं दधौ ॥ २६ ॥

रामसिंह से ऐसा कहकर, क्षोभ एवं ग्लानि से अपने आप में धँसते (संकुचित) हुए, सभासदों के शङ्कित मन में भय उत्पन्न करते हुए, दरबार के शिष्टाचार की उपेक्षा करते हुए क्षत्रपति दूर पीछे की ओर स्फटिक-भित्तियों में संक्रान्त अपने प्रतिबिम्ब से सेवित हो चुपचाप अलग बैठ गये ॥ २६ ॥

बबन्ध याऽऽकर्णितपौरुषोत्सुका मनोरथैः कैरभिनन्दितुं न यम्।
तमर्च्यमेवातिथिमात्ममन्दिरे खलीकृतं वीक्ष्य मुमोह साधुता ॥ २७ ॥

आकर्णितपौरुषोत्सुका या कैः मनोरथैः यम् अभिनन्दितुं न बबन्ध तम् एव अर्च्यम् अतिथिम् आत्ममन्दिरे खलीकृत वीक्ष्य (सा) साधुता मुमोह ॥ २७ ॥

बादशाह के इस अपमानपूर्ण आतिथ्य से सज्जनता (साधुता) को भारी धक्का लगा। शिष्टता ने दूर से जिनको पौरुषपूर्ण कीर्ति को सुनकर, उत्कण्ठित होकर, तरह-तरह के मनोरथों से सत्कार करने का संकल्प किया था, उसी आदरणीय अतिथि को अपने घर में इस प्रकार उपेक्षित, अपमानित देखकर वह साधुता अचेत हो गयी ॥ २७ ॥

द्विपेन्द्र-कुम्भक्षतजाऽऽसवस्पृहं हरिं करालायसजालयन्त्रितम्।
भियाभिभूतोऽपि जनोऽस्तसंशयं विलङ्घितुं संयतते स्वतर्जितैः ॥ २८ ॥

द्विपेन्द्रकुम्भक्षतजाऽऽसवस्पृहं करालायसजालयन्त्रित हरिं भिया अभिभूतः अपि जनः स्वतर्जितैः विलङ्घितुम् अस्तसंशयं संयतते ॥ २८ ॥

गजराज के मस्तक को चीरकर उसके रक्तरूपी आसव की लालसावाले शेर को सुदृढ़ लोहे के जाल में फँसा हुआ देखकर भय से काँपनेवाला व्यक्ति भी निर्भयतापूर्वक उसे अपमानित, विडम्बित करने के लिए उसे डराने की चेष्टा करता है ॥ २८ ॥

स्वकल्पितादर्शनियन्त्रितौजसो विषेहिरे का विपदो न पाण्डवाः।
विखण्डितोरुः परमेकलः क्षितौ सुयोधनः स्वार्थकृतं किमस्मरत् ॥ २९ ॥

स्वकल्पितादर्शनियन्त्रितौजसः पाण्डवाः काः विपदः न विषेहिरे परं क्षितौ विखण्डितोरुः एकलः सुयोधनः स्वार्थकृतम् अस्मरत् किम् ॥ २९ ॥

अपनी धर्मभावना एवं न्यायपूर्ण आदर्श के कारण दुस्सह अपमान भोगते हुए भी प्रतीकारस्वरूप अपने पराक्रम का प्रयोग न करनेवाले पाण्डवों ने किन विपत्तियों को नहीं सहा। वे वचनबद्ध थे इसलिए प्रतिज्ञा भंग करने का दोष

लेना नहीं चाहते थे। किन्तु कुरुक्षेत्र के युद्ध में अन्तिम दिन टूटो जाँघों से, खून में लथपथ धूल में अकेला पड़ा हुआ दुर्योधन अपने स्वार्थ, अन्याय एवं लोभ के कारण किये गये अपने दुष्कर्मों को कभी याद कर पाता (तो उसे ज्ञात होता कि अन्याय का फल कभी अच्छा नहीं होता।) ॥ २९ ॥

प्रतीपमप्यार्जवसाधुपौरुषं नृपोचितातिथ्यवरेण्यभाजनम्।
महीभृताऽधिक्षिपताऽऽत्मविद्विषा स्वराज्यलक्ष्मीरपि चिक्षिपे हठात्॥ ३० ॥

प्रतीपम् अपि आर्जवसाधुपौरुषं नृपोचितातिथ्यवरेण्यभाजनम् आत्मविद्विषा महीभृता अधिक्षिपता स्वराज्यलक्ष्मीः अपि हठात् चिक्षिपे ॥ ३० ॥

शत्रु भी यदि आर्जव, शिष्टता एवं पराक्रम से पूर्ण है, नृपोचित उत्तम आतिथ्य का पात्र है तो उसके साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए। यदि आत्मद्वेषी राजा ऐसे शत्रु का अकारण अपमान करता है तो अपनी राजलक्ष्मी को भी दूर ही फेकता है। अतः क्षत्रपति के साथ अपमानपूर्ण व्यवहार करनेवाले अवरंगजेब ने अपनी राजलक्ष्मी को ही तिरस्कृत करके दूर फेंक दिया ॥ ३० ॥

स्वकीर्तिमित्थं प्रणयान्निमन्त्रितां द्विषा सभायां छलभाजनोरसा।
विलुण्ठितां वीक्ष्य स पार्थविक्रमो दधौ प्रतीकारधियैव जीवितम्॥ ३१ ॥

इत्थं प्रणयात् निमन्त्रितां स्वकीर्तिं छलभाजनोरसा द्विषा सभायां विलुण्ठितां वीक्ष्य सः पार्थविक्रमः प्रतीकारधिया एव जीवितं दधौ ॥ ३१ ॥

प्रेमपूर्वक निमन्त्रित करके भी, छल-छद्म से पूर्ण हृदयवाले शत्रु द्वारा सभा में इस प्रकार अपनी कीर्ति को अपमानित होते हुए देखकर, उस अर्जुन के समान पराक्रमवाले क्षत्रपति ने प्रतिशोध लेने की इच्छा से ही प्राणों को (जीवन को) सुरक्षित रखा ॥ ३१ ॥

तदीयवंश्यान् व्यसने विषीदतो हठात् प्रतिष्ठाप्य[1] नृपासने नृपान्।
न के महाराष्ट्रबलाधिपा बलाद् विवस्त्रदिल्लीविकृतिं न्यवारयन्॥ ३२ ॥

व्यसने विषीदतः तदीयवंश्यान् नृपान् नृपासने प्रतिष्ठाप्य के महाराष्ट्रबलाधिपाः बलात् विवस्त्रदिल्लीविकृतिं न न्यवारयन् ॥ ३२ ॥

बादशाह अवरंगजेब के वंशधरों को घोर विपत्ति में शोकाकुल देखकर बहुधा राजसिंहासन पर पुनः प्रतिष्ठित करके महाराष्ट्र के किस सेनापति ने वस्त्रविहीन नग्नकलेवरा दिल्ली की लज्जा को ढकने का प्रयत्न नहीं किया ? ॥ ३२ ॥

१. ध्वंसमाने मोगलशासने हृतवीर्यान् हतौजसो रिपुकदर्थितान् आलमगीर-द्वितीय-प्रभृतीन् नृपान् पेशवासेनापतिः नैकवारं नृपासने प्रतिष्ठापयामास। रुहेलापठानैरपरैर्वा बाधिता दिल्लीपतयः पेशवासैन्यबलं बहुधा स्वगुप्तये शरण्यमिवाभ्यर्थितवन्तः।

तदेवमुद्यच्छिखसंक्षयानलो विषाददीर्घामतिवाह्य यामिनीम् ।
प्रगेऽभितो वासमपश्यदुन्नतां स कुन्तपङ्क्तिं क्षितिसम्भवामिव ॥ ३३ ॥

तत् एवम् उद्यच्छिखसंक्षयानलः विषादद्दीर्घां यामिनीम् अतिवाह्य प्रगे अभितः वासं क्षितिसम्भवाम् इव उन्नतां कुन्तपङ्क्तिम् अपश्यत् ॥ ३३ ॥

इस प्रकार प्रज्ज्वलित युगान्तकारक अनल के समान उस क्षत्रपति ने विषाद के कारण लम्बी प्रतीत होनेवाली रात्रि को व्यतीत कर, प्रातःकाल अपने निवास-स्थान को चारों ओर से बरछीधारी सैनिकों से घिरा हुआ पाया। ऐसा प्रतीत होता था मानो वे बरछीधारी पृथिवी के गर्भ से ही अंकुरित हुए हों ॥ ३३ ॥

अहो ! समाज्ञापयिता जयश्रियामकम्पितात्मा व्यसनाजिरेष्वपि ।
स एव दैवच्छलपिच्छिले पथि प्रतीतिवर्त्माऽरिगृहे विपद्यते ॥ ३४ ॥

अहो, जयश्रियाम् समाज्ञापयिता व्यसनाजिरेषु अपि अकम्पितात्मा प्रतीतिवर्त्मा सः एव दैवच्छलपिच्छिले पथि अरिगृहे विपद्यते ॥ ३४ ॥

आश्चर्य है, जयलक्ष्मी को भी आदेश देनेवाला (जयलक्ष्मी जिसकी इच्छा के अनुरूप ही पक्षविशेष का वरण करती है) आपत्तियों के घर में भी निर्भय विचरनेवाला, वही क्षत्रपति विश्वास के कारण दुर्दैव के छल से फिसलनेवाले पथ पर चलकर शत्रु के घर में फँसकर सन्तप्त हो रहा है ॥ ३४ ॥

अहस्करोऽप्यस्तमहीध्रगह्वरे प्रभाकरं धाम नयन्निवात्मनि ।
तमोवितानैरिव चण्डसैनिकैः परीक्ष्यमाणः समयं न्यसेवत ॥ ३५ ॥

अहस्करः अपि प्रभाकरं धाम आत्मनि नयन् इव अस्तमहीध्रगह्वरे तमोवितानैः इव चण्डसैनिकैः परीक्ष्यमाणः समयं न्यसेवत ॥ ३५ ॥

दिन उत्पन्न करनेवाला, प्रकाश का जन्मदाता सूर्य भी अपनी किरणों को अपने में विलीन करता हुआ अस्तगिरि की गुफा में प्रविष्ट होकर अन्धकार के समान भयंकर सैनिकों से घिरा हुआ प्रतिकूल समय को किसी प्रकार व्यतीत करने लगा। यहाँ शिवराज तथा सूर्य में साम्य-प्रतीति हो रही है ॥ ३५ ॥

दवाग्निकल्पः सहसा द्विषां क्रमो ददाह चेतः परितः सदध्वनाम् ।
घनान्तरायाकुलवेपितोरसः शशङ्किरे ते विषमं शिवाशिवम् ॥ ३६ ॥

दवाग्निकल्पः द्विषां क्रमः सहसा परितः सदध्वनां चेतः ददाह, घनान्तरायाकुलवेपितोरसः ते विषमं शिवाशिवं शशङ्किरे ॥ ३६ ॥

सहसा शत्रु का यह अनाचारपूर्ण कुकृत्य (शिवराज को आदरपूर्वक बुलाकर नजरकैद करना) वनाग्नि (जंगल में लगी आग) के समान फैलकर सज्जनों के हृदय को सन्तप्त करने लगा। इस उत्कट संकट की वार्ता से उद्विग्न एवं कम्पमान

हृदयवाले उन लोगों को, महान् शोक से आशंका होने लगी कि शिवराज का भयंकर अनिष्ट होनेवाला है ॥ ३६ ॥

दिशां मुखे व्योम्नि गिरौ वनेऽवनौ गृहे पुरे संसदि चत्वरे पथि ।
धियां गिराञ्चाद्यपदे प्रतिष्ठिता चचार वार्ता शिवबन्धनोदिता ॥ ३७ ॥

दिशां मुखे व्योम्नि गिरौ वने अवनौ गृहे पुरे संसदि चत्वरे पथि धियां गिराम् आद्यपदे च प्रतिष्ठिता शिवबन्धनोदिता वार्ता चचार ॥ ३७ ॥

दिशाओं, आकाश, पर्वत, वन, पृथ्वी, घर, नगर, सभा, चौराहा तथा मार्ग में, बुद्धि तथा वाणी के प्रथम विन्यास में हर जगह शिवराज को छलपूर्वक नजरकैद करने की बात चारों ओर फैल गयी ॥ ३७ ॥

क्रुधा युवानो ललना भिया शुचा जरार्दिताः सत्पुरुषा हठाद्ध्रिया ।
व्यगर्हयन्नुच्चलदाधिनिर्भरं निरस्तधैर्यं हृदयं मुहुर्मुहुः ॥ ३८ ॥

युवानः क्रुधा ललनाः भिया जरार्दिताः शुचा सत्पुरुषा ह्रिया हठात् उच्चलत् आधि-निर्भरं निरस्तधैर्यं हृदयं मुहुः मुहुः व्यगर्हयन्त ॥ ३८ ॥

युवक रोष से, स्त्रियाँ भय से, वृद्धजन शोक से, सत्पुरुष लज्जा से कातर होकर, भयंकर अनुताप से युक्त धैर्यरहित (किन्तु असमर्थ) अपने हृदय की बारम्बार भर्त्सना करने लगे ॥ ३८ ॥

स नन्दयन् शात्रवकामनाकृषिं विपादयन्नार्यविकासिसम्पदम् ।
विवेश सौधं सुघनोदरं शिवः प्रतीक्षमाणो नियतिं यथा रविः ॥ ३९ ॥

शात्रवकामनाकृषिं नन्दयन् आर्यविकासिसम्पदं विपादयन् रविः यथा नियतिं प्रतीक्ष-माणः सः शिवः सुघनोदरं सौधं विवेश ॥ ३९ ॥

शत्रु की अभिलाषामयी खेती को विकसित करते हुए, उदार, आर्यसम्पत्ति को संकटापन्न करते हुए, अत्यन्त विस्तृत व्यासवाले महल में (बादलों से भरे आकाश में) दैव की प्रतीक्षा करते हुए शिवराज अस्ताचलगामी सूर्य के समान प्रविष्ट होगये ॥ ३९ ॥

नृपातिथिर्दुर्णयकूटयन्त्रितः सहानुगैर्दुर्गमसौधसंस्थितिः ।
हरिर्यथोपेक्षितलुब्धकोद्यमो निनिन्द विस्रम्भधियं निजामरौ ॥ ४० ॥

दुर्णयकूटयन्त्रितः नृपातिथिः अनुगैः सह दुर्गमसौधसंस्थितिः उपेक्षितलुब्धकोद्यमः हरिः यथा अरौ निजां विस्रम्भधियं निनिन्द ॥ ४० ॥

कूटनीति के जाल में निबद्ध, अपने सहायकों के साथ दुर्गम महल में नियन्त्रण-पूर्वक निवास करते हुए, अतिथि महाराज शिवराज शत्रु में अपने सरल विश्वास की इस प्रकार भर्त्सना करने लगे जैसे शिकारी के प्रयत्नों की उपेक्षा करनेवाला सिंह उस शिकारी के जाल में फँसकर अपनी निन्दा करता है ॥ ४० ॥

ज्वलत्कृशानुर्न शशाक वीक्षितुं स रामसिंहं परिवादतापितम् ।
तथापि युक्ताशयगर्भितं वचस्तदीयतातस्य कृते दिदेश तम् ॥ ४१ ॥

ज्वलत्कृशानुः सः परिवादतापितं रामसिंहं वीक्षितुं न शशाक तथापि तदीयतातस्य कृते तं युक्ताशयगर्भितं वचः दिदेश ॥ ४१ ॥

विभिन्न प्रकार के आक्षेपमय समाचारों से परितप्त रामसिंह को देखने के लिए भी जलते हुए अग्नि के समान कुपित क्षत्रपति तैयार नहीं थे फिर भी उचित अर्थ से भरी वाणी द्वारा, राजा जयसिंह को अवगत करने के लिए, रामसिंह को सम्बोधित किया ॥ ४१ ॥

अलं विषादेन कृतं समीहितं कथं मुधाऽवाग्वदनो विदूयसे ।
सखित्वलभ्यं निखिलं भवत्कृतं शरीरिमृग्यं किमतः परं वद ॥ ४२ ॥

विषादेन अलं, समीहितं कृतम् अवाग्वदनः मुधा कथं विदूयसे निखिलं सखित्वलभ्यं भवत्कृतम् अतः परं शरीरिमृग्यं किं, वद ॥ ४२ ॥

विषाद छोड़ो, अभीष्ट ही हुआ, क्यों व्यर्थ में चुपचाप दुखित हो रहे हो। तुम लोगों की कृपा से मित्रजनोचित सब कुछ मिल गया। इससे अधिक कोई व्यक्ति क्या चाहेगा, तुम्हीं कहो ॥ ४२ ॥

महेन्द्रहर्म्योपमधाम सुप्रभं महार्हभोगाः सुरलोभिसत्क्रिया ।
निषेवितुं यत्नभरा भवादृशाः सतां हि सख्यं सततं महीयते ॥ ४३ ॥

सुप्रभं महेन्द्रहर्म्योपमधाम महार्हभोगाः सुरलोभिसत्क्रिया निषेवितुं यत्नभरा भवादृशाः सतां सख्यं हि सततं महीयते ॥ ४३ ॥

यहाँ पर क्या नहीं है, इन्द्र के वैजयन्त भवन के समान प्रकाश से आलोकित यह सुन्दर महल है, बहुमूल्य भोग उपलब्ध हैं, देवताओं के समान सत्कार हो रहा है, सेवा के लिए तुम लोग सदैव तत्पर हो। सचमुच सज्जनों की मित्रता निरन्तर महत्त्वपूर्ण होती है ॥ ४३ ॥

व्यलीकवाचो बहुशः शुभद्विषो न्यवारयन् मामिह सख्यबन्धनात् ।
परन्तु दिष्ट्याऽर्जितपुण्यसञ्चयः करग्रहं द्राक् पथि मां न्ययोजयत् ॥ ४४ ॥

इह सख्यबन्धनात् बहुशः मां शुभद्विषः व्यलीकवाचः न्यवारयन् परन्तु दिष्ट्या द्राक् माम् अर्जितपुण्यसञ्चयः करग्रहं पथि न्ययोजयत् ॥ ४४ ॥

अनेक कल्याणद्वेषी अनृतभाषी लोगों ने इस मित्रतापूर्ण सन्धि से मुझे रोकना चाहा किन्तु भाग्यवश मेरे सञ्चित पूर्वपुण्य ने मेरा हाथ पकड़कर मुझे इस शुभमार्ग में लगा दिया ॥ ४४ ॥

तुरुष्कराजः स्वपितृज्झितारतिस्तिरस्क्रियामेतु रणोत्सवाग्रहः ।
भटस्त्रियः प्रोषितभर्तृका मुदा स्तनोपपीडं रमयन्तु शर्वरीम् ॥ ४५ ॥

उज्झितारतिः तुरुष्कराजः स्वपितु रणोत्सवाग्रहः तिरस्क्रियाम् एतु प्रोषितभर्तृकाः भटस्त्रियः मुदा स्तनोपपीडं शर्वरीं रमयन्तु ॥ ४५ ॥

मुगल बादशाह विकलतामुक्त होकर सुखद निद्रा का आनन्द लें। युद्ध के प्रति उत्साह-भावना शिथिल हो, सैनिकों की प्रोषितभर्तृका (जिनके पति घर से दूर परदेश चले गये हैं) स्त्रियाँ प्रसन्नतापूर्वक दृढ आलिगन द्वारा स्तनों में पीड़ा अनुभव करती हुई भी रात को अपनी केलि-क्रीडा से आनन्द-विभोर कर दें ॥ ४५ ॥

भवत्पितुः क्लान्तवपुर्निषेवतां प्रसूनशय्यामृदुलावमर्दनम् ।
न यत् कृतं दुर्मदवाहिनीशतैस्तदीयसाचिव्यफलेन तत्कृतम् ॥ ४६ ॥

भवत्पितुः क्लान्तवपुः प्रसूनशय्यामृदुलावमर्दनं निषेवतां दुर्मदवाहिनीशतैः यत् न कृतं तत् तदीयसाचिव्यफलेन कृतम् ॥ ४६ ॥

अत्यन्त श्रम के कारण, तुम्हारे पिताजी का थका हुआ शरीर भी अब कोमल पुष्पशय्या के सुखद आनन्द की अनुभूति करे। सैकड़ों दुर्मद सेनायें भी जो न कर सकीं वह उनके मन्त्रित्व ने (परामर्श ने) अनायास ही कर दिखाया ॥ ४६ ॥

निसर्गलालित्यकला क्व देहली क्व दक्षिणाभूर्वनपर्वतोत्करा ।
इमां विहातुं सुरलोकलज्जिनीं न मानसं मे सहते मनागपि ॥ ४७ ॥

निसर्गलालित्यकला देहली क्व वनपर्वतोत्करा दक्षिणाभूः (च) क्व, सुरलोक-लज्जिनीम् इमां विहातुं मे मानसं मनाक् अपि न सहते ॥ ४७ ॥

कहाँ तो सहज सौन्दर्य एवं कला से पूर्ण दिल्ली और कहाँ पहाड़ों, जंगलों से भरी दक्षिणाञ्चल की पृथ्वी—दोनों में क्या तुलना है। सचमुच, देवलोक को भी लज्जित करनेवाली इस भूमि को छोड़कर जाना मुझे स्वीकार नहीं है (दिल्ली से तात्पर्य मुगल साम्राज्य से है।) ॥ ४७ ॥

व्यपेतचिन्तोऽनृजुराज्यपद्धतौ निकामरक्षावरणः स्वगुप्तये ।
अनन्तभोगाः फणिलोकदुर्लभास्तथापि पश्यामि न किंकृतं शुभम् ॥ ४८ ॥

अनृजुराज्यपद्धतौ व्यपेतचिन्तः स्वगुप्तये निकामरक्षावरणः फणिलोकदुर्लभाः अनन्त-भोगाः तथापि किं शुभं कृतम् (इति) न पश्यामि ॥ ४८ ॥

कुटिल राजनीति तथा शासन से सर्वथा चिन्तामुक्त, अपनी सुरक्षा के लिए अत्यन्त सुदृढ रक्षापंक्ति तथा नागलोक में भी दुर्लभ निस्सीम भोगों का साम्राज्य-सुख इतना अनन्त वैभव मेरे लिए सुलभ है फिर भी मुझे पता नहीं कि मैंने कौन-सा पुण्य किया था कि यह उत्तम फल मिला ॥ ४८ ॥

उपोढमोहेन जगत्पतिर्मया धृतायुधेनैव मुधा तिरस्कृतः ।
महानुभावो महतां तथाप्ययं स्वभावमेवानुकरोति मय्यपि ॥ ४९ ॥

उपोढमोहेन मया धृतायुधेन एव जगत्पतिः तिरस्कृतः तथापि अयं महताम् महानुभावः (यत्) मयि अपि स्वभावम् एव अनुकरोति ॥ ४९ ॥

व्यर्थ मोह के वशीभूत होकर मैंने शस्त्र द्वारा 'जगत्पति' बादशाह की अवहेलना की। मैंने उनके विरुद्ध शस्त्र उठाया। फिर भी उस महान् की यह महती कृपा है कि इतना होने पर भी वह मुझ में दयालु ही है ॥ ४९ ॥

न चार्यधर्मः समयोचितोऽधुना विशीर्णतेजा इह वा परत्र वा।
अनल्पपुण्याः खलु ते नृणामिधा विविच्य सर्वं [1]विशिखीभवन्ति ये ॥ ५० ॥

विशीर्णतेजाः आर्यधर्मः च इह वा परत्र वा अधुना न समयोचितः नृणामिधाः ते खलु अनल्पपुण्याः ये सर्वं विविच्य विशिखीभवन्ति ॥ ५० ॥

निश्चय ही आधुनिक सन्दर्भ में आर्यधर्म कथमपि समयोचित नहीं है। इस पृथ्वी पर (इहलोक) या परलोक में दोनों ही स्थानों के लिए यह तेजहीन है। वे 'राजा' नामधारी लोग सचमुच विशेष पुण्यवान् हैं जो सभी स्थितियों पर ध्यानपूर्वक विचार कर शिखाविहीन (मुसलमान) हो रहे हैं ॥ ५० ॥

सुतामलङ्कृत्य रमामिव स्वयं प्रदाय दिल्लीपतयेऽखिलात्मने।
बिभर्ति यः श्लाघ्यमहोत्सवोद्यमं [2]समुद्रचेताः सुकृतैः स वर्धते ॥ ५१ ॥

रमाम् इव सुताम् अलङ्कृत्य स्वयम् अखिलात्मने दिल्लीपतये प्रदाय यः श्लाघ्यमहोत्सवोद्यमं बिभर्ति स समुद्रचेताः सुकृतैः वर्धते ॥ ५१ ॥

अपनी कन्याओं को लक्ष्मी के समान वस्त्रालंकार से विभूषित कर तथा विनयपूर्वक अखिलात्मस्वरूप दिल्लीपति को समर्पित कर जिस भाग्यशाली ने श्लाघनीय महान् उत्सव का आयोजन आदि किया, सचमुच वह समुद्र के समान विशाल हृदयवाला है तथा अपने पुण्य से निरन्तर वृद्धि प्राप्त कर रहा है [समुद्र ने अपनी कन्या लक्ष्मी को अलंकृत करके विष्णु भगवान् को समर्पित किया था।] ॥ ५१ ॥

ममानुगानामिह शस्त्रजीविनां मुदे निकामं निखिलैव सत्क्रिया।
परं व्रपन्ते हि वनौकसो भृशं विलोभ्यवस्तुव्यवहारकुण्ठिताः ॥ ५२ ॥

इह शस्त्रजीविनां मम अनुगानां निखिला सत्क्रिया निकामं मुदे एव परं विलोभ्यवस्तुव्यवहारकुण्ठिताः वनौकसः हि भृशं व्रपन्ते ॥ ५२ ॥

१. विशिखीभवनम्—इस्लामधर्मग्रहणम् विशिखत्वात्; न शिरसि शिखां धारयन्ते तुरुष्का इति भावः।

२. तुरुष्कशासने षाड्गुण्यप्रयोगेण तुरुष्काः हिन्दुकुलकन्याजनं परिणीय बलादाकृष्य वा स्वभवने न्यवेशयन्। केचन नृपा अपि दिल्लीपतिप्रसादनार्थम् स्वकन्याः प्रददुः तदनन्तरन्तु तज्जातीयानामपरेषाञ्च आनुषङ्गिकममभवत् एतादृशं कर्म। इस्लामधर्मप्रचारायापि तत्कार्यमुपकारि जातम्।

शस्त्रजीवी इन मेरे अनुचरों, सैनिकों के लिए ये सारी सत्कार-शुश्रूषा की व्यवस्था अति आनन्ददायिनी है। सुखभोग की प्रचुर व्यवस्था से वे आश्चर्य में पड़ गये हैं! किन्तु वनप्रदेशों में रहने के कारण ये बेचारे जंगली लोग इन बहुमूल्य भोगों का व्यवहार करना भी नहीं जानते, शिष्ट समाज में रहने-देखने-सुनने का कभी अवसर ही नहीं मिला इसीलिए इन्हें अपने पर अत्यन्त लज्जा आती है ॥ ५२ ॥

वधूजनानामवधूय मण्डनं निपात्य यूनो द्विपदायुधानले।
पितॄन् शिशून् भक्ष्यपथे विमुञ्चता मुधाऽऽधिधूमिर्मनिकृता जनिर्मया ॥ ५३ ॥

वधूजनानां मण्डनम् अवधूय द्विपदायुधानले यूनः निपात्य पितॄन् शिशून् भक्ष्यपथे विमुञ्चता मया आधिधूमिः जनिः मुधानिकृता ॥ ५३ ॥

मैं भी कितना बुद्धिभ्रष्ट हूँ! मैंने अपने अविचारित साहसिक कामों से समाज को विपत्ति में ही झोंक दिया। सुहागिनों का सौभाग्य उजाड़ दिया (युद्ध में सैनिकों के मरने से उनकी नारियाँ विधवा हो गयीं), युवकों (सैनिकों) को शत्रु-ज्वाला में भस्म करा दिया! वृद्ध माता-पिता तथा दुधमुँहे बालकों को अनाथ के समान भिक्षा माँगने के लिए बाध्य किया (युवक सैनिक पुत्र के मारे जाने से वृद्ध माता-पिता तथा उसके बच्चे अनाथ हो गये), सचमुच इन मानसिक चिन्ताओं से पूर्ण अपने जीवन को तो मैंने निन्दित ही कर डाला ॥ ५३ ॥

मदीयमुद्राङ्कितलेखपत्रकं भवद्रता वायुरयेण सादिनः।
प्रदर्शयन्तूद्धतनायकान् मम मुधा महाराष्ट्रजनो न सीदतु ॥ ५४ ॥

वायुरयेण भवद्रता सादिनः मदीयमुद्राङ्कितलेखपत्रकं मम उद्धतनायकान् प्रदर्शयन्तु महाराष्ट्रजनः मुधा न सीदतु ॥ ५४ ॥

ऐसा करें कि हमारी मुद्रा (राजकीय मुद्रा) से अंकित पत्र को आपके विश्वासभाजन वायुवेगवाले घुड़सवार लेकर शीघ्रतापूर्वक महाराष्ट्र पहुँचकर उसे हमारे सेनानायकों को दिखला दें (यतः वे युद्ध से विरत हो जायँ)। व्यर्थ में महाराष्ट्र की जनता अब और अधिक दुःख में न पड़े ॥ ५४ ॥

तदेकभावा ज्वलदग्नयोऽनुगा मनोऽन्तरुत्तापशमाफला इव।
स्रवच्छ्रमस्वेदजलप्लुता हठान्निपत्य भूमौ नृपतिं न्यवारयन् ॥ ५५ ॥

तदेकभावाः ज्वलदग्नयः मनोऽन्तरुत्तापशमाफलाः इव अनुगाः हठात् स्रवच्छ्रमस्वेदजलप्लुताः भूमौ निपत्य नृपतिं न्यवारयन् ॥ ५५ ॥

क्षत्रपति के समान ही विचार रखनेवाले, जलती अग्निप्रभा के समान कुपित, अनुचर, सैनिक-गण, हृदयगत सन्ताप के शमन में सर्वथा निष्फल हो, बहते हुए स्वेद-जल से भींगकर, हठपूर्वक पृथिवी पर गिरकर महाराज शिवाजी को किसी प्रकार, बोलने से मना कर सके ॥ ५५ ॥

बलान्निषिद्धोक्तिपथोऽपि निस्सहो व्यथानुभावोऽनवकाशभैरवः ।
ददाह तीक्ष्णं हृदयं धियं स्मृतिं विषान्नकल्पः सगणस्य भूपतेः ॥ ५६ ॥

बलात् निषिद्धोक्तिपथः अपि अनवकाशभैरवः निस्सहः व्यथानुभावः सगणस्य भूपतेः विषान्नकल्पः (सन्) धियं हृदयं स्मृतिं ददाह ॥ ५६ ॥

हठपूर्वक उक्तिमार्ग (वाणी) के रोक दिये जाने से (महाराज के चुप हो जाने के कारण) बाहर निकलने के लिए मार्ग न पाने से, महाराज क्षत्रपति के उस भीषण अनुताप ने कुपित होकर, खाये हुए विषाक्त अन्न के समान, उनके अनुचरों के साथ ही उनके मन, प्राण, बुद्धि, स्मृति आदि को जला डाला ॥ ५६ ॥

तथापि कर्तव्यधियाऽऽधियाजको धुरं विषेहे समयोपपादिताम् ।
घनान्तरायोन्मथितोऽपि भूरिशः स्वभावपद्यां न जहाति युक्तधीः ॥ ५७ ॥

तथापि आधियाजकः समयोपपादितां धुरं विषेहे भूरिशः घनान्तरायोन्मथितः अपि युक्तधीः स्वभावपद्यां न जहाति ॥ ५७ ॥

किन्तु क्षत्रपति संकटों-अनुतापों का ही यज्ञ करते थे, चिन्ता को हवनकुण्ड में डालना ही उनका पौरोहित्य था। अतः समय द्वारा लादी गयी उस पर्वत जैसी भारी चिन्ता को उन्होंने कर्तव्यबुद्धि से अपने ऊपर ले लिया। उचित भी है, सुख-दुःख में समान दृष्टि रखनेवाले कर्मयोगी भीषण संकट से सन्तप्त होकर भी अपने स्वाभाविक मार्ग को नहीं छोड़ते ॥ ५७ ॥

क्रियाकलापेषु निवेशितात्मनो न विक्रियां कामपि वीक्षितुं क्षमाः ।
तदिङ्गितज्ञाननिदानकुण्ठिता निगूढचारा व्यतपन् हतोद्यमाः ॥ ५८ ॥

क्रियाकलापेषु निवेशितात्मनः काम् अपि विक्रियां वीक्षितुं न क्षमाः तदिङ्गितज्ञाननिदानकुण्ठिताः निगूढचाराः हतोद्यमाः व्यतपन् ॥ ५८ ॥

(बादशाह अवरंगजेब ने क्षत्रपति की गति-विधि की जानकारी के लिए गुप्तचर नियुक्त कर रखा था—)

अपने दैनन्दिन कृत्यों में निर्विकार भाव से लगे हुए महाराज शिवाजी में किसी प्रकार की अनुतापजन्य विक्रिया (चिन्ता, ग्लानि आदि) देखने में सर्वथा असमर्थ अतएव उनके आन्तरिक भावों को समझने में हतबुद्धि प्रच्छन्न गुप्तचर असफल होने के कारण सन्तप्त हो गये ॥ ५८ ॥

निहन्तुमाकारविचारसान्त्वनैः शुचः सयत्नः स सदानुजीविनाम् ।
ततान तेषां हृदये कुतूहलं विनोदगर्भैर्वचनैर्गतव्यथः ॥ ५९ ॥

आकारविचारसान्त्वनैः अनुजीविनां शुचः निहन्तुं सदा सयत्नः सः विनोदगर्भैः वचनैः गतव्यथः तेषां हृदये कुतूहलं ततान ॥ ५९ ॥

अपनी शोकरहित आकृति, विचार तथा सान्त्वना से अनुगामियों की चिन्ता को दूर करने के लिए सदा प्रयत्नशील रहते हुए, चिन्तायुक्त महाराज क्षत्रपति बहुधा अपने विनोदमय वचनों से उनके (साथियों के) हृदय में विस्मय उत्पन्न कर देते थे [साथियों, सेवकों को उन्हें चिन्ताहीन, अपनी स्थिति से सर्वथा निरपेक्ष देखकर आश्चर्य होता था कि कहीं उनका स्वभाव तो नहीं बदल गया ।] ॥ ५९ ॥

गृहीतशय्येषु जनेषु जाग्रतः क्षपाग्रतस्तस्य परास्तकौशला ।
ननाश गन्धर्वपुरीव खण्डिता विभातशीतानिललक्षितारतिः ॥ ६० ॥

गृहीतशय्येषु जनेषु जाग्रतः तस्य अग्रतः परास्तकौशा क्षपा विभातशीतानिललक्षितारतिः गन्धर्वपुरी इव खण्डिता ननाश ॥ ६० ॥

[किन्तु व्यवहार में अपने को सर्वथा चिन्तामुक्त प्रदर्शित करनेवाले क्षत्रपति एकान्त में घोर चिन्तातुर हो जाते थे । शोक एवं दुश्चिन्ता ने उनकी आँखों से नींद चुरा ली थी । उनकी रातें आँखों से कट जाती थीं ।]

रात्रि की निःस्तब्ध वेला में जब सब लोग अपने बिस्तरों में सो जाते थे तब भी उनको जगा हुआ देखकर उन्हें अपने वश में करने के लिए (सुला देने के लिए) अपने सारे कौशलपूर्ण उपायों के परास्त हो जाने से, गन्धर्व-नगरी के समान, प्रभातकालीन शीतलता द्वारा अपनी विडम्बना एवं दुर्दशा को स्पष्टतः देख लिए जाने से खण्डिता नायिका के समान रात्रि शोक, ग्लानि एवं लज्जा से विनष्ट हो जाती थी [प्रतीक्षा करती हुई नायिका जब प्रियतम के न आने से वञ्चिता हो जाती है तो उसे खण्डिता कहते हैं ।] ॥ १६० ॥

असौ प्रतीहारपदक्रमध्वनौ वनौकसां भीतगतिं समस्मरत् ।
सदार्जवा ये कुटिलारिभीषिताः विहाय गेहं विलपन्ति कानने ॥ ६१ ॥

प्रतीहारपदक्रमध्वनौ असौ वनौकसां भीतगतिं समस्मरत् कुटिलारिभीषिताः सदार्जवाः ये गेहं विहाय कानने विलपन्ति ॥ ६१ ॥

रात्रि में चक्कर लगाते हुए रक्षक की पदध्वनि सुनकर, क्षत्रपति को जंगल की शरण लेनेवाले अपने लोगों की भयभीत गति का सहसा स्मरण हो जाता था जो कुटिल शत्रु से प्रधर्षित होकर घरों को छोड़कर जंगल में दुखित हो रहे हैं । [मुगलों के अनाचार के कारण लोग अपने गाँवों-घरों से भागकर जंगल में शरण लेते थे तथा सदैव उन्हें अपने जीवन का संशय बना रहता था ।] ॥ ६१ ॥

प्रतिक्षणं तं क्षणनिद्रितं बलात् स्वदेशभूरित्थमसत्फलायतिः ।
घनाश्रुभिन्नाननमण्डनच्छविर्विदूयमाना करुणं व्यलोकयत् ॥ ६२ ॥

क्षणनिद्रितं तं प्रतिक्षणं बलात् इत्थम् असत्फलायतिः स्वदेशं विदूयमाना घनाश्रुभिन्नाननमण्डनच्छविः (सती) करुणं व्यलोकयत् ॥ ६२ ॥

भाग्यवश यदि क्षणभर के लिए नींद आ जाती थी तो विफल प्रयास के कारण अन्धकारमय भविष्यवाली स्वदेशभूमि उनके सपने में कौंध जाती थी। अतिशय अश्रुपात के कारण विनष्ट मुखकान्तिवाली वह देशभूमि दुखी होकर उनको अपनी करुण-कातर दृष्टि से निहारती थी ॥ ६२ ॥

[श्लोक-संख्या ६३ से ७० तक एक क्रियापदान्वयी श्लोक हैं जिनमें मातृभूमि की अवस्था का वर्णन है।]

अरातिनानाशिबिरप्रकल्पनैः परिष्कृतापेक्ष्यबलैः परिस्थिता।
अयूथनाथेव गजावली भिया सुविक्रमाऽप्याहितसंशयोन्मनाः ॥ ६३ ॥

अरातिनाना-शिबिरप्रकल्पनैः परिष्कृतापेक्ष्यबलैः परिस्थिता अयूथनाथा गजावली इव सुविक्रमा अपि आहितसंशया भिया उन्मनाः (महाराष्ट्रधरा व्यलोकि; पूर्वेणान्वयः) ॥ ६३ ॥

शत्रु द्वारा अनेक सैन्य-शिविरों के निर्माण तथा उनमें स्थित युद्ध-सज्ज सैनिकों से घिरी यूथपविहीन, हाथियों के दल के समान, बलशाली होने पर भी संशयापन्न होने के कारण विकल स्वदेशभूमि दिखाई पड़ती थी ॥ ६३ ॥

गृहे बहिर्वर्त्मनि वा दिवानिशं व्यपेतशङ्कैरपि शङ्किताग्रहैः।
विधेयबुद्धैर्हठरोपितप्रणैः स्वदेशगुप्त्यै परितो निनादिता ॥ ६४ ॥

दिवानिशं गृहे वहिः वर्त्मनि वा व्यपेतशङ्कैः अपि शङ्किताग्रहैः विधेयबुद्धैः हठरोपितप्रणैः परितः स्वदेशगुप्त्यै निनादिता [महाराष्ट्रधरा व्यलोकि, इति पूर्वेणान्वयः] ॥ ६४ ॥

घर, बाहर, मार्ग में, कहीं भी, रात-दिन निश्शङ्क होकर भी सम्भाव्य शङ्का-वाले, कर्तव्य के प्रति जागरूक, हठपूर्वक संकल्प करनेवाले, मातृभूमि के लिए सन्नद्ध देशसेवकों की वाणी से मुखरित (देशभूमि को राजा ने देखा) ॥ ६४ ॥

सुगुप्तरक्षाच्छुरिकैरतन्द्रितैः सपत्नजीवावधिबन्धपातिभिः।
स्वतन्त्रतारक्षणमात्रजीवितैः समेधिता निर्भयकन्यकाजनैः ॥ ६५ ॥

अतन्द्रितैः सपत्नजीवावधिबन्धपातिभिः सुगुप्तरक्षाच्छुरिकैः स्वतन्त्रतारक्षणमात्रजीवितैः निर्भयकन्यकाजनैः समेधिता (महाराष्ट्रधरा व्यलोकि) ॥ ६५ ॥

आत्मरक्षार्थ अपने वस्त्रों में गुप्त छुरी से युक्त, आलस्य-विहीन, शत्रु के जीवन की सीमा के बन्धन को काटनेवाली, जीवन को स्वातन्त्र्य-रक्षा के लिए समर्पित कर देनेवाली कन्याओं से सनाथ (स्वदेशभूमि को राजा ने देखा) ॥ ६५ ॥

विशालदोर्भिः शिवनिर्मिताध्वनि विधातुमिष्टं वपुरेव वाऽर्पितुम्।
कुमारकल्पैरनुशासनस्थिरैः किशोरलोकैरवलोकिताऽमितः ॥ ६६ ॥

शिवनिर्मिताध्वनि इष्टं विधातुं वपुः एव वा अर्पितुम् अनुशासनस्थिरैः कुमारकल्पैः विशालदोर्भिः किशोरलोकैः अमितः अवलोकिता (महाराष्ट्रधरा व्यलोकि) ॥ ६६ ॥

क्षत्रपति द्वारा निर्मित स्वदेश-मुक्ति के पथ पर चलते हुए या तो अभीष्ट लक्ष्यसिद्धि की प्राप्ति या जीवन का बलिदान करने की इच्छावाले, अनुशासन में स्थिर कुमार कार्तिकेय के समान वीर, विशाल वा भुजदण्डवाले नवयुवकों से अवलोकित (स्वदेशभूमि को राजा ने देखा) ॥ ६६ ॥

स्वशस्त्रसंस्कारररमैरनारतं भटैर्महाकालभटैरिवोन्मदैः ।
स्वविक्रमाभ्यासकथासहायिनः प्रसादयद्भिस्तुरगान् निषेविता ॥ ६७ ॥

अनारतं स्वशस्त्रसंस्कारररमैः उन्मदैः महाकालभटैः इव भटैः स्वविक्रमाभ्यासकथासहायिनः तुरगान् प्रसादयद्भिः निषेविता (महाराष्ट्रधरा व्यलोकि) ॥ ६७ ॥

महाकाल के भटों के समान विक्रमवाले, अपने शस्त्रों की सफाई एवं सान चढ़ाने के लिए प्रयत्नशील, तथा अपने शौर्य, पराक्रम के अभ्यास (युद्ध) के सहायक घोड़ों की सेवा करते हुए सैनिकों से सेवित (मातृभूमि को राजा ने देखा) ॥ ६७ ॥

स्वसाधनैकान्तसमाधिदूषकं सदध्वसम्बाधमवेक्ष्य सत्वरम् ।
विहाय भावैकरसं तपोवनं जनैक्यमन्त्रैर्यतिभिः प्रबोधिता ॥ ६८ ॥

स्वसाधनैकान्तसमाधिदूषकं सदध्वसम्बाधम् अवेक्ष्य सत्वरं भावैकरसं तपोवनं विहाय जनैक्यमन्त्रै. यतिभिः प्रबोधिता (महाराष्ट्रधरा व्यलोकि) ॥ ६८ ॥

अपनी एकान्त-साधना एवं मनःसमाधि को दूषित करनेवाले, सन्मार्ग के संकटों को देखकर, शीघ्रतापूर्वक शमपरक भावना को उत्साहित करनेवाले आश्रमोंको छोड़कर, जनता में एकता की भावना भरनेवाले तथा मनोबल को उत्साहित करनेवाले यतियों, महात्माओं से प्रबोधित (स्वदेशभूमि को राजा ने देखा) ॥ ६८ ॥

सपत्नचारैरभिचारकौशलैरशङ्क्यवर्णावरणैः समन्ततः ।
विभेदनिर्बन्धकथापरिच्छदैः प्रवेपिताङ्गीव समाकुलप्रजा ॥ ६९ ॥

अभिचारकौशलैः अशङ्क्यवर्णावरणैः विभेदनिर्बन्धकथापरिच्छदैः सपत्नचारैः समन्ततः प्रवेपिताङ्गी समाकुलप्रजा इव (महाराष्ट्रधरा व्यलोकि) ॥ ६९ ॥

अभिचार-प्रयोग (विभिन्न-विभेदपरक उद्योग) में कुशल, तथा वेष बदलने के कारण वर्ण आदि से सम्बन्ध में अननुमेय स्वरूपवाले (वेषभूषा आदि बदलने के कारण यह समझना कठिन था कि उन भेदियों की जाति, वर्ण, राजभक्ति आदि क्या थी), मनगढ़न्त बेसिर-पैर की कहानियों द्वारा जनता में अरक्षा एवं वैमनस्य-भावना का प्रचार करनेवाले, शत्रु के गुप्तचरों की कार्यवाही से सन्त्रस्त जनतावाली काँपती हुई (स्वदेशभूमि को राजा ने देखा) ॥ ६९ ॥

क्रियासु रक्ताऽपि विरूढसंशया प्रसह्य मध्याध्वनि शोकनिर्जिता ।
शुचा महाराष्ट्रधराऽतिकश्मले व्यलोकि गर्ते करिणीव भूभुजा ॥ ७० ॥

क्रियासु रक्ता अपि विरूढसंशया प्रसह्य मध्याध्वनि शोकनिर्जिता शुचा अतिकश्मले गर्ते करिणी इव महाराष्ट्रधरा भूभुजा व्यलोकि ॥ ७० ॥

समयोचित कार्य में अनुरक्त होकर भी अत्यन्त शङ्का से भरी हुई, बीच रास्ते में शोकमूर्च्छित, चिन्ता-सन्तप्त महाराष्ट्र भूमि को राजा ने अत्यन्त दुःखपूर्ण गर्त में पडी हुई हथिनी के समान विपन्न अवस्था में देखा ॥ ७० ॥

निरस्तकामा परलोकदृष्टयो जनैरुपास्या चरमायुषोऽपि ते ।
अतापयन् तं ददतस्तिलाञ्जलीन् हतात्मजेभ्यः करुणं निराश्रयाः ॥ ७१ ॥

परलोकदृष्टयः निरस्तकामाः जनैः उपास्याः चरमायुषः अपि ते हतात्मजेभ्यः तिलाञ्जलीन् ददतः करुणं निराश्रयाः तम् अतापयन् ॥ ७१ ॥

आयु की अन्तिम सीमा में पहुँचे हुए, कामनारहित, समाज द्वारा समादृत, परलोक-यात्रा के लिए तैयार बैठे हुए, अपने मारे गये पुत्रों के लिए तिलाञ्जलि देते हुए, (अब) निराश्रित वृद्धजनों को देखकर राजा को महान् सन्ताप हुआ (ये सब घटनायें क्षत्रपति अपने स्वप्न या कल्पना में देख रहे हैं ।] ॥ ७१ ॥

विमुग्धहासा विरलद्विजानना भविष्यमूलाः स्वपरार्थनिस्स्पृहाः ।
अकालकालातिथयोऽरिपोथितास्तमार्तबन्धुं शिशवो व्यमोहयन् ॥ ७२ ॥

विमुग्धहासाः विरलद्विजाननाः स्वपरार्थनिस्स्पृहाः भविष्यमूलाः शिशवः अरिपोथिताः अकालकालातिथयः (सन्तः) तम् आर्तबन्धुं व्यमोहयन् ॥ ७२ ॥

दो-तीन उगे हुए दाँतोंवाले, हँसी से मन को मुग्ध कर देनेवाले, भविष्य की आशा, अपने-पराये की भावना से सर्वथा निस्स्पृह, अनभिज्ञ, किन्तु शत्रु द्वारा मारे जाकर असमय ही काल के गाल में जानेवाले छोटे-छोटे बालकों ने उन दीनबन्धु शिवराज को दुस्सह मोह से मूर्च्छित कर दिया ॥ ७२ ॥

निरीक्ष्य शत्रुक्रतुहव्यतामितान् पतीन् तनूजानपि वेश्मभिस्सह ।
ददाह तं दग्धमनोरथाङ्कुरो घनाधिधूतो विषमं वधूजनः ॥ ७३ ॥

वेश्मभिः सह पतीन् तनूजान् अपि शत्रुक्रतुहव्यतामितान् निरीक्ष्य दग्धमनोरथाङ्कुरः घनाधिधूतः वधूजनः तं विषमं ददाह ॥ ७३ ॥

पति, पुत्र एवं उनके साथ घर को भी शत्रु के सर्वभक्षी यज्ञ में जलता हुआ देखकर अतिशय चिन्ता से कातर, दग्ध मनोरथांकुरवाली नारियों ने उस क्षत्रपति को शोक दग्ध कर दिया ॥ ७३ ॥

अनुप्तबीजोषरनिर्विशेषतां धराऽपमिक्षा दधती भृशारतिम् ।
तदीयचित्तेऽफलरोषनिर्भरे ततान निर्वेदनिवेदितां शुचम् ॥ ७४ ॥

अनुप्तबीजोषरनिर्विशेषतां भृशारतिं दधती अपमिक्षा धरा अफलरोषनिर्भरे तदीयचित्ते निर्वेदनिवेदितां शुचं ततान ॥ ७४ ॥

शत्रु द्वारा उत्पादित विप्लव के कारण खेतों में बीज आदि न बोये जाने से पृथ्वी ऊषर (ऊसर) के समान प्रतीत होती थी अतः अन्न उत्पन्न न होने से अकाल की ज्वाला में जलती हुई पृथ्वी ने निष्फल (शत्रु के कैद में होने के कारण) क्रोध से भरे राजा के चित्त में दुःख एवं ग्लानि से भरा हुआ शोक भर दिया ॥ ७४ ॥

क्षतप्रसूतस्यदसिञ्चितो नु किं स्वतन्त्रताकल्पतरुः समेधितः ।
अनाप्तपुष्पर्द्धिवसन्तवैभवो द्विषच्छिखिप्लुष्टकथो भविष्यति ॥ ७५ ॥

क्षतप्रसूतस्यदसिञ्चितः समेधितः स्वतन्त्रताकल्पतरुः किं नु अनाप्तपुष्पर्द्धिवसन्तवैभवः द्विषच्छिखिप्लुष्टकथः भविष्यति ? ॥ ७५ ॥

(क्षत्रपति का हृदय व्यथा से भर गया । वे सोचने लगे कि) वीरों के रक्त से सींचा हुआ स्वतन्त्रता का यह कल्पतरु क्या इतना बढ़कर भी पुष्पफल-सम्पत्ति-वाले मधुमास की कृपा को बिना पाये ही शत्रुरूपी आग में जलकर भस्म हो जायेगा ? ॥ ७५ ॥

किमल्पपुण्याः पितरो दिवङ्गता उतावधिर्नास्तमितो दुरापदाम् ।
अशङ्कितार्था निगमा नु किम्मुधा यदुग्रदैवोऽयमुदेत्यनागसाम् ॥ ७६ ॥

दिवङ्गताः पितरः अल्पपुण्याः किम् उत दुरापदाम् अवधिः अस्तं न इतः, अशङ्कितार्थाः निगमाः किं नु मुधा यत् अयम् उग्रदैवः अनागसाम् उदेति ॥ ७६ ॥

क्या स्वर्गप्रतिष्ठ हमारे पूर्वज पितृगण अल्पपुण्य हैं अथवा क्या विपत्तियों की परम्परा का अभी अन्त नहीं हुआ, क्या अमोघ निस्संशयफलवाले हमारे वेदशास्त्र व्यर्थ हैं कि अब भी निरपराधों के विरुद्ध यह विषम दैव कुपित हो रहा है ॥ ७६ ॥

निसर्गलावण्यवरः पुनो नु किं हिनस्तु नारीजनशीलजीवितम् ।
बिभर्तु किं निर्दयलुण्ठिता प्रजा विवेकवर्जं पशुवर्त्मवर्तनम् ॥ ७७ ॥

किं निसर्गलावण्यवरः पुनः नु नारीजनशीलजीवितं हिनस्तु निर्दयलुण्ठिता प्रजा विवेक-वर्जं पशुवर्त्मवर्तनं बिभर्तु किम् ? ॥ ७७ ॥

क्या सहज सौन्दर्य का वरदान फिर भारतीय युवतियों के अभिशाप का कारण बनेगा ? (क्या विधर्मियों द्वारा फिर भारतीय नारीत्व अपमानित होगा ?) क्या शत्रुओं द्वारा निर्दयतापूर्वक विपन्न होती हुई प्रजा फिर विवेकहीन पशुसामान्य पद्धति से जीने के लिए बाध्य की जायेगी ? ॥ ७७ ॥

सपत्नसंदर्शितमार्गसंस्तवं विवर्तलीनः किमु सेवतां जनः ।
दिवानिशं जीवितसंशयाद्धि को वृणोति नाज्ञोऽप्यधिकं स्वरक्षणम् ॥ ७८ ॥

विवर्तलीनः जनः सपत्नसंदर्शितमार्गसंस्तवं सेवतां किमु दिवानिशं जीवितसंशयात् कः हि अज्ञः अपि स्वरक्षणम् अधिकं न वृणोति ॥ ७८ ॥

दुःख एवं दैन्य के भँवर में पड़े हुए लोगों को क्या अब शत्रु द्वारा संदर्शित मार्ग का ही आश्रय लेना होगा ? और वे करें भी क्या ? रात-दिन संशय में जीने से आत्मरक्षा को तो मूर्ख व्यक्ति भी अच्छा समझकर उसका वरण करेगा। तो यदि जनता ऐसा करती है तो यह स्वाभाविक ही है ॥ ७८ ॥

कथं नु देवायतनानि सर्वतो विलुप्तघण्टारणितानि साध्वसात् ।
निबद्धमौनानि भजन्तु वन्ध्यतां विनष्टभाग्यानि यथार्यसंस्कृतेः ॥ ७९ ॥

कथं नु सर्वतः विलुप्तघण्टारणितानि साध्वसात् निबद्धमौनानि देवायतनानि आर्य-संस्कृतेः विनष्टभाग्यानि यथा वन्ध्यतां भजन्तु ॥ ७९ ॥

क्या अब ये भय के मारे घण्टा-घड़ियाल की ध्वनि से शून्य देवमन्दिर मौन व्रत धारण कर आर्य संस्कृति के विनष्ट सौभाग्य के समान निष्फल हो जायेंगे ॥७९॥

स्तवाय किं लब्धयथार्थसंस्तवो जनो यतात्मापि निगृह्य चेतनाम् ।
श्रुतद्विषामासुरवर्त्मवर्तिनां यतेत यन्त्रोपमशब्दडम्बरैः ॥ ८० ॥

किं लब्धयथार्थसंस्तवः यतात्मा अपि जनः चेतनां निगृह्य यन्त्रोपमशब्दडम्बरैः आसुर-वर्त्मवर्तिनां श्रुतद्विषां स्तवाय यतेत ॥ ८० ॥

क्या अब याथार्थ्य से सर्वथा परिचित, संयमपूर्ण आचरणवाला व्यक्ति भी अपनी भावना तथा आत्मा की प्रवञ्चना करता हुआ, दानवीय मार्ग के उपासक इन वेद-शास्त्र-निन्दक शत्रुओं की यन्त्र के (मशीन के) समान मिथ्या शब्दाडम्बर से स्तुति करे [उचित तो यही है कि पापी की भर्त्सना की जाय तथा सदाचार की प्रशंसा की जाय—किन्तु इसे छोड़कर अब नीचता को भी स्तुति करनी होगी।] ॥ ८० ॥

अतोऽधिका का भुवनेषु दासता यदार्यवाचोऽपि निरस्तकल्मषाः ।
सकल्मषानां शतजाल्मपद्धतिं क्षमा विरोद्धुं न भिया मनागपि ॥ ८१ ॥

भुवनेषु अतः अधिका का दासता यत् निरस्तकल्मषाः आर्यवाचः अपि सकल्मषानां शतजाल्मपद्धतिं भिया मनाक् अपि विरोद्धुं ताः क्षमाः ॥ ८१ ॥

संसार में इससे अधिक गुलामी क्या हो सकती है कि निष्कलंक आर्यवाणी भी (आर्यभाषा का उच्चारण करनेवाले भी—उत्तरभारत के रजवाड़े भी) इन पापी शत्रुओं के शतविध अनाचारपूर्ण उत्पातों का भय से कातर होकर तनिक भी विरोध करने का साहस नहीं करते ॥ ८१ ॥

द्विषत्कशाघातकदर्थितात्मनां स वह्निरिन्द्रार्ककुलाभिधाजुषाम् ।
जुगुप्सितानार्यपदीयपद्धतिं तुरङ्गमानामिव वीक्ष्य विव्यथे ॥ ८२ ॥

द्विषत्कशाघातकदर्थितात्मनां वह्निचन्द्रार्ककुलाभिधाजुषां तुरङ्गमानाम् इव जुगुप्सितानार्यपदीयपद्धतिं वीक्ष्य सः विव्यथे ॥ ८२ ॥

शत्रु के अपमानपूर्ण चाबुक की मार से कदर्थित प्रताडित आत्मावाले तथा अपने को अग्नि, चन्द्र एवं सूर्य का वंशधर कहनेवाले उन भारतीय क्षत्रिय राजाओं का अड़ियल घोड़ों के समान निन्दनीय अनार्य-जनोचित आचरण देखकर क्षत्रपति का मन व्यथा से भर गया ॥ ८२ ॥

विलोभिवेषाम्बरमण्डिताकृतिर्वरेण्यचारित्र्यरुचं नृपस्य ताम् ।
निरीक्ष्य सामन्ततितिः कुलस्त्रियं हतत्रपा वारवधूरिवातपत् ॥ ८३ ॥

विलोभिवेषाम्बरमण्डिताकृतिः सामन्ततितिः नृपस्य तां वरेण्यचारित्र्यरुचं वारवधूः कुलस्त्रियम् इव निरीक्ष्य हतत्रपा अतपत् ॥ ३ ॥

जिस प्रकार उत्तम शील एवं चारित्र्यबल की प्रभा से पूर्ण कुलवधू को देखकर मनोहर वेषभूषा एवं सद्वस्त्रों से अलंकृत भी लज्जाहीन वेश्या सन्तप्त हो जाती है उसी प्रकार क्षत्रपति की स्पृहणीय चारित्र्य-सम्पत्ति को देखकर वस्त्रालंकारों से मण्डित सामन्तश्रेणी मन ही मन अत्यन्त सन्तप्त हो गयी ॥ ८३ ॥

हतश्रियस्ते तमुपोढतेजसं विसोढुमीशा न कुतोऽभिनन्दितुम् ।
तमीचराश्चारुमरीचिमालिनं द्विषन्ति घूकाः सहटं वियन्मणिम् ॥ ८४ ॥

उपोढतेजसं तं हतश्रियः ते विसोढुं न ईशाः अभिनन्दितुं कुतः; चारुमरीचिमालिनं वियन्मणिं तमीचराः घूकाः सहठं द्विषन्ति ॥ ८४ ॥

तेजस्वी प्रभामण्डलवाले उस क्षत्रपति को वे नष्टप्राय, कान्तिहीन सामन्त राजे-महाराजे सहन ही नहीं कर सकते थे, अभिनन्दन करना तो दूर की बात है। सुन्दर किरणों की मालावाले आकाश-मणि, सूर्य से अन्धकार में रहनेवाला उल्लू तो हठपूर्वक द्वेष करता ही है ॥ ८४ ॥

युगायितैकान्तनिशोऽनिशं हठान्निराश्रयस्तब्धजनव्यथातुरः ।
प्रमाथि सन्धित्सु मनोऽरिमन्दिरे धराभृदित्थं बहुशो निनिन्द सः ॥ ८५ ॥

सः निराश्रयस्तब्धजनव्यथातुरः युगायितैकान्तनिशः धराभृत् अनिशं प्रमाथि हठात् सन्धित्सु मनः अरिमन्दिरे इत्थं बहुशः निनिन्द ॥ ८५ ॥

युग के समान दीर्घ एकान्त निशा के सेवन करनेवाले क्षत्रपति ने आश्रयहीन होकर दर-दर की ठोकर खानेवाले अपने प्रजाजनों की विषम दुर्दशा से अतिशय व्यथित होकर शत्रु के महल में, अपने उद्दण्ड, सन्धि के लिए उत्सुक मन को एकान्त में बहुत फटकारा, बड़ी भर्त्सना की ॥ ८५ ॥

मदोद्धतल्पे परिरक्षितेऽधुना महार्हभोगे सुकृतानुशंसिनि ।
निरस्तबाधे समयेऽपि साग्रहे दरिद्रनिद्रे ! किमुपेक्षसे जनम् ॥ ८६ ॥

अधुना परिरक्षिते मनोज्ञतल्पे सुकृतानुशंसिनि महार्हभोगे निरस्तबाधे साग्रहे समये अपि दरिद्रनिद्रे ! जनं किम् उपेक्षसे ? ॥ ८५ ॥

क्षत्रपति महाराज ने आत्मोपालम्भ करते हुए कहा—इस समय इतनी सुन्दर सेज बिछी है; सुरक्षा का समुचित प्रबन्ध है, इतने बहुमूल्य भोग के उपकरण उपलब्ध हैं कि भोक्ता के पुष्कल पुण्य का ढिंढोरा पीट रहे हैं (बिना विशेष पुण्य किये ये सर्वथा दुर्लभ हैं), कोई बाधा भी नहीं है समय भी सोने की मनुहार कर रहा है ! इतने पर भी, ऐ दरिद्र नींद, तुम क्यों मेरी उपेक्षा कर रही हो, तुम क्यों नहीं आती ॥ ८६ ॥

निसर्गशत्रोरपि वीक्ष्य मित्रतामम्मर्त्यसेव्यामयि ! मानसोत्तम ।
किमाधिभिर्दूषयसे स्वमन्त्रितं दुराग्रहेणाग्रहवर्तिनं विधिम् ॥ ८७ ॥

अयि मानसोत्तम, निसर्गशत्रोः अपि अमर्त्यसेव्यां वीक्ष्य स्वमन्त्रितं आग्रहवर्तिनं विधिं दुराग्रहेण आधिभिः किं दूषयसे ॥ ८७ ॥

अरे मेरे हृदय ! सहज शत्रु की भी इतनी उदार, देवताओं के लिए भी उपासनीय ऐसी मैत्री को पाकर अब अनुतापपूर्ण चिन्ता से स्वयं अभिलषित वस्तु को ठुकराकर आग्रहपूर्ण (अनुकूल) दैव को अपने दुराग्रह से (व्यर्थ, निष्फल इसकी अवहेलना करके) क्यों दूषित, कलंकित कर रहे हैं। तुम्हें दिल्ली से मित्रता अभीष्ट थी, मित्र बनकर तुम यहाँ आये, शत्रु होकर भी बादशाह ने सुख-सुविधा का इतना उत्तम प्रबन्ध किया है फिर भी तुम सन्तप्त हो रहे हो—यह उचित नहीं—यह तो तुम्हारा ही किया हुआ है, अब क्यों पछता रहे हो, मित्रता का भोग भोगो ॥ ८७ ॥

जनेषु भावं परिपालयन्नपि विशेषसत्त्वो दुरिताचलाशनिः ।
तथापि चिन्तापृतनाकदर्थितो निरामयत्वे प्रबभूव न प्रभुः ॥ ८८ ॥

जनेषु भावं परिपालयन् अपि दुरिताचलाशनिः विशेषसत्त्वः तथापि चिन्तापृतनाकदर्थितः निरामयत्वे प्रभुः न प्रबभूव ॥ ८८ ॥

दूसरों के समक्ष अपने मनोभावों, आन्तरिक सन्ताप को छिपाकर, सहज ढंग से व्यवहार की रक्षा करते हुए भी आपत्ति-शैल को ध्वस्त करने में वज्र के समान पराक्रमवाले क्षत्रपति, चिन्ता की सेना से कदर्थित होकर अपने स्वास्थ्य की रक्षा में समर्थ न हो सके—बीमार पड़ गये ॥ ८८ ॥

ध्रुवं मनःस्वास्थ्यपुरस्कृतं वपुर्बिभर्ति नैरुज्यफलं शरीरिणाम् ।
मनःप्रदेशाशनिगूढवेदनां शरीरमादर्शयतीव बिम्बिताम् ॥ ८९ ॥

मनःस्वास्थ्यपुरस्कृतं वपुः ध्रुवं शरीरिणां नैरुज्यफलं बिभर्ति शरीरं बिम्बितां इव मनःप्रदेशाशनिगूढवेदनाम् आदर्शयति ॥ ८९ ॥

सत्य है कि मानसिक स्वास्थ्य से सम्पन्न होकर ही शरीर स्वास्थ्य का उपभोग करता है, शरीर के नीरोग रहने के लिए मन का नीरोग होना, निश्चिन्त होना परम आवश्यक है। मन के अन्तराल में प्रविष्ट अशनि की गूढ वेदना को शरीर दर्पण के समान प्रतिबिम्बित कर देता है। मन की व्यथा शरीर में झलक जाती है ॥ ८९ ॥

द्विषामसूया प्रणयः सहायिनामहेतुकल्याणधियः सदात्मनाम्।
दुरन्तदिल्लीच्छलशङ्किनां भियः प्रपेदिरे तं वटवो यथा गुरुम् ॥ ९० ॥

द्विषाम् असूया सहायिनां प्रणयः सदात्मनाम् अहेतुकल्याणधियः दुरन्तदिल्लीच्छलशङ्किनां भियः तं वटवः गुरुं यथा प्रपेदिरे ॥ ९० ॥

शत्रुओं की असूया (डाह, अनिष्टपरक ईर्ष्या), सहायकों का स्नेह, सज्जनों की निष्कारण, स्वाभाविक कल्याण भावना, दिल्लीपति के कुटिल स्वभाव से आशङ्कित जनों का भय, इन अनेक भावनाओं ने क्षत्रपति को इस तरह अपना आश्रय बना लिया जैसे गुरु को शिष्य गण, छात्रवृन्द घेर लेता है, अवलम्ब ग्रहण करता है ॥ ९० ॥

मुखान्मुखं लब्धपदा रुजः कथा ततान सर्वासु दिशासु विस्मयम्।
वनाग्निजिह्वेव शिवात्मनां भियं शिवेतराणां दधती चिरोत्सवम् ॥ ९१ ॥

मुखान् मुखं लब्धपदा रुजः कथा सर्वासु दिशासु शिवात्मनां भियं शिवेतराणां चिरोत्सवं दधती वनाग्निजिह्वा इव विस्मयं ततान ॥ ९१ ॥

ओर क्रमशः बीमारी का यह समाचार एक मुँह से दूसरे मुँह को फैलता हुआ सम्पूर्ण दिशाओं में फैल गया। इस समाचार ने जहाँ एक ओर तो क्षत्रपति के हितेच्छुओं के मन में भय का सञ्चार किया, दूसरी ओर शिवेतर (अशिव) शिवाजी महाराज के विरोधियों के लिए चिरवाञ्छित उत्सव का दरवाजा खोल दिया ॥ ९१ ॥

नरेन्द्रमार्गे कटुकण्टकं यथा तमो विसर्पीव मनोज्ञमन्दिरे।
दुरामयं तद्वपुषि व्यवर्धत विरोधिहर्षैः स्वजनाधिभिस्सह ॥ ९२ ॥

नरेन्द्रमार्गे कटुकण्टकं यथा मनोज्ञमन्दिरे विसर्पि तमः इव तद्वपुषि विरोधिहर्षैः स्वजनाधिभिः सह दुरामयं व्यवर्धत ॥ ९२ ॥

जिस प्रकार राजमार्ग में विषैला काँटा उगने लगे या सुन्दर महल में अन्धकार फैलने लगे उसी प्रकार क्षत्रपति के शरीर में, उनके विरोधियों के हर्ष तथा स्वजनों के सन्ताप के साथ वह बीमारी बढ़ने लगी ॥ ९२ ॥

गलत्प्रभं वीक्ष्य विवर्णपाण्डरं तदीयसौम्यास्यमनाश्रयास्थिराः।
दिवानिशं तत्पदभाग्यपङ्क्तयस्तमोऽन्वभूवन् हृदि कुण्ठिता भटाः ॥ ९३ ॥

गलत्प्रभं विवर्णपाण्डरं तदीयसौम्यास्यं वीक्ष्य तत्पदभाग्यपङ्क्तयः अनाश्रयास्थिराः भटाः दिवानिशं कुण्ठिताः हृदि तमः अन्वभूवन् ॥ ९३ ॥

क्षत्रपति के सौम्य (सोम, चन्द्रसम्बन्धी) मुखमण्डल को निस्तेज, कृश एवं पीला पड़ते हुए देखकर, सदैव उनकी स्थिति के साथ बँधी हुई भाग्य-पंक्तिवाले अनाश्रयजन्य अस्थिरता से विकल, सैनिकों, अनुचरों एवं सहायकों ने अपने भीतर घोर अन्धकार का अनुभव किया ॥ ९३ ॥

निगूढचेष्टोऽपि सपत्नभूपतिर्न भावगुप्तिं क्षमतेस्म शीलितुम् ।
तथापि नक्राश्रुमिषेण सत्वरं शिवाय भैषज्यविदः समादिशत् ॥ ९४ ॥

निगूढचेष्टः अपि सपत्नभूपतिः भावगुप्तिं शीलितुं न क्षमतेस्म, तथापि सत्वरं नक्राश्रुमिषेण शिवाय भैषज्यविदः समादिशत् ॥ ९४ ॥

अत्यन्त गूढचेष्टावाला होकर भी बादशाह अपने आन्तरिक भाव (प्रसन्नता) को छिपाने में समर्थ न हो सका। फिर भी घड़ियाल के आँसू के समान चिन्ता प्रकट करते हुए बादशाह ने क्षत्रपति की परिचर्या के लिए राजवैद्यों को आदेश दिया ॥ ९४ ॥

विकासिहासोल्लसितान्तराऽपि या कलङ्कयत्येव शुचा मुखं बहिः ।
स्वभावघोराऽपि वपुर्बिभर्ति सा नरेशनीतिर्गणिका च मण्डितम् ॥ ९५ ॥

विकासिहासोल्लसितान्तरा अपि या बहिः मुखं शुचा कलङ्कयति एव स्वभावघोरा अपि सा नरेशनीतिः गणिका च मण्डितं वपुः बिभर्ति ॥ ९५ ॥

राजनीति (कूटनीति) और वेश्या दोनों आकार-गोपन में अपने यथार्थ को, मानसिक धारणा को छिपाने में अद्वितीय हैं। उन्हें कार्यसिद्धि के लिए बहुधा यह प्रपञ्च करना ही पड़ता है। जैसे हृदय में उल्लसित प्रसन्नता से पूर्ण होकर भी मुँह पर उदासी, खेद, दुःख का आवरण धारण करना, तथा स्वभाव से कुटिल होने पर भी ऊपर से, बहिरंगदृष्ट्या शरीर को भलीभाँति अलकृत करना कूटनीति एवं पण्याङ्गना-समाज का सामान्य धर्म है [औरंगजेब ने भी अपने आन्तरिक हर्ष को छिपाकर क्षत्रपति की बीमारी में अपनी सहानुभूति व्यक्त की ॥ ९५ ॥

निदानभैषज्यगुणोदितप्रथः प्रलम्बिकूर्चान्तरितोदरस्थितिः ।
अथैकदा कोऽपि नृपानुमोदितो भिषग्वरः पार्थिवपार्श्वमागमत् ॥ ९६ ॥

अथ एकदा निदानभैषज्यगुणोदितप्रथः प्रलम्बिकूर्चान्तरितोदरस्थितिः नृपानुमोदितः कः अपि भिषग्वरः पार्थिवपार्श्वम् आगमत् ॥ ९६ ॥

एक दिन, रोग को पहचानने में अति कुशल, ओषध के गुण-प्रभाव आदि के ज्ञान में विख्यात, लम्बी दाढ़ी के कारण ढँके हुए पेटवाले, बादशाह द्वारा अनुमोदित एक वैद्यश्रेष्ठ क्षत्रपति के पास आये ॥ ९६ ॥

असाधुचारोचितजिह्मदृष्टिना शिरो निगूढं परिकम्प्य तत्क्षणम् ।
विविक्तवासे प्रथमो मनस्विनां धराभृदित्थं जगदे गदारिणा ॥ ९७ ॥

असाधुचारोचितजिह्मदृष्टिना तत्क्षणं शिरः निगूढं परिकम्प्य गदारिणा मनस्विनां प्रथमः धराभृत् विविक्तवासे इत्थं जगदे ॥ ९७ ॥

अर्थपूर्ण मुद्रा (अविश्वासपूर्वक) में शिर हिलाते हुए, अधम-जनोचित कुटिल दृष्टि से, अपने एकान्त कक्ष में स्थित राजेन्द्र शिवाजी को उस रोग-विनाशक वैद्य ने इस प्रकार कहा ॥ ९७ ॥

शरीरदाहः श्वसितं विलम्बितं निमित्तशून्यं हसितं स्मृतित्वरा ।
अमन्दकोपः सहसाक्षिमीलनं विशेषतः स्वेदजलस्नुतं वपुः ॥ ९८ ॥

शरीरदाहः विलम्बितं श्वसितं निमित्तशून्यं हसितं स्मृतित्वरा अमन्दकोपः सहसा अक्षिमीलनं विशेषतः स्वेदजलस्नुतं वपुः ॥ ९८ ॥

आपके शरीर में दाह है, श्वास की गति मन्द है पर उसका दैर्घ्य लम्बा है, रह-रह अकारण हँसी फूट पड़ती है, स्मृति में सहसा तीव्रता आ जाती है। आप रह-रहकर अति क्रुद्ध हो उठते हैं, आँखें बन्द कर लेते हैं और विशेष करके शरीर पसीने से नहा उठता है ॥ ९८

मनोनिमित्ता वपुषां रुजो मुदो वपुर्विकारास्तु मनोऽनुवर्तिनः ।
मनोरथावाप्तिरतो भवत्कृते निरामयत्वाय परं हि भेषजम् ॥ ९९ ॥

वपुर्विकाराः तु मनोऽनुवर्तिनः वपुषां रुजः मुदः मनोनिमित्ताः अतः भवत्कृते निरामयत्वाय मनोरथावाप्तिः हि परं भेषजम् ॥ ९९ ॥

देखिये, शरीर के सुख-दुःख का कारण मन है। शरीर के विकार, हर्ष-कष्ट आदि मन के ही अनुगामी होते हैं। मन के दुखी होने पर कुछ भी अच्छा नहीं लगता। अतः आपके स्वास्थ्य के लिए यह अति आवश्यक है कि आप की अभिलाषा, मनोरथ, पूर्ण हो। सबसे उत्तम औषधि ऐसे रोगो में मानसिक स्वास्थ्य है। आप मनोव्याधि से ग्रस्त हैं। आपके लिए बाहरी दवा निष्फल होगी ॥ ९९ ॥

निरन्तरान्तर्भृततापबृंहितैर्दुरामयैर्मानसरोपितै - रिदम् ।
विषादि भूपाल ! तवावशं वपुर्न बाह्यभैषज्यविवेकमर्हति ॥१००॥

भूपाल, निरन्तरान्तर्भृततापबृंहितैः मानसरोपितैः दुरामयैः तव इदं विषादि अवशं वपुः बाह्यभैषज्यविवेकं न अर्हति ॥ १०० ॥

राजन्, आपके मन द्वारा आरोपित, इस अहर्निश आन्तरिक ताप से संवर्धित बीमारी से विवश विषादपूर्ण आपका यह रुग्ण शरीर किसी भी बाहरी दवा के मान का नहीं है। बाहरी दवा प्रभावहीन होगी ॥ १०० ॥

वपुः क्व सामान्यविकारबाधितं क्व चात्मरागप्रभवाधयश्च ते ।
न मादृशानां विषया भवादृशा मनोरथाघातविडम्बितोरसः ॥१०१॥

सामान्यविकारबाधितं वपुः क्व ते च आत्मरागप्रभवाधयः वा क्व । मनोरथाघात-विडम्बितोरसः भवादृशाः मादृशानां विषयाः न ॥ १०१ ॥

कहाँ तो सामान्य विकारों से अस्वस्थ शरीर और कहाँ मानसिक चिन्ता-प्रसूत ये आन्तरिक विषम अनुताप—दोनों में कहीं कोई सम्बन्ध भी हो। सचमुच, मनोरथ के घात-प्रतिघात से जर्जर हृदयवाले आप लोग, हम जैसे वैद्यों की दवा के विषय नहीं ही हैं ! [हम रोग की—शारीरिक रोगों की दवा करते हैं, मन की दवा करना हमारे वश का काम नहीं है ।] ॥ १०१ ॥

व्यपैति निद्राविरहेण शर्वरी दिवाऽप्यरागप्रभवैर्विजृम्भितैः ।
असंस्तवात् पार्थिवलोभि वैभवं मनोरथः सङ्कुचतीव सेवितुम् ॥१०२॥

निद्राविरहेण शर्वरी अरागप्रभवैः विजृम्भितैः दिवा अपि व्यपैति पार्थिवलोभिवैभवं सेवितुं असंस्तवात् मनोरथः सङ्कुचति इव ॥ १०२ ॥

बिना नींद के ही आपकी रात बीत जाती है, दिन भी अरुचि से उत्पन्न जम्भाई लेने में बीत जाता है, राजाओं के लिये भी दुर्लभ भोगों का सेवन करने में अपरिचय, अनाड़ीपन के कारण आपका मन संकुचित, कुण्ठित हो जाता है ॥१०२॥

न वर्तमानं जहि भाविचिन्तया बुधोऽसि वर्तस्व विवेकवर्त्मनि ।
पुराऽपि भूपाः शलभायिता न के प्रदीप्तदिल्लीदहने युयुत्सवः ॥१०३॥

भाविचिन्तया वर्तमानं न जहि बुधः असि विवेकवर्त्मनि वर्तस्व पुरा अपि प्रदीप्त-दिल्लीदहने के युयुत्सवः भूपाः न शलभायिताः ॥ १०३ ॥

भविष्य की अत्यधिक चिन्ता से वर्तमान की हत्या (घोर उपेक्षा) मत करो। आप बुद्धिमान हैं, विवेकपूर्ण मार्ग का अनुसरण करें। आपसे पहिले भी अनेक राजा युद्ध की इच्छा से उत्साहित होकर दिल्ली की प्रचण्ड ज्वाला में पतिंगों के समान जल मरे ॥ १०३ ॥

न पारसीका गृहमेधिनोऽनलं न वा विहारानधुना कुभातटम् ।
श्रयन्ति यूपं न कुलूतभूमयस्तथापि किं ते मलिना मनागपि ॥१०४॥

अधुना पारसीकाः गृहमेधिनः अनलं न, कुभातटं वा विहारान् न, कुलूतभूमयः यूपं न श्रयन्ति तथापि ते मनाक् अपि मलिनाः किम् ? ॥ १०४ ॥

आज परसिया के निवासी अग्निपूजा नहीं करते तथा कुभा (काबुल) नदी के तटप्रान्त पर बिहार (बौद्ध भिक्षुओं का मठ) नहीं हैं। कुलूत (क़लात) की भूमि में यज्ञयूपों का आज दर्शन भी दुर्लभ है पर क्या वे इसके बिना किसी प्रकार भी कम आकर्षक हैं [इस्लाम धर्म के प्रादुर्भाव के पहले (६२२ ई० पू०)

तथा बाद में भी कुछ समय तक परसिया में अग्निपूजक पारसी रहते थे किन्तु उन्हें तलवार के बल पर इस्लाम स्वीकार कराया गया। कुछ लोग भागकर भारत आ गये—वे पारसी कहलाते हैं। अफगानिस्तान आदि देशों में बौद्ध धर्म के माननेवाले रहते थे तथा कुभा नदी की तटीय भूमि बिहारों-मठों से सम्पन्न थी। इस्लाम के भक्तों ने बौद्ध धर्म को नष्ट कर दिया बिहारों को ध्वस्त कर दिया। कुलूत आर्यों का जनपद था। यज्ञ की धूमशिखा आकाश में फैलती रहती थी तथा यज्ञभूमि यूपों (पशु बाँधने की खूँटी) से भरी रहती थी। इस्लाम के प्रभाव ने लोगों को मुसलमान बना दिया।] ॥ १०४ ॥

त्वदीय - सौभाग्यपदं कुतूहलं सचेतसश्चापि तनोति पश्यतः।
अविस्मृतारातिरपि प्रभुस्त्वयि बिभर्त्यहो ! साम्नपदीनसत्क्रियाम् ॥१०५॥

अहो, त्वदीयसौभाग्यपदं पश्यतः सचेतसः च अपि कुतूहलं तनोति अविस्मृतारातिः अपि प्रभुः त्वयि साम्नपदीनसत्क्रियां बिभर्ति ॥ १०५ ॥

आपका सौभाग्य किसी भी विवेकशील को ईर्ष्यालु बना सकता है, आश्चर्यचकित कर सकता है (फिर भी आप इससे विमुख हैं)। देखिये, हमारे बादशाह अपने शत्रुओं को नहीं भूलते पर वे भी पूर्ववैर भूलकर आपसे मित्रतोचित व्यवहार करते हैं (यह अतिशय सौभाग्य सूचक है) ॥ १०५ ॥

अतो महाराष्ट्रभुवः स्वचेतनां निगृह्य मोघाग्रहसंशयास्थिराम्।
रमस्व सख्योपचितासु भूतिषु सुबन्धुदिल्लीन्द्रपदानुरञ्जितः ॥१०६॥

अतः मोघाग्रहसंशयास्थिरां स्वचेतनां महाराष्ट्रभुवः निगृह्य सुबन्धुदिल्लीन्द्रपदानुरञ्जितः सख्योपचितासु भूतिषु रमस्व ॥ १०६ ॥

अतः निष्फल आग्रह एवं संशय से चंचल अपनी बुद्धि को महाराष्ट्र-भूमि से हटाकर एवं उसको संयत करके मित्रता के फलस्वरूप प्राप्त उत्तम वैभव को, दिल्लीपति के चरणों में अपनी भक्ति अर्पित करके आदरपूर्वक भोगो ॥ १०६ ॥

अशेषरोगैकरसायनं परं मम श्रमाभ्यासकलासुसंस्कृतम्।
गृहाण धन्वन्तरयेऽपि दुर्लभं ध्रुवं फलिष्यन्ति शुभाय वासराः ॥१०७॥

मम श्रमाभ्यासकलासुसंस्कृतं परं अशेषरोगैकरसायनं धन्वन्तरये अपि दुर्लभं गृहाण, शुभाय वासराः ध्रुवं फलिष्यन्ति ॥ १०७ ॥

अस्तु, धन्वन्तरि के लिए भी दुर्लभ, मेरे भैषज्यसम्बन्धी महान् श्रम एवं अभ्यास द्वारा सुनिर्मित, लाख रोगों की एक दवा, इस चमत्कारी रसायन को आप लें, निश्चय ही इसके सेवन से आपका भविष्य उज्ज्वल होगा, आपके दिन फिर लौटेंगे ॥ १०७ ॥

प्रसादनिद्रा चिरदाहसंक्षयो विरागबाधो विषयानुरञ्जनम् ।
मनोऽनुरागो गुरुखेदनिर्वृतिर्गुणानुदाहर्तुमलं भवेऽस्य कः ॥१०८

प्रसादनिद्रा चिरदाहसंक्षयः विरागबाधः विषयानुरञ्जनं मनोऽनुरागः गुरुखेदनिर्वृतिः अस्य गुणान् उदाहर्तुं भवे कः अलम् ? ॥ १०८ ॥

इस औषधि से सुखपूर्ण निद्रा आती है, दीर्घकालीन दाह (जलन) दूर होता है, अरुचि-नाश होता है, विषय-सेवन में उत्साह बढ़ता है। मन में सुरुचि उठती है, अनुराग बढ़ता है, विषम खेद से मुक्ति मिलती है, सक्षेप में यह रामबाण है, इसके अनेक गुणों और चमत्कारों का वर्णन इस संसार में कौन कर सकता है ॥ १०८ ॥

निवार्य वाचालमवार्यशासनस्तमाह राजा कटुवादिनां पटुम् ।
सचेष्टमर्धोत्थितपूर्वविग्रहः करार्पिताऽऽपाण्डुकपोलमण्डलम् ॥१०९॥

कटुवादिनां पटुं वाचालं तम् अवार्यशासनः राजा निवार्य सचेष्टम् अर्धोत्थितपूर्वविग्रहः करार्पितापाण्डुकपोलमण्डलम् आह ॥ १०९ ॥

अमोघशासन क्षत्रपति ने कटुभाषियों में चतुर उस बकवादी को बोलने से रोककर, प्रयत्नपूर्वक अपने शरीर के अर्धभाग को (तकिये के सहारे उदर से ऊपरी भाग को) कुछ उठाते हुए अपनी हथेली पर कपोल को टिकाकर कहा ॥ १०९ ॥

न भेषजं केवलमेव तेऽमृतं ध्रुवं वचश्चापि तथैव लक्ष्यते ।
अतो हि वैद्येषु रसायनस्थितिर्बुधैर्विविच्यैव समर्चिता पुरा ॥११०॥

केवलं ते भेषजं न अमृतं वचः च अपि तथा एव लक्ष्यते अतः हि पुरा बुधैः विविच्य एव वैद्येषु रसायनस्थितिः समर्चिता ॥ ११० ॥

केवल औषधि ही अमृत नहीं है, तुम्हारे शब्द भी अमृत ही हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। यही कारण है कि पूर्वजों ने बहुत पहले ही विचार करके वैद्यों में रसायन (रस+अयन) को प्रतिष्ठित किया [रसायन का निर्माण करनेवाला यदि अमृतवाणीवाला हो तो आश्चर्य ही क्या है !] ॥ ११० ॥

रुजां निदाने प्रथमोऽप्यपेक्षते भिषग्वरोऽभ्यासमये तवान्तिकम् ।
अनल्पपुण्यः खलु देहलीपतिर्भवादृशा यद्भिषजो भजन्ति तम् ॥१११॥

अये, रुजां निदाने प्रथमः अपि भिषग्वरः तवान्तिकम् अभ्यासम् अपेक्षते, देहलीपतिः खलु अनल्पपुण्यः यत् भवादृशाः भिषजः तं भजन्ति ॥ १११ ॥

रोगों के निदान में दक्षता प्राप्त करने के लिए वैद्यों में उत्कृष्टतम वैद्य को भी तुम्हारे पास रहकर अभ्यास करना चाहिए। सचमुच दिल्लीपति अवरंगजेब महान् पुण्यशाली हैं जिन्हें आप जैसे वैद्यपुंगवों की सेवा सुलभ है ॥ १११ ॥

दधन्मुखे कण्टककर्कशं वचः कुतूहलं सञ्जनयन् स्ववल्गितैः ।
सुखं चरन् सैकतपार्थिवाध्वनि नवीनधन्वन्तरिरेव राजसे ॥११२॥

मुखे कण्टककर्कशं वचः दधत् स्ववल्गितैः कुतूहलं सञ्जनयन् सैकतपार्थिवाध्वनि सुखं चरन् (त्व) नवीनधन्वन्तरिः (धन्वन् (मरु) + तरि (नौका) एव राजसे ॥ ११२ ॥

(इस श्लेषात्मक श्लोक के दो अर्थ हैं—)

तुम्हारे मुख में काँटों जैसे कर्कश बींधनेवाले वचन हैं, अपनी बलबलाहट से, बकवास से, आश्चर्य उत्पन्न कर रहे हो, निस्तत्त्व राजा की सेवा में (रेगिस्तानी जमीन के किनारे) सुखपूर्वक चर रहे हो। सचमुच हमें तो तुम अभिनव धन्वन्तरि (ऊँट) प्रतीत हो रहे हो।

ऊँट के मुँह में भी काँटों से कर्कश (ऊँट काँटा तथा कटीली झाड़ियाँ खाता है) अस्पष्ट बोली रहती है, उसकी बलबलाहट से कौतूहल उत्पन्न होता है। वह सुखपूर्वक मरुभूमि मार्ग में चरता है।

धन्वन्तरि—धन्वन् + तरि = मरुभूमि की नाव–रेगिस्तान का जहाज)।

सैकतपार्थिवाध्वनि— सैकत + पार्थिव + अध्वनि = (१) बालू के समान निस्तत्त्व राजा के मार्ग पर = निष्फल राजसेवा में या (२) सिकतामय पृथिवी के अञ्चल में—मरुभूमि में ॥ ११२ ॥

स्मराहिदष्टः प्रवयाः पतिर्यथा जनः समाराधितदेहलीस्थितिः ।
तनोति सर्वव्यवहारविस्तरं नवप्रियायै किमु कूटनीतये ॥११३॥

समाराधितदेहलीस्थितिः जनः स्मराहिदष्टः प्रवयाः पतिः यथा सर्वव्यवहारविस्तरं नवप्रियायै कूटनीतये तनोति किम् ? ॥ ११३ ॥

(इसमें भी दो अर्थ स्पष्ट लक्षित हो रहे हैं—)

कामदेवरूपी सर्प के विष से मूर्च्छित, ड्योढी के पास आसन जमाये (सम्भवतः भीतर जाने में असमर्थ होने के कारण या चौकसी (पहरा) करने की इच्छा से, या सर्वदा सेवा में उपस्थित रहने की भावना से अथवा नवयुवती पत्नी की अरुचि एवं अपनी वर्धिष्णु रुचि में सामञ्जस्यपूर्ण स्थिति के सम्मान के लिए) बूढ़ा पति जिस प्रकार अपने सम्पूर्ण व्यवहारों के प्रसार में कुटिल नवयुवती पत्नी को प्रसन्न करना ही मूल उद्देश्य मानता है उसी प्रकार क्या इस दिल्ली में रहनेवाले सभी प्राणी अपने सम्पूर्ण व्यवहारों की परिकल्पना में कूटनीति को ही मूल हेतु स्वीकारते हैं ? [तुम वैद्य हो, तुम्हारा प्रधान कर्तव्य रोग की चिकित्सा करना है पर उसकी उपेक्षा करके तुम इस कार्य में भी कूटनीति को ला रहे हो।] ॥ ११३ ॥

अवैमि हेतुं न तव स्थितेरिह प्रसीद कस्त्वं भिषगेव वा चरः ।
अनार्यजुष्ये पथि दीक्षितस्य ते प्रलम्बिकूर्चे ज्वलतीव मद्वपुः ॥११४॥

इह तव स्थितेः हेतुं न अवैमि, प्रसीद त्वं कः भिषक् एव चरः वा अनार्यजुष्टे पथि दीक्षितस्य ते प्रलम्बकूर्चे मद्वपुः ज्वलति इव ॥ ११४ ॥

मैं नहीं समझ पा रहा हूँ कि तुम यहाँ क्यों आये हो, कृपा कर कहो कि तुम सचमुच वैद्य हो या कोई गुप्तचर हो। अधम-जनोचित पथ में प्रवृत्त तुम्हारी इस लम्बी दाढ़ी को देखकर मेरा शरीर जला जा रहा है [जी चाहता है कि तुम्हारी दाढ़ी नोंच डालूँ।] ॥ ११४ ॥

अकूर्चमास्यं यदि रोचते ध्रुवं किमेभिरित्युल्लसितोऽभिधाय सः ।
स्वयं समाकृष्य तदात्मनिह्नवं तमार्यसङ्कल्पमुदश्रुरैक्षत ॥११५॥

यदि अकूर्चम् आस्यं ध्रुवं रोचते एभिः किम् इति उल्लसितः सः अभिधाय तत् आत्मनिह्नवं स्वयं समाकृष्य तम् आर्यसङ्कल्पधरम् उदश्रुः ऐक्षत ॥ ११५ ॥

अरे, यदि सचमुच आपको बिना दाढ़ी का ही मुख पसन्द है तो इस दाढ़ी से क्या काम—इस प्रकार हर्षपूर्वक कहकर वैद्य ने अपने स्वरूप को छिपानेवाले उस कूर्च को खींचकर (अलग करके) उस उत्तम संकल्पवाले क्षत्रपति को डबडबाई आँखों से देखा ॥ ११५ ॥

अये, त्वमत्रेति पतन्निवासनात् स दुर्बलोऽप्याप्तमनोरथो यथा ।
सवाष्पकण्ठो गलदश्रुलोचनो न[1] वेद तानाजिमपि स्ववक्षसि ॥११६॥

'अये त्वम् अत्र' इति आसनात् पतन् इव दुर्बलः अपि आप्तमनोरथः यथा सः गलदश्रुलोचनः सवाष्पकण्ठः स्ववक्षसि तानाजिम् अपि न वेद ॥ ११६ ॥

'अरे ! तुम यहाँ' इतना कहकर आसन से मानो गिरते हुए, कृश होकर भी लब्धमनोरथ के समान रुँधे हुए गले तथा आँसू बहाती आँखोंवाले राजा यह भी न जान पाये कि उन्होंने तानाजी को हृदय से लगा रखा है (अतिशय हर्षजन्य मोह) ॥ ११६ ॥

अबाधितस्यन्दि जितामृतद्रवं तदक्षिपाथः समवेक्ष्य तापितः ।
घनायसाधिर्व्यगलद्भयादिव विधाय चेतः परिनिर्मलच्छवि ॥११७॥

अबाधितस्यन्दि जितामृतद्रवं तत् अक्षिपाथः समवेक्ष्य तापितः घनायसाधिः चेतः परिनिर्मलच्छवि विधाय भयात् व्यगलत् इव ॥ ११७ ॥

अमृतद्रव को पराजित करनेवाले निर्बाध प्रवाहशील उस नयनजल के भय से वह अत्यन्त प्रतप्त फौलाद के समान भयंकर मनोव्यथा, चित्त को अत्यन्त निर्मल बनाकर नष्ट हो गयी [अग्नि का विनाश, शमन जल से ही सम्भव है—क्षत्रपति का हृदय चिन्तारहित हो गया।] ॥ ११७ ॥

---

१. तानाजी—बालबन्धुः प्रियवयस्यः क्षत्रपतेः साहसोद्योगकीर्तिः, विजेता सिंहगढदुर्गस्य।

शनैस्तमावेदितशत्रुपद्धतिं समर्च्य भैषज्यविदार्यभूभृतम् ।
असेवतोद्योगरसायनद्रवैरिवार्यभूमर्मवचोभिरुत्सुकैः ॥११८॥

शनैः आवेदितशत्रुपद्धतिं तम् आर्यभूभृतं समर्च्य भैषज्यवित् उत्सुकैः आर्यभूमर्मवचोभिः इव उद्योगरसायनद्रवैः असेवत ॥ ११८ ॥

धीरे-धीरे उस आर्य नरेश से शत्रु की गति-विधि को बताकर उस वैद्यवर तानाजी ने उनको उत्साहित करके उद्योगपथ में रसायनद्रव के समान उपयोगी मातृ-भूमि के उत्सुक मर्मस्पर्शी वचनों से उन्हें परिचित कराया ॥ ११८ ॥

निशाऽनिशं वासरवासवर्जिता तिरोहिताशा पिशिताशनिर्भरा ।
द्विषत्पयोदान्तरिते प्रभाकरे जनैकमित्रे त्वयि वर्धतेऽभितः ॥११९॥

द्विषत्पयोदान्तरिते जनैकमित्रे त्वयि प्रभाकरे, अनिशं वासरवासवर्जिता निशा पिशिताशनिर्भरा तिरोहिताशा अभितः वर्धते ॥ ११९ ॥

प्रजाजनों के एक मात्र मित्र (सखा, सूर्य), प्रकाश करनेवाले आपके, शत्रु मेघमाला द्वारा आच्छादित (तिरोहित) हो जाने के कारण, अब वासर-निरपेक्ष रात्रि का साम्राज्य है। मांसभक्षी पिशाचों की अधिकता से आशा विनष्ट हो गयी है (मांसभक्षी पक्षियों, रात्रि में उड़नेवाले उल्लू आदि) के निर्बाध सञ्चरण से भयार्त दिशायें तिरोहित हो गयी हैं ॥ ११९ ॥

शुभावतारापि खलीकृता हठात् सबाधरोधा मलिना पयस्विनी ।
न साध्वसादुत्सहते करोर्मिभिर्जनान् समानन्दितुमात्मसन्निधौ ॥१२०॥

शुभावतारा अपि हठात् खलीकृता सबाधरोधा मलिना पयस्विनी जनान् करोर्मिभिः आत्मसन्निधौ समानन्दितुं साध्वसात् न उत्सहते ॥ १२० ॥

उत्तम घाटोंवाली नदियाँ भी तटभूमि के अवांछित तत्त्वों द्वारा संकटापन्न कर देने के कारण असेवनीय हो गयी हैं। अब भय के कारण वे लहररूपी हाथों से लोगों को अपने पास बुलाकर उन्हें आनन्दित करने का (स्नान आदि से) साहस नहीं करतीं [नदियों के तीर पर शत्रु जन घूमते हैं, मनमाना अतिचार करते हैं। अस्तु, लोगों ने भय एवं संकट के कारण उधर जाना छोड़ दिया है।] ॥१२०॥

श्रुतोऽपि निश्श्रेयससिद्धिकारणो विवेकमूलोऽप्यरितापकम्पितः ।
विमुच्य धर्मः प्रकृतिं प्रतिष्ठितां दधाति भग्नः परिवृत्तिकश्मलम् ॥१२१॥

निश्श्रेयससिद्धिकारणः विवेकमूलः श्रुतः अपि अरितापकम्पितः धर्मः प्रतिष्ठितां प्रकृतिं विमुच्य भग्नः परिवृत्तिकश्मलं दधाति ॥ १२१ ॥

'यतोऽभ्युदयनिश्श्रेयससिद्धिः स धर्मः' जिससे ऐहिक अभ्युदय और पारलौकिक श्रेय प्राप्त हो वह धर्म है, 'धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः' धर्म से हीन व्यक्ति पशु-तुल्य है (धर्म विवेक का मूल है) इन अनेक परिभाषाओंवाला आर्यधर्म अब शत्रु

के भय से काँपता हुआ अपना प्रतिष्ठित स्वभाव छोड़कर, भग्नमन होकर परिवृत्ति (धर्मपरिवर्तन) का कलंक धारण कर रहा है [लोग भय से धर्मपरिवर्तन द्वारा विधर्मी हो रहे हैं ।] ॥ १२१ ॥

कृषीवलैः संशयनिर्जितोद्यमैरकृष्टवन्ध्येव कृतोषरोदरा ।
न सस्यसम्पत् सहतेऽभिनन्दितुं सुभिक्षगर्भैः परिपाण्डुकौतुकैः ॥१२२॥

संशयनिर्जितोद्यमैः कृषीवलैः अकृष्टवन्ध्या इव कृता ऊषरोदरा सस्यसम्पत् सुभिक्षगर्भैः परिपाण्डुकौतुकैः अभिनन्दितुं न सहते ॥ १२२ ॥

सशयापन्न, भयकातर किसानों के निरुद्यम हो जाने के कारण, खेत जोतने के बिना वन्ध्या, ऊषर निर्विशेष उदरवाली (धान्य-सम्पत्ति) हरियाली अब अच्छी पैदावार की आशा से सम्पन्न, पीली कान्ति धारण नहीं करती। गर्भ के प्रभाव से शरीर में पाण्डुता का आना स्वाभाविक है किन्तु जब हरियाली ही नहीं, कुछ बोया ही न जाय तो पाण्डुता कहाँ सम्भव है ॥ १२२ ॥

धराप्रसूतैः रचिता छदिस्तृणैर्विशीर्णबन्धाऽनवधाननिस्सहा ।
निमित्तलीना प्रभवत्तृणोद्गमैः समित्तिगर्भैरुरसीव धार्यते ॥१२३॥

धराप्रसूतैः तृणैः रचिता छदिः अनवधाननिस्सहा विशीर्णबन्धा (सती) निमित्तलीना समित्तिगर्भैः प्रभवत्तृणोद्गमैः उरसि धार्यते इव ॥ १२३ ॥

पृथिवी में उत्पन्न तृणों (सरपत, बाँस, खर आदि) से बनाया गया छप्पर रस्सी के बन्धन टूट जाने से, ध्यान न देने से (गाँववाले घर छोड़कर भाग गये, ध्यान कौन दे) बिखरकर कच्ची दीवालों के बीच में गिर पड़ा और झोपड़ी (छप्पर) अपने निमित्त में विलीन हो गयी (छप्पर (तृण) पृथ्वी में उत्पन्न होता है इसलिए पृथिवी निमित्त हुई। गिरा हुआ छप्पर बिखरकर सड़कर भूमि में मिल गया)। अब उन कच्ची मिट्टी की दीवालों के बीच फिर तृणसमूह उग आया— ऐसा प्रतीत होता है मानो इन अवाध उगे हुए हरित तृणों ने छप्पर को अपने हृदय पर धारण कर लिया है। टूटा हुआ छप्पर तथा चारों ओर उगी हुई घास एवं तृणसमूह, मानो छप्पर हरे तृणसमूह की छाती पर टिका हो ॥ १२३ ॥

वसन् वसन्तोदितमञ्जरीभरे वधूसखश्चूतवनेऽपि कुण्ठितः ।
निरीक्ष्य वीताभरणं वधूजनं मधूत्सवं गायति नोन्मनाः पिकः ॥१२४॥

वसन्तोदितमञ्जरीभरे चूतवने वसन् अपि वधूजनं वीताभरणं निरीक्ष्य कुण्ठितः वधूसखः उन्मनाः पिकः मधूत्सवं न गायति ॥ १२४ ॥

वसन्त ऋतु में बौरों से गदराये भरे हुए आम के बागों में अपनी प्रियतमा के साथ बैठा हुआ भी कोकिल ग्रामीण महिलाओं को उल्लासहीन, शृंगाररहित, उदास देखकर स्वयं उदास होकर चुप हो जाता है तथा वसन्त के सम्मान में अपनी मनोहर कल-ध्वनि से दिशाओं को मुखरित नहीं करता ॥ १२४ ॥

शिशूनहेतुद्भवसर्गमण्डनाञ्जना वहन्तोऽपि मुदा स्ववक्षसि ।
तदङ्गसंस्पर्शजितामृतद्रवं क्षणेन विस्मृत्य तपन्ति कम्पिताः ॥१२५॥

अहेतुद्भवसर्गमण्डनान् शिशून् मुदा स्ववक्षसि वहन्तः अपि जनाः क्षणेन तदङ्गसंस्पर्श-जितामृतद्रवं विस्मृत्य कम्पिताः तपन्ति ॥ १२५ ॥

अकारण, सहज ही आनन्द को सृष्टि करनेवाले बच्चों को प्रेमपूर्वक छाती से लगाये प्राणी, अमृतद्रव को भी लज्जित करनेवाले उनके अंगसंस्पर्श को सहसा भूलकर भय से काँपते हुए सूख जाते हैं, विकल हो जाते हैं। बच्चों के स्पर्श से लोग हर्षोल्लसित होते हैं किन्तु दूसरे ही क्षण आततायी मुगल सैनिकों का ध्यान आ जाता है जो छोटे बच्चों को भी मौत के घाट उतारने में नहीं हिचकते। इसीलिए भय से उनका कलेजा सूख जाता है ॥ १२५ ॥

सहस्थितीश्चातिथिनिर्विशेषया विलोक्य दृष्ट्या प्रणयस्थिरोरसः ।
अनुस्मृतारातिजघन्यवैशसा जना न तृप्तिं दधते मनागपि ॥१२६॥

सहस्थितीन् प्रणयस्थिरोरसः च अतिथिनिर्विशेषया दृष्ट्या विलोक्य अनुस्मृतारातिजघन्यवैशसाः जनाः मनाक् अपि तृप्तिं न दधते ॥ १२६ ॥

निश्छल स्नेहपूर्ण हृदयवाले, एक साथ रहनेवाले स्वजनों को भी अतिथि के रूप में देखते हुए प्राणी रह-रहकर सन्तप्त हो उठते हैं, उन्हें देखने से तृप्ति नहीं होती, जी नहीं भरता। शत्रुओं द्वारा लोगों की अकारण हत्या का ध्यान आते ही वे उद्विग्न हो जाते हैं, उनको किसी का भरोसा नहीं रहता; इसीलिए वे गृहवर्ती जनों को भी अतिथि ही मानते हैं। क्या पता कब शत्रु की कुदृष्टि उन पर पड़ जाय और उनकी जीवनलीला समाप्त हो जाय ॥ १२६ ॥

विमुच्य घोषानुपसीमकाननानपि स्वतन्त्रा नववासशङ्किताः ।
विलङ्घ्य बन्धान् पशवोऽनुगानपि नयन्ति तत्रैव गताः स्वरक्षिणः ॥१२७॥

उपसीमकाननान् अपि घोषान् नववासशङ्किताः विमुच्य बन्धान् विलङ्घ्य स्वतन्त्राः पशवः तत्र एव गताः अनुगान् स्वरक्षिणः अपि नयन्ति ॥ १२७ ॥

शत्रुओं से आतंकित होकर गाँववाले परिवार एवं पशुधन लेकर जंगलों के पास भाग गये हैं। वहीं पर पशुओं के लिए उन्होंने गोठ का प्रबन्ध कर दिया है, किन्तु नये स्थान से स्वभावतः ही घबरानेवाले पशु कभी बन्धन तुड़ाकर स्वतन्त्र हो जाते हैं तथा अपने पीछे अपने रक्षकों को पकड़ने का उद्योग करते देखकर भागते हुए सीधे उसी स्थान पर चले जाते हैं जहाँ गाँव में पहले उनका बाड़ा था। इस प्रकार बेचारे रखवालों का भी जीवन संकट में डाल देते हैं [पशुओं का अपने निवासस्थान से प्रेम होता है। उन्हें क्या पता कि गाँव में जाना निरापद नहीं। बेचारे रखवाले अपने पशु की रक्षा के लिए पीछे दौड़ते हैं और इस प्रकार बिभीषिका में पड़ने का सकट उपस्थित हो जाता है।] ॥ १२७ ॥

पुरः कपाटान्तरितप्रभागृहा निशामुखे गाढतमोऽवगुण्ठिते ।
हठावरुद्धश्वसिताः ससंशयाः स्वरक्षणे प्रोषितभर्तृका इव ॥१२८॥

गाढतमोऽवगुण्ठिते निशामुखे कपाटान्तरितप्रभागृहाः पुरः हठावरुद्धश्वसिताः प्रोषितभर्तृकाः इव स्वरक्षणे ससंशयाः ॥ १२८ ॥

जब रात्रि के मुख (सन्ध्या) पर गहरे अन्धकार का, काले रंग का घूँघट पड़ जाता है तब बस्तियाँ अपने दीपक के प्रकाशवाले घरों को दरवाजों के भीतर बन्द करके (प्रकाश बाहर से दिखायी न पड़े, इसलिए) हठपूर्वक अपनी साँस रोककर (कोलाहल बन्द कर, निस्तब्ध हो) आत्मरक्षा में प्रोषितभर्तृका (जिसका पति परदेश चला गया हो) के समान सशंकित हो जाती हैं ॥ १२८ ॥

अपास्तपत्राभरणा वनावलिर्बिभर्ति पुष्पर्तुसमागमश्रियम् ।
भवत्प्रवासार्तिभरा परन्तु सा कृशा महाराष्ट्रधरा विमुह्यति ॥१२९॥

अपास्तपत्राभरणा वनावलिः पुष्पर्तुसमागमश्रियं बिभर्ति परन्तु भवत्प्रवासार्तिभरा कृशा सा महाराष्ट्रधरा विमुह्यति ॥ १२९ ॥

पत्राभरण से रहित वनावली, वन के तरुलताओं की पंक्ति, पुष्प-ऋतुजन्य समागम की शोभा से उल्लसित हो रही है। (पुष्पमास शीत-कर्दथित वनस्थली को पत्र, पुष्प, फल आदि से आच्छादित कर देता है) किन्तु आपके प्रवासजन्य दुःख से कातर महाराष्ट्र-भूमि दुर्बलाङ्गी हो विषाद के गर्त में पड़ी हुई है ॥ १२९ ॥

दुरन्तकोपान्धसपत्नजिह्मगां विषाक्तदेहामपि वीक्ष्य मेदिनीम् ।
जवात् कथं नेनजनो भवादृशः श्रुतस्वमन्त्रोद्यमयुक्तिमीहते ॥१३०॥

दुरन्तकोपान्धसपत्नजिह्मगां विषाक्तदेहां मेदिनीं वीक्ष्य अपि भवादृशः इनजनः जवात् कथं न श्रुतस्वमन्त्रोद्यमयुक्तिम् ईहते ॥ १३० ॥

दुर्धर्ष कोपान्धकारवाले शत्रु ही जिसके लिए सर्प हो रहे हैं तथा जिसका मन-प्राण उन विषधर शत्रुओं के विष से मूर्च्छित हो रहा है उस देशभूमि को विपन्न देखकर भी आप जैसा विषचिकित्सक भी अपने लोकविश्रुत मन्त्रशक्ति एवं उद्यम का प्रयोग क्यों नहीं करता ॥ १३० ॥

विलोक्य जालोदरबद्धविग्रहं महेभकुम्भक्षतजासवोत्सवम् ।
न जम्बुका सिंहसुतं हसन्तु ते प्रवञ्चनोपायशताधमोद्यमाः ॥१३१॥

महेभकुम्भक्षतजासवोत्सवं जालोदरबद्धविग्रहं सिंहसुतं विलोक्य प्रवञ्चनोपायशताधमोद्यमाः ते जम्बुकाः न हसन्तु ॥ १३१ ॥

बलवान् गजराज के कुम्भस्थल को फाड़कर उसके रक्तासव से आनन्दित होनेवाले, किन्तु दुर्भेद्य जाल में जकड़े हुए शरीरवाले सिंह को विवश देखकर, धूर्तता के निम्नतम शताधिक उपायों में कुशल गीदड़ कहीं उसकी हँसी न उड़ायें [आपकी

यह वर्तमान स्थिति जाल में फँसे शेर के समान है तथा विरोधी मक्कार गीदड़ों के समान प्रसन्न हो रहे हैं।] ॥ १३१ ॥

निसर्गसिद्धात्मसमीहिता विभो स्वतन्त्रता कृत्रिमलौहबन्धनैः ।
दुरन्तकारातिमिरैरपि क्षमा विलङ्घितुं किं रिपुभिर्बलोन्मदैः ॥१३२॥

विभो ! निसर्गसिद्धात्मसमीहिता स्वतन्त्रता कृत्रिमलौहबन्धनैः दुरन्तकारातिमिरैः बलोन्मदैः रिपुभिः अपि विलङ्घितुं क्षमा किम् ? ॥ १३२ ॥

राजन् स्वतन्त्रता स्वभावसिद्ध स्थिति है। यह जीवन का जन्मसिद्ध अधिकार है, आत्मकांक्षित सहजता है। लोहे से निर्मित बन्धन (हथकड़ी-बेड़ी आदि) अथवा मदोन्मत्त शत्रु द्वारा निर्मित कैद की काली कोठरियाँ इसे विनष्ट नहीं कर सकतीं, दबा नहीं सकतीं। यह सहज भावना है, इसे नष्ट करना असम्भव है ॥ १३२ ॥

उभावुभाभ्यामुभयोर्भुजान्तरावनुक्तवृत्तावपि वेदितस्थिती ।
विभिद्य मन्त्रेण विरोधिकल्पितं तदेव कर्तव्यविधावपीषतुः ॥१३३॥

उभाभ्याम् उभयोः भुजान्तरौ अनुक्तवृत्तौ अपि वेदितस्थिती उभौ विरोधिकल्पितं मन्त्रेण विभिद्य कर्तव्यविधौ अपि तत् एव ईषतुः ॥ १३३ ॥

उन दोनों (क्षत्रपति तथा तानाजि) बालबन्धुओं ने परस्पर एक दूसरे के भुज-पाश में आलिंगित होकर बिना कुछ कहे भी सब कुछ जानते हुए, अपने सुविचारित मन्त्र (मन्त्रणा) से शत्रु के जाल को छिन्न-भिन्न कर दिया (विचारों के धरातल पर क्षत्रपति बन्धनमुक्त हो गये, उपाय का विचार ने सर्वथा अनुमोदन किया), अब उसी मन्त्र (उपाय) को कार्यरूप में प्रतिष्ठित करने की इच्छा करने लगे ॥ १३३ ॥

अथ प्रयाते भवनाद् भिषग्वरे शिवे प्रसादः समवाप गौरवम् ।
निरूपितं तद्रिपुभूपरक्षिभिर्निरन्तरहेतुशिवाजिसत्कृतैः ॥१३४॥

अथ भिषग्वरे भवनात् प्रयाते, शिवे प्रसादः गौरवं समवाप तत् निरन्तराहेतुशिवाजि-सत्कृतैः रिपुभूपरक्षिभिः निरूपितम् ॥ १३४ ॥

महल से वैद्यराज के चले जाने पर, क्षत्रपति कुछ रोगमुक्त-से प्रतीत होने लगे। लगता था कि वैद्य की औषध प्रभावकारी थी। उनका मुखमण्डल प्रसन्नता से खिल उठा। शत्रु दिल्लीपति द्वारा पहरे पर नियुक्त तथा क्षत्रपति द्वारा अकारण भी सदैव सत्कृत (इनाम आदि द्वारा) रक्षकों, पहरेदारों ने भी इस परिवर्तन को लक्षित किया ॥ १३४ ॥

यथोपदिष्टं सुहृदाऽनुवर्तयन् नृपः स्वनैरुज्यमपेतसंशयः ।
प्रचारयामास समिष्टभाजनैर्जनेषु सामन्तगृहोन्मुखैर्द्रुतम् ॥१३५॥

सुहृदा यथोपदिष्टम् अनुवर्तयन् अपेतसंशयः नृपः द्रुतं सामन्तगृहोन्मुखैः समिष्टभाजनैः स्वनैरुज्यं जनेषु प्रचारयामास ॥ १३५ ॥

मित्र (तानाजी मालसुरे) ने जैसा कहा था क्षत्रपति ने वैसा ही करना आरम्भ किया। निश्चिन्तभाव से सम्मान्य सामन्तों एवं रजवाड़ के यहाँ मिठाइयों के टोकरे भिजवाकर क्षत्रपति ने अपने रोगमुक्त होने का समाचार चारों ओर लोगों में प्रचारित करा दिया ॥ १३५ ॥

मठेषु देवायतनेषु साधुषु विशेषतो विश्वजनीनभूतिषु ।
निकाममाधुर्यरसैरिवाङ्कितं पदं प्रसादप्रवणैः सुमोदकैः ॥१३६॥

मठेषु देवायतनेषु विशेषतः विश्वजनीनभूतिषु साधुषु निकाममाधुर्यरसैः प्रसादप्रवणैः सुमोदकैः पदम् अङ्कितम् इव ॥ १३६ ॥

मठों, देवमन्दिरों, विशेष करके सर्वलोकमयी दृष्टिवाले महात्माओं के यहाँ अत्यन्त मधुर रस से पूर्ण प्रसादनिर्भर मिठाइयों ने अपना घर-सा बना लिया ॥ १३६ ॥

नृपानुवर्त्माऽपि तदेकरूपतां दधद् भृशं विस्मयमाततान यः ।
हिरोजि[1]रात्मानमसौ स्वबन्धवे निवेदयन्नित्थमुवाच साग्रहम् ॥१३७॥

यः नृपानुवर्त्मा अपि तदेकरूपतां दधत् विस्मयम् आततान असौ हिरोजिः स्वबन्धवे साग्रहम् आत्मानं निवेदयन् इत्थम् उवाच ॥ १३७ ॥

क्षत्रपति से एकदम मिलते-जुलते (स्वरूप में) उनके अति विश्वस्त, उनके सौतेले भाई हिरोजी थे। उस हिरोजी ने क्षत्रपति के लिए अपना प्राण देने का संकल्प लेकर उनसे प्रार्थना करते हुए आग्रहपूर्वक इस प्रकार कहा ॥ १३७ ॥

अनामिकेयं बहुशस्तवोर्मिकामवेक्ष्य नान्यासु दधाति कामनाम् ।
तवोज्झितं तल्पमिदं वपुश्च मे मुहुर्मुहुः पश्यति देव ! सेवितुम् ॥१३८॥

देव, इयम् अनामिका तव ऊर्मिकां बहुशः अवेक्ष्य अन्यासु कामनां न दधाति, मे वपुः च इदं तव उज्झितं तल्पं सेवितुं मुहुः मुहुः पश्यति ॥ १३८ ॥

महाराज ! मेरी यह अनामिका उँगली आपकी अँगूठी को देखकर अब किसी भी दूसरी अँगूठी को नहीं चाहती तथा मेरा शरीर बार-बार यही चाहता है कि जिस बिस्तर पर आप सोते रहे हैं उसी पर सोये ॥ १३८ ॥

अयाचितोपात्तमनोरथे मयि न कापि कुत्रापि रुरोह कामना ।
परं क्षमस्वाविनयं ममाधुना विभो यथापूर्वमनुग्रहैः प्रियैः ॥१३९॥

विभो, अयाचितोपात्तमनोरथे मयि कुत्र अपि का अपि कामना न रुरोह परम् अधुना यथापूर्वं प्रियैः अनुग्रहैः मम अविनयं क्षमस्व ॥ १३९ ॥

देव ! बिना माँगे ही हमारा मनोरथ सदा पूर्ण होता रहा है अतः कहीं भी कभी कोई कामना मेरे मन में उत्पन्न न हो सकी। किन्तु महाराज ! आज मेरे

---

१. हिरोजी- वैमात्रो बन्धुः क्षत्रपतेः, नितरामनुरक्तः तदाकृतितुल्यश्च लोके भ्रममुत्पादयामास ।

इस अविनय को क्षमा करें और सदा की भाँति आज यह अनुग्रह करें कि मुझे अपनी अँगूठी तथा इस पलंग पर सोने की आज्ञा दे दें क्योंकि सदैव ही आप मुझ पर कृपालु रहे हैं ॥ १३९ ॥

क्षमोऽस्ति सङ्ख्यातुमसङ्ख्ययोगिनः स्वतन्त्रतायागबलीन्नरेन्द्र कः ।
ममाल्पपुण्यस्य कृते तदुद्यमः कदापि मा भूदफलोदयक्रियः ॥१४०॥

नरेन्द्र, स्वतन्त्रतायागबलीन् असङ्ख्ययोगिनः सङ्ख्यातुं कः क्षमः अस्ति, तत् उद्यमः अल्पपुण्यस्य मम कृते कदापि अफलोदयक्रियः मा भूत् ॥ १४० ॥

प्रजानाथ ! स्वतन्त्रता-संघर्ष में बलिदान होनेवाले उन असंख्य देशवीरों को गिनती करने में कौन समर्थ हो सकता है। अतः आज मुझ जैसे अल्पपुण्य के मोह में पड़कर आप उस महान् यज्ञ की उपेक्षा न करें। मेरे पति मोह करके आप उस महान् उद्देश्य को निष्फल न होने दें ॥ १४० ॥

ध्रुवं महाराज विधौ विधिक्षमाः क्षणा जिगीषोरहतोद्यमा इमे ।
अतो महाराष्ट्रधरा समीहितां बिभर्तु लक्ष्मीं समयेङ्गितादरा ॥१४१॥

महाराज, विधौ विधिक्षमा जिगीषोः इमे क्षणाः ध्रुवम् अहतोद्यमाः, अतः समयेङ्गितादरा महाराष्ट्रधरा समीहितां लक्ष्मीं बिभर्तु ॥ १४१ ॥

महाराज, आप असमञ्जस में न पड़ें। विजेता के लिए उत्कृष्ट उद्यमवाले इन क्षणों का अत्यधिक मूल्य है। ये दो-चार क्षण उचित ढंग से प्रयुक्त होने पर महान् कल्याणकारी सिद्ध होते हैं। अतः महाराष्ट्र की वसुधा अपनी अभिलषित कल्याण-परम्परा को, समय के संकेत का समुचित आदर करती हुई, अवश्य प्राप्त करे ॥ १४१ ॥

शपे तया जन्मभुवा वयं यया प्रसीद सिद्ध्यै कुरु देव चेष्टितम् ।
इति ब्रुवन्नात्ममनोरथप्रदौ बभार भूभृच्चरणौ स्ववक्षसि ॥१४२॥

देव, यया वयं तया जन्मभुवा शपे, प्रसीद सिद्ध्यै चेष्टितं कुरु इति ब्रुवन् आत्ममनोरथप्रदौ भूभृच्चरणौ स्ववक्षसि बभार ॥ १४२ ॥

जिस जन्मभूमि ने हमें उत्पन्न किया है आपको उसी की शपथ है। आप कृपालु हों, मेरी इच्छा पूर्ण हो और आप विजय प्राप्त करें। इतना कहते हुए हिरोजीने अपनी अभिलाषा पूर्ण करनेवाले क्षत्रपति के चरण अपने छाती से लगा लिये ॥१४२॥

व्यपेतशङ्केन पथेत्थमुत्सुको भटेषु विस्रम्भभरेष्वरातिषु ।
अनामिकां नामिकया श्रियाऽश्रयद्धिरोजिरादाय नृपाङ्गुलीयकम् ॥१४३॥

इत्थं व्यपेतशङ्केन पथा विस्रम्भभरेषु अरातिषु भटेषु उत्सुकः हिरोजिः नृपाङ्गुलीयकम् आदाय अनामिकां नामिकया श्रिया अश्रयत् ॥ १४३ ॥

इस प्रकार जब शत्रु-सैनिक विश्वासपूर्वक निश्चिन्त थे, हिरोजी ने उत्कण्ठा-पूर्वक राजा को अँगुली से अँगूठी लेकर निश्शंक भाव से अपनी अनामिका (बिना नामवाली) को नामिका (नामवाली, विशिष्टख्यातिपूर्ण) शोभा से संयुक्त कर दिया ॥ १४३ ॥

चिरं समारोप्य तमार्यवक्षसि विधेयदृष्टिः ससुतस्ततः शिवः ।
लयन्निवाङ्गे हृदि संस्मरन् शिवामुपाविशन्मोदकपेटके स्वयम् ॥१४४॥

तम् आर्यवक्षसि चिरं समारोप्य विधेयदृष्टिः ससुतः शिवः ततः अङ्गे लयन् इव शिवां संस्मरन् मोदकपेटके स्वयम् उपाविशत् ॥ १४४ ॥

देश के लिए, स्वामी के लिए, स्वतन्त्रता के लिए प्राणों की बाजी लगानेवाले हिरोजी को चिरकाल तक अपने हृदय से लगाकर, कार्यगौरव को जाननेवाले क्षत्रपति ने पुत्र के साथ माँ भवानी को हृदय में स्मरण करते हुए तथा अपने अंगों में विलीन होते (सिकुड़ते) हुए मिठाईवाले टोकरे में प्रवेश किया (शम्भाजी दूसरे टोकरे में बिठाये गये ।) ॥ १४४ ॥

पथावधिर्नो जयसिंहमन्दिरं निशम्य ते भाजनदैर्घ्यविस्मिताः ।
मिथः सहासं जगदुद्विषद्भटा महोद्यमानां महदेव भाजनम् ॥१४५॥

'जयसिंहमन्दिरं नौ पथावधिः' (इति) भाजनदैर्घ्यविस्मिताः ते द्विषद्भटाः निशम्य मिथः सहासं जगदुः महोद्यमानां भाजनं महत् एव ॥ १४५ ॥

'हम लोग मिर्जा राजा जयसिंह के महल को जा रहे हैं' कहारों के मुँह से ऐसा सुनकर तथा टोकरों के आकार से विस्मित होते हुए शत्रु-सैनिकों, पहरेदारों ने आपस में हँसकर कहा, 'ठीक है, बड़े लोगों के पात्र भी (टोकरे भी) बड़े होते हैं' ॥ १४५ ॥

सशङ्कितं नन्दितरक्षिणोऽध्वनि विहङ्गगत्यैव विहङ्गिकाजुषः ।
अभीष्टदेशं यममन्दिरादिव बलाद् गृहीतासुधना विनिर्गताः ॥१४६॥

विहङ्गिकाजुषः अध्वनि नन्दितरक्षिणः सशङ्कितं विहङ्गगत्या एव गृहीतासुधनाः यममन्दिरात् इव बलात् अभीष्टदेशं विनिर्गताः ॥ १४६ ॥

मार्ग में पहरेदारों से बेरोकटोक आगे बढ़ते हुए अति सशंक वे बहँगी ढोनेवाले, पक्षी की गति से—मानो यमराज के घर से प्राणधन ही वापस लेकर जा रहे हों—निश्चित स्थान (सकेतस्थल) की ओर चले गये ॥ १४६ ॥

यथोपदिष्टाः क्रमशः सहायिनः प्रसूनमासे विरते खगा इव ।
नृपे गते चूतवनोपमं गृहं विमुच्य जग्मुः परितो दिशां मुखे ॥१४७॥

प्रसूनमासे विरते खगाः इव नृपे गते यथोपदिष्टाः सहायिनः चूतवनोपमं गृहं विमुच्य परितः दिशां मुखे जग्मुः ॥ १४७ ॥

जिस तरह पुष्पमास, वसन्त के बीत जाने पर पंछी आम के बगीचों को त्यागकर दिगन्त में विभिन्न दिशाओं में उड़ जाते हैं उसी प्रकार राजा शिवाजी के चले जाने पर उनके साथी भी पूर्व-निश्चय के अनुसार आम के बगीचे के समान उस घर को तुरन्त छोड़कर वहाँ से गन्तव्य स्थानों की ओर चले गये ॥ १४७ ॥

शिवासने सुप्तजनस्य लम्बितं करं समुद्रं परिलक्ष्य रक्षिणः ।
तमेव भूपं विविदुः पुरा यथा व्यपेतशङ्काः स्थितिगौरवादराः ॥१४८॥

रक्षिणः शिवासने सुप्तजनस्त लम्बितं समुद्रं करं परिलक्ष्य पुरा यथा स्थितिगौरवादराः व्यपेतशङ्काः तम् एव भूपं विविदुः ॥ १४८ ॥

पहरेदारों ने क्षत्रपति के बिस्तर पर सोये हुए व्यक्ति के लटकते हुए अँगूठी-युक्त हाथ को देखकर बीमारी के कारण विशेष छान-बीन न करते हुए, उस व्यक्ति को पहिले ही के समान, निश्शंक हृदय से क्षत्रपति ही समझा और निश्चिन्त पहरा देते रहे ॥ १४८ ॥

ततो द्वितीयेऽह्नि महात्मगौरवो हिरोजिरुत्थाय बहिर्गतः क्षणात् ।
स्वनिर्जनत्वं परिवीक्ष्य तद्गृहं हतश्रि निर्जीवमिवाभवद्वपुः ॥१४९॥

ततः द्वितोये अह्नि महात्मगौरवः हिरोजिः उत्थाय क्षणात् बहिर्गतः, तत् गृहं स्वनिर्जनत्वं परिवीक्ष्य हतश्रि निर्जीवं वपुः इव अभवत् ॥ १४९ ॥

दूसरे दिन अति यशस्वी, उदाराशय हिरोजी बिस्तर से उठकर क्षण भर में बाहर निकल गये। अपनी निर्जनता (शून्यता) को देखकर अब वह महल इस प्रकार शोभाहीन हो गया मानो कोई निष्प्राण, निर्जीव शरीर हो ॥ १४९ ॥

गृहेण शून्येन निबोध्य शून्यतां निरुद्धवाचः परिशून्यचेतसः ।
निपत्य शून्यं विदधुः स्वसूचितैर्विमूढ[1]फुल्लादममोघशस्त्रिणः ॥१५०॥

शून्येन गृहेण शून्यतां निबोध्य निरुद्धवाचः परिशून्यचेतसः अमोघशस्त्रिणः निपत्य स्वसूचितैः विमूढफुल्लादं शून्यं विदधु ॥ १५० ॥

उस महल के सूनेपन के कारण उसे सूना जानकर (जाँच कर लेने के बाद) घबराहट से विकल सूने हृदयवाले उन सैनिकों ने अपनी सूचना से (कि महल से शिवाजी निकल भागे) मन्दबुद्धि फौलादखाँ को हक्का-बक्का कर दिया [फौलाद खाँ उन सैनिकों के अफसर थे जिन पर क्षत्रपति की चौकसी करने का दायित्व था।] ॥ १५० ॥

उपर्यधस्तल्पतले गवाक्षके बिले वलभ्यां जलनालिकासु वा ।
अनासन्नत्रो भयकातरो ह्यसौ जगाम भूपं निपतन्निवाध्वनि ॥१५१॥

१. फौलादखान.—विश्वस्तो दिल्लीपतेः । तस्यैव सैनिका शिवसौधस्य रक्षिणः परितो भवनमासन् ।

उपरि अधः तल्पतले गवाक्षके विले वलभ्यां जलनालिकासु वा अनासूत्रः भयकातरः हि असौ अध्वनि निपतन् इव भूपं जगाम ॥ १५१ ॥

और दौड़ते हुए महल में आकर फौलाद खाँ ने महाराज शिवाजी को खोजना (ढूँढ़ना) आरम्भ किया। ऊपर, नीचे, बिस्तर के नीचे, झरोखों में, छत के नीचे, बिल में, पानी बहानेवाली नालियों में, कहीं भी कोई सूत्र न मिला। भय से काँपता रास्ते में घबराहट के मारे गिरता-पड़ता फौलाद खान बादशाह के पास पहुँचा ॥ १५१ ॥

धरैककीर्ते शिरसि स्थिरं प्रभो यथार्हमापातय दण्डमस्मि ते।
अलक्षिताङ्गो बिलवर्त्मनाऽथवा विहायसाऽसौ ससुतः पलायितः ॥१५२॥

धरैककीर्ते, प्रभो, शिरसि यथार्हं स्थिरं दण्डम् आपातय ते अस्मि अलक्षिताङ्गः बिलवर्त्मना अथवा विहायसा असौ ससुतः पलायितः ॥ १५२ ॥

जहाँपनाह, मेरे मालिक, मैं खतावार हूँ, मुझसे गलती हुई, मुझे सजा मिले, भारी से भारी, कड़ी से कड़ी सजा मिले। हमारे सैनिक पहरे पर डटे रहे फिर भी वह शिवाजी अपने बेटे के साथ अपने शरीर को अलक्षित करके जमीन के अन्दर से या आसमान से कहीं भाग गया ॥ १५२ ॥

हठादधिक्षिप्य भटानुदायुधान् मनोगतिर्वायुरिवास्तबन्धनः।
गुरूपदिष्टाञ्जनशीलितेक्षणः क्षणाद् विलुप्तः सहसा प्रयोगवित् ॥१५३॥

उदायुधान् भटान् हठात् अधिक्षिप्य मनोगतिः वायुः इव अस्तबन्धनः प्रयोगवित् गुरूपदिष्टाञ्जनशीलितेक्षणः सहसा क्षणात् विलुप्तः ॥ १५३ ॥

हमारे फौजी हथियार लिए पहरे पर मुस्तैद थे। उनकी जरा भी परवाह न करके हवा की तरह, सब बन्धनों से निकलकर मन की गति से, अपने उस्ताद के बताये हुए सुरमे को आँखों में लगाकर एक लहमे में एक-ब-एक नजरों से ओझल (गायब) हो गया। वह जादूगर है, जादू करना खूब जानता है ॥ १५३ ॥

महीध्रकूटान्नृपतिः पतन्निव जवादसम्बद्धकथं कथञ्चन।
निवार्य वज्रेण हृदीव ताडितः स्थितोऽपि शाखीव हतप्रभोऽभवत् ॥१५४॥

महीध्रकूटात् पतन् इव नृपतिः असम्बद्धकथं जवात् कथञ्चन निवार्य वज्रेण हृदि इव ताडितः स्थितः अपि शाखी इव हतप्रभः अभवत् ॥ १५४ ॥

बादशाह को ऐसा लगा मानो वह पहाड़ की चोटी से गिर पड़ा हो, उपपटांग बकवास करनेवाले उस फौलाद खान को डाँटकर चुप कराया। वह इतना श्रीहीन हो गया जैसे बिजली गिरने के कारण कोई अधजला शोभारहित वृक्ष हो ॥ १५४ ॥

हठाच्चिरिण्टीव सुगोपिताऽप्यसौ जरावतश्चञ्चलयौवनाङ्गना।
नरेशकीर्तिः प्रसभोन्मदाऽऽकुला शिवेन मध्येगृहमाहृता द्विषा ॥१५५॥

सुगोपिता अपि असौ चिरिण्टी इव जरावतः चञ्चलयौवनाङ्गना प्रसभोन्मदा आकुला नरेशकीर्तिः द्विषा शिवेन मध्ये गृहम् आहृता ॥ १५५ ॥

जैसे किसी बूढ़े आदमी की अविवाहिता बड़ी आयु की युवती कन्या को कोई घर के भीतर से हरण कर चला जाय उसी प्रकार बादशाह की मदोत्कट कीर्ति को सुरक्षित महल के भीतर से शत्रु अपने साथ लेकर चला गया ॥ १५५ ॥

पतिष्णु कम्पाद् हृदयं स्ववक्षसि यदग्रहीदेकरेण पार्थिवः ।
ततोऽपनेतुं नियतं तमायुषि कदापि कुत्रापि शशाक नैव सः ॥१५६॥

पार्थिवः कम्पात् पतिष्णु हृदयं यत् एककरेण अग्रहीत् तम् नियतम् आयुषि ततः अपनेतुं सः कदापि कुत्र अपि न शशाक एव ॥ ५६ ॥

अपनी छाती के भीतर अतिशय कम्पित होने के कारण पतनोन्मुख हृदय को सम्भालने के लिए बादशाह ने अपने हाथ को छाती पर रखा, सचमुच उस हाथ को छाती पर से हटाने में बादशाह कहीं भी कभी भी समर्थ न हुआ । [बादशाह जीवन में कभी भी इस ग्लानिपूर्ण पश्चात्ताप से मुक्त न हो सका] ॥ १५६ ॥

गते सुधाम्नो बहिरार्यभूपतौ कलङ्करेखा रिपुभाग्यलङ्घिनी ।
विषादवृत्तिः समुपोढविभ्रमा लिलिम्प दिल्लीशमुखं स्वकश्मलैः ॥१५७॥

आर्यभूपतौ सुधाम्नः बहिः गते रिपुभाग्यलङ्घिनी समुपोढविभ्रमा विषादवृत्तिः कलङ्करेखा स्वकश्मलैः दिल्लीशमुखं लिलिम्प ॥ १५७ ॥

उस सुन्दर महल से प्रजानाथ क्षत्रपति के बाहर चले जाने पर शत्रु (बादशाह) के भाग्य को कदर्थित करनेवाली अपयश की छाया ने क्रमशः अधिकाधिक प्रभाव बढ़ाते हुए अपने विषादमय स्वभाव से दिल्लीपति के मुखमण्डल को अपनी कालिमा से ढक दिया [ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये, औरंगजेब की धूर्तता और मक्कारी का भण्डाफोड़ होता गया तथा उसका कलङ्क चारों ओर फैलता गया ।] ॥ १५७ ॥

क्षणेन पद्यास्वखिलासु सादिनस्त्वरानुलीढाः प्रतिदक्षिणापथम् ।
स्वरक्षिलोकानवधातुमाकुलाः शिवात्मिकाया विपदो विनिर्ययुः ॥१५८॥

क्षणेन प्रतिदक्षिणापथम् अखिलासु पद्यासु त्वरानुलीढाः आकुलाः सादिनः शिवात्मिकायाः विपदः स्वरक्षिलोकान् अवधातुं विनिर्ययुः ॥ १५८ ॥

और इस घटना के क्षण भर बाद ही तेज घुड़सवार बड़ी शीघ्रता से दक्षिण दिशा के हर रास्ते पर दौड़ पड़े । वे स्थान-स्थान पर नियुक्त अपने रक्षकों को शिव-रूपी विपत्ति से सावधान करने के लिए व्याकुल थे ॥ १५८ ॥

ध्रुवं महाराष्ट्रभुवः स्वतन्त्रतां निजाधिबाधां निधनञ्च शस्त्रिणाम् ।
अमन्यतारिज्वलने ज्वलन्निव निसर्गसिद्धामवनीश्वरे गते ॥१५९॥

अवनीश्वरे गते ज्वलने ज्वलन् इव अरिः महाराष्ट्रभुवः स्वतन्त्रतां निजाधिबाधां शस्त्रिणां निधनं च ध्रुवं निसर्गसिद्धाम् अमन्यत ॥ १५९ ॥

क्षत्रपति के अपने जाल से बिल्कुल अछूते मुक्त होकर निकल जाने के कारण चिन्तित बादशाह को कुछ बातों की सम्भावना में अब कोई सन्देह न रहा ! बादशाह ने चिन्ता और शोक में सुलगते हुए इसे सहज सिद्ध मान लिया कि दक्षिण की स्वतन्त्रता को कोई रोक नहीं सकता। बादशाह की मानसिक अशान्ति, मनोव्यथा उत्तरोत्तर बढ़ेगी तथा सैनिकों का व्यर्थ निरुद्देश्य सहार होगा ॥ १५९ ॥

असौ महाचण्डबलस्य भूपतेरभीष्टवत्सोदयनोदितश्रिया ।
समेधितो वासवदत्तया यथा स्वतन्त्रतासिद्धिपथे शिवोऽचलत् ॥१६०॥

महाचण्डबलस्य भूपतेः अभीष्टवत्सोदयनोदितश्रिया वासवदत्तया यथा समेधितः असौ शिवः स्वतन्त्रतासिद्धिपथे अचलत् ॥ १६० ॥

यह श्लोक अनेकार्थक है—अनेक सम्भाव्य अर्थ हो सकते हैं अतः कुछ पदों का अनेकार्थ उपयोगी होगा।

महाचण्डवल-(I) महासेन या महाचण्डसेन या चण्डसेन—उज्जयिनी का राजा, राजकुमारी वासवदत्ता के पूज्यपिता। महान् पराक्रमी सेना रखने के कारण ये चण्डसेन कहलाते थे। (II) शक्तिशाली-सेनावाला।

अभीष्टवत्सोदयनोदितश्रिया —I—अभीष्ट + वत्सोदय + नोदित + श्रिया।

II अभीष्ट + वत्सा + उदयन + उदित + श्रिया।

III अभीष्ट + वत्स + उदयन + उदितश्रिया।

(१) वत्सराज्य के अभ्युदय से प्रेरित शोभावाली।

(२) प्यारी कन्या वासवदत्ता के उदयनपरक अनुराग के कारण उल्लसित कान्ति से।

(३) उत्कृष्ट सम्भाव्य जामाता उदयन की प्राप्ति से सम्पृक्त मन में चित्रित पुत्री की कान्ति से।

(४) उत्तम सन्तान-प्राप्ति की प्रेरणा से कान्तिपूर्ण, आदि।

वासवदत्तया—I वा + आसवदत्तया—अथवा सुरा से अनुमोदित।

II—वासव + दत्तया = इन्द्र द्वारा समर्पित कान्ति से।

उदयन—वत्स देश के राजा थे। उज्जयिनी में नजरकैद रहते हुए वहाँ की राजकुमारी वासवदत्ता को अपने साथ लेकर चुपके से अपने राज्य में भाग आये। महत्कवि भास तथा अन्य कवियों ने इन्हें अपना काव्य-विषय बनाया है। 'मेघदूत' में महाकवि कालिदास ने भी इस कथा का उद्धरण दिया है।

'प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सराजोऽत्र जह्रे'।...(मेघ) अतः बिना गौरव के, बिना विस्तार के सामान्यार्थ यों है—

इस प्रकार वे क्षत्रपति, महापराक्रमी सेनावाले बादशाह की, अभीष्ट-पुत्रोत्सव का आनन्द देनेवाली, इन्द्र द्वारा प्रदत्त (पराक्रम एवं कौशल द्वारा प्राप्त) कीर्ति-लक्ष्मी के साथ स्वातन्त्र्य-सिद्धि की प्राप्तिवाले मार्ग पर अग्रसर हुए।

(प्रकारान्तर से छः सात बड़े सुन्दर अर्थ निकलते हैं) ॥ १६० ॥

मुक्तो बन्धाद्विहङ्गः प्रतिगगनमुखं सञ्चरञ्शङ्कितोऽपि
देशं गच्छन् प्रवासाद् दिशि दिशि सुचिरात् प्रक्षिपन्नाधिभारम्।
मृत्योर्हस्ताद् विनष्टः प्रियजननयनं नन्दयन्नश्रुसिक्तं
सोऽसौ जानाति नूनं क्षणमिह सुकृती जीवितं जीवितस्य ॥१६१॥

बन्धात् मुक्तः विहङ्गः शङ्कितः अपि प्रतिगगनमुखं सञ्चरन् सुचिरात् प्रवासात् देशं गच्छन् दिशि दिशि आधिभारं प्रक्षिपन् मृत्योः हस्तात् विनष्टः अश्रुसिक्तं प्रियजननयनं नन्दयन् नूनम् इह सः असौ सुकृती जीवितस्य जीवितं क्षणं जानाति ॥ १६१ ॥

वह पंछी जो भाग्यवश बन्धन से मुक्त होकर (अपने प्रयास से) आकाश में उड़ता हुआ, भयशंकित होकर भी दीर्घकालीन प्रवास के बाद अपने घोंसले (आवास-स्थान) की दिशा में बढ़ता तथा प्रतिक्षण अपनी मानसिक यन्त्रणा के भार को फेंकता हुआ, मृत्यु के मुख से बचकर निकला हुआ, अश्रुनिर्भर अपने प्रियजनों की आँखों को आनन्दनिमग्न करता है वही पुण्यात्मा वस्तुतः जीवन को भी जीवित करनेवाले इन क्षणों का यथार्थ अनुभव कर सकता है ॥ १६१ ॥

इति श्रीत्रिपाठ्युपाह्वेन उमाशङ्करशर्मणा विरचिते
क्षत्रपतिचरित-महाकाव्ये चतुर्दशः सर्गः।

अथ पञ्चदशः सर्गः

[महाराज क्षत्रपति ने अद्भुत आत्मसंयम साहस एवं कौशल से क्रूर शत्रु को उसके घर में ही परास्त करके वेष बदल कर दक्षिण का मार्ग पकड़ा—औरंगजेब के घुड़सवार सैनिक दक्षिण जानेवाली प्रत्येक सड़क पर छा गये। महाराज को उन सैनिकों से बचते हुए अपना मार्ग तय करना पड़ा।

प्रायः इतिहासकारों में इस पर सहमति नहीं है कि महाराज ने कौन मार्ग पकड़ा तथा किस प्रकार महाराष्ट्र पहुँचे किन्तु यह सभी मानते हैं कि तीर्थ यात्रियों के रूप में तीर्थों में घूमते वृन्दावन, प्रयाग, वाराणसी, विन्ध्याचल होते हुए वे साधु वेष में महाराष्ट्र की ओर अग्रसर हुए। यह मान लेना पड़ता है कि उन्होंने प्रचलित मार्ग को छोड़कर अन्य मार्गों का अवलम्बन किया होगा। मथुरा में ही बीमार शम्भाजी को महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों की देख-रेख में सौपना पड़ा। उन लोगों ने भी प्राणों की बाजी लगाकर उस धरोहर को महाराज के पहुँचने के कुछ दिनों बाद ही महाराष्ट्र पहुँच कर महाराज को सौंप दिया।

दक्षिण में मुगल कूटनीति की यह अन्तिम पराजय थी। प्रस्तावित सर्ग में महाराज क्षत्रपति का निष्क्रमण प्रकृति के साहचर्य में अति सजीव हो उठा है।]

कारागृहान्निर्गतः सगणः क्षत्रपतिः प्रच्छन्नवेषो दिल्लीपतेरन्वेषणप्रयत्नं मोघीकुर्वन् मथुरादिषु तीर्थेषु पर्यटन् काश्यां विश्वेश्वरं समर्च्य निगूढं विविधान्तरायानुत्तीर्य महाराष्ट्र-भुवमाजगाम।

जटाः पिशङ्गीः परिलम्बि कूर्चं स्थूलं कषायाम्बरमादधानः।
शिखीव भस्मान्तरितात्मवृत्तिर्भावस्थिरोऽभादधिपः प्रजानाम् ॥ १ ॥

पिशङ्गीः जटाः परिलम्बि कूर्चं स्थूलं कषायाम्बरम् आदधानः प्रजानाम् अधिपः भस्मान्तरितात्मवृत्तिः शिखी इव भावस्थिरः अभात् ॥ १ ॥

भूरी पीली जटाओं को धारण किये, लम्बी दाढ़ीवाले, मोटे गेरुए रङ्ग का चोला पहने, राख में ढके हुए अग्नि के समान अपने स्वभाव में स्थित प्रजानाथ क्षत्रपति सुशोभित हो रहे थे।

[यह सर्ग कारागृह से मुक्त होकर दक्षिणापथ की ओर बढ़नेवाले क्षत्रपति की यात्रा से सम्बद्ध है। जैसा कि पूर्वसर्ग से स्पष्ट है कि क्षत्रपति का आगरे से निकल जाना बादशाह के लिए भयंकर सदमा था। वह मृत्युपर्यन्त अपने को इसके लिए क्षमा न कर सका। क्षत्रपति को रास्ते में ही पकड़वा लेने के लिए अथक प्रयत्न हुआ, दक्षिण के मार्गों को छान लिया गया किन्तु क्षत्रपति को पकड़ना अब सरल न था। वे मुख्य मार्ग से बचते हुए प्रच्छन्न वेष में सकुशल अपने राज्य में वापस पहुँच गये।] ॥ १ ॥

सर्वंसहः साहससिद्धमूर्तिस्तपस्विवेषोऽपि वृतावधानः ।
लोकस्थितिं द्रष्टुमनाः सुगुप्तो धर्मो यथाऽसौ विचचार भूमिम् ॥ २ ॥

सर्वंसहः साहससिद्धमूर्तिः तपस्विवेषः अपि वृतावधानः सुगुप्तः धर्मः यथा लोकस्थितिं द्रष्टुमनाः असौ भूमिं विचचार ॥ २ ॥

अतिशय सहिष्णु, क्षमाशील साथ, ही साथ साहस के अद्वितीय आश्रयस्थल, तपस्विजनोचित वेष में रहते हुए भी आत्मरक्षा में सतत अवधानपूर्ण वे क्षत्रपति इस प्रकार पृथिवी पर विचर रहे थे जैसे धर्म ही मनुष्य-वेष में प्रच्छन्न भाव से संसार की गति-विधि देखने के लिए घूम रहा हो ॥ २ ॥

विभ्रद्वपुस्तापसनिर्विशेषं निरस्ततन्द्रिर्द्विषदिङ्गितेषु ।
स्मरन् महाराष्ट्रजनानुतापं नृपस्ततापाद्रिरिवान्तरग्निः ॥ ३ ॥

तापसनिर्विशेषं वपुः बिभ्रत् द्विषदिङ्गितेषु निरस्ततन्द्रिः महाराष्ट्रजनानुतापं स्मरन् अन्तरग्निः अद्रिः इव नृपः तताप ॥ ३ ॥

तपस्विजनों के समान शरीर धारण किये, सर्वदा आलस्यविहीन होकर शत्रु के इङ्गित, उनकी गतिविधि से सावधान होकर, महाराष्ट्र की जनता के दुःखों की स्मृति से विवश क्षत्रपति भीतर ही भीतर इस प्रकार सन्तप्त हो रहे थे जैसे अपने भीतर की अग्निज्वाला से सुलगता हुआ पर्वत हो ॥ ३ ॥

कूजद्द्विजोद्गीथमनोज्ञसूक्तान् ब्रह्मर्षिजुष्टाननघाभिषेकान् ।
श्रयन्महातीर्थविविक्तदेशान् योगीव लोकानवलोकितामः ॥ ४ ॥

कूजद्द्विजोद्गीथमनोज्ञसूक्तान् ब्रह्मर्षिजुष्टान् अनघाभिषेकान् महातीर्थविविक्तदेशान् लोकानवलोकितामः योगी इव श्रयन् ॥ ४ ॥

ब्राह्मणों के द्वारा मधुरस्वर में उच्चारित उद्गीथ सूक्तों के गान से सम्भृत, ब्रह्मज्ञानपूर्ण महात्माओं से संसेवित निष्पाप, कल्याणमय अभिषेकों (स्नानादि) से उपकृत होते हुए, पवित्र स्थानोंवाले (एकान्त आश्रमोंवाले) महातीर्थों में घूमते हुए वे क्षत्रपति योगी के समान समाज से सर्वथा अलक्ष्यभाव रहते हुए (समाज उनके गुप्त वेश के कारण उनके प्रभावादि से सर्वथा अनभिज्ञ था) ॥ ४ ॥

अचिन्त्यवर्त्मानुचरोऽरिचारान् मोहाभिचारानिव कल्पयन् सः ।
शरीरषड्वर्गरिपून् निरुन्धन् स्वलक्ष्यनिष्ठोऽयततात्ममार्गम् ॥ ५ ॥

अरिचारान् मोहाभिचारान् इव कल्पयन् शरीरषड्वर्गरिपून् निरुन्धन् स्वलक्ष्यनिष्ठः अचिन्त्यवर्त्मानुचरः आत्ममार्गम् अयतत ॥ ५ ॥

दूसरों के लिए सर्वथा अचिन्त्य अप्रतर्क्य मार्ग पर चलते हुए, शत्रु के गुप्तचरों को उद्वेगकारक प्रयोगों के समान समझते हुए, काम-क्रोध आदि शरीर के छः शत्रुओं

को रोकते हुए, संयत करते हुए, लक्ष्य में सम्पूर्ण निष्ठा से निर्दिष्ट पथ पर महाराज क्षत्रपति बढ़े जा रहे थे ॥ ५ ॥

व्रजभूमिं वर्णयति—

तमन्तरङ्गो व्रजभूमिमार्गे यथार्थमासेवितदेशवर्त्मा ।
पिबन्तमुत्कुण्ठितदृष्टिपात्रे वनान्तसौन्दर्यमिवाबभाषे ॥ ६ ॥

व्रजभूमिमार्गे यथार्थम् आसेवितदेशवर्त्मा अन्तरङ्गः उत्कण्ठितदृष्टिपात्रे वनान्तसौन्दर्यं पिबन्तम् इव तम् आबभाषे ॥ ६ ॥

व्रजमण्डल के मार्ग पर चलनेवाले उस क्षत्रपति को, वहाँ की हरिद्वर्णा वन की अनिर्वचनीय शोभा को विस्मय-विमुग्ध दृष्टि में सँजोते हुए—मानो वे उस सौन्दर्य को नेत्ररूपी पात्र में ढालकर पी रहे हों—देखकर, वहाँ की स्थानीय स्थिति से सर्वथा परिचित, उनके अन्तरंग साथी ने कहा ॥ ६ ॥

पुष्पैः स्खलद्भिर्विहगैः सरावैर्मन्दं पतद्भिर्गिरिनिर्झरैश्च ।
सिद्धप्रचारैः समवेतसत्त्वैराकर्षतीवाध्वजनान् वनश्रीः ॥ ७ ॥

स्खलद्भिः पुष्पैः सरावैः विहगैः मन्दं पतद्भिः गिरिनिर्झरैः सिद्धप्रचारैः समवेतसत्त्वैः च वनश्रीः अध्वजनान् आकर्षति इव ॥ ७ ॥

महाराज ! गिरते हुए फूलों से, कूजते हुए पंछियों से, धीरे-धीरे गिरते हुए पहाड़ी झरनों से तथा अबाधित प्रचारवाले अनेकविध वनपशुओं से, वन की सौन्दर्य लक्ष्मी यात्रियों को अपनी ओर आकृष्ट करती है ॥ ७ ॥

लसत्तडित्पीतपटाभिरामं दृष्ट्वा घनश्याममधिष्ठसानुम् ।
नृत्यस्फुरद्बर्हभरा मयूराः केकाभिराशाः परिपूरयन्ति ॥ ८ ॥

लसत्तडित्पीतपटाभिरामम् अधिष्ठसानुं घनश्यामं दृष्ट्वा नृत्यस्फुरदबर्हभराः मयूराः केकाभिः आशाः परिपूरयन्ति ॥ ८ ॥

देखिये, पर्वत को चोटी पर पीली बिजली से मनोहर, काले बादलों को देखकर अपने मनोहर पिच्छों को फैलाकर नाचते हुए मयूर पंछी अपनी लुभावनी केका (मयूर की ध्वनि) से दिशाओं को भर रहे हैं ॥ ८ ॥

करील-कुञ्जान्तिक-सन्निषण्णैः-गायद्भिराराध्य-किशोर-कीर्तिम् ।
गावोऽर्धलीढान् कवलान् वहन्त्यः पर्युत्सुकाः गोपजनैः क्रियन्ते ॥ ९ ॥

करीलकुञ्जान्तिकसन्निषण्णैः आराध्यकिशोरकीर्तिं गायद्भिः गोपजनैः अर्धलीढान् कवलान् वहन्त्यः गावः पर्युत्सुकाः क्रियन्ते ॥ ९ ॥

करील के कुञ्जों की छाया में बैठकर अपने आराध्य किशोर भगवान् श्रीकृष्ण की महिमा को भाव-विभोर होकर गाते हुए गोप, चरवाहे, अर्धचर्वित घासों से

भरे मुँहवाली गायों को बरबस पर्युत्सुक, उत्कण्ठित कर देते हैं। तन्मयता के कारण उत्कण्ठित हो वे मुख में रखी अर्धचर्वित घास को चबाना भी भूल जाती हैं ॥ ९ ॥

पुरः प्रियाणामपि गोपवध्वो हठाक्षमाः संस्मृतभावसिक्ताः।
अस्रैर्मनोमन्थनसारजातैर्गात्राभिषेकं रचयन्ति मुग्धाः ॥ १० ॥

मुग्धा. गोपवध्वः प्रियाणाम् अपि पुरः हठाक्षमाः संस्मृतभावसिक्ताः मनोमन्थनसारजातैः अस्रैः गात्राभिषेकं रचयन्ति ॥ १० ॥

इस व्रजभूमि की महिमा अलौकिक है। पशु-पक्षी, स्त्री-पुरुष, आबाल-वृद्ध सभी उस भगवान् कृष्ण के स्मरण, कीर्तन, चिन्तन में प्रायः आत्म-विस्मृत से मग्न रहते हैं।

घरों में अपने प्रियतम को सामने उपस्थित देखकर भी गोप-वधुएँ सहसा उस राधावल्लभ की भावपूर्ण स्मृति में निमग्न हो, विवश अश्रुपात करने लगती हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो मन को मथने से सारभूत मक्खन ही पिघल कर आँखों से टप-टप गिर रहा हो और इस प्रकार उस भावावेश-निर्भर अश्रुपात से वे नहा उठती हैं ॥ १० ॥

मध्येऽध्वनो विस्मृतवर्त्मयत्नो मुक्ताग्रहः पान्थजनः प्रसह्य।
भूमौ निखाताङ्घ्रियुगो यथाद्रिः शून्यान्तरालः क्षमते न गन्तुम् ॥ ११ ॥

अध्वनः मध्ये विस्मृतवर्त्मयत्नः पान्थजनः प्रसह्य मुक्ताग्रहः अद्रिः यथा भूमौ निखाताङ्घ्रियुगः शून्यान्तरालः गन्तुं न क्षमते ॥ ११ ॥

रास्ते में चलता हुआ पथिक इस व्रजभूमि के सहज अलंघ्य प्रभाव से विमुग्ध होकर अपनी यात्रा से उदासीन हो इस प्रकार भाव-विभोर हो निश्चल हो जाता है मानो उसका पैर पृथिवी में गाड़ दिया गया हो तथा वह पर्वत के समान निश्चल हो गया हो, इस प्रकार शून्यचेता होकर वह भूल ही जाता है कि उसे जाना है। ऐसी है मोहिनी इस व्रजभूमि की ॥ ११ ॥

अजातमुत्क्षिप्य भविष्यगर्भे तिरोदधत् प्रस्तुतमप्यरागम्।
राधावरोन्मादिकथानुबन्धो वीतं समक्षं प्रकटीकरोति ॥ १२ ॥

अजातं भविष्यगर्भे उत्क्षिप्य प्रस्तुतम् अपि अरागं तिरोदधत् राधावरोन्मादिकथानुबन्धः वीतं समक्षं प्रकटीकरोति ॥ १२ ॥

राधामाधव का वह भावपूर्ण उन्मादकारी लीलाप्रसंग, अनुत्पन्न, अजात भावी की चिन्ता को भविष्य के गर्भ में फेंककर, प्रस्तुत, वर्तमान का तिरोधान (विलुप्त) करता हुआ उस बीते हुए काल को आँखों के सामने सहसा उपस्थित कर देता है ॥ १२ ॥

बलाच्चिरोन्मुक्तनिमेषपातैरन्तर्मनोरागमिवास्रपूरम् ।
मोघापदेशैः सुधियोऽपि वक्त्रं मृजन्ति निह्नोतुमपारयन्तः ॥ १३ ॥

बलात् चिरोन्मुक्तनिमेषपातैः मोघापदेशैः अन्तर्मनोरागम् इव अस्रपूरं निह्नोतुम् अपारयन्तः सुधियः अपि वक्त्रं मृजन्ति ॥ १३ ॥

पाण्डित्य-गर्वित विद्वज्जन भी इस व्रजभूमि के विमुग्धकारी प्रभाव एवं कृष्ण-गुणगान से उच्छ्वसित हो जाते हैं, मन का अनुराग अश्रुकण के रूप में आँखों में उल्लसित हो उठता है, किन्तु स्वरूप मर्यादा की रक्षा के लिए आँसुओं के रोकने के प्रयत्न में वे पलकों को गिरने से बरबस रोकना चाहते हैं पर अधिक देर तक इसमें सफल न होने के कारण किसी बहाने, व्याज से मुँह पोंछने का उपक्रम करते हैं। स्पष्ट है कि वे भाव-निगूहन में सफल नहीं हो पाते, उनका पाण्डित्य उन्हें भाव-विभोर होने से रोक नहीं पाता ॥ १३ ॥

मुक्तप्रसूनाभरणा नितान्तं शुष्यत्पलाशा विफलाभिलाषाः ।
वीक्ष्योपकूलं व्रततीर्विपन्नाः सञ्जीवयन्तीव घनाश्रुसेकैः ॥ १४ ॥

मुक्तप्रसूनाभरणाः नितान्तं शुष्यत्पलाशाः विफलाभिलाषाः विपन्नाः व्रततीः उपकूलं वीक्ष्य घनाश्रुसेकैः सञ्जीवयन्ती इव ॥ १४ ॥

[अब सूर्य पुत्री यमुनाजी का वर्णन है। भगवती कालिन्दी को कृष्णप्रिया होने का गौरव प्राप्त है। इनका तट राधा-माधव का क्रीड़ाक्षेत्र था। तटवर्ती तरु-लतायें, कुञ्ज आदि कृष्ण-महिमा से मण्डित थे किन्तु कालप्रभाव से अब वे विपन्न से प्रतीत होते हैं। अतः यमुनाजी आज भी यथासाध्य उनकी सँभाल, देखरेख करती हैं। १४ से १७ तक सब श्लोक एक-क्रियापदान्वयी हैं।]

पुष्पालंकारों से रहित, सूखते हुए पत्तोंवाली, विफल-मनोरथ लताओं को अपनी तटभूमि में कृश, विपन्न देखकर, अपने सहानुभूतिपूर्ण अश्रुधार द्वारा सींच कर जिलाती हुई, आश्वस्त करती हुई, ॥ १४ ॥

पवित्रकाह्वैरपि कालजालैराकृष्यमाणानवलोक्य मीनान् ।
असून् यथा जीवितमोहदीनान् दाशार्मकात् पातुमपारयन्ती ॥ १५ ॥

पवित्रकाह्वैः अपि कालजालैः आकृष्यमाणान् जीवितमोहदीनान् असून् यथा मीनान् अवलोक्य दाशार्मकात् पातुम् अपारयन्ती ॥ १५ ॥

नाम से पवित्रक (पवित्र करनेवाला) कहलानेवाले काल के समान जालों से खींचे जाने के कारण मछलियों को, प्राणों के समान जीवित रहने के मोह से दीन, छटपटाते देखकर, मल्लाहों के लड़कों से उन्हें बचा पाने में असमर्थ होती हुई ॥ १५ ॥

आत्मन्यहो कालविपर्ययस्थे गाम्भीर्यवर्जं दधती प्रबन्धम् ।
तातेऽपि वृषाङ्केऽपि विमुक्तरोधा विलङ्घिता क्वापि जनैः सहेलम् ॥ १६ ॥

अहो ! कालविपर्ययस्थे आत्मनि गाम्भीर्यवर्जं प्रबन्धं दधती वृषाङ्के अपि तातेविमुक्तरोधाः क्वापि जनैः सहेलं विलङ्घिता ॥ १६ ॥

काल-विपर्यय (समय-परिवर्तन) के कारण स्वयं अपने आप में गाम्भीर्य त्याग कर छिछलापन की ओर आकृष्ट होती हुई (यमुना पहले गहरी थीं, अब स्थान-स्थान पर उथली हो गयी हैं, अनेक स्थानों पर तो बिना नौका के ही लोग आर-पार चले जाते हैं) तथा यद्यपि पिता धर्मध्वजी (वृष (धर्म)+अंक (चिह्न) हैं फिर भी पुत्री होकर भी तट छोड़ती हुई (मर्यादा भंग करती हुई) कहीं पर सामान्यजनों से सहठ लाँघी जाती हुई ।

[जब सूर्य वृषांक (वृष राशि) पर रहते हैं तो भयंकर गर्मी के कारण पानी सूख जाता है और लोग यमुना को अनायास पार कर लेते हैं। यह भी अर्थ व्यञ्जित हो सकता है कि समय बदल जाने के कारण, बचपन से जवानी की ओर चलने के कारण बैल के समान मन्दबुद्धि पिता के रहते हुए भी मर्यादाभ्रष्ट होकर (अपनी लीक छोड़कर) सामान्य मनुष्यों द्वारा भी हठपूर्वक अमर्यादित होती हुई युवती के समान] ॥ १६ ॥

कृष्णस्मृतिं कूलतमालकुञ्जं पर्युत्सुका वक्षसि बिभ्रतीव ।
सूर्यात्मजा लोलतरङ्गहस्तैराशंसतीवाभ्युदयं तवार्य ॥ १७ ॥

आर्य, कृष्णस्मृतिं कूलतमालकुञ्जं पर्युत्सुका वक्षसि बिभ्रती इव लोलतरङ्गहस्तैः सूर्यात्मजा तव अभ्युदयम् आशंसति इव ॥ १७ ॥

तटवर्ती करील, तमाल आदि कुञ्जों को भगवान् कृष्ण की स्मृतिस्वरूप (यादगार, निशानी) मानकर अपने हृदय पर धारण करती हुई सी यह सूर्यपुत्री यमुना नदी अपने चञ्चल तरङ्गरूपी हाथों से आर्यचरित्र आपके अभ्युदय की शुभाशंसा सी कर रही हैं ॥ १७ ॥

प्रियस्वरूपं हृदि धारयन्त्याः कलिन्दवंशासितवर्णकान्तेः ।
छायाभुवः तिग्मकरात्मजाया अम्भो घनश्याम इवाविभाति ॥ १८ ॥

कलिन्दवंशासितवर्णकान्तेः तिग्मकरात्मजायाः छायाभुवः —प्रियस्वरूपं हृदि धारयन्त्याः अम्भः घनश्यामः इव आविभाति ॥ १८ ॥

यमुना का जल काला क्यों है—इस जिज्ञासा का निवारण करती हुई उक्ति है ।

यमुना कलिन्दजा हैं। कलिन्द पर्वत का कुल असित कान्तिवाला है, फिर पिता भी तिग्मरश्मि हैं। उष्ण स्वभाव होने के कारण भी सन्तान साँवली होती है

और माता तो 'यथानाम तथागुणः' छायादेवी हैं। छाया की पुत्री प्रभा तो नहीं ही होगी, और रही-सही कमी नन्दकुमार ने पूरी कर दी। प्रियतम के स्वरूप को निरन्तर हृदय में धारण करने के कारण भी यमुना का जल घनश्याम (कृष्ण जैसा या काले बादल के रंग का) प्रतीत होता है। इस प्रकार जब कुल, पिता का स्वभाव, माता की कान्ति तथा प्रियतम, जब सभी साँवले ही हैं तो यमुनाजी का जल भी कुछ उसी वर्ण का होगा ॥ १८ ॥

वृन्दावने स्नेहनिसर्गपीठे वंशीवटे तीरकदम्बके वा।
नवाम्बुदश्यामतमालकुञ्जे स्वान्तःस्मृतिं विस्मरतीव चेतः ॥ १९ ॥

स्नेहनिसर्गपीठे वृन्दावने वंशीवटे तीरकदम्बके नवाम्बुदश्यामतमालकुञ्जे वा चेतः स्वान्तःस्मृतिं विस्मरति इव ॥ १९ ॥

स्नेह की सहज भूमि वृन्दावन, वंशीवट, तीर का कदम्बतरु या नये मेघ के समान श्यामवर्णवाले तमालकुञ्ज में मन आत्मस्मृति भूल जाता है। इन स्थानों का प्रभाव अपरिहार्य है ॥ १९ ॥

दधत्तरङ्गश्वसितावरोधं भृशं कृशा शोषितजीवनाशा।
अम्भोजकल्पैर्नयनैरपीयं न वीक्षते किञ्चिदपीक्षमाणा ॥ २० ॥

दधत्तरङ्गश्वसितावरोधं भृशं कृशा शोषितजीवनाशा इयम् अम्भोजकल्पैः नयनैः ईक्षमाणा अपि किञ्चित् अपि न वीक्षते ॥ २० ॥

यमुनाजी शोक-विकल हैं—

तरङ्गरूपी श्वास रुक-रुककर चलती है, अत्यन्त कृश हो गयी है, जीवन (जल) की आशा क्षीण हो गयी है (पानी कम हो गया है), कमल के समान नयनों से सब कुछ देखती हुई भी ये कुछ नहीं देख पातीं [चिरकाल से रोगशय्या पर पड़ी कोई महिला, जिसने कभी समग्र जीवन देखा हो, जिया हो, उपभोग किया हो, जीर्ण-शीर्ण स्वास्थ्य से अत्यन्त कृशांगी हो गयी है, श्वास रुककर चलती है, आँखें खुली हैं किन्तु स्मृति में कुछ भी नहीं आता—इसकी प्रतीति हो सकती है।] ॥२०॥

या साक्षिणीयं जगदेकभर्तुर्दिव्यप्रयोगाननिशं ददर्श।
कलिन्दजा तद्विरहेऽपि सैषा किं स्यन्दते रोदिति वा न विद्मः ॥ २१ ॥

जगदेकभर्तुः साक्षिणी या इयं दिव्यप्रयोगान् अनिशं ददर्श तद्विरहे अपि सा एषा कलिन्दजा स्यन्दते किं वा रोदिति, न विद्मः ॥ २१ ॥

ये यमुना जी साक्षिणी हैं। इन्होंने स्वयं उस राधा-माधव की दिव्य लीलाओं को निरन्तर देखा है। आज उस प्रभु के विरह में सन्तप्त ये कलिन्दजा बह रही हैं या रो रही हैं, नहीं कहा जा सकता ॥ २१ ॥

सुखं चरन्त्यः पुलिनोपकूलं कच्छेषु शक्राश्म-हरित्तृणेषु ।
क्वचित् समाकीर्णनमेरुकुञ्जे रोमन्थरागार्धनिमीलिताक्ष्यः ॥ २२ ॥

पुलिनोपकूलं शक्राश्महरित्तृणेषु कच्छेषु सुखं चरन्त्यः समाकीर्णनमेरुकुञ्जे क्वचित् रोमन्थरागार्धनिमीलिताक्ष्यः ॥ २२ ॥

(२२-२५) इन चारों श्लोकों में 'प्रचरन्ति' क्रिया अध्याहृत है। गायों का एकक्रियान्वयी वर्णन है। यमुना के परिसर में, तटवर्ती भूमि में, जलसिक्त कछारों में, जहाँ इन्द्रनीलमणि की हरित कान्ति के सदृश तृणराजि है, चरती हुई या किसी सुखद छायावाले कुञ्ज में पागुर के आनन्द में अर्धनिमीलित दृष्टि से बैठी हुई ॥ २२ ॥

त्वगोकसो रक्तभुजो भिषग्भिः खगैरिव स्वेदकृमीन् हरद्भिः ।
निस्पन्दभावादृतशल्यचेष्टाः क्वचिन्निषण्णाः परिसेव्यमानाः ॥ २३ ॥

क्वचित् त्वगोकसः रक्तभुजः स्वेदकृमीन् हरद्भिः भिषग्भिः इव खगैः परिसेव्यमानाः निस्पन्दभावादृतशल्यचेष्टाः निषण्णाः ॥ २३ ॥

या कहीं पर, स्वेदज (पसीने से उत्पन्न) चमड़ी में रहनेवाले रक्तपायी अत्यल्पकाय कृमियों को समाप्त करनेवाले चिकित्सकों जैसे पंछियों (कौआ, मैना आदि) से सेवित होती हुई अपनी अचल, स्पन्दनविहीन चेष्टा द्वारा उस शल्यक्रिया (चीर-फाड़) का आदर करती चुपचाप बैठी हुई ॥ २३ ॥

चलत्खुरोद्धूतरजःपरागै रागैरिवापूर्य दिगास्यलक्ष्मीम् ।
घ्वानै रणत्कण्ठविलम्बिघण्टैः सायं नभो गाश्च निपूरयन्त्यः ॥ २४ ॥

सायं चलत्खुरोद्धूतरजःपरागैः इव रागैः दिगास्यलक्ष्मीम् आपूर्य रणत्कण्ठविलम्बिघण्टैः घ्वानैः नभः गां च निपूरयन्तः ॥ २४ ॥

या सन्ध्या समय गोठों की ओर वन से चरकर लौटते समय खुरों के सञ्चरण से उठती हुई धूलि के परागमय राग में दिग्वधुओं की मुख-शोभा को पूर्ण करती हुई, एवं गले में बँधी हुई घण्टी की ध्वनि से आकाश तथा पृथ्वी को भरती हुई ॥ २४ ॥

वात्सल्यसूतीन् नवजातवत्सान् सोत्कर्णमौत्कण्ठ्यनिपीतमार्गान् ।
हम्बेति नादैः परिनन्दयन्त्यो यत्राभिगोष्ठं प्रचलन्ति गावः ॥ २५ ॥

सोत्कर्णम् औत्कण्ठ्यनिपीतमार्गान् वात्सल्यसूतीन् नवजातवत्सान् 'हम्वा' इति नादैः परिनन्दयन्त्यः गावः यत्र अभिगोष्ठं प्रचलन्ति ॥ २५ ॥

जिस व्रजभूमि में वात्सल्य के एकमात्र कारण, नये उत्पन्न हुए, अपनी माताओं की प्रतीक्षा में कान ऊपर उठाये हुए, उत्कण्ठा के कारण अपनी दृष्टि से मार्ग को पी जानेवाले बछड़ों को 'हम्बा' की ध्वनि (गाय के मुँह से निकली ध्वनि) से आनन्द-निर्भर करती हुई गायें अपने गोठ की ओर चलती हैं ॥ २५ ॥

यदुत्पलाङ्घ्रिच्युतरेणुपूतो हिमालयो याति नगाधिपत्यम् ।
तदर्चितश्रीशकराग्रपीठो गोवर्धनोऽयं विनतो महिम्ना ॥ २६ ॥

यदुत्पलाङ्घ्रिच्युतरेणुपूतः हिमालयः नगाधिपत्यं याति तदर्चितश्रीशकराग्रपीठः अयं गोवर्धनः महिम्ना विनतः ॥ २६ ॥

[गोवर्धन पर्वत का वर्णन है—]

[हिमालय को नगाधिपति कहा जाता है और इसीलिए उसे अन्य पर्वतों से श्रेष्ठ माना जाता है, किन्तु सर्वत्र यह बात नहीं। गोवर्धन के सामने हिमालय की कोई स्थिति नहीं है।]

जिस शङ्कर भगवान् के चरणकमल से गिरी धूल को धारण करने के कारण पवित्र होकर हिमालय नगाधिपति कहलाता है उसी भगवान् शंकर द्वारा पूजित लक्ष्मीपति की उँगली ही (कराग्र ही) जिसके लिए आसन बनी वही यह गोवर्धन पर्वत है जो अपनी श्लाघ्य महिमा के कारण अति विनम्र हो गया है, झुका हुआ है [शीलवान् पुरुष गौरव वृद्धि से अतिशय नम्र हो जाता है।] ॥ २६ ॥

शचीपतेः रुद्धबलेर्निदेशाद् युगान्तपाथोद परिप्लवेन ।
व्रजे व्रजत्यर्णवतामपाद्यो जनानुरस्यात्मसुतान् पितेव ॥ २७ ॥

रुद्धबलेः शचीपतेः निदेशात् युगान्तपाथोदपरिप्लवेन व्रजे अर्णवतां व्रजति यः उरसि जनान् आत्मसुतान् पिता इव अपात् ॥ २७ ॥

अपनी पूजा, बलि रुद्ध हो जाने से कुपित इन्द्र के आदेश पर जब युगान्तकाल के समान भीषण वर्षा से मेघकुल ने प्रलय का दृश्य उपस्थित करते हुए व्रज को समुद्र बना दिया तब उस गोवर्धन ने लोगों की उसी प्रकार रक्षा की जैसे पिता अपने पुत्रों की करता है ॥ २७ ॥

मानुष्यसूतेरपि विष्णुकीर्तेस्तारुण्यशौर्याभिनवावतारः ।
यां लोकलक्ष्मीमिव हेमपुत्रात् कंसान्मुमोचासुरसर्गभाजः ॥ २८ ॥

मानुष्यसूतेः अपि विष्णुकीर्तेः तारुण्यशौर्याभिनवावतारः लोकलक्ष्मीम् इव याम् आसुरसर्गभाजः कंसात् हेमपुत्रात् इव मुमोच ॥ २८ ॥

मथुरा का वर्णन है —

मनुष्य-पुत्र कहलाकर भी विष्णु भगवान् की अमोघ कीर्तिवाले श्रीकृष्ण के यौवनसुलभ पराक्रम के प्रथम प्रयास ने जिसको (मथुरा को) दानवीय मार्ग के उपासक कंस के हाथ से इस प्रकार मुक्त किया जैसे लक्ष्मी को (समाज-सम्पत्ति को) स्वर्ण-पुत्रों (व्यापारि-वर्ग) के प्रभुत्व से मुक्त किया जाता है ॥ २८ ॥

यं धीवरं धूतधराधुरार्घिं धनञ्जयोऽशंषधिया प्रपन्नः ।
ततार मोहार्णवघोरपूरं लीलास्थलीयं मथुरा हि तस्य ॥ २९ ॥

धृतधराधुरार्धि यं धीवरम् अशेषधिया प्रपन्नः धनञ्जयः मोहार्णवघोरपूरं ततार इयं मथुरा तस्य लीलास्थलो हि ॥ २९ ॥

पापभार से आक्रान्त पृथिवी की मानसिक व्यथा को दूर कर देनेवाले जिस बुद्धिश्रेष्ठ (मल्लाह) का सम्पूर्ण मन से सर्वात्मना आश्रय प्राप्त कर अर्जुन ने घोर मोह-समुद्र को भी पार कर लिया (अर्जुन के मोह को दूर करने ही के लिए श्रीकृष्ण ने महाभारत के युद्ध में उन्हें गीतामृत का उपदेश किया था) उसी भगवान की यह मथुरा लीलास्थली है [प्रभु का धीवरत्व अर्जुन के मोहार्णव पार कराने में व्यञ्जित हो रहा है। बिना मल्लाह के पार होना कठिन ही है।] ॥ २९ ॥

द्वावेन नूनं मनुवर्त्मसिद्धौ कृष्णस्तथा सत्यवतीसुतश्च ।
आत्मप्रयोगैर्भुवनं दिशन्तौ ज्ञानक्रियाऽऽराधितजोविपद्याम् ॥ ३० ॥

आत्मप्रयोगैः भुवनं ज्ञानक्रियाऽऽराधितजोविपद्यां दिशन्तौ कृष्णः तथा सत्यवतीसुतः च नूनं द्वौ एव मनुवर्त्मसिद्धौ ॥ ३० ॥

निश्चय ही मनु प्रदर्शित मार्ग के पारदृश्वा, सिद्धस्वरूप दो ही व्यक्ति हैं—कृष्ण वासुदेव तथा कृष्ण द्वैपायन। इन दोनों सिद्ध पुरुषों ने इस संसार को अपने प्रयोगों द्वारा ज्ञान एवं क्रिया के समन्वय द्वारा, मनुष्य के कल्याण-मार्ग की प्रेरणा दी।

कृष्ण तथा व्यास दोनों ही महात्मा लोक-व्यवस्था के उन्नायक हैं। इनकी दृष्टि में लोकव्यवस्था ही वह आधारशिला है, वह निकष है जो विविध सिद्धान्तों, मान्यताओं एवं सम्बन्धों का मूल्यांकन करती है। वे अन्धी परम्परा को सदैव व्यवस्था की स्थापना के लिए निन्द्य मानकर उसका ध्वंस या उसमें अपेक्षित सुधार प्रतिष्ठित करके उसे उपादेय बनाते हैं। इनकी लोकव्यवस्था किसी वर्गविशेष पर नहीं अपितु सम्पूर्ण मानवता पर, जीवधारी मात्र पर टिकी है। लोक-व्यवस्था ही धर्म है, अव्यवस्था अधर्म है तथा इस व्यवस्था के विरोधी असुर हैं या आसुरभावापन्न हैं। ये इन शत्रुओं के विनाश के लिए कृतसंकल्प हैं। इनके जीवन की यही चरितार्थता है ॥ ३० ॥

निदाघतप्तं कलभं यथाऽम्बौ तत्राध्वनि क्लान्तमवेक्ष्य सूनुम् ।
[1]नामान्वितार्थद्विजबन्धुहस्ते गुप्त्यै समर्प्यात्मशुचं मुमोच ॥ ३१ ॥

तत्र अध्वनि सूनुं निदाघतप्तं कलभं यथा क्लान्तम् अवेक्ष्य गुप्त्यै नामान्वितार्थद्विजबन्धुहस्ते समर्प्य असौ आत्मशुचं मुमोच ॥ ३१ ॥

१. सम्भाजिनामानं स्वतनयं मार्गश्रमक्लान्तं दुर्बलं तथा सुदीर्घमार्गक्लेशासहं विविच्य वाग्यादेव महाराष्ट्रनिवासिनो विश्वासरावस्य कृतमथुरावसतेः द्विजस्य संरक्षणे निधाय प्रचलितो महाराष्ट्रभूपः ।

ग्रीष्म के प्रबल ताप से जिस प्रकार हाथी का बच्चा विकल हो जाता है उसी प्रकार शम्भाजी—अपने पुत्र—को रास्ते में अति क्लान्त देखकर नामानुरूप गुणवाले (सार्थक नामवाले) ब्राह्मणों के हाथ में पुत्र को सौंपकर तथा उसकी सुरक्षा से आश्वस्त होकर क्षत्रपति पुत्र-सम्बन्धी चिन्ता से मुक्त हुए ॥ ३१ ॥

स्वधर्मयाथार्थ्यविदस्तु तेऽपि स्वात्मानुभावैः सुतनिर्विशेषैः ।
अरातिशङ्कामपनीय तस्मिन् तं जीवितै रक्ष्यतरं ररक्षुः ॥ ३२ ॥

स्वधर्मयाथार्थ्यविदः ते अपि तु सुतनिर्विशेषैः स्वात्मानुभावैः तस्मिन् अरातिशङ्काम् अपनीय जीवितैः रक्ष्यतरं तं ररक्षुः ॥ ३२ ॥

आत्मधर्म की, आत्मकर्तव्य की मर्यादा से सर्वथा परिचित वे ब्राह्मण भी पुत्रोपम वात्सल्य भाव से उस बालक को अपनाते हुए, तथा शत्रुओं की हर प्रकार की शंका का समाधान करते हुए, उसे अपने प्राण से अधिक जानकर उसकी सुरक्षा में तत्पर रहे ॥ ३२ ॥

प्रयागं वर्णयति (प्रयाग का वर्णन कर रहे हैं—)

क्रियोपगूढेव रहस्यविद्या मुक्तौ यथा निर्वृतिमेति योगिन् ।
तथा द्युनद्यां यमुनानुनीता सरस्वतीहाऽऽत्मफलं बिभर्ति ॥ ३३ ॥

योगिन् ! क्रियोपगूढा इव रहस्यविद्या यथा मुक्तौ निर्वृतिम् एति तथा इह यमुनानुनीता सरस्वती द्युनद्याम् आत्मफलं बिभर्ति ॥ ३३ ॥

योगिन्, जिस प्रकार अभीष्ट क्रिया (प्रयोगात्मक अभ्यास तथा तत्परक मानसिक योग्यता) से संवलित होकर रहस्य विद्या (योगविद्या) आत्ममुक्ति में परिणति (आत्मलक्ष्य) प्राप्त करती है उसी प्रकार इस पुण्यतीर्थ प्रयाग में, यमुना से अनुनीत सरस्वती (संयम-समाराधित विद्या) भगवती भागीरथी में निमग्न होकर आत्मफल में, पूर्णता में प्रतिष्ठित होती है ।

[पुराने समय में गङ्गा, यमुना तथा सरस्वती प्रयाग में जहाँ मिलती थीं वह त्रिवेणी कहलाता है किन्तु कालान्तर में सरस्वती, दिल्ली के पास बहनेवाली (वैदिक काल की नदी) नदी भूगर्भ में विलीन हो गयी । फिर भी धार्मिक जनता अपने आह्निक कृत्यों एवं अनुष्ठानों में सरस्वती को उसी प्रकार स्मरण करती है ।]॥ ३३ ॥

तापत्रयध्वस्तजगद्धितानां धुरि स्थितास्तीर्थवरा न केऽत्र ।
परं श्रिता तीर्थसतीर्थ्यपङ्क्तिर्यस्मिन्नसावर्चित तीर्थराजः ॥ ३४ ॥

तापत्रयध्वस्तजगद्धितानां धुरि स्थिताः के तीर्थवराः अत्र न; परं तीर्थसतीर्थ्यपंक्तिः यस्मिन् श्रिता असौ अर्चित तीर्थराजः ॥ ३४ ॥

तापत्रय से विकल संसार का उपकार करनेवाले तीर्थों में श्रेष्ठ तीर्थ यहाँ अनेक हैं किन्तु जिसकी प्रतिष्ठा में शिष्यों के समान हाथ जोड़कर तीर्थों की पंक्ति खड़ी रहती है यह वही तीर्थराज प्रयाग है ॥ ३४ ॥

सर्गक्षयेऽप्यक्षयधामकीर्तिः स्वयम्भुवोऽप्येकशिशोः शरण्यः ।
भाग्यान्महात्मा सकृदेव दृष्टो वटोऽयमेनोऽपि करोति पूतम् ॥ ३५ ॥

सर्गक्षये अपि अक्षयधामकीर्तिः स्वयम्भुवः एकशिशोः अपि शरण्यः अयं महात्मा वटः सकृत् एव भाग्यात् दृष्टः एनः अपि पूतं करोति ॥ ३५ ॥

सृष्टि का विनाश (प्रलय) होने पर भी अनन्त प्रभामय कीर्तिवाला, कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ, निर्बन्ध, ईश्वर को भी एक अबोध शिशु (वटपत्र-पुटशायी भगवान् के रूप में शरण देनेवाला, यह अक्षय वट पाप को भी अपनी महिमा से पवित्र बना देता है ॥ ३५ ॥

मिथःप्रतीपव्यवहारतापप्लुष्टाखिलार्यावनिपातशापम् ।
रुणद्धि यो [1]धर्मजयाभिलेखस्तम्भच्छलेनोदितशौर्यबाहुः ॥ ३६ ॥

मिथःप्रतीपव्यवहारतापप्लुष्टाखिलार्यावनिपातशापं स्तम्भच्छलेन उदितशौर्यबाहुः यः धर्मजयाभिलेखः रुणद्धि ॥ ३६ ॥

परस्पर शत्रुतापूर्ण व्यवहार के कारण प्रदीप्त अग्निज्वाला से जलकर भस्म हो जानेवाली आर्यभूमि के पतनरूपी पाप को (आर्यभूमि के दास होने में प्रधान कारण भारतीय राजाओं का पारस्परिक अविश्वास तथा वैमनस्य है इसी कारण क्रमशः यह आर्य-धरा दुर्दशा, पतन एवं दासता को प्राप्त हुई—प्रयाग आज भी उस विपन्न आर्यभूमि को आश्वस्त करने के लिए जयलेखवाले स्तम्भ को अपने पराक्रमपूर्ण बाहु के रूप में उठाये हुए है) रोकने की चेष्टा में जो प्रयाग जयाभिलेखवाले स्तम्भ को अपने शक्तिशाली बाहु के रूप में उठाकर रोक रहा है ॥ ३६ ॥

कृषीवलश्चाकरमद्भुतानां ध्रुवं मणीनामिव सद्गुणानाम् ।
कथं विजानातु तमार्यपान्थं गूढप्रभावं सरलानुभावः ॥ ३७ ॥

अद्भुतानां मणीनाम् इव सद्गुणानाम् आकरं गूढप्रभावं तम् आर्यपान्थं सरलानुभावः कृषीवलः च कथं विजानातु ॥ ३७ ॥

अद्भुत मणियों के समान गुणों की खान उस गुप्त प्रभाववाले आर्य पथिक को सरल स्वभाव एवं बुद्धिवाले किसान लोग भला किस प्रकार जान पाते कि वे महाराज क्षत्रपति ही यात्री के रूप में जा रहे हैं ॥ ३७ ॥

---

१. गुप्तवंशनृपतेः 'पराक्रमाङ्क' विरुदविशिष्टस्य चक्रवर्तिनो महाराजसमुद्र गुप्तस्य जयलेखस्तम्भः प्रयागे भारतीयशौर्यस्य धर्मस्वरूपस्य च गाथामिव पुरस्करोति ।

परं नृपो लक्षणवेदिनां सः तथा निगूढात्मपरिच्छदोऽपि ।
चेतोऽनुषङ्गोदितगन्धधाम्ना प्रसूनगुच्छप्रतिमश्चकर्ष ॥ ३८ ॥

परं तथा निगूढात्मपरिच्छदः अपि सः नृपः अनुषङ्गोदितगन्धधाम्ना प्रसूनगुच्छ-प्रतिमः लक्षणवेदिनां चेतः चकर्ष ॥ ३८ ॥

किन्तु यद्यपि क्षत्रपति अत्यन्त गूढ रूप से बिना किसी राजसी आडम्बर के थे तथापि बाह्य आकार-प्रकार से भी यथार्थ को भाँप लेनेवाले लक्षणवेत्ताओं से वे छिप न सके। जिस प्रकार सुगन्धित फूलों का गुच्छा अपने स्वाभाविक मनोहर सुगन्ध के प्रभाव से मन को अपनी ओर उत्सुक करता है उसी प्रकार क्षत्रपति के स्वाभाविक गुणों ने छिपाने पर भी उन्हें विशेष ज्ञानवान् व्यक्तियों को बरबस आकृष्ट ही कर लिया ॥ ३८ ॥

एवं तमङ्गीकृतदेशसेवं सेव्यप्रभावं पथि सेवमानाः ।
ज्ञात्वाऽपि चित्ते सुधियो ररक्षुर्मन्त्रं यथा कल्पितभावगुप्तिम् ॥ ३९ ॥

एवम् अङ्गीकृतदेशसेवं सेव्यप्रभावं कल्पितभावगुप्तिं पथि सेवमानाः सुधियः ज्ञात्वा अपि तं चित्ते मन्त्रं यथा ररक्षुः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार देशरक्षा के व्रत में दीक्षित आश्रयणीय प्रभाववाले उस क्षत्रपति की मार्ग में शुभाशंसा करते हुए, उनकी यथार्थता (यथार्थस्वरूप) को जानकर भी विवेकशीलों ने आत्मभाव छिपानेवाले मन्त्र के समान उनकी रक्षा की— उस रहस्य को प्रकट न किया, जानकर भी शान्त रह गये ॥ ३९ ॥

मनोऽनुतापानिव वासरान् ते विनोदयन्तो विविधानुबन्धैः ।
शैत्यावदाते पुलिने द्युसिन्धो सम्बोधिताः वर्त्मबुधेन भूयः ॥ ४० ॥

मनोऽनुतापान् इव वासरान् विविधानुबन्धैः विनोदयन्तः ते द्युसिन्धोः शैत्यावदाते पुलिने वर्त्मबुधेन भूयः सम्बोधिताः ॥ ४० ॥

मार्ग में चलते हुए वे पथिक जब अनेक प्रकार से विनोद करते हुए दिनों को मानसिक कष्टों के समान बिता रहे थे तभी शीतलता से भरे हुए, देवनदी के तटवर्ती भाग में चलते हुए मार्ग-ज्ञान में कुशल व्यक्ति ने उन्हें सम्बोधित करते हुए इस इस प्रकार कहा ॥ ४० ॥

वाराणसीं प्रति—

यत्पांसुरागे प्रथितो विरागो रजोहरा यद्रजसां विभूतिः ।
कैलासबन्धोस्तपसां प्रतिष्ठा वाराणसीयं श्रुतिकामधेनुः ॥ ४१ ॥

यत्पांसुरागे विरागः प्रथितः, यद्रजसां विभूतिः रजोहरा, कैलासबन्धोः तपसां प्रतिष्ठा इयं वाराणसी श्रुतिकामधेनुः ॥ ४१ ॥

जिसकी धूलि में राग ही वैराग्य को आधारशिला है, जिसके रज का प्रभाव रजोगुण को दूर कर देता है। कैलासप्रिय भगवान् शंकर की तपस्या की यह प्रतिष्ठा है तथा वेदोपदिष्ट कामनाओं की सिद्धिस्थली या वेदरूपी कामधेनु ही यह वाराणसी है ॥ ४१ ॥

वक्षस्स्थलं भारतवर्षभूमेः पीठस्थली ब्रह्मगिरां पुराणी ।
मदान्धमालिन्यविलोलपङ्के चिन्तामणिः कोऽपि मनुष्यलोके ॥ ४२ ॥

भारतवर्षभूमेः वक्षस्स्थलं, ब्रह्मगिरां पुराणी पीठस्थली मदान्धमालिन्यविलोलपङ्के मनुष्यलोके कः अपि चिन्तामणिः ॥ ४२ ॥

यह वाराणसी भारतवर्ष का हृदय है, ब्रह्मप्रतिष्ठ ज्ञान का प्राचीन पीठस्थल है। मोह-मालिन्य आदि विकारों के लोल कर्दम से भरे आधुनिक मनुष्य-लोक में यह अप्रतिम चिन्तामणि है ॥ ४२ ॥

पदं निधायापि शशाङ्कमौलेः शिरस्यपर्णां सहठं हसन्ती ।
देवापगा यत्पदरेणुरागैः स्वजन्मसाफल्यमिवाऽऽवृणोति ॥ ४३ ॥

शशाङ्कमौलेः शिरसि सहठं पदं निधाय अपर्णां हसन्ती अपि यत्पदरेणुरागैः देवापगा स्वजन्मसाफल्यम् इव आवृणोति ॥ ४३ ॥

चन्द्रकलामण्डित भालवाले शिव के मस्तक पर हठपूर्वक अपना चरण स्थापित करती हुई (वात्स्यायन-शास्त्रीय रतमुद्राविशेष) अपर्णा पार्वती का उपहास करती हुई (सापत्न्यजन्य ईर्ष्या से शंकरजी को वशवर्ती माननेवाली पार्वती के प्रति यह गंगाजी का आत्मराग-प्रदर्शन है) देवनदी भी इस वाराणसी की चरणधूलि से प्रेम करती हुई अपने जन्म को सफल मानती हैं ॥ ४३ ॥

शरीरिणोऽपीष्टपथप्रतीपा जीवातुमुन्मुच्य रजस्सु यस्याः ।
भ्राजिष्णु पारे रजसां स्वधाम विमुक्तबन्धाः सहटं लभन्ते ॥ ४४ ॥

यस्याः रजस्सु इष्टपथप्रतीपाः शरीरिणः अपि जीवातुम् उन्मुच्य सहठं विमुक्तबन्धाः रजसां पारे भ्राजिष्णु स्वधाम लभन्ते ॥ ४४ ॥

सज्जनोचित सन्मार्ग से सर्वथा विमुख रहकर भी, विरुद्ध आचरण करते हुए भी, जिसकी धूल में जीवन त्याग करनेवाले प्राणी, निर्बन्ध (मुक्त) होकर अति निर्मल, प्रकाशमय रागादि द्वन्द्वों से सर्वथा विरहित लोकों में अपना ऐश्वर्यमय स्थान सहठ प्राप्त करते हैं 'काश्यां मरणान्मुक्तिः' काशी में मरनेवाले को तारक मन्त्र द्वारा स्वयं भगवान् शंकर मुक्ति पद देते हैं।] ॥ ४४ ॥

अभ्रंलिहैरूर्ध्वशिरोभिराविष्कृतार्यभाग्यैरिव मन्दिरैर्या ।
दुरोदराचारभरेऽपि काले स्वात्मस्थिता तापमपाकरोति ॥ ४५ ॥

या ऊर्ध्वशिरोभिः अभ्रंलिहैः आविष्कृतार्यभाग्यैः इव मन्दिरैः दुरोदराचारभरे अपि काले स्वात्मस्थिता तापम् अपाकरोति ॥ ४५ ॥

यह काशी अति उन्नत शिखरवाले गगनचुम्बी, भारतीयों के भाग्य के समान यशस्वी मन्दिरों से भरी है। छल-प्रवञ्चना आदि से दूषित इस आधुनिक समय में भी अपनी मर्यादा में स्थिर रहती हुई यह तापत्रय को दूर करती है ॥ ४५ ॥

त्रिवर्गवोढा कलितोऽपि धर्मो मुक्ताग्रहो लोकमताग्रहेषु ।
भावस्थिरोऽन्तःकरणप्रसादो निरस्तधूरुच्छ्वसितीव यत्र ॥ ४६ ॥

यत्र त्रिवर्गवोढाकलितः अपि धर्मः लोकमताग्रहेषु मुक्ताग्रहः भावस्थिरः निरस्तधूः अन्तःकरणप्रसादः उच्छ्वसिति इव ॥ ४६ ॥

शास्त्रदृष्टि से धर्म त्रिवर्गवोढा है, धर्म-अर्थ-काम इन तीनों की उपलब्धि में कारण है, लोकमत की भी यही मान्यता है। किन्तु इस नगरी में धर्म-भाव में स्थिर रहता है, बहिरंग-प्रदर्शन में उसकी प्रवृत्ति नहीं रहती। अन्तःकरण का निर्मल आनन्द ही उसका प्रत्यय है। इस प्रकार परम्परानिरपेक्ष अलोकसामान्य पथ पर चलता हुआ धर्म शास्त्रीय प्रपञ्चों एवं सम्प्रदायात्मक मान्यताओं के दुर्वह भार से सर्वथा उन्मुक्त होकर आत्मरति करता हुआ मुक्ति का श्वास लेता है (तभी तो काशी तीन लोक से न्यारी है।) ॥ ४६ ॥

अद्वैतसाविभ्रमहो विनोदे सामानि यत्रार्भकमुग्धवक्त्रे ।
देवापगा नर्मसखी च पार्श्वे मुक्तिर्भुजिष्येव नताङ्घ्रिपद्मे ॥ ४७ ॥

यत्र विनोदे अद्वैतसाविभ्रमहः अर्भकमुग्धवक्त्रे सामानि पार्श्वे च नर्मसखी देवापगा अङ्घ्रिपद्मे भुजिष्या इव मुक्तिः नता ॥ ४७ ॥

यहाँ सहज, सरल विनोद में भी अद्वैत ज्ञान के सूर्य का प्रकाश झलकता है, छोटे-छोटे बच्चों के सलोने मुख से साम (वेदमन्त्रों का गान) मुखरित होता है। हासपरिहास-निपुणा सखी के समान गंगाजी बगल में विराजमान रहती हैं और नौकरानी (सेविका) के समान 'मुक्ति' चरणकमल में झुकी रहती है ॥ ४७ ॥

दुरन्तशास्त्रश्रमलब्धकीर्तेरत्रातिथेर्ज्ञानवतोऽपि तेजः ।
बालार्ककल्पं वटुमप्यवेक्ष्य मन्दायते दीपवरस्य नूनम् ॥ ४८ ॥

अत्र दुरन्तशास्त्रश्रमलब्धकीर्तेः ज्ञानवतः दीपवरस्य अतिथेः अपि तेजः बालार्ककल्पं वटुम् अपि अवेक्ष्य नूनं मन्दायते ॥ ४८ ॥

गम्भीर ज्ञानवाले शास्त्रों को प्राप्त करने में श्रमाभ्यासादि द्वारा उत्तम यश प्राप्त करके भी जब कोई महाविद्याधुरन्धर पण्डित बाहर से यहाँ पर अपने पाण्डित्य एवं वैदुष्य की प्रतिष्ठा जमाने आता है तब बालसूर्य के समान तेजस्वी विद्यार्थियों के सामने भी उसका प्रकाश दीपक की प्रभा के समान मन्द हो जाता है [काशी का ककर (कंकड़) भी शंकर है।] ॥ ४८ ॥

भगीरथस्यामृतकीर्तिगाथा प्रसादमूर्तिर्हिमरश्मिमौलेः ।
अदृष्टकक्षेव दिनेशसूनोस्तपोद्रवोऽम्भोजभुवो द्युसिन्धुः ॥ ४९ ॥

भगीरथस्य अमृतकीर्तिगाथा हिमरश्मिमौलेः प्रसादमूर्तिः दिनेशसूनोः अदृष्टकक्षा इव अम्भोजभुवः तपोद्रवः द्युसिन्धुः (अस्ति) ॥ ४९ ॥

यह गंगानदी (द्युसिन्धु) राजा भगीरथ की अविनश्वर कीर्तिगाथा है, चन्द्र-मौलि भगवान् शंकर की प्रसादपूर्ण, प्रसन्नमुखी मूर्ति है, सूर्यपुत्र, यमराज के लिए अदृष्टकक्षा, निषिद्ध भूमि है। यहाँ धर्मराज का प्रवेश निषिद्ध है तथा कमलयोनि ब्रह्माजी की तपस्या ही द्रवरूप में विनिस्सृत है ॥ ४९ ॥

स्वःसिन्धुलोलोच्चलदुर्मिसिक्तः प्रकीर्णरेणूत्सवमण्डितो वा ।
यत्रास्तबन्धोऽपि न वेत्ति वातो रजोऽथवा गाङ्गपयो गरीयः ॥ ५० ॥

यत्र स्वःसिन्धुलोलोच्चलदुर्मिसिक्तः प्रकीर्णरेणूत्सवमण्डितः वा अस्तबन्धः अपि वातः गाङ्गपयः अथवा रजः गरीयः (इति) न वेत्ति ॥ ५० ॥

इस काशी में गन्धवह पवन भी सहज मुक्तगति में बहता हुआ बहुधा भ्रान्ति में पड़ जाता है कि गंगाजल की महिमा विशिष्ट है या काशी के धूलि की—देवनदी की चञ्चल उठती हुई लहरमालाओं से सिक्त होकर या उड़ती हुई उल्लसित धूलि के कण से विमण्डित, अलंकृत होकर सर्वथा मुक्त पवन भी यह निर्णय नहीं कर पाता है कि काशी की धूलि विशेष महिमावाली है अथवा गंगाजल अधिक गरिमामय है ॥ ५० ॥

चलत्तरङ्गाञ्चलनीयमानैर्नक्षत्रकल्पैरिव दीपलोकैः ।
आकाशगङ्गामिव यां पुरन्ध्रयः स्वच्छाम्बराः सान्ध्यविधौ श्रयन्ति ॥ ५१ ॥

याम् आकाशगङ्गाम् इव चलत्तरङ्गाञ्चलनीयमानैः दीपलोकैः नक्षत्रकल्पैः इव स्वच्छाम्बराः पुरन्ध्रयः सान्ध्यविधौ श्रयन्ति ॥ ५१ ॥

काशी की एक सामान्य परम्परा है कि अभिजात वर्ग तथा सामान्य वर्ग की गृहिणियाँ सायंकाल गंगा के तीर पर आकर मिट्टी के दीपकों को जला कर लहरों में प्रवाहित कर देती हैं। वे प्रकाशित दीप मन्द लहरों पर तिरते हुए अत्यन्त आकर्षक लगते हैं।

आकाशगंगा तारकपुञ्जों से भरी रहती है, स्वच्छाम्बर (निर्मल आकाश) मनोहर लगता है। पर आकाशगंगा हमसे दूर है, इस पृथिवी पर भी भागीरथी गंगा है, सन्ध्या समय सान्ध्य-दीप-दान करने के सिए स्वच्छाम्बर-विभूषित महिलायें दीपमालाओं द्वारा अर्चना करती हैं। चञ्चल तरंगों पर तिरते हुए बहते-बहते दूरतक जलधारा में जाते हुए वे प्रकाशित दीप-समूह बिखरे हुए तारकों के समान ज्ञात होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो भागीरथी गंगा, आकाशगंगा है तथा प्रवाहित, प्रकाशित दीपमाला ही नक्षत्रलोक है ॥ ५१ ॥

धुरा महिम्नां परयाऽऽर्यदेशो महीयते यद्वसुधाभिमानः ।
तद्धेतुभूतास्त्रय एव नूनं भागीरथी शैलगुरुः श्रुतिश्च ॥ ५२ ॥

यत् आर्यदेशः महिम्नां परया धुरा वसुधाभिमानः महीयते नूनं तद्धेतुभूताः त्रयः भागीरथी शैलगुरुः श्रुतिः च एव ॥ ५२ ॥

यह आर्यदेश यदि उत्तम महिमा से सम्पन्न होकर वसुधा का मुकुटमणि (अभिमान) कहलाता है तो उस प्रतिष्ठा के तीन ही महान् कारण हैं—और वे हैं १—भागीरथी, २- शैलराज हिमालय तथा ३—ज्ञानमय भगवान् वेद। इन्हीं तीनों के कारण भारत-भूमि विश्व की मुकुटमणि है ॥ ५२ ॥

विन्ध्यभूमिं प्रति—

गङ्गा-तरङ्गाञ्चितवातधन्यां लतापिनद्धद्रुमराजिदुर्गाम् ।
तटीयपद्यां पथिकान् प्रयातो विन्ध्यं विलोक्याध्वविदेवमाह ॥ ५३ ॥

गङ्गातरङ्गाञ्चितवातधन्यां लतापिनद्धद्रुमराजिदुर्गां तटीयपद्यां प्रयातः अध्वविद् विन्ध्यं विलोक्य पथिकान् एवम् आह ॥ ५३ ॥

मार्ग-प्रदर्शक ने विन्ध्याचल को देखकर, गंगा की तरंगों से सिक्त पवन के संस्पर्श से भाग्यशालिनी, लताओं से जकड़े हुए वृक्षों के कारण अति दुर्गम, तटवर्ती मार्गभूमि में चलते हुए उन पथिकों से कहा ॥ ५३ ॥

प्रत्यन्तशैलैः परितः स्फुरद्भिर्भीमान्धकारच्छदिकाननैश्च ।
क्वचित्पतन्निर्झरवारिनादैः सुदुर्गमा हिंस्रकुलैश्चरद्भिः ॥ ५४ ॥

परितः स्फुरद्भिः प्रत्यन्तशैलैः भीमान्धकारच्छदिकाननैः क्वचित् पतन्निर्झरवारिनादैः चरद्भिः हिंस्रकुलैः च सुदुर्गमा ॥ ५४ ॥

[(५४-५६) तीन श्लोकों में विन्ध्याटवी का वर्णन है। ये एक-क्रिया-पदान्वयी हैं—]

चारों ओर फैली हुई पहाड़ियों से शोभायमान, गहन अन्धकारमय छतवाले वनों से भरी, कहीं-कहीं ऊँचाई से गिरते हुए झरनों की जलधारा से निनादित, घूमते हुए हिंसक, जंगली पशुओं से दुष्प्रवेश्य (यह विन्ध्याटवी आपका स्वागत कर रही है) ॥ ५४ ॥

मनोज्ञपुष्पाञ्जलिभिर्लताभिर्निषेव्यमाना सफलैर्द्रुमैश्च ।
प्रसादरागादुपतिष्ठमाना वनान्तलक्ष्मीः फलपुष्पहस्ता ॥ ५५ ॥

मनोज्ञपुष्पाञ्जलिभिः लताभिः सफलैः द्रुमैः च निषेव्यमाना प्रसादरागात् फलपुष्प-हस्ता उपतिष्ठमाना वनान्तलक्ष्मीः ॥ ५५ ॥

मनोहर पुष्पाञ्जलि युक्त लताओं द्वारा आराधित, फल से लदे हुए वृक्षों द्वारा सेवित, वनान्तलक्ष्मी जैसी, प्रसन्नतापूर्वक फल-पुष्प-मिश्रित अर्घ्य से सत्कार करती हुई ॥ ५५ ॥

निम्नोन्नतासु क्षणमुत्सुकेव मुहुः स्खलन्ती विषमस्थलीषु ।
वीक्ष्यार्यपान्थानियमातिथेयो विन्ध्याटवी स्वागतमात नोति॥ ५६ ॥

क्षणम् उत्सुका इव निम्नोन्नतासु विषमस्थलीषु मुहुः स्खलन्ती इयम् आतिथेयी विन्ध्याटवी आर्यपान्थान् वीक्ष्य स्वागतम् आतनोति ॥ ५६ ॥

उत्कण्ठिता के समान ऊँची-नीची दुर्गम जमीन पर बार-बार गिरती हुई, आप आर्य पथिकों को देखकर यह आतिथ्य-वृत्तिवाली आतिथेयी विन्ध्याटवी स्वागत कर रही है ॥ ५६ ॥

सोमेन धाम्ना प्रथितोऽपि लोके स्वयं नगेन्द्रोऽपि हिमाद्रिरेनम् ।
सदाम्बिकावासविविक्तपीठमात्मोत्तरं विन्ध्यमुरीकरोति ॥ ५७ ॥

लोके सोमेन धाम्ना प्रथितः अपि नगेन्द्रः हिमाद्रिः अपि सदाम्बिकावासविविक्तपीठम् एनं विन्ध्यम् आत्मोत्तरम् उरीकरोति ॥ ५७ ॥

ठीक है कि उमा (पार्वती) के जन्मरूपी यश के कारण हिमालय लोक में विशेष प्रतिष्ठित है किन्तु स्वयं उसी नगराज हिमालय ने अम्बिका के सदा निवास के कारण पवित्र पीठवाले इस विन्ध्याद्रि को सदा अपने से उच्च स्थान दिया है। (सोमेन, उमया सहितेन, धाम्ना) ॥ ५७ ॥

दिवानिशं सम्भृतसत्त्वसख्यो यत्राम्बिकादर्श इवाश्रमेषु ।
तपस्विहस्तार्द्रतकेसरालिः सिंहोऽन्तरायान् विधुरीकरोति ॥ ५८ ॥

यत्र दिवानिशं सम्भृतसत्त्वसख्यः अम्बिकादर्शः इव आश्रमेषु तपस्विहस्तार्द्रतकेसरालिः सिंहः अन्तरायान् विधुरीकरोति ॥ ५८ ॥

जहाँ रात-दिन, प्राणियों में मित्रभाव रखता हुआ अम्बिका (माता) के आदर्श के समान (माता के लिए सभी सन्तान समान स्नेह के पात्र हैं), तपस्वियों द्वारा सम्मानित केसरवाला (मुनिजन स्नेह से सिंह की गर्दन को थपथपा देते हैं) सिंह आश्रमों में विघ्नों को नष्ट, प्रभावहीन कर देता है।

[सुनने में यह अविश्वसनीय प्रतीत होता है कि तपस्विजन सिंह की गर्दन पर प्यार से हाथ फेरते होंगे किन्तु अनेक प्रसंगों में तथा दो-एक शीलवान् महात्माओं के द्वारा भी यह सुना गया कि यह निश्चयतः सत्य है।] ॥ ५८ ॥

अदृष्टसूर्येषु गुहोदरेषु युक्तात्मनामात्मतमोऽहितानाम् ।
स्वयम्प्रकाशैर्मणिभिः फणीन्द्रा नीराजनामारचयन्ति यत्र ॥ ५९ ॥

यत्र अदृष्टसूर्येषु गुहोदरेषु आत्मतमोऽहितानां युक्तात्मनां फणीन्द्राः स्वयम्प्रकाशैः मणिभिः नीराजनाम् आरचयन्ति ॥ ५९ ॥

सूर्य की किरणों से अदृश्य, कन्दराओं के अन्तराल में समदृष्टि, आत्मप्रतिष्ठ एवं आत्मघ्न रागों के उन्मूलक साधकों की सिद्धिभूमि को प्रभापूर्ण अपनी मणियों द्वारा भयंकर सर्प आरती किया करते हैं। सर्प की मणि से अँधेरी गुफायें प्रकाशित हो जाती हैं ॥ ५९ ॥

हिमालये सर्वमहीध्रमौलावाबद्धसंरम्भमतेरिवास्य ।
स्वर्वाहिनी तद्धृदयप्रतिष्ठा पाद्यैः स्वयं सान्त्वविधिं तनोति ॥ ६० ॥

सर्वमहीध्रमौलौ हिमालये आबद्धसंरम्भमतेः इव अस्य सान्त्वविधिं तद्हृदयप्रतिष्ठा स्वर्वाहिनी स्वयं पाद्यैः तनोति ॥ ६० ॥

हिमालय निखिल-शैल-कुल-श्रेष्ठ हैं, उसी हिमालय के प्रति एक बार इस विन्ध्याद्रि के क्रुद्ध हो जाने के कारण हिमालय की हृदयप्रतिष्ठा, हृदय से विनिस्सृत देवनदी आज भी विन्ध्य को प्रसन्न करने के लिए, शान्त करने के लिए पाद्य (पैर धोने के जल) द्वारा समर्चा कर रही हैं ॥ ६० ॥

सौन्दर्यसूतेर्जगदम्बिकायाः पुरो ह्रिया स्तब्धधिया प्रसह्य ।
सुराङ्गनानां न विलासलीला हिनस्ति धैर्यं व्रतिनां गणस्य ॥ ६१ ॥

सौन्दर्यसूतेः जगदम्बिकायाः पुरः प्रसह्य स्तब्धधिया ह्रिया सुराङ्गनानां विलासलीला व्रतिनां गणस्य धैर्यं न हिनस्ति ॥ ६१ ॥

देवी के भक्तों को, साधकों को कामादि बाधा विकल नहीं करती। सौन्दर्य को उत्पन्न करनेवाली जगन्माता महाकाली के सम्मुख लज्जा एवं कुण्ठितबुद्धि के कारण सुरांगनायें (सुरा तथा कामिनी अथवा सुरा से उन्मद कामिनी या अप्सरायें) अपनी विलासलीला से साधकों, तपस्वियों के धैर्य को खण्डित नहीं करतीं [जो स्वयं सौन्दर्य की आदिशक्ति हैं उनके भक्तों को सौन्दर्य किस प्रकार विकल कर सकता है तथा ('स्त्रियः समस्ता स्तव देवि भेदाः') स्त्री जाति आपका ही स्वरूप है—यह अपने आप में इतना प्रभावी अस्त्र है कि कामबाधा विफलमनोरथ ही होगी।]॥६१॥

ग्रावप्रथायामवनौ प्रसूतः स्वातन्त्र्यदृप्तः पुरुषार्थसारः ।
प्रत्येति कुत्रापि जनो न लोके शौर्यस्थितिं विन्ध्यभुवं विहाय ॥ ६२ ॥

ग्रावप्रथायाम् अवनौ प्रसूतः स्वातन्त्र्यदृप्तः पुरुषार्थसारः जनः लोके विन्ध्यभुवं विहाय कुत्र अपि शौर्यस्थितिं न प्रत्येति ॥ ६२ ॥

चट्टानों, पत्थरों (ठोस, कठिन, खुर्दुरा तथा अप्रभावित—ये पत्थर के गुण हैं) से भरी इस विन्ध्यभूमि में उत्पन्न, स्वाधीनता की भावना से गर्वित तथा पौरुषयुक्त युवक विन्ध्यभूमि के अतिरिक्त कहीं भी शौर्य, पराक्रम की सत्ता को स्वीकार नहीं

करता। विन्ध्यनिवासी के अनुसार शौर्य केवल विन्ध्याञ्चल में ही उत्पन्न होता है। [बुन्देलखण्ड, बघेलखण्ड, मीरजापुर, झांसी आदि स्थल इसी विन्ध्याञ्चल की ही शोभा बढ़ाते हैं, यदि यह धारणा है तो अस्वाभाविक नहीं है।]॥ ६२ ॥

द्विषद्-भुजङ्गाकुल-राजमार्गानपथ्यमूलान् कलयन् नरेन्द्रः।
पथा चरन् चारनिवेदितेन विघ्नानुपायेन विलङ्घमानः॥ ६३ ॥

नरेन्द्रः द्विषद्-भुजङ्गाकुल-राजमार्गान् अपथ्यमूलान् कलयन् चारनिवेदितेन पथा चरन् उपायेन विघ्नान् विलङ्घमानः॥ ६३ ॥

६३-६४ एकक्रियान्वयी हैं। प्रधान मार्गों को शत्रुरूपी सर्पों से समाकुल जानकर तथा आत्मरक्षा के लिए घातक जानकर क्षत्रपति अपने विश्वस्त व्यक्ति द्वारा बताये गये मार्ग से उपस्थित विघ्नों से अपने को बचाते हुए, ॥ ६३ ॥

दुश्शासनोन्मादजडीकृतानां विसर्पि पश्यन् व्यसनं प्रजानाम्।
विपश्चितां शस्त्रभृताञ्च कुण्ठां ततार राजा विषयान् निगूढम्॥ ६४ ॥

दुश्शासनोन्मादजडीकृतानां प्रजानां विसर्पि व्यसनं विपश्चितां शस्त्रभृतां कुण्ठाम् च पश्यन् राजा निगूढं विषयान् ततार॥ ६४ ॥

उन्मत्त अविवेकी कुशासन से निष्चेष्ट, हतोत्साह, प्रजाजन के क्रमशः बढ़ते हुए दुःखों को देखते हुए विद्वानों तथा शस्त्रधारियों की कुण्ठा को समझते हुए राजा ने परिवर्तित वेष में अनेक जनपदों को सकुशल, निरापद पार किया॥ ६४ ॥

बुधा विरक्ताः प्रकृतिर्विपन्ना दुरन्तकुण्ठाकृपणा भटाश्च।
अपथ्यवृत्तिर्नृपतिस्तथापि मिथो विभेदात् पतितो हि देशः॥ ६५ ॥

बुधाः विरक्ताः प्रकृतिः विपन्ना भटाः च दुरन्तकुण्ठाकृपणाः नृपतिः अपथ्यवृत्तिः तथापि मिथः विभेदात् हि देशः पतितः॥ ६५ ॥

विद्वज्जन विरक्त थे, प्रजा दुखी थी, शस्त्रधारी सैनिक भी दुस्सह कुण्ठा के कारण अवसादग्रस्त थे, स्वयं राजा अदूरदर्शी तथा क्षणबुद्धि था, फिर भी पारस्परिक विरोध एवं अविश्वास के कारण देश दासता में जकड़ा था॥ ६५ ॥

लोकेषु जाग्रत्सु निशाभिमानी निद्राविलीनेषु निरस्ततन्द्रः।
निरापदं जन्मभुवं दिदृक्षुर्युक्त्या जयन् दैवमपि प्रतीपम्॥ ६६ ॥

जाग्रत्सु लोकेषु निशाभिमानी निद्राविलीनेषु निरस्ततन्द्रः जन्मभुवं निरापदं दिदृक्षुः युक्त्या प्रतीपं दैवम् अपि जयन्॥ ६६ ॥

६६-६७ एकक्रियान्वयी हैं। जब दुनिया जगती थी तब वे सोते थे, जब संसार सोता था तब वे आलस्यहीन होकर आगे बढ़ते थे, इस प्रकार बाधाओं, आपत्तियों से बचते हुए जन्मभूमि को देखने, पहुँचने की लालसा से प्रतिकूल दैव को भी बुद्धिमत्तापूर्वक व्यर्थ करते हुए,॥ ६६ ॥

तरन् तरङ्गानगमापगानां धराधराणां नमयन् शिरांसि ।
यातः स येनानवरुद्धधामा वर्त्माभिधानं तदवाप लोके ॥ ६७ ॥

अगमापगानां तरङ्गान् तरन् धराधराणां शिरांसि नमयन् अनवरुद्धधामा सः येन यातः तत् लोके वर्त्माभिधानम् अवाप ॥ ६७ ॥

दुस्तर नदियों की लहरों को पार करते हुए, पर्वतों के शिखरों को झुकाते हुए, वे महाराज अकुण्ठित, अप्रतिहत गति द्वारा जिधर से भी निकल गये वही संसार में 'रास्ता' के नाम से विख्यात हो गया ।

[महान् नैयायिक उदयनाचार्य ने एक बार सभास्थल में परम्परावादियों को, विवेक का प्रयोग न करनेवालों को ललकारते हुए कहा था—

वयमिह पदविद्यां तर्कमान्वीक्षिकींवा यदि पथि विपथे वा वर्तयामः स पन्थाः ।
उदयति दिशि यस्यां भानुमान् सैव पूर्वा, नहि तरणिरुदीते दिक्पराधीनवृत्तिः ॥

हम व्याकृति, तर्क, न्याय आदि को पथ-विपथ जहाँ पर भी प्रयुक्त करेंगे वही दूसरों (सामान्यजनों) के लिए मार्ग होगा, प्रमाण होगा । परम्पराओं में विशेषतः रूढ़ियों में बुद्धिहीन प्राणी व्यापृत होते हैं, बुद्धि ही परम्पराओं की नियामक है । झूठ है कि सूर्य पूर्व में उदित होता है, यों कहिये कि जहाँ सूर्य उगता है वही पूर्व दिशा हो जाती है—सूर्य दिशा का वशवर्ती होकर नहीं उदित होता ।] ॥ ६७॥

सुदुर्गमारण्यघनान्तरालं प्रत्यन्तशैलान्तरितान्धगर्ताः ।
अज्ञातशीलाः सरितोऽपि तस्य नाध्वावरोधं विदधुः सुधाम्नः ॥ ६८ ॥

सुदुर्गम् आरण्यघनान्तरालं प्रत्यन्तशैलान्तरितान्धगर्ताः अज्ञातशीलाः सरितः अपि तस्य सुधाम्नः अध्वावरोधं न विदधुः ॥ ६८ ॥

घने जंगलों का अत्यन्त बीहड़ दुष्प्रवेश्य अन्तराल, पहाड़ियों-चट्टानों से छिपे हुए पार्श्ववर्ती गहरे गड्ढे तथा खड्ड, अपनी गहराई तथा जलचर जीवों के सम्बन्ध में, सर्वथा अपरिचित नदियाँ भी उस संकल्पचेता तेजस्वी क्षत्रपति के मार्ग को रोक न सके ॥ ६८ ॥

मणिप्रभे किं मणिकेऽस्तशङ्कं शिवं निनीषस्यपदेशशौण्डम् ।
इतिस्मितास्यैर्युवभिर्वधूट्यः पृष्टाः सहेलं क्षितिपेन दृष्टाः ॥ ६९ ॥

मणिप्रभे ! मणिके अस्तशङ्कम् अपदेशशौण्डं शिवं निनीषसि किम्, इति स्मितास्यैः युवभिः सहेलं पृष्टाः वधूट्यः क्षितिपेन दृष्टाः ॥ ६९ ॥

किशोरी कन्याओं को सिर पर बड़ा मटका (कुण्डा) रखकर चलते हुए देखकर परिहास करते हुए युवकों ने कहा—

अरी मणि के समान दीप्त वर्णवाली ! यह निर्भयतापूर्वक इतने बड़े मटके में क्या ले जा रही हो, कहीं प्रतारित करने में दक्ष शिवाजी को तो नहीं ले जा रही

हो। स्वयं क्षत्रपति महाराज ने इस प्रकार के विनोद को मार्ग में चलते हुए सुना ॥ ६९ ॥

मिष्टानुबन्धच्छलितावनीशं तमार्यनाथं हृदयेऽपि गोप्तुम्।
समीहते का कुलजा न मुग्धा इति क्षिपन्ती मणितिर्ननन्द ॥ ७० ॥

मुग्धाः, मिष्टानुबन्धच्छलितावनीशं तम् आर्यनाथं हृदये अपि गोप्तुं का कुलजा न समीहते—इति क्षिपन्ती मणितिः ननन्द ॥ ७० ॥

[क्षत्रपति के कारागृह से पलायित होने का समाचार अनेक किंवदन्तियों से सम्बद्ध होकर समाज में फैल गया था, उनकी चतुराई तथा पहरेवालों की मूर्खता पर लोग लोटपोट हो जाते थे]।

और उस यौवनोन्मुखी कन्या का प्रत्युत्तर था—मन्दबुद्धियो! मिठाई के माध्यम से बादशाह को धता बताकर (मूर्ख बनाकर) कैद से बाहर आ जानेवाले उस आर्यनाथ क्षत्रपति को अपने हृदय में भी छिपा लेना कौन कुलवती कन्या नहीं चाहेगी—इस प्रकार उन युवकों को चुप कराती हुई उक्ति गूंज उठी ॥ ७० ॥

सुषुप्तिनिर्बन्धभरे नृलोके स्वान्तःप्रभादर्शितवर्त्मबोधम्।
श्यामाऽपवार्याम्बुदकेशपाशं तं कौतुकाच्चन्द्रमुखी ददर्श ॥ ७१ ॥

सुषुप्तिनिर्बन्धभरे नृलोके चन्द्रमुखी श्यामा अम्बुदकेशपाशम् अपवार्य स्वान्तःप्रभादर्शितवर्त्मबोधं तं कौतुकात् ददर्श ॥ ७१ ॥

रात में जब संसार मीठी नींद में बेखबर सो जाता था तब भी उस वर्षाकाल में रास्ते पर चलते हुए क्षत्रपति को कौतूहलपूर्ण उत्सुकता से अपनी मेघमाला सी केशराशि को अपने मुँह से हटाकर चन्द्रमुखी श्यामा (नवयुवती या रात्रि) अपनी कान्ति से मार्गबोध कराती हुई सी उन्हें देखती थी।

[रात्रि में मेघाच्छन्न आकाश के नीचे जब कभी बादलों से मुक्त चन्द्रमा दिखाई पड़ जाता था तब उन पथिकों को मार्ग का बोध हो जाता था अन्यथा उसी अन्धकार में वे यात्रा करते थे।] ॥ ७१ ॥

क्षणं नवाम्भोधररुद्धरन्ध्रे वियद्गवाक्षे चपलेङ्गितेन।
तेनुर्दराकुञ्चिततारकाक्ष्यः स्वर्योषितो विभ्रमवीक्षितानि ॥ ७२ ॥

क्षणं नवाम्भोधररुद्धरन्ध्रे वियद्गवाक्षे दराकुञ्चिततारकाक्ष्यः स्वर्योषितः चपलेङ्गितेन विभ्रमवीक्षितानि तेनुः ॥ ७२ ॥

[घटाटोप मेघमाला से आच्छन्न आकाश क्षण भर के लिए बिजली की प्रभा से आलोकित हो जाता था। कुछ तारे भी आकाश में टिमटिमाते हुए दिखाई पड़ जाते थे। इसी तथ्य को स्पष्ट कर रहे हैं—]

आकाशरूपी वातायन के नवीन मेघमालारूपी काले परदे से सर्वथा ढक जाने

पर कभी-कभी क्षण भर के लिए परदे को (बादलों को) हटाकर अपनी आँख की पुतलियों (तारकों, ताराओं, कनीनिका) को आकुञ्चित करके चपल इंगित से (बिजली के इशारे से) स्वर्ग की सुन्दरियाँ लीलावलोकन (विलासनिर्भर दृष्टिपात) करती थीं॥७२॥

गर्जत्पयोदाः क्षणमेव हर्षैर्वर्षैरिवाऽऽरब्धविविक्तमौनम् ।
झिल्लीरवैर्डिण्डिमनिर्विशेषैरुद्वेजयामासुररण्यशीलम् ॥ ७३ ॥

क्षणम् एव हर्षैः इव वर्षैः गर्जत्पयोदाः आरब्धविविक्तमौनम् अरण्यशीलं डिण्डिमनिर्विशेषैः झिल्लीरवैः उद्वेजयामासुः ॥ ७३ ॥

क्षण भर में गरजते हुए बादल हर्षपूर्ण वर्षा से सब कुछ शान्त निस्तब्ध करते हुए, मौनपूर्ण वातावरण की सृष्टि करते हुए डिण्डिम (तम्बूरा) जैसे झिल्ली की भंकार से वन की मर्यादा को उद्विग्न, क्षुब्ध कर देते थे ॥ ७३ ॥

स्थूलान् क्वचिद्वर्त्मनि तोयबिन्दून् क्वचिन्मरुन्मिश्रितसेचनानि ।
घर्मान्तरोष्मव्यसनानि पान्थाः क्वचित् पथातिथ्यमिवान्वभूवन् ॥ ७४ ॥

क्वचित् वर्त्मनि स्थूलान् तोयबिन्दून् क्वचित् मरुन्मिश्रितसेचनानि क्वचित् घर्मान्तरोष्मव्यसनानि पथातिथ्यम् इव पान्थाः अन्वभूवन् ॥ ७४ ॥

मार्ग में कहीं पर टप-टप गिरती हुई वर्षा की बड़ी-बड़ी बूँदें, कहीं ठण्डी हवा से युक्त वर्षा से सींची जाती सी फुहार, तो कहीं पर छिपी धूप को गर्मी (धूप-बदरी—जब बादलों से सूर्य कभी-कभी बाहर दिखाई पड़ता है और भीषण उमस व्याकुल कर देती है) और उत्तापपूर्ण उमस की आकुलता—इन स्थितियों को मार्ग में प्राप्त आतिथ्य के समान उन पथिकों ने शिरोधार्य किया ॥ ७४ ॥

क्वचित् प्रणादैर्गिरिनिर्झराणां शैलापगानां क्वचिदुग्रवेगैः ।
क्षणस्थिराभिश्च तडित्प्रभाभिर्घोराऽपि तानाश्रयदेव सृष्टिः ॥ ७५ ॥

क्वचित् गिरिनिर्झराणां प्रणादैः क्वचित् शैलापगानाम् उग्रवेगैः क्षणस्थिराभिः तडित्प्रभाभिः घोरा अपि सृष्टिः तान् आश्रयत् एव ॥ ७५ ॥

कहीं ऊँचे पहाड़ों से गिरते हुए झरनों की अजस्र जलधार की दूर से ही सुनाई पड़नेवाली ध्वनि से, कहीं पहाड़ी तीव्रगतिवाली नदियों के दुर्लंघ्य वेग से, कहीं पर क्षण भर के लिए चमक जानेवाली बिजली की प्रभा से भयंकर प्रतीत होती हुई भी सृष्टि ने उन अतिथियों को यथासाध्य आश्रय दिया ॥ ७५ ॥

अधिक्षिपन्ती तदनीकृत्यमातिथ्यदैन्याभिनिवेशतप्ता ।
वाचंयमा केवलमश्रुलेखैरुपाचरत्तं पथि पौरमुख्या[1] ॥ ७६ ॥

१. क्वचित् पत्तने निगूढसंस्तवानातिथ्यकामान् तान् पौरमुख्या काचित्पटेलकान्ता शिवबलाभियानहृतवैभवा साधिक्षेपं तदाचारं निनिन्द । क्षत्रपतिरपि तस्याः नाम ग्रामादिपूर्वकं हृतधनमूल्यञ्च विज्ञाय स्वराजधानीं गत्वा तां द्विगुणधनपूर्णामकरोत् ।

पथि आतिथ्यदैन्याभिनिवेशतप्ता तदनीकृत्यम् अधिक्षिपन्ती वाचंयमा पौरमुख्या तं केवलम् अश्रुलेखैः उपाचरत् ॥ ७६ ॥

[रास्ते में ये निगूढ़ वेषवाले पथिक किसी गाँव में मुखिया के यहाँ अतिथि हुए। मुखिया की पत्नी उचित सत्कार करने में असमर्थ होने के कारण मराठी फौज को कोसने लगी ओर बिलखकर कहा कि वह सत्कार करना जानती है तथा चाहती भी है किन्तु लुटेरे मराठों ने सब कुछ लूट लिया, कुछ भी न छोड़ा। उनका बुरा हो।]

मार्ग में किसी गाँव के मुखिया की पत्नी ने क्षत्रपति के सिपाहियों के कुकृत्य की निन्दा की, वह आतिथ्य करने में अपनी विपन्नता के कारण अति दुःखी थी, चुपचाप आँसू बहाती हुई उस मुखिया की पत्नी ने किसी प्रकार उनका आतिथ्य-सत्कार किया ॥ ७६ ॥

प्रजाप्रियो लुण्ठितसम्पदं तामापूर्य पौरैः सह रिक्तरिक्थाम् ।
चमूपतीनादिशदक्षताज्ञः तद्वर्त्मवर्जं विजयप्रयोगम् ॥ ७७ ॥

पौरैः सह लुण्ठितसम्पदं रिक्तरिक्थां ताम् आपूर्य अक्षताज्ञः प्रजाप्रियः चमूपतीन् तद्वर्त्मवर्जं विजयप्रयोगम् आदिशत् ॥ ७७ ॥

प्रजाप्रिय क्षत्रपति ने सैनिकों द्वारा सताई गयी लुटी हुई उस मुखिया की पत्नी के साथ ही गाँव के सभी लोगों की लुटी सम्पत्ति को फिर से पूरा करते हुए अपने सेनापतियों को सदा के लिए यह आदेश दिया कि इस प्रकार के कामों में जिससे निर्दोष प्रजाजन की सम्पत्ति का विनाश होता है, भूलकर भी हाथ न डालें। उनका विजय-अभियान सदैव इस बात का ध्यान रखे कि प्रजा की रक्षा सर्वोपरि है ॥ ७७ ॥

प्रत्यूहकल्पानिव सौख्यतल्पान् भोगान् विषाक्तानिव मन्यमानाः ।
अहोनिशं चैकपदे नयन्तो जन्मावनावेव निबद्धभावाः ॥ ७८ ॥

जन्मावनौ एव निबद्धभावाः अहः निशं च एकपदे नयन्तः सौख्यतल्पान् प्रत्यूहकल्पान् इव भोगान् विषाक्तान् इव मन्यमानाः ॥ ७८ ॥

सुखपूर्ण बिछौनों को, सुखपूर्ण नींद को विघ्न के समान समझते हुए, भोगों को विष से भरा मानते हुए, दिन और रात को एक ही कदम में पूर्ण करते हुए (शीघ्रता के कारण) जन्मभूमि को पुनः देखने की भावना में अपने को केन्द्रित करते हुए, ॥ ७८ ॥

तामेकधात्रीमिव भूतधात्रीं दिष्ट्यैव दृष्ट्वापि निमीलिताक्षाः ।
कृच्छ्राद्बबन्धुः कृपणाः प्रतीतिं पान्थाः स्वपुण्येषु पुराकृतेषु ॥ ७९ ॥

दिष्ट्या एव एकधात्रीम् इव भूतधात्रीं तां दृष्ट्वा अपि निमीलिताक्षाः कृपणाः पान्थाः पुराकृतेषु स्वपुण्येषु कृच्छ्रात् प्रतीतिं बबन्धुः ॥ ७९ ॥

सम्पूर्ण प्राणियों को सँभालनेवाली, एक मात्र जननी उस मातृभूमि को भाग्य-वश देखकर भी आँखों को मानो आश्चर्य से खोलते हुए वे मार्ग के श्रम एवं कष्ट से विपन्न एवं उत्कण्ठित पान्थगण बड़ी कठिनता से विश्वास कर पाते थे कि उन्होंने पूर्वजन्म में कुछ शुभकर्म, पुण्य भी किया है ॥ ७९ ॥

अपार्थिवः सत्त्वरमोऽपि वायुर्मौनं नभोऽव्यक्तगिरो विहङ्गाः ।
समाह्वयन्तः प्रणयानुभावैस्तेभ्यो वितेनुश्चिरदृष्टिमोहम् ॥ ८० ॥

सत्त्वरमः अपि अपार्थिवः वायुः मौनं नभः अव्यक्तगिरः विहङ्गाः प्रणयानुभावैः समाह्वयन्तः तेभ्यः चिरदृष्टिमोहं वितेनुः ॥ ८० ॥

सब कुछ वही था—वही आकाश, वही हवा, वे ही मीठी तानवाले पंछी, किन्तु प्रतीत होता था जैसे वे सर्वथा नये हों, उन्हें देखते आँखें थकतो ही न थीं।

वही रूपरहित किन्तु देहधारियों का प्राण वायु था, शान्त मौन आकाश था तथा अस्पष्ट, (जो स्पष्ट न हो) कलध्वनिवाले पंछी थे, किन्तु ऐसा प्रतीत होता था मानो वे प्रेम पेशल, स्नेहनिर्भर हृदय से इन यात्रियों को बुला रहे हों। और वे पथिक आत्मविस्मृत होकर इस प्रकार निर्निमेष दृष्टि से देखने लगे मानो उन्हें दृष्टि मोह हो गया हो (पहचानने का यत्न कर रहे हों।) ॥ ८० ॥

ता एव नद्यो वनभूभृतस्ते स एव लोकः प्रथिताध्वसेवी ।
तथापि सर्वं नवसर्गकल्पमासेचनं तद्वितनान तेभ्यः ॥ ८१ ॥

ताः एव नद्यः ते वनभूभृतः प्रथिताध्वसेवी सः एव लोकः तथापि नवसर्गकल्पं तत् सर्वं तेभ्यः आसेचनं वितनान ॥ ८१ ॥

वे ही नदियाँ थीं, वन-पर्वत भी वही थे, उचित मार्ग का अभ्यस्त वही मानव समाज भी था। फिर भी नयी सृष्टि के समान सब कुछ आँखों को अतिशय शीतल कर रहा था। प्रतीत होता था उन्होंने वैसी सौन्दर्य-विभूति कभी देखी ही न हो ॥ ८१ ॥

निरस्तधैर्याः सहसा मिथस्ते पाथोधिगाम्भीर्यधियोऽपि वीराः ।
भृशं गलन्नेत्र - जलाभिषेके परस्परश्लेषगुणे बबन्धुः ॥ ८२ ॥

सहसा पाथोधिगाम्भीर्यधियः अपि निरस्तधैर्याः ते वीराः मिथः भृशं गलन्नेत्रजलाभिषेके परस्परश्लेषगुणे बबन्धुः ॥ ८२ ॥

समुद्र के समान बुद्धिगाम्भीर्यवाले वे पराक्रमी पथिक भी सहसा गलित-धैर्य होकर आँखों से निर्भर अश्रुधार बहाते हुए एक दूसरे से दृढ़ आलिंगन में बँध गये तथा एक दूसरे को अश्रुजल से अभिषिक्त कर दिया ॥ ८२ ॥

निर्धूतमोहेऽपि चिरप्रवासाज्जने हठात् पश्यति जन्मभूमिम् ।
नियन्त्रितस्नेहभरप्रवाहो मोघीकरोत्येव विवेकबन्धम् ॥ ८३ ॥

निर्धूतमोहे अपि जने चिरप्रवासात् जन्मभूमिं पश्यति नियन्त्रितस्नेहभरप्रवाहः हठात् विवेकबन्धं मोघीकरोति एव ॥ ८३ ॥

व्यक्ति भले ही मोह-ममताशून्य हो तथा विवेक में प्रतिष्ठित हो, फिर भी दीर्घकालीन प्रवास के बाद जब वह फिर अपनी जन्मभूमि को देखता है तो चिरकाल से नियन्त्रित उसका स्नेह-प्रवाह उसके विवेकरूपी बाँध को सहसा तोड़कर उसे व्यर्थ करता हुआ फूट पड़ता है, बह निकलता है [और यहाँ तो कुछ अन्य विशेषतायें भी थीं—बादशाह औरंगजेब की कैद से छूटकर फिर स्वदेश पहुँच जाना सर्वथा असम्भव घटना थी। फिर मार्ग के वे अनन्त कष्ट, सचमुच महाराष्ट्र-भूमि के पुण्य ने ही क्षत्रपति को उस निश्चित विनाश से बचाया।] ॥ ८३ ॥

अथैकसूनुव्यसनानुतापोत्तप्तात्मने शीतनिषेककल्पम् ।
संन्यासिनामागमनं जनन्यै द्वाःस्थो न्यवेदीत् पृथुपुण्यशंसि ॥ ८४ ॥

अथ एकसूनुव्यसनानुतापोत्तप्तात्मने जनन्यै द्वाःस्थः शीतनिषेककल्पं पृथुपुण्यशंसि संन्यासिनाम् आगमनं न्यवेदीत् ॥ ८४ ॥

और तब एक मात्र पुत्र के विषम दुर्भाग्य-दुःख से अतिसन्तप्तहृदया माता जीजाबाई के लिए शीतल लेपद्रव के समान सुखद समाचार द्वारपाल ने सुनाया कि कुछ संन्यासी महात्मा पधारे हैं। यह समाचार सचमुच महान् पुण्य का द्योतक था ॥ ८४ ॥

निदाघतप्तामिव सस्यलक्ष्मीं यशस्विनीं भूतिसिताङ्गरागाः ।
तां तीर्थभूतामिव तीर्थगास्ते शप्तामपश्यन्निव देववाचम् ॥ ८५ ॥

भूतिसिताङ्गरागाः ते तीर्थगाः तां यशस्विनीं निदाघतप्तां सस्यलक्ष्मीम् इव तीर्थभूताम् इव शप्तां देववाचम् इव अपश्यन् ॥ ८५ ॥

उन तीर्थयात्री महात्माओं ने तीर्थरूपिणी उस माता जीजाबाई को देखा मानो ग्रीष्म से झुलसी हुई हरी खेती हो। श्वेत भस्म से लिप्त शरीरवाले उन संन्यासियों को यशस्विनी माता जीजाबाई अभिशप्त देववाणी, संस्कृत भाषा के समान प्रतीत हुईं ॥ ८५ ॥

स्वस्तीति यावत् प्रथमो बभाषे मात्रेऽतिकृच्छ्रादवरुद्धवाष्पः ।
तावच्छिरस्तच्चरणे निधाय व्यस्मापयत्तां सहठं द्वितीयः ॥ ८६ ॥

अतिकृच्छ्रात् अवरुद्धवाष्पः प्रथमः यावत् मात्रे 'स्वस्ति' इति बभाषे तावत् द्वितीयः तच्चरणे शिरः निधाय तां सहठं व्यस्मापयत् ॥ ८६ ॥

अपने भर्राये कण्ठ को किसी प्रकार रोककर उन सन्तों में जबतक एक ने राजमाता को 'स्वस्ति' कहा तबतक दूसरे ने माता के चरणों में सहसा अपना सिर डालकर उन्हें महान् विस्मय में डाल दिया ॥ ८६ ॥

मा मा विभो पातय मामपुण्यामित्याप्तवर्त्मा जननी वदन्ती ।
स्वाङ्के स्ववात्सल्यरसप्रतिष्टं पुत्रं विवेदापशिरस्त्रशीर्षम् ॥ ८७ ॥

'विभो, माम् अपुण्यां मा मा पातय' इति वदन्ती आप्तवर्त्मा जननी अपशिरस्त्रशीर्षं स्ववात्सल्यरसप्रतिष्ठं पुत्रं विवेद ॥ ८७ ॥

हाँ, हाँ, प्रभो, मुझ पुण्यहीना को पापभागिनी न बनायें इस प्रकार श्रेष्ठ आचारवाली माता संन्यासी से कहती हुई, अपने वात्सल्य रस के कारण उस पुत्र को, अपनी गोद में शिरस्त्राणरहित उसके सिर को देखकर पहचान गयीं ॥ ८७ ॥

प्रवासतप्ताद्धृदयप्रदेशाद् वाष्पीभवन् श्वाससमीरूढः ।
सम्भृत्य शून्यान्तरमाप्तयोगः शोकोऽबुम्दोऽवर्षदिवाश्रुधारम् ॥ ८८ ॥

प्रवासतप्तात् हृदयप्रदेशात् वाष्पीभवन् श्वाससमीरूढः शून्यान्तरं सम्भृत्य आप्तयोगः शोकः अम्बुदः इव अश्रुधारम् अवर्षत् ॥ ८८ ॥

भारत में मानसून की वर्षा होती है। विज्ञान बतलाता है कि सूर्यकिरणों द्वारा पानी सूखकर भाप बन जाता है, हवा में मिलकर वह आकाश पर चढ़ता तथा फैलता है, उचित योग से संवलित होकर जल के रूप में पृथ्वी पर बरस जाता है। राजगढ़ के दुर्ग में भी यही घटना घटी। कठिन प्रवास से हृदय-रस संतप्त हो वाष्प बन गया, श्वास वायु के द्वारा ऊपर उठा, शून्य (हृदय) प्रदेश में फैल गया, उचित योग (पुत्र-मिलन) पाकर वही शाकमेघ अश्रुधार के रूप में आँखों से बरस पड़ा, (सभी का हृदय शोकरहित हो गया। सभी निर्मुक्त अश्रुधार बहाने लगे।) ॥ ८८ ॥

कम्पस्खलत्सूनुकरावलग्ना निमीलिताक्षी हृतचेतनेव ।
हठात् पतन्ती खलु तेन सास्रमङ्के धृता दैन्यकृशाङ्गयष्टिः ॥ ८९ ॥

कम्पस्खलत्सूनुकरावलग्ना निमीलिताक्षी दैन्यकृशाङ्गयष्टिः हृतचेतना इव हठात् पतन्ती तेन खलु सास्रम् अङ्के धृता ॥ ८९ ॥

काँपती हुई माता गिरने ही वाली थीं कि पुत्र ने अपने हाथों में सँभाल लिया। वे इस असम्भाव्य सुख से विवश, अचेत सी होने लगीं। आँखों से आँसू बहाते क्षत्रपति ने उस दुःखकातर अतिदुर्बल शरीरवाली माता को अपनी गोद में सँभाल लिया ॥ ८९ ॥

स्वस्था सती ताननुगान् निरीक्ष्य प्रोवाच माता जितलोकधाम्नः ।
पुत्रा भवत्स्नेहबलेन नूनं नष्टाऽप्यहं पुत्रवती कृताऽद्य ॥ ९० ॥

स्वस्था सती तान् जितलोकधाम्नः अनुगान् निरीक्ष्य माता प्रोवाच, पुत्राः ! नूनं भवत्स्नेहबलेन नष्टा अपि अहम् अद्य पुत्रवती कृता ॥ ९० ॥

स्वस्थ होकर माता ने उन पथिकों, क्षत्रपति के साथियों को प्रेम से देखते हुए कहा—पुत्रों, तुम लोगों की निष्ठा और स्नेह ने ही मुझ भाग्यहीना को आज फिर यह शुभ दिन दिखाया और मैं पुत्रवती हुई ॥ ९० ॥

पुण्यं न पश्यामि किमप्यमोघमित्थं स्वभाग्योदयवर्त्मदर्शि ।
भवादृशा वा कथमल्पपुण्यैर्लभ्याः सहायाः कुटिलेऽपि काले ॥ ९१ ॥

इत्थं स्वभाग्योदयवर्त्मदर्शि किमपि अमोघं पुण्यं न पश्यामि, वा कुटिले अपि काले अल्पपुण्यैः भवादृशाः सहायाः कथं लभ्याः ॥ ९१ ॥

विचार करने पर मैं नहीं जान पाती कि ऐसा कौन सा अमोघ पुण्य किया था जिसने मेरे भाग्योदय का मार्ग प्रशस्त किया। अथवा यह भी कैसे कहूँ। इस कठिन समय में भी तुम लोगों जैसे साथी क्या किसी अल्पपुण्यवाले को प्राप्त हो सकते हैं ! ॥ ९१ ॥

ततो भृशं पूरितदिङ्मुखानां वाद्योत्तमानामपि विस्मृतानाम् ।
नादः शिवस्यागमनं प्रजाभ्यो न्यवेदयच्छोकनिशावसानम् ॥ ९२ ॥

ततः भृशं पूरितदिङ्मुखानां विस्मृतानाम् अपि वाद्योत्तमानां नादः शिवस्य शोक-निशावसानम् आगमनं प्रजाभ्यः न्यवेदयत् ॥ ९२ ॥

और तब सहसा बहुत दिन से विस्मृति के गर्त में पड़े हुए अनेक प्रकार के वाद्यों की मनोहर ध्वनि दिगन्त में फैल गयी और प्रजाजनों को ज्ञात हो गया कि उनकी दुःखरजनी बीत गयी तथा महाराज क्षत्रपति सकुशल वापस आ गये ॥ ९२ ॥

पूर्णालवालो मुमुदे रसालो मही च सा तन्महती प्रतिष्ठा ।
निरस्तदोषा पुनरुद्भवाय सङ्कल्पसंश्लेषमवाप शक्तिः ॥ ९३ ॥

पूर्णालवालः रसालः तन्महती प्रतिष्ठा सा मही च मुमुदे पुनः उद्भवाय निरस्तदोषा शक्तिः सङ्कल्पसंश्लेषम् अवाप ॥ ९३ ॥

भरे हुए थाल (पेड़ की जड़ के चारों ओर बनाया गया गोल घेरा जिसको पानी, खाद से भर दिया जाता है) वाला आम हर्षमग्न हो झूम उठा, और उस आम की प्रसवस्थली वह भाग्यशालिनी पृथिवी भी आनन्दविभोर हो गयी। सर्वथा निर्दोष (दोषरहित या रात्रिरहित) शक्ति भी पुनः अभ्युदय प्राप्त करने के लिए संकल्प में प्रतिष्ठित हुई, शक्ति ने संकल्प का महान सहयोग प्राप्त किया ॥ ९३ ॥

हव्यानि जग्राह हिरण्यरेताः स्वाहार्पितानीव विभास्वरार्चिः ।
छन्दस्वती ब्रह्मविदां दिशाभिर्धृतावतंसप्रथिमा श्रुतौ वाक् ॥ ९४ ॥

विभास्वरार्चिः हिरण्यरेताः स्वाहार्पितानि इव हव्यानि जग्राह ब्रह्मविदां छन्दस्वती वाक् दिशाभिः श्रुतौ अवतंसप्रथिमा धृता ॥ ९४ ॥

(स्वाहा—अग्निदेव की पत्नी का नाम है।)

'स्वाहा' इस उच्चारण द्वारा प्रदत्त हव्य को (हवनीय वस्तु को) उत्तम प्रभावाले अग्निदेवता ने ग्रहण किया, (या स्वाहा, पत्नी द्वारा अर्पित हव्य को अग्नि ने प्रसन्न मन से ग्रहण किया भारतीय परिवारों में अब तक गृहस्वामिनी या पत्नी, पति को भोजन परसकर जिमाती रही हैं। नगरीय सभ्यता की प्रगति के कारण यह परम्परा विलुप्त हो रही है)। वेदपाठी ब्राह्मणों के मुख से निकली वेदवाणी की ध्वनि को दिग्वधुओं ने कर्णपूर के समान अपने कानों में धारण किया ॥ ९४ ॥

हठान्महाराष्ट्रजनान् विमुच्य बिभ्यत्तमः स्वाश्रयमाप्तुकामम् ।
सपत्नकान्तावदनेन्दुकान्ति घनोपरागोपहतां चकार ॥ ९५ ॥

हठात् महाराष्ट्रजनान् बिमुच्य स्वाश्रयम् आप्तुकामं विभ्यत् तमः सपत्नकान्तावदनेन्दुकान्ति घनोपरागोपहतां चकार ॥ ९५ ॥

महाराष्ट्र को आनन्दमग्न देखकर अन्धकार (नैराश्य) डर गया। डरे हुए अन्धकार ने हठपूर्वक महाराष्ट्र की जनता को छोड़कर, दूसरा आश्रयस्थल पाने के लिए शत्रु-कामिनियों के चन्द्रमुख की कान्ति को अपने दुर्वह ग्रहण से विपन्न कर दिया [ग्रहण से चन्द्रकान्ति तो मलिन हो ही जाती है—शत्रु-नारियाँ शिवाजी की मुक्ति से अपने सौभाग्य के प्रति शंकालु हो गयीं।] ॥ ९५ ॥

अन्यावरोल्लासमिवावरोद्धुं क्षणे क्षणेकीलित - कर्णपूरः ।
घोषः शतघ्नीजनितस्ततोऽसौ शून्यात्मनोऽरीन् बिभराम्बभूव ॥ ९६ ॥

अन्यावरोल्लासम् अवरोद्धुम् इव ततः असौ शतघ्नीजनितः कीलितकर्णपूरः घोषः क्षणे क्षणे शून्यात्मनः अरीन् बिभराम्बभूव ॥ ९६ ॥

तोपों से छूटते हुए गोलों की ध्वनि ने कर्णरन्ध्रों को पूर्णतः भर दिया। गोलों की ध्वनि ने चाहा कि इन उल्लास से भरे हुए कर्णरन्ध्रों में कोई अधम कोटि की हर्षध्वनि प्रविष्ट न होने पाये इसीलिए जहाँ तक कर्णरन्ध्र का परिमाण था उसी के अनुसार ठूँस-ठूँसकर वह ध्वनि प्रविष्ट हो गयी, फिर भी कुछ बच ही गयो, अस्तु, उसने शत्रुओं के सूने हृदयों को भर दिया (तोप की ध्वनि से शत्रु-हृदय भर उठा) ॥ ९६ ॥

किं वेपसे गर्भगृहेऽपि लीनो दीनो यथा मत्परिधानवर्मा ।
शेषे कथं नाथ न मुक्तशङ्कं जानन्नपि स्त्रीषु शिवायपद्याम् ॥ ९७ ॥

गर्भगृहे लीनः मत्परिधानवर्मा अपि दीनः यथा किं वेपसे, नाथ ! स्त्रीषु शिवायं-पद्यां जानन् अपि मुक्तशङ्कं कथं न शेषे ॥ ९७ ॥

क्षत्रपति से शत्रुता करनेवाला कोई दुर्गपति अतिशय भयभीत हो गया है। उसकी अनेक प्रेमिकायें, पत्नियाँ हैं, पर इस अवसर पर वह उनसे अपेक्षित सहानुभूति

न पाकर अपनी प्रथम पत्नी के पास पहुँचा है। इस पत्नी की उसने बहुधा उपेक्षा कर दी थी, आज वह स्त्री अपनी सपत्नियों से पिण्ड छुड़ाने का अच्छा अवसर पा गयी। पति को अपना स्त्रीजनोचित वस्त्र पहिना दिया है फिर भी वह आतंकित है, अस्तु, वह कह रही है—

सबसे बीचवाले निरापद गर्भगृह में हो फिर भी दीन के समान भय से काँप क्यों रहे हो, तुमको मैंने अपना लहँगा पहना दिया है यह तुम्हारे लिये रक्षाकवच है। प्रियतम, तुम निर्भय होकर क्यों नहीं सोते। तुम तो जानते ही हो कि क्षत्रपति या उनके सैनिक; स्त्रियों के प्रति कितनी पूज्यबुद्धि रखते हैं॥ ९७॥

अधोंऽशुकं स्यूतसुरत्नगुच्छं नीवी सुयत्नोदितहीरनीवी।
चोलान्तरे चोल्लसतीन्द्रनीलं नष्टेऽपि दुर्गे विपुलेयमुर्वी॥ ९८॥

स्यूतसुरत्नगुच्छम् अधोंऽशुकं, सुयत्नोदितहारनीवी नीवी चोलान्तरे इन्द्रनीलं च उल्लसति दुर्गे नष्टे अपि इयम् उर्वी विपुला॥ ९८॥

पेटीकोट, साये में उत्तम रत्नों का गुच्छा सिल दिया है, नीवी (कमर में जहाँ स्त्रियाँ साड़ी में गांठ बाँधती हैं) में उत्कृष्ट हीरे ही मूलधन के रूप में छिपा रखे हैं, चोली के भीतर नीलमणि संभालकर रखा है। अगर यह दुर्ग छोड़ना ही पड़ा तो चिन्ता नहीं, पृथिवी बड़ी लम्बी-चौड़ी है (कहीं भी धन रहनेपर प्रबन्ध हो ही जायेगा)॥ ९८॥

इत्थं सपत्नीभिदुरानुविद्धे, समीहमानाऽऽत्मनि शल्यरोपम्।
दुर्गादपि श्लाघ्यतरं स्वमानं रिरक्षुरेका रमणं बभाषे॥ ९९॥

इत्थं सपत्नीभिदुरानुविद्धे आत्मनि शल्यरोपं समीहमाना दुर्गात् अपि श्लाघ्यतरं स्वमानं रिरक्षुः एका रमणं बभाषे॥ ९९॥

इस प्रकार सौतों के सौभाग्य से वज्राहत, अपने हृदय की वेदना (घाव) को भरने के लिए (घाव भर जाय) दुर्ग से भी अधिक अपनी मान-रक्षा को महत्त्व देती हुई किसी स्त्री ने अपने पति को परामर्श दिया॥ ९९॥

हर्षे ततः स्थैर्यमिवानुचिन्त्ये श्रद्धाबलं स्वास्थ्यमिवेष्टमार्गे।
शिवस्य शून्योरसि [1]माथुरास्ते प्राकाशयन् तत्तनयेन्दुवक्त्रम्॥१००॥

ततः ते माथुराः अनुचिन्त्ये हर्षे स्थैर्यम् इव इष्टमार्गे श्रद्धाबलं स्वास्थ्यम् इव शिवस्य शून्योरसि तत्तनयेन्दुवक्त्रं प्राकाशयन्॥ १००॥

तब चिन्तनीय हर्ष में (नित्य विचारणीय हर्ष में) स्थिरता के समान, अभीष्ट मार्ग में स्वास्थ्य प्रदान करनेवाली श्रद्धा के समान, क्षत्रपति के शून्य हृदय में

१. माथुराः—मथुरानिवासिनो द्विजाः येषां संरक्षणे शम्भाजीनामानं रोगदुर्बलाङ्गं पथक्लेशाक्षमं स्वतनयं समर्प्य निश्चिन्तः पुरः प्रतस्थे महाराजः शिवाजी।

(पुत्र की चिन्ता से व्याकुल हृदय में) मथुरा के उन ब्राह्मणों ने उनके पुत्र शम्भाजी के मुखचन्द्र को प्रकाशित किया। क्षत्रपति का हृदय शून्य (आकाश) है, उसमें उनके पुत्र का मुखचन्द्र प्रकाशित हुआ।

[प्रथम ही वर्णित है कि रुग्णता के कारण शम्भाजी यात्रा में असमर्थ थे अतः राजा ने विश्वस्त महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों के संरक्षण में उन्हें छोड़ दिया था। अनेक सकटों को पार कर वे ब्राह्मण शम्भाजी को सकुशल क्षत्रपति के पास ले आये।] ॥ १०० ॥

को नाम विस्रम्भपणर्णमोक्षं हेम्नोऽद्रिणापि प्रभवेद्विधातुम्।
श्रियाऽऽत्मरूपं विदधन्नृपोऽसौ [1]विश्वासरावानपि नाप तोषम् ॥१०१॥

कः नाम हेम्नः अद्रिणा अपि विस्रम्भपणर्णमोक्षं विधातुं प्रभवेत् असौ नृपः अपि विश्वासरावान् श्रिया आत्मरूपं विदधत् तोषं न आप ॥ १०१ ॥

इस जगत् में विश्वास-रक्षा के ऋण से कौन व्यक्ति आनृण्य प्राप्त कर सकता है? भले ही वह बदले में सुवर्ण का हिमालय ही क्यों न समर्पित कर दे। यही कारण है कि मथुरा से आये उन ब्राह्मणों को धन-सम्पत्ति के द्वारा अपने समान बना कर भी क्षत्रपति को परितोष नहीं होता था। वस्तुतः विश्वास अमूल्य है, दिव्य है, पार्थिव वैभव उसकी तुलना में ठहर ही नहीं सकता ॥ १०१ ॥

ऐन्द्रजालिकमनोरथं हठादित्थमापदि नियन्त्रितोऽप्यसौ।
यत्नसाहसविलोभिसम्पदा निर्विभिद्य शुशुभेऽधिकं शिवः ॥१०२॥

इत्थम् आपदि नियन्त्रितः अपि असौ शिवः ऐन्द्रजालिकमनोरथं हठात् यत्नसाहसविलोभिसम्पदा निर्विभिद्य अधिकं शुशुभे ॥ १०२ ॥

इस प्रकार इन्द्रजाल में कुशल, अत्यन्त मायावी दिल्लीपति के मनोरथ को आपत्तियों से नियन्त्रित होने पर भी, अपने आकर्षक प्रयत्न एवं पराक्रम तथा साहस के बल से हठपूर्वक छिन्न-भिन्न करके वीर शिवराज अत्यधिक सुशोभित हुए ॥१०२॥

दम्भोद्योगमपास्य कौशलबलान्नक्रस्य दिल्लीपते-
र्दृष्ट्वा निस्त्रपडुण्डुभांश्च नृपतीन् दिल्लीदयाजीवितान्।
मार्गे गूढमवेक्ष्य सैन्यरचनां देशान् स्वभावं स्थितिं
भूयोऽवाप्य निरापदं जनिभुवं सूनुञ्च रेजे नृपः ॥१०३॥

---

१. कृष्णाजी, काशीराव, 'बीसाजी,' इमे महाराष्ट्रीयब्राह्मणाः मथुरावासिनः शिवराजनिदेशानुसारं शिवपुत्रं 'शम्भाजी'नामानं बहुशः संकटमतिक्राम्य, शिवसन्निधिं प्राप्य समर्पयामासुः। राजाऽपि दानादिभिः सर्वथा परितोष्य 'विश्वासराव' इत्युपाधिनाऽलञ्चकार कृतज्ञतापरवशस्तान्।

कौशलबलात् नक्रस्य दिल्लीपतेः दम्भोद्योगम् अपास्य दिल्लीदयाजीवितान् निस्त्रप-डुण्डुभान् नृपतीन् च दृष्ट्वा मार्गे सैन्यरचनां देशान् स्वभावं स्थितिं गूढम् अवेक्ष्य भूयः जनिभुवं सूनुं च निरापदम् अवाप्य नृपः रेजे ॥ १०३ ॥

घड़ियाल-तुल्य दिल्लीपति के दम्भमय प्रपञ्च को अपनी चालाकी से व्यर्थ, निष्फल बनाकर, तथा डुण्डुभ (डोड़हा, निर्विष सर्प) के समान निर्लज्ज, दिल्ली की दया पर जीवित राजाओं की दुरवस्था देखकर, मार्ग में गूढभाव से (छिपे हुए) मध्यवर्ती जनपदों में सैन्यरचना, स्वभाव, देशस्थिति आदि का सूक्ष्म निरीक्षण करते हुए, पुनः निरापद ढंग से मातृभूमि (महाराष्ट्र) में पहुँचकर तथा बिछुड़े पुत्र को पाकर राजा शिवराज अत्यन्त शोभायमान हुए ॥ १०३ ॥

इति श्रीत्रिपाठ्युपाह्वेन उमाशङ्करशर्मणा विरचिते
क्षत्रपतिचरित-महाकाव्ये पञ्चदशः सर्गः ।

अथ षोडशः सर्गः

[विनिष्क्रान्तकारो राजा पुनरागतजन्मधरः स्वबलवृद्धये षाड्गुण्यं सेवमानः स्वदुर्गतति पुनरधिकृत्य चूडामणिमिव सिंहगढदुर्गमपि (कोण्डनेति ख्यातम्) पुण्यधाम्नो बलवतां स्वबालबन्धोः तानाजिमालसुरे-सेनापतेः शौर्योद्योगात् शत्रुकुलमवजित्य जितवान् । तद्यथा—]

देहलीशमवधूय लीलया साहिसूनुरथसूनुविक्रमः ।
वर्धयन् बलमरातिसूदनं निश्चलोऽप्यरिमनांस्यचालयत् ॥ १ ॥

अथ देहलीशं लीलया अवजित्य सूनुविक्रमः सिंहसूनुः अरातिसूदनं बलं वर्धयन् निश्चलः अपि अरिमनांसि अचालयत् ॥ १ ॥

अपने कौशल एवं उद्योग से दिल्ली की बादशाहत को प्रकम्पित करके सूर्य के समान पराक्रमी साहिजी भोंसले के पुत्र क्षत्रपति, शत्रु को ध्वंस करनेवाले अपने सैन्यबल को बढ़ाते हुए स्वयं निश्चल रहकर भी शत्रुकुल के हृदय को भयचञ्चल करते रहे ॥ १ ॥

निर्गते निगडबन्धनाच्छिवे कूटवर्त्मपरमस्य वैरिणः ।
व्याहतप्रभमनोरथोऽशिवं सर्वतः प्रसृतमैक्षतात्मने ॥ २ ॥

निगडबन्धनात् शिवे निर्गते (सति) कूटवर्त्मपरमस्य वैरिणः व्याहतप्रभमनोरथः आत्मने सर्वतः प्रसृतम् अशिवम् ऐक्षत ॥ २ ॥

क्षत्रपति के इस प्रकार कारागृह से निरापद निकल जाने के कारण, कूटनीति के धुरन्धर खिलाड़ी शत्रु अवरंगजेब के सन्तप्त, निष्प्रभ मनोरथ को अपने लिए चारों ओर निर्बाध फैलती हुई विपत्ति दिखायी देने लगी ॥ २ ॥

शस्त्रिणां शतमखोपमप्रभं दत्तजीवमपि भूपभूतये ।
दुर्दशैव [1]जयसिंहमाश्रयद् गर्हितैव भुवि जिह्मभृत्यता ॥ ३ ॥

भूपभूतये दत्तजीवं शस्त्रिणां शतमखोपमप्रभम् अपि जयसिंहं दुर्दशा एव आश्रयत् । भुवि जिह्मभृत्यता गर्हिता एव ॥ ३ ॥

शस्त्रधारियों में यशस्वी इन्द्र के समान पराक्रमवाले, तथा अपने बादशाह के मनोरथ को पूरा करने के लिए प्राण तक समर्पित करनेवाले राजा जयसिंह—मुगल

१. जयसिंहः—क्षत्रपतिकारानिर्गमनं, बीजापुराभियाननिष्फलता, दिल्लीश्वरदृष्टौ स्वाविश्वासश्च जयसिंहं महति सङ्कटे न्यपातयत् । चिन्ताजर्जरो निजावमानगर्हितो जयसिंहो वयसा, शोकेन निहतमनाः दिल्लीश्वरपुत्राय स्वाधिकारं समर्प्य परावृत्तो मार्गे बुरहानपुरे पञ्चत्वमाप १६६७ ईशवीये ।

सेनापति—को अन्त में केवल अपयश, विडम्बना तथा ग्लानि ही प्राप्त हुई। निश्चय ही इस संसार में, धूर्त व्यक्ति की सेवा निन्दनीय ही है ॥ ३ ॥

आर्यसम्पदुदयायतेर्ध्रुवं तस्य शान्तनवतेजसो लयः।
विद्विषोऽपि गुणवर्तिनं शिवं मारुतिध्वजमिवान्वतापयत् ॥ ४ ॥

आर्यसम्पदुदयायतेः शान्तनवतेजसः तस्य विद्विषः अपि लयः गुणवर्तिनं शिवं मारुतिध्वजम् इव ध्रुवम् अन्वतापयत् ॥ ४ ॥

राजा जयसिंह शूर, धर्मपरायण एवं गुणज्ञ थे। उनमें आर्य-सम्पत्ति का उत्तम विकास परिलक्षित होता था। किन्तु भीष्म के समान तेजस्वी उस शत्रुपक्षीय राजा जयसिंह की मृत्यु ने गुणग्राही अर्जुन के समान यशस्वी क्षत्रपति को अतिशय सन्तप्त किया ॥ ४ ॥

भूभृदात्मभिदुराभिरन्वितो वाहिनीभिरिव वाहिनीपतिः।
शासनाय परिबृंहितोद्यमो विद्विषामयततानयात्मनाम् ॥ ५ ॥

भूभृदात्मभिदुराभिः वाहिनीभिः अन्वितः वाहिनीपतिः इव परिबृंहितोद्यमः (शिवः) अनयात्मनां विद्विषां शासनाय अयतत ॥ ५ ॥

शत्रु राजाओं के हृदय को बींधने के लिए वज्र के समान सेनाओं से अथवा पर्वतों का हृदय फोड़कर निकली नदियों जैसी सेनाओं से युक्त क्षत्रपति ने समुद्र के समान अपने संवर्धित सैन्य-उद्योग से अन्यायी एवं आततायी शत्रुओं के दमन के लिए उचित प्रयत्न आरम्भ कर दिया ॥ ५ ॥

साभिचारगुणरागमागरा छद्मजालमवचिन्त्य निष्फलम्।
निस्त्रपा शिवमनन्दयद् द्रुतं स्वैरिणीव कलजल्पितैर्मुहुः ॥ ६ ॥

अभिचारगुणरागं छद्मजालं निष्फलम् अवचिन्त्य सा आगरा मुहुः निस्त्रपा स्वैरिणा इव कलजल्पितैः शिवं द्रुतम् अनन्दयत् ॥ ६ ॥

अभिचार (मोहन, उच्चाटन, मारण आदि) प्रयोगों से भरे अपने प्रवञ्चनापूर्ण जाल को निष्फल जानकर (क्षत्रपति को वश में करने के सभी प्रयत्न विफल हो गये, क्षत्रपति सकुशल अपने दुर्ग में वापस आ गये थे) निर्लज्ज कुलटा स्त्री के समान आगरा ने (बादशाह ने) शीघ्रतापूर्वक क्षत्रपति का राजा की उपाधि द्वारा अभिनन्दन किया ॥ ६ ॥

तत्तथैव समयाग्रहात्मना स्वीकृतं सुकृतिनाऽनुबन्धनम्।
निश्चितं तदवधौ समुत्सुका श्रीरबाधविभवं समाश्रयत् ॥ ७ ॥

समयाग्रहात्मना सुकृतिना तत् अनुबन्धनं तथा एव स्वीकृतम्। निश्चितं तदवधौ समुत्सुका श्रीः अबाधविभवं समाश्रयत् ॥ ७ ॥

समय के आग्रह का अनुमोदन करनेवाले वीर शिवराज ने दिल्ली के अनुरोध को स्वीकार ही किया। और अच्छा ही हुआ, इस अवधि में सैनिक अभियानों के कुछ शान्त हो जाने के कारण राजलक्ष्मी ने निर्बन्ध विकास प्राप्त किया ॥ ७ ॥

नाशकद् यमनुशासितुं बलैः सख्यसन्धिललितैश्छलैरपि ।
तं शठोऽयतत कृत्रिमाग्रहैः कोऽवरंगनृपसन्निभः श्रुतः ॥ ८ ॥

शठः यं बलैः सख्यसन्धिललितैः छलैः अपि अनुशासितुं न अशकत् तं कृत्रिमाग्रहैः (अनुशासितुम्) अयतत, अवरंगनृपसन्निभः कः श्रुतः ? ॥ ८ ॥

जिस क्षत्रपति को दिल्लीपति अपनी सेना से वश में न कर सका, सन्धि-मैत्री आदि मनोहर उपलब्धियों से अलङ्कृत उसकी वञ्चना भी उन्हें वशीभूत करने में विफलमनोरथ रही, उसी क्षत्रपति को अब वह दुर्हृदय झूठमूठ के आग्रहों से अनुकूल बनाने की चेष्टा कर रहा है—भला बादशाह औरंगजेब के समान कौन है ? ॥ ८ ॥

शत्रुपुत्रमपि दक्षिणं क्रमाद् विश्रुतार्जवगुणं गुणस्थिरा ।
वाहिनी शिवनिदेशपालिनी संश्रिताऽपि तमरातिमस्मरत् ॥ ९ ॥

गुणस्थिरा शिवनिदेशपालिनी वाहिनी विश्रुतार्जवगुणं दक्षिणं शत्रुपुत्रम् अपि क्रमात् संश्रिता अपि तम् अरातिम् अस्मरत् ॥ ९ ॥

क्षत्रपति के आदेश की वशवर्तिनी मराठी सेना (अपने एक अंश से) अत्यन्त ही उदार एवं सरल स्वभाववाले शत्रुपुत्र (शाहजादा मुअज्जम) का भी आदर करते हुए उनकी सहायता में उपस्थित हुई, फिर भी वह बादशाह की धूर्तता से बेखबर न थी [शाहजादा मुअज्जम, जयसिंह के स्थान पर दक्षिण के सूबेदार नियुक्त किये गये, शिवाजी से उन्होंने शान्ति का ही मार्ग अपनाया।] ॥ ९ ॥

अस्थिरासनवतोऽवतोऽवनिं भूभृतो मनसि शङ्किते ततः ।
आत्मजादपि समाविशन् भियो द्वेषजर्जरधियां क्व वा स्थितिः ॥ १० ॥

ततः अवनिम् अवतः अस्थिरासनवतः भूभृतः शङ्किते मनसि आत्मजात् अपि भियः समाविशन् । द्वेषजर्जरधियां स्थितिः वा क्व ? ॥ १० ॥

राज्य की रक्षा करते हुए, चञ्चल स्थितिवाले दिल्लीपति के शंकालु हृदय में अपने पुत्र से भी शंका हो गयी। उनको भय लगा कि कहीं शाहजादा मराठों से मिलकर स्वतन्त्र होने के लिए षड्यन्त्र न कर रहा हो। सत्य है, द्वेष से जर्जर हृदयवालों को भला कब निश्चिन्तता रहती है ॥ १० ॥

इङ्गितैः समवधाय मन्त्रितं भोसलेपतिरुपासितेश्वरः ।
पूर्वमेव सबलच्छलग्रहादार्यराज्यमुपसीममाविशत् ॥ ११ ॥

उपासितेश्वरः भोसलेपतिः इङ्गितैः मन्त्रितं समवधाय सबलच्छलग्रहात् पूर्वम् एव उपसीमम् आर्यराज्यम् आविशत् ॥ ११ ॥

बादशाह की इस कपटपूर्ण दुरभिसन्धि को संकेतों (गुप्तचरों आदि) से भाँप कर ईश्वर के सेवक भोसलेपति क्षत्रपति ने, शत्रु की सेना द्वारा अपने सैनिकों को निरस्त्र करने तथा बन्धन में रखने के पूर्व ही उन्हें अपनी राज्यसीमा में, जो सटा हुआ ही था, वापस करा लिया [इतिहासकारों का कथन है कि दिल्ली की ऐसी आज्ञा मिलने के पहिले ही शाहजादा ने ऐसा संकेत कर दिया था, बाद में आदेश आया था।] ॥ ११ ॥

नूनमस्तधिषणैव देहली शङ्कते यदि निजौरसोदयम् ।
पूर्वजाऽभ्यसितवर्त्मसत्क्रियो वष्टि को न कुलजः परम्पराम् ॥ १२ ॥

यदि देहली निजौरसोदयं शङ्कते (तर्हि) नूनम् अस्तधिषणा एव, पूर्वजाभ्यसितवर्त्मसत्क्रियः कः कुलजः परम्परां न वष्टि ॥ १२ ॥

सचमुच दिल्ली भी बुद्धिहीन ही है कि अपने बेटे के अभ्युदय में भी शंकाकुल रहती है। आखिर वह भी तो उसी खानदान का है, अपने पूर्वजों द्वारा अभ्यस्त मार्ग की प्रतिष्ठा करनेवाला कौन कुलीन युवक नहीं चाहेगा कि वह अपनी कुलपरम्परा का पालन करे [मुगलों के यहाँ राज्यप्राप्ति के लिए कुलघात तो सामान्य बात थी, स्वयं बादशाह ने इसी उपाय से राज्य पाया था, फिर भी वह अपने पुत्र पर शंका करता था।] ॥ १२ ॥

षड्गुणान् गुणिनि वीक्ष्य संश्रितान् शक्तयस्तदनुगास्तमन्वगुः ।
सोऽप्युपायपरमः प्रजापतिस्तान् पुपोष नयनन्दिता शिवः ॥ १३ ॥

गुणिनि षड्गुणान् संश्रितान् वीक्ष्य तदनुगाः शक्तयः तम् अन्वगुः, उपायपरमः सः नयनन्दिता प्रजापतिः शिवः अपि तान् पुपोष ॥ १३ ॥

गुणों के निधान उस क्षत्रपति में साम, दाम आदि षड्गुणों को संश्रित देखकर मन्त्रोत्साह आदि शक्तियाँ अनुगामिनी होकर उनके पास चली गयीं। और उपायादि में अतिकुशल उस प्रजेश्वर, नीतिनिपुण शिव ने उनका यथोचित सम्पोषण किया ॥ १३ ॥

सुव्रतादितिरिवैकदा प्रसूः रायदुर्गशिखराट्टवर्तिनी ।
कोण्डनामरिनिकारमूर्च्छितां वीक्ष्य नाक्षमत धैर्यमात्मनि ॥ १४ ॥

सुव्रता अदितिः इव रायदुर्गशिखराट्टवर्तिनी प्रसूः एकदा अरिनिकारमूर्च्छितां कोण्डनां वीक्ष्य आत्मनि धैर्यं न अक्षमत ॥ १४ ॥

एक दिन यशस्विनी, देवमाता अदिति-सी महीयसी माता जीजावती ने रायगढ़ दुर्ग के उच्चशिखर से 'कोण्डना' की ओर देखा और शत्रु के वश में विकल, मूर्च्छित उसकी दुर्दशा से उनका हृदय शोकमग्न हो गया। उनका धैर्य जाता रहा ॥ १४ ॥

सत्वरं तदनुतापनिर्मरेऽकालमेघमलिने मनोऽम्बरे ।
काऽपि विद्युदिव युक्तिरद्भुताऽराजत स्मितमुखेन सिद्धिदा ॥ १५ ॥

सत्वरं तदनुतापनिर्मरे अकालमेघमलिने मनोऽम्बरे का अपि सिद्धिदा अद्भुता युक्तिः विद्युत् इव स्मितमुखेन अराजत ॥ १५ ॥

अकालोदित मेघ के समान अनुताप-कदर्थित उनके मानस-आकाश में तुरन्त बिजली-सी एक भावनापूर्ण युक्ति चमक उठी। वह युक्ति आशापूर्ण उल्लास से दीप्त थी तथा निश्चय ही फल देनेवाली थी ॥ १५ ॥

तन्मनोरथपदानुगो यथा सद्य एव ददृशे पुरः सुतः ।
तां वहन् सुकृतसम्पदं हठात् सादरं स्वशिरसीव मातरम् ॥ १६ ॥

तन्मनोरथपदानुगः यथा सुतः सद्यः एव तां सुकृतसम्पदं मातरं स्वशिरसि सादरं वहन् इव हठात् पुरः ददृशे ॥ १६ ॥

उस माता जीजावती के मनोरथ के वशवर्ती, उनकी भावना के पीछे चलनेवाले के समान उसी क्षण सामने उनके पुत्र शिवा दिखायी पड़े और विनयपूर्वक उन्होंने माता को मानो अपने शिर पर धारण कर लिया ॥ १६ ॥

मानसव्यसनमेकनिश्चया शोधितुं व्यसनवर्त्मनैव सा ।
अक्षदेवनविधौ मनस्विनी पुत्रमादिशदनल्पविस्मयम् ॥ १७ ॥

मानसव्यसनं व्यसनवर्त्मना एव शोधितुम् एकनिश्चया सा मनस्विनी अक्षदेवनविधौ अनल्पविस्मयं पुत्रम् आदिशत् ॥ १७ ॥

तब दृढ़ निश्चय वाली उस माता ने अपनी मानसिक व्यथा को (व्यसन को) व्यसन के ही मार्ग से समाप्त करने के लिए पुत्र को महान् विस्मय में डालते हुए अपने साथ जुआ खेलने के लिए आदेश दिया ॥ १७ ॥

क्रीडनग्लहमिवाक्षसङ्गरे लब्धुमेकवरमात्मकाङ्क्षितम् ।
घोषितो जितजनाज्जयी द्वयोः कौशलाग्रहपुरस्क्रियोपमम् ॥ १८ ॥

द्वयोः अक्षसङ्गरे जयी जितजनात् क्रीडनग्लहम् इव आत्मकाङ्क्षितम् कौशलाग्रहपुरस्क्रियोपमम् एकवरं लब्धुं घोषितः ॥ १८ ॥

यह निश्चय हुआ कि उस द्यूतयुद्ध में बाजी लगेगी, दोनों खेलनेवालों में विजेता, पराजित से एक मनोवांछित फल प्राप्त करने का अधिकारी होगा। यह पारितोषिक उसके द्यूतकौशल के पुरस्कार-स्वरूप होगा ॥ १८ ॥

विस्मयाम्बुधिनिमग्नमात्मजं सा जिगाय सरलं यशोधरा ।
वस्तुनि व्यतनुतोत्तरे स्पृहां पूर्वरङ्गमिव तद्विधिच्य सः ॥ १९ ॥

सा यशोधरा विस्मयाम्बुधिनिमग्नम् आत्मजं सरलं जिगाय। सः तत् पूर्वरङ्गम् इव विविच्य उत्तरे वस्तुनि स्पृहां व्यतनुत ॥ १९ ॥

विस्मय के समुद्र में निमग्न सरल प्रकृतिवाले पुत्र को उस यशस्विनी माता ने द्यूतक्रीड़ा में आसानी से पराजित कर दिया। इस पराजय को नाटक का पूर्व-पक्ष मानते हुए क्षत्रपति ने उत्तरवर्ती वस्तु (अभिलषित फलप्राप्ति) में जिज्ञासा प्रकट की (कि माता क्या चाहती हैं।) ॥ १९ ॥

तारकारिमिव साऽऽह पुत्रिणी तत्क्षणं सुतमुदारदर्शना।
विस्तृतेऽपि वद दुर्गमण्डले दुर्गता तनय केन मेऽधुना ॥ २० ॥

उदारदर्शना सा पुत्रिणी तत्क्षणं तारकारिम् इव सुतम् आह,—तनय, वद, विस्तृते अपि दुर्गमण्डले अधुना केन मे दुर्गता ॥ २० ॥

उस उदारदर्शना पुत्रवती ने कुमार कार्तिकेय के समान अपने पराक्रमी पुत्र से पूछा—"बेटा, तुम अपने किलों में से कौन सा किला मुझे देना चाहोगे ?" ॥ २० ॥

कृत्स्नमेव गजवाजिराजितं त्वत्पदाब्जकरुणार्णवायति।
किं न राज्यमिदमम्ब तावकं ब्रूहि वा कमिह दुर्गमीहसे ॥ २१ ॥

अम्ब ! त्वत्पदाब्जकरुणार्णवायति गजवाजिराजितं कृत्स्नम् एव इदं राज्यं किं तावकं न ? वा ब्रूहि इह कं दुर्गम् ईहसे ॥ २१ ॥

मातः ! हाथी-घोड़ों से युक्त यह सम्पूर्ण राज्य तुम्हारे चरणकमल की कृपा से सम्भृत, अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ क्या तुम्हारा ही नहीं है ? अथवा आज्ञा दो, तुम्हें किस दुर्ग की इच्छा है ॥ २१ ॥

मेऽद्य नूनमुदिताशिषोऽसवः स्वेहितैर्यदनुकम्पसे जनम्।
मारुतेरिव निदेशवर्तिनः त्वत्कृते मम किमस्ति दुष्करम् ॥ २२ ॥

नूनम् अद्य उदिताशिषः मे असवः यत् स्वेहितैः जनम् अनुकम्पसे, त्वत्कृते मारुतेः इव निदेशवर्तिनः मम किं दुष्करम् अस्ति ॥ २२ ॥

सचमुच आज हमारे प्राणों को दिया गया आशीर्वचन, पुण्य आज उदित हुआ है कि आज माँ ने अपनी इच्छित वस्तु द्वारा इस जन पर अनुकम्पा करना चाहा है। मेरी माँ ! तुम्हारी प्रसन्नता के लिए मुझे भगवान् हनुमान के समान कौन सा कार्य दुष्कर हो सकता है ! ॥ २२ ॥

कोण्डनां तदनु कामनामिव प्राप्तुमेकवचना जिजावती।
भाववर्णमिव तन्मुखाङ्कितं व्यक्तमापठितुमैक्षत स्थिरम् ॥ २३ ॥

तदनु एकवचना जिजावती कामनाम् इव कोण्डनां प्राप्तुं तन्मुखाङ्कितं व्यक्तं भाव-वर्णम् इव आपठितुं स्थिरम् ऐक्षत ॥ २३ ॥

तब दृढ़संकल्पवती माँ जिजावती ने कोण्डना दुर्ग के लिए अपनी अभिलाषा बताकर पुत्र के मुख को अपनी स्थिर दृष्टि से देखा, मानो वे पुत्र के मुख पर अंकित भाववर्णों को पढ़ना चाहती हों। (पुत्र पर इसकी क्या प्रतिक्रिया हुई) ॥ २३ ॥

सस्मिताधरकपोलमण्डलो मण्डलेशमदखण्डनः शिवः ।
एवमस्तु कथयन्नुपास्पृशत् तावदेव जननी - पदाम्बुजम् ॥ २४ ॥

तावत् एव 'एवमस्तु' कथयन् सस्मिताधरकपोलमण्डलः मण्डलेशमदखण्डनः शिवः जननीपदाम्बुजम् उपास्पृशत् ॥ २४ ॥

मुस्कान से उल्लसित अधर एवं कपोलमण्डलवाले, राजाओं के मद को दूर करनेवाले क्षत्रपति ने 'ऐसा ही होगा' कहा और तुरन्त माँ के चरणकमलों को स्पर्श किया ॥ २४ ॥

व्रीडितोऽस्मि पुरतस्तव ध्रुवं कोण्डना यदधुनाऽपि नोद्धृता ।
निश्चितं जननि वैरवर्त्मनां सेयमेतु सुखशर्वरी क्षयम् ॥ २५ ॥

ध्रुवं तव पुरतः व्रीडितः अस्मि यत् अधुना अपि कोण्डना न उद्धृता। जननि वैरवर्त्मनां सा इयं सुखशर्वरी निश्चितं क्षयम् एतु ॥ २५ ॥

माँ, सचमुच मैं बहुत लज्जित हूँ कि कोण्डना को अबतक शत्रु से मुक्त नहीं कर पाया। अतः कोई बात नहीं, आप निश्चय ही जान लें कि वैर का पथ अनुसरण करनेवाले शत्रुओं की सुखद रात्रि का अब विनाश हो गया। अब शत्रु सुख की नींद न सो पायेंगे ॥ २५ ॥

दुर्बलेषु शठसाहसोद्यमात् स्वायुषे हि विरमन्तु जिह्मगाः ।
मत्कृपाणशिवधारमज्जिता मज्जिता दधतु तेऽथवा रतिम् ॥ २६ ॥

जिह्मगाः दुर्बलेषु शठसाहसोद्यमात् स्वायुषे हि विरमन्तु, अथवा मत्कृपाणशिवधार-मज्जिताः मज्जिताः ते रतिं दधतु ॥ २६ ॥

दुर्बलों पर शठतापूर्ण साहसिक आक्रमण से, छल-कपटपूर्ण आचरणवाले अपने ही भले के लिए, अपने जीवन की रक्षा के लिए, दूर रहें। यदि नहीं, तो उनके सामने दो ही विकल्प हैं, या तो मेरी तलवार की कल्याणमयी धारा में डूबें, या मुझसे पराजित होकर सुख पूर्वक सत्पथ का पालन करें ॥ २६ ॥

वारयोषिदुपचारजीविनो नूपुरस्वननिलीनचेतसः ।
तुन्दिला अपि सपत्ननायका मेदसामनुभवन्तु शोषणम् ॥ २७ ॥

वारयोषिदुपचारजीविनः नूपुरस्वननिलीनचेतसः सपत्ननायकाः तुन्दिलाः अपि मेदसां शोषणम् अनुभवन्तु ॥ २७ ॥

वेश्याओं के कृत्रिम अनुराग से लालित तथा नूपुर की झंकार में डूब जानेवाले, लम्बी तोंदवाले शत्रु सेनापति भी अब अपनी तोंदों को पिचकती हुई देखें।

सैन्य-सञ्चालन आदि की व्यस्तता में उनकी चर्बी परिश्रम करने से कुछ कम होवे ॥ २७ ॥

आत्मजोपयमयागदीक्षितं मित्रमालसुरमार्यरक्षिता ।
कोण्डनाविजयकीर्तिलब्धये सादरं प्रणिधिना समाह्वयत् ॥ २८ ॥

आर्यरक्षिता आत्मजोपयमयागदीक्षितं मित्रं मालसुरं कोण्डनाविजयकीर्तिलब्धये प्रणिधिना सादरं समाह्वयत् ॥ २८ ॥

और तब उस आर्यरक्षक क्षत्रपति ने अपने अनन्य मित्र, तानाजी मालसुरे को कोण्डना-विजय की कीर्ति से यशस्वी देखने के लिए प्रणिधि (विशेष दूत) भेजकर आदरपूर्वक बुलवाया, वे अपने पुत्र के विवाह-यज्ञ की तैयारी में लगे हुए थे ॥ २८ ॥

सत्वरं नृपमसौ समागतः प्रीतिमान् कृतकमन्युदुर्मनाः ।
आक्षिपत् कलहकौतुकोम्भितैस्तं वचोभिरपवारितोत्सवम् ॥ २९ ॥

सत्वरं नृपं समागतः प्रीतिमान् असौ कृतकमन्युदुर्मनाः अपवारितोत्सवं तं कलहकौतुकोम्भितैः वचोभिः आक्षिपत् ॥ २९ ॥

शीघ्र ही तानाजी आ पहुँचे और अति प्रसन्न होते हुए भी दिखावटी क्रोध से व्यथित होकर विवाह के प्रबन्ध आदि से सहसा बुला लिए जाने के कारण राजा को कलह-कौतुक से भरपूर वचनों द्वारा ताना मारा, आक्षेपपूर्ण कटूक्तियों से उन्हें फटकारा ॥ २९ ॥

देवमातरमसौ जिजावतीं श्रद्धया समभिवाद्य वत्सलाम् ।
मातृभक्तपरमां निजस्थितिं तन्निदेशमहितामिवाश्रयत् ॥ ३० ॥

असौ (तानाजिः) देवमातरं वत्सलां जिजावतीं श्रद्धया समभिवाद्य तन्निदेशमहितां मातृभक्तपरमाम् इव निजस्थितिम् आश्रयत् ॥ ३० ॥

[क्षत्रपति ने कुछ न कहा, केवल यही बताया कि वे कुछ नहीं जानते, माताजी ने बुलाया है, और तानाजी माता की ओर चले ।]

तानाजी ने देवमाता अदिति के समान पुण्यवती, प्रेममयी माता जीजावती के चरणों में भक्तिपूर्वक प्रणाम किया तथा आग्रहपूर्वक कहा कि उनका जीवन माता को समर्पित है । माँ की आज्ञा से वे कुछ भी तत्क्षण कर सकते हैं ॥ ३० ॥

कोण्डनामुदयभानुशासनादौग्रसेनिनिगडादिवाच्युतः ।
देवकीमिव न मोचये यदि मास्तु मे जननि वीरसत्क्रिया ॥ ३१ ॥

यदि औग्रसेनिनिगडात् इव उदयभानुशासनात् अच्युतः देवकीम् इव कोण्डनां न मोचये, जननि मे वीरसत्क्रिया मा अस्तु ॥ ३१ ॥

[तानाजी मालसुरे अपनी बुलाहट का मर्म जान गये। उनकी प्रसन्नता इसलिए भी और अधिक बढ़ गयी कि स्वयं माता जीजावती की भी यही इच्छा थी, अतः उन्होंने कहा—]

माँ, जिस प्रकार उग्रसेन के पुत्र कंस के कारागृह से भगवान् कृष्ण ने माता देवकी को मुक्त किया यदि उसी प्रकार उदयभानु (किलेदार) के पञ्जे से मैं कोण्डना को मुक्त न कर लूँ तो मुझे वीरोचित प्रतिष्ठा न मिले ॥ ३१ ॥

सुव्रतद्विजकुलाय सुव्रता गृष्टयोऽपि नववत्सदृष्टयः ।
अर्पिता मयि न सन्तु सत्फलाः नोद्धरामि यदि कोण्डनामयम् ॥ ३२ ॥

सुव्रतद्विजकुलाय अर्पिताः सुव्रताः नववत्सदृष्टयः गृष्टयः अपि मयि सत्फलाः न सन्तु, यदि अयं (अहं) कोण्डनां न उद्धरामि ॥ ३२ ॥

उत्तम कुलवाले सच्चरित्र ब्राह्मणों को, नयी ब्यायी हुई तथा अपने बच्चों को वात्सल्यपूर्ण दृष्टि से देखनेवाली सीधी गायों का, मेरा किया हुआ दान भी निष्फल हो जाय, यदि यह मैं कोण्डना का उद्धार नहीं करता हूँ ॥ ३२ ॥

वीरपञ्चशतसङ्ख्यकाग्रणी गूढवर्त्मपदनिर्जितध्वनिः ।
सोऽर्धरात्रमवधानविग्रहः श्रेयसेऽकलयदन्धशार्वरम् ॥ ३३ ॥

वीरपञ्चशतसङ्ख्यकाग्रणी गूढवर्त्मपदनिर्जितध्वनिः अवधानविग्रहः सः अन्धशार्वरम् अर्धरात्रं श्रेयसे अकलयत् ॥ ३३ ॥

पाँच सौ बहादुरों की टुकड़ी का नेतृत्व करता हुआ रास्ते में निस्तब्ध पदध्वनि को रोकता हुआ, सावधानी के साथ लक्ष्योन्मुख उस तानाजी ने घोर अन्धकार से भरी आधीरात को ही अपनी कार्यसिद्धि के लिए श्रेयस्कर अवसर माना ॥ ३३ ॥

सम्पदाऽपि गुणकर्मणोस्तमो द्रव्यजातिपदवीं न रोहति ।
नूनमन्यवशगोदयायते - र्नानुषङ्गनियता पदार्थता ॥ ३४ ॥

गुणकर्मणोः सम्पदा अपि तमः द्रव्यजातिपदवीं न रोहति, नूनम् अन्यवशगोदयायतेः पदार्थता अनुषङ्गनियता न ॥ ३४ ॥

यह अन्धकार काला है, फैल रहा है, फैला हुआ है (नीलं तमश्चलति), फिर भी इसे द्रव्यता प्राप्त नहीं है नव्यनैयायिक अन्धकार को दशम द्रव्य नहीं मानते। यह उचित ही है। जिसके उदय में दूसरा ही निमित्त हो, जो दूसरों की दया पर, अपने अस्तित्व के लिए निर्भर रहे उसकी स्थिति उसकी स्वाभाविक स्थिति नहीं कही जा सकती, किसी क्षण भी परिवर्तित हो सकती है [नैयायिकों के अनुसार अन्धकार प्रकाश-बाध में सद्भाव प्राप्त करता है, प्रकाश के सद्भाव में विनष्ट हो जाता है अतः उसकी अपनी सत्ता नहीं है, इसीलिए उसे द्रव्यता नहीं मिल सकती।] ॥ ३४ ॥

नामशेषमिव तेजसां कुलं कर्तुमेव तमसामनीकिनी ।
अर्कमिन्दुमवजित्य सानलं चाक्षुषं हरति धाम साम्प्रतम् ॥ ३५ ॥

तमसाम् अनीकिनी तेजसां कुलं नामशेषम् इव कर्तुम् एव सानलम् अर्कम् इन्दुम् अवजित्य साम्प्रतं चाक्षुषं धाम हरति ॥ ३५ ॥

ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो अन्धकार की सेना ने प्रकाश को सर्वथा मिटा देने के लिए फैसला कर लिया हो, इसी उद्देश्य से उसने सूर्य और चन्द्रमा को आत्मसात् कर लिया। अब नेत्रों की ज्योति को भी जो अपने आप में अपर्याप्त है, समाप्त करने के उद्योग में लगी है। (घने अन्धकार में कुछ भी दिखाई नहीं देता) ॥ ३५ ॥

सा नभस्यनवमेचकाम्बरे निद्रितास्फुटपयोधरच्छविः ।
मारुतश्वसितजीवलक्षणा शर्वरी पिहिततारका बभौ ॥ ३६ ॥

नभस्यनवमेचकाम्बरे निद्रिता स्फुटपयोधरच्छविः मारुतश्वसितजीव लक्षणा पिहिततारका शर्वरी बभौ ॥ ३६ ॥

भाद्रपद के उस अन्धकाराच्छन्न आकाश के नीचे ऐसा प्रतीत होता था कि एक श्रान्त नायिका के समान रात्रि, निद्रा में निमग्न थी। काले वस्त्रों के अस्तव्यस्त हो जाने से पयोधरच्छटा (मेघमाला) स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही थी तथा चलती हुई हवा ही श्वास थी जो उसे जीवित बता रही थी तथा उसके नयनतारक (तारागण) मुँदे हुए थे। (आकाश में मेघ छाये थे, हवा चल रही थी, तारागण लुप्त थे) ॥ ३६ ॥

श्वापदप्लवगविष्किरव्रजं भूतजातमिव बिभ्रदात्मनि ।
तत्त्वतोऽभिनयतीव सङ्क्षयं शाल्मलिर्विधिरिवागमे निशः ॥ ३७ ॥

श्वापदप्लवगविष्किरव्रजं भूतजातम् इव आत्मनि बिभ्रत् शाल्मलिः निशः आगमे विधिः इव तत्त्वतः सङ्क्षयम् अभिनयति इव ॥ ३७ ॥

जीवसर्ग के समान पशुओं, बन्दरों और पंछियों के समूह को धारण करता हुआ, रात्रि के उत्कर्ष में चारों ओर अन्धकार होने पर ऐसा प्रतीत होता है मानो ब्रह्मा के समान सेमल का वृक्ष युगान्त का दृश्य उपस्थित कर रहा हो। युगक्षय में सम्पूर्ण भूतसर्ग ब्रह्मा में अन्तर्भूत हो जाता है उसी प्रकार घोर अन्धकार में सेमल का महान् वृक्ष भूतजगत् को धारण करता हुआ ब्रह्मा के समान ज्ञात हो रहा है ॥ ३७ ॥

अन्धकारबहले दुरापदि विघ्नपङ्कविषमे हि कापथे ।
लक्ष्यलुब्धनयनाश्शुभायतिः सत्त्वसंविदयना परीक्षते ॥ ३८ ॥

दुरापदि अन्धकारबहले विघ्नपङ्कविषमे कापथे हि सत्त्वसंविदयना शुभायतिः लक्ष्यलुब्धनयनान् परीक्षते ॥ ३८ ॥

विपत्तिरूपी अन्धकार से निर्भर, विघ्नरूपी पङ्क में कठिन दुर्गम पथ में ही, आत्मलक्ष्य के लोभी पुरुषों की परीक्षा, प्राणियों के कौशल एवं आत्मशक्ति का साक्षी भविष्य लिया करता है [योग्यता तथा कर्मठता का पूर्ण आलोक वस्तुतः आपत्ति में ही झलकता है, कारण यह है कि विपत्ति, दुरवस्था, संघर्ष आदि ही सफलता को आलोकमय बनाते हैं ।] ॥ ३८ ॥

सा समर्थशतपञ्चसैनिका पञ्चतामिव चमू द्विषत्कुले ।
स्रष्टुमुत्सुकविविक्त - पद्धतिर्दुर्गपृष्ठवनराजिमैक्षत ॥ ३९ ॥

उत्सुकविविक्तपद्धतिः समर्थशतपञ्चसैनिका सा चमू द्विषत्कुले पञ्चतां स्रष्टुम् इव दुर्गपृष्ठवनराजिम् ऐक्षत ॥ ३९ ॥

उत्कण्ठापूर्वक निश्शब्द कदम बढ़ाती हुई पञ्चशत सैनिकों की उस सेना ने शत्रुकुल में पञ्चत्व (मृत्यु) की सृष्टि करने के लिए किले के पिछवाड़े के जङ्गल को देखा ॥ ३९ ॥

कल्पनोल्लसितशत्रुमानसं वेपयन् दुरधिरोहभित्तिभिः ।
शार्वरस्य तमसोऽवधीरणां कम्पितारितिमिरैः प्रमाणयन् ॥ ४० ॥

दुरधिरोहभित्तिभिः कल्पनोल्लसितशत्रुमानसं वेपयन् कम्पितारितिमिरैः शार्वरस्य तमसः अवधीरणां प्रमाणयन् ॥ ४० ॥

४०–४५ छः श्लोकों में कोण्डना दुर्ग वर्णित है ।

चढ़ने (बाहर से चढ़कर ऊपर पहुँचने में) में अपनी दुर्धर्ष भित्तियों की सर्वथा दुर्लंघ्य स्थिति से शत्रुजनों के कल्पना से उल्लसित हृदय को कम्पित करता हुआ, तथा उन्हीं शत्रुओं के कम्पनपूर्ण नैराश्य मय अन्धकार से रात्रिकालीन अन्धकार का तिरस्कार करता हुआ, (शत्रुओं के अन्धकार के सामने रात्रिकालीन अन्धकार व्यर्थ था ।) ॥ ४० ॥

स्वापमूर्च्छितनिशेषु रक्षिषु सत्त्वरक्षितविधिः स्वयं प्रभुः ।
केवलां सहभुवं परम्परां पालयन् निशितशस्त्रशस्त्रिभिः ॥ ४१ ॥

स्वापरक्षितनिशेषु रक्षिषु सत्त्वरक्षितविधिः स्वयंप्रभुः निशितशस्त्रशस्त्रिभिः केवलां सहभुवं परम्परां पालयन् ॥ ४१ ॥

रात्रि में सैनिकों, प्रहरियों के स्वप्न में निमग्न हो जाने पर भी, स्वयं समर्थ अपने आत्मबल से ही सुरक्षा में सर्वथा सक्षम, वह महान् दुर्ग अपने तेज शस्त्रोंवाले रक्षकों से केवल दुर्गरक्षासम्बन्धी सहज परम्परा का पालन मात्र करता हुआ, ॥४१॥

शैलशीर्षरचितासनो दिवं वीजयन्निशलोलकेतुभिः ।
ख्यापयन्निव सपत्नमोघतां खेचरान् रचितवन्ध्यचापलाम् ॥ ४२ ॥

शैलशीर्षरचितासनः अनिशलोलकेतुभिः दिवं वीजयन् रचितवन्ध्य-चापलां सपत्नमोघतां खेचरान् ख्यापयन् इव ॥ ४२ ॥

पर्वत के शिखर पर अवस्थित होकर, अपनी चञ्चल पताकाओं से आकाश को पंखा सा झलता हुआ, निष्फल चपलता के उद्योग में शत्रुओं की मूढ़ता को आकाशचारियों के समक्ष प्रख्यापित करता हुआ, ॥ ४२ ॥

आहतारिजनकीर्तितौजसः कौशलोद्यममपीष्टसिद्धिदम् ।
मावलेभटपतेः परीक्षितुं दुर्गतातिशयमाश्रयन्निव ॥ ४३ ॥

आहतारिजनकीर्तितौजसः मावलेभटपतेः इष्टसिद्धिदं कौशलोद्यमम् अपि परीक्षितुं दुर्गतातिशयम् आश्रयन् इव ॥ ४३ ॥

रणभूमि में आहत शत्रुओं द्वारा प्रशंसित पराक्रमवाले, मावले सैनिकों के सेनापति तानाजी मालसुरे को अभीष्ट सिद्धि देनेवाले, कौशल एवं शौर्य की परीक्षा लेने के लिए ही मानो और अधिक दुरूहता धारण करनेवाले, ॥ ४३ ॥

सिंहदुर्ग इव दुर्गधूर्धरो विश्रुतोऽक्षतशरण्यगौरवः ।
भूषणायितमहासिधारिणां शस्त्रिणामुपहसन्निव श्रमम् ॥ ४४ ॥

अक्षतशरण्यगौरवः दुर्गधूर्धरः सिंहदुर्गः इव भूषणायितमहासिधारिणां शस्त्रिणां श्रमम् उपहसन् इव ॥ ४४ ॥

सिंहों की माँद के समान भीषण, दुर्गों में दुर्धर्ष, अपने भीतर रहनेवाले प्राणियों की रक्षा करने में अक्षत कीर्तिवाला, वह कोण्डना दुर्ग, तलवार के धनी वीरों के अपने (कोण्डना के) विरुद्ध पराक्रम-प्रदर्शन के परिश्रम का उपहास सा करता हुआ, ॥ ४४ ॥

झिल्लिकारवभरेण वर्जयन् प्राकृतानतिमनुष्यकर्मणि ।
साहसोत्सुकभटैरदृश्यत सानुमानिव धरावयस्थितिः ॥ ४५ ॥

झिल्लिकारवभरेण प्राकृतान् अतिमनुष्यकर्मणि वर्जयन् धरावयस्थितिः सानुमान् इव साहसोत्सुकभटैः अदृश्यत ॥ ४५ ॥

झिल्ली की झंकारों से साधारण मनुष्यों को अतिमानवीय पौरुषवाले प्रयत्नों से विरत करता हुआ वह दुर्ग साहसी मावले सैनिकों को ऐसा प्रतीत हुआ मानो पृथिवी के साथ ही उत्पन्न कोई पर्वत हो ॥ ४५ ॥

सिंहदुर्गमवलोक्य तं बली सिंहदुर्गमपथाब्धिपारगः ।
मावलेभटपतिश्चतुश्शतान् सैनिकाननुजवर्तिनोऽकरोत् ॥ ४६ ॥

सिंहदुर्गमपथाब्धिपारगः मावलेभटपतिः बली तं सिंहदुर्गम् अवलोक्य चतुश्शतान् सैनिकान् अनुजवर्तिनः अकरोत् ॥ ४६ ॥

अत्यन्त दुर्गम पथवाले, विपत्तिसमुद्र को भी पार करनेवाले उस मावले सेनापति वीरश्रेष्ठ तानाजी ने सिंहगढ़ को देखकर, अपने सैनिकों में से चार सौ को अपने भाई के नेतृत्व का अनुगामी बनाया पाँच सौ सैनिकों में से चार सौ को अपने भाई के अधीन किया ॥ ४६ ॥

गोधिकां क्षणरहस्यवेदिनीं पूर्वसिद्धगुणकीर्तिविग्रहाम् ।
दुर्गभित्तिविषमोच्छ्रितेः क्रमाल्लाघवैर्विदधतीं तिरस्क्रियाम् ॥ ४७ ॥

पूर्वसिद्धगुणकीर्तिविग्रहां क्षणरहस्यवेदिनीं गोधिकां लाघवैः क्रमात् दुर्गभित्तिविषमोच्छ्रितेः तिरस्क्रियां विदधतीम् ॥ ४७ ॥

तानाजी के पास एक 'गोह' थी, बहुत ही चतुर और क्षण भर में कार्य-गौरव को परख लेती थी, अनेक बार वह अपने स्वाभाविक गुणों द्वारा कीर्ति प्राप्त कर चुकी थी, अत्यन्त कठिन चढ़ाईवाली किले की दीवारों की ऊँचाई को भी अपनी तीव्रगति से ऊपर चढ़ती हुई, तिरस्कृत करती थी [गोह एक जलचर प्राणी है, मगर-मच्छ की आकृति का होता है तथा सीधी दीवालों पर सहज ही चढ़कर वह पेट के बल किसी उपयुक्त स्थान पर चिपक जाता है। उसकी पकड़ इतनी सुदृढ़ होती है कि उसकी कमर में रस्सी बाँधकर भारी व्यक्ति भी उस रस्सी की सहायता से ऊपर पहुँच सकता है।] ॥ ४७ ॥

तां परीक्ष्य विहिताचलस्थितिं दुर्गदुर्गमशिरोऽवनौ जयी ।
दन्तलग्नरिपुकालसायकः प्रोज्जगाम गुणरोपितक्रमः ॥ ४८ ॥

जयी दुर्गदुर्गमशिरोऽवनौ विहिताचलस्थितिं तां परीक्ष्य दन्तलग्नरिपुकालसायकः गुणरोपितक्रमः प्रोज्जगाम ॥ ४८ ॥

तानाजी ने उसकी कमर में रस्सा बाँधा और उसे दीवाल पर सरकने के लिए छोड़ दिया। क्षण भर में ही वह उस दुर्गम अलंघ्य दुर्ग के ऊपरी सिरे पर पहुँच कर चट्टान के समान जम गयी। तानाजी ने उसकी सुदृढ़ स्थिति का परीक्षण कर लिया फिर दाँत से शत्रु-विनाशक तलवार को पकड़कर रस्सी के सहारे वे ऊपर किले की दीवार पर पहुँच गये ॥ ४८ ॥

स्वैरमेव शतसैनिकोत्तमा नायकादृतपथेन निर्भयम् ।
अन्वगुस्तमतिमानवोद्यमाः सिंहदुर्गशिखरं हताशयः ॥ ४९ ॥

स्वैरम् एव नायकादृतपथेन अतिमानवोद्यमाः हताशयः शतसैनिकोत्तमाः निर्भयं तं सिंहदुर्गशिखरम् अन्वगुः ॥ ४९ ॥

सेनापति द्वारा अपनाये गये मार्ग का अनुसरण करते हुए निर्भयतापूर्वक वे उत्तम सौ सैनिक अतिमानवीय साहस का परिचय देते हुए निर्द्वन्द्व सिंहगढ़ के शिखर पर सकुशल पहुँच गये ॥ ४९ ॥

अन्तरायमिव वर्त्मवर्तिनं दुर्गरक्षकमनायुषेऽर्पयन् ।
दिव्यविक्रमवतां हठाद् गणो रक्षिपक्षिनिकरे समापतत् ॥ ५० ॥

अन्तरायम् इव वर्त्मवर्तिनं दुर्गरक्षकम् अनायुषे अर्पयन् दिव्यविक्रमवतां गणः हठात् रक्षिपक्षिनिकरे समापतत् ॥ ५० ॥

रास्ते में वर्तमान दुर्गरक्षक सैनिक को विघ्न-बाधा के समान मानकर तुरन्त यमराज के हवाले करते हुए, अमर्त्य पराक्रमशाली वीरों का वह समूह रक्षा करनेवाले शत्रुओं के झूण्ड पर टूट पड़ा ॥ ५० ॥

काननेपशुशकुन्तधामनि काननाग्निरिव भैरवो निशि ।
जिह्मगानशिववर्तिनो बलान् मावलेऽसिरदहत् पराध्ववित् ॥ ५१ ॥

निशि पशुशकुन्तधामनि काननेभैरवः काननाग्निः इव पराध्ववित् मावलेऽसिः बलात् अशिववर्तिनः जिह्मगान् अदहत् ॥ ५१ ॥

पशु-पंछियों से भरे जंगल में जिस प्रकार रात को भीषण वनाग्नि सर्वनाश करती हुई प्रदीप्त हो जाती है उसी प्रकार कुटिल-मार्गपरायण दुष्ट आचरणवाले (शिवद्रोही) उन शत्रु सैनिकों को उत्तम मार्ग का आश्रय लेनेवाली, मावले सैनिकों की तलवारों ने काटना आरम्भ किया ॥ ५१ ॥

पावके शलभसूतयो यथा दीपितार्चिषि पतन्ति मोहिताः ।
प्रत्यनीकसुभटाः शिवानुगे विस्मिताः सहठमापतन्तथा ॥ ५२ ॥

यथा मोहिताः शलभसूतयः दीपितार्चिषि पावके पतन्ति शिवानुगे विस्मिताः प्रत्यनीकसुभटाः सहठं तथा आपतन् ॥ ५२ ॥

प्रदीप्त लपटोंवाली आग में जिस प्रकार पतिंगों की जाति मोहित होकर गिर पड़ती एवं जल-भुन जाती है उसी प्रकार शत्रु-सैनिक भी विस्मित होकर हठपूर्वक शिव-सैनिकों के क्रोध में गिरकर मरने लगे ॥ ५२ ॥

आत्मपक्षमपि पक्षिणो हठाच्छिन्दतः समवलोक्य चापलम् ।
तामसैकहृदयं तमादरात् तामसी स्वतिमिरोदरे दधौ ॥ ५३ ॥

हठात् आत्मपक्षम् अपि छिन्दतः पक्षिणः चापलं समवलोक्य तामसी आदरात् तामसैकहृदयं तं स्वतिमिरोदरे दधौ ॥ ५३ ॥

घनघोर रात्रि, अन्धकार का अप्रतिहत उत्कर्ष, उसपर यह भीषण दैवी आक्रमण, शत्रु योद्धा स्वपक्ष को ही शत्रु मानकर काटने लगे। रात्रि ने अपने पक्ष को ही चपलतापूर्वक समाप्त करनेवाले, तिमिराच्छन्नहृदय वीरों को आदरपूर्वक अपने तिमिरपूर्ण उदर में छिपा लिया (वे भी दूसरे के शस्त्र से कट मरे) ॥ ५३ ॥

वर्धमानभयविक्लवा द्विषः केवलैकशतसैनिकाञ्चमूम् ।
आत्मनः परमरातिशङ्कया मेनिरे शतगुणाधिकामिव ॥ ५४ ॥

वर्धमानभयविक्लवाः द्विषः अरातिशङ्कया केवलैकशतसैनिकां चमूम् आत्मनः परं शतगुणाधिकाम् इव मेनिरे ॥ ५४ ॥

शत्रुओं का भय पराकाष्ठा पर पहुँच गया। यद्यपि तानाजी के साथ केवल एक सौ सैनिक थे फिर भी रात्रि के उस अन्धकार में शत्रु से आतंकित उन दुर्ग-सैनिकों को ऐसा प्रतीत हुआ मानो दस हजार से भी अधिक शत्रु सैनिकों ने उनपर आक्रमण किया है ॥ ५४ ॥

तत्क्षणं तुमुलनादबोधितो वल्लभाद्दृढभुजार्गलाद् द्रुतम् ।
जिह्मतामुदयभानुरीक्षितुं जिह्मशोणनयनः समाविशत् ॥ ५५ ॥

तत्क्षणं तुमुलनादबोधितः वल्लभाद्दृढभुजार्गलात् द्रुतं जिह्मताम् ईक्षितुं जिह्मशोणनयनः उदयभानुः समाविशत् ॥ ५५ ॥

उसी समय युद्ध के भीषण मारकाट के कोलाहल से जगकर, प्रियतमा के सुदृढ़ भुजपाश के आलिंगन से अपने को शीघ्र मुक्त कर, यह प्रवञ्चनापूर्ण आक्रमण देखने के लिए, कुपित रक्त नेत्रोंवाले उदयभानु दुर्गाध्यक्ष ने प्रवेश किया ॥ ५५ ॥

योषितामसिभृताञ्च निस्सहं सन्ततस्फुरदरालदर्शिनी ।
यस्य निर्गलति सम्मुखं हठान्मानकीर्तिरनुपायविह्वला ॥ ५६ ॥

योषिताम् असिभृतां च सन्ततस्फुरदरालदर्शिनी मानकीर्तिः यस्य सम्मुखम् अनुपाय-विह्वला हठात् निस्सहं निर्गलति ॥ ५६ ॥

जिस उदयभानु के सम्मुख पड़ने पर सुन्दरियों की वक्रदृष्टिवाली मान की कठोरता तथा वीरों की कुपित दृष्टिवाली शौर्यकीर्ति, आश्रयहीन, निरवलम्ब होकर सहसा विगलित हो जाती थी, वह सुन्दरियों, मानिनीजनों के मानहठ को तथा वीरों के शौर्य-यश को अनायास ही समाप्त कर देता था ॥ ५६ ॥

युद्धतूर्यमुत किङ्किणीस्वनं तस्य दृप्तभुजगस्य वक्षसि ।
उत्सुकानिव बलान्मनोरथान् वीरपानलुलितान् विधित्सति ॥ ५७ ॥

युद्धतूर्यम् उत किङ्किणीस्वनं दृप्तभुजगस्य तस्य वक्षसि वीरपानलुलितान् मनोरथान् बलात् उत्सुकान् इव विधित्सति ॥ ५७ ॥

लड़ाई की तुरही या नूपुरों की छमछम, उस मदोन्मद भुजंग (सर्प, कामुक) के हृदय-मनोरथ को बरबस मधुपान (युद्धभूमि या सुरत-आराधन में प्रवृत्त होने के पूर्व सुरापान करने) के लिए उत्कण्ठित कर दिया करते थे। उदयभानु सर्वथा निर्भय, युद्धोन्मद एवं विलासी योद्धा था ॥ ५७ ॥

पक्षपातमवलोक्य निर्दयं कौशिकैरिव बलोन्मदारिभिः ।
कम्पयन् घनगिरा नभोऽवनिं वारयन्निव रिपुं जगाद सः ॥ ५८ ॥

कौशिकैः इव बलोन्मदारिभिः निर्दयं पक्षपातम् अवलोक्य घनगिरा नभः अवनिं कम्पयन् रिपुं वारयन् इव सः जगाद ॥ ५८ ॥

उल्लुओं के समान बलोन्मत्त शत्रुओं द्वारा (उल्लू रात्रि में ही आक्रमण एवं शत्रुसंहार करते हैं) स्वपक्ष का निर्दय संहार देखकर, अपनी ललकार से आकाश तथा पृथिवी को कम्पित करते हुए उदयभानु ने शत्रु को मना करते हुए उच्च स्वर में कहा ॥ ५८ ॥

दस्युराज विरमासिलाघवाद् वीक्षसे न किमु पाप ! मामिह ।
शस्त्रिणां विततमुज्ज्वलं यशो दूषयन्निव न लज्जसे कथम् ॥ ५९ ॥

दस्युराज, असिलाघवात् विरम, पाप, माम् इह किमु न वीक्षसे शस्त्रिणां विततम् उज्ज्वलं यशः दूषयन् इव कथं न लज्जसे ॥ ५९ ॥

डाकू सरदार, अपनी तलवार की कलबाजी बन्द कर रुक जा । अरे पापी, यहाँ उपस्थित मुझको देख नहीं रहा है क्या । शस्त्रधारियों के फैले हुए समुज्ज्वल यश को कलंकित करते हुए तुम्हें अपने कुकर्म पर लज्जा नहीं आती ? ॥ ५९ ॥

विस्तृतेऽपि शठ ! सङ्गराङ्गणे श्लाघ्यमृत्युमपहाय कातरः ।
सारमेय शयनालसोरसि दंशनैः स्वचरितं विकत्थसे ॥ ६० ॥

शठ, सारमेय, विस्तृते समराङ्गणे अपि श्लाघ्यमृत्युम् अपहाय कातरः शयनालसोरसि दंशनैः स्वचरितं विकत्थसे ॥ ६० ॥

अरे धूर्त, चारों ओर फैली रणभूमि में श्लाघनीय मृत्यु की अभिलाषा छोड़कर, कायर के समान, अरे कुत्ते, नींद से आलस्यपूर्ण हृदयों में दाँत गड़ाता हुआ भी अपने इस निन्दनीय आचरण की प्रशंसा कर रहा है ॥ ६० ॥

सत्ववृत्तिरपि नागकुम्भभित् केसरी न शयितान् जिघांसति ।
ब्रूहि कोऽसि मनुजाभिधाधम क्रौर्यनिर्जितनिशाचरप्रथः ॥ ६१ ॥

सत्ववृत्तिः नागकुम्भभित् केसरी अपि शयितान् न जिघांसति, मनुजाभिधाधम, ब्रूहि क्रौर्यनिर्जितनिशाचरप्रथः कः असि ? ॥ ६१ ॥

जीव-हिंसा पर ही निर्भर रहनेवाला, हाथी के मस्तक को फाड़नेवाला सिंह भी सोये प्राणियों के वध की इच्छा नहीं करता । अपनी क्रूरता से राक्षसों को भी लज्जित करनेवाला, मनुष्य नामधारी पशु, बोल, तू कौन है ॥ ६१ ॥

धर्मराज विरमात्मगौरवात् कौतुकं त्वमपि वेत्सि पद्धतिम् ।
आत्मनाऽपि चरितं त्वयास्ति किं मत्कृते यदभिधीयते गुरो ॥ ६२ ॥

धर्मराज, आत्मगौरवात् विरम, कौतुकं (यत्) त्वम् अपि पद्धतिं वेत्सि, गुरो यत् मत्कृते अभिधीयते (तत्) त्वया आत्मना अपि चरितम् अस्ति किम् ॥ ६२ ॥

तानाजी ने तुरन्त उसकी बात काटते हुए कहा, धर्मराज, व्यर्थ अपनी डींग मत हाँको। रुको, आश्चर्य है कि तुम भी धर्माचरण के सम्बन्ध में जानते हो। गुरुदेव, मेरे लिए जिस धर्म का उपदेश दे रहे हो उसका स्वयं भी कभी पालन किया है ? ॥ ६२ ॥

अन्यगैव किमु धर्मकल्पना त्वं जितत्रिगुणवृत्तिरेव वा।
जिह्मभृत्य नहि वाचि केवलं किन्तु तिष्ठति विधौ सदर्थता ॥ ६३ ॥

धर्मकल्पना अन्यगा एव किमु, वा त्वं जितत्रिगुणवृत्तिः एव ? जिह्मभृत्य, सदर्थता नहि केवलं वाचि किन्तु विधौ तिष्ठति ॥ ६३ ॥

यह तो कहिये, धर्म की कल्पना क्या केवल दूसरों के ही लिए है ? अथवा तुम निस्त्रैगुण्य हो ? वञ्चक के सेवक ! सुनो, सदाचार केवल वाणी में ही नहीं रहता, वह तो मूलतः कार्यों से स्पष्ट होता है। कार्य में ही सदाचार की स्थिति है ॥ ६३ ॥

राजपुत्ररुधिरं विरुन्धता यत् त्वयाऽरिपदपांसुचुम्बिना।
पातितास्तमसि देशवासिनस्तद् बहीरुधिरमेष्यति ध्रुवम् ॥ ६४ ॥

यत् राजपुत्ररुधिरं विरुन्धता अरिपदपांसुचुम्बिना त्वया देशवासिनः तमसि पातिताः तत् रुधिरं ध्रुवं बहिः एष्यति ॥ ६४ ॥

जिस राजपूती खून का अपमान करते हुए, तुमने शत्रु के पैरों की धूल चाटकर देशवासियों को अध.पतन में ढकेला है वह तुम्हारा खून निश्चय ही तुम्हारे शरीर से बाहर निकलेगा ॥ ६४ ॥

म्लेच्छदास कितवास्तवेश्वरा येन धर्ममहितेन वर्त्मना।
दुर्बलानपि दहन्त्यकारणं विस्मृतः कथमसौ सदाग्रहः ॥ ६५ ॥

म्लेच्छदास, तवेश्वराः कितवाः येन धर्ममहितेन वर्त्मना दुर्बलान् अपि अकारणं दहन्ति असौ सदाग्रहः कथं विस्मृतः ॥ ६५ ॥

म्लेच्छों के टुकड़ों पर पलनेवाले धार्मिक, जिस धर्ममार्ग का आश्रय लेकर तुम्हारे वञ्चक प्रभु गरीबों को अकारण ही जलाते हैं उस सदाचार को क्या तुम भूल गये हो ॥ ६५ ॥

त्वादृशां जननमृत्युकण्टकं नित्यमेवशठ निन्दितायुषाम्।
जन्मिनस्तु सकृदेव मादृशा अर्चितस्वविधयः श्रयन्ति तत् ॥ ६६ ॥

शठ, निन्दितायुषां त्वादृशां जननमृत्युकण्टकं नित्यम् एव, अर्चितस्वविधयः मादृशाः जन्मिनः तु सकृत् एव तत् श्रयन्ति ॥ ६६ ॥

आत्मवञ्चक, तुम जैसे निन्दित जीवनवाले पामर रोज मरते और जीते हैं, रोज ही जन्म-मरण के संशय में रहते हैं, जब कि आत्मकर्तव्य के मार्ग पर आरूढ़ मेरे जैसे लोग जन्म एवं मृत्यु का एक बार, केवल एक बार वरण करते हैं ॥ ६६ ॥

दुर्जना वयममी च सज्जना याऽभिवक्ति रसना तवेत्वरी ।
साऽद्य नूनमसिधारमज्जिता मौनमेतु गलितायुषस्तव ॥ ६७ ॥

वयं दुर्जनाः अमी च सज्जनाः या तव इत्वरी रसना अभिवक्ति नूनम् अद्य तव गलितायुषः सा असिधारमज्जिता मौनम् एतु ॥ ६७ ॥

हम लोग (मराठे) दुर्जन हैं तथा वे (मुगल) सज्जन हैं, इस प्रकार का आक्षेप करनेवाली, तुम जैसे आयुहीन (सद्यः मरनेवाले) व्यक्ति की यह चञ्चल जिह्वा अवश्य ही मेरी तलवार की धारा में डूबकर सदा के लिए शान्त, मौन हो जायेगी ॥ ६७ ॥

शिक्षयन् निगमशंसितानि नो मातृभूमिपरतन्त्रताच्छिदः ।
तांश्च जाल्मचरितान् प्रमाणयन् किं द्विजिह्व न विलज्जसे स्वयम् ॥ ६८ ॥

द्विजिह्व, मातृभूमिपरतन्त्रताच्छिदः नः निगमशंसितानि शिक्षयन् जाल्मचरितान् तान् च प्रमाणयन् किं स्वयं न विलज्जसे ॥ ६८ ॥

मातृभूमि की गुलामी की जञ्जीर को काटनेवाले हम लोगों को तो वेदशास्त्रों की शिक्षा दे रहे हो तथा सर्वथा अविचारित नृशंसता करनेवाले उन आततायियों को प्रमाणरूप में उपस्थित करते हो ! अरे दो जबानवाले, सर्प, फिर भी तुम लज्जित नहीं होते हो ॥ ६८ ॥

तद्वनेचरनिभा वयं मृगान् त्वादृशो मृगयितुं धृतव्रताः ।
यूथमेव दधतः पुरो दृशां नूनमद्य विधयः सुदक्षिणाः ॥ ६९ ॥

तत् वनेचरनिभाः वयं त्वादृशः मृगान् मृगयितुं धृतव्रताः, दृशां पुरः यूथम् एव दधतः नूनम् अद्य सुदक्षिणाः विधयः ॥ ६९ ॥

तो ठीक है, हम लोग वनेचर ही हैं, तुम जैसे मृगों (हिरनों) को ढूँढ़ने और मारने के लिए हम लोग कृतसङ्कल्प हैं। सचमुच दैव हम लोगों पर बड़ा ही कृपालु है कि इतना विशाल झुण्ड (मृगों का) उसने हमारी आँखों के सामने उपस्थित कर दिया ॥ ६९ ॥

वीक्ष्य मालसुरमेवमुद्धतं रोद्धुमेव रिपुखड्गपन्नगी ।
ह्रादिनीव नयनांशुमोहिनी तर्षतप्तहृदयेव तत्वरे ॥ ७० ॥

मालसुरम् एवम् उद्धतं वीक्ष्य रोद्धुम् एव नयनांशुमोहिनी ह्रादिनी इव रिपुखड्गपन्नगी तर्षतप्तहृदया इव तत्वरे ॥ ७० ॥

तानाजी मालसुरे को इस प्रकार बेरोकटोक वाग्बाण का प्रहार करते देखकर, उन्हें चुप कराने के ही लिए शत्रु उदयभानु की तलवाररूपी नागिन, प्यास से तप्त, विकल होकर, बिजली के समान अपनी चमक से आँखों की ज्योति को भ्रम में डालती हुई उछल पड़ी ॥ ७० ॥

लक्ष्यबद्धमनसोः स्थिराक्षयोः सिद्धहस्तयशसो रणोद्यमः ।
विग्रहश्रियमरालदर्शिनीमुत्सुकामुभयरागिणीं व्यधात् ॥ ७१ ॥

लक्ष्यबद्धमनसोः स्थिराक्षयोः सिद्धहस्तयशसोः रणोद्यमः अरालदर्शिनीम् उत्सुकां विग्रहश्रियम् उभयरागिणीं व्यधात् ॥ ७१ ॥

लक्ष्य में हृदय को केन्द्रित किये, स्थिर दृष्टिवाले, हस्तलाघव के लिए यशस्वी उन दोनों महावीरों के युद्धोयोग ने कटाक्षपूर्ण दृष्टिवाली उत्कण्ठित युद्धलक्ष्मी को दोनों ही वीरों में अनुरागवती कर दिया [युद्धलक्ष्मी के लिए यह निश्चय करना कठिन हो गया कि उन दोनों वीरों में कौन विशेष उत्तम था। दोनों ही अद्वितीय थे।] ॥ ७१ ॥

यामिनीघनघटा भटद्वयी शौर्यजस्तनितमम्बुदेरितम् ।
ह्रादिनीव करवालवल्लरिः संप्लवं विदधिरे रणाङ्गणे ॥ ७२ ॥

भटद्वयी यामिनीघनघटा शौर्यजस्तनितम् अम्बुदेरितं करवालवल्लरिः ह्रादिनी इव रणाङ्गणे संप्लवं विदधिरे ॥ ७२ ॥

दोनों ही वीर रात्रिकालीन घनघटा के समान थे। शौर्यपूर्ण गर्जन ही बादलों के गर्जन के समान था। कृपाणलता ही बिजली थी। फलतः युद्धभूमि में वर्षा की बाढ़ सी आ गयी ॥ ७२ ॥

अङ्कितुं मृगपतौ स्वविक्रमं न क्षणं परमवाप यूथपः ।
कुम्भिकुम्भदलने महौजसा रक्षितैव विदितात्मपद्धतिः ॥ ७३ ॥

परं यूथपः मृगपतौ स्वविक्रमम् अङ्कितुं क्षणं न अवाप, कुम्भिकुम्भदलने विदितात्मपद्धतिः महौजसा रक्षिता एव ॥ ७३ ॥

किन्तु उस मृगराज पर अपने विक्रम की छाप छोड़ने में यूथप (उदयभानु) को कोई उचित अवसर न मिला। उस महान् पुरुषार्थवाले, गजराज के मस्तक को फाड़नेवाले शेर ने अपने प्रतिष्ठित ढंग से अपनी रक्षा की ॥ ७३ ॥

कालरात्रिरपि विस्मितेव सा कालिमच्छदघनावगुण्ठना ।
सम्पतन्निशितहेतिदीप्तिमद्विह्वलेक्षणमचालयन्मुहुः ॥ ७४ ॥

कालिमच्छदघनावगुण्ठना सा कालरात्रिः अपि विस्मिता इव सम्पतन्निशितहेतिदीप्तिमद्विह्वलेक्षणं मुहुः अचालयत् ॥ ७४ ॥

काले बादलों के घूँघटवाली उस कालरात्रि ने भी विस्मयपूर्वक, प्रतिद्वन्द्वी के ऊपर गिरते हुए तेज धारवाले शस्त्रों की चमक से विह्वल आँखों को बार-बार चञ्चलता से घुमाना आरम्भ किया ॥ ७४ ॥

हेतिहूतिशतमार्गणाध्वना चेतसा कविरिवार्य - विक्रमः ।
सोत्सहं प्रयतते स्म विग्रहे शत्रुजीवितपदार्थलब्धये ॥ ७५ ॥

आर्यविक्रमः हेतिहूतिशतमार्गणाध्वना चेतसा विग्रहे सोत्सहं कविः इव शत्रुजीवितपदार्थ-लब्धये प्रयतते स्म ॥ ७५ ॥

जिस प्रकार कवि, साहित्यनिर्माता किसी भावना, शब्द या वाक्यरूपी जीवन्त पदार्थ को प्राप्त करने के लिए पूर्ण उत्साह से अपने मानस का आलोडन, मन्थन करता है उसी प्रकार शस्त्रों, ललकारों आदि सैकड़ों रास्तेवाले हृदय से वीर, प्रयत्नपूर्वक उस प्रतिपक्षी के शरीर में (रण में) जीवित पदार्थ को (जीवन को) ढूँढ़ने की चेष्टा कर रहा था ॥ ७५ ॥

तत्क्षणं श्रमजलाक्तलोचनं वीक्ष्य मालसुरमुद्यतद्विषः ।
उत्सुकेन हृदये महासिना लेखितोऽसुगमनक्षणागमः ॥ ७६ ॥

तत्क्षणं श्रमजलाक्तलोचनं मालसुरं वीक्ष्य उद्यतद्विषः उत्सुकेन महासिना हृदये असुगमनक्षणागमः लेखितः ॥ ७६ ॥

उसी क्षण तानाजी की आँखों पर पसीने की बूँदें चुहचुहा आयीं तथा दृष्टि में कुछ व्यवधान पड़ा, तबतक उद्यत शत्रु उदयभानु की उत्कण्ठित तलवार ने तानाजी के हृदय पर प्राणों के प्रस्थान के क्षण की उपस्थिति को मानो लिख दिया (तानाजी के हृदय में उदयभानु की तलवार घुस गयी) ॥ ७६ ॥

पूर्वमेव सवनानलः शमात् सोऽन्त्यहव्यमिव शत्रुमाहरन् ।
आनयज्जगति नन्दिनीं प्रथां श्रेयसामुपचिताऽनघायतिम् ॥ ७७ ॥

शमात् पूर्वम् एव सः सवनानलः अन्त्यहव्यम् इव शत्रुम् आहरन् जगति श्रेयसाम् उपचितानघायतिं नन्दिनीं प्रथाम् आनयत् ॥ ७७ ॥

शान्त होने के पहिले ही उस यज्ञाग्नि ने अन्तिम हव्य द्रव्य के रूप में शत्रु को समाप्त करते हुए (आहुत करते हुए) कल्याणपूर्ण शत्रुघातिनी, शुभ भविष्यमूलक परम्परा को संसार में उपस्थित कर दिया ।

[तानाजी ने उसी क्षण अपनी मृत्यु के पहिले ही ऐसा हाथ मारा कि उदय-भानु के प्राणपखेरू उड़ गये । इस प्रकार उदयभानु को मारने का यश प्राप्त ही कर लिया, भले ही स्वयं भी परलोक-गमन करना पड़ा ।] ॥ ७७ ॥

सूर्यमण्डलविभेदकीर्तये गच्छतापि शिवराजबन्धुना ।
रक्षितो धृतपणो धराभृते कोण्डनाविजयकेतुलक्षणः ॥ ७८ ॥

सूर्यमण्डलविभेदकीर्तये गच्छता अपि शिवराजबन्धुना धराभृते कोण्डनाविजयकेतुलक्षणः धृतपणः रक्षितः ॥ ७८ ॥

सूर्यमण्डल के भेदन की कीर्ति-प्राप्ति के लिए (युद्धभूमि में लड़कर मरनेवाला सूर्यमण्डल भेदकर ऊपर के लोकों को गमन करता है) प्रस्थित शिवराज के प्रिय बन्धु तानाजिमालसुरे ने राजा के लिए कोण्डना पर भगवाध्वज फहराकर अपनी प्रतिज्ञा को पूरा कर ही लिया ॥ ७८ ॥

विस्मयान्तरितशोकसागराद् यावदाश्वसिति शत्रुवाहिनी ।
तावदेव समरोत्सुकः क्षणः [1]सूरजेन सहठं नवीकृतः ॥ ७९ ॥

यावत् शत्रुवाहिनी विस्मयान्तरितशोकसागरात् आश्वसिति तावत् एव सूरजेन सहठं समरोत्सुकः क्षणः नवीकृतः ॥ ७९ ॥

इस अघटित घटना से (उदयभानु तथा तानाजी की मृत्यु से) विस्मित शत्रु सेना जबतक शोकसमुद्र को पार कर आश्वस्त हो तबतक सूर्याजी ने रणाग्नि को पुनः प्रज्वलित कर दिया । घोर युद्ध आरम्भ हो गया ॥ ७९ ॥

मावलेशजयघोषनिर्भरं रञ्जयन्निव मरुत्पथं ततः ।
आशुशुक्षणिरुदर्चिराबभौ मन्दुरोदरतृणाशभासुरः ॥ ८० ॥

ततः मावलेशजयघोषनिर्भरं मरुत्पथं रञ्जयन् इव मन्दुरोदरतृणाशभासुरः उदर्चिः आशुशुक्षणिः आबभौ ॥ ८० ॥

घुड़साल में रखे घास के गट्ठरों में आग लगा दी गयी । क्षण भर में ही उस आग का स्वरूप बड़ा विकराल हो गया । मालसुरे की जयजयकार से पूरित आकाश को अपनी लपलपाती प्रचण्ड ज्वाला से आलोकित करती हुई आग चारों ओर फैल गयी ॥ ८० ॥

तत्प्रतीपबलमस्तयूथपं नागयूथमिव केसरिक्रमे ।
कांदिशीकमददाज्जहच्छ्रियं कोषदुर्गसहितां शिवौजसे ॥ ८१ ॥

केसरिक्रमे नागयूथम् इव अस्तयूथपं कांदिशीकं जहत् तत् प्रतीपबलं शिवौजसे कोषदुर्ग-सहितांश्रियं अददात् ॥ ८१ ॥

जिस प्रकार महाबली यूथप के मारे जाने पर हाथियों का झुण्ड शेर के आक्रमण से भयसंतप्त होकर इधर-उधर भाग जाता है वैसे ही वीर उदयभानु

---

१. सूरजजी, सूर्याजी,—भ्राता तानाजीमालसुरस्य । दिवंगते सेनापतौ सूर्याजी सैनिकान् युधि समचालयत् ।

के मरने पर दुर्ग की सेना मावले वीरों के आक्रमण से विपन्न होकर, शिवराज के शौर्य को खजाने और किले के साथ ही किले को विजयलक्ष्मी भी समर्पित करके भाग चली ॥ ८१ ॥

प्रातरिन्द्रदिशि रक्तिमच्छवौ रक्तखड्गरुचिराः शिवानुगाः ।
गैरिकध्वजधुतानिलाम्बरां मानवे नवमुदं न्यवेदयन् ॥ ८२ ॥

प्रातः रक्तिमच्छवौ इन्द्रदिशि रक्तखड्गरुचिराः शिवानुगाः मानवे गैरिकध्वजधुतानिलाम्बरां नवमुदं न्यवेदयन् ॥ ८२ ॥

सबेरा हुआ, रक्तिमवर्णवाली पूर्व दिशा में सूर्य की किरणें फैलीं। खून से भीगी तलवारों की शोभावाले शिवराज के सैनिकों ने गेरुआ ध्वज के पहरने से कम्पित वायुयुक्त अम्बर (वस्त्र) से मण्डित नयी प्रसन्नता सूर्यदेव को निवेदित किया ॥ ८२ ॥

शक्रसख्यमुपलब्धुमक्षतं स्वर्गते सपदि मावलेपतौ ।
कीर्तिभारशिथिलां तदाकृतिं वीक्ष्य भूरि विललाप पार्थिवः ॥ ८३ ॥

मावलेपतौ सपदि अक्षतं शक्रसख्यम् उपलब्धुं स्वर्गते (सति) पार्थिवः कीर्तिभारशिथिलां तदाकृतिं वीक्ष्य भूरि विललाप ॥ ८३ ॥

देवराज इन्द्र की अक्षय मैत्री का सुख भोगने के लिए, तानाजी के स्वर्ग चले जाने पर, यश के भार से खिन्न उनकी आकृति को निहारकर क्षत्रपति शोकपूर्वक अतिशय विलाप करने लगे ॥ ८३ ॥

सिंहतामपहरन् कथं विधे ! दुर्गमर्पयसि केवलं मम ।
स्वीकुरुष्व शतदुर्गमद्य मे तं मदेकसुहृदं परं त्यज ॥ ८४ ॥

विधे, मम सिंहताम् अपहरन् कथं केवलं दुर्गम् अर्पयसि ? अद्य मे शतदुर्गं स्वीकुरुष्व परं तं मदेकसुहृदं त्यज ॥ ८४ ॥

दुर्दैव, इस 'सिंह-दुर्ग' में से 'सिंह' (तानाजी) का अपहरण करते हुए केवल दुर्ग क्यों दे रहे हो (मैं इस दुर्ग के लिए अपना 'सिंह' नहीं छोड़ सकता)। आज ही अभी मुझसे सौ दुर्ग ले लो किन्तु मेरे एकमात्र उस मित्र को लौटा दो ॥ ८४ ॥

मुञ्च मुञ्च कृतकाक्षिमीलनं सोऽहमस्मि वद किं न वीक्षसे ।
मातरं विजययागवर्णितैः किं विनोदयसि नाद्य मूर्च्छिताम् ॥ ८५ ॥

कृतकाक्षिमीलनं मुञ्च, मुञ्च, सः अहम् अस्मि, वद, किम् न वीक्षसे, अद्य मूर्च्छितां मातरं विजययागवर्णितैः न विनोदयसि किम् ? ॥ ८५ ॥

अरे, उठो, ये झूठ-मूठ का आँख मूँदने का बहाना छोड़ो। मैं तुम्हारा वही पुराना बालबन्धु हूँ। बोलो, मुझे क्यों नहीं देखते हो। शोक-मूर्च्छित माता (देवी जीजाबाई) को अपनी विजययज्ञ की कहानी सुनाकर उनका मन-बहलाव क्यों नहीं कर रहे हो ॥ ८५ ॥

त्वामवेक्ष्य परलोकवर्त्मनि मामनाश्रयमपूर्वबान्धव ।
साऽनवाप्तशरणाऽपि शोकधूर्हन्ति निर्दयमुपेक्षसे कथम् ८६ ॥

अपूर्वबान्धव त्वां परलोकवर्त्मनि अवेक्ष्य अनवाप्तशरणा सा शोकधूः अपि अनाश्रय मां निर्दयं हन्ति, कथम् उपेक्षसे ॥ ८६ ॥

मेरे अपूर्व बन्धो ! तुम्हें परलोक के रास्ते में देखकर कहीं भी शरण न पानेवाला शोकभार मुझे आश्रयहीन पाकर निर्दयतापूर्वक मार रहा है। फिर भी, तुम क्यों हमारी उपेक्षा कर रहे हो ॥ ८६ ॥

इत्थमक्षयपदौकसं नृपो बालबन्धुमनिमेषतारकैः ।
लोचनैरिव निधातुमात्मनि दूरवर्त्मपथिकं व्यलोकयत् ॥ ८७ ॥

इत्थं नृपः अक्षयपदौकसं दूरवर्त्मपथिकं बालबन्धुं अनिमेषतारकैः लोचनैः आत्मनि निधातुम् इव व्यलोकयत् ॥ ८७ ॥

इस प्रकार अक्षय लोक के नवनिवासी, बालबन्धु तानाजी को निर्निमेष तारकवाली आँखों से अपने आत्मा में रख लेने के लिए व्यग्र महाराज क्षत्रपति उस सुदूर मार्ग के यात्री को देखते रहे ॥ ८७ ॥

सा स्नुषा श्वशुरमात्मजो गुरुं बान्धवा, प्रियजनं शिवाकृतौ ।
प्रापुरेव परमार्यरक्षितुः दृष्टिरेकसुहृदे मुधाऽतपत् ॥ ८८ ॥

शिवाकृतौ सा स्नुषा श्वशुरम्, आत्मजः गुरुं, बान्धवाः प्रियजनं प्रापुः एव, परम् आर्यरक्षितुः दृष्टिः एकसुहृदे मुधा अतपत् ॥ ८८ ॥

[क्षत्रपति शिवराज ने यथाविधि तानाजी के पुत्र का विवाह-मंगल सम्पन्न कराया।]

उस पुत्रवधू ने वीर शिवराज में अपना श्वशुर पाया, वर को (पुत्र को) महाराज के रूप में अपने पिता ही पुनः प्राप्त हो गये, बन्धु-बान्धवों को भी उस राजेश्वर में अपना प्रिय स्नेही बन्धु मिल गया। किन्तु स्वयं राजा की आँखें अपने उस एक मित्र को पुनः देखने के लिए निरन्तर तड़पती ही रह गयीं ॥ ८८ ॥

मात्रे राजा प्रथितमहसे कोण्डनां सः समर्प्य
जन्मावन्यै हृदयमिव तं सिंहमित्रञ्च दत्त्वा ।

आर्तो गत्वा प्रियसखिगृहं तज्जनांश्चानुतोष्य
वत्सोद्वाहे जनकपरमोऽरञ्जयत्तत्कुटुम्बम् ॥ ८९ ॥

सः राजा प्रथितमहसे मात्रे कोण्डनां समर्प्य, जन्मावन्ध्यं हृदयम् इव तं सिंहमित्रं च दत्त्वा, आर्तः (सन्) प्रियसखिगृहं गत्वा तज्जनान् च अनुतोष्य वत्सोद्वाहे जनकपरमः तत्-कुटुम्बम् अरञ्जयत् ॥ ८९ ॥

उस क्षत्रपति ने उत्कृष्ट कीर्तिवाली माता को सिंहदुर्ग समर्पित कर दिया। मातृभूमि के लिए हृदय के समान प्रतापी मित्र का बलिदान कर दिया। शोककातर होते हुए भी मित्र के घर जाकर उनके शुभचिन्तकों को सन्तोष देकर, पुत्र के विवाह में पिता का स्थान सँभाला और उनके (तानाजी के) परिजनों का अनुरञ्जन किया ॥ ८९ ॥

इति श्रीत्रिपाठ्युपाह्वेन उमाशङ्करशर्मणा विरचिते
क्षत्रपतिचरित-महाकाव्ये षोडशः सर्गः ।

अथ सप्तदशः सर्गः

[अस्मिन् सर्गे दिल्लीपतिं प्रति 'जजिया' कर विरोधाय, क्षत्रपतेः पत्रमधिकृत्य विषय-प्रस्तावः समुपस्थापितः । तच्चैतिहासिकं पत्रं पारसीकभाषायां तत्सचिवेन नीलोजीप्रभुणा तदाज्ञया लिखितमस्ति । इतिहासविदां नानवगतमेतत् । तद्यथा—]

जजियाधुर्विपन्नानां लोकानां भिन्नचेतसाम् ।
मर्माक्रन्दमिदं पत्रं भिक्षते त्वामनुग्रहम् ॥ १ ॥

जजियाधुर्विपन्नानां भिन्नचेतसां लोकानाम् इदं मर्माक्रन्दं पत्रं त्वाम् अनुग्रहं भिक्षते ॥१॥

[दिल्लीपति अवरंगजेब ने हिन्दुओं को विवश करने के लिए तथा परिणाम-स्वरूप इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए उनपर एक धार्मिक कर लगाया जिसे ज़ज़िया कहते हैं । यह कर मुसलमानों पर नहीं लगता था । बहुसंख्यक प्रजा हिन्दू थी अतः एक प्रकार से यह धर्मप्रचार एवं आयका मुख्य स्रोत था ।]

दिल्लीपति बादशाह, जजिया 'कर' के भार से दुःखी, विदीर्ण-हृदयवाली प्रजा का यह मर्मभेदी पत्र आपसे अनुग्रह की याच्ञा करता है ॥ १ ॥

यया विनिश्चित्य तमोऽम्बुधावपि सदर्थमुक्तैव धियावचीयते ।
त्रिलोकभर्तुः परलक्ष्मधोरसौ शिवाय लोकस्य महीयतां सदा ॥ २ ॥

तमोऽम्बुधौ अपि यया धिया विनिश्चित्य सदर्थमुक्ता एव अवचीयते त्रिलोकभर्तुः परलक्ष्मधीः असौ लोकस्य शिवाय सदा महीयताम् ॥ २ ॥

जिस विवेक के द्वारा अन्धकारपूर्ण समुद्रतल में प्रवेश कर भी निश्चयपूर्वक बहुमूल्य मोती ही चुनकर निकाल ली जाती है (अथवा जिस विवेक के द्वारा इस स्वार्थान्धकार-कलुषित जगत् में सदर्थसम्पन्न मोती-सी समुज्ज्वल भावना का ही सञ्चय किया जाता है) त्रिलोकनाथ भगवान् के अभिज्ञान में अत्यन्त उत्कृष्ट हेतु वह विवेक, बुद्धि, लोककल्याण के लिए यशस्विनी हो ।

विवेक की जय हो, ईश्वर के अस्तिज्ञान में विवेक परम हेतु है ॥ २ ॥

अबुद्धयाच्ञाव्यसनस्य चेदयं ममोद्यमोऽसंस्तुतपद्धतावपि ।
प्रभो ! तवानुग्रहनन्दिताशयस्तदस्तु लोकस्य मुदे निरन्तरम् ॥ ३ ॥

प्रभो, अबुद्धयाच्ञाव्यसनस्य अयं मम उद्यमः असंस्तुतपद्धतौ अपि (अस्ति) चेत्, तत् तव अनुग्रहनन्दिताशयः लोकस्य मुदे निरन्तरम् अस्तु ॥ ३ ॥

राजन् दिल्लीपते ! मैं प्रार्थना (याचना) के पथ से सर्वथा अपरिचित हूँ । अतः प्रार्थना करने में अनुभूत होनेवाले संशय, वितर्क, नैराश्य आदि मानसिक दुःखों

से अनभिज्ञ हूँ (मैंने कभी, किसी से, कुछ नहीं चाहा है)। फिर भी यदि आप कृपा-पूर्वक इस प्रार्थना को प्रसन्नतापूर्वक सफल कर दें तो जनता का अहर्निश बड़ा कल्याण होगा ॥ ३ ॥

अकिञ्चनेऽस्मिन्नपि भूपते ! जने निरङ्कुशस्यापि विधेरनुग्रहः ।
मयि स्थिरस्नेहवतां न कोऽपि यो विवेकमार्गं विषमेऽपि मुञ्चति ॥ ४ ॥

भूपते, अकिञ्चने अपि अस्मिन् जने निरङ्कुशस्य अपि विधेः अनुग्रहः, मयि स्थिर-स्नेहवतां कः अपि न यः विषमे अपि विवेकमार्गं मुञ्चति ॥ ४ ॥

दिल्लीपति ! मुझे यह कहने में संकोच नहीं है कि मेरे पास कुछ नहीं है। तथापि, सर्वथा स्वतन्त्र दैव भी इस अकिञ्चन पर कृपालु हो है क्योंकि मुझसे प्रेम करनेवाले लोगों में एक भी ऐसा नहीं है जो कठिनाई में भी, विपन्नता में भी विवेक को छोड़ दे [हमें इस बात का गर्व है कि हमारे शुभचिन्तक सर्वथा विवेकशीलता का ही परिचय करते हैं।] ॥ ४ ॥

यशो मदीयं तदुदारभूपते ! स्वगुप्तये त्वामपि याचतेऽधुना ।
विवेकपद्यामनुपालयाशु तत् द्विषोऽपि मन्दस्य जयेन किं वद ॥ ५ ॥

उदारभूपते, तत् मदीयं यशः स्वगुप्तये अधुना त्वाम् अपि याचते, तत् आशु विवेक-पद्याम् अनुपालय। वद, मन्दस्य द्विषः अपि जयेन किम् ? ॥ ५ ॥

उदार दिल्लीश्वर ! मेरा यह यश (कि मेरा कोई मित्र कभी भी विवेक-हीनता का आचरण नहीं करता) आज अपनी सुरक्षा के लिए आपसे भी एक भीख चाहता है। वह यह है कि आप भी अविलम्ब विवेक-मार्ग का अनुसरण करें। आप ही कहें, यदि मूर्ख शत्रु को जीत भी लिया तो उससे मेरी कौन सी कीर्ति बढ़ जायगी ? [यदि दुर्भाग्यवश आप मेरी प्रार्थना को अनसुनी कर दें और विवेकहीनता का ही परिचय दें तो आपको जीत लेने पर भी दुनिया यही कहेगी कि मूर्ख शत्रु को जीत लिया तो इसमें क्या आश्चर्य है !] ॥ ५ ॥

निशम्य नूनं तव कोषरिक्ततां ममापि राजन् व्यथते मनो यदि ।
सहस्रजिह्वोऽपि तदाधिवेदितुर्न वक्तुमीशो भवतो विडम्बनाम् ॥ ६ ॥

राजन् तव कोषरिक्ततां निशम्य नूनं मम अपि मनः यदि व्यथते तदाधिवेदितुः भवतः विडम्बनां वक्तुं सहस्रजिह्वः अपि न ईशः ॥ ६ ॥

आपके खजाने के खालीपन, धनहीनता का दुःखद समाचार सुनकर यदि मेरे समान शत्रु भी दुखी हो रहा है तो निश्चित है कि उस घोर मानसिक वेदना की अनुभूति करनेवाले आपकी विडम्बना को व्यक्त करने में सहस्र जिह्वावाले भगवान् शेषनाग भी समर्थ नहीं हो सकते ॥ ६ ॥

स्वधर्मबुद्ध्या प्रकृतिं विभज्य यद् हठात्करानुग्रहनन्दितोत्सवान् ।
विधित्सुरार्यान् यतसे निरङ्कुशं तदस्तु मूलं हि नृपो जनश्रियः ॥ ७ ॥

यत् स्वधर्मबुद्धया प्रकृतिं विभज्य आर्यान् करानुग्रहनन्दितोत्सवान् विधित्सुः निरङ्कुशं यतसे तत् अस्तु, नृपः हि जनश्रियः मूलम् ॥ ७ ॥

प्रायः इस सर्ग के श्लोकों में दो अर्थ समाविष्ट हैं तथा वे व्यंग्य परक हैं।

अपनी धर्मपूर्ण बुद्धि से प्रजाओं का गुणकर्म आदि को दृष्टि से विभाजन करके उत्सुकतापूर्वक उनका हाथ पकड़कर (निर्भय बनाकर, भरण-पोषणके लिए निश्चिन्त बनाकर) उन्हें जो उत्तम मार्ग में प्रयुक्त करने को आप उत्सुक हैं वह सर्वथा ही उचित है क्योंकि प्रजाकुल के अभ्युदय का मूल राजा ही होता है।

या, अपनी धार्मिक संकीर्णता के कारण प्रयत्नपूर्वक अपने स्वभाव को बहुरूपिया बनाकर आप जो हिन्दुओं को कर (जजिया) लगाकर मनमाना उन्हें दुखी करना चाहते हैं यह उचित ही है क्योंकि प्रजा का कल्याण तो राजा में निहित रहता है। जब राजा ही संकुचितबुद्धि है तो प्रजा को तो दुःख भोगना ही है ॥ ७ ॥

प्रजास्वपेतावरणासु निश्चितं करग्रहात्ते निरुपाधिनिर्भरम् ।
प्रमोदनिघ्ना पुलकावली हठान्मनोरमस्नेहमुरीकरिष्यति ॥ ८ ॥

ते करग्रहात् अपेतावरणासु प्रजासु निश्चितं निरुपाधिनिर्भरं प्रमोदनिघ्ना पुलकावली हठात् मनोरमस्नेहम् उरीकरिष्यति ॥ ८ ॥

आप द्वारा करग्रहण (विवाह) हो जाने से प्रजा सौभाग्यवती (अपेत+अवरण) हो जायगी, बाधायें नष्ट हो जायँगी और हर्षोत्सुक रोमाञ्च अभीष्ट स्नेह को पाकर धन्य हो जायगा।

अथवा, आपका यह करग्रहण, जजिया की वसूली निस्सन्देह प्रजाकुल को निर्धन, नंगा (अपेत+आवरण) कर देगी तथा भिक्षुक हो जाने से वह कुटुम्ब के भरण-पोषण के भार से उन्मुक्त हो जायेगी (उपाधि—कुटुम्ब का भार वहन करने-वाला प्राणी)। जब अर्थ ही नहीं होगा तब भरण-पोषण का प्रश्न ही कहाँ रहेगा, सभी भीख माँग लेंगे—

इस तरह आपके इस सुकृत्य ? से वह हर्षमग्न हो आपमें अक्षय स्नेह-निष्ठा रखेगी (निश्चित रूप से विद्रोह करेगी) ॥ ८ ॥

निकामतप्तासु परिस्खलद्वपुः प्रियाऽपभिक्षे व्यसनेऽपि बिभ्रती ।
त्रपाच्छदा शीलविभूषणा शुचं करग्रहाश्वस्तमना न विन्दति ॥ ९ ॥

अपभिक्षे व्यसने अपि निकामतप्तासु परिस्खलद्वपुः बिभ्रती प्रिया करग्रहाश्वस्तमना त्रपाच्छदा शीलविभूषणा शुचं न विन्दति ॥ ९ ॥

(निकाम+तप्त+असु=निकामतप्तासु) (त्रपा+अच्छदा = त्रपाच्छदा)

यह जानकर बड़ा परितोष हो रहा है कि आप द्वारा पाणिगृहीता (विवाहिता) प्रजा, अतिशय कामोन्माद के कारण देह को सँभालने में विवश होती हुई भी, अन्नादि संकट में भी लज्जा से सुरक्षित एवं शीलगुण से अलकृत होकर चिन्ता—शोक से कदर्थित न होगी।

अथवा, आपके जजिया कर की वसूली से, भूख के कारण सन्तप्त प्राणोंवाली लड़खड़ाती, लज्जारहित, शीलभ्रष्ट प्रजा पशुसामान्य, पशुओं के स्वभाववाली बन जायेगी, फिर उसे शोक या चिन्ता विशेष कष्टदायक न होंगे ।९॥

ध्रुवं प्रतिव्यक्ति विविच्य यत्त्वया श्रितः समन्यायपथोऽप्यनेकधा ।
तदात्मवत् सर्वशरीरिवृत्तयो गुरौ त्वयीष्टामुपयान्तु शिष्यताम् ॥ १० ॥

ध्रुवं यत् विविच्य त्वया प्रतिव्यक्ति समन्यायपथः अपि अनेकधा श्रितः तत् सर्वशरीरिवृत्तयः आत्मवत् त्वयि गुरौ इष्टां शिष्यताम् उपयान्तु ॥ १० ॥

आप कितने विवेकशील हैं! आप मूर्ख के समान सिद्धान्तों की ऊपरी चमक-दमक से प्रभावित न होकर उनके अभीष्टार्थ के प्रति जागरूक रहते हैं। जैसे, न्याय समदृष्टि होता है किन्तु एक जैसा ही अपराध करने पर किसी अबोध बालक को वह भयंकर दण्ड नहीं दिया जा सकता जो एक बुद्धिमान् प्रौढ व्यक्ति को दिया जाता है। अतः आपने प्रतिव्यक्ति, देश, काल, स्थिति आदि का ध्यान रखते हुए समान दृष्टि-वाले न्याय को भी अनेक भागों में बाँट दिया है, हिन्दू प्रजा को एक तरह का, मुसलमानों को दूसरे तरह का, आदि। इससे लाभ यह होगा कि प्रत्येक प्राणी आत्मवृत्ति के अनुकूल आपकी दण्डादि व्यवस्था में आत्मभाव का अनुभव करेगा। अतः अच्छा है कि प्रजाजन आप जैसे गुरुज्ञानी को पाकर आपकी शिष्यता प्राप्त करें ॥ १० ॥

स्वकौशलाराधितसिद्धिविक्रियामुताद्यवंश्यार्जितधामसंक्षयम् ।
किमीहसे दण्डकरोऽपि यत्करैर्नवीकरोष्यात्मनि लोकधिक्कृतिम् ॥ ११ ॥

स्वकौशलाराधितसिद्धिविक्रियाम् उत आद्यवंश्यार्जितधामसंक्षयं किम् ईहसे यत् दण्डकरः अपि करैः आत्मनि लोकधिक्कृतिं नवीकरोषि ॥ ११ ॥

दिल्लीपते, इस जजिया के द्वारा आप क्या करना चाहते हैं, स्पष्ट ज्ञात नहीं हो रहा है। या तो आप अपनी चालाकी द्वारा उपलब्ध इस अनेकविध (राज्य-लाभादि) को निष्फल करना चाहते हैं या अपने पूर्वजों द्वारा उपार्जित कीर्ति (बादशाहत) का विनाश करना चाहते हैं। दण्डपाणि दण्ड देने में समर्थ होकर भी आप इस जजिया से अपने लिए केवल धिक्कार ही अर्जित कर रहे हैं ॥ ११ ॥

चतुष्पदाचारवताऽपि वर्ष्मणा विभावयन्नात्मनि लोकमानसम् ।
तथा न कर्तुं यतते पुमानिह यथा परेतोऽपि जनेषु शोच्यते ॥ १२ ॥

इह आत्मनि लोकमानसं विभावयन् पुमान् चतुष्पदाचारवता वर्ष्मणा अपि तथा कर्तुं न यतते यथा परेतः अपि जनेषु शोच्यते ॥ १२ ॥

माना जाता है कि पशु तथा मनुष्य दोनों ही देहधर्म (भोजन, भय, निद्रा, ग्राम्यधर्म आदि) में समानता रखते हैं फिर भी लोकभावना का विचार करने-वाला व्यक्ति इस समय ऐसा कर्म नहीं करना चाहता कि उसके न रहने पर भी (मर जाने के बाद भी) लोग उसके बारे में निकृष्ट भावना ही सँजोये रहें [विवेकशील प्राणी तो मरने के बाद भी लोगों के बीच अपनी प्रशंसा की ही इच्छा रखता है और आप हैं कि जीवित रहते भी अपनी निन्दा ही एकत्र कर रहे हैं ।] ॥ १२ ॥

महातमाः को नु तमेकमद्वयं त्वया विना निन्द्यतरैरपि क्रमैः ।
उपासितुं वाञ्छति धर्मसिद्धये विपाद्य तत्सृष्टिमकारणं बलात् ॥ १३ ॥

निन्द्यतरैः अपि क्रमैः अकारणं बलात् तत्सृष्टिं धर्मसिद्धये विपाद्य त्वया विना को नु महातमाः तम् एकम् अद्वयम् उपासितुं वाञ्छति ॥ १३ ॥

आपके सिवाय और कौन ऐसा मोहग्रस्त तमोगुणी प्राणी होगा जो उस निष्प्रपञ्च भेदरहित ईश्वर को भी अपने धर्म की सिद्धि के लिए, प्रचार के लिए अनेक निन्दनीय कार्यों द्वारा उसकी सृष्टि को विपन्न करके भी अकारण सकट में डालकर भी, उसकी उपासना का आडम्बर करेगा ? [आप ईश्वर को भी अपना दरबारी ही समझ रहे हैं कि आपके प्रत्येक मूर्खतापूर्ण कार्य का वह समर्थन ही करेगा ।] ॥ १३ ॥

लताः समुच्छिद्य विभज्य वल्लरिं द्रुमान् समुत्पाट्य सबालवीरुधः ।
वनस्पतिं प्रार्थयतस्तवोपरि तदार्द्रदृष्टिर्निपतिष्यति ध्रुवम् ॥ १४ ॥

लताः समुच्छिद्य वल्लरिं विभज्य सबालवीरुधः द्रुमान् उत्पाट्य वनस्पतिं प्रार्थयतः तव उपरि ध्रुवं तदार्द्रदृष्टिः निपतिष्यति ॥ १४ ॥

लताओं, बेलों को निर्दयतापूर्वक काटकर, उच्छेदन कर छोटे पौधों के साथ ही पेड़ों को जड़ से उखाड़कर तुम वनस्पति की पूजा का अगर अभिनय ही करो तो क्या वह तुम पर दयार्द्रदृष्टि से अनुग्रह करेगी ? ॥ १४ ॥

मनोऽनुरागामृतधामनन्दिनीं लसत्प्रभैः प्रीतिमुपायनैरपि ।
न पार्थिवो यत् क्षमते निषेवितुं मनोऽर्पयन् तल्लभते ह्यकिञ्चनः ॥ १५ ॥

मनोऽनुरागामृतधामनन्दिनीं प्रीतिं लसत्प्रभैः उपायनैः अपि यत् पार्थिवः निषेवितुं न क्षमते तत् अकिञ्चनः हि मनः अर्पयन् लभते ॥ १५ ॥

नरेश्वर ! आप उस सर्वसमर्थ ईश्वर को भी ठगना चाहते हैं । भला कहीं निश्छल प्रेम वैभव के चमत्कार से खरीदा जा सकता है ? प्रेम तो हृदयानुराग के अमर प्रकाश से आलोकित रहता है, जगमगाते उपहारों से वह नहीं प्राप्त होता ।

प्रायः राजा भी अपने वैभव के प्रदर्शन द्वारा जिस स्नेह को नहीं प्राप्त कर सकते उसे अकिञ्चन भिक्षु भी अपना हृदय समर्पित कर सहज ही प्राप्त कर लेता है [आप अपनी शक्ति से पार्थिव वैभव से संसार को भले मुट्ठी में कर लें, ईश्वर-प्रेम तो आप जैसे दम्भी को नहीं ही प्राप्त होगा ।] ॥ १५ ॥

परिच्छदाडम्बरभीषितं नु किं तमप्यनीशं परिकल्पसे विभुम् ।
स्वभक्तिमुत्कोचनिभां तवाग्रतो निवेद्य रक्षिष्यति यः स्वमण्डलम् ॥ १६ ॥

तम् अनीशं विभुम् अपि परिच्छदाडम्बरभीषितं नु परिकल्पसे किम्, यः तव अग्रतः उत्कोचनिभां स्वभक्तिं निवेद्य स्वमण्डलं रक्षिष्यति ॥ १६ ॥

बादशाह ! आप अपने ठाट-बाट से, बल-शक्ति से उस सर्वतन्त्रस्वतन्त्र ईश्वर को भी भयभीत करना चाहते हैं क्या ! यतः डरकर घूस के रूप में आपके सामने अपनी भक्ति निवेदित करके वह भी सांसारिक प्राणियों के समान आत्मस्थिति की रक्षा करे ॥ १६ ॥

[1]कनिष्ठमन्धे तमसि क्षिपञ्छलात् पलायितं ज्येष्ठमधो निपातयन् ।
कदर्थयन् तं पितरञ्च बन्धने कमद्भुतं विश्वपतिं समीडसे ॥ १७ ॥

कनिष्ठं छलात् अन्धे तमसि क्षिपन्, पलायितं ज्येष्ठम् अधः निपातयन् तं पितरं च बन्धने कदर्थयन् कम् अद्भुतं विश्वपतिं समीडसे ॥ १७ ॥

बादशाह, अपने सबसे छोटे भाई (मुरादबख्श) को धोखे से कालकोठरी में डालकर, सबसे बड़े अपने सगे भाई (दाराशिकोह) की नृशंस हत्या करके तथा उस वृद्ध पिता (शाहजहाँ) को भी कैद में विनष्ट कर आप किस विचित्र परमेश्वर की उपासना करते हैं ! [आश्चर्य है, यदि इन जघन्य कार्यों का अनुमोदन भी आपक ईश्वर करता है !] ॥ १७ ॥

अलक्षणस्यापि जगत्पतेरतो मुने ! त्वया लक्षणमद्य कल्पितम् ।
स यस्तवाचारलभः प्रभुर्हि सः स वाऽथ यस्मै तव रोचते विधिः ॥ १८ ॥

अतः मुने, अलक्षणस्य अपि जगत्पतेः अद्य त्वया लक्षणं कल्पितम्, यः तवाचारलभः सः हि सः प्रभुः अथवा यस्मै तव विधिः रोचते सः (सः) ॥ १८ ॥

१. I. कनिष्ठः—मुरादबख्शः, कनिष्ठो भ्राताऽवरंगजीवस्य । प्रतार्य ग्वालियरकारागारे क्षिप्तो विषाभिचारेण निहतश्च ।

II. ज्येष्ठः—दाराशिकोहः, ज्येष्ठतमो शाहजहांसन्ततीनाम्, पराजितो युद्धे, पलायनपरो निगृह्यावरंगजीवेन घातितश्च तन्नियुक्तैः वधिकैः ।

III. पिता, शाहजहाँ—भवने नियन्त्रितोऽष्टवर्षपर्यन्तं मृत्युना नृपावरंगजेवनियन्त्रणात् मोचितः ।

ऋषिकल्प, दुनिया कहा करे कि ईश्वर अनिर्वचनीय है अथवा लक्षणों का अविषय है, उसे 'इदमित्थं' नहीं कहा जा सकता। आपने अपने ढंग से ईश्वर का लक्षण निरूपित हो कर दिया। अब ईश्वर का परम लक्षण यह हुआ कि वह जो आपके आचरण से प्राप्त हो जाता है प्राप्य है, ईश्वर है अथवा जिस शक्तिविशेष को आपके क्रियाकलाप से प्रसन्नता होती है वही ईश्वर है [ईश्वर आपकी आचार-संहिता का परिणामी फल है।] ॥ १८ ॥

पटो जगन्नाथवटो निहंसि यान् स्वधर्ममानी विनिवारितश्रुतिः।
तदाज्ञयैव क्षितिभानुवायवः सह त्वया बिभ्रति किं न तानपि ॥ १९ ॥

पटो, जगन्नाथवटो, स्वधर्ममानी विनिवारितश्रुतिः यान् निहंसि तान् अपि तदाज्ञया एव क्षितिभानुवायवः त्वया सह न बिभ्रति किम् ? ॥ १९ ॥

चतुरशिरोमणे, सचमुच आप अपने ईश्वर के श्लाघ्य शिष्य हैं। जिन निर्दोष व्यक्तियों की लोक, शास्त्र, न्याय आदि की उपेक्षा करके अपने सम्प्रदाय के व्यामोह में निर्मम हत्या करते हैं वे भी क्या उस प्रभु से निर्मित नहीं हैं। उसी प्रभु की आज्ञा से पृथ्वी, सूर्य, पवन आदि तुम्हारे साथ ही क्या उन लोगों पर अनुग्रह नहीं करते ? ॥ १९ ॥

असङ्गबुद्धेरपि कर्मयोगिनो न लोकसन्धां समुपेक्षते विधिः।
जनोऽथवा को न मदासवोन्मदो वदेत् स्वयुक्तस्थितिमुच्चकैरिह ॥ २० ॥

असङ्गबुद्धेः कर्मयोगिनः अपि विधिः लोकसन्धां न समुपेक्षते, अथवा इह मदासवोन्मदः कः जनः उच्चकैः स्वयुक्तस्थितिं न वदेत् ॥ २० ॥

अनासक्तबुद्धि, फलनिरपेक्ष, कर्मयोगी का क्रिया-कलाप भी लोकस्थिति का, समाज की भावनाओं का अनादर, तिरस्कार नहीं करता। यदि ऐसा न हो, यदि लोकमर्यादा का ध्यान न रखा जाय तो कोई मदहोश शराबी भी छाती ठोंककर अपनी स्थिति की श्रेष्ठता को गला फाड़कर उद्घोषित करेगा, अतः लोक विवेक ही सामान्यतः वह आधार-निकष है जिस पर परीक्षित होकर ही व्यक्ति भला या बुरा कहलाता है ॥ २० ॥

अनेकधर्मान्धविरोधशान्तये समाननिष्ठाग्रहकल्पनावतः।
यदार्यलोको विशिखायतेऽधुना तदेककल्पे तव सत्क्रिया विभौ ॥ २१ ॥

अनेकधर्मान्धविरोधशान्तये यत् अधुना आर्यलोकः विशिखायते तत् समाननिष्ठाग्रह-कल्पनावतः तव एककल्पे विभौ सत्क्रिया ॥ २१ ॥

विभिन्न धर्मों में सम्प्रदायात्मक मूर्खतापूर्ण विरोध को समाप्त करने के लिए आज जो हिन्दु प्रजा को मुसलमान बनाया जा रहा है, शिखाविहीन किया जा रहा है (बाण के समान कुपित किया जा रहा है) तो यह केवल एक धर्म (इस्लाम) के प्रति अटूट विश्वास रखनेवाले आपने ठीक ही किया। एकप्रकारताविशिष्ट

(केवल मुस्लिम व्यक्तित्व को ही समझनेवाले) आपके ईश्वर के प्रति आपकी यह महती उदारता है ॥ २१ ॥

अहोऽनुबन्धोपचितेरयं क्रमः कृतान्तकल्पं निरवग्रहं यशः ।
वृषं समादृत्य भवन्तमीश्वरं क्षितिस्तरे सातिमवेक्षते प्रजा ॥ २२ ॥

अहो अनुबन्धोपचितेः अयं क्रमः कृतान्तकल्प निरवग्रहं यशः, भवन्तम् ईश्वरं वृषं समादृत्य क्षितिस्तरे प्रजा सातिम् अवेक्षते ॥ २२ ॥

इस श्लोक के अनेक अभीष्ट अर्थ हो सकते हैं।

अनुबन्ध—दोषोत्पत्ति, बड़ों को नकल, परम्पराग्रह।

कृतान्त—यमराज, पाप, सिद्धान्त। क्षिति—पृथ्वी, निवास, नाश।

निरवग्रह—बिना बन्ध का, उच्छृंखल। साति—दान, अन्त।

राजन्! आपकी कुल-परम्परागत यह समृद्धि, नियमानुकूल यह निष्कलुष, स्वाधीन कीर्ति तथा प्रजाजन आपके समान धर्मनिष्ठ धर्मस्वरूप बादशाह पाकर इस पृथ्वी पर आपके अनुग्रह के लिए सतत उन्मुख रहते हैं। अथवा, आपके कुविचार के कारण दोषों की सहसा वृद्धि, उच्छृंखल, अमर्यादित पाप कलुषित यश, तथा प्रजा, आप जैसे पशु की अनीति से अब शीघ्र ही विनाश की पराकाष्ठा को देखेंगे। अन्य अर्थ भी समुद्भावित हो सकते हैं॥ २२ ॥

निशाचराणामधिपे प्रशासति त्वयि प्रशान्तद्विजलोकसत्कृतिः ।
विशङ्कते सिद्धबलोऽपि कौशिकः[1] सुबाहुविध्वस्तविविक्तपद्धतौ ॥ २३ ॥

१. चराणां अधिपे त्वयि प्रशासति निशा प्रशान्तद्विजलोकसत्कृतिः (अस्ति)। सुबाहुविध्वस्तविविक्तपद्धतौ सिद्धबलः अपि कौशिकः विशङ्कते।

२. सुबाहुविध्वस्तविविक्तपद्धतौ निशाचराणां अधिपे त्वयि प्रशासति, प्रशान्तद्विजलोकसत्कृतिः सिद्धबलोऽपि कौशिकः विशङ्कते ॥ २३ ॥

दो अर्थ तो स्पष्ट ही हैं। अन्य भी उद्भावित हो सकते हैं—

राजन्! अपने गुप्तचरों द्वारा सर्वथा यथार्थ वृत्त को जाननेवाले आपके शासन में रात्रि अत्यन्त सुखद हो गयी है। पक्षी तक अपने घोंसलों में सुखनिद्रा का उपभोग करते हैं। आपके बलिष्ठ हाथों से निर्जनता को नष्ट कर दिये जाने के कारण

---

१. कौशिकः गाधिसुतो विश्वामित्रमुनिः। यज्ञगुप्तयेऽनेन याचितौ रामलक्ष्मणौ दाशरथी। ततो निहता ताडका, हतश्च सुबाहुः। मारीचोऽपि समुद्रतोरे प्रक्षिप्तो बाणेन। अयं वशिष्ठस्पर्द्धी, स्वतपसा ब्रह्मर्षिपदं लब्धवान्।

सुबाहुः—मारीचानुजः ताडकापुत्रः। अस्योपद्रवेण यज्ञबाधं विविच्य महर्षिः विश्वामित्रोऽयोध्यां गत्वा रामलक्ष्मणौ यज्ञरक्षार्थं ययाचे। यज्ञद्वारि तिष्ठतोः तयोः समागतः सगणः सुबाहुः कथावशेषतां नीतः ताभ्याम्।

(आपने कार्य-कलापों द्वारा जनहीनता को दूर कर दिया है) अत्यन्त प्रबल उल्लू भी रात को पक्षियों का हनन नहीं करता, स्वयं भयातुर रहता है !

आप निशाचरनाथ, राक्षसराज के समान तप रहे हैं, राज्य कर रहे हैं, आपके अनुचर सुबाहु (ताडका के पुत्र) ने पवित्रता की परम्परा को ध्वस्त कर दिया है, ब्राह्मणों की मर्यादा, प्रतिष्ठा समाप्त हो गयी है तथा सिद्ध होते हुए भी विश्वामित्र (कौशिक, कुशिकनन्दन) सर्वथा आतंकित, शंकित रहते हैं। (आपका राज्य दानव-राज्य है। यह किसी राम की प्रतीक्षा कर रहा है) ॥ २३ ॥

व्यपास्य मोहं यदसम्मतात्मजो निजात्मनिष्ठो न परानपेक्षसे ।
प्रजापितुः शैलमहीयसो विधिः सुतावधौ नन्दति तन्न तत्त्वतः ॥ २४ ॥

यत् असम्मतात्मजः निजात्मनिष्ठः मोहं व्यपास्य परान् न अपेक्षसे तत् शैलमहीयसः प्रजापितुः विधिः तत्त्वतः सुतावधौ न नन्दति ॥ २४ ॥

कहा जाता है कि आप अपने लड़कों का भी विश्वास नहीं करते, उनसे सदा सशंक रहते हैं इसी कारण पारिवारिक अनुराग आदि को भी आपने दरकिनार रखा है तथा केवल अपने ढंग से अपने में केन्द्रित रहते हैं। तो इस कार्य से आपकी उदारता ही प्रकट होती है, इसमें निन्दा की कोई बात नहीं है। राजा तो प्रजापिता है, सम्पूर्ण प्रजा ही उसकी सन्तान है, वह शैल के समान महान् उन्नत है, उसका अनुराग अपने औरस पुत्रों में ही क्यों निबद्ध हो, क्यों सीमित रहे, अत यह उचित ही है कि आप अपने औरस पुत्रों का विश्वास नहीं करते हैं [औरंगजेब के लिखे पत्रों एवं कारनामों से उसका पुत्रों के प्रति अविश्वास सर्वविदित है।] ॥ २४ ॥

अजानतामार्यशरीरिणामये दुराग्रहस्त्वद्विमुखाः पतन्ति यत् ।
धनेशहर्म्यादपि दैववञ्चिता मुधा परावृत्य तपन्ति भिक्षवः ॥ २५ ॥

अये, अजानताम् आर्यशरीरिणां दुराग्रहः यत् त्वद्विमुखाः पतन्ति, दैववञ्चिताः भिक्षवः धनेशहर्म्यात् अपि परावृत्य मुधा तपन्ति ॥ २५ ॥

यह जड़बुद्धि हिन्दु जाति यदि आपसे विरक्त होकर, विमुख होकर विपत्ति के मुँह में पड़ती है तो इसमें उसका दुराग्रह ही कारण है, दोषी है, आप क्या करें। देखिये, भाग्यहीन व्यक्ति कुबेर के घर जाकर भी खाली हाथ (रिक्तहस्त) लौट आता है और भिक्षाटन करता हुआ विडम्बित होता है। अतः हिन्दू ही अभागे हैं कि आप जैसे उदार बादशाह को पाकर भी विविध प्रकार से यन्त्रणा भोग रहे हैं ॥ २५ ॥

विभो ! सदारब्धधराधियस्तव स्तवाय नेयं जननीव जन्मभूः ।
जना न के वाऽथ शुभैषिणोऽर्जितं विभावसौ जुह्वति नाकलब्धये ॥ २६ ॥

विभो, जननी इव इयं जन्मभूः सदा आरब्धधियः तव स्तवाय न, अथवा शुभैषिणः के जनाः नाकलब्धये अर्जितं विभावसौ न जुह्वति ? ॥ २६ ॥

श्रीमन्, ठीक है कि इसी देश में आपका जन्म हुआ तथा इस जन्मभूमि को माता की प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए किन्तु अरब की धरती का चिन्तन करनेवाले आपके लिये इस भारत का क्या महत्त्व है? अरब की तुलना में इस हिन्दुस्तान की स्थिति ही क्या है? आज भी करोड़ों आदमी अपने कमाये हुए धन को आग में इसलिये हवन कर देते हैं कि उन्हें स्वर्ग-लाभ होगा। स्पष्ट है कि उस परोक्ष (स्वर्ग) के लिए अपने प्राप्त, उपार्जित (घी, तिल, चावल, चन्दन, चीनी आदि) का उत्सर्ग किया जा रहा है। उसी प्रकार आपको प्राप्त यह जन्म, स्थिति, पद आदि उस अरब-सम्बन्धी आपकी भावना के सामने व्यर्थ हैं।॥ २६॥

विपक्षपातार्हकृपाणकर्मणा निरुध्य चेतः प्रणयं दयां कुलम्।
निजेतरानेकमना विभावयन् मतोऽधिकं गोत्रभिदोऽप्यरिन्दम॥ २७॥

अरिन्दम, विपक्षपातार्हकृपाणकर्मणा चेतः प्रणयं दयां कुलं निरुध्य एकमनाः निजेतरान् विभावयन् गोत्रभिदः अपि अधिकं मतः॥ २७॥

आपने शत्रु को शत्रु माना, तथा सदैव उसे मटियामेट करने के लिए शस्त्र प्रयोग को उपयुक्त माना, वह शत्रु चाहे आत्मीय हो या अन्य कोई। इस प्रक्रिया में आपने प्रेम, दया, गोत्र, कुल-सम्बन्ध आदि मानसिक दुर्बलताओं को बलपूर्वक नियन्त्रित किया तथा शत्रुओं को 'नास्त न बूद', विनष्ट करना ही लक्ष्य रखा। शत्रु-सूदन, अपने इस कार्य में तो आप गोत्रभित् (कुलहत्यारे, देवराज इन्द्र—इन्द्र ने पर्वतों (गोत्र) का पक्षच्छेद किया था) से भी अधिक यशस्वी हैं॥ २७॥

विविक्तचेतःस्थितिरीशसन्निधिः श्रुतेन किं ग्रन्थिभरेण लभ्यते।
पथैव विस्मारितधामवृत्तिना कृतार्थतां विन्दति किं जडाध्वगः॥ २८॥

विविक्तचेतःस्थितिः ईशसन्निधिः किं ग्रन्थिभरेण श्रुतेन लभ्यते? विस्मारितधाम-वृत्तिना पथा एव जडाध्वगः कृतार्थतां विन्दति किम्?॥ २८॥

ये हिन्दू भी विचित्र मूढ हैं, पूरे अक्ल के अन्धे हैं। ये दौड़-दौड़कर शंका, तर्क, संशय आदि ग्रन्थियों से भरे वेदों की दुहाई देते हैं। भला ईश-प्राप्ति में इनका क्या उपयोग है। ईश-सान्निध्य तो चित्त की निर्विकार पवित्र स्थिति से ही सम्भव है, फिर यह वेद का आडम्बर क्या। जो मार्ग के चमत्कार, कौतूहल आदि में ही घर की सुधि भूल गया. मार्ग में ही खो गया वह मूर्ख पथिक भला अपने मञ्जिल, गन्तव्य पर कब पहुँच सकता है। वैसे ही जो वेदादि प्रपञ्चमूलक मार्गों में ही भटक गया वह ईश सन्निधि किस प्रकार प्राप्त करेगा?॥ २८॥

निसर्गलोलामवताऽग्रजाच्छ्रियं समूढबुद्धेरविता क्षितिस्त्वया।
जनिक्रमेणाग्रजताऽप्यचेतना विचेतसामेव मता ध्रुवं विधौ॥ २९॥

समूढबुद्धेः अग्रजात् निसर्गलोलां श्रियम् अवता त्वया क्षितिः अविता, ध्रुवं विधौ जनिक्रमेण अचेतना अग्रजता अपि विचेतसाम् एव मता॥ २९॥

अच्छा ही हुआ कि स्वभावतः चञ्चला राज्यलक्ष्मी को अपने मूर्खबुद्धि ? (बुद्धिपूर्ण, सम्यक् ऊढा बुद्धिः येन तस्मात्) बड़े भाई से छीनकर आपने पृथ्वी को सुरक्षित किया। और यह कोरा प्रलाप ही है कि अग्रजता से, पहिले उत्पन्न हो जाने से ही कोई बुद्धिमान् या अधिकारी भी हो जाता है। छोटा-बड़ा होना अपने-आप में दैवाधीन है, यह अव्यक्त, जड़ एवं अनित्य है। इस प्रकार मूढ ही, मूढचेता प्राणी ही दैवायत्त अग्रजता को कार्य-गौरव में भी अग्रस्थान देना चाहेगा। अतः आपने उचित ही किया कि परम्परा के स्थान पर विवेक को प्रतिष्ठित किया ॥ २९ ॥

विमुक्तसङ्गे भवतीश्वरेऽथवा मुधैव दोषव्यवहारकल्पना।
अनन्यहेतुस्तु फलोपचारता क्रियागुणाबद्धगतेर्हि देहिनः ॥ ३० ॥

अथवा विमुक्तसङ्गे भवति ईश्वरे दोषव्यवहारकल्पना मुधा एव, हि क्रियागुणाबद्धगतेः देहिनः फलोपचारता तु अनन्यहेतुः ॥ ३० ॥

अथवा यह भी क्यों कहा जाय ! अनासक्त भाव से कर्म करनेवाले आप जैसे प्रजापति में दोषदृष्टि रखना भी ठीक नहीं। क्योंकि क्रिया तथा त्रिगुण आदि बन्धनों से सर्वथा मुक्त महामानव की फलप्राप्ति किसी कारणान्तर की (कर्म, गुण, स्थिति आदि) अपेक्षा नहीं रखती, वह स्वयंसिद्ध है ॥ ३० ॥

प्रमाथिकर्मोन्मथितात्मपद्धतिं विविक्तवासोपचितेष्टवर्त्मनि।
नियोज्य तातं परमार्थवेदिना प्रकाशिता पुत्रपदस्थितिस्त्वया ॥ ३१ ॥

प्रमाथिकर्मोन्मथितात्मपद्धतिं तातं विविक्तवासोपचितेष्टवर्त्मनि नियोज्य परमार्थवेदिना त्वया पुत्रपदस्थितिः प्रकाशिता ॥ ३१ ॥

यह बादशाह शाहजहाँ के पुण्य का प्रभाव ही था कि आप जैसा योग्य पुत्र उन्हें मिला। पुत्र का शब्दशः अर्थ ही है कि पिता को अधोगति से बचाये। उद्वेग-कारक राज्यकार्यों में सर्वथा निमग्न हो जाने के कारण आत्मज्ञान के मार्ग से असावधान पूज्य पिता को एकान्तवास का उत्तम अवसर देकर उन्हें आत्म-ज्ञान के अभीष्ट पथ में नियुक्त करके, परम तत्त्वज्ञानी आपने सचमुच पुत्रधर्म को उज्ज्वलता प्रदान की। मोहान्ध पिता को भी आपने उत्तम यश का भागी बनाया, धन्य है आपको ! [औरंगजेब ने अपने पिता शाहजहाँ को कैद करके आठ वर्ष (१६४८-५६) तनहाई में रखा था और मृत्यु ने ही उन्हें मुक्त किया।] ॥ ३१ ॥

विजित्य राज्यं विधिबृंहितोदयाः कुलाग्रजास्ते सुलमस्थिरायति।
न यत्र शक्ताः प्रकृतिप्रसादने कृतो त्वमाद्यो नृप तत्र गीयसे ॥ ३२ ॥

नृप, विधिबृंहितोदयाः ते कुलाग्रजाः सुलमस्थिरायति राज्यं विजित्य तत्र प्रकृति-प्रसादने न शक्ताः तत्र आद्यः कृतो त्वं गीयसे ॥ २३ ॥

राजन्, आपके पूर्वजों ने राज्य को विजित किया, सुव्यवस्थित किया तथा न्याय का आश्रय लेकर उस राज्य को अधिकाधिक सम्पन्न एवं गौरवपूर्ण बनाया, किन्तु वे

भी प्रजाराधन में (स्वभाव को अनुकूल बनाने में) विशेष सफल न हुए (लोगों की प्रकृति को, धर्म-भावना को मनमाने ढंग से नियोजित न कर सके)। पर आपने वही कर दिखाया (दण्डभय से आपने धर्म-परिवर्तन का चक्र चला ही दिया)। सचमुच इस दिशा में आप प्रथम हैं तथा आपका यशोगान हो रहा है ॥ ३२ ॥

गुणाभिमानापरतेर्महात्मनो निरीक्ष्य कूटस्थितिमाप्तभारती ।
उपेक्षमाणं प्रकृतिं यदि स्तुते न कौतुकं तत् पुरुषे परे त्वयि ॥ ३३ ॥

आप्तभारती गुणाभिमानापरतेः महात्मनः (तव) कूटस्थितिं निरीक्ष्य यदि प्रकृतिम् उपेक्षमाणं (त्वां) स्तुते तत् परे पुरुषे त्वयि न कौतुकम् ॥ ३३ ॥

गुणाभिमान (त्रिगुणबन्धन) से विरत महान् आत्मावाले आपको आत्म-स्थिति में निश्चल देखकर यदि सज्जनों की वाणी आप जैसे प्रकृति-निरपेक्ष (प्रकृति में सर्वथा उदासीन) की वन्दना करती है तो आप जैसे उत्कृष्ट 'पुरुष' के लिए यह विस्मयजनक नहीं ही है। [सांख्यवादियों के अनुसार सम्पूर्ण जगत् प्रकृति का खेल है, पुरुष इसमें अपने को भ्रमवश तबतक निबद्ध मानता है जबतक वह स्वरूप-ज्ञान द्वारा प्रकृति से सर्वथा उदासीन नहीं हो जाता।]

अथवा—गुण का भी अनादर करनेवाले, प्रवञ्चना में नित्य स्थित, तथा प्रतिपद प्रजा की उपेक्षा करनेवाले आपकी स्तुति विद्वज्जन भी करते हैं—यह ठीक ही है। आप समर्थ व्यक्ति हैं, कौन आपसे वैर मोल ले ॥ ३३ ॥

विभो ! भवद्राज्यकरे क्षमावति प्रव्राजनानामसुरक्षिताः श्रियः ।
सहेलमुन्मुक्तघनाऽऽधिबन्धनाः स्वभावपद्यामनुयान्ति सत्वरम् ॥ ३४ ॥

विभो क्षमावति भवद्राज्यकरे प्रजाजनानाम् असुरक्षिताः श्रियः सहेलम् उन्मुक्तघनाधि-बन्धनाः सत्वर स्वभावपद्याम् अनुयान्ति ॥ ३४ ॥

(असुरक्षिताः = असु + रक्षिताः, असुभिः रक्षिताः—प्राणों से रक्षित।)

(अ+सुरक्षिताः—न सुरक्षिताः—अरक्षित।)

[लक्ष्मी चञ्चला होती है, कहीं पर देर तक रुकना नहीं चाहती किन्तु इसके विपरीत मानव स्वभाव, संग्रह करना चाहता है। वह चाहता है कि सञ्चय बढ़ता रहे। फल यह होता है कि लक्ष्मी नियन्त्रित होकर घोर यन्त्रणा में छटपटाने लगती है तथा तुरन्त उन्मुक्त होना चाहती है, अतः—]

राजन् आप जैसे उदार बादशाह के होने से या आप द्वारा जजिया कर लगा देने से, प्रजाजनों को असुरक्षित (प्राणों से भी रक्षित) लक्ष्मी, भाग्यवश यन्त्रणा-पूर्ण बन्धन से हठपूर्वक मुक्त होकर स्वभाव का अनुसरण कर रही है, चञ्चलतापूर्वक प्रजाजन को छोड़कर आपके खजाने की ओर भाग रही है प्रजा आपके करभार से विपन्न हो रही है तथा दुर्व्यवस्था के कारण चोर-डाकुओं द्वारा कंगाल हो रही है।] ॥ ३४ ॥

सृजन् तुरुष्कान् नवलानजोपमः समर्थचक्रीव भरन् स्वधर्मिणः ।
हरन्निवान्यानपरोऽध्वराहितः त्रिमूर्तिकल्पः किल कल्प्यसे कलौ ॥ ३५ ॥

अजोपमः नवलान् तुरुष्कान् सृजन् समर्थचक्री इव स्वधर्मिणः भरन् अपरः अध्वराहितः इव अन्यान् हरन् कलौ त्रिमूर्तिकल्पः किल कल्प्यसे ॥ ३५ ॥

दिल्लीपते ! इस कलिकाल में आप ही त्रिमूर्ति हैं, त्रिदेव हैं, ब्रह्मा-विष्णु-महेश हैं। एक होते हुए भी आप अपने में तीनों के स्वभावादि को धारण करते हैं। ब्रह्मा सृष्टिकर्ता हैं। आप ब्रह्मा के रूप में नये मुसलमान (धर्मपरिवर्तन द्वारा) बना रहे हैं। विष्णु पालन करते हैं, आप विष्णु के समान अपने धर्मवालों का पालन करते हैं। महेश संहार करते हैं, यज्ञ-विनाशक हैं, आप भी महेश के समान यज्ञ-शत्रु हैं तथा अन्य-धर्मावलम्बियों (हिन्दुओं) का संहार करते हैं। यथार्थतः आप में ब्रह्मा, विष्णु, महेश, तीनों ही समन्वित हैं ॥ ३५ ॥

वनायितायामवनौ हुते पुरे मनस्सु शङ्काकुलितेषु वा सताम् ।
क्रमेण यत् सत्त्वबलं रजश्चयः तमांसि तत्ते त्रिगुणानुषङ्गिकम् ॥ ३६ ॥

वनायितायाम् अवनौ हुते पुरे वा सतां शङ्काकुलितेषु मनस्सु क्रमेण यत् सत्त्वबलं, रजश्चयः, तमांसि तत् ते त्रिगुणानुषङ्गिकम् ॥ ३६ ॥

लोगों के उजड़कर भाग जाने से बस्तियाँ जंगल बन गयी हैं (पेड़-पौधों के उगने के कारण) उनमें जंगली जीव घूम रहे हैं, गाँव जला दिये गये हैं, उनमें धूल उड़ रही है, राख की ढेरी है। सज्जनों का चित्त सशंक हो गया है, उसमें निराशा का तिमिर भर गया है। इस प्रकार जंगलों में सत्त्व, जले गाँवों में रज तथा भले लोगों के मन में तिमिर के कारण सत्त्व रजः तमः तीनों गुण प्रकाशित हैं यह तो आपके त्रिगुण का स्वाभाविक फल है ॥ ३६ ॥

सृजन् हरन् हेतुमदिन्द्रियाङ्कितं विभासमानं जगदस्पृहोऽप्यहो ।
तवौजसा पार्थिवभावगोचरो विखण्डितः खण्डितबन्धनोऽप्यसौ ॥ ३७ ॥

अहो, हेतुमत् इन्द्रियाङ्कितं विभासमानं जगत् अस्पृहः अपि सृजन् हरन् खण्डित-बन्धनः अपि पार्थिवभावगोचरः असौ (ईशः) तव ओजसा विखण्डितः ॥ ३७ ॥

ईश्वर इस हेतुमूलक स्वभाववाले, इन्द्रियगोचर, विभासमान जगत् को बनाता और बिगाड़ता है, सृष्टि तथा संहार करता है, पार्थिव उपकरणों (देव-प्रतिमा आदि) में वह केवल भाव द्वारा जाना जाता है। हम भावना करते हैं कि मूर्ति में ईश्वर है। किन्तु आश्चर्य है कि खण्डित बन्धनवाले ईश्वर को भी आपने खण्डित कर डाला (उनकी प्रतिमा आदि का खण्डन करके मान लिया कि ईश्वर को ही ध्वस्त कर दिया) ॥ ३७ ॥

सधर्मदण्डे त्वयि वीतकामनैर्निषेवितायैरपि धर्मदण्डता ।
विमुक्तवैधव्यफलोऽङ्गनाजनो भ्रमन्ति पोताः परदेशभूमिषु ॥ ३८ ॥

सधर्मदण्डे त्वयि वीतकामनैः आर्यैः धर्मदण्डता निषेविता, अङ्गनाजनः विमुक्त-वैधव्यफलः पोताः परदेशभूमिषु भ्रमन्ति ॥ ३८ ॥

आपने धर्म (इस्लाम) की अभिवृद्धि के लिए दण्ड (बलप्रयोग) का आश्रय लिया अतः भारतीय भी धर्म के लिए 'दण्डी' हो गये, दण्ड धारण कर साधु-संन्यासी हो गये। स्त्रियों के लिए अब तो वैधव्य अतीत की वस्तु हो गयी। कोई भी विधवा यदि नया पति चाहे तो धर्म-परिवर्तन करके इच्छा-तृप्ति कर सकती है और सुन्दर बालक आपकी कृपा से विदेश में घूम रहे हैं (गुलाम बनाकर विदेश में बेच दिये गये हैं) ॥ ३८ ॥

उपप्लवेऽप्यात्मगुरुत्वरक्षिणा विलङ्घितोद्दामबले समन्ततः ।
वसुन्धराधारणसंस्तवोऽप्यसौ गिरिर्गुरूणामधरीकृतस्त्वया ॥ ३९ ॥

समन्ततः विलङ्घितोद्दामबले उपप्लवे अपि आत्मगुरुत्वरक्षिणा त्वया असौ वसुन्धरावारणसंस्तवः गुरूणां गिरिः अपि अधरीकृतः ॥ ३९ ॥

बड़ी-बड़ी सेनाओं की भी परवाह न करनेवाले भयंकर उथल-पुथल, विप्लव में भी आत्म गौरव, मर्यादा की रक्षा करनेवाले आपने, पृथ्वी को धारण करने की उपाधिवाले (धराधर, भूभृत्) पर्वतों के गुरु हिमालय को भी तिरस्कृत कर दिया [जिस प्रकार हिमालय अचल, जड़ के रूप में स्थित है, आप भी जड़ के समान अपने पद से चिपके रहे और राज्य विपन्न प्रताडित होता रहा। दक्षिणाञ्चल, पश्चिमोत्तर सीमान्त इसके उदाहरण हैं।] ॥ ३९ ॥

अपि श्रिया स्वस्थधिया निषेवितान् न देहलीयं नवलास्यकौतुका ।
चिरस्य चामीकरचारुपीठिनो निरीक्षितुं संसहते तडिन्मनाः ॥ ४० ॥

स्वस्थधिया श्रिया निषेवितान् चामीकरचारुपीठिनः अपि नवलास्यकौतुका तडिन्मनाः इयं देहली चिरस्य निरीक्षितुं न संसहते ॥ ४० ॥

किन्तु इस दिल्ली को भी एक विचित्र पागलपन है, यह सदैव नये चेहरे के लिए उत्कण्ठित रहती है। अतः भले ही किसी में राजलक्ष्मी स्थिरतापूर्वक अनुरक्त हो, स्वर्ण-सिंहासन पर बैठे हुए उस व्यक्ति को, बिजली के समान क्षणबुद्धि यह दिल्ली, देर तक देखना, सहन नहीं कर सकती ॥ ४० ॥

[1]अलावदीने निखिलार्यकण्टके निदाघसावित्रकरेऽक्षमावति ।
अकालकण्ठग्रहकालिका कथाऽवशेषमेषाऽलिखदम्बुदाम्बुभिः ॥ ४१ ॥

---

१. अलाउद्दीनखिल्जी—दिल्लीपतिः खिल्लीवंशजातः। स्वपितृव्यं सदार्जवमनसम् छद्मस्नेहेन सहसा निहत्य (१२९६ ई०) दिल्लीशासनमधिकृतवान्। क्रूरतरः शासने दक्षिण-विजेता, मदुरापर्यन्तं भूभागं जितवान् (१२९६-१३१६ ई०)।

निखिलार्यकण्टके निदाघसावित्रकरे अक्षमावति अलावदीने अकालकण्ठग्रहकालिका एषा अम्बुदाम्बुभिः कथावशेषम् अलिखत् ॥ ४१ ॥

इसी दिल्ली ने, भारतीय जनता के लिए कण्टकस्वरूप, ग्रीष्मकालीन सूर्य के समान प्रखर, असहिष्णु अलाउद्दीन खिल्ज़ी का अकाल मेघमाला के समान जलधार रूपी अक्षरों से अन्त लिख दिया—अथवा असमय में ही गला पकड़ लेनेवाली चण्डिका के समान उसका अकस्मात् अन्त कर दिया ॥ ४१ ॥

समानकृत्येऽपि फलासमानताविधायिना हिन्दुतुरुष्कयोरिह ।
नवीनहेतुस्थितिरेवमागसामनूहितैरेव निरुप्यतेऽध्वभिः ॥ ४२ ॥

इह हिन्दुतुरुष्कयोः समानकृत्ये अपि फलासमानतां विधायिना आगसाम् अनूहितैः एव अध्वभिः नवीनहेतुस्थितिः एव निरुप्यते ॥ ४२ ॥

राजन्! हिन्दुओं और मुसलमानों के एक ही समान कार्य करने पर भी भिन्न-भिन्न फल प्रदान करके आपने स्पष्ट कर दिया है कि अपराध के लिए दण्ड-व्यवस्था के निर्णय में अनेकविध अनूह्य विधानों से उस अपराध के अभिनव परिवेश को, निमित्तों को समझकर ही न्याय का निरूपण हो सकता है [वही अपराध करके मुसलमान निर्दोष कहलायेगा किन्तु हिन्दू को प्राणदण्ड भी मिल सकता है ।] ॥४२॥

त्वया गृहीतासिकरेण रक्षितो बिभर्ति धर्मो नियतं तवावनिम् ।
समीहितन्यायफलाय देहिनामृतेऽथ धर्मादपरोऽस्ति को विधिः ॥ ४३ ॥

गृहीतासिकरेण त्वया रक्षितः धर्मः नियतं तव अवनिं बिर्भति, अथ समीहित-न्यायफलाय धर्मात् ऋते देहिनां परः कः विधिः अस्ति ? ॥ ४३ ॥

खड्गहस्त आप द्वारा रक्षित धर्म आपके राज्य में सुव्यवस्था को सुदृढ कर रहा है । उचित भी यही है, इस संसार में देहधारियों को अभीष्ट न्याय फल की प्राप्ति के लिये धर्म के अतिरिक्त अन्य उपाय भी क्या है [आशय है कि तलवार का आश्रय ग्रहण करनेवाला धर्म, कभी भी धर्म नहीं कहला सकता । धर्म-स्थिति में श्रद्धा और विवेक भले ही कारण हों, शस्त्र तो श्लाघ्य नहीं ही है । और जब न्याय भी सम्प्रदाय-विशेष की दृष्टि से सम्पन्न होगा तो वह न्याय के स्थान पर अन्याय ही होगा ।] ॥ ४३ ॥

अनार्यतैवाचरिताऽऽर्यमानिना विरुन्धताऽदृष्टधिया पुरः स्थितम् ।
इहैव धर्मस्य यदीदृशी गतिः कृतं परोक्षाय तदाश्रयेण तत् ॥ ४४ ॥

आर्यमानिना अदृष्टधिया पुरः स्थितं विरुन्धता अनार्यता एव आचरिता, इह एव यदि धर्मस्य ईदृशी गतिः तत् परोक्षाय तदाश्रयेण कृतम् ॥ ४४ ॥

अपने को आर्य कहनेवाले हिन्दुओं ने दुर्दैव के वशीभूत होकर आपके धर्म (इस्लाम) तथा तदर्थ आप द्वारा प्रदत्त प्रलोभनों की उपेक्षा करके सुखद वर्तमान

के विरोध द्वारा (अपने ही धर्म में आस्था रखने के दुराग्रह से) अपनी अनार्यता का ही परिचय दिया। भला जिस धर्म को मानने के कारण इहलोक में ही इतनी बिडम्बना भोगनी पड़ती है वह निर्बल धर्म परलोक में क्या दे देगा ? हिन्दू धर्म के मानने से केवल यहीं नहीं, परलोक में भी विडम्बना ही प्राप्त होगी ॥ ४४ ॥

अनुष्ठितं साधु नवाध्वसेविना निकारबीजां जहताऽऽर्यपद्धतिम् ।
घनैनसामायतनोऽपि यद्बलात् पुनाति लोकं नवधर्मदीक्षितः ॥ ४५ ॥

निकारबीजाम् आर्यपद्धतिं जहता नवाध्वसेविना साधु अनुष्ठितं यद्बलात् घनेनसाम् आयतनः अपि नवधर्मदीक्षितः लोकं पुनाति ॥ ४५ ॥

अपमानमूलक हिन्दू धर्म को त्यागकर इस्लाम का नया चेला बनकर, इस्लाम स्वीकार करके उस भारतीय ने उचित ही किया। क्योंकि इस महान् कार्य (धर्म-परिवर्तन) के कारण, भयंकर कुकृत्यों, जघन्य अपराधों का पातकी होने पर भी नया मुसलमान लोकपावन हो जाता है ॥ ४५ ॥

बलेन धर्मः परिरक्षितः क्वचित् क्वचित्तु धर्मेण बलं सुरक्षितम् ।
स्वधर्मिणां श्रेयसि सङ्गिनावुभौ निषेवमानौ श्रयतः परस्परम् ॥ ४६ ॥

क्वचित् बलेन धर्मः परिरक्षितः क्वचित् तु धर्मेण बलं सुरक्षितम्, उभौ स्वधर्मिणां श्रेयसि सङ्गिनौ परस्परं निषेवमानौ श्रयतः ॥ ४६ ॥

आपने अपने राज्य में धर्म एवं शक्ति को भली भाँति समन्वित किया है। मुसलमानों के हित-साधन में इन दोनों (धर्म तथा शक्ति) का मणिकाञ्चन योग है। कहीं आपकी राजशक्ति इस्लाम की सुरक्षा करती है और कहीं इस्लाम धर्म द्वारा राजशक्ति सुरक्षित रहती है [यह ऐतिहासिक सत्य है कि धर्म-परिवर्तन द्वारा मुसलमान बने हुए हिन्दू, बादशाहत के अधिक निष्ठावान् सेवक सिद्ध हुए।] ॥ ४६ ॥

[1]जगज्जनाकीर्णमिदं विपश्चिता त्वयाविविच्यामृतलोकसाधनम् ।
प्रयोज्य निर्धूतविधर्मिचेतसा समेधिता का न फलोत्सवायतिः ॥ ४७ ॥

विपश्चिता त्वया इदं जनाकीर्णं जगत् अमृतलोकसाधनं विविच्य निर्धूतविधर्मिचेतसा प्रयोज्य का फलोत्सवायतिः न समेधिता ॥ ४७ ॥

विद्वान् दिल्लीपति ! इस जनसंकुल संसार को विचारपूर्वक आपने जान लिया है कि यह स्वर्गप्राप्ति का एक मात्र साधन है। सम्भवतः इसीलिये आपने विधर्मियों (हिन्दुओं) की भावनाओं को भस्मसात् करके धर्म द्वारा सुन्दर सुखद फलवाले भविष्य की प्रतिष्ठा की है ॥ ४७ ॥

---

१. प्रचारणीयः स्वधर्मः, दण्डनीयाः विधर्मिणः परमात्मप्रसादायेति इस्लाम-धर्मोपदेशः ।

कुलाभिरक्षा वचने स्थितिर्गुरोः श्रुतादरः सन्तु परेङ्गिताध्वनाम् ।
स्वभावसिद्धाचरणा भवादृशा नियन्त्रिता नैव विधिग्रहैः क्वचित् ॥ ४८ ॥

कुलाभिरक्षा, गुरोः वचने स्थितिः, श्रुतादरः परेङ्गिताध्वनां सन्तु, भवादृशाः स्वभावसिद्धाचरणाः विधिग्रहैः क्वचित् नियन्त्रिताः न एव ॥ ४८ ॥

दूसरों के सुझाये मार्ग पर चलने वाले, लकीर के फकीर माना करें कि कुलरक्षा, बड़े लोगों की आज्ञा में रहना तथा वेद-शास्त्रों का आदर उत्तम कार्य है। सहज ही श्रेष्ठ आचरणवाले आप जैसे महान् व्यक्ति इस परम्परात्मक निर्देश के गुलाम नहीं हो सकते। जब स्वयं बुद्धि मिली है तो उसका प्रयोग क्यों न किया जाय ॥ ४८ ॥

नरेश, मातेव निसर्गवत्सला प्रसह्य माताऽपि भवाद्विमुक्तये ।
त्रिकालपूतापि कृपैकचेतसा न शस्त्रपूता क्रियते त्वयेति न ॥ ४९ ॥

नरेश, माता इव निसर्गवत्सला माता अपि प्रसह्य भवात् विमुक्तये कृपैकचेतसा त्वया त्रिकालपूता अपि शस्त्रपूता न क्रियते इति न ॥ ४९ ॥

राजन् ! माता के समान सहज वात्सल्य भाव से पूर्ण गाय को भी संसार से मुक्त करने के लिए (मुक्ति-लाभ के लिए) कृपापूर्ण हृदयवाले आपने उस त्रिकालपवित्र पशु को भी शस्त्रपूत, हथियार से पवित्र नहीं किया, ऐसा नहीं है। आपने गोहत्या द्वारा ही गोवंश को मुक्ति लाभ का मार्ग दिखाया है [भला आप जैसा उदारचेता कौन होगा, गोवंश की मुक्ति के लिये भी आप इतने उत्कण्ठित हैं।] ॥ ४९ ॥

अपि प्रतिज्ञातनृपासनेन यद् वयस्कनिष्ठेन धियां वरीयसा ।
विषाऽऽधिवर्जं हि [1]सुराभिषेचनं मतं मुरादेन तव स्तवाय तत् ॥ ५० ॥

प्रतिज्ञातनृपासनेन अपि वयस्कनिष्ठेन धियां वरीयसा मुरादेन यत् विषाधिवर्जं सुराभिषेचनं हि मतं तत् तव स्तवाय ॥ ५० ॥

भ्रातृवत्सल ! आप धन्य हैं। देखिये, उम्र में कम होते हुए भी परम बुद्धिमान मुरादबख्श को आपने बादशाह बनाने का वचन दिया था। किन्तु क्या किया जाय, उस भले आदमी ने शासन-प्रबन्ध को विष के समान सन्तापकारी मानते हुए उसे त्यागकर शराब में या देवार्चा में दिन-रात छके रहना ही स्वीकार किया। आप क्या करते। फिर भी कृपापूर्वक आपने वही किया। आप धन्य हैं ॥ ५० ॥

तमोनुदानार्जववृत्तिनाध्रुवं प्रजाजनापायभरं विशाम्पते ।
मनोरथेनैव विचूर्णयन्निव शिवोदिताध्वा त्रियते न किम्मुदे ॥ ५१ ॥

१. मुरादबख्शः कनिष्ठो भ्राता दिल्लीपतेरवरंगजीवस्य। छद्मना विलोभ्य नृपासनाय कारायां क्षिप्तो निहतश्च सुरासुन्दरीव्यसने नियोज्य विषदिग्धान्नभोजनादिभिः।

१. दानार्जववृत्तिना मनोरथेन एव प्रजाजनापायभरं तमः विचूर्णयन् इव ध्रुवं शिवोदिताध्वा किं नु मुदे (त्वया) न व्रियते ।

स्पष्ट ही यह श्लोक द्व्यर्थक है ।

प्रजानाथ ! सरल उदार वृत्तिवाले संकल्प से प्रजाजनों के अहितकारक अन्धकार को नष्ट कर देनेवाले कल्याणमय मार्ग को हो आप क्यों नहीं ग्रहण करते ?

२. तमोनुदा रथेन एव प्रजाजनापायभरं अनार्जववृत्ति मनः विचूर्णयन् इव नाध्रुवं (न अध्रुवं ध्रुवं) शिवोदिताऽध्वा किं न मुदे व्रियते ॥ ५१ ॥

प्रजापालक, दिल्लीश्वर ! अन्धकारनाशक, सूर्यमय रथ से ही लोकजीवन के अहितकर शठतापूर्ण मनोभाव को चूर्ण कर देनेवाले कल्याणपूर्ण मार्ग को अपनी सुनिश्चित प्रसन्नता के लिए आप क्यों नहीं अपनाते ॥ ५१ ॥

उदीर्णमोहासवशक्रवैभवाद् विनीय दूरं पितरं बलादिव ।
नियोज्य चिन्त्ये विषयास्पृहे पथि बिभर्षि पित्रर्णविमुक्तिसत्प्रथाम् ॥ ५२ ॥

उदीर्णमोहासवशक्रवैभवात् बलात् इव पितरं दूरं विनीय चिन्त्ये विषयास्पृहे पथि नियोज्य पित्रर्णविमुक्तिसत्प्रथां बिभर्षि ॥ ५२ ॥

उन्मादक मोह-वारुणी से मधुर इन्द्रपुरी के भोग-विलासमय जीवन से बरबस पिता को अलग करके तथा चिन्तनीय (ध्यान करनेयोग्य) विषय-राग-रहित एकान्तमय आध्यात्मिक मार्ग में लगाकर निश्चय ही आपने पितृ-ऋण से मुक्त होने की महती प्रतिष्ठा का अर्जन किया है [आप की उदारता तथा कर्तव्य-बोध ने ही आपको बाध्य किया कि पिताजी के परलोक को उज्ज्वल बनाने लिए आप उन्हें गद्दी से उतारकर जेल का पक्षी बना दें ।] ॥ ५२ ॥

अतीतसन्दर्शितवर्त्मबोधिताः प्रवर्तमानार्जितसाधनैर्नृपाः ।
तथा यतन्तेऽखिललोकभूतये यथा मृताश्चाप्यमृता भवन्ति ते ॥ ५३ ॥

अतीतसन्दर्शितवर्त्मबोधिताः नृपाः प्रवर्तमानार्जितसाधनैः अखिललोकभूतये तथा यतन्ते यथा मृताः च अपि ते अमृताः भवन्ति ॥ ५३ ॥

भूतकालीन घटनाओं द्वारा प्रदर्शित उत्तम मार्ग को अच्छी तरह विचार कर, यथालब्ध, आत्मसुलभ प्रयत्नों से, उपकरणों से राजागण सर्वजनहिताय इस प्रकार कल्याण-मार्ग का अनुसरण करते हैं कि मरकर भी वे अपने सत्कार्यों के कारण अमर हो जाते हैं, सतत स्मरणीय एवं अभिनन्दनीय हो जाते हैं ॥ ५३ ॥

स नास्तिकानास्तिकवर्त्मगानथो पशून् पतङ्गानपि बिभ्रदस्पृहः ।
सहेत किं भूतदयानुभावितो मुने तवाहङ्कृतिमापदाकराम् ॥ ५४ ॥

मुने, आस्तिकवर्त्मगान् अथो नास्तिकान्, पशून् पतङ्गान् अपि अस्पृहः बिभ्रत् भूतदया-नुभावितः सः आपदाकरां तव अहङ्कृतिं सहेत किम् ॥ ५४ ॥

मुनिजी, जिसे ईश्वर कहा जाता है वह तो बिना किसी भेद-भाव के आस्तिक-नास्तिक, पशु-पक्षी, कीट-पतंग सबका ही निःस्पृह भाव से भरण-पोषण करता है (सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश आदि ईश्वरीय पदार्थों का उपयोग सबके लिए सतत निर्बाध है)। प्राणिदया ही वह मार्ग है जिससे उस ईश्वर की अनुभूति की जा सकती है। कहिये, आपके इस अक्षय विपत्तिवाले अहंकार को वह भगवान् क्या कभी सहन करेगा ? ॥ ५४ ॥

त्रिलोकभर्तुः कतमः परोऽपरः क्व वास्य सत्ताविरहो रहस्यपि ।
अनन्तमार्गे हि विडम्बना न किं विभौ बतैकाध्वदुराग्रहस्तव ॥ ५५ ॥

त्रिलोकभर्तुः कतमः परः अपरः रहसि अपि क्व वा अस्य सत्ताविरहः बत, अनन्तमार्गे विभौ हि तव एकाध्वदुराग्रहः किं विडम्बना न ॥ ५५ ॥

उस त्रिलोकी के पालन करनेवाले ईश्वर का कौन अपना है, कौन पराया है, अथवा क्षण भर के लिए भी वे कब सत्ताहीन हैं। उस अनन्त मार्गवाले परमेश्वर में अपने मार्ग (इस्लाम) का ही दुराग्रह करना घोर विडम्बना ही तो है [यह क्यों मान लिया जाय कि आपका धर्म ही सर्वोत्तम है या आपका आचरण ही श्रेष्ठतम आचरण है ?] ॥ ५५ ॥

विरूढरागान्तरिते मनष्कषे परीक्षसे किं सदसत् स्वभावितम् ।
नृपप्रसादादथवा विरोधनात् किमीशसत्तास्थितिविक्रिया क्वचित् ॥ ५६ ॥

विरूढरागान्तरिते मनष्कषे स्वभावितं सत् असत् परीक्षसे किम्, नृपप्रसादात् अथवा विरोधनात् क्वचित् ईशसत्तास्थितिविक्रिया किम् ? ॥५६ ॥

दिल्लीपते, सच है कि मन हो भले-बुरे को परखने की कसौटी है किन्तु वह मन निष्कलुष, पूर्वाग्रहशून्य होता है। भला आप उचित-अनुचित के विवेक के लिए अपने मन को कसौटी कैसे बना सकते हैं। आपका मन तो धर्मान्धकार से भरा हुआ है तथा अपने दुराग्रह को ही आप सत्-असत् के ज्ञान में कारण मानते हैं। आप अपनी स्थिति क्यों नहीं समझते। आप जैसे राजाओं की प्रसन्नता या विरोध से उस ईश्वर की सत्ता में कौन सा भूकम्प आ जायेगा, क्या फर्क पड़ेगा ॥ ५६ ॥

तुरुष्कधर्माभ्युदयात् पुराऽपि ते किमन्धतामिस्रपथा हि पूर्वजाः ।
प्रतीक्षमाणः समयं किमीश्वरः परं विसस्मार निजां स्थितिं सतीम् ॥ ५७ ॥

तुरुष्कधर्माभ्युदयात् पुरा अपि ते पूर्वजाः हि अन्धतामिस्रपथाः किं, परं समयं प्रतीक्षमाणः ईश्वरः निजां सतीं स्थितिं विसस्मार किम् ? ॥ ५७ ॥

बादशाह सलामत, क्या आपका यह ख्याल है कि इस्लाम के फैलने के पहले (सन् ६६२) मनुष्य जाति के, आपके पूर्वज बस नरकगामी ही थे, सीधे अन्धतामिस्र नरक ही उनका मन्तव्य लक्ष्य था ? (यदि इस्लाम से ही आत्म-कल्याण होता है तो स्पष्ट है, इसके पहले के सभी प्राणियों ने अधोगति ही प्राप्त की होगी। एक बात और,

क्या आप समझते हैं कि ईश्वर अपनी शाश्वत सत्ता को भूलकर बस इस्लाम के अभ्युदय को प्रतीक्षा कर रहा था ? उसके पहले बुद्धि-विवेक आदि से यह पृथिवी शून्य थी ॥ ५७ ॥

खगा इवानन्तपथं यथाक्रमं विभावयन्तीश्वरमात्मवेदिनः ।
प्रतिक्षणं नव्यतरो हि गृह्यते रहस्यभिद् भाविनिरूपकध्वनिः ॥ ५८ ॥

आत्मवेदिनः खगाः इव अनन्तपथं यथाक्रमम् ईश्वरं विभावयन्ति प्रतिक्षणं रहस्यभित् भाविनिरूपकध्वनिः नव्यतरः हि गृह्यते ॥ ५८ ॥

आत्मज्ञानी महात्मा ईश्वर को उसी प्रकार जानते हैं जिस प्रकार पंछी अपनी गति एवं शक्ति के अनुसार इस अनन्त आकाश को जानता है। ईश्वर आकाश-तुल्य ही अनन्त है, संसार उसके एक क्षुद्र अंश में अवस्थित है। इस प्रकार इस विश्व में भावी (भविष्य) को निरूपिका प्रत्येक नयी आवाज, नयी ध्वनि रहस्य-भेदन करती हुई सुनायी पड़ती है। प्रत्येक अभिनव ज्ञान हमारा मार्ग, भविष्य, प्रशस्त करता है ॥ ५८ ॥

यया जगत्तत्त्वमवेक्षते धिया नरेश सैषेश्वरवेदिनीश्वरी ।
इमां निबध्नन्नपरक्तनिग्रहां कथं निबध्नासि तमोगुणैः स्वयम् ॥ ५९ ॥

नरेश, यया धिया जगत् तत्त्वम् अवेक्षते सा एषा ईश्वरवेदिनो ईश्वरी, अपरक्तनिग्रहाम् इमां निबध्नन् कथं तमोगुणैः स्वयं निबध्नासि ॥ ५९ ॥

नरनाथ ! जिस विवेक के द्वारा संसार तत्त्वज्ञान प्राप्त करता है वह विवेक ही ईश्वरज्ञान में कारण है, स्वयं ईश्वर है। ज्ञान का समवाय ही ईश्वर है। बन्धन को कभी भी स्वीकार न करनेवाले उस विवेक को नियन्त्रित करने की धृष्टता करके क्या आप अपने आपको विवेकहीन नहीं बना रहे हैं ॥ ५९ ॥

न धर्मभेदत्वमनैक्यकारणं न चैक्यहेतुः क्वचिदेकधर्मता ।
मिथो न किं प्रत्यहमेव तावको बलान्निगृह्णन्ति बिजापुरश्रियम् ॥ ६० ॥

धर्मभेदत्वम् अनैक्यकारणं न, क्वचित् एकधर्मता च न ऐक्यहेतुः । मिथः प्रत्यहम् एव तावकाः बलात् बिजापुरश्रियं न निगृह्णन्ति किम् ॥ ६० ॥

यह कथन निरा पागलपन ही है कि अनेक धर्मों के कारण पारस्परिक विभेद, विरोध बढ़ता है। वैसे ही एकधर्मावलम्बी हो जाने से एकता नहीं हो जाती। ऐक्य और विरोध तो स्वार्थमूलक हैं। आप स्वयं देखें, दिल्ली तथा बीजापुर दोनों ही इस्लाम को मानते हैं फिर भी आपकी सेना प्रतिक्षण बीजापुर को राजलक्ष्मी को अपदस्थ करने में दृढ़तापूर्वक लगी हुई है। [ईरान का बादशाह भी इस्लाम का अनुयायी है किन्तु पश्चिमोत्तर सीमान्त उसके आक्रमणों से जर्जर हो रहा है।]॥ ६० ॥

इयं निषेव्यापि दुरन्तदुर्दशां निरन्तरं पौरुषशुल्कनिर्वहा ।
कदापि सोढुं न शशाक देहली स्थितं तृतीयप्रकृतिं निजासने ॥ ६१ ॥

दुरन्तदुर्दशां निषेव्य अपि निरन्तरं पौरुषशुल्कनिर्वहा इयं देहली कदापि निजासने स्थितं तृतीयप्रकृतिं सोढुं न शशाक ॥ ६१ ॥

स्मरण रहे, इस दिल्ली ने क्रूरतम यन्त्रणा, दुर्दशा को सहा है। किन्तु सदैव पौरुष द्वारा भोग्या रही है, पौरुषशुल्कभोग्या है। यह अपने आसन पर किसी निर्वीर्य नपुंसक को कभी भी सह नहीं सकती ॥ ६१ ॥

न विस्मयो [1]दासनृपाननं यदि सुसाहसोल्लासितहासभासितम् ।
विलोकयन्ती स्थिरतारकाऽवशा विवेद नेयं गुरुमप्यनेहसम् ॥ ६२ ॥

यदि सुसाहसोल्लासितहासभासितं दासनृपाननं विलोकयन्ता स्थिरतारका अवशा इयं गुरुम् अपि अनेहसं न विवेद (तत्) विस्मयः न ॥ ६२ ॥

यदि पराक्रम-मण्डित हास से उज्ज्वल गुलामवंशी बादशाहों के मुँह को निर्निमेष दृष्टि से देखते हुए प्रेम-पुलकित दिल्ली को बीतते हुए महान् दीर्घ समय का भी ध्यान न रहा तो इसमें तनिक भी आश्चर्य नहीं होना चाहिए ॥ ६२ ॥

मिथोऽनिमित्ताहितवृत्तिवर्त्मनां हृतात्मबोधाऽऽर्यमहीभृतां शिरः ।
अपीष्टदर्पावभृथाभिषिञ्चितं समन्वभूद् दासकुलाङ्घ्रिसङ्गतिम् ॥ ६३ ॥

मिथः अनिमित्ताहितवृत्तिवर्त्मनां हृतात्मबोधार्यमहीभृताम् इष्टदर्पावभृथाभिषिञ्चितम् अपि शिरः दासकुलाङ्घ्रिसङ्गतिं समन्वभूत् ॥ ६३ ॥

अकारण परस्पर शत्रुतापूर्ण व्यवहार करनेवाले, हीनबुद्धि, आर्य राजाओं के, गर्वपूर्ण, अवभृथ जल से अभिषिञ्चित शिरों ने गुलामवंशी राजाओं के चरण का सत्संग प्राप्त किया [एक-एक कर क्रमशः भारतीय शासक गुलामों से पराजित हुए उनके कटे शिरों को गुलाम राजाओं ने पैरों की ठोकरों से लुढ़काया ।] ॥ ६३ ॥

मरुत्स्वनाऽऽपूरितपूर्वजार्जितोदयस्तवोद्धूतवियत्पथान्तरम् ।
सुवंशमेरण्डजनिर्निराकरोत् त्वदाद्यपित्रा निहतो [2]लुदी नृपः ॥ ६४ ॥

१. गुलाम वंशोद्भवाः (१२०६-१२९०) दिल्लीनरपतयः । एषु केचन प्रसिद्धा नृपाः राज्यमकुर्वन् । इल्तुतमिशः, रजिया-बेगमा, नासिरुद्दीनः, बल्बनश्चेति—सर्वे युद्धशौर्य-चेतसः प्रजापालकाः आसन् ।

२. लुदीनृपः—लोदोवंशजातः देहलीपतिः इब्राहीमलोदी; मदान्धः दुर्गुणराशिः मन्त्रिविमुखः बाबरं मुगलवंशजातं योद्धुकामः पानीपतयुद्धभूमौ निहतः (१५२६) ।

आद्यपित्रा—मिर्जा-उमरशेखबाबरः—'फरगाना'(मध्येशिया)मण्डलेशः पराजितः शत्रुभिः भारतं दुर्व्यवस्थानिर्भरं प्रविवेश । क्लैव्यं विज्ञाय लोदीनृपस्य इब्राहीमलोदो-नामकस्य दिल्लीं रुरोध, पानीपतयुद्धे तं निहत्य, अधिकृत्य उत्तरभारतं राज्यमकरोत् । प्रावर्तत च मोगलवंशः भारते (राज्यकालः १५२६—३०) ।

मरुत्स्वनापूरितपूर्वजार्जितोदयस्तवोद्धूतवियत्पथान्तरं सुवंशं त्वदाद्यपित्रा निहतः एरण्डजनिः लुदीनृपः निराकरोत् ॥ ६४ ॥

जिस तरह विनाश की बेला में बाँस की जड़ में रेंड़ उत्पन्न होता है तथा बाँस का अतिशीघ्र ध्वंस हो जाता है उसी प्रकार लोदी वंश में मूर्ख इब्राहीम लोदी उत्पन्न हुआ। लोदी राजाओं का वंश यशस्वी था। लोदी बादशाहों के गौरव-पूर्ण अभ्युदय की यशगाथा पवन-लहरियों पर तिरती हुई आकाश को व्याप्त कर लेती थी किन्तु इब्राहीम लोदी ने अपनी मूढता से उस वंश को ध्वस्त कर दिया। वह इब्राहीम लोदी तुम्हारे पूर्वपुरुष बाबर द्वारा युद्ध में, पानीपत के मैदान में मारा गया (१५२६) ॥ ६४ ॥

विपन्ननाथां [1]महिषीमसंश्रयां द्विषोऽभिरक्षन्ननिमित्तबान्धवः ।
द्विषद्भिराप्तावसरैर्जितोऽपि यो दिवं जयत्येव सदात्मसम्पदा ॥ ६५ ॥

यः अनिमित्तबान्धवः विपन्ननाथाम् असंश्रयां महिषीं द्विषः अभिरक्षन् आप्तावसरैः द्विषद्भिः जितः अपि सदात्मसम्पदा दिवं जयति एव ॥ ६५ ॥

जिस अकारण-बान्धव, उदारचेता ने असहाय, सद्योवैधव्य-दुःख से मूर्च्छित, रानी (मेवाड़महिषी कर्मवती) को शत्रुकुल के आक्रमण से बचाया, वे हुमायूँ, आपके पूर्वपुरुष, अनुकूल अवसर से लाभान्वित शत्रुओं द्वारा पराजित होकर भी, अपनी सम्पत्ति से, उत्तम आत्मगुण से स्वर्ग विजय करते हैं, उत्तम लोकों के अधिकारी हैं ॥ ६५ ॥

अनाप्तकैशोरपदोऽपि लीलया घनाऽऽधिकम्पां मचलाञ्चलामये ! ।
उवाह यः शेषनिभः सुखस्थिरामकब्बरो [2]ऽसौ यशसाऽजयद्दिवम् ॥ ६६ ॥

अये, अनाप्तकैशोरपदः अपि यः घनाधिकम्पां चलां शेषनिभः सुखस्थिराम् अचलाम् उवाह असौ अकब्बरः यशसा दिवम् अजयत् ॥ ६६ ॥

किशोरावस्था प्राप्त करने के पूर्व ही जिसने भयंकर मनोव्यथा से काँपती शंकाजर्जर पृथ्वी को अनायास ही शेषनाग के समान सर्वथा संकटरहित करके

---

१. मेवाड़महिषी राज्ञी कर्मवती गुजराताधिपबहादुरशाहेन राज्यमाक्रान्तं स्वल्प-बलत्वात्मनो विविच्य हुमायूँ रक्षार्थं ययाचे। स्वयं रिपुबाधितोऽपि दिल्लीशः तद्रक्षायै प्रचलितः। अत्रान्तरे निहतभर्तृका कर्मवती शीलरक्षणाय सान्तःपुरकामिनीजना 'जौहर'-विधिना वह्निदीप्तार्चिषि प्रविवेश। हुमायूँः बहादुरशाहं पराजित्य मेवाड़राज्यं ररक्ष। सः बाबरसुतः अकबरजनकः आसीत्।

२. अकबरः—दिवङ्गते पितरि हुमायूँसंज्ञके पञ्चदशवर्षीयोऽकबरो दिल्लीशासन-मधिरुरोह। विविधसंकटपरिवृतोऽपि स्वोद्यमसाहसबलेन विभिद्य विघ्नपरिखां सुदृढं विधाय मुगलराज्यं (१५५६-१६०५) पञ्चाशत् वर्षं राज्यं पालयामास अकबरः। महतां शासकाना-मेषो गण्यते।

सुखपूर्वक धारण किया वे महान् मुगल सम्राट् अकबर, आपके प्रपितामह, अपनी कीर्ति से अक्षय स्वर्ग के अधिकारी हुए ॥ ६६ ॥

यदीयदैनन्दिनकृत्यपद्धतिः प्रमाणसन्धामभजद् धराभृताम् ।
विधिर्यथान्तःकरणैकसाधनो बभार सिद्धिं स हठादिवोत्सुकाम् ॥ ६७ ॥

यदीयदैनन्दिनकृत्यपद्धतिः धराभृतां प्रमाणसन्धाम् अभजत् अन्तःकरणैकसाधनः सः विधिः यथा उत्सुकां सिद्धिं हठात् इव बभार ॥ ६७ ॥

उस महान् सम्राट् अकबर की दैनिक चर्या ही अन्य राजाओं के लिए आदर्श जीवनसंहिता बन गयी। जिस प्रकार प्रजापति ब्रह्मा अपने अन्तःकरण को ही साधन मानकर अनेकविध सृष्टि का निर्माण करते हैं, अकबर ने भी वैसे ही आत्म-सम्पत्ति, सद्गुणों के ही भरोसे उत्कण्ठित सिद्धि को प्राप्त किया ॥ ६७ ॥

सदार्जवाश्वस्तमनोरथो जनस्तमेकबन्धुं स्वगुणानुबन्धनैः ।
भृशं सिषेवेऽहिमदीधितिं यथा प्रकाशितात्मक्षपितक्षपाक्षणम् ॥ ६८ ॥

प्रकाशितात्मक्षपितक्षपाक्षणम् अहिमदीधितिं यथा एकबन्धुं तं सदार्जवाश्वस्तमनोरथः जनः स्वगुणानुबन्धनैः भृशं सिषेवे ॥ ६८ ॥

अकबर की उदारता से आश्वस्त मनोरथवाली (मनोरथ पूर्ण होगा, इस विश्वाशवाली) प्रजा उन्हें अपना परम हितचिन्तक मानती थी तथा आत्मगुणों की प्रभा से नैराश्य, अन्धकार को दूर करनेवाले उस अकबर को तिग्मरश्मि सूर्य के समान मानकर अपने सद्गुणों से उसकी सेवा किया करती थी [सम्राट् अकबर अतिश्रेष्ठ प्रजापालक थे ।] ॥ ६८ ॥

सदार्यवर्यः स तुरुष्कमण्डनो गुणैकपात्रं विजयेन्दिरावरः ।
प्रजाजनान्तःकरणेष्वकल्पयत् स्वराज्यसत्तां न तु दण्डनीतिषु ॥ ६९ ॥

सदार्यवर्यः विजयेन्दिरावरः गुणैकपात्रं तुरुष्कमण्डनः सः स्वराज्यसत्तां प्रजाजनान्तःकरणेषु न तु दण्डनीतिषु अकल्पयत् ॥ ६९ ॥

वे आर्यगुणों से युक्त थे, तुरुष्क-जाति-भूषण थे, गुणों के प्रतिष्ठित पात्र थे तथा विजयलक्ष्मी के आराध्य थे। उस महान् अकबर ने लोकमानस को ही अपने राज्य की सुदृढ़ आधारशिला बनाया। दण्डनीति के बल पर उनकी राज्यसत्ता नहीं टिकी थी ॥ ६९ ॥

वसुन्धरा विस्मृतपूर्वदुर्गतिः स्वनामसाफल्यमवाप सुप्रजा ।
धुरं दधाने सहजानुवर्तिनी ननन्द भूपे प्रकृतिस्तथाविधम् ॥ ७० ॥

विस्मृतपूर्वदुर्गतिः सुप्रजा वसुन्धरा स्वनामसाफल्यम् अवाप, धुरं दधाने भूपे सहजानुवर्तिनी प्रकृतिः तथाविधं ननन्द ॥ ७० ॥

अकबर के शासनकाल में अपनी वीतकालीन विपत्ति, बाधा को भूलकर, सुखी प्रजा से पूर्ण वसुन्धरा वैभवपूर्ण हो गयी। योग्यतापूर्वक राजभार को सँभालने के कारण, अनुकरण करनेवाली प्रजा ने भी, अपने उस महान् शासक के अनुरूप ही अपना कर्तव्य स्थिर किया तथा 'यथा राजा तथा प्रजा' की उक्ति को पुनः प्रतिष्ठित किया ॥ ७० ॥

तवाग्रवंश्यप्रणयाभिषिञ्चितं प्रजाहितस्वादुफलं स्तवोच्छ्रितम्।
विभो! कथं राष्ट्रतरुं भवन्मतिः छिनत्ति दुर्दण्डकुठारदुर्णयैः ॥ ७१ ॥

विभो, तव अग्रवंश्यप्रणयाभिषिञ्चितं प्रजाहितस्वादुफलं स्तवोच्छ्रितं राष्ट्रतरुं भवन्मतिः दुर्दण्डकुठारदुर्णयैः कथं छिनत्ति ॥ ७१ ॥

यह राजरूपी वृक्ष, आपके पूर्वजों से स्नेह से सिञ्चित तथा सवर्धित है, लोकमंगल के सुस्वादु फलों से लदा हुआ है, यश, प्रतिष्ठा आदि के कारण अपनी ऊँचाई से आकाश छू रहा है। राजन्, उसी राजवृक्ष को आपकी बुद्धि, भयंकर बेंटवाली कुल्हाड़ी के निन्दित आघात से क्यों काट रही है (दुर्धर्ष दण्डनीति के कुविचारित कारनामों से क्यों काटा जा रहा है।) ॥ ७१ ॥

स्वयं सशङ्कः किमु शङ्कसेऽनिशं जनान् मुधारोपितसाध्वसाग्रहैः।
अहिभ्रमाच्छ्रीचपलाञ्चलञ्जहत् खरं बतारोहसि वाजिसम्भ्रमात् ॥ ७२ ॥

स्वयं सशङ्कः मुधा आरोपितसाध्वसाग्रहैः अनिशं जनान् शङ्कसे किमु। अहिभ्रमात् श्रीचपलाञ्चलं जहत् बत वाजिसम्भ्रमात् खरम् आरोहसि ॥ ७२ ॥

आप स्वयं शंकित रहते हैं, क्यों दूसरों में निराधार आत्मभय को प्रतिष्ठित करके उनसे शंका करते हैं? लक्ष्मी के लहराते हुए अञ्चल को सर्प के भ्रम में छोड़कर, उसी भ्रम के कारण गधे पर बैठते हुए आप समझते हैं कि घोड़े पर बैठे हैं। [आप संशयालु हैं इसी कारण अशान्त हैं पर इसमें किसी का दोष नहीं, आपका शंकास्पद स्वभाव ही प्रत्येक संकट की जड़ है।] ॥ ७२ ॥

धराऽपभिक्षा प्रकृतिः सविप्लवा पराजयाङ्का ध्वजिनी हृतं यशः।
समं तुरुष्कैर्विलपन्ति हिन्दवो दवाग्निदग्धे तव राज्यकानने ॥ ७३ ॥

दवाग्निदग्धे तव राज्यकानने अपभिक्षा धरा, सविप्लवा प्रकृतिः, पराजयाङ्का ध्वजिनी, हृतं यशः, तुरुष्कैः समं हिन्दवः विलपन्ति ॥ ७३ ॥

पृथ्वी अकालग्रस्त है, प्रजा में विप्लव, असन्तोषजन्य प्रतिहिंसा है, सेना पर पराजय का कलंक लगा हुआ है, यश लुट चुका है, हिन्दू और मुसलमान दोनों ही बिलख रहे हैं। आपका राज्यरूपी जंगल दवानल (वन की आग) में जल रहा है। (आप वास्तविकता को क्यों नहीं देखते?) ॥ ७३ ॥

तव प्रतीपव्यवहारबृंहितप्रचण्डझञ्झानिलधूतसंहतिः ।
समूलमुन्मूलनमेव साम्प्रतं प्रतीक्षते राज्यतरुः क्षतान्तरः ॥ ७४ ॥

तव प्रतीपव्यवहारबृंहितप्रचण्डझञ्झानिलधूतसंहतिः क्षतान्तरः राष्ट्रतरुः साम्प्रतं समूलम् उन्मूलनम् एव प्रतीक्षते ॥ ७४ ॥

बादशाहसलामत, मुगल-साम्राज्यरूपी यह महान् वृक्ष आपके असंगत आचरण से भीतर ही भीतर जर्जर हो चुका है। आपने पागलपन से भरे अपने लोकविरोधी आचरण से उस तूफान को बढ़ावा दिया है जो प्रचण्ड राज्यरूपी वृक्ष को बुरी तरह झकझोर रहा है, अब यह जड़ से उखड़कर ध्वस्त होने की प्रतीक्षा ही कर रहा है। इसमें संकटों से संघर्ष करने की क्षमता समाप्त हो चुकी है ॥७४॥

विकत्थमानो बहुधा मदोन्मदो प्रकल्पयत्यात्मजितं जगत्त्रयम् ।
जनेश, तत् स्वास्थ्यमुपैतु सत्वरं व्यपाश्रिताध्यासतमा मतिस्तव ॥ ७५ ॥

जनेश, बहुधा विकत्थमानः मदोन्मदः जगत्त्रयम् आत्मजितं प्रकल्पयति, तत् तव व्यपाश्रिताध्यासतमा मतिः सत्वर स्वास्थ्यम् उपैतु ॥ ७५ ॥

प्रजानाथ ! बहुधा शराब में मदहोश व्यक्ति अपने ही मुँह से अपनी डींग मारता हुआ मानने लगता है कि उसने तीनों लोकों को विजित कर लिया है। अतः आपका यह सेवक चाहता है कि आपकी बुद्धि अति शीघ्र भ्रममूलक अन्धकार से मुक्त होकर स्वास्थ्य-लाभ करे (याथार्थ्य को समझे) ॥ ७५ ॥

प्रजापतेर्लोकहिताय शासनं यथाहितध्यानभरं तवानघ ! ।
अवश्यमार्यैरुररीकरिष्यते जिजीविषायै जजियेति पद्धतिः ॥ ७६ ॥

अनघ, प्रजापतेः तव यथाहितध्यानभरं शासनं लोकहिताय, -आर्यैः जजिया इति पद्धतिः जिजीविषायै अवश्यम् उररीकरिष्यते ॥ ७६ ॥

अनघ, आप प्रजानाथ हैं। लोक-कल्याण के लिए आपका शासन हितचिन्तन से पूर्ण है। ऐसी स्थिति में जीने की बलवती इच्छावाले हिन्दू अवश्य आपके इस 'जजिया' कर को स्वीकार करेंगे।—अथवा,

प्रजापति होकर भी लोक-कल्याण के लिए जिस प्रकार का समाज-द्रोह-पूर्ण यह कुत्सित शासन है उसी से स्पष्ट है कि आर्य जन प्राणों के भय से ही आपके इस 'जजिया' को स्वीकार करेंगे (यथा + अहित + ध्यान + भरं) या (यथाहित + ध्यान भरं) ॥ ७६ ॥

विधिप्रयुक्तेन पथाऽपि निन्द्यते यथा कुपात्रे किल दानसत्क्रिया ।
व्यपेतलोकाभ्युदयं तथा प्रभो ! न शासनं पौरुषमात्रमिष्टदम् ॥ ७७ ॥

विधिप्रयुक्तेन पथा अपि यथा कुपात्रे दानसत्क्रिया निन्द्यते किल, प्रभो, तथा व्यपेत-लोकाभ्युदयं पौरुषमात्रं शासनं न इष्टदम् ॥ ७७ ॥

श्रीमन् ! शास्त्रीय विधि-विधान से भी यदि किसी कुपात्र में दान दिया जाय तो वह निन्दनीय ही होता है। उसी प्रकार के बल-पौरुष से रक्षित किन्तु जनकल्याण से विमुख शासन कभी भी अभीष्ट फल नहीं देता। शासन की उपलब्धि तो जन-कल्याण है। दण्ड से यदि किसी प्रकार शासन रक्षित भी हो तो लोकहित विमुख होने के कारण वह निष्फल ही है ॥ ७७ ॥

यमन्तिमस्वापनिरुद्धचक्षुषं निरीक्ष्य दूरादपि कम्पितोरसः।
तमेव रौद्रं यदधिक्षिपन्ति ते द्विपद्विषस्तच्छठशावश्यता ॥ ७८ ॥

अन्तिमस्वापनिरुद्धचक्षुषं यं दूरात् अपि निरीक्ष्य कम्पितोरसः (जनाः) तम् एव रौद्रं ते यत् अधिक्षिपन्ति तत् द्विपद्विषः शठशावश्यता ॥ ७८ ॥

यदि आप सोचते हैं कि जजिया लगाने पर भी तो हिन्दुओं ने कोई असन्तोष व्यक्त नहीं किया, तो उत्तर है कि वे बन्धन-जर्जर हिन्दू विवश हैं।

जिस गजकुम्भ-विदारक सिंह को अन्तिम निद्रा में सोये हुए (मरे हुए) दूर से देखकर भी लोग भयकम्पित हृदय हो अपने जीवन में संशयालु हो जाते हैं उसी को भयंकर क्रोध में दहाड़ते देखकर भी यदि वे ही लोग उसे चिढ़ाने की निर्भय चेष्टा करते हैं तो इसमें कुछ और ही कारण है। हाथियों का दर्प चूर्ण करने-वाला वह सिंह दुर्भाग्यवश जाल में फँस गया है, यही कारण है कि भयहीन होकर लोग उसको चिढ़ा रहे हैं। भारतीय जनता भी दासता में जकड़ी हुई है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह निर्वीर्य है ॥ ७८ ॥

मदोत्कटोन्मादविजृम्भितालसा विशाम्पते मोहनिशाऽऽर्यचेतसाम्।
प्रतीक्षते त्वन्मुखपीतिमेन्दुना सहास्तवेलामचिरं शिवोषसे ॥ ७९ ॥

विशाम्पते, आर्यचेतसां मदोत्कटोन्मादविजृम्भितालसा मोहनिशा शिवोषसे त्वन्मुख-पीतिमेन्दुना सह अचिरम् अस्तवेलां प्रतीक्षते ॥ ७९ ॥

भूपाल ! उत्कट सुरासेवन से निर्भर आलसवाली जनता की यह मोहरात्रि, विवर्ण कान्तिवाले आपके मुखचन्द्र के साथ ही अस्तवेला, निशान्तकाल की प्रतीक्षा कर रही है। शीघ्र ही कल्याणमय, शिवभावपूर्ण अरुणोदय, उषःकाल होने-वाला है ॥ ७९ ॥

कथन्नु मोहक्षणरागचालितं पतेज्जगद्यानमिवान्धगह्वरे।
स्वमानदण्डेन विलङ्घतां गिरिं विहाय वल्मीकमहो पिपीलिका ॥ ८० ॥

कथं नु मोहक्षणरागचालितं जगत् यानम् इव अन्धकारगह्वरे पतेत् ? अहो वल्मीकं विहाय पिपीलिका स्वमानदण्डेन गिरिं विलङ्घताम् ॥ ८० ॥

क्या एक दुर्व्यवस्थित स्वभाववाले व्यक्ति के दुराग्रह से कुपथ में परिचालित यह संसार किसी विमान (रथ ?) के समान अन्धकारपूर्ण गह्वर में गिरकर चकनाचूर होगा ! क्या अब अपने धूहे को, वीमट को छोड़कर चींटी अपने मानदण्ड

से (पैमाने से) विशाल पर्वत को लाँघने की धृष्टता करेगी ? [यह सम्भव नहीं है। उसी प्रकार आपका पागलपन भी समाज को विनष्ट न कर सकेगा, आप अपने मुँह मियाँमिट्ठू बना करें, आपके इरादे धूल में मिल जायेंगे।] ॥ ८० ॥

प्रतीहि राजन्नुपलब्धचेतना पुरा प्रतप्ता प्रतिशोधहुङ्कृतिः ।
तनीयसीं वाऽपि कदर्थनां प्रजा न वेत्ति विस्मर्तुमुदायुधोन्मदा ॥ ८१ ॥

राजन्, प्रतीहि, उपलब्धचेतना पुरा प्रतप्ता प्रतिशोधहुङ्कृतिः उदायुधोन्मदा प्रजा तनीयसीं वा अपि कदर्थनां विस्मर्तुं न वेत्ति ॥ ८१ ॥

राजन् ! विश्वास कीजिये, एक बार इस मोहमयी मूर्च्छा को त्याग, होश में आने पर, प्रतिशोध की हुंकार से उबलती प्रजा जब हथियार उठाकर चल पड़ती हैं तब अतीत में अपने विरुद्ध किये अत्याचारों में से जरा भी नहीं भूलती। प्रत्येक अविनय, अतिचार, दुर्दशा उसे स्मरण रहती है। वह भूलना नहीं जानती। अन्याय की एक-एक कौड़ी आततायियों के खून से चुकाती है ॥ ८१ ॥

यशस्करा जीवदया दयादृशः सुखं समुत्तीर्णचलोर्मिनिम्नगाः ।
भवत्कुलाद्यास्त्रिदिवं ययुर्यया तरिः कथं धीवर ! सैव खण्ड्यते ॥ ८२ ॥

धीवर, यया यशस्करा जीवदया दयादृशः सुखं समुत्तीर्णचलोर्मिनिम्नगाः भवत्कुलाद्याः त्रिदिवं ययुः सा एव तरिः कथं खण्ड्यते ? ॥ ८२ ॥

[यशस्करा जीवदया–यशस्कर+आजीव+दा=तया तृतीयैकवचने=कल्याण-मयी जीविका देनेवाली।]

धीवर ! बुद्धिमान् बादशाह, आपके पूर्वजों ने जिस कल्याणमयी नौका से उत्तम जीविका प्राप्त की तथा चञ्चल लहरों से युक्त अधोगति (नदी) को सहज ही पारकर उत्तम लोकों को गये, मल्लाह होकर भी आप उसी नौका को आज क्यों खण्ड-खण्ड कर रहे हैं ! यह बादशाहत नौका के समान है, आपके पूर्वज बाबर, अकबर, जहाँगीर आदि ने अपने सुशासन से अनेक बाधाओं को पारकर सुयश अर्जित किया। किन्तु बुद्धिमान् होकर भी आप उस सल्तनत की ही जड़ खोद रहे हैं ॥ ८२ ॥

सुपात्रनिक्षिप्तमनल्पलब्धये यदल्पमप्याहुरपास्तकल्मषाः ।
अलं महापात्रतया तदग्रतस्तव स्थितिर्नन्दतु पुण्यपर्वणि ॥ ८३ ॥

अपास्तकल्मषाः यत् अल्पम् अपि सुपात्रनिक्षिप्तम् अनल्पलब्धये आहुः तत् पुण्यपर्वणि महापात्रतया अलं तव स्थितिः अग्रतः नन्दतु ॥ ८३ ॥

निष्पाप, पवित्रमना विद्वानों का कथन है कि यदि सुपात्र में थोड़ा भी दिया जाय तो वह अनन्तफलदायी होता है। बादशाह सलामत, आपसे बड़ा 'महापात्र' और कौन मिलेगा, अतः ठीक है, जजिया के इस पुण्यपर्व में आप-जैसे महापात्र में यह 'कर-दान' विशेष फलदायी है [निम्नकोटिक दान लेनेवाले को 'महापात्र' कहते हैं।] ॥ ८३ ॥

अनेन नूनं नवनिर्णयेन ते निरामयत्वं प्रकृतिर्गमिष्यति ।
प्रजासु मातेव भवन्मतिः सदा सुखावधानावसरार्थनिश्चया ॥ ८४ ॥

अनेन ते नवनिर्णयेन प्रकृतिः नूनं निरामयत्वं गमिष्यति, भवन्मतिः सदा प्रजासु माता इव सुखावधानावसरार्थनिश्चया ॥ ८४ ॥

स्पष्ट है कि जजिया लगाकर आपने महान् पुण्यमय कार्य किया है। आपके इस अभिनव निर्णय से निश्चय ही प्रजा स्वास्थ्य-लाभ करेगी। आपकी बुद्धि प्रजा-हित के लिए, लोक-कल्याण के लिए माता, वात्सल्यमयी जननी के समान सदैव सुखपूर्ण अवसर के संकेतानुसार अवधानपूर्वक चेष्टा करती है ॥ ८४ ॥

अघापहारोऽर्थबलेन लभ्यते किमत्र वाऽघं परतन्त्रतासमम् ।
तदाशु लोको दुरिताद्विमुक्तये ददातु नव्यं करमिष्टभूभृते । ८५ ॥

अर्थबलेन अघापहारः लभ्यते, अत्र परतन्त्रतासमं किं वा अघं, तत् दुरितात् आशु विमुक्तये लोकः इष्टभूभृते नव्यं करं ददातु ॥ ८५ ॥

कहा जाता है कि धन के द्वारा पाप कट जाता है। लोग धन का दान देकर प्रायः पापमोचन की बात करते हैं अतः यह ठीक ही है। और यह भी सत्य है कि गुलामी से बढ़कर भयकर कोई दूसरा पाप भी नहीं है अतः इस पाप से (गुलामी से) मुक्त होने के लिए, प्रजाजन शीघ्रतापूर्वक अपने बादशाह को यह नया कर (जजिया) अवश्य दें ॥ ८५ ॥

विधिप्रबन्धानतिमानुषाध्वनस्तवात्मयोनेरिव सृष्टिविस्तरान् ।
मुधा यतन्ते मनुजाः परीक्षितुं फलार्गलाकीलितकर्मवृत्तयः ॥ ८६ ॥

आत्मयोनेः सृष्टिविस्तरान् इव अतिमानुषाध्वनः तव विधिप्रबन्धान् परीक्षितुं फलार्गला-कीलितकर्मवृत्तयः मनुजाः मुधा यतन्ते ॥ ८६ ॥

जहाँपनाह, आप सामान्य जन नहीं हैं, अतिमानव हैं। आपकी कार्यप्रणाली, कार्यक्रम आदि सभी अतिमानवीय हैं, सामान्य प्राणियों के विवेक की परिधि में वे आ ही नहीं सकते। जिस प्रकार स्वयम्भू ब्रह्माजी विविध रूप-रंगवाली सृष्टि करते हैं, आप भी अतिमानवीय, दिव्य ढंग से विधि-प्रबन्ध अनुष्ठित करते हैं। यदि सांसारिक प्राणी आपके कार्यों की मीमांसा करना चाहें तो यह उनकी धृष्टता होगी तथा उनका श्रम भी निष्फल होगा क्योंकि मनुष्य का तो यह स्वभाव ही बन गया है कि वह किसी कार्य का मूल्यांकन करने में प्रयोजन, फलाप्ति आदि का ध्यान रखता है, या यों कहें कि मानवीय कर्मपद्धति फलार्गला से, फल के बन्धन से नियन्त्रित रहती है। तब भला वे आपके कार्यों का क्या मूल्यांकन करेंगे (आपके कार्य प्रायः निष्फल, निरुद्देश्य, आपकी क्षणबुद्धिता के कारण) ॥ ८६ ॥

उदग्रधामोदयनन्दितात्मनः सपक्षता हिन्दुजनाय तेऽचिरम् ।
परां भवत्कीर्तिमपेतसंशयां पतङ्ग दिष्ट्या प्रकटीकरिष्यति ॥ ८७ ॥

हिन्दुजनाय उदग्रधामोदयनन्दितात्मनः ते सपक्षता अचिरम् अपेतसंशयां परां भवत्कीर्तिं पतङ्ग ! दिष्ट्या प्रकटीकरिष्यति ॥ ८७ ॥

(पतङ्ग—सूर्य, पंखवाला कीड़ा । सपक्षता—पक्षपात, पाँख का उगना ।)

उदयगिरि को अपनी प्रभा से प्रकाशित करने के कारण हर्षोत्फुल्ल होनेवाले प्रजानाथ, (उच्चाधिकारजन्य प्रताप एवं उसी कारण आनन्दमग्न) आप सूर्य हैं। हिन्दुओं के प्रति आप सदा अनुकूल रहते हैं, अनुग्रह करते हैं। आपकी यह सपक्षता, हिन्दुओं के प्रति उदारता, आपकी निस्संशय कीर्ति का विस्तार करेगी। (अथवा, दूसरा अर्थ—) ऊँची लाल-लाल लपटों के उठने के कारण आनन्दमग्न होनेवाले पतिंगे, हिन्दूजनता के लिए, उन्हें पीड़ित करने के लिए आप में पंख उग आये हैं, उड़-उड़कर आप डंक मारते हैं किन्तु आपकी यह पंखप्राप्ति, आपका परवाज होना शीघ्र ही आपकी निर्भय कीर्ति को विस्तृत करेगी। जिन ऊँची अग्निशिखाओं को देखकर आप फूले नहीं समाते उसी में आपकी पाँखें आपको डाल देंगी और आप नामशेष हो जायेंगे ॥ ८७ ॥

सुषुप्तिलीनश्चरणाहतैरतो महाभुजङ्गः शिरसीव कालराट् ।
अयं स्वदेशः कुपिताक्षिभीषणो जयाय जागर्तु कशोद्धतैः करैः ॥ ८८ ॥

अतः सुषुप्तिलीनः कालराट् महाभुजङ्गः शिरसि कशोद्धतैः करैः इव चरणाहतैः अयं स्वदेशः जयाय कुपिताक्षिभीषणः जागर्तु ॥ ८८ ॥

जिस प्रकार निद्रामग्न महाविषधर शिर पर पैर की ठोकर लगने से कुपित भीषण दृष्टि से काल के समान फुफकार उठता है उसी प्रकार यह भारत देश चाबुक मारनेवाले कर के समान आपके कर (जजिया) से क्रोधपूर्ण दृष्टि से निद्रा-मोह छोड़कर आत्मकल्याण के लिए, विजय के लिए जगे, निद्रा त्यागे ॥ ८८ ॥

स्वभूपभक्तिर्धनसङ्ग्रहादरो मनोरतिस्त्यागपथेऽघसञ्छिदि ।
यथार्थमात्मस्थितिबोधसत्क्रिया नवः करो भूरिफलाय कल्पते ॥ ८९ ॥

स्वभूपभक्तिः, धनसङ्ग्रहादरः अघसञ्छिदि त्यागपथे मनोरतिः, यथार्थम् आत्मस्थिति-बोधसत्क्रिया, नवः करः भूरिफलाय कल्पते ॥ ८९ ॥

(यों इस नये कर से अनेक प्रकार के लाभ को सम्भावनायें हैं—)

इस कर से बादशाह में प्रजाभक्ति बढ़ेगी (हिन्दूप्रजा समझेगी कि बादशाह ने यह कर लगाया है, धनसंग्रह के प्रति उत्साह बढ़ेगा क्योंकि बिना धन के कर देना कठिन होगा, फिर पापनाशक दानादि में, त्यागपथ में मन की प्रवृत्ति बढ़ेगी, और सबसे उत्तम लाभ तो यह होगा कि हिन्दू जनता को अपनी वास्तविक स्थिति का यथार्थ परिज्ञान हो जायेगा। इस प्रकार इस जजिया से अनेक फलों की प्राप्ति

होगी। [जजिया कर इसलिए लगाया गया था कि विधर्मी हिन्दू जनता उस कर को देकर इस्लाम के राज में भी रहने की अधिकारी हो सकती थी। मुसलमानों को यह कर नहीं देना था। इस्लाम के अनुसार हिन्दूजनता के जान-माल की सुरक्षा मुस्लिम शासक करता था अतः यह कर वैध था। किन्तु संसार मानता है कि जमीन और जायदाद पर लगा हुआ कर ही प्रजा की सुरक्षा के लिए पर्याप्त है। कर कभी भी सम्प्रदायविशेष के लिए नहीं लगाना चाहिए।] ॥ ८९ ॥

स्तवः प्रवादो द्वयमप्यसंशयं धियामुपाधिर्न हि वस्तुधर्मता।
विभिन्नदेशस्थितिकालयन्त्रितो विहातुमीशो न जनो निजाग्रहम् ॥ ९० ॥

असंशयं स्तवः प्रवादः द्वयम् अपि धियाम् उपाधिः वस्तुधर्मता न, निजाग्रहं विहातुं विभिन्नदेशस्थितिकालयन्त्रितः जनः न ईशः ॥ ९० ॥

(यह कथन भी असंगत है कि जजिया लगाने से बादशाह को निन्दा होगी।)

स्तुति और निन्दा ये दोनों भाव निस्सन्देह शुद्ध बुद्धि के विषय नहीं हैं। अपने में मिथ्यारोपित कर्तृत्ववाला व्यक्ति ही राग-द्वेषमूलक इन उपाधियों को महत्त्व देगा, इनमें सारवत्ता, वस्तुनिष्ठधर्मता नहीं है, और लोगों को तो कहना है, कहेंगे ही किन्तु यथार्थ यह है कि व्यक्ति देश, काल, स्थिति आदि सीमाओं में निबद्ध है अतः उनके सम्बन्ध से उत्पन्न आत्माग्रह से वह मुक्त नहीं हो पाता। यही कारण है व्यक्ति प्रत्येक कार्य के सम्बन्ध में अपनी धारणा (स्तुति, निन्दा आदि) व्यक्त करता रहता है। निर्लिप्त विवेक अत्यन्त कठिन स्थिति है। सामान्यतः व्यक्ति अपनी धारणाओं का दास होता है ॥ ९० ॥

तदत्र मात्सर्यजडीकृता न सा प्रतीतिपद्या प्रकृतिस्त्वयि प्रभो।
त्वमश्रुतैस्तां व्यसनक्षतोरसं चिकित्सितुं शल्यपथैः प्रवर्तसे ॥ ९१ ॥

प्रभो, त्वयि प्रतीतिपद्या सा प्रकृतिः मात्सर्यजडीकृता न, व्यसनक्षतोरसं तां चिकित्सितुं त्वम् अश्रुतैः शल्यपथैः प्रवर्तसे ॥ ९१ ॥

ऐसा ज्ञात होता है कि मात्सर्य आदि दोषों से कुण्ठित भारतीय हिन्दू जनता उचित मार्ग को समझकर अब आपकी शरण में नैरुज्य-प्राप्ति के लिए उपस्थित है। आप भी अतर्क्य अश्रुत (वेद-शास्त्ररहित) जर्राही से (सर्जरी द्वारा) उसकी चिकित्सा में प्रयत्नशील हैं ॥ ९१ ॥

क्व भिक्षुकग्रासमुषा श्रुतस्त्वया नवक्रमोऽयं दुरिताधमावधिः।
अलं रुदत्कीटपतङ्गदोहनैस्तवार्थिनोऽमीष्टसुरद्रु मे मयि ॥ ९२ ॥

भिक्षुकग्रासमुषा त्वया दुरिताधमावधिः अयं नवक्रमः क्व श्रुतः, अर्थिनः तव अमीष्ट-सुरद्रुमे मयि रुदत्कीटपतङ्गदोहनैः अलम् ॥ ९२ ॥

भिक्षुकों के मुँह का ग्रास चुरानेवाले दिल्लीपति, तुमको किस गुरु ने अधोगति की पराकाष्ठा, यह नया रास्ता बताया है ? इससे तुम अधोगति ही प्राप्त

करोगे। अरे, बिलखते हुए कीड़े-मकोड़ों को सताकर तुम कितनी अर्थप्राप्ति कर सकोगे। इसे बन्द करो। तुम जैसे भिखमंगे के लिए जब मेरे जैसा कल्पवृक्ष उपस्थित ही है तो इन गरीबों को सताने से क्या लाभ ॥ ९२ ॥

सुवर्णतामायसमप्यनुत्तमां सकृत्करस्पर्शनाथितं मम।
विभो, यदाविष्कुरुते निरन्तरं किमर्थिनोऽपि क्षतकर्ण भिक्षसे ॥ ९३ ॥

विभो, सकृत् मम करस्पर्शनाथितम् आयसम् अपि यत् अनुत्तमां सुवर्णतां निरन्तरम् आविष्कुरुते, क्षतकर्ण, अर्थिनः अपि किं भिक्षसे ॥ ९३ ॥

मेरी एक विशेषता से सम्भवतः आप अपरिचित न होंगे।

मेरे हाथ का एक बार भी स्पर्श कर लेने से लोहा भी उत्तम कोटि की सुवर्णता प्राप्त कर लेता है (सोना हो जाता है, इच्छानुकूल शत्रु का विध्वंस करता है) फिर आप मेरे पास न आकर व्यर्थ ही गला फाड़कर माँगते हुए गरीबों को क्यों कष्ट दे रहे हैं। आपका मनोरथ मैं ही पूर्ण कर सकता हूँ ॥ ९३ ॥

प्रजापतेस्तेऽतिशयात्मसम्पदं व्यनक्ति सम्बन्धजनिः करग्रहः।
अमीष्टपीडानुभवोऽपि तद्विधावनल्पपुण्यायतिरेव देहिनाम् ॥ ९४ ॥

सम्बन्धजनिः करग्रहः प्रजापतेः ते अतिशयात्मसम्पदं व्यनक्ति, तद्विधौ अमीष्टपीडानुभवः अपि देहिनाम् अनल्पपुण्यायतिः एव ॥ ९४ ॥

आप प्रजापति हैं अतः प्रजा-कर ग्रहण आपका सहज अधिकार है। प्रत्येक पति, पाणिग्रहण के बाद ही पति होता है। इस प्रकार करग्रह सम्बन्ध की सृष्टि करता है। यही नहीं, यह भी ज्ञात हो जाता है कि पति का हृदय कैसा है। इस प्रकार करग्रहण (पाणिग्रहण) में यदि कुछ कष्ट भी हो तो कोई चिन्ता नहीं क्योंकि करग्रहण (पाणिग्रहण) विशेष पुण्यमय भविष्य का निर्माण करता है। अतः यदि इस पावन विधान में (जजिया की वसूली में) प्रजापक्ष विपन्न होता है तो हो, आप प्रजापति हैं, कर ग्रहण करते हैं, यह कम सौभाग्य की बात नहीं हैं ॥ ९४ ॥

वृको यथा पाशनिबद्धविग्रहो ज्वलत्क्षुदुत्तापसमाकुलेन्द्रियः।
सुतीक्ष्णदंष्ट्याव्यवसायभीषणं न वेत्सि मांसाशनमात्मनोऽपि किम् ॥ ९५ ॥

पाशनिबद्धविग्रहः ज्वलत्क्षुदुत्तापसमाकुलेन्द्रियः वृकः यथा सुतीक्ष्णदंष्ट्याव्यवसायभीषणम् आत्मनः मांसाशनम् अपि न वेत्सि किम् ॥ ९५ ॥

जिस प्रकार जाल में फँसा हुआ भेड़िया असह्य भूख की ज्वाला से विकल-प्राण होकर अपना ही मांस खाने के लिए अपने तेज दाँतों का भीषण आघात अपने ही ऊपर करता हुआ भी भूख मिटाने के यत्न में चिन्ता नहीं करता उसी प्रकार आप भी इस जजिया द्वारा अपनी सत्ता ही नोंच-चोथ कर खा रहे हैं और जान नहीं पाते कि आपका यह कार्य कितना आत्मघाती है ॥ ९५ ॥

स्वयं गलन्नागलतादलं यथा प्रवर्तमानं तव कर्म भूपते।
उभौ हि पूर्वापरवर्तिनौ हठान् निहन्ति भूतञ्च भविष्यमुज्ज्वलम् ॥ ९६ ॥

भूपते, तव प्रवर्तमानं कर्म स्वयं गलत् नागलतादलं यथा हठात् हि उभौ पूर्वापरवर्तिनौ, भूतम् उज्ज्वलं भविष्यं च निहन्ति ॥ ९६ ॥

जिस प्रकार सड़ता हुआ पान का पत्ता ऊपर तथा नीचे दोनों ओर के पत्तों को सड़ा देता है, उसी प्रकार आपका यह वर्तमान कर्म (जजिया वसूल करना) आपके उज्ज्वल अतीत तथा आनेवाले अनागत को कलंकित कर रहा है, क्योंकि यह स्वयं ही अत्यन्त गर्हित (सड़ा हुआ) है ॥ ९६ ॥

व्यपत्रपात्मन् करमीहसे कथं प्रजासुरक्षाभरणाक्षमोऽप्यहो।
व्यपेक्षते क्लीबधवं किमाकुला कुदैवयोगाच्छलितापि कामिनी ॥ ९७ ॥

अहो, व्यपत्रपात्मन्, प्रजासुरक्षाभरणाक्षमः अपि करं कथम् ईहसे कुदैवयोगाच्छलिता अपि आकुला कामिनी क्लीवधवं व्यपेक्षते किम् ? ॥ ९७ ॥

आपने क्या लज्जा को तिलाञ्जलि ही दे दी है ? जब जनता की सुरक्षा, भरण-पोषण आदि में आप असमर्थ हैं तो कर की अभिलाषा कैसे करते हैं। स्वयं सोचिये, कोई भी युवती किसी नपुंसक पति को, कामाराधन में सर्वथा अयोग्य हिजड़े को क्यों चाहेगी ? यदि मान भी लिया कि दुर्भाग्यवश उसी नपुंसक से उसका विवाह हुआ है तो भी क्या फर्क पड़ता है, विवाह का प्रथम उद्देश्य तो काम-परितोष ही है। यदि वहाँ वह निष्फल है तो उसके पाणिग्रहण का, करग्रहण का क्या महत्त्व है ! उसी प्रकार आप राज्य के शासक हैं किन्तु यदि आप प्रजा की सुरक्षा आदि नहीं करते तो करग्रहण विडम्बना ही है ॥ ९७ ॥

भृशातुरैर्दण्डविमण्डितैर्जनैरनुष्ठितेयं पितृपक्षता नवा।
प्रसीद कामं बलिपुष्ट तुष्टये दुरात्मनां दुर्विषयोऽपि दक्षिणाः ९८ ॥

भृशातुरैः दण्डविमण्डितैः जनैः इयं नवा पितृपक्षता अनुष्ठिता, बलिपुष्ट, तुष्टये कामं प्रसीद, दुर्विषयः अपि दुरात्मनां दक्षिणाः ॥ ९८ ॥

[हिन्दुओं में मृतात्मा को दग्ध करनेवाला व्यक्ति हाथ में एक पतली सी लकड़ी (दण्ड) लिए रहता है—]

बादशाह, अत्यन्त संकट में पड़े हुए आपके दुर्धर्ष दण्ड से आतुर इन हिन्दुओं ने नये पितृपक्ष का आयोजन किया है। मृतकों के लिए जलदान देना, मुरदों का दाह करना आदि आपकी कृपा से इतना अधिक हो गया है कि लगता है कि नया पितृपक्ष आ गया हो। आपका भला हो। आप बलि (कर) वसूल करें। आप जजिया से पुष्ट हों। आप 'बलिपुष्ट' हैं। पितृपक्ष में कौओं को इतना अधिक खाद्य मिलता है कि वे पुष्ट, पीन हो जाते हैं इसीलिए उन्हें 'बलिपुष्ट' कहा जाता है। अच्छा है इस अभिनव पितृपक्ष में आप अभिनव 'बलिपुष्ट' बनें। जजिया-ग्रहण से आपका

कल्याण हो। दुष्टों के लिए दुर्दैव भी अनुकूल ही हो जाता है। हिन्दुओं के यहाँ विपत्ति भी पड़े तो आपका कल्याण ही है ॥ ९८ ॥

न राजसिंहे बलनिग्रहेण किं करग्रहायोत्सहसे परस्वमुट्।
कृशाऽपि तेषां करवालिका न किं भवादृशानां मुखमुद्रणे क्षमा ॥ ९९ ॥

परस्वमुट्, बलनिग्रहेण करग्रहाय राजसिंहे किं न उत्सहसे, कृशा अपि तेषां करवालिका भवादृशानां मुखमुद्रणे किं न क्षमा ? ॥ ९९ ॥

दूसरों के धन को चुरानेवाले, यदि शक्ति और साहस का गर्व है तो बलप्रयोग द्वारा मेवाड़नरेश महाराज राजसिंह से क्यों नहीं जजिया वसूल करते। माना कि उनकी तलवार कुछ दुर्बल है फिर भी आप जैसे उद्दण्डों का मुँह बन्द करने के लिए अब भी समर्थ है। दरिद्र, शक्तिहीन जनता को आतंकित करने से क्या लाभ। राजसिंह से ही भिड़ो तो कुछ मालूम भी हो ॥ ९९ ॥

पतत्प्रकर्षोऽपि तवानिशाऽशनिप्रहारभिन्नावयवो जरन्मते।
न राज्यशाखी पतितोऽवनौ यदि परं प्रभावोऽक्कबरस्य तत् ध्रुवम् ॥१००॥

जरन्मते, तव अनिशाशनिप्रहारभिन्नावयवः पतत्प्रकर्षः अपि राज्यशाखी यदि अवनौ न पतितः ध्रुवं तत् अक्कबरस्य परं प्रभावः ॥ १०० ॥

दिल्लीपते, यह मुगल साम्राज्य एक महान् वृक्ष के समान है। अब इसका प्रभाव आपके शासन में क्रमशः कम होता जा रहा है। किन्तु सबसे बढ़कर चिन्ता का विषय है आपका असम्बद्ध दम्भपूर्ण पाखण्ड, आप निरन्तर अपने वज्रप्रहार से इसको क्षत-विक्षत कर रहे हैं। आपका प्रत्येक अविचारित दुर्व्यवस्थित कार्य इसे समाप्ति की ओर ले जा रहा है। आपको आश्चर्य होगा कि यदि ऐसा ही है तो यह पृथ्वी पर क्यों नहीं गिर पड़ता। निश्चय ही यह सम्राट् अकबर के पुण्य का प्रभाव है जिससे यह अभी तक बचा हुआ है ॥ १०० ॥

अकिञ्चनेनापि मया तव स्थितिः प्रकल्प्य राज्यं नृपताजुषाऽऽदृता।
त्वयापि मानुष्यपथार्हगौरवो ममोद्यमोऽयं धरणीश रक्ष्यताम् ॥१०१॥

अकिञ्चनेन अपि राज्यं प्रकल्प्य नृपताजुषा मया तव स्थितिः आदृता, धरणीश, त्वया अपि मानुष्यपथार्हगौरवः मम अयम् उद्यमः रक्ष्यताम् ॥ १०१ ॥

बादशाह सलामत, मैं एक अकिञ्चन सामान्य प्राणी था किन्तु आपकी स्थिति (नृपत्व) का आदर करने के लिए ही मैंने राज्यनिर्माण किया, स्वयं राजा बना—यह केवल आपकी प्रतिष्ठा के लिए ही किया। अब मैंने जजिया के सम्बन्ध में यह पत्र लिखा है। उचित है कि आप भी मानवीय भावना का आदर करते

---

१. राजसिंहः—मेवाड़नृपः हृदयशंकुरिव दिल्लीपतेः। अस्यैव शरणमागतो दिल्लीपतेः पुत्रः शरणार्थी।

हुए मेरे इस उद्यम की रक्षा करें। मेरे अनुरोध को मानकर 'जजिया' रूपी अपकर्म से विरत हो जायँ ॥ १०१ ॥

पुरा यथाशीविषभीतिशङ्कया फणामवेक्ष्यैव जडीकृता अपि ।
ध्रुवं जनाः डुण्डुभसत्त्ववर्तिनः तवाद्य याथार्थ्यविदो न बिभ्यति ॥१०२॥

पुरा यथा आशीविषभीतिशङ्कया फणाम् एव अवेक्ष्य जडीकृताः अपि अद्य डुण्डुभसत्त्ववर्तिनः तव याथार्थ्यविदः जनाः ध्रुवं न विभ्यति ॥ १०२ ॥

एक निवेदन और है। मैं चाहूँगा कि आप अपनी वास्तविक स्थिति से अनभिज्ञ न रहें।

किसी भयंकर विषधर को देखकर उसके भय से आतंकित होकर जिस प्रकार लोग कुण्ठित, जड़ हो जाते हैं, कुछ वैसे ही परम्परावशात् जनता भी आपको देखकर आतंकित हो जाती थी। केवल फन देखकर ही संस्कारवश 'यह विषधर है' ऐसा मान गयी थी। किन्तु अब जनता जान गयी है कि आप विषधर नहीं, केवल डोड़हा सर्प हैं जो ऊपर से भीषण प्रतीत होता हुआ भी निर्वीर्य, निस्सत्त्व होता है। इस याथार्थ्य ज्ञान के कारण, आपकी शक्ति को भलीभाँति जान लेनेवाली प्रजा अब आपसे भयभीत नहीं है। वह जानती है कि आप निस्तत्त्व हैं ॥ १०२ ॥

निषेविताऽऽरब्यमरुत्तपत्पथाः पयोधिशूरैर्लुठिता मुहुर्मुहुः ।
निरस्तपाथेयजडा सदाशिषा क्षमाबलं ते द्रढयन्ति तीर्थगाः ॥१०३॥

निषेविताऽऽरब्यमरुत्तपत्पथाः पयोधिशूरैः मुहुर्मुहुः लुठिता निरस्तपाथेयजडाः तीर्थगाः आशिषा सदा ते क्षमाबलं द्रढयन्ति ॥ १०३ ॥

पवित्र स्थानों, मक्का शरीफ आदि स्थानों की यात्रा के सन्दर्भ में अरब की तपती हुई रेगिस्तानी यात्रावाले तीर्थयात्री मार्ग में जलदस्युओं, पुर्तगालियों द्वारा लूटे जाने के कारण, असहाय होकर आशीर्वाद द्वारा आपके क्षमाबल की, सहनशीलता की प्रशंसा किया करते हैं।

यदि सचमुच आपको स्वधर्म में विश्वास है तथा शक्ति का दर्प है तो उन आततायी जलदस्युओं को दण्ड देकर तीर्थयात्रा (हज) को निरापद बनाइये ॥१०३॥

अरक्षितान् गौडभुवः प्रजाजनान् विदेश्यजाल्मा बलिपुष्ट निर्दयम् ।
हठात् क्षिपन्तो व्यसने पशूनिव ह्रियं रुषं वा जनयन्ति किं त्वयि ॥१०४॥

बलिपुष्टः, गौडभुवः अरक्षितान् प्रजाजनान् पशून् इव विदेश्यजाल्माः निर्दयं व्यसने हठात् क्षिपन्तः त्वयि ह्रियं रुषं वा जनयन्ति किम् ? ॥ १०४ ॥

[मुगल शासन में बंगाल आदि उपेक्षित प्रान्त थे। यद्यपि वे शासन के अधिकार में थे तथापि दूरी एवं घनघोर वृष्टि आदि कठिनाइयों के कारण उसपर

अपेक्षित ध्यान नहीं दिया जाता था। पुर्तगालनिवासी मुस्लिम जनता या शासन के विरुद्ध ही रहते थे। यह उनका पुराना वैर था, सैकड़ों वर्षों का था। फलतः अवसर देखकर वे लोगों को सताया करते थे, ईसाई बनाना, लूट लेना, हत्या कर देना सामान्य घटना थी।]

गौड़ देश में (बंगाल में) विदेशी आततायी अरक्षित प्रजाजन को अनेक प्रकार से पीड़ित करते हैं, ईसाई बनाते हैं, निरन्तर कोठियों के आस-पास की जनता पर अत्याचार करते हैं। आप तो 'बलिपुष्ट' हैं, करग्रहण से पुष्ट हो रहे हैं। क्या उन दुष्टों से प्रजा की रक्षा करना आपके शासन का कर्तव्य नहीं है ? ये घटनायें आपके हृदय में लज्जा या क्रोध उत्पन्न करती हैं या नहीं ॥ १०४ ॥

मया बलादाहरताऽपि सूरते तव स्थितिं नैगमसम्पदा सह।
प्रकाश्य दिल्लीबलचित्रसिंहतां चिकित्सिता मोघभयातुरा विशः ॥१०५॥

सूरते अपि नैगमसम्पदासह तव स्थितिम् बलात् आहरता मया दिल्लीबलचित्रसिंहतां प्रकाश्य मोघभयातुराः विशः चिकित्सिताः ॥ १०५ ॥

मैंने स्वयं बलपूर्वक सूरत में आपकी स्थिति के साथ ही व्यापारियों की सम्पत्ति को छीनकर दिल्ली सल्तनत की चित्रसिंहता, शक्तिहीनता (कागजी शेर) को स्पष्ट प्रमाणित कर दिया। इस प्रकार व्यापारी-वर्ग पर दिल्ली के मिथ्या आतंक-राज को समाप्त कर दिया। व्यापारियों को अच्छी तरह ज्ञात हो गया कि संकट के समय दिल्ली का भरोसा करना निरा पागलपन है ॥ १०५ ॥

भृतिं गृहीत्वाऽपि समुज्झितोद्यमो वपुर्धरो दण्डभयैर्विशोध्यते।
करग्रहीता परिरक्षणाक्षमो नृपोऽपि किं वञ्चयितुं प्रभुं प्रभुः ॥१०६॥

भृतिं गृहीत्वा अपि समुज्झितोद्यमः वपुर्धरः दण्डभयैः विशोध्यते, करग्रहीता परि-रक्षणाक्षमः नृपः अपि प्रभुं वञ्चयितुं प्रभुः किम् ॥ १०६ ॥

यदि कोई व्यक्ति वेतन लेकर भी कर्तव्य पालन न करे तो वह दण्डनीय होता है, दण्डद्वारा उसका शोधन किया जाता है। किन्तु टैक्स (कर) लेकर भी यदि राजा प्रजा की रक्षा न करे, रक्षा करने में असमर्थ हो तो क्या अपने दण्डविधान की अवहेलना करके वह ईश्वर को भी ठग लेगा, ईश्वर को धोखा देकर दण्ड से बच जायेगा ?

नियमपालन से नियामक बच नहीं सकता। यदि नियामक स्वयं ही अपने नियमों का उल्लंघन करता है तो वह द्विगुण अपराध करता है। प्रथम तो वह कर्तव्य-हीनता का अपराधी है ही, दूसरे नियम तोड़ने के कारण वह परोक्ष सत्ता ईश्वर का भी अपराधी ही है ॥ १०६ ॥

विभर्तु शक्त्या स्वपथाग्रहं जनो महीयसी सा प्रथिता तथापि धीः।
जने प्रयातेऽपि तदीयपद्धतिर्निषेव्यते बुद्धिपरिष्कृता यदि ॥१०७॥

जनः स्वपथाग्रहं शक्त्या बिभर्तु तथापि सा धीः महीयसी प्रथिता, जने प्रयाते अपि यदि बुद्धिपरिष्कृता तदीयपद्धतिः निषेव्यते ॥ १०७ ॥

मनुष्य अपने जीवन, विशेषतः शक्तिपूर्ण जीवन में अपने मार्ग के प्रति, धारणा या दुराग्रह के प्रति जितना चाहे प्रयत्न करे, उसे लोकजीवन में सहज भाव से प्रतिष्ठित करने के लिए चेष्टा करे किन्तु यह चेष्टा दीर्घकालिक या शाश्वत न हो सकेगी। कारण यह है कि मनुष्य विवेकशील प्राणी है, वह बुद्धि की, विवेक की प्रतिष्ठा करता है तथा बुद्धियुक्त, विवेकपूर्ण कार्यों, धारणाओं को ही महत्त्व देता है। अत्यन्त ही शक्तिशाली सम्राट् भी अपने दुराग्रह को केवल अपने जीवन में ही तथा अपने राज्य के भीतर ही दण्डभय से प्रचारित कर सकता है किन्तु उसके परलोकवासी हो जाने पर उसके मूर्खतापूर्ण प्रबन्धों को भी लोकान्तरवासी ही होना पड़ेगा। यदि कोई धारणा या कृत्य विवेक पर आधारित हो, लोकोपयोगी हो तो प्रवर्तक के दिवङ्गत हो जाने पर भी वह समाज में प्रचलित रहता हैं, प्रतिष्ठित रहता है। अतः दिल्लीश्वर, आपकी इन दुराग्रहपूर्ण धारणाओं का कोई भविष्य नहीं है, आपके साथ ही ये समाप्त हो जायेंगो ॥ १०७ ॥

अतीतलेखं पठतां महीपते दुराग्रहस्यावसरः क्व चेतसि।
महौजसः के न कृपाणशासना धिगेकशेषा जगताऽद्य विस्मृताः ॥१०८॥

महीपते, अतीतलेखं पठतां चेतसि दुराग्रहस्य अवसरः क्व, कृपाणशासनाः के महौजसः अद्य जगता धिगेकशेषाः न विस्मृताः ॥१०८ ॥

बादशाह सलामत! दुराग्रह, हठमूलक धारणा, मनमाना आचरण या स्वैराचार केवल उन्हीं लोगों के हृदय में प्रतिष्ठित होता है, फलता-फूलता है जो स्मृतिभ्रष्ट होते हैं, अन्धे होते हैं, बहरे होते हैं, जो न तो अतीत की चेतावनी को पढ़ते हैं, न सुनते हैं, न धारण करने की क्षमता रखते हैं। अतीत के लेख को, इतिहास की घटनाओं को पढ़नेवाले व्यक्ति के हृदय में दुराग्रह के लिए स्थान ही नहीं हो सकता। बड़े-बड़े शक्तिशाली, तलवार के धनी शासक संसार में आये। उनके भय से पत्ता तक नहीं खड़कता था, पर उन्हें भी जाना ही पड़ा। आज दुनिया उन्हें भूल सी गयी है। उनके लिए, उनकी स्मृति में दुनिया के पास एक, केवल एक ही शब्द शेष है और वह है 'धिक्कार'। संसार उन्हें धिक्कारता है (अतः क्या यह अच्छा न होगा कि आप मनुष्योचित आचरण द्वारा इस धिक्कार से बचने की चेष्टा करें) ॥ १०८ ॥

जगद्भवत्पूर्वमवर्ततैव तद् ध्रुवं भवत्यस्तमितेऽपि वर्तताम्।
भविष्यपृष्ठे दुरिताङ्कसन्निभां निजस्मृतिं किन्तु नरेश! मा लिख ॥१०९॥

नरेश, भवत्पूर्वं तत् जगत् अवर्तत एव भवति अस्तमिते अपि ध्रुवं वर्ततां किन्तु भविष्यपृष्ठे दुरिताङ्कसन्निभां निजस्मृतिं मा लिख ॥ १०९ ॥

राजन्, यह दुनिया आपके उत्पन्न होने के पहिले भी ऐसी ही थी, यही नदी-नाले, वन-पर्वत तब भी थे और जब आप इसे छोड़कर चले जायेंगे तब यह ऐसे ही रहेगी—न तो सूरज बदलेगा और न तो सितारे ही लुप्त हो जायेंगे। स्पष्ट है कि आपके आने-जाने से इस संसार-चक्र में कोई विशेष परिवर्तन होनेवाला नहीं है। अतः आप एक कृपा करें। भविष्य के पृष्ठों पर बदनसीब अभागे चिह्न (चित्र) बनकर आप अपनी स्मृति को न छोड़ें। इतिहास आपके काले कारनामों के कारण आपको क्षमा नहीं करेगा और आपको एक समाजशत्रु, दुर्भाग्यपूर्ण व्यक्ति के रूप में स्मरण करेगा। आप यदि इससे बच सकें तो आपके लिए तथा इस युग के लिए भी श्रेयस्कर होगा॥ १०९॥

विहाय शब्दं स्वभुवं महस्कराः प्रयान्ति भावा मनसः परावधिम्।
ऋतोऽर्थसिद्धाः परिणामदृष्टयश्चलन्ति नैवाभिधयाऽप्यकान्तया॥११०॥

स्वभुवं शब्दं विहाय महस्कराः भावाः मनसः परावधिं यान्ति अतः अर्थसिद्धाः परिणामदृष्टयः अकान्तया अभिधया अपि न एव चलन्ति॥ ११०॥

माननीय दिल्लीपते, कहीं-कहीं मेरे इस प्रार्थनापत्र में कटूक्तियों, व्यङ्ग्य, उपालम्भ, उद्दण्डता आदि का प्रयोग मिलेगा किन्तु ये प्रकारान्तर से आपके कल्याण के प्रति मेरी आस्था को ही स्पष्ट करने के लिए हैं। मैं हृदय से चाहता हूँ कि आप उत्तम मार्ग का आश्रय लेकर यशस्वी बनें। अतः यदि किन्हीं उक्तियों से कष्ट हो तो कृपया क्षमा करें। विश्वास करें, आपके प्रति मेरा स्नेह ही अपराधी है।

शब्द अर्थ के वाहन हैं, भाव की प्रसवस्थली हैं, शब्दों द्वारा प्रयुक्त होकर भी भाव शब्द को छोड़कर आगे बढ़ जाते हैं, मन के अन्तिम छोर को छू लेते हैं, अपनी प्रभा से हृदय देश को आच्छादित कर लेते हैं, शब्द तो साधन स्थानीय हैं। यही कारण है कि विद्वान् व्यक्ति अर्थ-भावादि को, तद्गत परिणाम को शब्द से अधिक महत्त्व देता है और असुन्दर, कटु शब्दावली को भी भावार्थ की महत्ता के सम्मुख गौण मानकर उसे क्षमा कर देता है। आप भी अर्थग्रहण एवं परिणाम-दृष्टि का आदर करते हुए मेरी अप्रिय उक्तियों को क्षमा करें, उनसे उद्विग्न न होकर मेरी प्रार्थना का सम्मान करें॥ ११०॥

स्वराज्यलक्ष्म्याः प्रणयाय भूपते स्वकीर्तिदेहस्य निरामयाय च।
अनेन पत्रेण दुरन्तकापथं जगद्वनं साधु निषेवतामिह॥१११॥

भूपते, स्वराज्यलक्ष्म्याः प्रणयाय स्वकीर्तिदेहस्य निरामयाय च अनेन पत्रेण दुरन्तकापथं जगद्वनम् इह साधु निषेवताम्॥ १११॥

बादशाह, मेरी शुभाशंसा है कि अपनी राजलक्ष्मी में अधिकाधिक स्नेह करने के लिए तथा अपने यशःशरीर को सब प्रकार से नीरोग रखने के लिए आप मेरे इस प्रार्थनापत्र के द्वारा इस भयंकर ऊबड़-खाबड़ रास्तोंवाले संसार-कानन में अच्छे मार्गों के अवलम्बन द्वारा अभीष्ट सिद्धि प्राप्त करें॥ १११॥

आद्योद्घोषैर्द्विजानाममृतकलवतां मन्दवातप्रवाहै-
व्योम्नाऽन्तर्गर्भधाम्ना यमनियमवतां ब्राह्मपद्यावधानैः ।
भूयो भूयोऽपयातुं तिमिरमुपदिशंश्चापि बद्धाग्रहं तद्
यः प्रातर्हन्ति देवः खरशरकिरणैस्तं शिवार्कं नतोऽस्मि ॥११२॥

यः देवः अमृतकलवतां द्विजानाम् आद्योद्घोषैः, मन्दवातप्रवाहैः, अन्तर्गर्भधाम्ना व्योम्ना, यमनियमवतां ब्राह्मपद्यावधानैः तत् बद्धाग्रहं तिमिरं भूयः भूयः अपयातुम् उपदिशन् च अपि प्रातः खरशरकिरणैः हन्ति तं शिवार्कं नतः अस्मि ॥ ११२ ॥

प्रातःकालीन कल्याणमय सूर्य को (शिवरूपी सूर्य को) मेरा नमस्कार है, अपने शत्रु अन्धकार का भी वे सहसा विनाश नहीं करते, उससे सर्वप्रकार से स्वयं मार्ग से हट जाने का अनुरोध करते हैं। जब वह किसी तरह भी मानने को, अपना दुराग्रहपूर्ण-हठ छोड़ने को तैयार नहीं होता, तभी अपनी बाणों के समान तीव्र, तीखी किरणों से उसे विनष्ट कर डालते हैं। पहले तो (प्रातः, सूर्योदय से पूर्व) अमृत, कलस्वनवाले पक्षियों के मधुर कूजित से, फिर ब्राह्मकालीन मन्द-पवन के प्रवाह-पूर्ण सुखद स्पर्श से, अन्तःप्रभामण्डित आकाशमण्डल से, फिर ब्राह्मवेला में यम-नियम आदि दैनन्दिन कृत्य सम्पन्न करनेवाले महात्माओं, शुभाचारपूर्ण व्यक्तियों के उद्योग से बारम्बार अन्धकार को दूर जाने के लिए समझाकर, तब उसे दुराग्रह-ग्रस्त मानकर, प्रातःकाल अपनी तीखी किरणों से अन्धकार को विनष्ट कर देता है।

इस प्रकार के वन्दनीय आचरणवाले कल्याणमय सूर्य (शिवमय सूर्य) को नमस्कार है ॥ ११२ ॥

इति श्रीत्रिपाठ्युपाह्वेन उमाशङ्करशर्मणा विरचिते
क्षत्रपतिचरित-महाकाव्ये सप्तदशः सर्गः ।

अथाष्टादशः सर्गः

[इस सर्ग में क्षत्रपति का 'राज्याभिषेक' वर्ण्य विषय है। अतः आरम्भ में स्पष्ट किया गया है कि राज्याभिषेक की अनिवार्यता क्यों प्रतीत हुई तथा उपस्थित बाधाओं का किस प्रकार उपशमन किया गया—]

अथ प्रतीक्षोत्सुकचित्तगर्भा स्वराज्यसङ्कल्पवतां शुभाशा।
शिवेऽमरद्रौ द्विजलोकजुष्टे ननन्द लब्धुं द्रुतमिष्टदोहम् ॥ १ ॥

अथ प्रतीक्षोत्सुकचित्तगर्भा स्वराज्यसङ्कल्पवतां शुभाशाद्विजलोकजुष्टे अमरद्रौ शिवे द्रुतम् इष्टदोहं लब्धुं ननन्द ॥ १ ॥

भारत में 'स्वराज्य' का संकल्प लेनेवाले प्राणियों के प्रतीक्षापूर्ण उत्कण्ठित हृदय की कल्याणी आशा ने ब्राह्मणों द्वारा प्रशंसित एवं सम्मानित धर्मशील, मनोरथ पूर्ण करने में कल्पवृक्ष के समान उदार यशस्वी महाराज क्षत्रपति में अपने मनोरथ को (स्वराज्य को) सफल करना चाहा। [जन मानस ने क्षत्रपति को सिंहासनारूढ़ देखकर अपने स्वराज्य-स्वप्न को चरितार्थ करना चाहा।] ॥ १ ॥

हुताशसाक्ष्येन विनाऽपि रागान्नृपाङ्कभोगोत्सवमण्डितात्मा।
जनप्रवादासहना नृपश्री राज्याभिषेकाय शिवं नुनोद ॥ २ ॥

हुताशसाक्ष्येन विना अपि रागात् नृपाङ्कभोगोत्सवमण्डितात्मा नृपश्रीः जनप्रवादासहना (सती) शिवं राज्याभिषेकाय नुनोद ॥ २ ॥

अग्निसाक्ष्य (विधिपूर्वक पाणिग्रहण संस्कार) के बिना भी प्रेम-परवशता के कारण राजा की गोद में बैठकर दिव्य भोगोल्लास से स्निग्ध परितुष्ट हृदयवाली राज्यलक्ष्मी जनप्रवाद को (बिना विधिवत् संस्कार हुए ही राजभोग कर रही है) प्रजाजनों के बीच विविध आलोचनात्मक आक्षेपों को न सह सकी। अतः जन-मानस को शान्त करने की इच्छा से राजलक्ष्मी ने क्षत्रपति को राज्यभिषेक के लिए प्रेरित किया ॥ २ ॥

समानगोत्रस्थितिपुण्यभाजः प्रायः स्वभावस्खलनात् परोक्षम्।
असंयतोक्तिव्यवहारदोषाज्जनेशखेदाय जना बभूवुः ॥ ३ ॥

समानगोत्रस्थितिपुण्यभाजः जनाः प्रायः परोक्षं स्वभावस्खलनात् असंयतोक्तिव्यवहारदोषात् जनेशखेदाय बभूवुः ॥ ३ ॥

क्षत्रपति के समान कुल में उत्पन्न होने के पुण्यवाले, भाग्यशाली प्राणी, बातचीत के दौरान बहक जाने के कारण असावधानीवश, परोक्ष में कुछ ऐसी उलटी-पुलटी, असंयत बातें कह बैठते थे कि वीर शिवराज को उन बातों से खेद

होता था। [लोग समानता का अधिकार जताते थे तथा अभिषिक्त हुए बिना उन्हें राजा स्वीकार करने को तैयार नहीं थे।] ॥ ३ ॥

अजस्रयुद्धोद्यमकीर्तितेऽपि बलाधिपे को नृपताभिमानः।
दृषत्समूहोच्चयमण्डितेऽपि न गण्डशैले हिमवत्प्रतिष्ठा ॥ ४ ॥

अजस्रयुद्धोद्यमकीर्तिते अपि बलाधिपे कः नृपताभिमानः ? दृषत्समूहोच्चयमण्डिते अपि गण्डशैले हिमवत्प्रतिष्ठा न ॥ ४ ॥

क्षत्रपति के जाति बान्धव प्रायः कहा करते थे—

सही है कि वीर शिवराज निरन्तर युद्ध में यश प्राप्त करते रहे हैं किन्तु इसीलिए वे मूर्धाभिषिक्त राजा तो नहीं कहला सकते, वे एक वीर पराक्रमी सेनापति हैं। यदि पत्थरों का समूह ही एकत्र कर दिया जाय तो क्या किसी गण्डशैल (पहाड़ों की तलहटी में बिखरे हुए पाषाण-खण्डों के समूह) को हिमालय का गौरव दिया जायेगा ॥ ४ ॥

विदेश्यभूपालतिरस्कृतास्ते महोद्यमार्याधिपसख्यकामाः।
प्रतीयुरार्यावनिपा न लक्ष्मीं शिवाश्रितां चापलदोषमुक्ताम् ॥ ५ ॥

महोद्यमार्याधिपसख्यकामाः विदेश्यभूपालतिरस्कृताः ते आर्यावनिपाः शिवाश्रितां लक्ष्मीं चापलदोषमुक्तां न प्रतीयुः ॥ ५ ॥

भारतीय नृपगण प्रायः विदेशियों (मुसलमानों) से युद्ध में साधनहीनता या प्रवंचना के अभाव से पराजित, तिरस्कृत होते थे। उनकी इच्छा थी कि कोई भारतीय प्रतापी पराक्रमी नरेश, उनके पक्ष का समर्थन करता। वे शिवराज के उत्कर्ष को जानते थे। किन्तु उनको विश्वास ही नहीं हो पाता था कि शिवराज का शासन स्थायी रहेगा। उनको संशय था कि शिवराज मूर्धाभिषिक्त नहीं हैं अतः उनकी राजलक्ष्मी कभी भी उन्हें त्याग सकती है ॥ ५ ॥

ध्रुवं प्रजा वारविलासिनीव नष्टैव सामान्यजनोपभुक्ता।
शिवे रतानित्थमधिक्षिपन्ती प्रतीपभूपप्रकृतिर्जहास ॥ ६ ॥

सामान्यजनोपभुक्ता वारविलासिनी इव ध्रुवं प्रजा नष्टा एव। इत्थं शिवे रतान् अधिक्षिपन्ती प्रतीपभूपप्रकृतिः जहास ॥ ६ ॥

शत्रु राजाओं, बादशाहों की प्रजा भी शिवराज में अनुरक्त प्रजाजनों का उपहास किया करती थी। उनके अनुसार शिवराज मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा तो थे नहीं, वे तो एक सामान्य जागीरदार के पुत्र थे, अपनी शक्ति से आगे बढ़े थे, फिर राजा तो नहीं ही थे। अतः जिस प्रकार वारवधू का कोई सामान्य व्यक्ति भी उपभोग कर सकता है उसी प्रकार सामान्य जन (शिवराज) से उपभुक्त (शासित) प्रजा भी है। शिवप्रजा खानदानी राजाओं की प्रजा की समता नहीं कर सकती ॥६॥

अशाणसंस्कारपरिष्कृतेऽपि तस्मिन् मणौ दीपितसर्ववर्णे ।
परम्परा रत्नविदां न मेने स्वराज्यलक्ष्मीस्तनचुम्बि पुण्यम् ॥ ७ ॥

अशाणसंस्कारपरिष्कृते अपि दीपितसर्ववर्णे तस्मिन् मणौ रत्नविदां परम्परा स्वराज्यलक्ष्मीस्तनचुम्बि पुण्यं न मेने ॥ ७ ॥

क्षत्रपति एक ऐसे मणि थे जो खराद पर, शान पर चढ़ाया नहीं गया था, फिर भी उसकी प्रभा प्रत्येक रूप-रंग को, वर्ण को, अपने प्रकाश से प्रकाशित कर रही थी। किन्तु रत्नपारखी, जौहरियों की मण्डली यह मानने को तैयार नहीं थी कि वह मणि भी स्वराज्यलक्ष्मी के स्तनों पर खेलने का, रहने का पुण्य रखता था। यदि हार में मणि गूँथ दिया जाय तो वह स्तन से सम्बन्ध प्राप्त करेगा ही। अतः शिवाजी का राज्यारोहण विधिपूर्वक न होने से भारतीय समाज, उनके अनेक उत्कृष्ट गुणों के होते हुए भी उन्हें राजलक्ष्मी को भोगने का अधिकारी नहीं समझता था। अतः राजतिलक अनिवार्य सा हो चला था ॥ ७ ॥

वर्त्माकुलोऽपि श्रुतिवर्त्मगोप्ता मुक्तस्पृहोऽपि त्रिदिवेशभूतिः ।
स्वप्नेऽपि नाऽसौ विधिविप्रतीपं सेहेऽभिषेकं स्वकृते नरेन्द्रः ॥ ८ ॥

वर्त्माकुलः अपि श्रुतिवर्त्मगोप्ता मुक्तस्पृहः अपि त्रिदिवेशभूतिः स्वप्ने अपि असौ नरेन्द्रः विधिविप्रतीपम् अभिषेकं स्वकृते न सेहे ॥ ८ ॥

किन्तु क्षत्रपति परम मनस्वी थे। वे अपने लिए किसी तरह भी शास्त्रमर्यादा का उल्लंघन स्वीकार नहीं कर सकते थे। यद्यपि उनका मार्ग बाधाओं से भरा था पर वे वेदमार्ग, शास्त्रीय मार्ग के प्रतिष्ठाता थे। वे स्पृहारहित थे फिर भी देवलोक के वैभव के स्वामी थे। किन्तु शास्त्रविरुद्ध राज्याभिषेक उन्हें स्वीकार नहीं था ॥ ८ ॥

सदाग्रहः किन्तु विवेकभाजां तद्विघ्नमालोच्य मनोरथघ्नम् ।
द्रुतं प्रपेदे विचिकित्सितुं तत् सम्मर्शिनो ज्ञाननिरस्तपङ्कान् ॥ ९ ॥

किन्तु मनोरथघ्नं तद्विघ्नम् आलोच्य विवेकभाजां सदाग्रहः तत् विचिकित्सितुं ज्ञाननिरस्तपङ्कान् सम्मर्शिनः द्रुतं प्रपेदे ॥ ९ ॥

किन्तु क्षत्रपति को भले ही राज्याभिषेक की चिन्ता न हो देश का विवेकशील समाज तत्पर था, राजतिलक में शास्त्र का अनुमोदन आवश्यक था। अतः अमर्यादारूपी, मनोरथ-निरोधक विघ्न को दूर करने के लिए वे निष्पाप, विद्यातीर्थ, शास्त्रीय विद्वानों की शरण में पहुँचे ॥ ९ ॥

क्रमेण याथार्थ्यनिबोधिनीव वार्ताऽऽतुरेवाऽऽप्तुमनामयत्वम् ।
विद्यामहातीर्थवतां समूहे वाराणसीमप्यगमच्छिवेष्टाम् ॥ १० ॥

क्रमेण अनामयत्वम् आप्तुम् आतुरा इव विद्यामहातीर्थवतां समूहे याथार्थ्यनिबोधिनो इव (सा) वार्ता शिवेष्टां वाराणसीम् अगमत् ॥ १० ॥

धीरे-धीरे यह वार्ता (शिवराज का राजतिलक शास्त्रसम्मत है या नहीं) किसी रोगी के समान रोगमुक्ति प्राप्त करने के लिए, भगवान् शिव की प्यारी वाराणसी में विद्या के महान् तीर्थस्वरूप विद्वानों की सभा में पहुँची। [वाराणसी के विद्वानों के सामने प्रश्न था कि महाराज क्षत्रपति का शास्त्रीय विधि से राज्याभिषेक हो सकता है या नहीं, अर्थात् क्षत्रपति क्षत्रिय हैं या नहीं, यदि क्षत्रिय हैं तो उनका अधिकार सहज ही हो जायेगा।] ॥ १० ॥

विश्वेश्वराम्भोजपदैकवृत्तेर्विश्वेश्वरस्य[1] श्रुतिवर्त्मधाम्नः ।
प्रभेव सूर्यस्य तमो निहन्तुमृतम्भरा गीरनघा जुघूषे ॥ ११ ॥

विश्वेश्वराम्भोजपदैकवृत्तेः श्रुतिवर्त्मधाम्नः विश्वेश्वरस्य ऋतम्भरा अनघा गीः सूर्यस्य प्रभा इव तमः निहन्तुं जुघूर्षे ॥ ११ ॥

विश्वेश्वर भगवान् शंकर के पदकमल की सेवा को ही अपना सर्वस्व समझनेवाले वेदशास्त्रों के मूर्धन्य विद्वान् विश्वेश्वर आचार्य (गागा भट्ट) की निष्पाप संशयरहित वाणी, सूर्य की प्रभा के समान अन्धकार का विनाश करने के लिए उद्घोषित हुई ॥ ११ ॥

जयत्वनात्मप्रभवान्धकारप्रबन्धभित् सद्वसतिः सुविद्या ।
या नीरपूरादसतोऽप्यभीता क्षीरं यथा विन्दति सत्पदार्थम् ॥ १२ ॥

अनात्मप्रभवान्धकारप्रबन्धभित् सद्वसतिः सुविद्या जयतु या असतः नीरपूरात् अपि अभीता क्षीरं यथा सत्पदार्थं विन्दति ॥ १२ ॥

अनात्ममूलक अज्ञान के प्रपञ्च को नष्ट करनेवाली सत्तात्मिका सुविद्या की जय हो। वह सुविद्या (ज्ञान) अन्धकाररूपी जलसमूह से निर्भयतापूर्वक सत् पदार्थ को दूध के समान ग्रहण कर लेती है। हंस का नीर क्षीर विवेक प्रसिद्ध हैं, ज्ञानी को इसीलिए हंस कहा जाता है वह असत् से सत् का ग्रहण उसी तरह करता है जैसे हंस नीर से क्षीर का ॥ १२ ॥

आसेचनं स्निग्धमयूखजालं पङ्कात् सुरत्नं यदि नाम लोकः ।
समुत्सुकोऽप्युत्सहते न नेतुं तन्निश्चितं रत्नविदामपुण्यम् ॥ १३ ॥

आसेचनं स्निग्धमयूखजालं सुरत्नं नाम यदि समुत्सुकः अपि लोकः पङ्कात् नेतुं न उत्सहते तत् निश्चितं रत्नविदाम् अपुण्यम् ॥ १३ ॥

---

१. विश्वेश्वरभट्टः (गागाभट्टः) विदुषाम्मूर्धन्यो निखिलवेदवेदाङ्गपारगः अधीती षट्शास्त्रेषु, पण्डितमण्डलोमण्डनः। तदानीं काश्यां भारते वा कोऽपि तादृशः तीर्थकल्पः विद्वानां नासीत्।

परम स्निग्ध प्रभामण्डल से दीपित, नेत्रों के लिए अतिशय मनोहर रत्न को कीचड़ में पड़ा हुआ देखकर, उत्सुक होता हुआ भी समाज यदि उसे ग्रहण करने में उत्साहित नहीं होता तो निश्चय ही रत्नपारखी, जौहरी-समाज का परमदुर्भाग्य है कि वह रत्न को रत्न कहना भी नहीं चाहता। आशय यह है कि क्षत्रपति रत्न हैं। यह पारखियों की ही मूर्खता है कि रत्न का उचित मूल्यांकन एवं तदनुसार प्रतिष्ठा भी नहीं कर सकते। (यह श्लोक अपने पूर्ववर्ती श्लोक (७) का बड़ा ही समुचित युक्तिपुरस्सर उत्तर है।) ॥ १३ ॥

बिभर्तु सामान्यविधौ स्वरागं परम्परा प्राकृतबोधभूमिः।
यस्मात् स्वयं सा लभते स्वरूपं तस्याः प्रमाणं किमपेक्षते सः ॥ १४ ॥

प्राकृतबोधभूमिः परम्परा सामान्यविधौ स्वरागं बिभर्तु। स्वयं सा यस्मात् स्वरूपं लभते सः तस्याः प्रमाणम् अपेक्षते किम् ॥ १४ ॥

शास्त्र, परम्परा का अनुवर्ती नहीं है, परम्परा, शास्त्र की अनुवर्तिनी है। परम्परा लीक है (परं-परं—इति परम्परा, एक के बाद दूसरा एक ही दिशा में उसी ढंग से प्रवर्तित हो तो एक परम्परा बन जायेगी) अतः परम्परा, सामान्य बुद्धिवाले प्राणियों के लिए गति है। परम्परा, निर्मिति है, महान् व्यक्तियों के पद-चिह्नों से उत्पन्न हुई है अतः यह परम्परा उन्हीं महान् व्यक्तियों की नियामिका नहीं हो सकती। परम्परा का बन्धन क्षत्रपति के लिए नहीं है ॥ १४ ॥

युगान्तमेघस्तनितानुभावां यद्धुङ्कृतिं नागवरा निशम्य।
सवेपथुस्तब्धदृशः पतन्ति ससंशया तस्य मृगेन्द्रता किम् ॥ १५ ॥

युगान्तमेघस्तनितानुभावां यद्हुङ्कृतिं निशम्य नागवराः सवेपथुस्तब्धदृशः पतन्ति तस्य मृगेन्द्रता ससंशया किम् ? ॥ १५ ॥

युगान्तकालीन मेघगर्जन के समान जिसकी दहाड़ सुनकर महाबलवान् गजयूथप भी काँपते हुए भय से आँखों को बन्द कर पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं उसकी मृगेन्द्रता में भी सन्देह रह ही गया क्या ? पराक्रमी शत्रुओं को क्षण में परास्त कर देनेवाला क्षत्रपति यदि क्षत्रिय नहीं है तो क्या है ॥ १५ ॥

यद्रक्षिता वेदवती धरित्री यच्छासने शास्त्रपथोऽस्तबाधः।
राजन्यवर्णादपरा परा का तस्य प्रतिष्ठाऽवनिदेवभाजः ॥ १६ ॥

यद्रक्षिता धरित्री वेदवती यच्छासने अस्तबाधः शास्त्रपथः, अवनिदेवभाजः तस्य राजन्यवर्णात् अपरा का परा प्रतिष्ठा ? ॥ १६ ॥

जिनसे रक्षित होने के कारण आज पृथ्वी वेदवती है। जिसके शासन में शास्त्रमर्यादा विघ्नरहित है, उस ब्राह्मणकुल के सेवक पराक्रमी वीर की जाति राजन्य कुल (क्षत्रिय) के अतिरिक्त और क्या हो सकती है ॥ १६ ॥

सपत्ननिर्बन्धविलुण्ठितेऽस्मिन्नद्यापि देशे स्वकुलाभिमानः ।
विच्छिन्नशाखाप्रचयेऽपि चित्रं स्थाणौ सुपक्वाम्रफलप्रसक्तिः ॥ १७ ॥

अद्य अपि सपत्ननिर्बन्धविलुण्ठिते अस्मिन् देशे स्वकुलाभिमानः । चित्रं, विच्छिन्नशाखाप्रचये स्थाणौ अपि सुपक्वाम्रफलप्रसक्तिः ॥ १७ ॥

शत्रुओं द्वारा बे-रोक-टोक पैरों से ठुकराये गये इस देश में अब भी कुल-श्रेष्ठता, आभिजात्य-प्रतिष्ठा बाकी ही है? डालियों-टहनियों के काट देने के बाद बचे हुए ठूँठ में भी पका आम प्राप्त करने की स्पृहा बाकी ही रह गयी? गुलामों की कोई जाति नहीं होती, गुलाम गुलाम है, उसका कैसा देश, कैसा वेष? ॥ १७ ॥

वर्णः क्रिया जातिरथो स्वभावो द्विषत्पदस्थादपयान्ति देशात् ।
स्वस्थेषु यत्तेषु कदापि नैव स्वतन्त्रता तामवनिं जहाति ॥ १८ ॥

वर्णः, क्रिया, जातिः, अथो स्वभावः द्विषत्पदस्थात् देशात् अपयान्ति यत् स्वस्थेषु तेषु ताम् अवनिं कदापि स्वतन्त्रता न जहाति एव ॥ १८ ॥

शत्रु कुल द्वारा पददलित देश से वर्ण, कर्तव्य, जाति, स्वभाव आदि सभी गुण दूर चले जाते हैं, उस अभागे देश को त्याग देते हैं। कारण बड़ा स्पष्ट है, यदि किसी देश में ये गुण सचमुच विद्यमान हों, स्वरूप को समझते हों तो स्वतन्त्रता उस देशविशेष को छोड़कर दूर जा ही नहीं सकती। भारतीय गुलाम हैं यहीं उनका वर्ण जाति कर्तव्य एवं स्वभाव हैं इसके अतिरिक्त और सब असत्य है, विडम्बना है ॥ १८ ॥

पुरा शकाभीरकुषाणवीरावलुप्तवर्णाश्रमसत्प्रथा भूः ।
गुणस्वभावादिकषेण भूयस्तेने चतुर्वर्णवतीं व्यवस्थाम् ॥ १९ ॥

पुरा शकाभीरकुषाणवीरावलुप्तवर्णाश्रमसत्प्रथा भूः भूयः चतुर्वर्णवतीं व्यवस्थां गुण-स्वभावादिकषेण तेने ॥ १९ ॥

पूर्वकाल में इस देश में शक, आभीर, कुषाण आदि साहसी वीरों ने शस्त्रबल से इस देश की वर्णाश्रमव्यवस्था को मटियामेट कर डाला था। तब फिर से वर्ण एवं जातिनिर्णय के लिए, गुण-स्वभाव आदि को ही कसौटी मानकर चतुर्वर्ण एवं चतुराश्रम की पुनर्व्यवस्था की गयी ॥ १९ ॥

मिथःप्रतीपव्यवहारपद्यानेकैकमुद्युक्तविदेश्यवीराः ।
वृकोपमाः शस्त्रमानपीमानार्यावनीशानजयन् समीके ॥ २० ॥

वृकोपमाः उद्युक्तविदेश्यवीराः मिथःप्रतीपव्यवहारपद्यान् शस्त्रमान् अपि इमान् आर्यावनीशान् एकैकं समीके अजयन् ॥ २० ॥

आपस में शत्रुतापूर्ण व्यवहार रखनेवाले, युद्धवीर होते हुए भी द्वेषजर्जर इन भारतीय राजाओं में से एक-एक को अलग-अलग, भेड़ियों के समान कपटी, विदेशी आक्रामकों ने युद्ध में पराजित किया ॥ २० ॥

इमे महाराष्ट्रवरास्तु दैवात् स्वजीवसन्धामिव शौर्यकीर्तिम् ।
सपत्नसैन्यैर्विजितामवेक्ष्य जहुर्विदेहा इव जन्मभूमिम् ॥ २१ ॥

इमे महाराष्ट्रवराः तु दैवात् स्वजीवसन्धाम इव शौर्यकीर्तिं सपत्नसैन्यैः विजिताम् अवेक्ष्य विदेहाः इव जन्मभूमिं जहुः ॥ २१ ॥

महाराष्ट्र के ये श्रेष्ठ वीरोंने तो (शिवराज आदि के पूर्वज) दुर्भाग्यवश अपने प्राणों से भी श्लाघनीय शौर्ययश को शत्रुसेनाओं द्वारा पराजित देखकर जन्म भूमि को छोड़ दिया मानो इन्होंने ग्लानि से देह ही छोड़ दी हो (मर चुके हों) ॥ २१ ॥

पुरा सुरारातिदशास्यहन्ता रामोऽपि यस्मिन् समवाप जन्म ।
शाखेव तस्मात् प्रसृतप्रभावा [1]सिसोदिया मानधनाऽधुनाऽपि ॥ २२ ॥

पुरा सुरारातिदशास्यहन्ता रामः अपि यस्मिन् जन्म समवाप तस्मात् प्रसृतप्रभावा शाखा इव मानधना 'सिसोदिया' अधुना अपि (गीयते) ॥ २२ ॥

प्राचीन युग में देवशत्रु रावण का विनाश करनेवाले रामचन्द्रजी जिस कुल (सूर्य वंश) में उत्पन्न हुए थे उसी कुल की फैली हुयी प्रभाववाली शाखा 'सिसोदिया' आज भी अपनी मान-मर्यादा के लिए विख्यात है ॥ २२ ॥

श्रुतं न लोके सिकतासु तैलमिति प्रवादं परिहर्तुकामा ।
निश्शङ्करक्तं समरे क्षरन्ती यत्रारिकम्पं सिकता तनोति ॥ २३ ॥

सिकतासु तैलं न श्रुतम्' इति प्रवादं लोके परिहर्तुकामा यत्र समरे निश्शङ्करक्तं क्षरन्ती सिकता अरिकम्पं तनोति ॥ २३ ॥

'बालू से तेल नहीं निकलता'—संसार में सर्वत्र फैले हुए इस प्रवाद को, आक्षेप को दूर करने के लिए ही, जहाँ पर (जिस राजस्थान में) युद्ध में निर्भय रक्त-वर्षा करती हुई बालुका शत्रुओं के हृदय में कम्पन पैदा कर देती है ॥ २३ ॥

तां राजपुत्रप्रभवस्थलीं ते स्वजन्मदात्रीमिवजन्मदात्रीम् ।
हित्वा नदीशैलवनावरुद्धे दूरं महाराष्ट्रपदे निपेतुः ॥ २४ ॥

स्वजन्मदात्रीम् इव जन्मदात्रीं तां राजपुत्रप्रभवस्थलीं हित्वा ते दूरं नदीशैलवनावरुद्धे महाराष्ट्रपदे निपेतुः ॥ २४ ॥

---

१. सिसोदिया—राजपुत्राणां मेवाड़शासकानां कुलम् । बाप्पारावलः प्रथमो नृपो यस्मिन् तत्रैव कुले कुम्भ संग्रामसिंहः प्रतापश्च हिन्दुकुलसूर्यः जातः । सिसोदियावंशः सूर्यवंशप्रभव एव । विश्वेश्वरानुसारं शिवराजः सूर्यकुलभूषणः ।

राजपुत्रों को उत्पन्न करनेवाली अपनी माता के समान, जन्म देनेवाली उस आद्या मातृभूमि को छोड़कर, ये लोग, नदियों, पर्वतों एवं जंगलों से भरे सुदूर इस महाराष्ट्र भूमि में आकर बस गये ॥ २४ ॥

भुवः प्रतिष्ठा महितैव पूर्वैः शास्त्रस्य शस्त्रस्य च नन्दितस्य ।
परावधिस्तन्न मुधाध्वरोधो लोकस्थितिः किन्तु निरस्तबाधा ॥ २५ ॥

भुवः नन्दितस्य शास्त्रस्य शस्त्रस्य च प्रतिष्ठा पूर्वैः महिता एव, तत् मुधा अध्वरोधः न परावधिः किन्तु निरस्तबाधा लोकस्थितिः ॥ २५ ॥

पूर्वज मनीषियों ने निष्कलुष, त्रिकालवेदिनी मेधा एवं लोकनिष्ठा का आश्रय लेकर, शस्त्र, शास्त्र एवं लोकमर्यादा को प्रतिष्ठित किया। अतः शास्त्रादि की मर्यादा की पराकाष्ठा लोकहित की हत्या, मार्गावरोध, नहीं है, अपितु बाधारहित लोकस्थिति की प्रतिष्ठा ही है। दम्भपूर्वक, शास्त्र को स्वार्थसिद्धि, वैरशोधन, ईर्ष्या आदि का साधन नहीं बनाना चाहिए। शास्त्र तो लोकस्थिति में सुव्यवस्था को प्रतिष्ठा के लिए है। यह बाधाओं को दूर करने के लिए है न कि बाधाओं को उत्पन्न करने के लिए ॥ २५ ॥

नूनं पराधीनवतस्तु पुंसो व्यपेतबाधः स्वपथाभिमानः ।
विडम्बनैवामिषलोलवृत्तेः काकस्य मेध्यव्रतसाधनेव ॥ २६ ॥

नूनं पराधीनवतः पुंसः व्यपेतबाधः स्वपथाभिमानः तु आमिषलोलवृत्तेः काकस्य मेध्यव्रतसाधना इव विडम्बना एव ॥ २६ ॥

वस्तुतः विचार किया जाय तो पराधीन मनुष्य का नैतिक अधिकार ही नहीं है कि उन्मुक्त भाव से अपनी स्थिति पर किसी प्रकार भी गर्व, आत्मश्लाघा व्यक्त करे। यह तो वैसा ही लगेगा जैसे मांस के टुकड़े के लिए चञ्चल वृत्तिवाला कौआ पवित्र आचरण को साधना करे। जैसे पवित्रता का अभिनय कौए के लिए विडम्बनामय है वैसे ही गुलाम व्यक्ति का अपनी कुलकीर्ति की बड़ाई करना भी गर्हित ही है ॥ २६ ॥

स्वतन्त्रतापर्वशुभावतारे स्वयं नृपश्रीस्तमरातिवज्रम् ।
शचीव कल्पद्रुममञ्जरीभिर्जगद्धितायार्चति शक्रशक्तिम् ॥ २७ ॥

स्वतन्त्रतापर्वशुभावतारे तम् अरातिवज्रं स्वयं नृपश्रीः शची इव जगद्धिताय कल्पद्रुममञ्जरीभिः शक्रशक्तिम् अर्चति ॥ २७ ॥

स्वतन्त्रता के इस पुनीतपर्व के शुभावतार, कल्याणमय आगमन पर शत्रुकुल के विनाश के लिए वज्रस्वरूप उस शिवराज का अभिनन्दन स्वयं राज्यलक्ष्मी इस प्रकार उल्लसित होकर कर रही हैं जैसे स्वयं इन्द्रपत्नी शची, विश्वकल्याण के लिए कल्पमञ्जरियों द्वारा देवराज की शक्ति (वज्र) की पूजा करती हैं ॥ २७ ॥

पयोऽनलः खं सविताऽनिलो भूर्विद्या प्रसूर्लोकमताग्रहश्च ।
निमित्ततां यान्ति यथाऽन्यशुद्धौ तथैव शक्रप्रतिमोऽयमुर्व्याम् ॥ २८ ॥

पयः, अनलः, खं, सविता, अनिलः, भूः, विद्या, प्रसूः, लोकमताग्रहः च यथा अन्यशुद्धौ निमित्ततां यान्ति तथा एव उर्व्याम् शक्रप्रतिमः अयम् (अस्ति) ॥ २८ ॥

जल, अग्नि, आकाश, सूर्य, पवन, पृथिवी, ज्ञान, माता तथा लोकमत, दूसरों की शुद्धि में निमित्त हैं, ये दूसरों को भी शुद्ध घोषित करने के अधिकारी हैं, स्वयं शुद्धस्वभाव तो हैं ही। उसी प्रकार इन्द्र के समान पराक्रमी ये वीर शिवराज भी दूसरों की शुद्धि में निमित्त हैं—दूसरों को भी शुद्ध कर सकते हैं। इन्हें शुद्ध न कहना शुद्धि की ही विडम्बना करना है ॥ २८ ॥

अज्ञातशीलेऽपि शिशौ स्वभावः किं [1]सत्यकामे न ररक्ष वर्णम् ।
बाह्यप्रमाणैरथवा कथं सा शुद्धिर्मनःसाक्ष्यवती परीक्ष्या ॥ २९ ॥

अज्ञातशीले अपि शिशौ सत्यकामे स्वभावः वर्णं न ररक्ष किम्, अथवा बाह्यप्रमाणैः मनःसाक्ष्यवती सा शुद्धिः कथं परीक्ष्या ॥ २९ ॥

कुल, गोत्र, पिता आदि परिचय-हीन होते हुए भी (अज्ञातशील) 'सत्यकाम जाबाल' के स्वभाव ने क्या उसके वर्ण, जाति का परिचय नहीं दे दिया ? शुद्धि—पवित्रता तो मनःसाक्ष्यवती है, आन्तरिक साक्ष्य को ही मानती है (मनःपूतं समाचरेत्), फिर बाहरी प्रमाणों से शुद्धि-अशुद्धि का परीक्षण किस प्रकार हो सकता है ॥ २९ ॥

स्वातन्त्र्यरक्षाव्रतजीवितेन रत्नप्रसूर्नूनमनेन धात्री ।
आचारदेहो रिपुकर्षितोऽपि श्रेयांसि सूते पुनरार्यधर्मः ॥ ३० ॥

नूनं स्वातन्त्र्यरक्षाव्रतजीवितेन अनेन धात्री रत्नप्रसूः, रिपुकर्षितः अपि आचारदेहः आर्यधर्मः पुनः श्रेयांसि सूते ॥ ३० ॥

स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए ही संकल्पपूर्वक जीवन धारण करनेवाले इस क्षत्रपति के कारण ही निस्सन्देह आज पृथिवी रत्नप्रसवा हुई है। शत्रु से विपन्न

---

१. सत्यकामः—उपनिषदृषिरयम्। सर्वथा अविज्ञातकुलशीलोऽपि सविनयं भगवन्तं हारीतगौतमं वेदाध्यापनाय प्रार्थयामास। कुलगोत्रादिज्ञानाय पृष्टो हारीतेन बालकः सत्यकामः निजानभिज्ञतां प्रकटयन्नाहयत् सः सत्यकामजाबाल आसीत्। ऋषीन् चातुर्मास्ये सेवमाना तज्जननी जबाला तं सुषुवे। अतो जबालापुत्रः स सत्यकामजाबाल इति—"तँ होवाच नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति, समिधँ सौम्य आहर, उप त्वा नेष्ये, न सत्यादगा इति" (छान्दोग्य उपनि० ४।४।५)।

प्रसन्नो भगवान् हारीतगौतमोऽघोषयत्—सौम्य ! नूनं ब्राह्मणोऽसि अब्राह्मणो नैतद् वक्तुं सत्यं प्रभवेत्। त्वं सत्यात् न प्रचलितोऽसि। आनय समिधः। त्वामहम् उपनेष्ये।

होने पर भी, आचार में प्रतिष्ठित आर्यधर्म आज फिर प्रजाजनों के लिए कल्याण, अभ्युदय की सृष्टि कर रहा है ॥ ३० ॥

धर्मस्य लोकाभ्युदयप्रवृत्तेराप्तोदितं शास्त्रमनन्तवर्त्म ।
अतो यथार्हानुसरेण मेधा प्रामाण्यमारोहति तत्प्रयोगे ॥ ३१ ॥

लोकाभ्युदयप्रवृत्तेः धर्मस्य आप्तोदितं शास्त्रम् अनन्तवर्त्म, अतः तत्प्रयोगे मेधा यथार्थानुसरेण प्रामाण्यम् आरोहति ॥ ३१ ॥

लोक-कल्याणकारी धर्म के अभिज्ञान, अनुगमन, प्रतिपालन आदि के लिए उत्कृष्टतम विवेकवाले त्रिकालदर्शी ऋषियों ने शास्त्रों का प्रणयन किया, इन शास्त्रों में अनन्त उपाय, विधि-निषेध आदि का समवाय है। अतः इस विवेकप्रतिष्ठ शास्त्रके यथाविधि अनुसरण के लिए विवेक ही प्रमाणक हो सकता है। जड़बुद्धि, परम्परा या अज्ञान, शास्त्रनिर्णय में प्रामाण्य नहीं हो सकता ॥ ३१ ॥

यथैकलक्ष्योऽपि हरिर्जनानां गुणक्रियानन्त्यमुपैति वर्त्म ।
पूतान्तरात्माऽपि तथैव धर्मः कालादिभावानुररीकरोति ॥ ३२ ॥

यथा जनानाम् एकलक्ष्यः अपि हरिः गुणक्रियानन्त्यं वर्त्म उपैति तथा एव पूतान्तरात्मा धर्मः अपि कालादिभावान् उररीकरोति ॥ ३२ ॥

जिस प्रकार जीवों के एक मात्र लक्ष्यास्पद परमेश्वर गुण-क्रियादि-भेदमूलक अनन्त मार्गों को प्राप्त करते हैं, प्रतिभासित होते हैं, उसी प्रकार सर्वथा पवित्र धर्म भी काल-देश-पात्रादि भावों को स्वीकार करता ही है। सामाजिक धर्म, काल पात्रादि से निरपेक्ष नहीं रह सकता ॥ ३२ ॥

निरुद्धमम्भः कृमिजालसूस्तिस्यदोऽपबाधो हि निसर्गभावः ।
ऋतेन सत्येन तपोभिरिष्टः सतां तु धर्मो धिषणां वृणोति ॥ ३३ ॥

निरुद्धम् अम्भः कृमिजालसूति, अपबाधः स्यदः हि निसर्गभावः, ऋतेन सत्येन तपोभिः इष्टः सतां धर्मः तु धिषणां वृणोति ॥ ३३ ॥

चारों ओर से बन्द अप्रवहणशील जल में सड़ांध उठती है, कीड़े उत्पन्न हो जाते हैं, वह मलिन हो जाता है। निर्विघ्न प्रवाह ही जल का सहज भाव है इसीलिए बहते हुए जल में सड़ांध, कीड़े, या मलिनता को स्थान नहीं मिलता। इसी प्रकार सत्य, कल्याण एवं तप द्वारा आराधनीय सज्जनोचित धर्म भी बुद्धि द्वारा परिष्कार की समय-समय पर व्यपेक्षा करता है ॥ ३३ ॥

क्व दासवृत्तेः परलोकपद्या श्रेयोऽथवा कुत्र फलोपलब्धिः ।
तदेव पन्था यदसूनपीष्टान् स्वातन्त्र्ययागे पुरुषो जुहोति ॥ ३४ ॥

दासवृत्तेः श्रेयः परलोकपद्या क्व, अथवा फलोपलब्धिः कुत्र ? तत् एव पन्थाः यत् पुरुषः इष्टान् असून् अपि स्वातन्त्र्ययागे जुहोति ॥ ३४ ॥

गुलाम के लिए, दास्यवृत्तिवाले के लिए परलोक का रास्ता कहाँ है, उसके लिए कैसा श्रेय और कैसी फलप्राप्ति। बस एक मार्ग, केवल एक ही भाग्यशाली मार्ग खुला है वह है कि व्यक्ति, साहसपूर्वक स्वातन्त्र्य-यज्ञ की सफलता के लिए हँसते हुए अपने प्रिय प्राणों की भी आहुति दे डाले। गुलाम देश के लिए इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं ॥ ३४ ॥

दुराग्रहोऽयं किमरातिभाजामाहोस्विदस्वस्थधियां प्रमादः।
यदार्यभूशत्रुपदानुलग्नाः स्वातन्त्र्यवेलामपि ते द्विषन्ति ॥ ३५ ॥

किम् अयम् अरातिभाजां दुराग्रहः आहोस्वित् अस्वस्थधियां प्रमादः यत् आर्यभूशत्रु-पदानुलग्नाः ते स्वातन्त्र्यवेलाम् अपि द्विषन्ति ॥ ३५ ॥

पता नहीं, कि शत्रुगण की सेवा करनेवाले भारतीयों का दुराग्रह है या अव्यवस्थित मस्तिष्क का पागलपन है, कि आर्यभूमि के शत्रुओं के चरणों में लोटने-वाले अज्ञानी इस स्वतन्त्रता की स्वागत-वेला से भी चिढ़ रहे हैं, द्वेष करते हैं (उचित तो यह था कि वे आगे आकर इस महान् पर्व का स्वागत करते।) ॥३५॥

दुरात्मलोकोज्झितसिक्थवर्ती पदान्तलग्नो नयनेङ्गितस्थः।
स्वजातिमात्सर्यभरोऽसदात्मा कौलेयको वा परवाञ्जनो वा ॥ ३६ ॥

दुरात्मलोकोज्झितसिक्थवर्ती पदान्तलग्नः नयनेङ्गितस्थः स्वजातिमात्सर्यभरः असदात्मा कौलेयकः वा परवान् जनः वा ॥ ३६ ॥

दुष्टों द्वारा छोड़े हुए जूठे पत्तलों को चाटनेवाला, पैरों पर लोटनेवाला, आँख के इशारे (संकेत) का अनुगामी, स्वजाति के प्रति ईर्ष्या-डाह करनेवाला, नीच-प्रकृतिवाला प्राणी या तो कुत्ता होता है या गुलाम होता है। यही उपर्युक्त लक्षण कुत्तों या गुलामों का होता है ॥ ३६ ॥

मा धिक्कृताक्षेपवचोभिरस्मानुत्पत्स्यमानार्यजना हसन्तु।
ऐतिह्यगाथामसदाग्रहो नः मा दूषयेदाप्रलयं तमोभिः ॥ ३७ ॥

उत्पत्स्यमानार्यजनाः अस्मान् धिक्कृताक्षेपवचोभिः मा हसन्तु, नः असदाग्रहः आप्रलयम् ऐतिह्यगाथां तमोभिः मा दूषयेत् ॥ ३७ ॥

सावधान होकर सुनें, जब हम कोई राष्ट्रिय महत्त्व का, ऐतिहासिक महत्त्व का निर्णय ले रहे हों तो बार-बार विचार कर लें कि ऐसा विवेकहीन निर्णय न हो कि—आनेवाली पीढ़ियाँ हम पर थूकें या इतिहास में हम मूर्खता के लिए आदर्श बने—

ऐसा न हो कि भविष्य में उत्पन्न होनेवाली आर्य सन्तान, धिक्कार एवं आक्षेपपूर्ण कटूक्तियों द्वारा हम पर हँसे, या इतिहास के पन्नों को हमारा मूढ़ता-पूर्ण दुराग्रह, प्रलय तक अपने काले धब्बों से कलंकित किए रहे ॥ ३७ ॥

कालाद्धृतन्यायतुलादजोऽपि बिभेत्यनागाः किमुतान्यमर्त्याः ।
अतो भविष्यत्परिणामदृष्टिः स्वस्था मतिर्विन्दति वर्तमानम् ॥ ३८ ॥

धृतन्यायतुलात् कालात् अनागाः अजः अपि बिभेति अन्यमर्त्याः किमुत, अतः भविष्यत्परिणामदृष्टिः स्वस्था मतिः वर्तमानं विन्दति ॥ ३८ ॥

न्याय तुलाधार (हाथ में न्याय का तराजू लिए हुए) काल से सर्वथा निर्दोष कृत्यवाले ब्रह्माजी भी डरते हैं, मरणशील मनुष्यों की तो बात ही क्या है। इसीलिए विवेकपूर्ण स्वस्थ, व्यवस्थित बुद्धि भविष्यमाण परिणाम को ध्यान में रखकर ही वर्तमान में प्रवृत्त होती है। समय, विशेषतः भविष्य हमारे वर्तमान का लेखा-जोखा प्रस्तुत करता है। यदि किसी कारण वर्तमान में शक्ति आदि के कारण व्यक्ति न्याय को दबा भी दे तो भविष्य तो अपना निर्णय, निर्भय विचार प्रस्तुत ही करेगा। अतः हम ऐसा कार्य न करें कि हमें भविष्य धिक्कारवाद दे ॥ ३८ ॥

अतोऽभिषिच्यैनमपेतपङ्कं प्रजाधिराजार्हपथेन राज्ये ।
दिशां प्रतीक्षोत्सुकशून्यरन्ध्राः श्रुतीः श्रुतिः पूरयतु स्वघोषैः ॥ ३९ ॥

अतः अपेतपङ्कम् एनं प्रजाधिराजार्हपथेन राज्ये अभिषिच्य श्रुतिः स्वघोषैः दिशां प्रतीक्षोत्सुकशून्यरन्ध्राः श्रुतीः पूरयतु ॥ ३९ ॥

अतः मेरा शास्त्रानुमोदित आग्रह है कि महाराज क्षत्रपति जो सर्वथा निष्कलंक एवं उदारचरित हैं, मूर्धाभिषिक्त होकर प्रजाधिराज के शास्त्रोचित विधान से सिंहासन को अलंकृत करें तथा सामगान की मधुर ध्वनि दिशाओं के शून्य कर्णरन्ध्रों को यथोचित भर दे ॥ ३९ ॥

छन्दस्वती वेदविदामपापा मखक्रियान्वर्थफलप्रसूतिः ।
ब्राह्मी द्विजानां पुनरेतु लोके विश्रब्धकल्याणजुषं प्रतिष्ठाम् ॥ ४० ॥

मखक्रियान्वर्थफलप्रसूतिः वेदविदां द्विजानाम् अपापा छन्दस्वती ब्राह्मी लोके विश्रब्धकल्याणजुषं प्रतिष्ठां पुनः एतु ॥ ४० ॥

मेरी कामना है कि महाराज शीघ्र विधि-विधान से मूर्धाभिषिक्त होकर अवभृथ स्नान करके सिंहासनारूढ हों, यतः वेद में निष्णात ब्राह्मणों की, यज्ञक्रियोचित फल देनेवाली, निष्पाप वेदवाणी भय, एवं उद्वेग से रहित होकर कल्याणमयी प्रतिष्ठा को प्राप्त करे ॥ ४० ॥

तां दुर्दिनाम्भोदघटामिवाऽसौ शङ्कां समुद्धूय मरुत्प्रभावः ।
प्रातःप्रतीक्षोत्सुकमानसानामन्वग्रहील्लोकमिव प्रजानाम् ॥ ४१ ॥

दुर्दिनाम्भोदघटाम् इव तां शङ्काम् असौ मरुत्प्रभावः समुद्धूय प्रातःप्रतीक्षोत्सुकमानसानां प्रजानां लोकम् इव अन्वग्रहीत् ॥ ४१ ॥

असमय में उठी मेघघटा के समान उस राज्याभिषेक-सम्बन्धी शङ्का को मरुद्गति से अपने निर्णय द्वारा उड़ाकर, उस महाविद्वान् विश्वेश्वर पण्डित ने प्रातःकाल की प्रतीक्षा में उत्कण्ठित प्रजासमूह को अपने अनुग्रह से चिन्ता-मुक्त कर दिया ॥ ४१ ॥

सन्मानसं तं सुमनोनिवासं सर्वा दिशः शून्यकला विधाय ।
आमन्त्रिता हंसवरा द्विजेन्द्रा आनन्दयन् भूभृतमातिथेयम् ॥ ४२ ॥

आमन्त्रिताः हंसवराः द्विजेन्द्राः सर्वाः दिशः शून्यकलाः विधाय, सुमनोनिवासं सन्मानसम् आतिथेयं तं भूभृतम् आनन्दयन् ॥ ४२ ॥

अब राज्याभिषेक की तैयारियाँ होने लगीं। सम्पूर्ण भारतीय प्रदेशों के विद्वान् ब्राह्मणों को राज्याभिषेक के पुण्योत्सव में आमन्त्रित किया गया और वे लोग कृपा-पूर्वक महाराष्ट्र की ओर प्रस्थित हुए। जहाँ आतिथेय स्वयं क्षत्रपति हों वहाँ पण्डितों के सत्कार का क्या पूछना !

सुन्दर मानसरोवर को विभिन्न दिशाओं से आते हुए हंस पंक्षी अपनी कल ध्वनि से भर देते हैं तथा उनके चले आने से विभिन्न दिशायें हंसों के क्रेंकार से शून्य हो जाती हैं। वहाँ उस सरोवर में पुष्पशोभा मन को आकृष्ट करती रहती है और वे पक्षी अपने मानस-निवास से भूभृत् हिमालय को अतिथि बनकर आतिथ्य का सुखद अवसर प्रदान करते हैं। उसी प्रकार सुन्दर मानसवाले, देवताओं को हृदय में प्रतिष्ठित करनेवाले परम अतिथिप्रिय उस भूभृत् राजा क्षत्रपति द्वारा विनयपूर्वक आमन्त्रित होने पर निष्कलुष, ज्ञानस्वरूप, विद्वान् द्विजेन्द्र, ब्राह्मणवृन्द अपने आगमन से आर्य नृप को आनन्दित करने लगे ॥ ४२ ॥

लोकोदयप्रीतमनोरथानां सतां बुधानां पृथिवीभृताञ्च ।
पङ्क्तिस्तमार्याधिपमाजगाम धर्मं यथान्वेति शुभप्रवृत्तिः ॥ ४३ ॥

लोकोदयप्रीतमनोरथानां सतां बुधानां पृथिवीभृतां च पङ्क्तिः आर्याधिपं तम् आजगाम यथा शुभप्रवृत्तिः धर्मम् अन्वेति ॥ ४३ ॥

क्षत्रपति के राज्याभिषेक द्वारा जनता के एक चिरकालिक महान् मनोरथ की, स्वप्न की पूर्ति हो रही थी। बहुत दीर्घकाल के पश्चात् भारत में ही सर्वथा अपने पराक्रम एवं शक्ति से समुदित नवीन हिन्दू स्वतन्त्र राज्य अस्तित्व में आ रहा था। शास्त्र उसे सविधि मान्यता दे रहा था, अतः—

समाज के अभ्युदय से प्रसन्न हृदयवाले भद्र व्यक्ति, विद्वज्जन तथा सामन्त एवं नृपगण उस आर्य नृपति के पास स्नेहपूर्वक उनका अभिनन्दन करने के लिए इस प्रकार उपस्थित हुए जैसे धर्म के पास, पीछे-पीछे शुभ प्रवृत्ति, कल्याणमयी भावना चलती है ॥ ४३ ॥

[विद्वानों, विद्यार्थियों तथा अनेकविध साधु-महात्माओं, अभ्यागतों के आगमन से राजधानी का स्वरूप ही बदल गया। महाराज के कर्मचारी अभ्यागतों की

सेवा में तत्पर थे। कहीं वेदपाठ होता है, कहीं शास्त्रार्थ जमा है, कहीं गूढ शास्त्र-चर्चा चल रही है, कहीं मंगलवाद्य बज रहे हैं। पूरा महाराष्ट्र उत्सवमय हो रहा था।]

तृणं चरद्भिर्हरिणैरशङ्कं द्रुमेषु रावैर्वयसां मनोज्ञैः।
वियत्पथव्यापृतधूमरेखैस्तपोवनैः सा शुशुभे धरित्री ॥ ४४ ॥

अशङ्कं तृणं चरद्भिः हरिणैः, द्रुमेषु वयसां मनोज्ञैः रावैः वियत्पथव्यापृतधूमरेखैः तपोवनैः सा धरित्री शुशुभे ॥ ४४ ॥

कहीं, निश्शंक भाव से हरिण घास चर रहे थे, वृक्षों पर विहंगों का मनोहर कलरव मुखरित हो रहा था, हवनादि कृत्य से निकली धूमरेखा अकाशमार्ग में फैल रही थी, प्रतीत होता था कि उस सुन्दर राजधानी में तपोवनों का समूह एकत्र हो गया है, बड़ा ही शोभापूर्ण दृश्य था ॥ ४४ ॥

मेध्यासने वेदविदां समूहः श्रुतिं सशाखामनुचिन्तयानः।
मग्नः क्वचिद् ब्रह्मविचारसिन्धौ समानयद् धातृसभं यथोर्व्याम् ॥ ४५ ॥

मेध्यासने सशाखां श्रुतिम् अनुचिन्तयानः क्वचित् ब्रह्मविचारसिन्धौ मग्नः वेदविदां समूहः उर्व्यां धातृसभयथाम् समानयत् ॥ ४५ ॥

उत्तम आसनों पर विराजमान वैदिक विद्वानों का समूह शाखायुक्त वेद का अनुशीलन कर रहा था। विद्वज्जन ब्रह्म के तत्त्वचिन्तनरूपी समुद्र में निमग्न थे। सचमुच ऐसा प्रतिभासित हो रहा था मानों ब्रह्मसभा ही (ब्रह्माजी की सभा) पृथ्वी पर उतर आयी हो ॥ ४५ ॥

निसर्गकल्याणपरम्पराणां दिव्याङ्गनानामिव सुन्दरीणाम्।
पीयूषकण्ठस्तवमेव तन्वन् माङ्गल्यगीतध्वनिरुल्ललास ॥ ४६ ॥

दिव्याङ्गनानाम् इव निसर्गकल्याणपरम्पराणां सुन्दरीणां माङ्गल्यगीतध्वनिः पीयूष-कण्ठस्तवम् एव तन्वम् उल्ललास ॥ ४६ ॥

देवलोक की सुन्दरियों के समान मनोरम, आनुषंगिक कल्याण-पद्धति में श्रेष्ठ-सौन्दर्य-मण्डिता स्त्रियों की मांगलिक गीतध्वनि अमृतमय कण्ठ की सराहना करती हुई, हृदय को आनन्द से भर रही थी।

[इस श्लोक में सुन्दरियों को देवाङ्गनाओं से उपमित करते हुए गीत-ध्वनि में पीयूषकण्ठस्तवन को आरोपित करते हुए पूर्णोपमा को वैशद्य दिया गया है।]॥४६॥

सर्वाः श्रियः सर्वकला मनोज्ञाः शास्त्रावगाहग्रथिता बुधाश्च।
राज्याभिषेककृतवे नृपाय समार्पयन्नक्षयहर्षपूरम् ॥ ४७ ॥

सर्वाः श्रियः मनोज्ञाः सर्वकलाः शास्त्रावगाहग्रथिताः बुधाः च राज्याभिषेककृतवे नृपाय अक्षयहर्षपूरं समार्पयन् ॥ ४७ ॥

अखिल वैभव, सम्पूर्ण मनोरम कलाओं तथा शास्त्रमहोदधि के अवगाहन में लब्धकीर्ति विद्वानों ने राज्याभिषेक यज्ञ का अनुष्ठान करनेवाले राजेश्वर शिवराज को अक्षय, अविनश्वर आनन्द की पूर्णता ही समर्पित कर दी ॥ ४७ ॥

पीताम्बरालँ लोलशिखण्डमालान् समानकण्ठस्वरगीतसाम्नः ।
चेतो वटूनार्यपतेर्निरीक्ष्य सस्मार पूर्वार्ययुगानुभावम् ॥ ४८ ॥

पीताम्बरान् लोलशिखण्डमालान् समानकण्ठस्वरगीतसाम्नः वटून् निरीक्ष्य आर्यपतेः चेतः पूर्वार्ययुगानुभावं सस्मार ॥ ४८ ॥

पीताम्बरमण्डित, चञ्चल काकुल-चुम्बित भालप्रदेशवाले एक समान कण्ठ एवं स्वर से सामपाठ करते हुए बालकों, छोटे-छोटे विद्यार्थियों को देखकर आर्याधिपति महाराज क्षत्रपति के हृदय में पूर्वयुगीन आर्यों की स्मृति सजीव हो उठी ॥ ४८ ॥

अनारताभ्यासपथेन वेदाः शास्त्राणि रम्यानुभवाः कलाश्च ।
चिरोज्झितातीतपटुत्वमेव लब्धुं पुना रागमिवाबबन्धुः ॥ ४९ ॥

वेदाः शास्त्राणि रम्यानुभवाः कलाः च अनारताभ्यासपथेन चिरोज्झितातीतपटुत्वं पुनः लब्धुम् एव रागम् इव आबबन्धुः ॥ ४९ ॥

कहीं वेदों की आवृत्ति हो रही थी, कहीं शास्त्रों का अभ्यास चल रहा था, कहीं पर कलाकार निरन्तर अभ्यास द्वारा अपने कौशल में निखार लाने का संकल्प-पूर्ण प्रयत्न कर रहे थे। इस प्रकार निरन्तर अभ्यास द्वारा, वेद, शास्त्र एवं अनेक-विध हृदय-स्पर्शिनी कलायें, सबने मानो दीर्घकाल से परित्यक्त अपनी प्राचीन पटुता, कौशल को पुनः प्राप्त करने के लिए प्रण कर लिया था ॥ ४९ ॥

कुलावतंसं कुलपर्वतास्तं स्वांशैरिवानन्द्य बलप्रभावैः ।
धराभृदित्याप्तजनाभिशंसां यथार्थसारां विदधुर्विधिज्ञाः ॥ ५० ॥

स्वांशैः इव बलप्रभावैः तं कुलावतंसं विधिज्ञाः कुलपर्वताः आनन्द्य 'धराभृत्' इति आप्तजनाभिशंसां यथार्थसारां विदधुः ॥ ५० ॥

राजतिलक में सप्त कुलपर्वतों का आवाहन होता है। उनकी उपस्थिति (मिट्टी) आवश्यक होती है—

उस कुलश्रेष्ठ क्षत्रपति के राज्याभिषेकोत्सव में सप्त कुलपर्वतों ने अपने प्राभृतक (भेंट) स्वरूप बल एवं प्रभाव से उन्हें समृद्ध किया तथा इस प्रकार विद्वानों द्वारा की हुई संज्ञा 'धराभृत्' (पृथ्वी को धारण, पालन करनेवाला) को यथार्थतः सार्थक, सारपूर्ण किया। कुलपर्वतों ने राजा में अपना अंश समर्पित करके उन्हें यथार्थतः 'धराभृत्' बना दिया ॥ ५० ॥

यस्याश्चिरौत्सुक्यसमाकुलोऽपि मनोरथो नोत्तरभारतोर्व्याम् ।
क्षेमे स्वतन्त्रावनिपाभिषेकं सा नन्दिता देवनदी नृपेण ॥ ५१ ॥

चिरौत्सुक्यसमाकुलः अपि यस्याः मनोरथः उत्तरभारतोर्व्यां स्वतन्त्रावनिपाभिषेकं न लेभे सा देवनदी नृपेण नन्दिता ॥ ५१ ॥

क्षत्रपति ने अपने अभिषेक से देवनदी भगवती भागीरथी का चिरकांक्षित मनोरथ सफल कर दिया। देवनदी की दीर्घकालीन उत्कण्ठा से आकुल एक हार्दिक अभिलाषा थी—वह यह कि स्वतन्त्र भारतीय नरेश का राज्याभिषेक देखें। किन्तु उत्तर भारत में मुसलमानों के आगमन से तथा भारतीय राजाओं के उनके अधीन हो जाने से यह इच्छा कदर्थित हो रही थी। स्वतन्त्र नरेश क्षत्रपति ने अपने अभषेक द्वारा देवनदी गंगाजी की इस चिर अभिलाषा को सफल कर दिया ॥ ५१ ॥

भर्तुः प्रिया या धुरि वाहिनीनां बिभर्ति तन्नाम तदेकभावा।
सौभाग्यरागाय नृपश्रियः सा तत्राजगामाम्बुमिषेण सिन्धुः ॥ ५२ ॥

वाहिनीनां धुरि या भर्तुः प्रिया तदेकभावा (सती) तन्नाम बिभर्ति नृपश्रियः सौभाग्य-रागाय सा सिन्धुः अम्बुमिषेण तत्र आजगाम ॥ ५२ ॥

नदीपति कहलाकर भी जिन्हें समुद्र अन्य नदियों के अग्रभाग में परम प्रियतमा मानता है तथा प्रेमगर्विता एवं पति में अनन्य भाव से स्थित होने के कारण जिसने पति की संज्ञा को ही अपनी सज्ञा बना ली है (सिन्धु नदी, सिन्धु का अर्थ नदी-विशेष तथा समुद्र दोनों होता है, कल्पना यह है कि पति के नाम का ही पतिप्राणा ने अपना नाम मान लिया है) वे सिन्धु नदी भी जल के रूप में, क्षत्रपति की राज-लक्ष्मी के सौभाग्य-संबर्धन के लिए उपस्थित हुईं ॥ ५२ ॥

सर्वापगानां प्रियवल्लभेन यागे समुद्रेण कृतः प्रवेशः।
उपादिशच्चाभ्युदयोन्मुखाय राष्ट्रौजसे नौबलमद्वितीयम् ॥ ५३ ॥

सर्वापगानां प्रियवल्लभेन समुद्रेण यागे कृतः प्रवेशः अभ्युदयोन्मुखाय राष्ट्रौजसे अद्वितीयं नौबलम् उपादिशत् ॥ ५३ ॥

और संपूर्ण सरिताओं के प्रियतम, समुद्र ने उस अभिषेक यज्ञ में प्रवेश किया। मानो प्रकारान्तर से स्पष्ट ही कर दिया कि अभ्युदय की अभिलाषी राष्ट्रशक्ति के लिए श्रेष्ठ, अद्वितीय नौबल, समुद्री बेड़ा अति आवश्यक है [जो समुद्र पर शासन कर सकता है, सागराम्बरा उसी को है।] ॥ ५३ ॥

विभूतिमद्भिर्निजदेशसारैः सरिन्महीध्राम्बुधिभिः सयत्नम्।
नृपाभिषेके सकुलाचलायाः समुद्रनेम्याः प्रथितं महत्त्वम् ॥ ५४ ॥

विभूतिमद्भिः निजदेशसारैः सरिन्महीध्राम्बुधिभिः नृपाभिषेके सयत्नं सकुलाचलायाः समुद्रनेम्याः महत्त्वं प्रथितम् ॥ ५४ ॥

अपने देश को तत्त्वस्वरूप विभूतिपूर्ण नदियों, पर्वतों एवं समुद्रों द्वारा यत्नपूर्वक उस राज्याभिषेक में सम्पूर्ण कुलपर्वतों को धारण करनेवाली समुद्रनेमि (समुद्र

परिधिवाली) वसुधा का महत्त्व सर्वतोभावेन स्पष्ट हो गया। राजा के लिए पृथिवी की प्रतिष्ठा ही राज्यप्रतिष्ठा है ॥ ५४ ॥

माता जीजावती के आनन्द का वर्णन कौन कर सकता है। उस पुत्रवत्सला ने अपनी सम्पूर्ण भावनाओं को पुत्र के लिए संकल्पित कर दिया था। आज उनका वही चिरञ्जीवी पुत्र स्वतन्त्र-पृथिवीनरेश के रूप में अभिषिक्त होने जा रहा था—

सा प्रस्नुतस्तन्यभरैरिवाम्बा वात्सल्यधारैः सुतमापगेव ।
प्रस्नापयन्ती न शशाक सोढुं निर्बन्धहर्षप्लवमाकुलाक्षी ॥ ५५ ॥

प्रस्नुतस्तन्यभरैः इव वात्सल्यधारैः सुतं प्रस्नापयन्ती सा अम्बा आकुलाक्षी आपगा इव निर्बन्धहर्षप्लवं सोढुं न शशाक ॥ ५५ ॥

वह माता जीजावती—मानो टपकते हुए दूध से भरे हुए वात्सल्य रस की धार से ही पुत्र को अभिषिक्त करती हुई, नदी के समान माता जोजावती निर्बाध उमड़ते हुए आनन्द की बाढ़ से आकुलदृष्टि होती हुई उस आनन्द से विवश हो गयीं—वह आनन्द-प्रवाह उनसे सँभालते न बनता था ॥ ५५ ॥

मनोरथामर्त्यतरोर्निदेशाद् गुरोः समर्थस्य विनीतसत्त्वः ।
अमोघपुण्यव्यवसायबन्धे तीर्थाटनेऽसौ हृदयं बबन्ध ॥ ५६ ॥

मनोरथामर्त्यतरोः गुरोः समर्थस्य निदेशात् असौ विनीतसत्त्वः अमोघपुण्यव्यवसायबन्धे तीर्थाटने हृदयं बबन्ध ॥ ५६ ॥

मनोरथ को फलीभूत करने में कल्पवृक्ष के समान यशस्वी, गुरु समर्थ महाराज के निदेश से, विनयशील शिवराज ने अक्षय पुण्य प्रदान करनेवाले तीर्थाटन में अपने मन को दृढ़ किया ॥ ५६ ॥

अप्येनमल्पानुचरानुजुष्टं तीर्थेषु पुण्योपहतास्रवेषु ।
न क्वापि चित्तान्तरमोहजन्मा बाधाऽपबाधं विधुरा बबाधे ॥ ५७ ॥

पुण्योपहतास्रवेषु तीर्थेषु अल्पानुचरानुजुष्टम् अपि अपबाधम् एनं चित्तान्तरमोहजन्मा विधुरा बाधा क्व अपि न बबाधे ॥ ५७ ॥

यद्यपि वीर क्षत्रपति थोड़े से ही अनुचरों को साथ लेकर तीर्थयात्रा पर निकले थे तथापि अपने पुण्यप्रभाव से दुःख को विनष्ट कर देनेवाले उन तीर्थों में कहीं भी आन्तरिक मोहमयी बाधा ने उस निर्मल प्रकृतिवाले क्षत्रपति को उद्विग्न नहीं किया ॥ ५७ ॥

छायावितानैरपनीय खेदं प्राणस्थितिं स्वादुफलैर्विधाय ।
आतिथ्यदीक्षाव्रतिनो वनान्ते सिषेविरे तं तरवोऽवनीशम् ॥ ५८ ॥

छायावितानैः खेदम् अपनीय स्वादुफलैः प्राणस्थितिं विधाय वनान्ते आतिथ्यदीक्षाव्रतिनः तरवः तम् अवनीशं सिषेविरे ॥५८ ॥

वन के वृक्षों ने भी उस परिच्छदविहीन क्षत्रपति का सविधि आतिथ्य किया। अपनी सुखद शीतल छाया से उनका मार्गश्रम दूर कर, मीठे सरस फलों द्वारा प्राणस्थिति, भोजन की व्यवस्था सम्पन्न कर, आतिथ्य-सेवा के उत्तम संकल्प-वाले उन वृक्षों ने वन में वीर क्षत्रपति का यथाविधि उत्तम आतिथ्य-सत्कार किया ॥ ५८ ॥

विश्रब्धवृत्तिव्यपनीतशङ्कास्तपस्विवात्सल्यजुषश्चरन्तः ।
तपोवने बालकुरङ्गयूथाः सदर्भहस्तं तरसा तमीयुः ॥ ५९ ॥

विश्रब्धवृत्तिव्यपनीतशङ्काः तपस्विवात्सल्यजुषः तपोवने चरन्तः बालकुरङ्गयूथाः तरसा सदर्भहस्तं तम् ईयुः ॥ ५९ ॥

तपोवनों, आश्रमों में निर्वैर वृत्ति के कारण सर्वथा निर्भय, तपस्विजनों के वात्सल्य से रक्षित चरते हुए मृगशावक, क्षत्रपति के हाथ में हरे-हरे कुशों को देखकर दौड़ते हुए उनके पास चले आते थे ॥ ५९ ॥

क्वचित् तमव्यक्तयथार्थभावं सिद्धाः स्वरूपस्थितयः प्रसह्य ।
सस्नेहमार्यावनिपालनाय संवर्धयामासुरमोघपुण्याः ॥ ६० ॥

क्वचित् अव्यक्तयथार्थभावं तं स्वरूपस्थितयः अमोघपुण्याः सिद्धाः प्रसह्य सस्नेहम् आर्यावनिपालनाय संवर्धयामासुः ॥ ६० ॥

अपने यथार्थ स्वरूप का निगूहन करनेवाले उस क्षत्रपति को कहीं पर, अमोघ पुण्यवाले, स्वरूप में स्थित ज्ञानी सिद्धों ने हठपूर्वक, आर्यभूमि का पालन करने के लिए स्नेहपूर्ण आशीर्वचनों से शुभाशंसा द्वारा संवर्धित किया। यथार्थतः क्षत्रपति को न जानते हुए भी उन अमोघ पुण्यशाली सिद्धों ने सहज ही यह भाँप लिया कि भारत का भावी कर्णधार उनके सम्मुख उपस्थित है ॥ ६० ॥

दुरन्तभूपालबलावलेपप्रकाण्डदण्डानलमूर्च्छितोर्वीम् ।
एकोऽपि योऽरक्षदवार्यधारैस्तं [1]जामदग्न्यं नृपतिर्ववन्दे ॥ ६१ ॥

दुरन्तभूपालबलावलेपप्रकाण्डदण्डानलमूर्च्छितोर्वीं यः एकः अपि अवार्यधारैः अरक्षत् नृपतिः तं जामदग्न्यं ववन्दे ॥ ६१ ॥

अनाचारी राजाओं के अविचारित कार्य-कलाप एवं उद्धत बलप्रयोग तथा अकारण दुर्दण्ड-प्रहार की लपटों में मूर्च्छित पृथिवी को, जिसने अकेले ही अनिवार्य कुठार-धारा एवं बाणवृष्टि से (शत्रुओं का समूल उच्छेद करके) बचा लिया उस जमदग्नि ऋषि के यशस्वी पुत्र भगवान् परशुराम के चरणों में वीर शिवराज ने प्रणाम किया ॥ ६१ ॥

---

१. जामदग्न्यः—आशद्दराजन्यकुलान्तकरः यशस्वी कुठारधारास्तमितप्रजातिः ।
त्रिःसप्तकृत्वो जगतीपतीनां कालः न संस्तवं वाञ्छति भार्गवोऽयम् ।

यस्याः प्रसादाञ्चलमर्भकं तं छत्रं यथाऽरक्षदशेषतापात् ।
प्रतापदुर्गे कुलमातरं तां श्रितातपत्रामकरोन्नरेन्द्रः ॥ ६२ ॥

छत्रं यथा यस्याः प्रसादाञ्चलं तम् अर्भकम् अशेषतापात् अरक्षत् नरेन्द्रः प्रतापदुर्गे तां कुलमातरं श्रितातपत्राम् अकरोत् ॥ ६२ ॥

जिनका कृपापूर्ण आँचल उस शिवराज के सिर पर छत्र के समान विराजता था और सर्वविध तापों से, मानसिक तथा शारीरिक कष्टों से, उनको बालक के समान सुरक्षित रखता था, उसी कुलमाता भगवती तुलजा भवानी को क्षत्रपति ने प्रतापगढ़ दुर्ग में छत्र से मण्डित किया। (तुलजा भवानी शिवाजी महाराज की कुल देवी हैं पहले इनका मन्दिर बीजापुर राज्य में था किन्तु क्षत्रपति ने विधि-विधान से उन्हें प्रतापगढ़ दुर्ग में प्रतिष्ठित कराया था ॥ ६२ ॥

न केवलं तस्य पुरोऽसिपाणेः रिपूञ्चिरोढाऽप्यजहाज्जयश्रीः ।
विडम्बनाऽप्यर्थभवाऽर्थिनां सा जहौ जनेर्बन्धमवेक्षितैव ॥ ६३ ॥

असिपाणेः तस्य पुरः न केवलं चिरोढा अपि जयश्रीः रिपून् अजहात्, अर्थिनाम् अर्थभवा सा विडम्बना अपि अवेक्षिता एव जनेः बन्धं जहौ ॥ ६३ ॥

हाथ में तलवार धारण किये उस शिवराज को सम्मुख देखकर, दीर्घकाल से शत्रुओं में अनुरागवती होने पर भी, विजयश्री उनसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लेती थीं, शत्रुकुल को त्यागकर क्षत्रपति की अनुगामिनी हो जाती थीं। इतना ही नहीं, शिवाजी को सम्मुख देखकर, धन के अभाव के कारण उत्पन्न याचकों की विडम्बना, विवशता भी जन्म-बन्धन को, अपने जीवन को त्याग देती थी। क्षत्रपति के सम्मुख पड़नेवाला याचक भी फिर याचक नहीं रह जाता था ॥ ६३ ॥

प्रागेव तद्धस्तजलावपातात् पपात भूदेववधूविषादः ।
समूषतुर्मुक्तनिसर्गरोषं सा शारदा श्रीश्च मिथः सहर्षम् ॥ ६४ ॥

तद्धस्तजलावपातात् प्राक् एव भूदेवबधूविषादः पपात, सा शारदा श्रीः च मुक्तनिसर्ग-रोषं मिथः सहर्षं समूषतुः ॥ ६४ ॥

दान देने के लिये हाथ में लिया हुआ संकल्प-जल जब तक क्षत्रपति के हाथ से पृथ्वी पर गिरे इसके पहिले ही द्विज-पत्नियों का विषाद पृथ्वी पर गिर पड़ता था (वे विषादरहित हो जाती थीं—उनको खूब पता था कि पतिदेवता महाराज के पास से पूर्णमनोरथ होकर ही लौटेंगे)। इस प्रकार सदैव परस्पर विरोध करने-वाली सरस्वती एवं लक्ष्मी भी प्रेमपूर्वक विद्वानों के यहाँ शोभा पाने लगीं ॥ ६४ ॥

तं तीर्थपुण्योपचितप्रभावं विश्वेश्वरः पात्रमवेक्ष्य विद्वान् ।
वेदोपदिष्टव्रतसाक्षिणेव यज्ञोपवीतेन बबन्ध धाम्ना ॥ ६५ ॥

तीर्थपुण्योपचितप्रभावं तं पात्रम् अवेक्ष्य विद्वान् विश्वेश्वरः वेदोपदिष्टव्रतसाक्षिणा धाम्ना इव यज्ञोपवीतेन बबन्ध ॥ ६५ ॥

तीर्थयात्रा के पुण्य से बढ़े हुए प्रभाववाले उस क्षत्रपति में सर्वथा उचित पात्रता देखकर परम शास्त्रज्ञ विद्वान् आचार्य विश्वेश्वर ने उन्हें वेदोपदिष्ट व्रतों, कृत्यों के साक्षीभूत यज्ञोपवीत नामक तेज से मण्डित किया। क्षत्रपति यज्ञोपवीती हुए ॥ ६५ ॥

ज्ञानेन निर्धूतमलो यथात्मा स्वरूपमाविन्दति निर्विकल्पम् ।
दीक्षाव्रतेनावनिपस्तथाऽसौ स्वस्मिन् किमप्यन्वभवन्नवीनम् ॥ ६६ ॥

ज्ञानेन निर्धूतमलः आत्मा यथा निर्विकल्प स्वरूपम् आविन्दति तथा असौ अवनिपः दीक्षाव्रतेन स्वस्मिन् किम् अपि नवीनम् अन्वभवत् ॥ ६६ ॥

जिस प्रकार ज्ञान द्वारा मोह-राग-मूलक अज्ञान के नष्ट हो जाने से आत्मा अपने निर्विकल्प स्वरूप का साक्षात्कार करता है वैसे ही उस दीक्षाव्रत से (यज्ञोपवीत से) पृथ्वीपति शिवराज ने अपने आप में कुछ 'अभिनव' सा अनुभव किया। यद्यपि सब कुछ पूर्ववत् ही था फिर भी क्षत्रपति को कुछ उदात्त, विशिष्टतर अनुभूति सी अपने भीतर होने लगी ॥ ६६ ॥

त्यागं नृपस्तञ्च महेन्द्रलक्ष्मीरबृंहयद् धर्मनिषेवितात्मा ।
किन्त्वर्थिनां तत्क्षणमाप्तदोहो ह्रियाऽजहाद् दुर्ललितोऽपि कामः ॥ ६७ ॥

त्यागं धर्मनिषेवितात्मा नृपः तं च महेन्द्रलक्ष्मीः अबृंहयत् किन्तु अर्थिनां दुर्ललितः अपि कामः तत्क्षणम् आप्तदोहः ह्रिया अजहात् ॥ ६७ ॥

क्षत्रपति ने त्यागवृत्ति (दान) को तथा धर्मविधि से निषेवित महेन्द्रलक्ष्मी ने वीर क्षत्रपति को समृद्ध किया। फिर भी कुछ स्थानों पर तो समृद्धि के स्थान पर क्षय की ही उपलब्धि रही। याचकों की कामना, अर्थिजनों का मनोरथ, सफल, पूर्णदोह हो जाने के कारण लज्जा से घबराकर दूर चली गयी, याचकों को त्यागकर अन्तर्हित हो गयी। क्षत्रपति की कृपा से याचक अयाचक हो गये ॥ ६७ ॥

गृहाच्चलन्तोऽप्यभिपारिजातं तृषाः पथि स्वर्णमहीधरेण ।
यद्यर्थिनो रायगृहं प्रयातास्तत्स्वर्गसौभाग्यदिदृक्षयैव ॥ ६८ ॥

गृहात् अभिपारिजातं चलन्तः अपि पथि स्वर्णमहीधरेण तृषाः अर्थिनः यदि रायगृहं प्रयाताः तत् स्वर्गसौभाग्यदिदृक्षया एव ॥ ६८ ॥

कल्पवृक्ष के पास पहुँचने के लिए घर से चले रास्ते में ही स्वर्णगिरि ने सहज ही पूर्णमनोरथ कर दिया। अब इसके बाद भी यदि याचकगण रायगढ़ (क्षत्रपति की राजधानी) गये तो यह कारण नहीं था कि उन्हें कुछ प्राप्त करना

शेष था। वस्तुतः वे स्वर्ग को ही अपनी आँखों पृथ्वी पर अवतरित देखना चाहते थे (महाराजके राजाभिषेक का उत्सव अभूतपूर्व था। उसे देखने की अभिलाषा ही हर एक को रायगढ़ की ओर आकृष्ट कर रही थी) ॥ ६८ ॥

शिवेन्द्रकल्पद्रुमसम्भृतानामद्य द्विजानामवलोक्य दैन्यम् ।
निसर्गलोला कमलेति वादो निमित्तितामर्हति निर्व्यलीकम् ॥ ६९ ॥

शिवेन्द्रकल्पद्रुमसम्भृतानां द्विजानाम् अद्य दैन्यम् अवलोक्य निसर्गलोला कमला इति वादः निर्व्यलीकम् निमित्तताम् अर्हति ॥ ६९ ॥

क्षत्रपतिरूपी कल्पवृक्ष से पूर्णमनोरथ होने पर भी आज इस समय भारतीय ब्राह्मण फिर भी दैन्यग्रस्त हैं—ऐसा क्यों ? उत्तर है कि लक्ष्मी स्वभावतः चञ्चला हैं इसीलिए वे दीर्घकाल तक एक स्थान पर रुकती नहीं हैं। निस्सन्देह यही कारण है कि क्षत्रपति के इतना देने पर भी ब्राह्मण आज अर्थसंकट ग्रस्त हैं ॥ ६९ ॥

तदैव शङ्खानकदुन्दुभीनामुद्दामहर्षस्तनितावतारः ।
समन्ततो विष्णुपदं निपूर्य नाकौकसां श्रोत्रपथं बभार ॥ ७० ॥

तदा एव शङ्खानकदुन्दुभीनाम् उद्दामहर्षस्तनितावतारः समन्ततः विष्णुपदं निपूर्य नाकौकसां श्रोत्रपथं बभार ॥ ७० ॥

और तभी शंख, घड़ियाल, दुन्दुभी आदि अनेक प्रकार के मांगलिक वाद्य-यन्त्रों की समवेत हृर्षध्वनि का सर्वव्यापी विस्तार चारों ओर प्रतिध्वनित होने लगा, पृथ्वी और आकाश को अपनी ध्वनि से पूर्ण कर मंगलवाद्यों के उस मधुर-स्वर ने देवताओं के श्रोत्ररन्ध्रों (कान के छेदों) को पूरित कर दिया ॥ ७० ॥

ऊर्ध्वस्थिता नूनमवेक्ष्य भूमेर्भाग्यं जहर्षुस्त्रिदशाः सरामाः ।
सतां प्रसादो निरवग्रहात्मा धर्मव्रतानां ननु भागधेयम् ॥ ७१ ॥

ऊर्ध्वस्थिताः सरामाः त्रिदशाः भूमेः भाग्यम् अवेक्ष्य नूनं जहर्षुः, सतां निरवग्रहात्मा प्रसादः धर्मव्रतानां भागधेयं ननु ॥ ७१ ॥

ऊपर स्थित रहनेवाले देवलोकनिवासी सुरगण अपनी पत्नियों के साथ, नीचे, पृथ्वी के सौभाग्य को देखकर आनन्दमग्न हो गये। उचित भी है, धर्ममार्ग पर चलनेवालों के लिए, सज्जनों की निस्सीम कृपा अवश्य मिलती है। धर्मात्मा व्यक्ति, देवताओं की कृपा अवश्य प्राप्त करता है। यों कहें कि देवकृपा, भद्र लोगों का भागधेय है ॥ ७१ ॥

स्वराष्ट्रसौभाग्यमदोन्मदानां पुंसाम्महाराष्ट्रधरा सवित्री ।
भास्वन्नवानन्दगृहेषु तेने नृपाभिषेकोत्सवमङ्गलानि ॥ ७२ ॥

स्वराष्ट्रसौभाग्यमदोन्मदानां पुंसां सवित्री महाराष्ट्रधरा भास्वन्नवानन्दगृहेषु नृपाभिषेकोत्सवमङ्गलानि तेने ॥ ७२ ॥

स्वराष्ट्र के सौभाग्य-हर्ष में उल्लसित मनुष्यों को उत्पन्न करनेवाली महाराष्ट्र-भूमि ने धवल, अभिनव-आनन्दनिर्भर घरों को राज्याभिषेक के उत्सव के मंगल से भर दिया। महाराष्ट्र का प्रत्येक घर अभिषेक के उत्सव-मंगल से उल्लसित हो उठा ॥ ७२ ॥

अमर्त्यशक्तेरधिरोढुमीशास्तुलां न यस्य स्थिरकीर्तयोऽपि ।
सोऽसौ तुलादानमिषेण देवो धर्मोपदिष्टं विनतो ननन्द ॥ ७३ ॥

अमर्त्यशक्तेः यस्य तुलाम् अधिरोढुं स्थिरकीर्तयः अपि न ईशाः सः असौ देवः विनतः तुलादानमिषेण धर्मोपदिष्टं ननन्द ॥ ७३ ॥

अविचल कीर्तिवाले नृपगण भी जिस दिव्य पराक्रमवाले वीर शिवराज की तुला को, समानता को नहीं प्राप्त कर सकते थे उन्हीं नृप शिवराज ने शास्त्रविधि के पालन में विनयपूर्वक तुलादान किया—

तुलादान में व्यक्ति दानरूप में संकल्पपूर्वक किसी उत्तम ब्राह्मण की सम्पत्ति (दान में प्राप्त वस्तु) हो जाता है, बाद में ब्राह्मण की इच्छानुसार अपनी तौल के बराबर धन-सुवर्ण-वैभव आदि देकर ब्राह्मण द्वारा मुक्त कर दिया जाता है ॥ ७३ ॥

त्रिविक्रमाब्जाङ्घ्रिजनेस्तटिन्याः प्रातोऽभिषिक्तः सलिलामृतेन ।
अनुष्ठिताघ्न्याद्विजदेवतार्चः फलैरसौ लोकमनो बबन्ध ॥ ७४ ॥

त्रिविक्रमाब्जांघ्रिजनेः तटिन्याः सलिलामृतेन प्रातः अभिषिक्तः अनुष्ठिताघ्न्याद्विज-देवतार्चः असौ फलैः लोकमनः बबन्ध ॥ ७४ ॥

त्रिविक्रम भगवान् वामन के चरणकमल से उत्पन्न भगवती गंगाजी के पवित्र जल से स्नान करके गौ, ब्राह्मण तथा देवताओं को पूजा-अर्चा करके क्षत्रपति ने समाज के मनोरथ को फल द्वारा (फलप्रदान करके) बाँध दिया। क्षत्रपति के पास अपनी प्रजा के लिए कुछ भी अदेय न था ॥ ७४ ॥

समं जयन्तेन पुलोमपुत्र्या यथानुजुष्टो वसुभिर्महेन्द्रः ।
सुतेन राज्ञ्या सहितस्तथाऽसावष्टप्रधानानुगताङ्घ्रिपङ्क्तिः ॥ ७५ ॥

श्वेताम्बरः पूतचरित्रवासा विमण्डिताङ्गो द्विजबन्धुकीर्तिः ।
निबद्धचामीकरचारुपीठां राज्याभिषेकावनिमाजगाम ॥ ७६ ॥

यथा महेन्द्रः पुलोमपुत्र्या जयन्तेन समं वसुभिः अनुजुष्टः तथा राज्ञ्या सुतेन सहितः असौ अष्टप्रधानानुगताङ्घ्रियष्टिः ॥ ७५ ॥

श्वेताम्बरः पूतचरित्रवासाः विमण्डिताङ्गः द्विजबन्धुकीर्तिः निबद्धचामीकरचारुपीठां राज्याभिषेकावनिम् आजगाम ॥ ७६ ॥

दोनों श्लोक (७५-७६) एक साथ अन्वित हैं।

जिस प्रकार अपने पुत्र जयन्त, सहधर्मिणी पुलोमजा शची एवं अष्ट वसुगणों से युक्त देवराज अपनी सभा में पधारते हैं उसी प्रकार पुत्र, पत्नी एवं अष्टप्रधानों से युक्त होकर, ॥ ७५ ॥

पवित्र चारित्र्य से मण्डित होने पर भी श्वेतपरिधान से विमण्डित शरीरवाले, ब्राह्मणों के परम सेवक (चन्द्रमा के समान धवल यशवाले) नृप शिवराज सुवर्ण मढ़ी हुई आसन्दिकाओंवाली राज्याभिषेक-भूमि में आये ॥ ७६ ॥

तं श्रोत्रिया शास्त्रविधिप्रतिष्ठं मन्त्रोपचारैरभिनन्द्य हृष्टाः ।
वधूदुकूलेन समं तदीयं धृतोत्तरीयाञ्चलमाबबन्धुः ॥ ७७ ॥

शास्त्रविधिप्रतिष्ठं तं हृष्टाः श्रोत्रियाः मन्त्रोपचारैः अभिनन्द्य वधूदुकूलेन समं तदीयं धृतोत्तरीयाञ्चलम् आबबन्धुः ॥ ७७ ॥

शास्त्र-मर्यादा के अनन्य उपासक उस क्षत्रपति का, प्रसन्नचित्त वैदिक विद्वानों ने मन्त्रविधि से अभिनन्दन करके महारानी के चादर के छोर से महाराज द्वारा धारण किये गये उत्तरीय के अञ्चल को एक साथ ग्रन्थिबद्ध किया ॥ ७७ ॥

श्रद्धेव धर्मस्य रवेः प्रभेव भर्तुः समाराधितवामभागा ।
सा वीरपत्नी भुवि सुव्रतानामशेषसौभाग्यधुरं बभार ॥ ७८ ॥

धर्मस्य श्रद्धा इव रवेः प्रभा इव भर्तुः समाराधितवामभागा सा वीरपत्नी भुवि सुव्रतानाम् अशेषसौभाग्यधुरं बभार ॥ ७८ ॥

धर्म की भार्या श्रद्धा के समान, सूर्य की प्रिया प्रभा के समान, पति के वामभाग को अपनी स्थिति से अलंकृत करनेवाली वह वीरवधू संसार की पतिप्राणा नारियों में विशेष सौभाग्य से गौरवान्वित हुई ॥ ७८ ॥

अथ ध्वनन्मङ्गलवाद्यगीतश्रुतिस्वरोद्घोषभरे मुहूर्ते ।
हरिद्गजेन्द्रा इव कुम्भहस्ता नृपाभिषेकं विदधुः प्रधानाः ॥ ७९ ॥

अथ ध्वनन्मङ्गलवाद्यगीतश्रुतिस्वरोद्घोषभरे मुहूर्ते हरिद्गजेन्द्राः इव कुम्भहस्ताः प्रधानाः नृपाभिषेकं विदधुः ॥ ७९ ॥

इस प्रकार जब माङ्गलिक वाद्य, गीतस्वर, वेदध्वनि आदि का उद्घोष अपनी चरम सीमा पर था तभी उस सर्वलक्षणोपेत शुभ मुहूर्त में दिग्गजों के समान हाथ से पूर्ण कुम्भ लिए हुए प्रधानों ने राजा को विधिपूर्वक अभिषिक्त किया ॥ ७९ ॥

ग्रामेषु दुर्गेषु पुरेषु सद्यो हर्षापगा लङ्घित - कूल - बन्धाः ।
निमज्ज्य भूमिं हरितोऽन्तरिक्षं नेदुर्महाराष्ट्रनृपाभिषेकम् ॥ ८० ॥

सद्यः ग्रामेषु दुर्गेषु पुरेषु लङ्घितकूलबन्धाः हर्षापगाः भूमिं हरितः अन्तरिक्षं निमज्ज्य महाराष्ट्रनृपाभिषेकं नेदुः ॥ ८० ॥

उसी क्षण गाँवों, दुर्गों, नगरों, पूरे महाराष्ट्र में सीमाबन्ध को तोड़ती हुई प्रसन्नता की भागीरथी उमड़ पड़ी और अपने प्रवाह में पृथिवी, आकाश, दिशाओं को निमज्जित करती हुई महाराज क्षत्रपति के पावन राज्याभिषेक को चारों ओर उद्घोषित कर दिया ॥ ८० ॥

तदागताः षोडशमातृकाभाः कल्पश्रियः षोडशविप्रवध्वः ।
सुवर्णपात्रोदितरत्नदीपैर्नीराजनामारचयन् नृपस्य ॥ ८१ ॥

तदा षोडशमातृकाभाः कल्पश्रियः षोडशविप्रवध्वः सुवर्णपात्रोदितरत्नदीपैः नृपस्य नीराजनाम् आरचयन् ॥ ८१ ॥

उस समय षोडश मातृकाओं के समान, सुन्दर मांगलिक वेष-भूषा से अलंकृत सोलह द्विजपत्नियों ने सुवर्ण की थालियों में रत्नों के दीपक से महाराज क्षत्रपति की आरती की ॥ ८१ ॥

प्रमोदसिन्धूच्चलदुर्मिहस्तापनीतनिद्राकुलितत्रियामाः ।
यामान्तवातोपचितानुरागां प्रातःश्रियं राजजना ननन्दुः ॥ ८२ ॥

प्रमोदसिन्धूच्चलदुर्मिहस्तापनीतनिद्राकुलितत्रियामाः राजजनाः यामान्तवातोपचितानुरागां प्रातःश्रियं ननन्दुः ॥ ८२ ॥

आनन्द-समुद्र के उत्ताल तरंग-करों द्वारा दूर की गयी, फेंक दी गयी नींद से रहित रात्रियोंवाले (निद्रारहित रात्रियोंवाले) राजकर्मचारियों ने ब्राह्म-कालीन शीतल पवन से समृद्ध हर्षवाली प्रभातलक्ष्मी का स्वागत किया। आमोद-प्रमोद करते सारी रात ही आँखों में कट गयी ॥ ८२ ॥

एकावलीमौक्तिकमुग्धशैत्यस्पर्शाञ्चितोरोजमतप्रभातैः ।
अजस्रनृत्यद्दरशोणनेत्रैर्वेश्याजनैर्निस्सहमालुलोके ॥ ८३ ॥

एकावलीमौक्तिक-मुग्धशैत्यस्पर्शाञ्चितोरोजमतप्रभातैः अजस्रनृत्यद्दरशोणनेत्रैः वेश्याजनैः निस्सहम् आलुलोके ॥ ८३ ॥

एक लड़ीवाले हार के मोती के मोहक शीतल स्पर्श से पुलकित स्तनों के कारण पूर्व प्रभात का परिचय प्राप्त करनेवाली, रातभर नाचने के कारण ईषद्रक्त-नेत्र-शोभावाली वेश्याओं ने थकान से चूर, निढाल होकर बेबसी से देखा ॥ ८३ ॥

विच्छिन्नताराभरणा श्लथार्ता व्यस्ताम्बरा मृष्टपयोधरश्रीः ।
विभातभीता गगनाभिसारं रात्रिर्जहौ म्लानमुखेन्दुरागा ॥ ८४ ॥

विच्छिन्नताराभरणा श्लथार्ता व्यस्ताम्बरा मृष्टपयोधरश्रीः म्लानमुखेन्दुरागा, विभात-भीता रात्रिः गगनाभिसारं जहौ ॥ ८४ ॥

थकान से चूर, टूटे, बिखरे हुए तारजटित अलंकारोंवाली, अधखुले वस्त्रों में लिपटी, मर्दितपयोधरा, कुम्हलाये हुए मुखचन्द्र की कान्तिवाली रात्रि ने विभात

(प्रातःकाल) से भयभीत होकर आकाशरूपी अभिसार (संकेतस्थल) को त्याग दिया। यहाँ रात्रि में नायिका अभिसारिका आरोपित है। प्राकृतिक दृश्यों से ही श्लेषालंकार आदि के परिपाक से उभयार्थ द्योतन हो रहा है।

तारागण विलुप्त हो गये, रात्रि श्रमार्त है, आकाश का रंग बदरंग हो गया, बादलों की शोभा बिखर गयी, चन्द्रमा पीला पड़कर विलुप्त होने लगा, प्रभात काल के भय से रात्रि ने आकाश एवं पृथ्वी को छोड़ दिया ॥ ८४ ॥

मनोज्ञपुष्पोत्कचगन्धकुम्भात् प्रतिक्षणं प्रत्ययनं समीरः ।
भूभृद्यशःसौरभमेव यच्छन् राज्योत्सवज्ञप्तिमिवाततान ॥ ८५ ॥

समीरः प्रतिक्षणं प्रत्ययनं मनोज्ञपुष्पोत्कचगन्धकुम्भात् भूभृद्यशःसौरभम् एव यच्छन् राज्योत्सवज्ञप्तिम् इव आततान ॥ ८५ ॥

मनोहर पुष्पराशि से उत्पन्न गन्धपूरित घट से महाराज क्षत्रपति के यश-सुगन्ध को ही प्रतिपल चारों ओर बिखेरता हुआ पवन मानो राज्याभिषेकोत्सव का समाचार ही फैला रहा था। [प्रभातकालीन सुगन्धित पवन गतिशील हो रहा था।] ॥ ८५ ॥

लसत्पताकैरुपनद्धमाल्यैर्द्वारे समारोपितपूर्णकुम्भैः ।
जनैरिव क्लृप्तनवप्रबन्धैर्गृहैः पठत्स्वस्त्ययनैश्चकासे ॥ ८६ ॥

लसत्पताकैः उपनद्धमाल्यैः द्वारे समारोपितपूर्णकुम्भैः क्लृप्तनवप्रबन्धैः पठत्स्वस्त्ययनैः गृहैः जनैः इव चकासे ॥ ८६ ॥

पुष्पमाल-विभूषित पताकाओं से विलसित, द्वार पर पूर्ण कलश से युक्त, साफ-सुथरे परिच्छदों से शोभित, स्वस्त्ययन-पाठ करते हुए मनुष्यों के समान गृहों से वह उत्सव मन को आकृष्ट कर रहा था ॥ ८६ ॥

कौतूहलोत्फुल्लसरोजनेत्रैर्वरेण्यवेषैः पथि सञ्चरद्भिः ।
परस्परस्वागतघोषपूर्वं लोकैः प्रतस्थेऽभिमहीपधाम ॥ ८७ ॥

कौतूहलोत्फुल्लसरोजनेत्रैः वरेण्यवेषैः पथि सञ्चरद्भिः लोकैः परस्परस्वागतघोषपूर्वम् अभिमहीपधाम प्रतस्थे ॥ ८७ ॥

कौतूहल से विकसित कमलनेत्रोंवाले, मनोहर परिधान से अलंकृत, मार्ग में विचरते हुए लोग आपस में स्वागत-शिष्टाचार का आदान-प्रदान करते हुए राज भवन की ओर चल पड़े ॥ ८७ ॥

पूर्वाद्रिकूटे दधदंशुमालः स्ववंशसौभाग्यमहो दिदृक्षुः ।
अनूरुसञ्चालितसप्तसप्तिं रुरोह रागात् सविता शताङ्गम् ॥ ८८ ॥

पूर्वाद्रिकूटे दधदंशुमालः स्ववंशसौभाग्यमहादिदृक्षुः सविता रागात् अनूरुसञ्चालित-सप्तसप्तिं शताङ्गं रुरोह ॥ ८८ ॥

उदयगिरि पर, किरणमालाओं से अलंकृत अपने वंश के (सूर्यवंश के) सौभाग्यपूर्ण उत्सव को, राज्याभिषेक-उत्सव को देखने की अभिलाषा से, अपने सारथि अरुण द्वारा जातकर लाये हुये सात घोड़ोंवाले रथ पर भगवान् सूर्य आरूढ़ हुए। सूर्योदय हुआ ॥ ८८ ॥

विलोभिरागोदितरत्नगुच्छच्छायासमाक्रान्तमनोज्ञकान्तिम् ।
नृपस्तमुष्णीषमबिभ्रतेष्टं द्रष्टुं क्षमा यं न किरीटिनोऽपि ॥ ८९ ॥

नृपः विलोभिरागोदितरत्नगुच्छच्छायासमाक्रान्तमनोज्ञकान्तिम् इष्टं तम् उष्णीषम् अविभ्रत यं द्रष्टुं किरीटिनः अपि न क्षमाः ॥ ८९ ॥

महान् क्षत्रपति ने, स्पृहणीय रंगों की छटा से जगमगाते, उत्कृष्ट रत्नों के गुच्छों के प्रतिबिम्ब से संक्रान्त, हृदयहारी कान्ति से पूर्ण, उस पगड़ी को सिर पर धारण किया जिसकी ओर देखने का साहस छत्रधारी नृपगण भी नहीं कर सकते ॥ ८९ ॥

बिभ्रत्सुजातोत्तमकान्तिकान्तरत्नोरसस्तस्य गभीरधाम्नः ।
रत्नाकरस्येव यशो वितेने निसर्गलक्ष्मीप्रभवप्रतिष्ठाम् ॥ ९० ॥

बिभ्रत्सुजातोत्तमकान्तिकान्तरत्नोरसः गभीरधाम्नः तस्य रत्नाकरस्य इव यशः निसर्गलक्ष्मीप्रभवप्रतिष्ठां वितेने ॥ ९० ॥

उत्तम वर्णवाले, सुकान्ति-भासित रत्नमालाओं को हृदय पर धारण करनेवाले, उस रत्नाकर (समुद्र) के समान गभीर प्रभाववाले क्षत्रपति के यश ने उन्हें सहज लक्ष्मी को उत्पन्न करने की प्रतिष्ठा से गौरवान्वित किया [समुद्र और क्षत्रपति उपमित हुए हैं। गाम्भीर्य, रत्नप्रसूति आदि समुद्र के स्वाभाविक गुण हैं। पौराणिक गाथा के अनुसार लक्ष्मी समुद्रकन्या हैं। अतः आशय यह है कि क्षत्रपति का हृदय भी लक्ष्मी का उत्पत्तिस्थान था। उनके निर्भय लोकरंजक हृदय में लक्ष्मी का सहज स्थान था।] ॥ ९० ॥

तदङ्गसंसक्तमनल्पपुण्यं चन्द्रांशुकीर्णाम्बरतुल्यमेव ।
उवाह कान्तिं सुषमासवित्रीं नवाम्बरं स्यूतमणिप्रकाशम् ॥ ९१ ॥

अनल्पपुण्यं स्यूतमणिप्रकाशं तदङ्गसंसक्तं नवाम्बरं चन्द्रांशुकीर्णाम्बरतुल्यम् एव सुषमासवित्रीं कान्तिम् उवाह ॥ ९१ ॥

उस तेजस्वी क्षत्रपति के अंगों का संसर्ग होने के कारण, अनन्तपुण्यशाली, सुरुचिपूर्वक जटित मणि-रत्नों की कान्ति से झिलमिलाते नवाम्बर नवपरिधान ने, चन्द्रकिरणों से समुद्भासित आकाश की तुलना प्राप्त करते हुए उत्कृष्ट सौन्दर्य उत्पन्न करनेवाला गौरव प्राप्त किया ॥ ९१ ॥

यदेकसङ्गेन पदातिनैव हतो जितेन्द्रोऽपि रणे दशास्यः ।
यशो यथाऽऽनर्च मनोऽभिरामं शरासनं तत् सशरं नरेन्द्रः ॥ ९२ ॥

यदेकसङ्गेन पदातिना एव जितेन्द्रः अपि दशास्यः रणे हतः मनोऽभिरामं सशरं तत् शरासनं यशः यथा नरेन्द्रः आनर्च ॥ ९२ ॥

जिस आयुधविशेष का आश्रय लेकर पैदल होते हुए भी भगवान् दाशरथि ने इन्द्र को जीतनेवाले रावण को भी युद्धभूमि में मार डाला, उसी बाणयुक्त धनुष का पूजन महाराज क्षत्रपति ने यशःप्रतीक मानकर किया ॥ ९२ ॥

अजस्रमावर्षति योऽपबाधं सौभाग्यसिन्दूरमिवाऽऽजिलक्ष्म्याः ।
प्रतीपवर्त्मान्तकमार्यनाथस्तं खड्गमभ्यर्च्य भृशं ननन्द ॥ ९३ ॥

यः आजिलक्ष्म्याः सौभाग्यसिन्दूरम् इव अजस्रम् अपबाधं वर्षति, तं प्रतीपवर्त्मान्तकं खड्गम् अभ्यर्च्य आर्यनाथः भृशं ननन्द ॥ ९३ ॥

जो निर्विघ्न भाव से, युद्धलक्ष्मी के लिए, निरन्तर बरसता हुआ सौभाग्यपूर्ण सिन्दूर ही उत्पन्न करता है (जिसके प्रहार से निकलता हुआ रक्त ही मानो युद्धेन्दिरा का सौभाग्य-सिन्दूर है,) शत्रुकुल के विनाशक उस खड्ग की पूजा करके आर्य भूपति अत्यन्त ही प्रसन्न हुए ॥ ९३ ॥

एवं व्रती लब्धमनोरथाग्रजातप्रसादाभिमतप्रसादः ।
प्रणम्य राजोचितलक्ष्मजातं सिंहासनागारमपश्यदैन्द्रम् ॥ ९४ ॥

एवं लब्धमनोरथाग्रजातप्रसादाभिमतप्रसादः व्रती राजोचितलक्ष्मजातं प्रणम्य ऐन्द्रं सिंहासनागारम् अपश्यत् ॥ ९४ ॥

इस प्रकार सर्वथा लब्धमनोरथ ब्राह्मणों की प्रसन्नता में अपनी प्रसन्नता माननेवाले व्रती, महाराज क्षत्रपति ने राजोचित राजाओं द्वारा धारण करनेयोग्य, छत्र, चामर, दण्ड आदि उपकरणों को श्रद्धापूर्वक प्रणाम करके, इन्द्र के वैभव से पूर्ण सिंहासन कक्ष को देखा ॥ ९४ ॥

अहो ध्रुवं वर्णयितुर्मनो मे हतोपमा हन्ति निरुद्धसीमा ।
बिभर्ति यस्यामुपमानबन्धाद् वरेण्यमप्यूनपदं हि वर्ण्यम् ॥ ९५ ॥

अहो, वर्णयितुः मे मनः निरुद्धसीमा हतोपमा ध्रुवं हन्ति यस्यां वरेण्यम् अपि वर्ण्यम् उपमानबन्धात् ऊनपदं हि बिभर्ति ॥ ९५ ॥

आश्चर्य है, इस महोत्सव का यथार्थ वर्णन करने की अभिलाषावाले मेरे मन को सीमित प्रभावक्षेत्रवाली 'उपमा' मुझे उद्यमहीन बना रही है। इस उपमा अलंकार में उत्कृष्टतम होते हुए भी वर्ण्य (उपमेय) सिद्धान्ततः 'उपमान' पद से निकृष्ट कोटि का मान लिया जाता है। यों उपमालंकार में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत की तुलना की जाती है प्रायः उपमान परम्परागत होते हैं तथा वर्ण्य उपमेय उस

उपमान से अवर माना जाता है—जैसे 'चन्द्रमा' और 'मुख' इन दोनों पदों में चन्द्रमा उत्कृष्टतर आह्लादादि गुणों से युक्त है। इसी परम्परा के अनुसार उपमेय प्रायः उपमान से 'अवर' ही होता है। पर यह कोई अकाट्य सिद्धान्त तो नहीं ही हो सकता ॥ ९५ ॥

प्रतीपभावेऽपि हठानुरुध्ये यत्ताः पदालङ्कृतयो जयन्ति।
तत्रापि याथार्थ्यमसंशयं यत्र विषय्युपात्ता सुषमाभिरक्तिः ॥ ९६ ॥

हठानुरुध्ये प्रतीपभावे अपि यत् ताः पदालङ्कृतयः जयन्ति तत्र अपि याथार्थ्यं विषय्युपात्ता सुषमाभिरक्तिः असंशया एव ॥ ९६ ॥

यदि कहा जाय कि उपमेय की प्रकृष्टता के लिये उपमा के स्थान पर 'प्रतीपोपमा' का विधान कीजिये, उपमान से उपमेय उत्कृष्टतर रहेगा। यह भी कोई निर्दोष उपाय नहीं है क्योंकि निश्चय ही ऐसे अलंकार-विधानों में भी वर्ण्य विषय में सौन्दर्य-बोध उपमाननिष्ठ भावों के कारण ही होता है। उपमाननिष्ठ सौन्दर्य-बोध ही उपमेय के उत्कृष्टतर सौन्दर्य बोध का कारण होता है ॥ ९६ ॥

स्वान्तःस्थितिव्यक्तिविधौ क्व शक्तः शब्दः स्वयम्भूरपि नित्यवृत्तिः।
चेष्टादिभिर्व्यक्तिसमुद्यमैः किं निरूप्यतेऽव्यक्तपरो न भावः ॥ ९७ ॥

स्वयम्भूः नित्यवृत्तिः अपि शब्दः स्वान्तःस्थितिव्यक्तिविधौ क्व शक्तः, व्यक्तिसमुद्यमैः चेष्टादिभिः अव्यक्तपरः भावः न निरूप्यते किम् ? ॥ ९७ ॥

उक्ति है कि शब्द नित्यवृत्ति हैं, स्वयम्भू हैं, ठीक है, ये शब्द अन्तःस्थित मनोभावों के व्यक्तीकरण में कहाँ समर्थ हो पाते हैं। प्रायः सामान्य मनोभावों के व्यक्तीकरण में भी शब्द शक्तिहीन हो कुण्ठित हो जाते हैं। मुखादि चेष्टाओं, हाथ के संकेतों से यदि सहायता न मिले तो भावों का व्यक्तीकरण बहुधा कठिन हो जाय।

किसी ने कहा कि उसके ललाट पर 'इतना बड़ा' गोला उग आया—अब 'इतना बड़ा' कहने के साथ ही हाथों की उँगलियाँ तत्परिमाणसूचक मुद्रा को स्पष्ट कर देती हैं—यह कहा जाय कि ३ से० मी० × २ से० मी० × १½ से० मी० परिमाण का गोला उग आया तो यह हास्यास्पद ही होगा। 'खीर बड़ी टेढ़ी है'—शब्द शक्ति हीनता का ज्वलन्त उदाहरण है ॥ ९७ ॥

स्वकल्पनां वीक्षितुमात्तदेहां श्रद्धाश्रमो भारतशिल्पिसङ्घः।
विस्मापयामास सभागृहेण पश्यत्सुधर्मान् त्रिदिवौकसोऽपि ॥ ९८ ॥

स्वकल्पनाम् आत्तदेहां वीक्षितुं श्रद्धाश्रमः भारतशिल्पिसंघः पश्यत्सुधर्मान् त्रिदिवौकसः अपि सभागृहेण विस्मापयामास ॥ ९८ ॥

भारतीय शिल्पी-सघ ने अपनी कल्पना को मूर्त रूप देने के लिए श्रद्धापूर्ण परिश्रम द्वारा सभाभवन के निर्माण से सुधर्मा सभा को देखनेवाले देवताओं को भी घोर विस्मय में डाल दिया ॥ ९८ ॥

अमर्त्यकार्तस्वरभूरिवान्या प्रकृष्टमाणिक्यकृतालवाला ।
लक्ष्मीर्विनोदाय सुरत्नपत्रं मुक्ताफलं संसुषुवेऽमरद्रुम् ॥ ९९ ॥

प्रकृष्टमाणिक्यकृतालवाला अमर्त्यकार्तस्वरभूः अन्या लक्ष्मीः इव विनोदाय सुरत्नपत्रं मुक्ताफलम् अमरद्रुं संसुषुवे ॥ ९९ ॥

उपहृत सुवर्ण विद्योतित चत्वर पर रखा हुआ स्वर्ण-सिंहासन, दोनों ओर बालशाखी से सुरक्षित था, बालद्रुमों के पत्ते रत्नमय थे, मुक्ता ही उनका फल था, उनका आलवाल (थला) मणिनिर्मित था ।

दिव्य सुवर्णमय भूमिवाली, किसी अन्य लक्ष्मी ने, उत्तम मणिनिर्मित थले के बीच में, खेलने के लिए, रत्नमय पत्तोंवाला, मुक्तारूपी फलों से युक्त कल्पवृक्ष को उत्पन्न किया था ॥ ९९ ॥

मनोरथस्निग्धमधस्तलेऽस्य प्रतिक्षणाविष्कृतदृग्विमोहम् ।
नृपासनं निर्भयलोकवृत्ति कीर्णांशुपीतान्धतमो रराज ॥१००॥

अस्य अधस्तले मनोरथस्निग्धं प्रतिक्षणाविष्कृतदृग्विमोहं निर्भयलोकवृत्ति कीर्णांशुपीतान्धतमः नृपासनं रराज ॥ १०० ॥

इस दिव्य तरु के नीचे, प्रतिक्षण अपनी चकाचौंध से दृष्टि में भ्रम उत्पन्न करता हुआ, मनोरथ के समान स्निग्ध, जन-मानस को निर्भयता का सन्देश देनेवाला, अपनी फैलती हुई प्रभा से अन्धकार को विनष्ट करता हुआ दिव्य सिंहासन विराजमान था ॥ १०० ॥

एकत्रदृष्टोत्तमरत्नमुक्ताः साक्ष्यं गताः प्राकृतबुद्धयोऽपि ।
उर्वी यदेषा किल रत्नगर्भा रत्नाकरोऽसंशयमम्बुधिश्च ॥१०१॥

एकत्रदृष्टोत्तमरत्नमुक्ताः प्राकृतबुद्धयः अपि साक्ष्यं गताः यत् एषा उर्वी किल रत्नगर्भा अम्बुधिः च असंशयं रत्नाकरः ॥ १०१ ॥

एक ही स्थान पर अगणित उत्तम वर्ण के मुक्ता एवं मणिरत्नों का समाहार देखकर, सामान्य बुद्धिवाले प्राणी भी इस तथ्य को मान गये कि पृथ्वी रत्नगर्भा है तथा निस्सन्देह समुद्र रत्नाकर है, रत्नों की खान है; पहले रत्नाकर शब्द को यों ही समुद्रवाची मान लेते थे, यही दशा 'रत्नगर्भा' शब्द के साथ थी । पर अब स्वयं राजतिलक देख लेने के बाद भ्रम दूर हो गया ॥ १०१ ॥

नृपासनं मण्डयति प्रजेन्द्रे, मधाविवोर्वीतलमेकतानम् ।
समीहितोल्लासविजृम्भिताशाः विष्वक् प्रमोदघ्वनयो ननन्दुः ॥१०२॥

प्रजेन्द्रे नृपासनं मण्डयति मधौ एकतानम् उर्वीतलम् इव समीहितोल्लासविजृम्भिताशाः प्रमोदघ्वनयः विष्वक् ननन्दुः ॥ १०२ ॥

जिस प्रकार मधुमास (चैत्र) का आगमन होने पर एक स्वर में चिर अभिलषित उल्लास से दिशाओं को हर्षनिर्भर करते हुए आनन्द पृथ्वीतल पर प्रवाहित हो जाता है उसी प्रकार प्रजानाथ क्षत्रपति के सिंहासनारूढ़ होते ही आनन्दपूर्ण ध्वनि चारों ओर उल्लसित हो गयी ॥ १०२ ॥

[1]ब्राह्मीपदालङ्कृतनव्यसंज्ञा अष्टप्रधानाः सह सर्वसभ्यैः ।
लोकस्तुतां तस्य महेन्द्रधाम्नो दृष्टिं नता मूर्ध्नि ननन्दुरिष्टाम् ॥१०३॥

सर्वसभ्यैः सह ब्राह्मीपदालङ्कृतनव्यसंज्ञाः अष्टप्रधानाः तस्य महेन्द्रधाम्नः इष्टां लोकस्तुतां दृष्टिं नताः मूर्ध्नि ननन्दुः ॥ १०३ ॥

राजसिंहासन पर स्थित होकर महाराज क्षत्रपति ने अष्टप्रधानों को संस्कृत-भाषोचित उपाधियों से अलंकृत किया। अष्टप्रधान तथा अन्य सभी सभासदों ने इन्द्र के समान यशस्वी उस महाराज की लोकरञ्जक, अभीष्ट दृष्टि को अपने श्रद्धावनत मस्तकों पर पड़ती हुई अनुभव किया ॥ १०३ ॥

वक्षोऽसृगुज्जीवितजीविताशं स्वातन्त्र्यदेवं पुरतोऽवलोक्य ।
घोराहवाम्भोधिदुरन्तकूलं हृष्टाः भटाः लब्धमिवान्वभूवन् ॥१०४॥

वक्षोऽसृगुज्जीवितजीविताशं स्वातन्त्र्यदेवं पुरतः अवलोक्य हृष्टाः भटाः घोराहवाम्भोधिदुरन्तकूलं लब्धम् इव अन्वभूवन् ॥ १०४ ॥

अपने हृदय का रक्त देकर स्वतन्त्रता की देवी की जीवनाशा को उज्जीवित करनेवाले वीर शिवराज को देखकर सैनिकों को ऐसा प्रतीत हुआ मानो उन्होंने दुर्धर्ष युद्ध-सागर के सुदूरस्थित दूसरे किनारे को पा लिया ॥ १० ॥

सभाम्बरं प्राभृतकश्रिया तद् हिमांशुभासेव मनोऽभिरामम् ।
नृपार्पितप्रत्युपहारधाम्ना प्रकृष्टसूर्यप्रभमाचकासे ॥१०५॥

हिमांशुभासा इव प्राभृतकश्रिया मनोऽभिरामं तत् सभाम्बरं नृपार्पितप्रत्युपहारधाम्ना प्रकृष्टसूर्यप्रभम् आचकासे ॥ १०५ ॥

महाराज की सेवा में अगणित राजाओं, सामन्तों, शुभेच्छुओं की ओर से महार्ह भेंट-राशि आयी थी; भेंट में अर्पित वस्तुओं की कान्ति से वह हृदयहारी सभाभवन इस प्रकार सुशोभित हो रहा था मानो चाँदनी का पुञ्ज ही उपस्थित हो। महाराज की ओर से भी प्रत्युपहारस्वरूप इतना अधिक पारितोषिक दिया गया कि उन पारितोषिकों, प्रत्यर्पित वस्तुओं की शोभा सूर्यप्रभा को मात करने लगी ॥ १०५ ॥

१. क्षत्रपतिसिंहासनारोहणपर्वणि राज्यपदानां पदाधिकारिणाञ्च संज्ञानिर्देशो देवगिरि समुपनिबद्धः। पूर्वं तु पारसीकपदाभिहिता, दिल्लीप्रथानुरूपं संज्ञा तेषामासीत् ।

मनस्विलोकव्यवहारविद्भिः पाथोधिपाराङ्गलनैगमैश्च ।
उद्यत्प्रतापाविरतानुकूलैरुपायनैरार्यनृपोऽनुजुष्टः ॥१०६॥

मनस्विलोकव्यवहारविद्भिः पाथोधिपाराङ्गलनैगमैः च उद्यत्प्रतापाविरतानुकूलैः उपायनैः आर्यनृपः अनुजुष्टः ॥ १०६ ॥

मनस्विजनों के व्यवहार से सर्वथा परिचित, सुदूर समुद्रपार के अंग्रेज व्यापारियों ने, विकसमान शक्ति के प्रति सदैव अपनी निष्ठा प्रदर्शित करते हुए भेंट द्वारा आर्य नृप, महाराज क्षत्रपति के प्रति अपनी श्रद्धा निवेदित की ॥ १०६ ॥

आत्मन्यथो प्रत्युपहारभाराज्जना विशन्तोऽपि हठात्तदैव ।
लोकान् नृपौदार्यपयोदसिक्तान् वीक्ष्याखिलानेव जहुर्ह्रियं स्वाम् ॥१०७॥

अथो प्रत्युपहारभारात् आत्मनि विशन्तः अपि जनाः तदा एव हठात् नृपौदार्यपयोदसिक्तान् अखिलान् एव लोकान् वीक्ष्य स्वां ह्रियं जहुः ॥ १०७ ॥

प्राभृतक, उपायन, भेंट के बदले में राजा की ओर से बहुमूल्य प्रत्युपहार-प्राप्ति के कारण भार से (लज्जा से) अपने आप में प्रविष्ट होते हुए (लाज से संकुचित होते हुए) प्राणियों ने उसी क्षण सम्पूर्ण समाज को महाराज की उदारता से सर्वविध संसिक्त देखकर, सबको अपने ही समान पाकर लज्जा त्याग दी ॥ १०७ ॥

जयाभिषेकोत्तरराजशोभायात्राविधौ रायगृहप्रतोली ।
असङ्ख्यनेत्रैरिव पद्मपुष्पैर्न्यवेदयत्पाद्यमिवाध्ववर्षैः ॥१०८॥

जयाभिषेकोत्तरराजशोभायात्राविधौ रायगृहप्रतोली असङ्ख्यनेत्रैः इव अध्ववर्षैः पद्मपुष्पैः पाद्यम् इव न्यवेदयत् ॥ १०८ ॥

राज्याभिषेक के पश्चात् शोभायात्रा निकली। रायगृह के छज्जे सौन्दर्य से निहाल हो उठे थे। असंख्य नेत्रों के समान अगणित कमलपुष्पों की मार्ग में वर्षा करती हुई सुन्दरियों ने मानो शोभायात्रा के लिए मनोहर 'पाद्य' का ही सुयोग उपस्थित कर दिया [अतिथि के आने पर 'पाद्य' पाद-प्रक्षालनार्थ जल आदि देना भारतीय शिष्टाचार है।] ॥ १०८ ॥

पदातिरप्युत्तमपुष्पकीर्णान् महार्हशय्यासुषमान् पथोऽसौ ।
सायासमुत्तीर्य परीक्षितास्थः श्रद्धाभरो देवगृहान् ददर्श ॥१०९॥

असौ परीक्षितास्थः पदातिः अपि उत्तमपुष्पकीर्णान् महार्हशय्यासुषमान् पथः सायासम् उत्तीर्य श्रद्धाभरः देवगृहान् ददर्श ॥ १०९ ॥

पैदल चलते हुए भी, परीक्षित श्रद्धाभावनावाले उस क्षत्रपति ने उत्तम फूलों से भरे बहुमूल्य शय्या के समान शोभापूर्ण उन मार्गों को कठिनतापूर्वक पार करके विनयपूर्वक देवमन्दिरों का दर्शन किया ॥ १०९ ॥

वातायने सौधशिरोगृहाणामट्टालिकानामुपरि स्थिरा वा ।
पतत्प्रसूनाञ्जलिरार्यशीला सौन्दर्यसृष्टिः परितो बभासे ॥११०॥

सौधशिरोगृहाणां वातायने अट्टालिकानाम् उपरि वा स्थिरा पतत्प्रसूनाञ्जलिः आर्य-शीला सौन्दर्यसृष्टिः परितः बभासे ॥ ११० ॥

कोठों के सबसे ऊपरवाले वातायनों अथवा अट्टालिकाओं की ऊपरी मञ्जिल में स्थित आर्य शील-पद्धति से युक्त, अंजलि से पुष्पवृष्टि करती हुई सौन्दर्यसृष्टि चारों ओर प्रकाशमान हो रही थी : (कोठों पर चढ़ी हुई शीलवती बहुएँ उस शोभा यात्रा को देख रही थीं तथा निरन्तर पुष्पवर्षा कर रही थीं ॥ ११० ॥

अट्टस्थिता नन्दितगीतकण्ठ्यो वध्वः किरन्मङ्गलगन्धलाजाः ।
लता यथा कान्तशकुन्तरावा वर्षत्प्रसूनावचया विरेजुः ॥१११॥

अट्टस्थिताः नन्दितगीतकण्ठ्यः किरन्मङ्गलगन्धलाजाः वध्वः कान्तशकुन्तरावाः लताः यथा वर्षत्प्रसूनावचयाः विरेजुः ॥ १११ ॥

कोठों पर चढ़ी हुई, मधुर गीत गाती हुई, तथा गन्धपूर्ण माङ्गलिक धान्य का लावा बिखेरती हुई नववधुवें, पक्षियों के मधुर कूजित से पूर्ण, फूल बरसाती हुई लताओं के समान सुशोभित हो रही थीं ॥ १११ ॥

जयन्तु शम्भुप्रतिमाः पृथिव्यामकिञ्चनाश्चापि समर्थपादाः ।
अवाप्य यद्गैरिकजीर्णखण्डं श्रीरात्मसौभाग्यमिवाभ्युपैति ॥११२॥

'पृथिव्यां शम्भुप्रतिमाः अकिञ्चनाः च अपि समर्थपादाः जयन्तु यद्गैरिकजीर्णखण्डम् अवाप्य श्रीः आत्मसौभाग्यम् इव अभ्युपैति' ॥ ११२ ॥

पृथिवीतल पर अकिञ्चन होते हुए भी भगवान् शङ्कर के समान उदार, समर्थ महाराजजी की जय हो, जिनके गेरुए वस्त्र के एक टुकड़े को ही लक्ष्मी अपने सौभाग्य के समान धारण करती है ॥ ११२ ॥

जयत्वशेषाभ्युदयाय लोको वसुन्धरैषा च निरस्तबाधा ।
धर्मो जयत्वात्मविवेकवर्त्मा लक्ष्मीधुरं क्षत्रपतिर्बिभर्ति ॥११३॥

'लोकः निरस्तबाधा एषा वसुन्धरा च अशेषाभ्युदयाय जयतु आत्मविवेकवर्त्मा धर्मः जयतु, क्षत्रपतिः लक्ष्मीधुरं बिभर्ति' ॥ ११३ ॥

अशेष अभ्युदय-प्राप्ति के लिए संसार की जय हो। निर्बाध पृथिवी की जय हो। आत्मविवेकपूर्ण मार्गवाले धर्म की जय हो, महाराज क्षत्रपति लक्ष्मी के भार को धारण कर रहे हैं, सिंहासनारूढ़ हैं ॥ ११३ ॥

राजा जयत्वर्णवनेमिभाग्यो विकासितेज्राः शिवराजराजः ।
इत्युच्चकैरुद्भवसम्मदानां व्याप्नोद्दिवं गाश्च जयाभिशंसा ॥११४॥

'अर्णवनेमिभाग्यः विकासितेजाः राजा शिवराजराजः जयतु' इति उद्धवसम्मदानां जयाभिशंसा उच्चकैः गां दिवं च व्याप्नोत् ॥ ११४ ॥

'पृथिवी के भाग्यस्वरूप, प्रकाशित तेजवाले महाराज शिवराज की जय हो'—इस प्रकार आनन्दनिमग्न समाज का उच्चस्वरवाला जयाभिशंसन (जयघोष) आकाश और पृथिवी में व्याप्त हो गया ॥ ११४ ॥

वाद्यध्वनिर्नन्दितगीतकण्ठः प्रसूनवृष्टिर्जयघोषसूक्तिः ।
मन्दं चलद्धर्षरमश्च लोको नात्मोपमामाप कुतोऽपि सर्गे ॥११५॥

वाद्यध्वनिः नन्दितगीतकण्ठः प्रसूनवृष्टिः जयघोषसूक्तिः मन्दं चलद्हर्षरमः लोकः च कुतः अपि सर्गे आत्मोपमां न आप ॥ ११५ ॥

मांगलिक वाद्यों की ध्वनि के माधुर्य से पूर्ण गीतोंवाला कण्ठ, पुष्पवृष्टि, जयघोषमयी शुभाशंसा तथा मार्ग में धीरे-धीरे चलता हुआ आनन्दनिर्भर समाज—सृष्टि में इनके अनुकूल उपमा कहीं नहीं थी ॥ ११५ ॥

अम्भोरुहाऽङ्घ्रौ नमतो नृपस्य निधाय मूर्तिं हृदयेषु देवाः ।
स्वकान्तिसङ्क्रान्ततनुं तमेवं समन्वगृह्णन्निव भावभाजः ॥११६॥

अम्भोरुहाङ्घ्रौ नमतः नृपस्य मूर्तिं हृदयेषु निधाय भावभाजः देवाः एवं स्वकान्ति-सङ्क्रान्ततनुं तं समन्वगृह्णन् इव ॥ ११६ ॥

क्षत्रपति ने देवताओं के कमलचरणों में प्रणाम किया। उन मन्दिरों में प्रतिष्ठित मूर्तियों ने प्रणाम करने के लिए झुकते हुए राजा शिव की मूर्ति को अपने हृदय में धारण कर लिया। इस प्रकार अपनी कान्ति से सङ्क्रान्त शरीरवाले राजा क्षत्रपति पर, भावलभ्य देवताओं ने अनुग्रह किया ॥ ११६ ॥

दिल्लीश्रिये दुर्वहगर्वपातमीर्ष्यां नृपेभ्यो हठविस्मिताक्षीम् ।
धर्माय भूयोऽभिमतप्रतिष्ठामहार्यविश्वासधुरं प्रजाभ्यः ॥११७॥

दिल्लीश्रिये दुर्वहगर्वपातं नृपेभ्यः हठविस्मिताक्षीम् ईर्ष्यां धर्माय भूयः अभिमतप्रतिष्ठां प्रजाभ्यः अहार्यविश्वासधुरम् ॥ ११७ ॥

[श्लोक ११७ से १२० तक चारों में 'ददौ' क्रिया अन्वित है।]

महाराज क्षत्रपति के अभिषेक ने दिल्ली की सौभाग्यलक्ष्मी के लिए कठिन गर्वभार से मुक्ति, अन्य राजाओं के लिए विस्मयपूर्ण आँखोंवाली ईर्ष्या, धर्म के लिए फिर सम्मानपूर्ण प्रतिष्ठा तथा प्रजाजनों के लिए अहार्य (स्थिर) विश्वासशक्ति दी ॥ ११७ ॥

बाल्यं तु विद्याभ्यसनाय यत्नादुत्साहधाम्ने नवयौवनञ्च ।
तद्वार्धकञ्चामृततोषसिद्ध्यै विवेकमार्गाय वयो हि सर्वम् ॥११८॥

यत्तात् विद्याभ्यसनाय तु बाल्यम् उत्साहधाम्ने च नवयौवनं अमृततोषसिद्ध्यै च तत् वार्धकं विवेकमार्गाय सर्वं हि वयः ॥ ११८ ॥

विद्याभ्यास के लिए बचपन को दे दिया, उत्साह एवं पराक्रम के लिए नव-यौवन को, अमृतसन्तोषसिद्धि के लिए बुढ़ापे को तथा विवेकमार्ग के लिए सम्पूर्ण जीवन को दे दिया ॥ ११८ ॥

सुवर्म सौन्दर्यधनाय शीलं तत्त्वार्थदोहं जगतीसुरेभ्यः ।
धृतायुधेभ्योऽखिललोकरक्षां परोपकाराय यशो वरेण्यम् ॥११९॥

सौन्दर्यधनाय सुवर्म शीलं, जगतीसुरेभ्यः तत्त्वार्थदोहं, धृतायुधेभ्यः अखिललोकरक्षां परोपकाराय वरेण्यं यशः ॥ ११९ ॥

सौन्दर्य धन के लिए सुन्दर कवच के समान शील दिया, ब्राह्मणों के लिए तत्त्वार्थलब्धि दिया, शस्त्रजीवियों, सैनिकों के लिए सम्पूर्ण समाज की रक्षा तथा परोपकार के लिए वरेण्य यश दिया ॥ ११९ ॥

सङ्कल्पशक्तिं तु मनोरथाय स्वतन्त्रतां जन्मभुवे चिरेष्टाम् ।
सर्वस्वमिष्टाय ददौ तदैव राज्याभिषेको जगते शिवस्य ॥१२०॥

मनोरथाय तु सङ्कल्पशक्तिं जन्मभुवे चिरेष्टां स्वतन्त्रताम् इष्टाय जगते सर्वस्वं शिवस्य राज्याभिषेकः तदा एव ददौ ॥ १२० ॥

मनोरथ के लिए संकल्पशक्ति, मातृभूमि के लिए चिर-अभिलषित स्वतन्त्रता तथा इष्ट जगत् के लिए महाराज क्षत्रपति के राज्याभिषेक ने सर्वस्व ही दे डाला ॥ १२० ॥

इत्थं सङ्कल्पमार्गः सततमनुसरन् धैर्यगर्भां श्रियं सः
स्वात्मोत्साहद्वितीयो दधदनुगबलं हृद्यपाथेयमेव ।
उत्तीर्याऽऽपद्वनान्तं घनतिमिरमुखान् दैवगर्तांश्च घोरान्
शत्रूच्छ्रायं पदाङ्कैः सहठमपहरन्नारुरोहाद्रिमौलिम् ॥१२१॥

इत्थं सङ्कल्पमार्गः धैर्यगर्भां श्रियं सततम् अनुसरन् आत्मोत्साहद्वितीयः हृद्यपाथेयम् एव अनुगबलं दधत् आपद्वनान्तं घनतिमिरमुखान् घोरान् दैवगर्तान् च उत्तीर्य पदाङ्कैः शत्रूच्छ्रायं सहठम् अपहरन् सः अद्रिमौलिम् आरुरोह ॥ १२१ ॥

इस प्रकार सङ्कल्पपूर्वक मार्ग पर चलते हुए, सदैव धैर्यवती लक्ष्मी का अनुसरण करते हुए, अपने उत्साह को ही अपना परम सहायक मानकर, साथियों को मार्ग में कल्याणकारी हितचिन्तकों के रूप में स्वीकार कर, आपत्ति से भरे वन को लाँघकर, अन्धकाराच्छन्न मुखवाले गह्वरों से बचकर, अपने पैरों की छाप से

शत्रुकुलरूपी ऊँचाई को लांछित करते हुए वे राजेन्द्र क्षत्रपति पर्वत के शिर पर चढ़ गये।

इस पद्य में वनान्त देवगर्त, शत्रूच्छ्राय, अद्रिमौलि आदि पदों द्वारा वही लक्ष्य स्पष्ट किया है जिसे सिद्ध करना ही क्षत्रपति के जीवन का व्रत था। इस प्रकार संकल्प, धैर्य, आत्मोत्साह एवं अनुजीवि वर्ग की सहायता से उस दुर्धर्ष अभ्युदय गिरि के शिखर पर विजेता क्षत्रपति ने पैर रखा ॥ १२१ ॥

इति श्रीत्रिपाठ्युपाह्वेन उमाशङ्करशर्मणा विरचिते
क्षत्रपतिचरित-महाकाव्ये अष्टादशः सर्गः।

अथ एकोनविंशः सर्गः

[अस्मिन्नन्तिमे सर्गे शिवनृपस्य लोकशासनव्यवहारविधिः, अनुशासनरक्षा, न्यायविवेकः, पराक्रमसमुद्योगादयः समासतो वर्णिताः। नेतिहासघटनामतिक्राम्यति, अपलपति, अन्यथा वा प्रस्तौति काव्यमिदम् ।]

नित्यसेवाव्रतस्थस्य लोकानिव वनस्पतीन् ।
बिभ्रतो भूभृतस्तस्य गुरुतामाप लाघवम् ॥ १ ॥

वनस्पतीन् इव लोकान् बिभ्रतः नित्यसेवाव्रतस्थस्य भूभृतः तस्य लाघवं गुरुताम् आप ॥ १ ॥

समाज को वनस्पति के समान निरुद्वेगपूर्ण ढङ्ग से बढ़ने के लिए, सतत सेवा में लगे हुए उस महाराज क्षत्रपति की निरालसता (लाघव) गुरुतापूर्ण हो गयी—प्रजाराधन में उनकी आलस्यहीनता गौरवपूर्ण हो गयी (गुरुता और लाघव परस्पर विरोधी हैं किन्तु यहाँ गुरुता लाघव का वरण कर रही है) ॥ १ ॥

योषिते शूरनारीत्वं मात्रे वीरप्रसूपदम् ।
भियोऽरयेऽभयं भूम्यै तद्भटो निहतोऽप्यदात् ॥ २ ॥

निहतः अपि तद्भटः योषिते शूरनारीत्वं मात्रे वीरप्रसूपदम् अरये भियः भूम्यं अभयम् अदात् ॥ २ ॥

क्षत्रपति के सैनिक मरकर भी, अपनी पत्नी को वीरनारीत्व, माता को वीर-प्रसूपद, शत्रु को भयंकरभय तथा पृथ्वी को निर्भयता प्रदान किया करते थे। युद्ध में उसका पराक्रम काल को भी विस्मित करनेवाला था ॥ २ ॥

यदौरसेऽप्यवर्त्मनि प्राभवत् तन्नयाग्रहः ।
तदुद्घोष इवान्येषामक्षताजीववर्तने ॥ ३ ॥

यत् अवर्त्मनि औरसे अपि तन्नयाग्रहः प्राभवत् तत् अन्येषाम् अक्षताजीववर्तने उद्घोषः इव (जातः) ॥ ३ ॥

कुमार्ग का आश्रय लेनेवाले अपनी औरस सन्तान को भी वे अदण्ड्य नहीं मानते थे, उनकी न्यायबुद्धि उसे भी दण्ड ही देती थी, उनका यह स्वभाव ही विभिन्न आजीविकाओं में लगे लोगों के लिए निरुद्वेग, निर्भयता का उद्घोष बन गया ॥ ३ ॥

निर्विशेषात्मसम्भारमनुषङ्गधियैव तम् ।
प्रजानाथं प्रजाः सर्वा विदुस्तारा विधुं यथा ॥ ४ ॥

निर्विशेषाल्पसम्भारं तम् प्रजानाथम् अनुषङ्गधिया एव सर्वाः प्रजाः तारा। विधुं यथा विदुः ॥ ४ ॥

यद्यपि महाराज को छत्र-चामर आदि परिच्छदों से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था—वे सामान्य वेषभूषा ही को महत्त्व देते थे फिर भी स्वभावतः ही उस प्रजानाथ के लिए प्रजाजनों का ऐसा ही स्नेह था जैसा तारापति चन्द्रमा के लिए तारागणों का होता है ॥ ४ ॥

कोषदोषावलेपान्धदर्शनान् मूढचेतसः ।
नृपान्भानुरिवैकोऽसौ दर्शयामास पद्धतिम् ॥ ५ ॥

कोषदोषावलेपान्धदर्शनान् मूढचेतसः नृपान् एकः असौ भानुः इव पद्धतिं दर्शयामास ॥ ५ ॥

धन, वैभवजन्य दोष के अवलेप के कारण अन्धदृष्टि, मूढ़बुद्धि राजाओं को, सूर्य के समान उस अकेले क्षत्रपति ने मानवीय व्यवहारपद्धति का ज्ञान कराया ॥ ५ ॥

प्रजाकरग्रहस्तस्मिन् धुरं वोढुं महीयसीम् ।
त्रिवर्गपरिपोषाय तेने नवमनोबलम् ॥ ६ ॥

प्रजाकरग्रहः महीयसीं धुरं वोढुं त्रिवर्गपरिपोषाय तस्मिन् नवमनोबलं तेने ॥ ६ ॥

प्रजा से 'कर' प्राप्ति ने उस क्षत्रपति में महान् दायित्व-भार एवं त्रिवर्ग-सिद्धि के लिए अभिनव उत्साह का विस्तार किया।

अथवा—प्रजाकुल के पाणिग्रहण ने उस मनस्वी राजा शिवराज में महान् दायित्व-भार वहन करने के लिए तथा धर्म, अर्थ एवं कामसिद्धि के लिए (धर्मार्थं दारसंग्रहः) उनमें नवीन सङ्कल्प शक्ति को उत्पन्न किया ॥ ६ ॥

तुरुष्काधिपतेश्चित्ते दिशताऽऽधिनवोदयम् ।
येन मूर्ध्नीव दृप्ताहेर्हठमारोपितं पदम् ॥ ७ ॥

तुरुष्काधिपतेः चित्ते आधिनवोदयं दिशता येन दृप्ताहेः मूर्ध्नि हठं पदम् इव आरोपितम् ॥ ७ ॥

तुरुष्कराज दिल्लीपति के हृदय में नवीन मनोव्यथा उत्पन्न करते हुए उस पराक्रमी आर्यनृपति ने मानो क्रुद्ध सर्प के सिर पर अपना पैर ही हठपूर्वक रख दिया ॥ ७ ॥

सः प्रमादमनभ्यासात् तन्द्रारागं वपुःश्रमात् ।
स्वदेशाराधनादैन्यमपानयदहर्निशम् ॥ ८ ॥

सः अनभ्यासात् प्रमादं वपुश्श्रमात् तन्द्रारागं स्वदेशाराधनात् दैन्यम् अहर्निशम् अपानयत् ॥ ८ ॥

उस क्षत्रपति नरेश ने प्रमाद को अनभ्यास से, तन्द्रा, आलस्य को शारीरिक श्रम से तथा दीनता को स्वदेश की आराधना से निरन्तर दूर किया ॥ ८ ॥

विभवं श्लाघ्यदानेन धर्मरागेण यौवनम् ।
प्रभुतामार्जवेनार्यो युक्तधीः समसेवत ॥ ९ ॥

युक्तधीः आर्यः श्लाघ्यदानेन विभवं धर्मरागेण यौवनम् आर्जवेन प्रभुतां समसेवत ॥ ९ ॥

उस सम्यक् बुद्धि, आर्य क्षत्रपति ने धन-सम्पत्ति को श्लाघनीय दान से, यौवन की चपलता को धर्मभावना से तथा प्रभुत्व को उदारता से सम्बद्ध करके उसका आसेवन किया ॥ ९ ॥

दण्डयन्नपि निर्वैरो मानयन्नपि निस्स्पृहः ।
स्वस्थो विनिर्जितोऽप्याजौ नोन्ममाद जयन्नपि ॥ १० ॥

दण्डयन् अपि निर्वैरः, मानयन् अपि निस्स्पृहः आजौ विनिर्जितः अपि स्वस्थः, जयन् अपि न उन्ममाद ॥ १० ॥

दण्डित करते हुए भी वे निर्वैर थे, सत्कार करते हुए भी स्पृहारहित थे, युद्ध में विजित होने पर भी स्वस्थचित्त रहते थे (पराजित होने पर भी उनका मनोबल कथमपि प्रभावित नहीं होता था) तथा विजय प्राप्त करके भी उन्मत्त नहीं होते थे ॥ १० ॥

संस्पृशन्नेव यः पूर्वं दासप्रायान् मिथोऽसहान् ।
संश्चकार महाराष्ट्रान् रक्षितुं देशगौरवम् ॥ ११ ॥

यः संस्पृशन् एव पूर्वं मिथोऽसहान् दासप्रायान् महाराष्ट्रान् देशगौरवं रक्षितुं संश्चकार ॥ ११ ॥

जिन्होंने परस्पर असहिष्णु दासप्राय (गुलाम), महाराष्ट्र-निवासियों को अपने स्पर्शमात्र से, देश के गौरव को रक्षा करनेवाली एक महान् जाति के रूप में संस्कृत, उत्कृष्ट बना दिया ॥ ११ ॥

राजस्थाने सशक्तेऽपि दिल्लीशपदचुम्बिनि ।
सिंह - सूनुरिवैको यः साधिक्षेपमुदैक्षत ॥ १२ ॥

दिल्लीशपदचुम्बिनि सशक्ते अपि राजस्थाने एकः यः सिंहसूनुः इव साधिक्षेपम् उदैक्षत ॥ १२ ॥

सर्वथा समर्थ होकर भी जब राजस्थान दिल्लीपति का चरण-चुम्बन करने लगा तब जिस क्षत्रपति ने अकेले ही सिंहपुत्र के समान तिरस्कारपूर्वक टेढ़ी दृष्टि से दिल्ली को देखा ॥ १२ ॥

दिल्लीपतियशोध्वानमात्रसम्पूरितश्रुतिः ।
यस्य मेघस्वनारम्भे दिङ्मयूरीव नर्तिता ॥ १३ ॥

दिल्लीपतियशोध्वानमात्रसम्पूरितश्रुतिः दिक् यस्य मेघस्वनारम्भे मयूरी इव नर्तिता ॥ १३ ॥

दिल्ली के बादशाह की यशःस्तुति मात्र से पूरित श्रुतिवाली दिशा, जिस क्षत्रपति के मेघ गम्भीर आह्वान पर मोर के समान विह्वल होकर नाच उठी ॥१३॥

आर्यजातिचिताभस्मपूरितं विन्दतां नभः ।
केवलं यज्जयोद्घोषैर्मनो विस्मापितं हठात् ॥ १४ ॥

नभः आर्यजातिचिताभस्मपूरितं विन्दतां मनः केवलं यज्जयोद्घोषैः हठात् विस्मापितम् ॥ १४ ॥

ऐसे प्राणियों की विरलता नहीं थी जो समझते थे कि सम्पूर्ण आकाश आर्यजाति की चिता के भस्म से पूरित हो गया है तथा आर्य जाति के उद्धार की कोई आशा शेष नहीं है किन्तु क्षत्रपति के महान् जय-जयकार के उद्घोष से उन लोगों का मन सहसा विस्मय से भर गया ॥ १४ ॥

विमुक्ताजीवचिन्तानां ब्रह्मणामभितो गृहम् ।
अपि मन्दाः श्रुतज्ञेषु तेनुरभ्यासविस्मयम् ॥ १५ ॥

विमुक्ताजीवचिन्तानां ब्रह्मणाम् अभितः गृहं मन्दाः अपि श्रुतज्ञेषु अभ्यासविस्मयं तेनुः ॥ १५ ॥

वृत्ति, आजीविका की चिन्ता से सर्वथा मुक्त ब्राह्मणों के घर के आसपास रहनेवाले साधारणबुद्धि मनुष्यों ने वैदिक विद्वानों को भी अभ्यास का चमत्कार दिखाकर विस्मय में डाल दिया [वेदपाठ का अभ्यास करनेवाले ब्राह्मणों के घर के आसपास रहनेवाले व्यक्ति प्रतिदिन सुनने के कारण वेदपाठ में परम प्रवीण हो गये तथा वेदज्ञ विद्वानों को भी आश्चर्य होने लगा ।] ॥ १५ ॥

सर्वशास्त्रेषु शस्त्रेषु सहजालोकचक्षुषः ।
अग्रजन्मप्रथां चारित्र्यजीविनः ॥ १६ ॥

सहजालोकचक्षुषः चारित्र्यजीविनः द्विजाः अग्रजन्मप्रथां सर्वशास्त्रेषु शस्त्रेषु निन्युः ॥ १६ ॥

सम्पूर्ण शास्त्रों एवं शस्त्रों को धारण करने में स्वाभाविक आलोकपूर्ण दृष्टिवाले, चरित्र को ही जीवन समझनेवाले ब्राह्मणों ने अपनी 'अग्रजन्मिता' की प्रथा को सत्य कर दिखाया—वे केवल नाममात्र से ही 'अग्रजन्मा' नहीं थे अपितु ज्ञानलब्धि में भी 'अग्रजन्मा' ही थे ॥ १६ ॥

तिमिराच्छन्नवपुषां स्वभावाविष्करं महः ।
तेनतुस्सर्वलोकानां दिवि भानुर्नृपोऽवनौ ॥ १७ ॥

दिवि भानुः अवनौ नृपः तिमिराच्छन्नवपुषां सर्वलोकानां स्वभावाविष्करं महः तेनतुः ॥ १७ ॥

अन्धकार से, अज्ञानजन्य मोह से पूरित शरीरवालों, चेतनावालों में स्वभाव को आविष्कृत करनेवाला प्रकाश, वे दोनों ही, आकाश में सूर्य और पृथ्वीतल पर क्षत्रपति सम्पूर्ण लोकों के कल्याण के लिए विस्तारित किया करते थे ॥ १७ ॥

गुणकर्मप्रतिष्ठेन वर्त्मना भावयन् प्रजाः ।
विधिकल्पो विधिज्ञोऽसौ महीं चक्रे महीयसीम् ॥ १८ ॥

गुणकर्मप्रतिष्ठेन वर्त्मना प्रजाः भावयन् विधिकल्पः असौ विधिज्ञः महीं महीयसीं चक्रे ॥ १८ ॥

गुण एवं कर्म के अनुकूल पद्धति से अपनी प्रजा का पालन करते हुए ब्रह्मा के समान विधि-कुशल उस क्षत्रपति ने पृथ्वी को और अधिक यशस्विनी बना दिया ॥ १८ ॥

अतिक्रान्तसदाचारास्तन्मुखावेक्षणाक्षमाः ।
प्रायशो ह्रीहृतात्मानो जहुराशु धरां स्वयम् ॥ १९ ॥

अतिक्रान्तसदाचाराः तन्मुखावेक्षणाक्षमाः ह्रीहृतात्मानः प्रायशः स्वयम् आशु धरां जहुः ॥ १९ ॥

सज्जनोचित आचार का अतिक्रमण करनेवाले दुराचारी उस क्षत्रपति को देखने का साहस नहीं कर सकते थे। और प्रायः लज्जा के गर्त में डूबकर इस पृथ्वी को ही छोड़ देते थे। [घोर पातकी तो अपना मुँह दिखाने से उत्तम मार्ग प्राणपरित्याग को ही समझते थे, महाराज के सामने आने की शक्ति उनमें नहीं ही रहती थी।) ॥ १९ ॥

अभीतमनसोऽपश्यन् स्त्रियः शीलव्रतोद्यमाः ।
अनन्तरायभूयिष्ठा दिशः सर्वाः शिवावनौ ॥ २० ॥

शीलव्रतोद्यमाः स्त्रियः शिवावनौ अभीतमनसः अनन्तरायभूयिष्ठाः सर्वा दिशः अपश्यन् ॥ २० ॥

मुस्लिम शासन में शीलवती स्त्रियों का बाहर भीतर-निकलना निरापद नही था। किन्तु क्षत्रपति के शासन में स्त्रीजाति की ओर कुदृष्टिपूर्वक देखना भी कठिन था।

निश्शङ्कमना होकर शीलव्रत का आचरण करनेवाली स्त्रियों को क्षत्रपति के राज्य में सम्पूर्ण दिशायें विघ्न-रहित दिखायी पड़ती थीं। शीलवती स्त्रियाँ निर्भय थीं ॥ २० ॥

आतिथ्यमातिथेयस्य निगडार्हानरीनपि ।
वृतसन्धानिव प्राणैरकरोत्तं निषेवितुम् ॥ २१ ॥

आतिथेयस्य आतिथ्यं तं प्राणैः निषेवितुं निगडार्हान् अरीन् अपि वृतसन्धान् इव अकरोत् ॥ २१ ॥

महाराज क्षत्रपति का आतिथ्य जगत्प्रसिद्ध था। बन्धन में डालनेयोग्य शत्रुजनों का भी वे इतना ध्यान रखते थे कि वे भी उनकी उदारता के वशीभूत होकर प्राणों को देकर भी उनकी सेवा करने के लिए कमर कस लेते थे। [महाराज की सेना में अच्छे पदों पर अनेक साहसी मुसलमान सैनिक एवं नायक नियुक्त थे। बीजापुर के तो हजारों सैनिक थे।] ॥ २१ ॥

वर्तमानः स्वधर्मेषु साधुचेताः परेष्वपि ।
अनेकपथनिर्दिष्टं तमेकमविदन्नृपः ॥ २२ ॥

स्वधर्मेषु वर्तमानः परेषु अपि साधुचेताः नृपः अनेकपथनिर्दिष्टं तम् एकम् अविदत् ॥ २२ ॥

अपने धर्म में स्थिर रहते हुए भी दूसरे धर्मों के प्रति अतिशय उदार क्षत्रपति विभिन्न मत-मतान्तरों द्वारा ज्ञेय उस एक, अनन्त, अप्रमेय ईश्वर को जानते थे। क्षत्रपति जानते थे कि प्रार्थना की पद्धति में भेद होने से ही उस प्रार्थ्यमान में भेदाग्रह उचित नहीं ॥ २२ ॥

परचक्रजुषः प्रायो जनानपि शिवप्रजाः ।
अभीष्टविधिवर्तिन्यो विस्मयं समुपादिशन् ॥ २३ ॥

अभीष्टविधिवर्तिन्यः शिवप्रजाः परचक्रजुषः जनान् अपि प्रायः विस्मयं समुपादिशन् ॥ २३ ॥

क्षत्रपति के शासन में उत्तम आचार एवं व्यवहार का पालन करती हुई प्रजा, प्राय अन्य राज्यों में रहनेवाले व्यक्तियों के लिए विस्मय उत्पन्न कर देती थी। प्रजा का पारस्परिक सौहार्द तथा सहिष्णुता अन्य राज्यों की प्रजा के लिए विस्मयकारी थी ॥ २३ ॥

कषायमपि संसेव्य शिवोद्यमरसायनम् ।
बलाजीर्णवती दिल्ली प्रकृतिं प्रत्यपद्यत ॥ २४ ॥

कषायम् अपि शिवोद्यमरसायनं संसेव्य बलाजीर्णवती दिल्ली प्रकृतिं प्रत्यपद्यत ॥ २४ ॥

शक्ति के अजीर्ण से विकल दिल्ली भी कल्याणकारी उद्यमपूर्ण रसायन को—भले ही कड़वा था—सेवन कर अपनी वास्तविक स्थिति में आ गयी। अजीर्ण दूर हो गया [शिवराज से सघर्ष करने के कारण दिल्ली का दम्भ दूर हो गया, वह मर्यादित हो गयी।] ॥ २४ ॥

शिवाशनिपरिच्छिन्नपक्षदर्पस्य भूभृतः ।
विपक्षतासमारम्भः सर्वदिक्को व्यवर्धत ॥ २५ ॥

शिवाशनिपरिच्छिन्नपक्षदर्पस्य भूभृतः सर्वदिक्कः विपक्षतासमारम्भः व्यवर्धत ॥ २५ ॥

शिवरूपी वज्र के प्रहार से पर्वत का पक्षदर्प (पंख का गर्व) विनष्ट हो गया तथा उसके पक्षहीन हो जाने से आनन्दोत्सव चारों दिशाओं में फैल गया।

अथवा

शिवराजरूपी वज्रप्रहार से दिल्ली का पक्षदर्प, सैन्यशक्ति शिथिल हो गयी, तथा शत्रुताजन्य युद्धोद्योग चारों ओर फैल गया ॥ २५ ॥

शिवपञ्चास्यसंरम्भरक्षितासोरपि स्थितिः ।
ह्रिये लूनकरस्येव करिणो देहलीपतेः ॥ २६ ॥

शिवपञ्चास्यसंरम्भरक्षितासोः अपि देहलीपतेः स्थितिः लूनकरस्य करिणः इव ह्रिये (बभूव) ॥ २६ ॥

मृगेन्द्रकल्प, क्षत्रपति के क्रोध से यद्यपि दिल्लीपति, बादशाह का जीवन बच गया किन्तु उसकी स्थिति कटे हुए सूँड़वाले हाथी के समान घोर लज्जास्पद हो गयी ॥ २६ ॥

स राजपुरुषान् देवः प्रजाराधन - वर्त्मनि ।
विवेकः श्रेयसि स्वस्थो विधीनिव न्ययोजयत् ॥ २७ ॥

प्रजाराधनवर्त्मनि राजपुरुषान् स देवः श्रेयसि विवेकः विधीन् इव स्वस्थः न्ययोजयत् ॥ २७ ॥

उस प्रजानाथ क्षत्रपति ने प्रजा-जनाराधन के मार्ग में राजपुरुषों, अधिकारियों की नियुक्ति इस प्रकार की जैसे श्रेय में स्थित विवेक ने व्यवहार का आयोजन किया हो ॥ २७ ॥

प्रतापबलमाकृष्य मेघालोके महीपतिः ।
अन्तर्लीन इवादित्यो दुर्गलक्ष्मीमनन्दयत् ॥ २८ ॥

मेघालोके प्रतापबलम् आकृष्य महीपतिः अन्तर्लीनः आदित्यः इव दुर्गलक्ष्मीम् अनन्दयत् ॥ २८ ॥

वर्षा ऋतु में धरणीपति शिवराज अपने प्रतापपूर्ण बल को समेटकर सूर्य के समान भीतर रहते हुए (बादलों में या किले में) दुर्गलक्ष्मी की शोभा बढ़ाते थे ॥ २८ ॥

शारदाम्बरसंकल्पो नवदीप्तिकरः शिवः ।
सवितेवाजयच्छुद्ध्यै पृथिवीं पङ्कदूषिताम् ॥ २९ ॥

शारदाम्बरसंकल्पः नवदीप्तिकरः शिवः सविता इव पङ्कदूषितां पृथिवीं शुद्ध्यै अजयत् ॥ २९ ॥

शुभावह शारदीय परिधान में सजे नवीन उज्ज्वल करों, किरणोंवाले वीर शिवराज सूर्य के समान पङ्कदूषित, कलुषमलिन पृथिवी को शुद्ध करने के लिए, पंकविहीन करने के लिए विजय करते थे।

शारदाम्बर-मण्डित सूर्य, घनमास के बाद, अपनी प्रखर नवीन किरणों से पंक-कर्दथित पृथिवी को शुद्ध करने के लिए पंकविहीन करते हैं। क्षत्रपति भी दुर्गापूजा के पश्चात्, विजयादशमी से अभिनव पराक्रम का प्रदर्शन करते थे ॥ २९ ॥

योषितो बालका गावो द्विजा देवगृहास्तथा ।
नैव म्लेच्छबलोत्पातविदस्तद्राज्यमण्डले ॥ ३० ॥

तद्राज्यमण्डले योषितः बालकाः गावः द्विजाः तथा देवगृहाः म्लेच्छबलोत्पातविदः न एव ॥ ३० ॥

स्त्रियाँ, बच्चे, गोवंश, ब्राह्मण तथा मन्दिर अब राजेन्द्र क्षत्रपति के राज्य में विधर्मी सैनिकों के अकारण उत्पात से सर्वथा मुक्त थे ॥ ३० ॥

निषिद्धाचारवर्त्मानः सैन्यादर्शमलीमसाः ।
मन्तुशुल्कैरिव प्राणैरात्मशोधं व्यधुर्भटाः ॥ ३१ ॥

निषिद्धाचारवर्त्मानः सैन्यादर्शमलीमसाः भटाः मन्तुशुल्कैः इव प्राणैः आत्मशोधं व्यधुः ॥ ३१ ॥

महाराज के सैनिकों को कड़े सैनिक अनुशासन में रहना पड़ता था। जो सैनिक अनुशासन भंग करते थे, गर्हित मार्ग का अवलम्बन करते थे तथा सैनिकों के आदर्श के लिए कलंकस्वरूप थे उन्हें दोष-परिमार्जन के लिए, आत्मशुद्धि के लिए अपने प्राणों का बलिदान करना पड़ता था। अनुशासन-भंग का अपराधी सैनिक भयंकर दण्ड का भागी होता था। जैसे, मराठे सिपाही अपने साथ स्त्रियाँ नहीं रख सकते थे। यदि सेनापति भी इस नियम का उल्लंघन करते तो वे प्राणदण्ड के भागी होते ॥ ३१ ॥

अष्टप्रधानयशसो मघोनः सवसोरिव ।
अष्टमूर्तेरिव स्निग्धा वशगास्तस्य सम्पदः ॥ ३२ ॥

सवसोः मघोनः इव अष्टप्रधानयशसः तस्य अष्टमूर्तेः इव स्निग्धाः वशगाः सम्पदः ॥ ३२ ॥

अष्ट प्रधान (पेशवा आदि अष्ट सचिव) की कीर्तिवाले क्षत्रपति अष्ट वसुगणों से सेवित इन्द्र के समान अथवा अष्टमूर्ति भगवान् शिव के समान, वैभव-सम्पत्ति को अपनी वशवर्तिनी के समान रखते थे ॥ ३२ ॥

उभौ भिक्षुधनाधीशौ पृथङ्मार्गजुषावपि ।
समन्यायतुलारूढौ शिवे शासति मेदिनीम् ॥ ३३ ॥

मेदिनीं शिवे शासति पृथङ्मार्गजुषौ अपि उभौ भिक्षुधनाधीशौ समन्यायतुलारूढौ ॥३३॥

महाराज शिवराज के शासनकाल में प्रत्येक व्यक्ति को न्याय सुलभ था। पृथक्-पृथक् मार्ग का अनुसरण करनेवाले भिक्षु और धनप्रभु कुबेर भी अपने कृत्य के अनुसार न्याय पाते थे। न्याय की दृष्टि में दोनों समान थे ॥ ३३ ॥

सामन्तकक्षमुच्छिद्य व्यवधानसमुच्छ्रितम् ।
प्रजालोकं प्रजानाथो निर्बाधमभजत् सदा ॥ ३४ ॥

व्यवधानसमुच्छ्रितं सामन्तकक्षम् उच्छिद्य प्रजानाथः प्रजालोकं सदा निर्बाधम् अभजत् ॥ ३४ ॥

राजा और प्रजा के बीच में व्यवधान के समान बढ़े हुए सामन्त-वर्ग को विनष्ट करके प्रजानाथ क्षत्रपति प्रजावर्ग का अहर्निश कल्याण-चिन्तन किया करते थे। जागीरदारी प्रथा मध्यकालीन भारतीय राज्यों के लिए अभिशाप थी। यह ठीक है कि शासक को थोड़ा अवकाश या निश्चिन्तता मिल जाती थी किन्तु उसे इस अवकाश की बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ती थी। मुगल साम्राज्य के पतन में यह भी बहुत बड़ा कारण था। अंग्रेजों ने अपनी कूटनीति को चरितार्थ करने के लिए इसी ब्रह्मास्त्र का उपयोग किया। ये सामन्त राजा और प्रजा के बीच एक दीवार के समान थे तथा केन्द्र के अशक्त होने पर स्वयम्भू बनकर महत्त्वाकांक्षा का स्वप्न देखने लगते थे—क्षत्रपति ने इस प्रथा को समाप्त कर दिया ॥ ३४ ॥

न जातु हसितं हेम्ना भैक्ष्यं तद्राज्यमण्डले ।
भैक्ष्येणापि न तद्धेम साभ्यसूयमवेक्षितम् ॥ ३५ ॥

तद्राज्यमण्डले हेम्ना भैक्ष्यं न जातु हसितं भैक्ष्येन अपि साभ्यसूयं तत् हेम न अवेक्षितम् ॥ ३५ ॥

क्षत्रपति के शासन में प्रजावर्ग परस्पर सद्भाव रखता था। धनी और गरीब दोनों थे किन्तु वे वर्गसंघर्ष को महत्त्व नहीं देते थे। सुवर्ण ने कभी भिक्षुक का उपहास नहीं किया और भिक्षुक ने भी कभी सुवर्ण के प्रति ईर्ष्या, असूया नहीं प्रकट की ॥ ३५ ॥

राष्ट्रोदयं यतन्तेस्म लोकोन्नतिमनोरथाः ।
शिवराज्ये प्रजाः सर्वा निर्विरोधात्मवृत्तयः ॥ ३६ ॥

शिवराज्ये निर्विरोधात्मवृत्तयः सर्वाः लोकोन्नतिमनोरथाः प्रजाः राष्ट्रोदयं यतन्ते स्म ॥ ३६ ॥

क्षत्रपति के शासन में सम्पूर्ण प्रजा निर्विरोध भाव से सहिष्णुतापूर्वक आत्म-वृत्ति में स्थित रहती हुई समाज के कल्याण की अभिलाषा से राष्ट्र के अभ्युदय लिए प्रयत्न करती थी ॥ ३६ ॥

न केवलं बले वाचि भूम्नि वा तदवस्थितिः ।
प्रातिष्ठतार्यराष्ट्रस्तु प्रत्यात्म प्रतिमानसम् ॥ ३७ ॥

तदवस्थितिः केवलं बले वाचि भूम्नि वा न, आर्यराष्ट्रः तु प्रत्यात्म प्रतिमानसं प्रातिष्ठत ॥ ३७ ॥

वह आर्यराष्ट्र केवल शक्ति में, या वाणो में या भूमा वेभव में ही अवस्थित न था, वह आर्य राष्ट्र तो प्रत्येक आत्मा में, प्रत्येक मानस में प्रतिष्ठित था। वस्तुतः राष्ट्र बहिरङ्ग उपकरणों में स्थिर नहीं रहता। निस्सन्देह, वही राष्ट्र स्थायी रहता है जो प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में मन में प्रतिष्ठित रहता है। उसका विनाश नहीं होता क्योंकि वह उस भित्ति पर स्थिर है जो स्वयं अविनश्वर है ॥ ३७ ॥

सम्पन्नो वा विपन्नो वा सानुगो वैकलोऽपि वा ।
राष्ट्रकीर्तिं महाराष्ट्रो जुगोप जीवितैरपि ॥ ३८ ॥

सम्पन्नः वा विपन्नः वा सानुगः वा एकलः अपि वा महाराष्ट्रः राष्ट्रकीर्तिं जीवितैः अपि जुगोप ॥ ३८ ॥

सम्पन्न हो या विपन्न, समर्थ सहायकों के साथ हो या अकेले, महाराष्ट्र, राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्य को भली भाँति जानता था। वह राष्ट्रकीर्ति की रक्षा करना जानता था भले हो उसे अपने प्राणों की आहुति देनी पड़े ॥ ३८ ॥

समारूढे तमोव्यूहे रवावप्यस्तमायति ।
सुष्वाप निर्भयं लोकः शिवे जाग्रति रक्षके ॥ ३९ ॥

शिवे रक्षके जाग्रति रवौ अस्तम् आयति तमोव्यूहे अपि समारूढे लोकः निर्भयं सुष्वाप ॥ ३९ ॥

जब अन्धकार दल बाँधकर चढ़ आता था तथा सूर्य भी अस्ताचल में जाकर छिप जाते थे तब उन काली रात्रियों में भी शिवप्रजा निर्भय, सुखपूर्वक सोती थी क्योंकि महान् गोप्ता वीर शिवराज जगते रहते थे।

आयति (आ+यति (इ०) शतृ, सप्तम्येकवचने रूपम्) ॥ ३९ ॥

तमरागं प्रजाबन्धुं सेवितुं पार्थिवश्रियः ।
प्रजास्वेव निजोत्कर्षं वितेनुर्बृंहितोदयाः ॥ ४० ॥

अरागं तं प्रजाबन्धुं सेवितुं बृंहितोदयाः पार्थिवश्रियः प्रजासु एव निजोत्कर्षं वितेनुः ॥४०॥

उस रागरहित, निर्लिप्त प्रजावत्सल की सेवा के लिए उत्कण्ठित राजोचित सम्पत्तियों ने अपने अभ्युदय को पूर्णतः विकसित होकर प्रजावर्ग में ही प्रकट किया। महाराज क्षत्रपति तो वैभव आदि से सर्वथा निस्स्पृह थे ही, अतः समृद्धि का चमत्कार उनकी प्रजाओं में ही परिलक्षित होता था ॥ ४० ॥

विभातं सत्प्रबन्धानां कालरात्रिः कदध्वनाम् ।
प्रभवः सर्वसिद्धीनामापदामन्तकाशनिः ॥ ४१ ॥

सत्प्रबन्धानां विभातं कदध्वनां कालरात्रिः सर्वसिद्धीनां प्रभवः आपदाम् अन्तकाशनिः (शिवराष्ट्रः आसीत्) ॥ ४१ ॥

[४१, ४२, ४३ एकान्वयी हैं—]

क्षत्रपति का शासन प्रजालोक-सेवक था। उत्तम व्यवहार, विचार के लिए वह प्रातःकाल के समान था। कुपथसेवी आततायियों के लिए कालरात्रि था। सिद्धि-प्राप्ति के लिए वही उत्पत्तिस्थान था, विपत्तियों के लिए यमराज का कालदण्ड ही था ॥ ४१ ॥

चैतन्यमिव देहेषु भूतलेऽभिनवाङ्कुरः ।
विकास इव सर्गेषु विवेको मनुसूतिषु ॥ ४२ ॥

देहेषु चैतन्यम् इव भूतले अभिनवाङ्कुरः, सर्गेषु विकासः इव मनुसूतिषु विवेकः (शिवराष्ट्रः) ॥ ४२ ॥

वह शासन शरीर के लिए चेतना के समान था। पृथिवीतल पर वह अभिनव अंकुर था। सृष्टि में विकास के समान था और मनुष्यों में विवेक का प्रतिष्ठाता था। आशय यह है कि उस शासन ने समाजको केवल निरापद ही नहीं किया अपितु उन सद्गुणों के लिए भी वह एक ऐसी भूमिका का आविष्कारक था कि जिससे मानवीय चेतना झंकृत हो गयी। प्रजा को आत्माभिव्यक्ति के लिए उचित अवसर मिला। ४२ ॥

हृदि कीलः सपत्नानामुद्बोधो विजितोरसाम् ।
शिवराष्ट्रः सतां तीर्थं विद्यापीठं विपश्चिताम् ॥ ४३ ॥

सपत्नानां हृदि कीलः विजितोरसाम् उद्बोधः सतां तीर्थं विपश्चितां विद्यापीठं शिवराष्ट्रः (रराज) ॥ ४३ ॥

वह शत्रुओं के हृदय में कील के समान पराजित हृदयवालों के लिए आश्वासन था, सज्जनों के लिए वह क्षत्रपति-शासन निरापद तीर्थ के समान था तथा विद्वानों के लिए विद्यापीठ ही था ॥ ४३ ॥

शीलं शालीनतागुप्तौ नयो याथार्थ्यनिर्णये ।
निर्बाधपदविन्यासौ तद्राज्यं बिभ्रतोऽनिशम् ॥ ४४ ॥

शालीनतागुप्तौ शीलं याथार्थ्यनिर्णये नयः (च) निर्बाधपदविन्यासौ अनिशं तद्राज्यं बिभ्रतः ॥ ४४ ॥

शिष्टता, सज्जनता की सुरक्षा में शील तथा यथार्थ निर्णय के क्षेत्र में न्याय-बुद्धि—ये दोनों मनोभाव अपने निर्बाध प्रसार द्वारा क्षत्रपति के शासन को सदैव सम्पन्न बनाये रखते थे। जनता में आत्मचरित्र के अभ्युत्थान के लिए सदैव उत्कट अभिलाषा तथा न्याय के लिए अदम्य आग्रह, ये बहिरंग तथा अन्तरंग धर्म प्रजा को स्वावलम्बी बनाने के लिए अति आवश्यक हैं। एक ओर तो प्रजा स्वयं शील-व्रत-पालन का उत्साह रखती है, दूसरी ओर यदि न्याय प्रजा की आस्था को प्रश्रय दे तो वह शासन अधिकाधिक लोकोपयोगी हो जाता है ॥ ४४ ॥

स्वभावं वर्तयन् देवो ववर्ष ववृधे मही ।
प्रकृतीर्नन्दयामास तथाऽसौ पालयन् नृपः ॥ ४५ ॥

देवः स्वभावं वर्तयन् ववर्ष, मही ववृधे, तथा पालयन् असौ नृपः प्रकृतीः नन्दयामास ॥ ४५ ॥

अपने स्वभाव में अवस्थित देव वृष्टि करता था, पृथिवी सस्य-सम्पत्ति से ढँक जाती थी; उसी प्रकार राजेन्द्र शिवराज भी प्रजा का पालन करते हुए उसे आनन्दित करते थे ॥ ४५ ॥

अकिञ्चनोऽपि कल्पद्रुः समाधिस्थोऽपि सर्वदृक् ।
सविषादोऽपि लोकानाममृतांशुः शिवः शिवः ॥ ४६ ॥

शिवः अकिञ्चनः अपि कल्पद्रुः, समाधिस्थः अपि सर्वदृक्, सविषादः अपि लोकानाम् अमृतांशुः शिवः (आसीत्) ॥ ४६ ॥

स्वयं अपने पास एक पैसा भी नहीं रखते थे फिर भी प्रजावर्ग के लिए कल्प-वृक्ष थे, समाधि (मनोव्यथा) से पूर्ण होकर भी सदैव हजार आँखों से जागरूक थे, चिन्ताओं से जर्जर होते हुए भी प्रजा के लिए सुधाकर के समान पीयूषवर्षी शिवराज साक्षात् शिव थे। शिव अकिञ्चन हैं पर भक्तों के लिए कल्पद्रुम हैं। समाधिस्थ होकर भी सर्वदृष्टि हैं, विषपायी होकर भी अमृतांशु-मण्डित हैं ॥ ४६ ॥

व्यसनानां विघाताय सम्पदामिष्टतृप्तये ।
चारित्र्याय जनेः पुंसां यतन्ते स्म शिवप्रजाः ॥ ४७ ॥

शिवप्रजाः व्यसनानां विघाताय सम्पदाम् इष्टतृप्तये पुंसां जनेः चारित्र्याय यतन्ते स्म ॥ ४७ ॥

दुःखों के विनाश के लिए, सम्पत्ति के अभीष्ट-दोह के लिए, तथा मानव जीवन के दुर्लभ चारित्र्य के लिए शिवप्रजा सतत प्रयत्नशील रहती थी ॥ ४७ ॥

सुखदुःखात्मके द्वन्द्वे वसत्यपि शिवोरसः ।
सदुत्साहमरश्लाघ्यमन्वभूवन् स्वजीवितम् ॥ ४८ ॥

सुखदुःखात्मके द्वन्द्वे वसति अपि शिवोरसः (जनाः) स्वजीवितं सदुत्साहमरश्लाघ्यम् अन्वभुवन् ॥ ४८ ॥

सत्य है कि संसार द्वन्द्वमय है, सुख-दुःख का चक्र अहर्निश गतिशील है। फिर भी महाराज क्षत्रपति में एकान्त निष्ठा रखनेवाली प्रजा अपने जीवन को सत्य उत्साह से सम्भृत, श्लाघनीय मानती थी ॥ ४८ ॥

परप्रतापसंप्लुष्टे विरागः क्षेत्रजीविते ।
देहिनामगलन्नूनं शिवाब्दं वीक्ष्य निर्भरम् ॥ ४९ ॥

निर्भरं शिवाब्दं वीक्ष्य परप्रतापसंप्लुष्टे क्षेत्रजीविते देहिनां विरागः नूनम् अगलत् ॥४९॥

शत्रुकुल के उपद्रव से (आग आदि लगा देने से) दग्धप्राय क्षेत्ररक्षण में प्राणियों का विराग, अनिच्छा-भाव, समाप्त हो गया—उन्होंने देख लिया कि शिव-रूपी कल्याणमय मेघमाला उस अग्नि का शमन करने के लिए उपस्थित है। शत्रुओं के निरन्तर आक्रमण के कारण कृषि-व्यापार आदि में उत्पन्न अस्वाभाविक अरुचि समाप्त हो गयी—क्षत्रपति ने शत्रुओं की मनमानी को यत्नपूर्वक रोक दिया ॥ ४९ ॥

विस्मरन्ति जनाः प्रायस्तद्धेतुं लब्धसिद्धयः ।
अदस्था नैव जानन्ति शिल्पिनस्तद्विधिक्षमान् ॥ ५० ॥

लब्धसिद्धयः जनाः प्रायः तद्धेतुं विस्मरन्ति अदस्थाः तद्विधिक्षमान् शिल्पिनः न जानन्ति एव ॥ ५० ॥

सम्भव है आज हम लोग क्षत्रपति के महान् अध्यवसाय का उचित मूल्यांकन न कर पायें क्योंकि कार्यसिद्धि हो जाने पर प्रायः मनुष्य उन अनन्त बाधाओं को भूल जाता है जिन्हें नष्ट करने के लिए विकट श्रम करना पड़ा। यह मनुष्य की मनोवैज्ञानिक स्थिति है। वह स्वभावतः ही भूलने में विश्वास करता है। अट्टालिका के शिखर पर बैठा हुआ व्यक्ति बहुधा उन कारीगरों को भूल जाता है जिन्होंने दिन-रात एकमना होकर उस अट्टालिका का निर्माण किया था ॥ ५० ॥

संन्यस्तफलसम्बाधान् साधुसिद्धाञ्छिवात्मनः ।
क्षणरागवती स्प्रष्टुं किं निन्दा वा स्तुतिः क्षमा ॥ ५१ ॥

संन्यस्तफलसम्बाधान् साधुसिद्धान् शिवात्मनः (जनान्) क्षणरागवती स्तुतिः निन्दा वा स्प्रष्टुं क्षमा किम् ? ॥ ५१ ॥

वीर शिवराज के सेवक भी आत्म-कर्तव्य को ही प्रधान मानकर उसी में नियुक्त रहते थे। उन्होंने फल की कभी भी चिन्ता नहीं की। वे सज्जनों के प्रति अत्यधिक विनम्र रहते थे। ऐसे प्राणियों को निन्दा या स्तुति किस प्रकार प्रभावित

कर सकती हैं। क्योंकि निन्दा या स्तुति रागप्रसूत हैं। ये यथार्थ का यथार्थ आकलन तो नहीं ही उपस्थित कर सकतीं ॥ ५१ ॥

जाह्नवी जाह्नवो येयं हिन्दवो हिन्दवोऽथवा।
भारतं भारतं वाऽद्य तत्र हेतुः शिवोदयः ॥ ५२ ॥

या इयं जाह्नवी जाह्नवो, अथवा हिन्दवः हिन्दवः, अद्य भारतं भारतं वा, तत्र शिवोदयः हेतुः ॥ ५२ ॥

यदि आज भी गङ्गा नदी गङ्गा ही हैं, हिन्दू जनता भी हिन्दू ही है, यों कहें यदि आज भी भारत भारत ही है तो उसका कारण यही है कि क्षत्रपति तथा उन्हीं के समान अन्य व्यक्ति उत्पन्न हो गये थे। नहीं तो यह देश अभारतीयता के समुद्र में कभी डूब गया होता ॥ ५२ ॥

सेतुं प्रसह्य निर्माय वाहिनीपतिवक्षसि।
मैथिलीशरणोद्योगः शिवोऽलङ्कारविग्रहः ॥ ५३ ॥

वाहिनीपतिवक्षसि प्रसह्य सेतुं निर्माय मैथिलीशरणोद्योगः अलङ्कारविग्रहः (लङ्कारविग्रहः वा) शिवः ॥ ५३ ॥

वाहिनीपति समुद्र की छाती पर हठपूर्वक सेतु (पुल) बाँधकर मैथिलीश, रामचन्द्रजी के रणोद्योग में सहायता करनेवाले शिव, लंकारूपी सूर्य के लिए ग्रहरूप हो गये। अथवा—वाहिनीपति, सेनापति की छाती पर हठपूर्वक सेतु की निर्मिति द्वारा (उस पर हावी होकर) मैथिली को शरण देनेवाले भगवान् राम का पराक्रम धारण कर पूर्णकाम शरीरवाले (युद्धवाले) वीर शिवराज ने लक्ष्मी को प्रतिष्ठित किया।

शिवोऽलंकारविग्रहः—अलङ्कारयुक्तः विग्रहः अथवा अलङ्कारस्य विग्रहः।

पक्षे शिवोलङ्कारविग्रहः—लङ्कायाः रविः लङ्कारविः तस्य ग्रहः = रावण-सूर्य केतुः।

मैथिली, जानकी, तस्याः शरणं यः सः मैथिलीशरणः। पक्षे, मैथिल्याः ईशः मैथिलीशः रामः तस्य रणोद्योगः मैथिलीशरणोद्योगः ॥ ५३ ॥

अराति[1]मेघनादोग्रविशिखाशहुताशनः।
लोकरावणमाधूय प्रत्यस्थापयदिन्दिराम् ॥ ५४ ॥

अरातिमेघनादोग्रविशिखाशहुताशनः लोकरावणम् आधूय (शिवः) इन्दिरां प्रत्यस्थापयत् ॥ ५४ ॥

---

१. मेघनादः—दशास्यपुत्रः मन्दोदर्यां जातः देवराजविजयी लंकायुवराजः निहतो रामानुजेन सौमित्रिणा।

रावणः—सीताहरणकर्ता लङ्काधिपः निहतो युद्धे राममद्रेण।

क्षत्रपति शिव, शत्रुकल्प मेघमाला के उग्र गर्जनमय बाण को चबाने के लिए अग्निरूप थे। उन्होंने समाज को दुःख देनेवाले, चीत्कार करने को विवश करनेवाले शत्रु को विनष्ट कर लक्ष्मी को प्रतिष्ठित किया।

रामपक्ष में—शिवराज ने भगवान् राम के समान पराक्रम का आश्रय लेकर शत्रु मेघनाद के भयंकर बाणों के लिए अग्निरूप होकर लोकशत्रु रावण को बाणों से उड़ाकर, लक्ष्मी, सीता जी को पुनः प्रतिष्ठित किया ॥ ५४ ॥

राजस्थाने पराभूते भटलोकैकमूर्धनि।
दुराधिसलिले मग्नं वीक्ष्य भारतमण्डलम् ॥ ५५ ॥

भटलोकैकमूर्धनि राजस्थाने पराभूते भारतमण्डलं दुराधिसलिले मग्नं वीक्ष्य ॥ ५५ ॥

राजपूताना वीरों का मूर्धन्य, अग्रणी था किन्तु दुर्दैव के कोप से वह भी पराजित हो गया। दुःखरूपी समुद्र में भारतवर्ष को निमग्न देखकर—॥ ५५ ॥

रचितोद्योगविभवः पुरुषार्थसहायवान्।
दन्तलग्नामिवोर्वीं यो [1]हिरण्याक्षवशीकृताम् ॥ ५६ ॥

रचितोद्योगविभवः पुरुषार्थसहायवान् यः हिरण्याक्षवशीकृताम् उर्वीं दन्तलग्नाम् इव ॥५६॥

अपने पुरुषार्थ का आश्रय लेकर, अनेक विध प्रयत्नों का विस्तार करके, हिरण्याक्ष के वश में पड़ी हुई पृथिवी को अपने दाँत के अग्रभाग में स्थित करके-॥५६॥

ऊर्ध्वस्थानपि सन्तापवेपथूनमृतान्धसः।
समाश्वास्य जनांश्चार्तानुदधाराच्युतप्रभः ॥ ५७ ॥

ऊर्ध्वस्थान् अपि सन्तापवेपथून् अमृतान्धसः आर्तान् जनान् च समाश्वास्य अच्युतप्रभः उद्धार ॥ ५७ ॥

अन्तरिक्ष में स्थित दुःख एवं चिन्ता से काँपते अमृतभोजी देवताओं तथा दुखी जनों को आश्वस्त करके जिस क्षत्रपति ने भगवान् विष्णु के समान पृथ्वी का उद्धार किया ॥ ५७ ॥

नूनं शङ्खस्वनोद्घोषैर्निर्भयाः देवभूमयः।
नवात्महर्षसम्भारान् विबुधेभ्यो न्यवेदयन् ॥ ५८ ॥

नूनं निर्भयाः देवभूमयः नवात्महर्षसम्भारान् शङ्खस्वनोद्घोषैः विबुधेभ्यः न्यवेदयन् ॥ ६८॥

सचमुच, शंखध्वनि के उद्घोष से निर्भय, देवालयों, देवभूमियों, तीर्थों ने निर्भय होकर अपने अभिनव, चिरकाल पश्चात् प्राप्त आत्महर्ष को देवताओं से भी निवेदित किया ॥ ५८ ॥

१. हिरण्याक्षः—सृष्टिकाले पृथिवीमेव समाहृत्य जले पलायितो हिरण्याक्षो निहतो भगवता बराहमूर्तिना गदायुद्धे। समुद्धृता च पृथ्वी।

हत्वाऽप्यार्यानमर्यादानन्यान् संस्थाप्य वा पदे।
गुणादरैकमनसो निजः कस्तस्य वा परः ॥ ५९ ॥

अमर्यादान् आर्यान् हत्वा अपि अन्यान् पदे वा संस्थाप्य गुणादरैकमनसः तस्य कः निजः परः वा ॥ ५९ ॥

क्षत्रपति के यहाँ योग्यता का सम्मान होता था। आचार की प्रतिष्ठा होती थी। यदि कोई हिन्दू मर्यादा का उल्लंघन करता था तो उसे प्राणदण्ड देने में किसी प्रकार का व्यवधान असह्य था। वैसे ही यदि कोई अन्यधर्मावलम्बी सद्गुणों का पात्र था तो उसे राजकीय पदों पर प्रतिष्ठित किया जाता था। इस प्रकार गुण, योग्यता के आराधक क्षत्रपति के लिए न कोई अपना था न पराया था। वे योग्यता का आदर करना आत्मधर्म मानते थे ॥ ५९ ॥

अजाताक्षः सुवश्योऽपि नरेन्द्रान् योऽदशत् पुरा।
जातपक्षोऽपि तेनासौ कृतो हीनमणिः फणी ॥ ६० ॥

अजाताक्षः सुवश्यः अपि यः पुरा नरेन्द्रान् अदशत् जातपक्षः अपि असौ फणी तेन हीनमणिः कृतः ॥ ६० ॥

पहिले जो अभी अँखफोरवा भी नहीं हुआ था, अजाताक्ष था, वश में किया जा सकता था उसने विषवैद्यों को भी डस लिया था। कालान्तर में उसी को पंखवाला (सामर्थ्यपूर्ण) देखकर भी उस पराक्रमी शिवराज ने सहठ उस फणी को, सर्प को मणिहीन बना दिया, उसकी मणि छीन ली, सर्प को विपन्न बना दिया। [जो मुस्लिम सत्ता अभी ठीक से देश में जम भी न सकी थी उसने अनेक रजवाड़ों को ध्वस्त कर दिया, देश को अधिकार में कर लिया। उसी सत्ता को सर्वथा जम जाने पर क्षत्रपति ने मसलकर रख दिया।] ॥ ६० ॥

वेलातरङ्गसम्पृक्तनालिकेरान्तरस्पृशः ।
सिषेविरेऽनिलास्तस्य पर्वतोल्लङ्घिनो हयान् ॥ ६१ ॥

वेलातरङ्गसम्पृक्तनालिकेरान्तरस्पृहः अनिलाः तस्य पर्वतोल्लङ्घिनः हयान् सिषेविरे ॥ ६१ ॥

समुद्र के वेला-तरङ्गों से संबंधित, नारियल के अन्तर्मोद का स्पर्श करनेवाले पवन ने, पर्वतों को लाँघनेवाले क्षत्रपति के घोड़ों की थकान को अपने सत्कार से दूर किया ॥ ६१ ॥

चक्रे मुरारिरीशानः शूले वज्रे पुरन्दरः।
तथैवाऽसौ शिवो, देवस्तेनेऽव्याहतशासनम् ॥ ६२ ॥

मुरारिः चक्रे, ईशानः शूले, पुरन्दरः वज्रे, तथा एव शिवः देवः असौ अव्याहतशासनं तेने ॥ ६२ ॥

असौ, कृपाणे इत्यर्थः। जिस प्रकार विष्णु भगवान् चक्र पर, शङ्करजी शूल पर तथा इन्द्र अपने वज्र पर अपने पराक्रम को स्थिर मानते हैं उसी प्रकार वीर क्षत्रपति भी अपनी तलवार के बल पर अपने शासन को अव्याहताज्ञ समझते थे ॥ ६२ ॥

यद्याभ्यर्थनैर्दिल्ली पोतानाव महार्णवे ।
ते तन्नावोऽन्तिकं वीक्ष्य विनेशुर्जलदस्यवः ॥ ६३ ॥

दिल्ली यद्याभ्यर्थनैः महार्णवे पोतान् नाव ते जलदस्यवः तन्नावः अन्तिकं वीक्ष्य विनेशुः ॥ ६३ ॥

समुद्र में अपनी नौकाओं की सुरक्षा के लिए दिल्ली जिनसे दया की भीख माँगती थी वे ही जलदस्यु समुद्री लुटेरे, क्षत्रपति की नावों को निकट देखकर भय-कातर हो विनष्ट हो जाते थे [महाराज क्षत्रपति का समुद्री बेड़ा आत्महित-रक्षण में सर्वथा समर्थ था।] ॥ ६३ ॥

भूदाहकोऽपि सविता भूभृतामिन्दुशीतलः ।
आह्लादको भुवो राजा तापवृद्ध्यै हि भूभृताम् ॥ ६४ ॥

भूदाहकः अपि सविता भूभृताम् इन्दुशीतलः भुवः आह्लादकः राजा भूभृतां तापवृद्ध्यै हि ॥ ६४ ॥

पृथ्वी को सन्तप्त करनेवाले सूर्य भी भूभृतों (पर्वतों) के लिए चन्द्रमा के समान शीतल हो जाते हैं किन्तु पृथिवी को, प्रजा को आह्लादित करनेवाले क्षत्रपति, भूभृतों (राजाओं) के सन्ताप की वृद्धि ही करते थे। सूर्य भी भूभृतों के विरुद्ध नहीं जा सकते थे किन्तु क्षत्रपति उन्हें विडम्बित, कदर्थित करने में विश्रुत थे [भूगोलवेत्ता इस तथ्य को जानते हैं कि ऊँचे पर्वतों पर सूर्य की किरणें अपनी प्रखरता खो देती हैं। यही कारण है कि पर्वतीय प्रदेश ठण्डे रहते हैं।] ॥ ६४ ॥

यथाम्भोजभुवः सर्गो जलदर्तोर्वनस्पतिः ।
लोकसम्पत् तथैवास्य सविशेषमवर्धत ॥ ६५ ॥

यथा अम्भोजभुवः सर्गः जलदर्तोः वनस्पतिः तथा एव अस्य लोकसम्पत् सविशेषम् अवर्धत ॥ ६५ ॥

जिस प्रकार ब्रह्मा की सृष्टि तथा वर्षा ऋतु की वनस्पति फूलती-फलती है उसी प्रकार क्षत्रपति के शासन में लोकसम्पत्ति का अत्यधिक अभ्युदय हुआ ॥ ६५ ॥

विषमादृष्टनिर्घाताद्धर्षे जहति मेदिनीम् ।
चिराद्धर्षोदयो जातः पौरुषाराधितायतेः ॥ ६६ ॥

विषमादृष्टनिर्घाताद् हर्षे मेदिनीं जहति चिरात् पौरुषाराधितायतेः हर्षोदयः जातः ॥ ६६ ॥

दुर्दैव के वज्रप्रहार से यह देश सुदीर्घकाल से हर्षरहित हो गया था, पौरुष द्वारा सुखद अनागत के लिए वर्तमान को अनुकूल बना लेने के कारण पुनः हर्ष प्राप्त हुआ। अथवा, नृपति हर्ष (सातवीं शती) के दिवंगत हो जाने के बहुत समय पश्चात्, पौरुष द्वारा भावी की आराधना करके देश ने हर्ष (क्षत्रपति) को पुनः प्राप्त किया ॥ ६६ ॥

महीध्रकाननोपान्तवर्तिनामपि भूपतिः ।
मावलानां महाप्राणो धर्मः श्रद्धतामिव ॥ ६७ ॥

श्रद्धतां धर्मः इव महीध्रकाननोपान्तवर्तिनाम् अपि मावलानां भूपतिः महाप्राणः ॥६७॥

पर्वतों, जंगलों के किनारे भी रहनेवाले मावले लोगों के लिए पौरुषवान् संरक्षक के रूप में क्षत्रपति उसी प्रकार प्रतीत होते थे जैसे श्रद्धापूर्ण हृदयवालों के लिए धर्म ॥ ६७ ॥

सोत्कण्ठमभितः क्लान्ताः पश्यन्तस्तप्तचेतसः ।
आश्रयन्तं सुखच्छायं महातरुमिवाध्वगाः ॥ ६८ ॥

क्लान्ताः तप्तचेतसः अभितः सोत्कण्ठं पश्यन्तः अध्वगाः सुखच्छायं महातरुम् इव तम् आश्रयन् ॥ ६८ ॥

थके-माँदे, चारों ओर उत्कण्ठापूर्वक देखते हुए सन्तप्त प्राणी उस पीडाहारक क्षत्रपति की शरण में इस प्रकार दौड़ आते थे जैसे शीतल छायावाले महातरु की छाँह में निदाघ (गर्मी) से संतप्त पथिक आ जाता है ॥ ६८ ॥

भावो विपश्चितां मानः पौरुषोत्साहसम्पदाम् ।
विस्रम्भो दुःखतप्तानां शिवेऽवाप मनोरथम् ॥ ६९ ॥

विपश्चितां भावः पौरुषोत्साहसम्पदां मानः दुःखतप्तानां विस्रम्भः शिवे मनोरथम् अवाप ॥ ६९ ॥

विद्वज्जन की सत्क्रिया, पौरुष एवं उत्साह-सम्पत्ति का सम्मान, आर्त, सन्तप्त प्राणियों का विश्वास, सबको क्षत्रपति में अपनी मनोरथ-प्राप्ति होती थी। क्षत्रपति के शासन में विद्वज्जन, पौरुषवान् एवं उत्साही तथा आर्त जनों के लिए सदैव उचित संरक्षण एवं संवर्धन प्राप्त था ॥ ६९ ॥

विनयैर्विदुषः स्नेहैः स्निग्धाँल्लोकं हितोद्यमैः ।
रविबिम्बाध्वनिर्देशैः सच्चकार द्विषोऽपि सः ॥ ७० ॥

विदुषः विनयैः स्निग्धान् स्नेहैः लोकं हितोद्यमैः द्विषः अपि रविबिम्बाध्वनिर्देशैः सः सच्चकार ॥ ७० ॥

यशस्वी क्षत्रपति विनय, प्रणामादि से विद्वज्जनों को, स्नेह से अनुरक्तजनों को, हितचिन्तन तथा प्रयत्न द्वारा प्रजा को एवं सूर्य-मण्डल के पथनिर्देश द्वारा

शत्रुओं को भी सम्मानित करते थे [युद्ध में सम्मुख युद्ध करता हुआ व्यक्ति निहत होकर, सूर्यमण्डलका भेदन करके ऊर्ध्वलोकों को प्राप्त करता है। अतः शत्रुवध द्वारा क्षत्रपति ने शत्रुओं का भी कल्याण ही किया।] ॥ ७० ॥

हितचिन्ताधुरुत्साहे तस्मिन् जाग्रति सर्वदा ।
निश्चिन्तं दुर्लभस्वापमवापुर्निखिलाः प्रजाः ॥ ७१ ॥

हितचिन्ताधुरुत्साहे तस्मिन् सर्वदा जाग्रति निखिलाः प्रजाः निश्चिन्तं दुर्लभस्वापम् अवापुः ॥ ७१ ॥

प्रजा-हित-चिन्तन का भार वहन करने में उत्साहवान् उस क्षत्रपति के निर्निमेष अवधानपूर्ण जागते रहने से, सम्पूर्ण प्रजा निश्चिन्त निर्बाध होकर सुखपूर्ण निद्रा का आनन्द लेती थी ॥ ७१ ॥

दिल्लीबलाचलोद्योगपक्षसंहतिभेदिना ।
लघुनाऽप्यात्तशौर्येण तेन वज्रायितं रणे ॥ ७२ ॥

दिल्लीबलाचलोद्योगपक्षसंहतिभेदिना लघुना अपि आत्तशौर्येण तेन रणे वज्रायितम् ॥७२॥

दिल्ली के उद्दाम शक्तिपूर्ण पर्वत के पंखसमूह को काट देनेवाले उस तीव्र-गामी (छोटे आकारवाले) शौर्यधुरीण क्षत्रपति ने युद्धस्थल में वज्र जैसा महनीय आचरण किया। जिस प्रकार आकार में छोटा होते हुए भी अतिशय क्षिप्र, शौर्य-मय वज्र विशाल पर्वतों को पक्षविहीन कर पंगु (अचल) बना देता है, क्षत्रपति ने भी अपनी शूरता एवं क्षिप्रकारिता से विशाल मुगल सेना को युद्ध में आक्रान्त, विपन्न, कुण्ठित कर दिया ॥ ७२ ॥

विस्मापिताऽलका दिल्ली शिवोऽकिञ्चनवैभवः ।
शिवत्रिपुरयोरेवं तयोर्द्वन्द्वमनारतम् ॥ ७३ ॥

दिल्ली विस्मापितालका शिवः अकिञ्चनवैभवः; शिवत्रिपुरयोः तयोः द्वन्द्वम् एवम् अनारतम् ॥ ७३ ॥

कुबेरपुरी को भी वैभव में मात करनेवाली दिल्ली और अकिञ्चनों के सिर-ताज शिव, इस प्रकार शिव और दिल्ली का निरन्तर संघर्ष चलता रहता है जैसे शिव और त्रिपुरासुर का संघर्ष था। सम्पन्न दिल्ली और विपन्न जनों के आश्रय-दाता शिव—यह संघर्ष क्या एक दिन में समाप्त होनेवाला है ॥ ७३ ॥

प्रतिष्ठाप्य जगद्धात्रीं हृदि स्वस्थो जनेश्वरः ।
तदादेशमिवाव्यग्रो विधिजातं समाचरत् ॥ ७४ ॥

जगद्धात्रीं हृदि प्रतिष्ठाप्य स्वस्थः जनेश्वरः विधिजातं तदादेशम् इव अव्यग्रः (सन्) समाचरत् ॥ ७४ ॥

जगज्जननी दुर्गा को हृदय में धारण कर स्वस्थचेता महाराज क्षत्रपति माता भवानी का आदेश समझकर अव्यग्र भाव से समाहितचित्त होकर, प्रत्येक कर्तव्य सम्पन्न करते थे ॥ ७४ ॥

प्रजानामुदये हृष्टः तासामार्तः पराभवे ।
द्विषां मन्युं प्रसादंवा तृणान्मेनेऽधिकं न सः ॥ ७५ ॥

प्रजानाम् उदये हृष्टः तासां पराभवे आर्तः सः द्विषां मन्युं प्रसादं वा तृणात् अधिकं न मेने ॥ ७५ ॥

प्रजा-कुल के सुख में सुख और दुःख में दुःख माननेवाले उस क्षत्रपति ने शत्रु-पक्ष के क्रोध या प्रसन्नता को तृण से अधिक कभी भी महत्त्व नहीं दिया ॥ ७५ ॥

वत्साङ्कमिव शस्त्राङ्कमुरसि श्रयतो रणे ।
तद्भटानपि सा मेने श्रीः पुरुषोत्तमानिव ॥ ७६ ॥

वत्साङ्कम् इव रणे उरसि शस्त्राङ्कं श्रयतः तद्भटान् अपि सा श्रीः पुरुषोत्तमान् इव मेने ॥ ७६ ॥

हृदय पर भृगुलता के समान शस्त्रप्रहार को धारण करनेवाले शिवसैनिकों को भी लक्ष्मी ने पुरुषोत्तम (पुरुषों में उत्तम) के समान ही माना। शस्त्रप्रहार कितना ही घातक क्यों न हो, शिवसैनिक उसे हँसते हुए उत्साहपूर्वक सहन करते थे ॥ ७६ ॥

अकिञ्चनोऽकुतोवासस्त्रस्तोऽप्यरिप्रजाजनः ।
शिवराज्यं प्रविश्यैव सर्वमाप समीहितम् ॥ ७७ ॥

अकिञ्चनः अकुतोवासः त्रस्तः अरिप्रजाजनः अपि शिवराज्यं प्रविश्य एव सर्वं समीहितम् आप ॥ ७७ ॥

अकिञ्चन, गृहहीन, अशरण, भयातुर भी शत्रुराज्य की प्रजा शिवराज की राज्यसीमा में प्रविष्ट होकर पूर्णकाम हो जाती थी। उसके सब मनोरथ पूर्ण हो जाते थे ॥ ७७ ॥

अलसप्रभवाऽरक्षा दुर्गपेनाऽस्ततन्द्रिणा ।
अमर्यादेव धर्मेण सीमाभूमेर्बहिष्कृता ॥ ७८ ॥

अस्ततन्द्रिणा दुर्गपेन अलसप्रभवा अरक्षा धर्मेण अमर्यादा इव सीमाभूमेः बहिष्कृता ॥७८॥

क्षत्रपति के अवधानपूर्ण निरलस दुर्गपालों ने आलस्य जन्य अरक्षा की भावना को इस प्रकार अपनी सीमा से बाहर निकाल दिया, बहिष्कृत कर दिया जिस प्रकार धर्म अमर्यादा को, आचारहीनता को बहिष्कृत कर देता है ॥ ७८ ॥

काकुत्स्थस्येव तद्धाम शिवस्याजितलक्ष्मणम् ।
रिपून् प्रकम्पयामास समुद्रपरिखानपि ॥ ७९ ॥

काकुत्स्थस्य इव शिवस्य तत् अजितलक्ष्मणं धाम समुद्रपरिखान् रिपून् अपि प्रकम्पयामास ॥ ७९ ॥

जिस प्रकार समुद्र की परिखा से आवेष्टित होने पर भी रावण को काकुत्स्थ भगवान् राम ने युद्धिभूमि में नष्ट ही कर दिया उसी प्रकार अलौकिक प्रतिभावाले क्षत्रपति ने भी समुद्र-परिखावाले डच, सिद्दी आदि समुद्रीय शक्तियों को विपन्न कर दिया था ॥ ७९ ॥

द्विजा वेदानधीयाना रक्षन्तुर्ज्ञानविस्तरम् ।
निरासायैव तमसां न जातु देहवृत्तये ॥ ८० ॥

वेदान् अधीयानाः द्विजाः ज्ञानविस्तरं तमसां निरासाय एव देहवृत्तये न जातु ररक्षुः ॥ ८० ॥

वेदों का अध्ययन-मनन-अनुशीलन करते हुए ब्राह्मणगण ज्ञान-प्रवाह को गतिशील रखते थे, ज्ञान-विस्तार को सुरक्षित करते थे। उनका मूल उद्देश्य वेदाध्ययन द्वारा अज्ञान का, मोह का उपशमन करना था। वे देहवृत्ति, भोजन आदि के लिए वेदाभ्यास नहीं करते थे ॥ ८० ॥

आशाः श्रुतिवधिरास्ता अदृष्टाभ्युदयोत्सवाः ।
तदुद्यमात् पुनर्जाताः श्रुतज्ञा दृष्टवैभवाः ॥ ८१ ॥

श्रुतिवधिराः अदृष्टाभ्युदयोत्सवाः ताः आशाः तदुद्यमात् पुनः श्रुतज्ञाः दृष्टवैभवाः जाताः ॥ ८१ ॥

श्रुतिवधिराः—श्रुत्या वधिराः 'येनाङ्गविकारः' । श्रुतये, वेदाय वा वधिराः—कान से बहरी या वेदध्वनिरहित।

मुस्लिम शासन में हिन्दुओं पर अत्याचार के कारण वेदादि का प्रचार क्रमशः मन्दतर, शिथिल होता जा रहा था। अतः वेदादि के प्रचार के शिथिल हो जाने के कारण वेदादि के पाठ से रहित, बहरी तथा अभ्युदयादि उत्सव के दर्शन से विरहित दिशाएँ, क्षत्रपति के ही उद्योग एवं शौर्यपूर्ण प्रयत्न से फिर वधिरता से मुक्त हुईं तथा उत्सव आदि का आयोजन देखने लगीं—वेदध्वनि कान में पड़ने लगी तथा अपनी ही आँखों से वे फिर वैभवपूर्ण उत्सवों के आयोजन को देखने लगीं। क्षत्रपति के उद्योग से दिशाओं की श्रवणशक्ति तथा दृष्टि उन्हें पुनः प्राप्त हो गयी ॥ ८१ ॥

कर्तव्यचेतसः सर्वे मिथः साहाय्यधर्मिणः ।
सहजोत्कर्षभूयिष्ठा नाधिकारस्पृहां विदुः ॥ ८२ ॥

सर्वे मिथः साहाय्यधर्मिणः कर्तव्यचेतसः सहजोत्कर्षभूयिष्ठाहां: अधिकारस्पृ न विदुः ॥ ८२ ॥

महाराज क्षत्रपति की प्रजा कर्तव्यपरायण थी, परस्पर सहायता में विश्वास करती थी तथा स्वाभाविक ढंग से विकास प्राप्त कर समृद्ध थी और अधिकार के लिए लोलुप नहीं थी [जहाँ कर्तव्यनिष्ठा हो वहाँ अधिकार तो अनुगामी होता है।] ॥ ८२ ॥

विभिन्नधर्मवर्त्मानो विभिन्नाजीववर्तिनः ।
विभिन्नाचारवन्तोऽपि नोद्वेगाय परस्परम् ॥ ८३ ॥

विभिन्नधर्मवर्त्मानः विभिन्नाजीववर्तिनः विभिन्नाचारवन्तः अपि परस्परम् उद्वेगाय न (आसन्) ॥ ८३ ॥

क्षत्रपति की प्रजा विभिन्न धर्मों को मानती थी, भिन्न-भिन्न जीविका के साधन थे, आचार भी अनेकविध था, फिर भी वे परस्पर एक थे, वैमनस्य, उद्वेग का नामोनिशाँ भी नहीं था ॥ ८३ ॥

शेषत्वेनैव या सूते शेषायापि विशेषताम् ।
सैव निश्शेषतां गाथा मद्वाचापि किमेष्यति ॥ ८४ ॥

या शेषत्वेन एव शेषाय अपि विशेषतां सूते सा एव गाथा मद्वाचा अपि निश्शेषताम् एष्यति किम् ? ॥ ८४ ॥

इस श्लोक में अनेकविध कल्पनायें सम्भाव्य हैं, अनेकार्थ स्फुट हैं। सहज ही उद्भावना द्वारा दर्जनों अर्थ प्राप्त हो सकते हैं—

जो कीर्तिगाथा अपनी शेषता (अपूर्णत्व, शेषनागत्व) के कारण शेष (शेषनाग, सहस्रजिह्व) के लिए भी बिशेषता (विशिष्ट शेषत्व, शेषहीनता या वैशिष्ट्य) का सृजन कर रही है वह भला मेरे कथन से निश्शेषता (सम्पूर्णता, शेषनागराहित्य) को प्राप्त कर लेगी ? (काव्य की परिसमाप्ति करते हुए कवि की उक्ति है कि क्षत्रपति की यशोगाथा निस्सीम है, अनन्त है, अतः मैं पूर्णता, पूर्णतः लिख देने का दम्भ तो नहीं ही कर सकता। कहने को अधिकतर शेष ही है, और यह शेष, (बाकी) शेषनाग (एक सहस्र मुखवाले शेष) के लिए भी विशेषता ही उत्पन्न कर रहा है। शेष स्वयं विशेषत्व विगतशेषता प्राप्त कर लेंगे पर यह समाप्त न होगी भला मेरी उक्ति से यह निश्शेषता को कहाँ प्राप्त कर सकेगी ॥ ८४ ॥

शिवशौर्ययशः सूक्तैः स्तोतुं तत् सूरिसत्तमाः ।
मत्संस्कृतपथद्वारा विशन्तु भवनं गिरः ॥ ८५ ॥

तत् सूरिसत्तमाः सूक्तैः शिवशौर्ययशः स्तोतुं मत्संस्कृतपथद्वारा गिरः भवनं विशन्तु ॥ ८५ ॥

अतः सहृदय सूरिजन, क्षत्रपति के पराक्रमप्रवण यशःसूक्तों से स्तुति करने के लिए मेरे द्वारा स्वच्छ किये गये मार्ग से माँ सरस्वती के दिव्य मन्दिर में प्रविष्ट हों ॥ ८५ ॥

तदयं निकषस्तावन्मत्प्रयत्नोऽस्तु निर्णये ।
एतस्मादुत्तरं काव्यमेतद्रूपं तु चापलम् ॥ ८६॥

तत् तावत् अयं मत्प्रयत्नः निर्णये निकषः अस्तु, काव्यम् एतस्मात् उत्तरं एतद्रूपं तु चापलम् ॥ ८६ ॥

अतः मेरा यह 'क्षत्रपतिचरितम्' नामक प्रयत्न काव्यादि-निर्णय में कसौटी (निकष) की भूमिका का निर्वाह करे। इससे उत्कृष्टतर काव्यरचना कं काव्ययश की उपलब्धि हो किन्तु ऐसी ही रचनाओं को तो चपलता ही कहा जाय मेरा यह काव्य केवल मेरी चपलता का द्योतक है ॥ ८६ ॥

सत्काव्यस्य परीक्षायामुक्तिपीयूषवर्षिणः ।
मामानन्द्य पदन्यासैर्लभन्तामात्मसत्क्रियाम् ॥ ८७ ॥

सत्काव्यस्य परीक्षायाम् उक्तिपीयूषवर्षिणः मां पदन्यासैः आनन्द्य आत्मसत्क्रियां लभन्ताम् ॥ ८७ ॥

(पदन्यासैः—पदबन्धैः अथवा चरणलक्ष्मभिः)

सत्काव्य की परीक्षा में कविजन अपनी आह्लादमयी वाणी से सुधावृष्टि करते हुए, मुझ पर अपने चरणचिह्न छोड़ते हुए या मुझे अपने पदन्यास से, पद-रचना से आनन्दित करते हुए उत्तम कीर्ति प्राप्त करें ॥ ८७ ॥

सरसोक्तिप्रबन्धेषु के न मामतिशेरते ।
शिवराजास्पदं किन्तु लङ्घ्यते केन मन्मनः ॥८८ ॥

सरसोक्तिप्रबन्धेषु के मां न अतिशेरते किन्तु शिवराजास्पं मन्मनः केन लङ्घ्यते ? ॥ ८८ ॥

सरस-उक्ति-प्रवण प्रबन्ध में सभी हमसे श्रेष्ठ हो सकते हैं। किंतु वीर शिवराज में अचल आस्थावाले मेरे इस हृदय का कौन उल्लंघन कर सकता है ? हमसे भी सर्वथा अच्छी सरस रचनायें इस विषय पर कोई भी विद्वान् लिख सकता है किन्तु क्षत्रपति में मेरे भाव-निबद्ध हृदय का कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता ॥ ८८ ॥

जयतु जयतु राजाऽऽसेचनं लोकदृष्टे-
र्जयतु सततसेव्या देवगीर्लोकधात्री ।
जयतु जयतु नित्यं मुक्तदास्यः स्वदेशो
जयतु जयतु चेतः सर्वलोकात्ममावम् ॥ ८९ ॥

लोकदृष्टेः आसेचनं राजा जयतु जयतु, लोकधात्री सततसेव्या देवगीः जयतु, मुक्तदास्यः स्वदेशः नित्यं जयतु जयतु, सर्वलोकात्ममावं चेतः जयतु जयतु ॥ ८९ ॥

Lal Bahadur National Academy of Administration Mussoorie
Acc. No. 126717
Date

लोकदृष्टि को तृप्त करनेवाले महाराज क्षत्रपति की जय हो, जय हो। अहर्निश सेवनीय, संसार की प्रतिष्ठा देववाणी की जय हो। दासता से मुक्त, स्वतन्त्र भारत की सदैव जय हो जय हो; और सम्पूर्ण जन-समाज के प्रति आत्मभाव रखने-वाले हृदय की निरन्तर जय हो जय हो ॥ ८९ ॥

यद्गूढं कल्पनाभिर्नवनवविधिना संस्कृतं सम्परीक्ष्य
शङ्कावाधाभयानामकलितविपदां हेतुमुन्मूल्य यत्नात् ।
कृच्छ्रात् सन्देहदोलाविचलितमनसाऽऽरभ्य निर्माणमार्गे
वाग्देवीमन्दिरं तत् कथमपि पुरतो भाति मन्दस्य मेऽपि ॥ ९० ॥

कल्पनाभिः गूढं संस्कृतं यत् नवनवविधिना सम्परीक्ष्य यत्नात् अकलितविपदां शङ्कावाधाभयानां हेतुम् उन्मूल्य निर्माणमार्गे सन्देहदोलाविचलितमनसा कृच्छ्रात् आरभ्य कथमपि तत् वाग्देवीमन्दिरं मन्दस्य मे अपि पुरतः भाति ॥ ९० ॥

अभिलाषा थी कि माँ सरस्वती का एक सुन्दर मन्दिर निर्मित करूँ—

जिसके आकार-प्रकार को मन के भीतर कल्पना द्वारा बीसों बार बिना किसी को बताये, बनाता था, परीक्षण करता था, फिर बनाता था, फिर परीक्षण करता था, तथा शङ्का (यदि पूरा न हो पाया तो), बाधा (मानसिक, पारिवारिक, सामाजिक आदि) तथा भय (आन्तरिक—यह तुम जैसे अल्पज्ञों के वश का नहीं है, बाह्य—सुधीजनों को इसमें कुछ भी आत्मतोष न होगा) के फलस्वरूप अगणित विपत्तियाँ मन को क्षुब्ध करती थीं, यत्नपूर्वक सङ्कल्प-बुद्धि से शङ्का आदि के प्रेरक कारण को विनष्ट किया। फिर सन्देह-दोला में आरूढ़ काँपते हुए मन से कठिनतापूर्वक निर्माण मार्ग में प्रवृत्त हुआ। आज उसी धृष्टता के फलस्वरूप मुझ अल्पबुद्धि के सम्मुख भी वह सारस्वत मन्दिर निर्मित होकर आज प्रकाशित हो रहा है। मेरा परितोष मुझे मिल गया ॥ ९० ॥

यस्योद्योगानुबन्धैरिभयविधुरे मानसे भारतानां
सद्विश्वासः प्रतिष्ठामलभत सहठं व्यूढशङ्कामपास्य ।
रेजे स्वातन्त्र्यधर्मो व्यसनशतभुवं दास्यवृत्तिं विभिद्य
शक्तिः क्लैब्यं निहत्याऽनमयदरिशिरः श्रेयसेऽसौ शिवोऽस्तु ॥ ९१ ॥

यस्य उद्योगानुबन्धैः भारतानाम् अरिभयविधुरे मानसे सहठं व्यूढशङ्काम् अपास्य सद्विश्वासः प्रतिष्ठाम् अलभत व्यसनशतभुवं दास्यवृत्तिं विभिद्य स्वातन्त्र्यधर्मः रेजे, क्लैब्यं निहत्य शक्तिः अरिशिरः अनमयत् असौ शिवः श्रेयसे अस्तु ॥ ९१ ॥

जिनके महान् उद्योग, शौर्य और निष्ठा के द्वारा शत्रु के भय से आतंकित भारतीयों के मानस में सद्विश्वास ने सन्नद्ध शङ्का को हटाकर प्रतिष्ठा प्राप्त कि,

स्वतन्त्रता ने अनन्तपरिभवमूलक दास्यवृत्ति (गुलामी) को काटकर अमकीर्ति का विस्तार किया तथा शक्ति ने क्लीबता को मिटाकर शत्रुओं के सिरो झुका दिया, वे शिव (राजेन्द्र क्षत्रपति) कल्याण मार्ग प्रशस्त करें। [यह पक्षभगवान् शिवपरक भी है।]॥ ९१ ॥

इति श्री त्रिपाठ्युपाह्वेन उमाशङ्करशर्मणा विरचिते क्षत्रपतिचरितमहाकाव्ये एकोनशः सर्गः ।

॥ सम्पूर्णं क्षत्रपतिचरितं महाकाव्यमिदम् ॥

॥ इति ॥

शुद्धिपत्रम्

पृष्ठ	अशुद्ध	शुद्ध	श्लोक-संख्या
क	पश्यति	प्रेक्षत	
५	कुशानु	कृशानु	१।१५
२०	कपि	कापि	१।६२
४०	पवतं	पर्वतं	२।४०
५१	नमदे	नर्मदे	२।७६
५४	चता	चूता	२।८६
५५	र्गत	गीत	२।९१
८०	जनिवंशो	जनिर्वंशो	२।१७९
८९	अकरणा	अकारणा	३।२५
९१	स्वजोवितंम्	स्वजीवितं	३।३१
१००	धना	घना	३।६५
१०१	ग्रग्रथितां	ग्रथितां	३।६८
१०६	स्वर्धयत्	स्ववर्धयत्	३।८६
१०८	शिदोदये	शिवोदये	३।९५
११३	सम्पदयतिः	सम्पदायतिः	३।१११
,,	यियसुना	यियासुना	३।११२
,,	वह	वाह	३।११२
,,	मरव	मख	३।११३
११५	कारुष्य	कारुण्य	३।१२०
,,	दुहितृवत्सलं	सुतादृगुत्सवं	३।१२१
११७	पवर्तते	प्रवर्तते	३।१२८
११८	ससर्थं	समर्थं	३।१३१
१२२	मयूरवै	मयूखै	४।६
१२७	रिन्प्र	रिन्द्र	४।२६
१२९	आर्य	आर्यं	४।३२
१७१	भङ्ग	भङ्गे	४।१७२
१७५	भाषण	भीषण	५।९
१७५	मच्छदज्ञः	मेच्छदज्ञः	५।१०
१७६	प्रयम	प्रथम	५।१३
१७८	युवातः	युवतिः	५।१९
१९३	मयहाय	मपहाय	५।७०
१९५	तल्ये	तल्पे	५।७८
१९८	स्थाणु	स्थाणु	५।९०

पृष्ठ	अशुद्ध	शुद्ध	श्लोक संख्या
२३२	शंकुः	शेकुः	७।२
२३४	विवित्रा	विचित्रा	७।९
२३५	द्रुत	द्रुत	७।११
२३९	वनालि	वनालि	७।२१
२४०	कृष्णजि	कृष्णाजि	७।२६
२४१	विषाद	विषादं	७।२९
२७७	भवद्भिरेषः	अयं भवद्भिः	८।५२
२८१	जयलक्ष्य	जयलक्ष्म	८।६९
२८८	समिद्धिधान	समिद्विधान	९।६
२८९	वत्मनि	वर्त्मनि	९।८
२९०	सादिना	सादिनो	९।११
२९१	मय	मया	९।१२
२९५	तावदंव	तावदेव	९।२७
३०२	सवितृ	दिनेश	९।५०
३०३	गतिः	गति	९।५३
,,	मृतिः	मृति	,,
३०७	विक्रमं	विग्रहं	९।६५
३४२	विद्धा	विद्धाञ्	१०।१०२
३४३	भिलापं	भिलाष	१०।१०४
३५१	दिद्वक्षु	दिदृक्षु	११।२४
३५२	विवणोकृत	विवर्णीकृत	११।२७
३६५	६५३	३६५	३६५
,,	तात्म	तामात्म	११।७३
४१९	तृण	तृणं	१२।१८१
४२८	दिने	दिने	१३।८
४६१	निलिप्त	निर्लिप्त	१३।९१
५०२	चद्दज्जय	चज्जय	१४।२०
५१९	मदोज्ञ	मनोज्ञ	१४।८६
५८३	द्रुरापदि	दुरापदि	१६।३८
५९६	सः	ताम्	१६।८९
६०३	सः	स	१७।१८
६२०	राज्यसतां	राज्यसत्तां	१७।६९
६६०	पुर्णकुम्भैः	पूर्णकुम्भैः	१८।८६
६७१	जीववतने	जीववर्तने	१९।३

लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, पुस्तकालय
L.B.S. National Academy of Administration, Library
मसूरी
MUSSOORIE
यह पुस्तक निम्नांकित तारीख तक वापिस करनी है।
This book is to be returned on the date last stamped

दिनांक Date	उधारकर्त्ता की संख्या Borrower's No.	दिनांक Date	उधारकर्त्ता की संख्या Borrower's No

नाम—उमाशंकर शर्मा त्रिपाठी

जन्मतिथि - १-१-१ २२

स्थान—[illegible] पा० [illegible]

[illegible] देवरिया, [illegible]

[illegible] बीस

[illegible]

शिक्षा एम० [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] शर्मा

[illegible] शिक्षा अपने [illegible] दिवंग

[illegible] पिता [illegible] रामरेशमणि त्रि

[illegible] प्राप्त किया। वाराणसी

[illegible] शिक्षा पूर्ण [illegible] विगत

[illegible] वाराणसी

[illegible]

Sam

अवाप्ति सं०

ACC. No .....

वर्ग सं पुस्तक सं

Class No ..... Book No .....

लेखक

Author .....

शीर्षक

San
954.4792 LIBRARY JD 1265

शिवाजी LAL BAHADUR SHASTRI

National Academy of Administration

MUSSOORIE

Accession No. _____

1. Books are issued for 15 days only but may have to be recalled earlier if urgently required.
2. An over-due charge of 25 Paise per day per volume will be charged.
3. Books may be [illegible] on request, at the [illegible]ian.
4. [illegible]ference books may be consulted only
5. [illegible]njured in any way [illegible]ced or its double [illegible]e borrower.

GL 954 4792
TRI

126717
LBSNAA

Help to keep [illegible]